२५/

श्रीः

श्रीविद्या-रत्नाकरः

महागणपति-ललिता-श्यामला-वाराही-सपर्यासमन्वितः

पूर्णाभिषेकादिपरिशिष्टसहितश्च



श्रीकरपात्रस्वामिसङ्कलितः

श्रीस्वामीकरपात्रीजी महाराज

श्रीस्वामीजी महाराज ने वेदान्त, भक्ति एवं अष्टाङ्गयोग आदि साधन पद्धतियों द्वारा परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर भी केवल लोककल्याण की भावना से श्रीविद्यासाधना पद्धति का अवलम्बन किया एवं पूर्णविधि विधान से श्रीयन्त्राधिष्ठात्री भगवती राजराजेश्वरी ललितामहात्रिपुरसुन्दरी का उच्चतम उपासना-क्रम अनुष्ठित किया, तथा उत्तर भारत में विलुप्तप्राय श्रीविद्यासम्प्रदाय को अपने तपोबल से पुनः प्रतिष्ठापित किया। और श्रीविद्यारत्नाकर जैसे ग्रन्थरत्न द्वारा श्रीविद्यासाहित्यनिधि को अभिवृद्ध एवं सुशोभित किया। श्रीस्वामीजी द्वारा रचित श्रीविद्यामन्त्रभाष्य का अवलोकन करने पर उनका तन्त्र-शास्त्र का गहन अध्ययन, प्रौढ़पाण्डित्य, तत्त्वज्ञता तथा रहस्यज्ञता सुस्पष्ट परिलक्षित होती है।

श्रीविद्यारत्नाकर का वैशिष्ट्य

श्रीविद्या साधना का पूर्णक्रम प्रवर्तित करने के लिए विभिन्न पुस्तकों की अपेक्षा रहती है, परन्तु यह एक ही पुस्तक दीक्षाकाल से पूर्णाभिषेक पर्यन्त और प्रारम्भिक साधन काल से सिद्धिपर्यन्त समस्त विधि विधानों का साङ्गोपाङ्ग सम्पादन करने के लिए समपेक्षित पद्धति की जिज्ञासा को परिपूर्ण करने में अपनी विशिष्टता से समवेत है।

पुस्तक प्राप्ति स्थान
जनता टी कम्पनी
७२ बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता ७



॥ श्रीः ॥

श्रीविद्या-रत्नाकरः

श्रीमहागणपति-श्रीसुन्दरी-श्यामा-वार्ताली-परा-सपर्या-मन्त्रभाष्य-वाञ्छाकल्पलता-लक्षार्चन-पूर्णाभिषेक-महायागक्रमादि-विविधविधिविलसितः

निगमागमादिसमस्तशास्त्रपारावारपारीणैः
श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यैः
अनन्तश्रीविभूषितैः

स्वामिश्रीहरिहरानन्दसरस्वती (श्रीकरपात्रस्वामि) महाराजैः विरचितः ।

सम्पादकः
श्रीसीताराम कविराजः, "श्रीविद्याभास्करः"
दीक्षानाम—दत्तात्रेयानन्दनाथः

प्रकाशकम् :

श्रीविद्या-साधनापीठम्

वाराणसी

प्रकाशक :

श्रीविद्या साधना पीठम्

वाराणसी

•

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्

(१) डा० सत्यव्रत शर्मा

पो १/२ रवीन्द्रपुरी, वाराणसी–५

फो० नं० ५२३६९

(२) बाबूलाल गनेड़ीवाल,

१४५ काटन स्ट्रीट,

कलकत्ता–७

(३) स्वामी श्रीसदानन्द सरस्वती, (वेदान्ती स्वामी)

करपात्री धाम केदारघाट, वाराणसी

(४) राधेश्याम पेपर स्टोर

कर्णघण्टा गली (वाराणसी)

•

द्वितीय संस्करणम् २२००

श्रीपञ्चमी, वि० सं० २०४३

मूल्यं ६० रूप्यकाणि

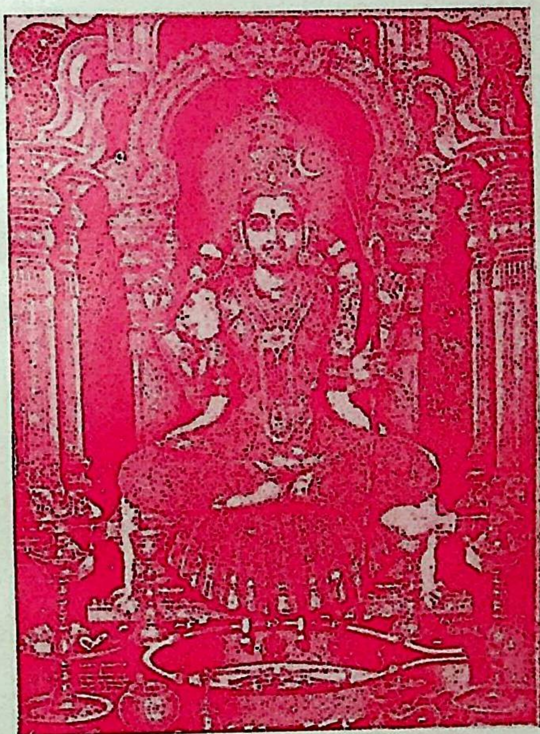
•

मुद्रक :

तारा प्रिंटिंग वर्क्स,

वाराणसी

श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरी



अरुणां करुणातरङ्गिताक्षीं धृतपाशाङ्कुशपुष्पबाणचापां ।
अणिमादिभिरावृतां मयूखैरहमित्येव विभावये भवानीम् ॥



श्रीयन्त्रम्

SHREEVIDYA-RATNAKARAH

WITH

SHRI MAHAGANAPATI SHRI SUNDARI-SYAMA-
VARTALIPARA SAPARYA-MANTRABHASHYA-
WANCHHAKALPALATA LAKSHARCHANA
AND ALLIED SUBJECTS

BY

**SWAMI SHRIHARIHARANAND SARASWATI
(SHRIKARAPATRASWAMI) MAHARAJ**

EDITOR

SHRISITARAM KAVIRAJ "SHRIVIDYABHASKAR"
(DATTATREYANANDNATH)

SHRI VIDYA SADHANA PITHAM

VARANASI

॥ श्रीः ॥

नम्र निवेदन

इस संसार में समस्त जनमानस में सुख प्राप्त करने की एकमात्र इच्छा रहती है। वह सुख दो प्रकार है, एक कृत्रिम और दूसरा अकृत्रिम, कृत्रिम-सुख कामभोग के द्वारा प्राप्त होता है। अकृत्रिम सुख मोक्ष प्राप्ति है। इन दोनों के साधन के लिये धर्म आवश्यक है, और धर्म साधन के लिये अर्थ की अपेक्षा होती है, अतः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चतुर्विध पुरुषार्थ कहे जाते हैं। परशुराम कल्पसूत्र में कहा है कि—

"स्वविमर्शः पुरुषार्थः" अपने स्वरूप का ज्ञान ही परम पुरुषार्थ है वही परमपुरुषार्थ मोक्ष पदवाच्य अकृत्रिम सुख है।"

इस सुख को प्राप्त करने के लिये हमारे पूर्वज ऋषि, महर्षि, महा-मनीषीयों ने अपने तपःपूत अन्तःकरण से समाधिजन्य अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा साधना सम्बन्धी वाङ्मय कोष को परिपूर्ण एवं सुसमृद्ध किया। उन विभिन्न साधन पद्धतियों में चित्तशुद्धि के तारतम्य से (अधिकारी भेद से) तत्तत् साधन पद्धतियों का विनियोग परिलक्षित होता है। परम कारुणिक भूत-भावन भगवान् विश्वनाथ ने साधारण जन के उद्धार के लिये परम पुरुषार्थ रूप अकृत्रिम सुख की प्राप्ति के लिये श्रीविद्या साधना पद्धति का प्राकट्य किया। स्वर्लोक निवासी देवता एवं ब्रह्मर्षि, राजर्षि, महर्षियों ने उस पद्धति का समाश्रयण कर अनुमोदन किया।

यही नहीं अपितु दत्तात्रेय, परशुराम, हयग्रीव-शङ्कराचार्य आदि भगवान् के अनेक अवतारों ने उसे सर्वजन सुलभ बनाने के लिये उत्त-रोत्तर सरलतम विधान किया। तदनन्तर यहामनीषी साधकों ने अधीति, बोध, आचरण एव प्रचार के द्वारा इस श्रीविद्या पद्धति की गरिमा और महिमा का संस्तुत्य प्रख्यापन किया।

भगवान् आद्यशङ्कराचार्य ने तो कालक्रम से विलुप्त इस साधना पद्धति का पुनरुद्धार करके जनकल्याण का परम महत्वपूर्ण कार्य किया। और इस साधना को सम्पूर्ण भारत वर्ष में प्रचारित और प्रसारित कर सम्प्र-दाय (गुरु परम्परा) के आचार्य रूप में सम्मानित हुए। इसलिये कहा जाता है कि "सम्प्रदायो हि नान्योऽस्ति लोके श्रीशङ्कराद्बहिः" भगवान्

शङ्कराचार्य के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के अतिरिक्त इस लोक में आज श्रीविद्या का दूसरा कोई सम्प्रदाय ही नहीं है।

इसी प्रकार अनेक साहित्य स्रष्टा, लोकद्रष्टा साधक शिरोमणि महात्माओं ने इस श्रीविद्या साधना का समाश्रयण करके सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय इसके साहित्य निधि को सुसमृद्ध किया। इन्हीं में लोक कल्याणकारी भावनाओं से ओत-प्रोत अन्तःकरण से अपने जीवन के प्रति क्षण को लोक-कल्याण के लिये समर्पित करने वाले प्रातः स्मरणीय श्री गुरुचरण स्वामी करपात्रीजी महाराज ने भी इस दिशा को अपनी लोकोत्तर प्रतिमा के दिव्य आलोक से आलोकित करके श्रीविद्या साधना सम्प्रदाय को दिव्यज्योत्स्ना मण्डित किया।

श्रीस्वामीजी महाराज ने वेदान्त, भक्ति, योग आदि साधन पद्धतियों से उस परमतत्व का साक्षात्कार प्राप्त कर लेने पर भी केवल लोक-कल्याण की भावना से श्रीविद्या साधना पद्धति का अवलम्बन किया, एवं पूर्णविधि विधान से श्रीयन्त्राधिष्ठात्री भगवती राजराजेश्वरी श्रीललिता महात्रिपुरसुन्दरी का उच्चतम उपासना क्रम अनुष्ठित करके उत्तर भारत में विलुप्तप्राय श्रीविद्या सम्प्रदाय को प्रचार के द्वारा प्रतिष्ठापित्त किया, एवं श्रीविद्या साहित्य भण्डार को भी "श्रीविद्या रत्नाकर" "श्रीविद्या वरिवस्या" जैसे दिव्य रत्न प्रदान कर अभिवृद्ध एवं विभूषित किया। उनके द्वारा लिखित श्रीविद्यामन्त्रभाष्य पर दृष्टिपात करने पर तो उनका तन्त्र शास्त्र का गहन अध्ययन, प्रौढ़ पाण्डित्य, तत्त्वज्ञता, रहस्यज्ञता सुस्पष्ट परिलक्षित होती है।

इस श्रीविद्या रत्नाकर के प्रथम प्रकाशन को श्रीविद्या साधकों ने परमस्नेह से संगृहीत किया जिससे यह अतिशीघ्र ही शेष हो गया, तदनन्तर इसकी प्राप्ति के लिये कई वर्षों से साधकों के सोत्कण्ठ पत्र निरन्तर प्राप्त होते रहे किन्तु इसके पुनर्मुद्रण में विलम्ब ही होता गया। इसी बीच में श्रीगुरुचरणों की आज्ञा से 'श्रीविद्या वरिवस्या' प्रकाशित की गई। यद्यपि यह भी श्रीक्रम के लिये पर्याप्त है तथापि श्रीविद्या रत्नाकर की पूर्ति में तो कथमपि सक्षम नहीं हो सकती है। अतः श्रीविद्या रत्नाकर की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी, विलम्ब होने के कारण रोष और आग्रहपूर्ण पत्र निरन्तर आते रहे, हम विलम्ब के लिये साधक वर्ग से क्षमा प्रार्थी हैं। परាम्बा की अनुकम्पा से यह द्वितीय मुद्रण साधकों की

सेवा में प्रस्तुत है। इसमें जहाँ तक हो सका संशोधन के लिये पूर्ण प्रयास किया गया है, एवं साधकों के सौकर्य के लिये महागणपति, श्यामला, वार्ताली के यन्त्र एवं ध्यान चित्र भी दिये गये हैं, इस प्रकाशन में संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के आधुनिक भाषा एवं भाषाविज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा० सत्यव्रत शर्मा का पूर्ण योगदान रहा, उनके पुत्र संजीव शर्मा ने ही इसके यन्त्र, चित्रादि बनाने का कार्य सम्पादन किया एवं अन्य पारिवारिक सदस्यों का प्रूफ एवं संशोधन आदि कार्यों में पूर्ण सहयोग रहा, यह पूरा परिवार ही श्रीविद्या का उपासक है। अतः श्रीपराम्बा से पूरे परिवार की कल्याण कामना करते हैं। आचार्य पं० शिवदत्त मिश्र शास्त्रीजी के प्रति भी हम आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने प्रारम्भिक मुद्रण की व्यवस्था एवं समय-समय पर यथोचित मुद्रण सम्बन्धी ज्ञान के द्वारा उपकृत किया। श्रीपुरुषोत्तमलाल धानुका एवं उनके पुत्र ओमप्रकाश धानुका को आर्थिक योगदान देने के लिये हम हृदय से साधुवाद देते हैं, ये श्रीकरपात्रीजी महाराज के श्रद्धालु भक्त एवं कृपापात्र रहे हैं। तारा प्रेस के संचालक श्री रमाशंकर पण्ड्या भी भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र हैं जिनके शील एवं सौजन्य से सुचारु रूप से मुद्रण कार्य सम्पादन हुआ।

इस द्वितीय प्रकाशन में मनुष्य स्वभाव सुलभ प्रमादादि दोषों से रही—

न्यूनता एवं अशुद्धियों के लिये श्रीविद्या साधकों से मैं क्षमा प्रार्थना करता हुआ विनम्र निवेदन करता हूं कि अग्रिम प्रकाशन के लिये आपके सुझाव एवं विचारों से अनुगृहीत करें जिससे इसका करिष्यमाण प्रकाशन विशुद्ध एवं साङ्गोपाङ्ग हो।

शेष में इष्टदेव स्वरूप श्रीगुरुचरणों को प्रणतितति संवेदन करता हुआ उनके द्वारा प्रदत्त शक्ति से ही इस कार्यभार को वहन करने में समर्थ हुआ इसके लिये श्रीमद्भागवत के शब्दों में करबद्ध श्रद्धाञ्जलि ही उनके तोष के लिये समर्पित करता हूँ।

तुष्यत्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं
को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम्।

श्रीगुरुचरणसरोजरेणु
श्रीसीताराम कविराज
(दीक्षानाम) दत्तात्रेयानन्दनाथ
वाराणसी

प्रथमप्रकाशनस्य

सम्पादकीयम्

श्रीविद्यारत्नाकरग्रन्थमिमं सम्पाद्य श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां श्रीपराम्बा-पादारविन्दमकरन्दजुषां श्रीविद्योपासकानां सेवासु समुपाहरन्नमन्दमा-नन्दसन्दोहं विन्दे। यद्यपि सन्त्यनेकाः श्रीविद्योपासकधौरेयैः सुधीभिः सम्पा-दिताः सपर्यापद्धतयः, सकला अपि ताः साङ्गोपाङ्गसाधनायै सापेक्षतामा-वहन्ति । यथा हि अर्चनायैकं न्यासायान्यत् स्तवनायापरं जपायेतरद्, एव-मङ्गोपाङ्गदेवतानामुपासनायै तासां जपपूजातर्पणहोमपुरश्चरणादीनां कृते बहूनि पुस्तकानि समपेक्षितानि भवन्ति श्रीविद्योपासकानाम् । परञ्च श्री-विद्यारत्नाकरोऽयं आदीक्षाविधानमाच पूर्णाभिषेकं साधनकालात्सिद्धिपर्यन्तं यद्यदपेक्षितं विधानादिकं तत्तत्सकलमपि रत्नाकरवत्प्रपूरयति ।

श्रीगुरुचरणैः कुलार्णव, तन्त्रराज, कल्पसूत्र-श्रीविद्यार्णव-त्रिपुरारहस्य-नित्योत्सवादिकान् विविधतन्त्रग्रन्थान् समालोड्य ग्रन्थरत्नमिदं निरमायि।

तपसा ग्रन्थित्रयभेदेन ज्ञानशक्तिप्रादुर्भावाद् वेदवेदाङ्गेषु निखिलदर्शनेति-हासपुराणधर्मशास्त्रादिसमस्तशास्त्रेष्वेवं योगतन्त्रभक्तिज्ञानादिसमस्तमार्गेषु च येषां सर्वज्ञता सम्पन्ना तैः प्रातःस्मरणीयगुरुचरणैः प्राणिमात्रकल्याण-तत्परैः करुणापूरपूरितमानसैर्महदुपकृतं श्रीविद्योपासकानां ग्रन्थमिमं निर्माय।

सर्वतन्त्रविद्यातो ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यञ्चास्याः श्रीविद्यायाः । श्रीपरमशिव-श्चतुषष्टितन्त्रैः सकलैहिकसिद्धिसन्दोहं सम्पाद्य श्रीपराम्बायाः निर्बन्धेनेदं निखिलपुरुषार्थघटनं श्रीतन्त्रं समाविष्कृतवान् । सौन्दर्यलहर्यां भगवत्पादै-रिदमेव प्रतिपादितम् ।

चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं,
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः ।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना,
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ॥

अस्य साधनफलं तस्यां स्तुतावेव च समुद्घोषितम् :—

सरस्वत्या लक्ष्म्या विधिहरिसपत्नो विहरते,
रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येण वपुषा ।
चिरञ्जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः,
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान् ॥

अन्यान्यदेवतार्चनासुः "विद्यार्थी लभते विद्यां धनार्थी लभते धन" मित्यादिकं फलं प्रदर्शितं परं श्रीविद्योपासकस्तु विद्यापतित्वेन ब्रह्मणो लक्ष्मीपतित्वेन विष्णोश्चासूयां जनयन्नतिसुन्दरेण शरीरेण रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयन्, तत्तत्सिद्धिभिर्जनान् विस्मापयन्, जीवभावं विहाय शिवभावं भावयन् चिरंजीवन् ब्रह्मानन्दरसं रसयति। अतःपरं किमपि नावशिष्यते प्राप्तव्यम्। जन्मजन्मान्तरीयपुण्यपुञ्जोदयेन कदाचित् केनचित् कथञ्चित् समधिगता सम्यक्तया यद्यस्याः साधनसरणिस्तदा सुसम्पन्नं तस्य सर्वं, कृतकृत्यं तस्य जीवितं; नान्यत्किञ्चिदपेक्षितं स्यादस्याः प्राप्त्यनन्तरं, तस्य चिन्तितकार्याण्ययत्नेन सिद्ध्यन्ति, स शिवयोगीति गीयते।

स्वस्मिन्पूर्णता चानुभूयते। अन्यैः साधनमार्गैः—

"अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" (श्रीमद्भगवद्गीता)

परमेतस्मिन्नेव जन्मनि श्रीविद्योपासकस्तु पराङ्गतिं याति। यथा— "चरमे जन्मनि यथा श्रीविद्योपासको भवेत्"।

"यस्य नो पश्चिमं जन्म यदि वा शङ्करः स्वयम्।
तेनैव लभ्यते विद्या श्रीमत्पञ्चदशाक्षरी॥"

इति बहुभिः प्रमाणकदम्बकैः सुसम्पन्नमिदं यच्चरमे जन्मन्येव श्रीविद्या प्राप्यते। तेन जीवो जीवभावं विहाय ब्रह्मत्वमुपैति। यतो हि सृष्टिकालादारभ्याऽऽनन्दरूपिणः परब्रह्मणः पृथग्भूय विविधं विचष्टते जीवः। तमेव परमप्रेमास्पदं वस्तु प्राप्तुं जगति रूपरसादिषु तामानन्दकणिकां बहु मन्यमानः तत्संग्रहार्थं यतते, प्राप्नोति चाऽऽधिकाधिकं प्राप्यमाणोऽपि रिक्तरिक्तमिव प्रतीयते। यत उक्तम् :—

"यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥"

अतः आनन्दसिन्धोःलहरीभूतो जीवस्तत् कणिकाभिः कथं तृप्येत्। तमेवाऽऽनन्दसिन्धुं प्राप्यैव तृप्तो भवति। यथा कश्चिच्चक्रवर्ती ग्रामटिकां विजित्य किं मोदेत ? वेदान्तमार्गेण "अहं ब्रह्माऽस्मि" "तत्त्वमसि" "अयमात्मा-ब्रह्म" इत्यादिकानां महावाक्यानां श्रवण-मनननिदिध्यासनादिभिः शनैः शनैर्ब्रह्मभावमाप्नोति, तदा पूर्णतां भजते। परं "क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम-

व्यक्तासक्तचेतसाम्" इति भाव्यता भगवता भूतनाथेन परमकारुणिकेन "श्रीविद्यातन्त्रं" निरमायि।

सैवेयं ब्रह्मविद्या श्रीविद्या सच्चिदानन्दस्वरूपिणी यस्याः समाराधनेन जीवः सुखेन स्वरूपतां याति। अस्याः मन्त्रात्मकं यन्त्रात्मकं विग्रहात्मकञ्च त्रिरूपं साधकैः समाराध्यते।

मन्त्रात्मकं रूपं पञ्चदशी षोडशी महाषोडशी च'

श्रीविद्यामन्त्रभाष्यं विवृण्वन् श्रीगुरुचरणैर्व्याख्यातम्। तद्विज्ञाने जाते सर्वं विज्ञातं भवति। तस्मिन्दृष्टे सर्वं बाधितं भवति। तस्य नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपा शक्तिस्तद्योगादेव विश्वोत्पत्तिस्थितिलयलीलात्वं शिवस्य।

तदुक्तं वरिवस्यारहस्ये "स जयति महान् प्रकाशो यस्मिन्दृष्टे न दृश्यते किमपि। कथमिव तस्मिन् ज्ञाते सर्वं विज्ञातमुच्यते वेदे। नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपाऽस्य वर्तते शक्तिः। तद्विज्ञानार्थमेव चतुर्दशविद्यास्थानानि तेष्वपि सारभूता वेदाः। तेष्वपि गायत्री, तस्या रूपं द्वितयम्। तत्रैकं स्पष्टं द्वितीयं परं गोपनीयं श्रीविद्यारूपम्। तदेव "कामो योनिः कमलावज्रपाणिरित्येवं" साङ्केतिकैः शब्दैर्वेदोऽपि व्यवहरति।

तत्र महाषोडशीमहिमा :—

"वाक्यकोटिसहस्रैस्तु जिह्वाकोटिशतैरपि।
वर्णितुं नैव शक्येऽहं श्रीविद्या षोडशाक्षरीम्॥
एकोच्चारेण देवेशि ! वाजपेयस्य कोटयः।
अश्वमेधसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवस्तथा॥
काश्यादितीर्थयात्राः स्युः सार्धकोटित्रयान्विताः।
तुलां नार्हन्ति देवेशि ! नाऽत्र कार्या विचारणा।
अयि प्रियतमं देयं सुतदारधनादिकम्।
राज्यं देयं शिरो देयं न देया षोडशाक्षरी॥

भगवत्याः यन्त्रात्मकं रूपं "श्रीचक्रम्" तदाराधनेन सर्वसिद्धीश्वरो सञ्जायते; तन्त्रशास्त्रेषु तस्य महता समारोहेण महिमा वर्णितः।

"सम्यक् शतं क्रतून् कृत्वा यत्फलं समवाप्नुयात्।
तत्फलं समवाप्नोति कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्॥"

"तीर्थस्नानसहस्रकोटिफलदं श्रीचक्रपादोदकम्" इत्यादिभिः प्रमाण-निकुरुम्बैरप्रतिमं महत्त्वमाचक्षते।

विग्रहात्मकं रूपन्तु राजराजेश्वरी श्रीललिता महात्रिपुरसुन्दरी परा-भट्टारिका तस्याः स्वरूपं स्तुवद्भिर्भवत्पादैरुक्तम् ।

"शरीरी श्रृङ्गारो रस इव दृशां दोग्धि कुतुकम्"

श्रीललिता पूजनफलन्तु पाद्मवचनैः प्राप्यते—यथा;

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
ललितापूजनस्यैते लक्षांशेनाऽपि नो समाः ॥
स दाता स मुनिर्यष्टा स तपस्वी स तीर्थगः ।
गन्धानुलेपनं कृत्वा ज्योतिष्टोमफलं लभेत् ॥
चन्दनागरुकर्पूरैः सूक्ष्मपिष्टैः सकुङ्कुमैः ।
आलिप्य ललितां लोके कल्पकोटीर्वसेन्नरः ॥

"गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदः ।
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम् ।
तुरीया काऽपि त्वं दुरधिगमनिस्सीममहिमा ।
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि ॥"

एकामेव भगवतीं नानानामरूपैर्गृणन्त्यागमविदः परब्रह्ममहिषी, महाविद्या महामाया महात्रिपुरसुन्दरी ललितेति । एकैव सा कार्यकारणरूपा विश्वस्य, स्वात्मानं विश्ववपुषा परिणमयितुं चिदानन्दाकारं विभर्ति । वस्तुतस्तु "सर्वं शाक्तमजीजनत्" इति सिद्धान्तेन दृश्यमानं सकलं जगत् देवीमयमेव ।

"एवं युवतयः सद्यः पुरुषत्वं प्रपेदिरे ।
चक्षुष्मन्तो नु पश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः ।"

अतएव— "पुंरूपं वा स्मरेद्देवीं स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत् ।
अथवा निष्कलं ध्यायेत्सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥"

इति प्रमाणकदम्बकानि तत्तदिच्छानुरोधेन पुंरूपतया, स्त्रीरूपतया, निर्गुणरूपतया वा परदेवतायाः ध्येयत्वं प्रतिपादयन्ति । तच्च पुरुषरूपं कीदृग्विधमिति जिज्ञासायां—

"ममैव पौरुषं रूपं गोपिकाजनमोहनम्" ब्रह्मवैवर्तपु०
कदाचिल्ललिता देवी धृतश्रीकृष्णविग्रहा ।
वेणुनादविनोदेन मोहयत्यखिलं जगत् ॥"

पद्मपुराणे वृन्दावनमाहात्म्यं वर्णयता नारदं प्रति श्रीविष्णुना स्वमुखेनेदमुक्तम्—

"अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः।
अहञ्च ललितादेवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद।
इदं वृन्दावनं नाम रहस्यं मम वै गृहम्॥

कूर्मपुराणे च—

सहस्रमूर्धानमनमनन्तशक्तिं सहस्रबाहुं पुरुषं पुराणम्।
शयानमब्धौ ललिते तवैव नारायणाख्यं प्रणतोऽस्मि रूपम्।

इत्यादिभिः प्रमाणैः पराम्बायाः पुंरूपं प्रतिपादितम्।

स्त्रीरूपन्तु स्पष्टमेव :—

"न मातुः परमस्ति दैवतम्"
"अपराधपरम्परावृतं न हि माता समुपेक्षते सुतम्

"आपदि किं करणीयं स्मरणीयं चरणयुगलमम्बायाः।" इत्यादिभिर्हृद्यैः पद्यैर्मातृरूपेणैव ध्येयत्वं निश्चीयते।

त्रिविधदावदग्धान् भववनपतितान् स्वसेवकान् पीयूषवर्षैः परित्रातुं बद्धपरिकरायाः मातुश्चरणयोः शरणागतिः सर्वार्थसिद्धिदा। उक्तञ्च—

निष्कामो देवतां नित्यं योऽर्चयेद्भक्तिनिर्भरः।
तामेव चिन्तयन्नास्ते यथाशक्ति मनुं जपन्॥
सैव तस्यैहिकं भारं वहेन्मुक्तिञ्च साधयेत्।
सदा सन्निहिता यस्य सर्वञ्च कथयेत सा
वात्सल्यसहिता धेनुर्यथा वत्समनुव्रजेत्।
तथाऽनुगच्छेत्सा देवी स्वं भक्तं शरणागतम्॥"

एवमशरणशरण्यायाः करुणावरुणालयायाः भक्तजनस्य वाञ्छासमधिकफलं दातुं भयात्त्रातुञ्च नित्यनिर्भरायाः पराम्बायाः पादारविन्दार्चनं सकलैहिकामुष्मिकं वाञ्छितार्थं प्रपूरयति।

उपासनविधावपि श्रीविद्यायास्त्रयो भेदा सन्ति।

स्थूलोपास्तिः, सूक्ष्मोपास्तिः परोपास्तिरिति कायिकी वाचिकी मानसीचेत्यपरनामधेयाः कायिकी स्थूलोपास्तिः श्रीचक्रार्चनम्, वाचिकी सूक्ष्मोपास्तिर्जपः मानसी परोपास्तिर्भावनोपनिषद्भावना।

श्रीसाधकानां कृते साङ्गां त्रिविधामपि सपर्यामेकेनैव ग्रन्थरत्नेन सम्यक्प्रकारेण कार्यसम्पादनायालमिति यतमानानामस्माकं मनोरथाः साम्प्रतं पूर्णताङ्गताः।

इतो दशवर्षेभ्यः पूर्वं श्रीगुरुचरणैर्विरचितं श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिचरणैः सम्पादितं "त्रिपुरसुन्दरिवरिवस्या" नामकं पुस्तकं प्रकाशितमासीत् तामेव पद्धतिं श्रीचरणैर्नूतनैः कतिपयैः पूर्णाभिषेकादिविधिभिरलङ्कृत्य प्रकाशनार्थं समादिष्टोऽहम् । मया च साधकानां सौकर्यार्थं तत्तत्सपर्यापुस्तकान्यवलोक्य विषया विशदीकृताः ।

इदानीं "श्रीविद्यारत्नाकर" नामा ग्रन्थोऽयं श्रीमतां पुरस्ताद् वर्तते । ग्रन्थेऽस्मिन् गणपतिश्रीश्यामावार्तालीपरादेवतानां साङ्गोपाङ्गसपर्याविधिर्वर्णितः । श्रीक्रमे सुदुर्लभं त्रिवृत्तार्चनं श्रीचक्रस्वरूपं तस्य महिमा च महता समारोहेण प्रमाणपुरःसरं वर्णितः श्रीचरणैः ।

परिशिष्टे च श्रीविद्यामन्त्रभाष्यम्, वाञ्छाकल्पलता विद्या, पूर्णाभिषेकविधिः, लक्षार्चनम्, महायागक्रमः, एवञ्चोद्धृतानि मानसपूजादीनि सुललितानि स्तोत्राणि साधकानां मनांसि समाह्लादयन्ति ।

ग्रन्थस्यास्य सम्पादने मुद्रणे च श्रीगुरुचरणानां कृपालेश एव परमो हेतुः, येन ग्रन्थोऽयं प्रकाशतान्नीतः । अतस्तेषां चरणेषु सहस्रशः प्रणामाः विलसन्तु । मुद्रितपुस्तकसंशोधनेनात्यन्तं साहाय्यमाचरितवतां पुरीपीठाधीश्वराणां जगद्गुरुश्रीशङ्कराचार्याणामनन्तश्रीविभूषितानां स्वामिश्रीनिरञ्जनदेवतीर्थचरणानां पादरजः शिरसाऽऽवहामि ।

वित्तसम्बन्धि सर्वविधसाहाय्यं कृतवतां श्रीहनुमानप्रसादधानुकानां, श्रीबाबूलाल गनेड़ीवालानामेवं मुद्रणपत्रशोधनाय साहाय्यमनुष्ठितवतां त्रिवेद्युपाधिश्रीब्रह्मदत्तशास्त्रिणां कृतेऽनन्तान् धन्यवादान् समर्पयामि ।

अत्र सीसकाक्षरयोजनवैकल्येन काश्चनाशुद्धयो मुद्रणपथमधिरूढाः; अस्मदीयबुद्धिदोषात् दृष्टिदोषाद्वा या अशुद्धयो दृष्टिगोचरा उपासकानां भवेयुः तास्सकलीकृत्य बोधयन्तु येन तत्स्थलं संशोध्य साधकेभ्यो वितरामः ।

पराम्बापादारविन्दमकरन्दजुषां साधकपुङ्गवानां अत्यन्तोपकारकमिदमपूर्वपुस्तकं परिगृह्य साधकजनता श्रीमातुः परमनुग्रहभाजनं भूयादिति साञ्जलिबन्धं सप्रणामं सादरं सामोदं चाशासानः—

श्रीगुरुचरणसरोजरेणुः
श्रीसीताराम कविराजः
"श्रीविद्याभास्करः"
दीक्षानाम—दत्तात्रेयानन्दनाथः

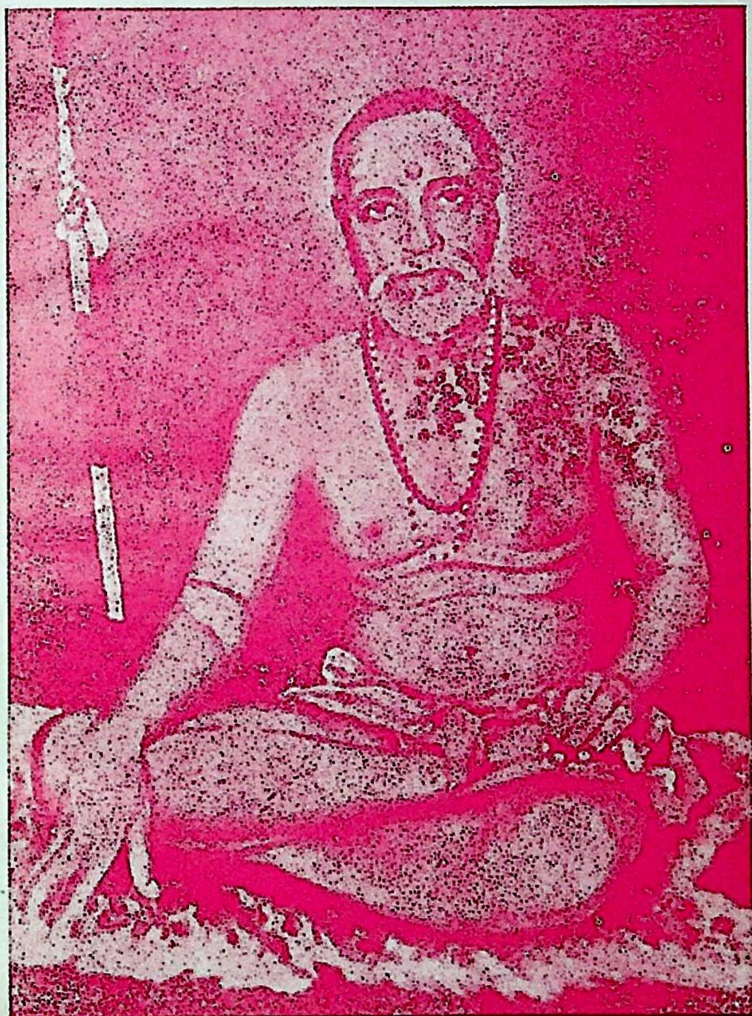
—: ० :—

॥ श्रीः ॥

श्रीविद्यारत्नाकरस्थविषयानुक्रमणिका

इतिविषयानुक्रमणं समाप्तम् ।

शिवत्वङ्गताः श्रीकरपात्रस्वामिचरणाः



शिवत्वङ्गता—समस्तशास्त्रपारावारपारदृश्वानः अनन्तश्रीविभूषिताः श्रीहरिहरानन्दसरस्वतिस्वामिनः (दीक्षानाम—श्रीषोडशानन्दनाथः)

चित्र एवं यन्त्र सूची

॥ श्रीः ॥

॥ श्रीगुरुभ्यो नमः श्रीमहागणपतये नमः ॥

॥ श्रीसच्चिदानन्दस्वरूपिण्यै श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः ॥

श्रीकरपात्रस्वामिविरचितः

श्रीविद्या-रत्नाकरः

•

आब्रह्माण्डपिपीलिकान्ततनुभृत्सूज्जृम्भमाणा स्फुटम्,
जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिभासकतया सर्वत्र या दीव्यति ।
सा देवी जगदम्बिका भगवती श्रीराजराजेश्वरी,
श्रीविद्या करुणानिधिः शुभकरी भूयात् सदा श्रेयसे ॥

अथ परशुराम-कल्पसूत्र-श्रीविद्यार्णव-नित्योत्सवादिरीत्या गणपति-श्री-श्यामा-वार्ताली-परावरिवस्याः क्रमशो निरूप्यन्ते ।

दीक्षा-क्रमः

तत्र श्रीविद्यार्णवोक्तमन्त्रेषु विशेषः । देवताप्रसादात् श्रीविद्यार्णवो विशेषतोऽनुगृहीतः । तथाहि, श्रीविद्यार्णवारम्भे :—

'श्रीविष्णुशर्मणः शिष्यः प्रगल्भाचार्यपण्डितः ।
तच्छिष्येण मया प्रोक्ते ग्रन्थेऽस्मिन् पूर्णतां गते ॥

आविरासीज्जगद्धात्री महामाया ममाग्रतः ।
इति प्रोवाच भो वत्स वृणीष्व वरमीप्सितम् ॥
तदोक्तवानहं मातर्मत्कृतं ग्रन्थमुत्तमम् ।
दृष्ट्वा गुरुक्रमं मन्त्रान् गुरुत्वेन विभाव्य माम् ॥
दीक्षां विनाऽपि भक्त्या तु ये जपन्ति च साधकाः ।
तेषामतितरां सिद्धिर्भवत्विति ममेप्सितम् ॥
सुप्रसन्ना तदा देवी तत्तथैव भवत्विति ।'

मन्त्राणामतितरामैहिकामुष्मिकाभीष्टफलदातृत्वं जोघुष्यते सर्वमन्त्रराद्धान्तेषु । पारम्पर्यवैधुर्यादेव तेषामनुष्ठानेऽपि निष्फलत्वमनुभूयते । अनिष्टप्रदत्वञ्चाऽपि तन्त्रेषु स्मर्यते । तदुक्तं तत्रैव :—

गुरुक्रममविज्ञाय पूजयेद् यः परां शिवाम् ।
सा पूजा निष्फला ज्ञेया भस्मन्यर्पितहव्यवत् ॥
ज्ञात्वा गुरुमुखान्नित्यं सम्प्रदायमतन्द्रितः ।
प्रत्यहं स्मरणं कुर्यान्मन्त्रवीर्यस्य सिद्धये ॥
विंशतिः पुरुषाः वापि नव सप्त त्रयोऽपि वा ।
न ज्ञाता गुरुवंशानां शिष्यश्चेन्नष्टसन्ततिः ॥
स्ववंशादधिको ज्ञेयो गुरुवंशो महाशुभः ।
जनकादधिको ज्ञेयो मन्त्रदस्तु महेश्वरः ॥

गुरुलक्षणम्

परशुरामकल्पसूत्रभाष्ये गुरुलक्षणानि कुलार्णवे १३ समुल्लासे—

श्रीगुरुः परमेशानि शुद्धवेशो मनोहरः ।
सर्वलक्षणसम्पन्नः सर्वावयवशोभितः ॥
सर्वागमार्थतत्त्वज्ञः सर्वतन्त्रविधानवित् ।
लोकसम्मोहनाकारो देववत् प्रियदर्शनः ॥
सुमुखः सुलभः स्वच्छो भ्रमसंशयनाशकः ।
इङ्गिताकारवित् प्राज्ञ ऊहापोहविचक्षणः ॥

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिः सर्वज्ञो देशकालवित् ।
आज्ञासिद्धस्त्रिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षमः ॥
वेधको बोधकः शान्तः सर्व-जीव-दयाकरः ।
स्वाधीनेन्द्रियसञ्चारः षड्वर्गविजयप्रदः ॥
अग्रगण्योऽतिगम्भीरः पात्रापात्रविशेषवित् ।
शिवविष्णुसमः साधुर्मनुभूषणभूषितः ॥
निर्ममो नित्यसन्तुष्टः स्वतन्त्रोऽनन्तशक्तिमान् ।
सद्भक्तवत्सलो धीरः कृपालुः स्मितपूर्णवाक् ।
भक्तप्रियः समो देवि ! गम्भीरः शिष्टसाधकः ॥
....

नरवद् दृश्यते लोके श्रीगुरुः पापकर्मणा ।
शिववद् दृश्यते लोके भवानि ! पुण्यकर्मणा ॥
दृश्यं विना स्थिरा दृष्टिर्मनश्चाऽऽलम्बनं विना ।
विनाऽऽयासं स्थिरो वायुर्यस्य स्यात् स गुरुः प्रिये ॥
यो वेत्ता सच्चिदानन्दं हरेदिन्द्रियजं सुखम् ।
धन्यं तदुक्तमखिलं स गुरुः परमो मतः ।
विद्धस्तु वेधयेद्देवि ! नाविद्धो वेधको भवेत् ॥
मुक्तस्तु मोचयेदूर्ध्वं न मुक्तो मोचकः कथम् ।
शिलां सन्तारयेन्नौर्हि न शिला तारयेच्छिलाम् ॥
अभिज्ञश्चोद्धरेन्मूर्खं न मूर्खो मूर्खमुद्धरेत् ॥
प्रेरकः सूचकश्चैव वाचको दर्शकस्तथा ।
शिक्षको बोधकश्चैव षडेते गुरवः स्मृता ॥
पञ्चैते कार्यभूताःस्युः कारणं बोधको भवेत् ।
पूर्णाभिषेककर्त्ता यो गुरुस्तस्यैव पादुका ॥
पूजनीया महेशानि ! बहुत्वेऽपि न संशयः ।
श्रीगुरुं लक्षणोपेतं संशयच्छेदकारकम् ॥

लब्ध्वा ज्ञानप्रदं देवि! न गुर्वन्तरमाश्रयेत् ।
अनभिज्ञं गुरुं प्राप्य संशयोच्छेदकारकम् ॥
गुर्वन्तरं तु गत्वा स नैतद्दोषेण लिप्यते ।
मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत् ॥
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ।
नातिबालो न वृद्धश्च न खञ्जो न कृशस्तथा ॥
नाधिकाङ्गो न हीनाङ्गो न खल्वाटो न दन्तुरः ।
कुमारीहिमवन्मध्ये स्वतःकृष्णमृगान्विते ।
देशे जातस्तु यो विद्वान् आचार्यत्वमथार्हति ।
सर्वत्र व्यतिरिक्तं तु आत्मानं वेत्ति यो द्विजः ।
सर्वलक्षणहीनोऽपि स गुरुर्नाऽत्र संशयः ॥
(हयशीर्षपञ्चरात्रे)

अतीतागमे विशेषः :—

जटी मुण्डी शिखी वाऽपि शस्तदेशसमुद्भवः ।
शिवशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः श्रुतवृत्तान्वितो द्विजः ॥
शिवमेवाश्रितो नित्यं वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
आचार्यः स सदोद्दिष्टः शिवदीक्षादिकर्मसु ॥

मोहशुरोत्तरे :—

चीर्णाचारव्रतो मन्त्री ज्ञानवान् सुसमाहितः ।
नित्यनिष्ठो यतिः ख्यातो गुरुः स्याद् भौतिकोऽपि च ॥

गुरुगौरवे :—

विद्ययाऽभयदातारं लौल्यचापल्यवर्जितम् ।
एवं विधं गुरुं प्राप्य को न मुच्येत बन्धनात् ॥

पौष्करे तु :—

सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुच्यते ।
ज्ञानञ्च तत्त्वविज्ञानं षडध्वज्ञानसंश्रयम् ॥

मालिनीतन्त्रेऽपि—

स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः ।
आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत् ॥
'गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं निवेदयेत्'—इति ।

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि शिष्यसन्तापहारकः ॥
स्वच्छः स्वच्छन्दचरितोऽतुच्छधीस्त्यक्तहृच्छयः ।
देशकालादिविद्देशे देशे दैशिक उच्यते ॥
इष्टदो नित्यसंहर्त्ता दृष्टादृष्टसुखावहः ।
रतोऽविरतमर्चासु परं पुरमुरद्विषोः ॥
दाता दान्तः शान्तमना नितान्तं कान्तविग्रहः ।
स्वदुःखकारणेनाऽपि परं परसुखोद्यतः ॥
ऊहापोहविदध्यात्मव्याकुलो मोहवर्जितः ।
अज्ञानुकम्पी विज्ञातज्ञानो ज्ञातपरेङ्गितः ॥

शिष्य लक्षणम्—

आस्तिको दृढभक्तिश्च गुरौ मन्त्रे च दैवते ।
एवम्विधो भवेच्छिष्य इतरो दुःखकृद्गुरौ ॥

वशिष्ठागस्त्ययाज्ञवल्क्यादिवद् ब्रह्मनिष्ठः स्वस्थमानसो गृहस्थो गुरुः स्वयमेव सर्वमाचार्यकृत्यं कुर्यात् । त्यक्ताग्नयोऽन्याश्रमिणस्तु ब्रह्मादि-कार्याणि ऋत्विग्भिरेव कारयेयुः । योगध्यानादिसाध्यान्यावरणार्चनादीनि च स्वयमेव विदधीरन् ।

नित्योत्सवे दीक्षाकालः :—

वैशाखे सिद्धिदा दीक्षा श्रावणे वृद्धिदा नृणाम् ।
आश्विने सर्वसिद्धिःस्यात् कार्त्तिके ज्ञानवृद्धिदा ॥
शुभदा मार्गशीर्षे च माघे स्वर्गफलप्रदाः ।
फाल्गुने सर्वसिद्धिः स्यादन्येऽनिष्टफलप्रदाः ॥
मलमासं क्षयमासमस्वाध्यायं विवर्जयेत् ।
रवि-सोम-बुध-गुरु-शुक्रेषु वारेषु द्वितीया-तृतीया-
पञ्चमी-सप्तमी-दशम्येकादशी-द्वादशी-पूर्णिमा-तिथिषु-
दीक्षा सुखदा ।

अश्विनी-रोहिणी - पुनर्वसु-पुष्य - मघा-पूर्वफाल्गुनी-हस्त-चित्रा-स्वाती अनुराधा - पूर्वोत्तराषाढ़ा- शतभिषा - पूर्वभाद्रपदा - उत्तरभाद्रपदा-रेवती-

नक्षत्रेष्वायुष्मत्प्रीति-सौभाग्य-शुभ - सुकर्म-धृति - वृद्धि - ध्रुव-सिद्धि-हर्षाख्य-वरीयः शिव-सिद्ध-ब्रह्मेन्द्रयोगेषु च दीक्षा शुभावहा।

मेष-कर्कट-कन्या-तुला-वृश्चिक-मकर-कुम्भराशिषु-शुक्लपक्षे
शुभा दीक्षा, कृष्णेऽप्यापञ्चमीदिनात्।
भूतिकामैः सितेपक्षे मुक्तिकामैः सितेतरे॥'
विषुवेऽप्ययनद्वन्द्वे संक्रात्यां दमनोत्सवे।
दीक्षा कार्या त्वकालेऽपि पवित्रे गुरु पर्वणि॥

विषुवे (मेष-तुला-सङ्क्रमणयोः) अयन-द्वन्द्वे (कर्कटमकरसंक्रान्त्योः) संक्रान्त्यां, दमनोत्सवे।

षष्ठी भाद्रपदे मासि कृष्णाश्विनचतुर्दशी।
कार्तिके नवमी शुक्ला मार्गे कृष्णा च पञ्चमी।
पौषे च पूर्णिमा देवि माघे चैव चतुर्थिका।
फाल्गुनैकादशी कृष्णा चैत्रे मासि त्रयोदशी।
वैशाखेऽक्षय्यतृतीया ज्येष्ठे दशहरा स्मृता॥
आषाढे द्वादशी कृष्णा ह्यमावस्या च श्रावणी।
इष्टानि देवीपर्वाणि कोटियज्ञफलानि वै॥
सत्तीर्थोदके विधुग्रासे पुण्यारण्ये वनेषु च।
मन्त्रदीक्षां प्रकुर्वाणो मासर्क्षादीन्न शोधयेत्॥

इह सकलानर्थनिवर्हणपरमानन्दावाप्तिमूलप्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरात्पर-ब्रह्मात्मिकायाः पराम्बायास्संच्चित्सुखरूपायाः साक्षात्कृतावुपास्तौ च दीक्षाऽपेक्षिता—

'दीयते ज्ञानमत्यन्तं क्षीयते पापसञ्चयः।
यया दीक्षेति सम्प्रोक्ता परलोकप्रदायिनी'॥

इति दीक्षानिर्वचनात्; 'मतिमान् दीक्षेत' इति परशुरामसूत्रात्, "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इति श्रुतेश्च। दीक्षामन्तरा पुस्तकस्थान् मन्त्रान् दृष्ट्वा यो जपति, स प्रत्यवैति।

'पुस्तके लिखितान् मन्त्रान् दृष्ट्वा जपति यो नरः ।
स जीवन्नेव चाण्डालो मृतः श्वा चाऽभिजायते' ॥
(इति नित्योत्सवे) ।

दीक्षापद्धतिः

श्रीविद्यार्णवादिप्रोक्तशुभपुण्यतिथौ सद्गुरुं वृणुयात् ।

तत्र निर्वर्तितनित्यस्नानविधिस्साधको वाद्यघोषपुरस्सरं ब्राह्मणैः स्वस्ति वाचयित्वा, आचम्य, प्राणानायम्य, देशकालौ संकीर्त्य, श्रेयस्कामोऽहम् अमुकविद्याग्रहणार्थम्, अमुकगुरोर्दीक्षां ग्रहीष्य इति सङ्कल्प्य समित्पाणिः सोपहारो गुरुमुपगच्छेत् । पुनश्च गुरोराज्ञया देशकालगोत्रनक्षत्रराश्याद्युच्चारणपूर्वकं भगवन्तं भवन्तं गुरुत्वेन वृण इति शिष्योक्तौ, गुरुर्वृतोऽस्मीत्युक्त्वा, सशिष्यः सामयिकैस्सह गोमयेनोपलिप्तं पुष्पमालावितानाद्यलङ्कृतं मण्डपमासाद्य हस्तपादौ प्रक्षाल्याचम्य मण्डपान्तःप्रविश्य वक्ष्यमाणविधिना आसन उपविश्य भूशुद्धिभूतशुद्धि-प्राणप्रतिष्ठाः कृत्वा गणपतिललिताश्यामावार्तालीपराणां सपर्यां विधाय शिष्यमाहूय नूतनेन वाससा तस्य मुखं बद्ध्वा गणपत्यादिमूलमन्त्रानुच्चारयन् सामान्यार्घोदकबिन्दुभिस्तमभिवीक्ष्य त्रैपुरसिद्धान्तं श्रावयेत् ।

भूतानि, तन्मात्राणि, ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि, अहङ्कारबुद्धिमनांसि, गुणसाम्यरूपा प्रकृतिः, शरीरकञ्चुकितश्शिवो जीवः, (परमशिवगताःस्वतन्त्रता-नित्यता-नित्यतृप्तता-सर्वकर्तृकता-सर्वज्ञता धर्मा एव संकुचितास्सन्तो जीवे) नियति- काल- राग - कलाविद्या - शब्दवाच्या भवन्ति । माया (जगत्परमशिवयोर्भेदबुद्धिः) शुद्धविद्या (तयोरभेदबुद्धिः) जगदिदन्तया पश्यन् परमशिव ईश्वरः, तदहन्तया पश्यन् सदाशिवः, शक्तिः परमशिवस्य जगत्सिसृक्षा, तद्वान् शिवः षट्त्रिंशत्तत्त्वानि, स्वविमर्शः पुरुषार्थः, वर्णसमुदायरूपाः मन्त्राः नित्याः, (मूलाविद्यासमसत्ताका व्यावहारिकनित्याः) मन्त्राणामचिन्त्यशक्तित्वेन स्वगुरुपरम्परोपदेशैरगम्यधर्मरूपेण सम्प्रदायेन गुरुशास्त्रदेवतासु विश्वासेन सर्वासिद्धयः, आचार्योक्तरीत्या गुरुमन्त्रदेवतात्मतामैक्यं विभावयन्

मनःपवनयोरेक्यत्लनिरोद्धव्यत्वज्ञानाच्च प्रत्यगात्मवेदनम्, भावनादार्ढ्या-न्निग्रहानुग्रहसिद्धिः। दर्शनान्तरानिन्दनेन स्वोपास्यनिष्ठया मन्त्रार्थानुसन्धा-नेन कामक्रोधनिन्दापरिवर्जनेन च सिद्धयो भवन्ति।

वृत्तिभिर्वेद्यं सर्वं हविः, इन्द्रियाणि स्रुचः, संकोचेन स्वात्मस्थिता-स्सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादयः परमशिवशक्तय एव ज्वालाः, स्वात्मशिव एव पावकः, स्वयमेव होता, निर्गुणब्रह्मापरोक्ष्यं फलम्, स्वपारमार्थिकस्वरूप-लाभान्न परमिति सारः।

शाम्भवी दीक्षा

गुरुः शिष्यस्य शिरसि रक्तशुक्लचरणं कामेश्वरीकामेश्वरयोर्भावयित्वा तदमृतक्षालितं सर्वशरीरमलं दूरीकुर्यात्। एषा चरणविन्यासरूपादीक्षा।

शाक्ती दीक्षा

ततस्तस्यामूलमाब्रह्मबिलं प्रज्वलन्तीं बिसतन्तुतनीयसीं विद्युत्पुञ्ज-पिञ्जरां विवस्वदयुतभास्वत्प्रकाशां चन्द्रकोटिसुशीतलां ज्वलदनलनिभां परां संविदं ध्यात्वा तद्रश्मिभिः पापान् दहेत्। इयं शक्तिपातरूपा दीक्षा।

त्रिकटु-त्रिफला-चतुर्जात-कंकोल- मदयन्ती -सहदेवी-दूर्वा-भस्म मृत्तिका-चन्दन- कुङ्कुम - रोचना - कर्पूरवासितजलपूर्णवस्त्रयुगलवेष्टितं नूतनकलशं बालाषडङ्गेनाभ्यर्च्य श्रीश्यामावार्तालीचक्राणि निःक्षिप्य तिसृणामावरण-मन्त्रैरभ्यर्च्य संरक्ष्यास्त्रेण प्रदर्श्य धेनुयोनी।

ततः सक्षीरेण सिन्दूरकुङ्कुमादिना चन्दनपीठे मातृकायन्त्रं विलिख्य, तत्र शिष्यं निवेश्य तेन कुम्भाम्भसा ललितादिमूलविद्याभिः स्नपयेत्। मातृकायन्त्रप्रकारश्चेत्थम्—चतुरस्रालङ्कृतं सकेसरमष्टदलकमलं विलिख्य तत्कर्णिकायां हकारसकारौकारविसर्गात्मकं बीजं तत्केसरेषु प्राच्यादितो-ऽकारादिस्वरद्वन्द्वं दलोदरेषु क-च-ट-त-प-य-श-लाख्यवर्गाष्टकं चतुरस्रस्य बाह्यतः प्रागादिदिक्षु वकारम् आग्नेयादिविदिक्षु ठवर्णञ्च लिखेत्। सर्वेषामक्षराणां सबिन्दुकत्वं सम्प्रदायात्।

ततः परिहितदुकूलं सुरभिलचन्दनानुलिप्ताङ्गं मल्लिकादिमाल्यधारिणम्, सुप्रसन्नं शिष्यं पार्श्वे निवेश्य तदङ्गे मातृकान्यासं विधाय विमुक्तमुखबन्धवाससस्तस्य हस्ते क्रमात् त्रीन् चन्दनोक्षितान् पुष्पखण्डान् विनिक्षिप्य तत्त्वमन्त्रैर्ग्रासयित्वा गुरुर्दक्षिणकर्णे श्रीविद्यागुरुपादुकामन्त्रमुपदिश्य बालामुपदिशेत् ।

ततस्तस्य शिरसि स्वचरणं निःक्षिप्य सर्वान् मन्त्रान् सकृद्वा क्रमेण वा यथाधिकारमुपदिश्य स्वाङ्गेषु किमप्यङ्गं शिष्यं स्पर्शयित्वा तदङ्गमातृकावर्णादिद्व्यक्षरं त्र्यक्षरं चतुरक्षरं वा आनन्दानाथशब्दान्तं तस्य नाम निर्दिशेत् । ततस्समयाचारानुशासनम् ।

श्लेष्मातक-करञ्ज अक्ष-निम्ब-अश्वत्थ-कदम्ब-बिल्व-वटोदुम्बरतिन्तिणीकुलवृक्षच्छेदनवर्जनम्, स्त्रीवृन्द-क्षीरकलशसिद्धलिङ्गिविविधक्रीडाकुलकुमारी-कुल-सहकाराशोकतरु-पितृवनमत्तवाराङ्गना-रक्तांशुकामत्तेभान् दृष्ट्वा वन्देत् । कृष्णाष्टमी कृष्णचतुर्दशी दर्श-पूर्णमास-संक्रमणपर्वसु नैमित्तिकी वरिवस्या कर्तव्या । गुरुपरमगुर्वादीन् आदरेण पश्येत्, शरीरस्यार्थस्यासूनाञ्च गुर्वर्थं धारणम्, तद्वचसि युक्तायुक्ताविचारम्, सर्वत्र शास्त्रव्यवस्थापालनम्, परनिन्दात्मस्तुत्योश्च वर्जनम्, सर्वप्रयत्नेन परदेवताराधनद्वारा ब्रह्मभावाभिलाषः; इत्थं विदित्वाऽनुतिष्ठन् कृतकृत्यो जीवन्मुक्तो भवेत् ।

ततो गुरुर्देहेन्द्रियादिविलक्षणामवस्थात्रयसाक्षिसच्चिदात्मकप्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैव त्वमसि इति शिष्याय परमात्मतत्त्वमुपदिश्य ललिताश्यामावार्तालीविद्याभिः तदङ्गं द्विः परिमृज्य परिरभ्य तं मूर्ध्न्युपाघ्राय स्वमिव शिष्यमपि परचिद्रूपं कुर्यात् । शिष्योऽपि तथैव क्षणमात्मानं भावयित्वा कृतार्थस्सन् यथाविभवं श्रीगुरुमाराध्य तस्माद्विदितवेदितव्योऽशेषमन्त्राधिकारी भवेत् ।

अनेनैवैकस्मिन्नेव काले समुचितेनाऽन्यतमेन कालभेदाद्दीक्षाविधिना गणपति-श्री-श्यामा-परा-वार्तालीनां क्रमानुष्ठानं न तु पृथक् पृथक् दीक्षणम् ।

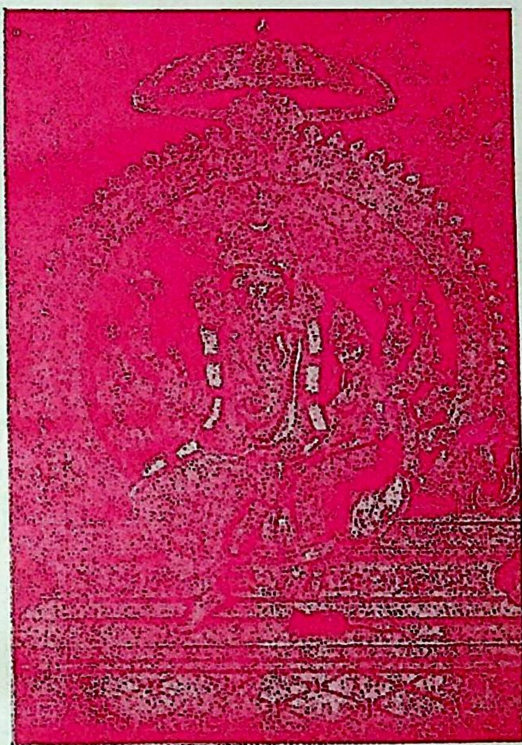
दीक्षायाः लघुविधिः

गणपतेर्ललितायाश्च उभयोरेव क्रमं निर्वर्त्य पात्राण्यासाद्य चक्रराजमात्रं कलशे निक्षिप्य श्रीविद्यया केवलं शिष्यं स्नपयित्वा तदङ्गञ्च परिमृज्य शेषमशेषञ्चाऽनुतिष्ठेत् । गणपतिश्यामादीनां स्वातन्त्र्येणैकैकशः तत्तत्क्रमं प्रवर्त्य तत्तत्पात्रे आसाद्य तत्तद्यन्त्रं कुम्भे निःक्षिप्य तत्तन्मन्त्रदीक्षां कुर्यात् । दीक्षायां त्रैवर्णिकस्यैवाऽधिकारः । शक्तीनान्तु-ओघत्रयान्तर्गतगुरुमण्डला-न्तर्दर्शनज्ञापकबलादस्त्येवाऽधिकारः ।

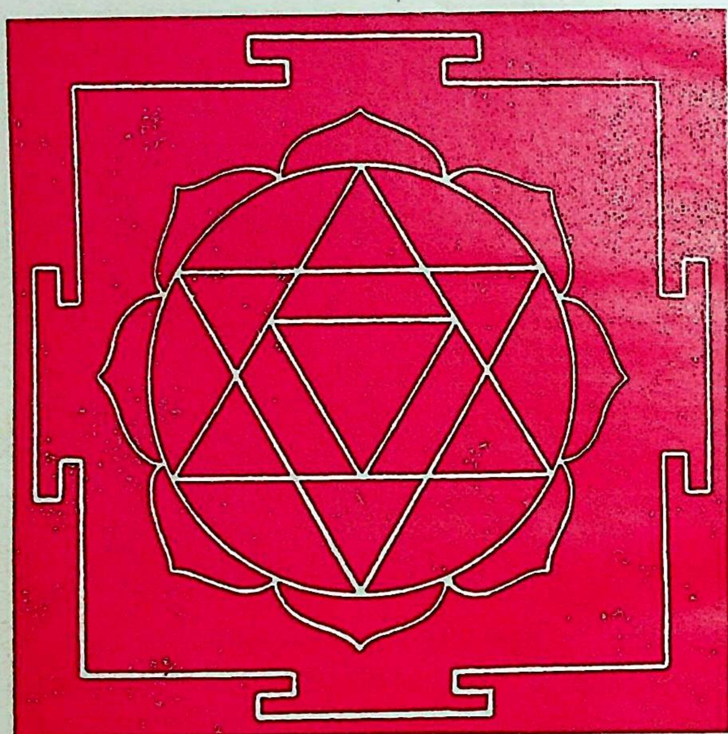
श्रीकरपात्रस्वामिविरचिते श्रीविद्यारत्नाकरे

॥ दीक्षाक्रमः समाप्तः ॥

श्रीमहागणपतिः



वीजापूरगदेक्षुकार्मुकरुजाचक्राब्जपाशोत्पलः ।
व्रीह्यग्रस्वविषाणरत्नकलशप्रोद्यत्कराम्भोरुहः ॥
ध्येयो वल्लभया सपद्मकरया श्लिष्टोज्ज्वलद्भूषया ।
विश्वोत्पत्तिविपत्तिसंस्थितिकरो विघ्नेश इष्टार्थदः ॥



श्रीमहागणपति यन्त्रम्

श्रीमहागणपतिक्रमः

इत्थं सद्गुरोराहितदीक्षः महाविद्याराधन-
प्रत्यूहापोहाय गाणनायकीं पद्धतिमामृशेत् ॥

श्रीमान् साधकः ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय श्रीगुरुपादुकास्मरणपूर्वकं हृदयःकमले उद्यदरुणकिरणपाटलस्य देवस्य करटिवदनस्य ध्यानेन परिप्लुष्ट-निःशेषदोषत्वं आत्मनः तत्प्रभारुणतनुत्वञ्च भावयित्वा शय्यां त्यक्त्वा श्री-विद्यासपर्याक्रमोक्तशौचदन्तधावनादीन् कृत्वा, स्नात्वा, धौते वाससी परिधाय सन्ध्यावन्दनं कृत्वा, ॐ गं आत्मतत्त्वाय स्वाहा। ॐ गं विद्यातत्त्वाय स्वाहा। ॐ गं शिवतत्त्वाय स्वाहा। ॐ गं सर्वतत्त्वाय स्वाहा। इति तत्त्वाचमनं कृत्वा मूलेन प्राणानायम्य "ॐ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्" इति गणपतिगायत्र्या, ॐ सूर्यमण्डलस्थाय महागणपतये एषोऽर्घ्यः स्वाहा, इति त्रिः अर्घ्यं दत्वा। ऋष्यादिषडङ्गन्यासपूर्वकं अष्टो-त्तरशतवारं वा अष्टाविंशतिवारं मूलमन्त्रं जपित्वा। अनेन कर्मणा भगवान् श्रीमहागणपतिः प्रीयताम्। इति सन्ध्यां गणपतये निवेदयेत्। ततो गुरु-पादुकामन्त्रं जपेत्।

ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं हस्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं सहक्षमलवरयीं हसौः स्हौः श्रीगुरुपादुकां पूजयामि।

॥ अथ चतुरावृत्तितर्पणम् ॥

आचम्य प्राणानायम्य देशकालौ सङ्कीर्त्य, मम श्रीमहागणपतिप्रसाद-सिद्धये सर्वविघ्ननिवारणार्थं चतुरावृत्तितर्पणं करिष्ये, इति संकल्प्य नद्यादौ हस्तमात्रं चतुरस्रमण्डलं परिगृह्य—

ब्रह्माण्डोदरतीर्थानि करैः स्पृष्टानि ते रवे।
तेन सत्येन मे देव! तीर्थं देहि दिवाकर॥

इति मन्त्रेण सूर्यमभ्यर्थ्य—

आवाहयामि त्वां देवि! तर्पणायेह सुन्दरि।
एहि गङ्गे! नमस्तुभ्यं सर्वतीर्थसमन्विते॥

इति गङ्गां प्रार्थ्य 'ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः' इत्युच्चार्य क्रों इत्यङ्कुशमुद्रया गङ्गाऽऽदितीर्थान्यावाह्य, वं इत्यमृतबीजेन सप्तवारमभिमन्त्र्य, तत्र चतुरस्राष्टदलषट्कोणत्रिकोणात्मकं महागणपतियन्त्रं विचिन्त्य, स्वदेहे ऋष्यादिन्यासान् न्यस्य, तद्यथा

अस्य श्रीमहागणपतिमहामन्त्रस्य गणक ऋषिः, निचृद्गायत्रीच्छन्दः, महागणपतिर्देवता, महागणपतितर्पणे विनियोगः ।

अथ न्यासः—

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ गां अङ्गुष्ठाभ्यां—हृदयाय नमः

३ ,, श्रीं गीं तर्जनीभ्यां—शिरसे स्वाहा ।

३ ,, ह्रीं गूं मध्यमाभ्यां—शिखायै वषट् ।

३ ,, क्लीं गैं अनामिकाभ्यां—कवचाय हुं ।

३ ,, ग्लौं गौं कनिष्ठिकाभ्यां—नेत्रत्रयाय वौषट् ।

३ ,, गं गः करतलकरपृष्ठाभ्यां—अस्त्राय फट् ।

अथ ध्यानम्—

'ध्याये हृदब्जे शोणाङ्गं वामोत्सङ्गविभूषया ।
सिद्धलक्ष्म्या समाश्लिष्टपार्श्वमर्धेन्दुशेखरम् ॥
वामाधःकरतो दक्षाधःकरान्तेषु पुष्करे ।
परिष्कृतंमातुलुङ्गगदापुण्ड्रेक्षुकार्मुकैः ॥
शूलेन शङ्खचक्राभ्यां पाशोत्पलयुगेन च ।
शालिमञ्जरिकास्वीयदन्ताञ्चलमणीघटैः ॥
स्रवन्मदञ्च सानन्दं श्रीश्रीपत्यादिसम्वृतम् ।
अशेषविघ्नविध्वंसनिघ्नं विघ्नेश्वरं भजे ॥ (इति ध्यात्वा)

(यन्त्रे सावरणदेवमावाह्य) ततःतद्यन्त्रे मूर्ति च गंधपुष्पदूर्वांकुरैः पञ्चोपचारैरर्चयेत् । तद्यथा—श्रीं ह्रीं क्लीं महागणपतये लं पृथिव्यात्मकं गन्धं कल्पयामि नमः (त्रिवारम्) ।

श्रीं ह्रीं क्लीं महागणपतये हं आकाशात्मकं पुष्पं कल्पयामि नमः

(त्रिवारम्) ।

३	महागणपतये यं वाय्वात्मकं धूपं कल्पयामि नमः	,, ।
३	महागणपतये रं वह्न्यात्मकं दीपं कल्पयामि नमः	,, ।
३	महागणपतये वं अमृतात्मकं नैवेद्यं कल्पयामि नमः	,, ।
३	महागणपतये सं सर्वात्मकं ताम्बूलं कल्पयामि नमः	,, ।

इति ॥

प्रथमं प्रत्यावृत्तिमूलान्ते महागणपतिं तर्पयामीति द्वादशवारं तर्पयित्वा ततः स्वाहान्तेन मूलस्यैकैकेन वर्णेन चतुश्चतुर्वारं प्रतिवर्णान्तमावृत्तेन मूलेन च प्राग्वत् चतुश्चतुर्वारं देवं त्रयोदशसु मिथुनेषु श्रीश्रीपत्यादिषु एकैकां देवतां द्वितीयान्तेन तत्तन्नाम्ना चतुश्चतुर्वारं प्रतिदेवतामावृत्तेन च मूलेन देवं चतुश्चतुर्वारं तर्पयेत् । यथा—

ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा महागणपतिं तर्पयामि ।' (द्वादशवारम्) ।

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ स्वाहा	महागणपतिं	तर्पयामि ।	(चतुर्वारम्)
मूलमन्त्रेण—	,,	,,	,,
३ श्रीं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ ह्रीं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ क्लीं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ ग्लौं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,

३ गं स्वाहा	महागणपतिं	तर्पयामि।	(चतुर्वारम्)
मूलेन—	"	"	"
३ गं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ णं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ पं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ तं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ यें स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ वं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ रं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ वं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ रं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ दं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ सं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ र्वं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ जं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"

३ नं स्वाहा	महागणपतिं	तर्पयामि ।	चतुर्वारम् ।
मूलेन—	,,	,,	,,
३ मं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ वं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ शं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ मां स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ नं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ यं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ स्वां स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ हां स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ श्रियं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ श्रीपतिं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ गिरिजां स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ गिरिजापतिं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ रतिं स्वाहा	,,	,,	,,
मूलेन—	,,	,,	,,
३ रतिपतिं स्वाहा	,,	,,	,,

मूलेन—	महागणपतिं	तर्पयामि ।	चतुर्वारम् ।
३ महीं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ महीपतिं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ महालक्ष्मीं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ महागणपतिं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ ऋद्धिं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ आमोदं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ समृद्धिं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ प्रमोदं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ कान्तिं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ सुमुखं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ मदनावतीं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ दुर्मुखं स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ मदद्रवां स्वाहा	"	"	"
मूलेन—	"	"	"
३ अविघ्नं स्वाहा	"	"	"

३ द्राविणीं स्वाहा	महागणपतिं	तर्पयामि ।	चतुर्वारम् ।
मूलेन—	”	”	”
३ विघ्नकर्त्तारं स्वाहा	”	”	”
मूलेन—	”	”	”
३ वसुधारां स्वाहा	”	”	”
मूलेन—	”	”	”
३ शङ्खनिधिं स्वाहा	”	”	”
मूलेन—	”	”	”
३ वसुमतीं स्वाहा	”	”	”
मूलेन—	”	”	”
३ पद्मनिधिं स्वाहा	”	”	”
मूलेन—	”	”	”

इत्याहत्य तर्पणसङ्ख्यापिण्डश्चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशती (४४४) भवति ॥

तर्पणान्ते उत्तरन्यासान् विधाय पुनर्मूलेन देवमुक्तरीत्या पञ्चोपचारैः संपूजयेत् ॥

गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाण कृततर्पणम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादान्मयि स्थिरा ॥
आयुरारोग्यमैश्वर्यं बलं पुष्टिर्महद्यशः ।
कवित्वं भुक्तिमुक्ती च चतुरावृत्तितर्पणात् ॥

अनेन कृतेन तर्पणेन भगवान् श्रीसिद्धलक्ष्मीसहितः श्रीमहागणपतिः-प्रीयताम् ॥

॥ इति चतुरावृत्तितर्पणविधिः ॥

अथ गणपति-सपर्यापद्धति

आब्रह्मलोकादाशेषादालोकालोकपर्वतात् ।
ये वसन्ति द्विजा देवास्तेभ्यो नित्यं नमाम्यहम् ॥

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो, वंशर्षिभ्यो नमो गुरुभ्यः । सर्वोपप्लवरहितप्रज्ञानघनप्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि, सोऽहमस्मि, ब्रह्माहमस्मि ॥

श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवम् ।
सिद्धौघं वटुकत्रयं पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम् ।
वीरान्द्व्यष्टचतुष्कषष्टिनवकं वीरावलीपञ्चकम् ।
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम् ॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

यागमन्दिर-प्रवेशः

ततो यागगृहमागत्य स्थण्डिलं गोमयेनोपलिप्य यागमन्दिरं च रङ्गवल्लीपुष्पमालिकावितानादिभिरलङ्कृत्य द्वारस्य दक्षवामभागयोः उर्ध्वभागे च क्रमेण—

श्रीं ह्रीं क्लीं भद्रकाल्यै नमः ॥ दक्ष शाखायाम् ॥
३ भैरवाय नमः ॥ वाम शाखायाम् ॥
३ लम्बोदराय नमः ॥ ऊर्ध्व शाखायाम् ॥

(इति द्वारदेवतास्संम्पूज्य)

तत्त्वाचमनम्

ॐ गं आत्मतत्त्वाय स्वाहा ॥
ॐ गं विद्यातत्त्वाय स्वाहा ॥
ॐ गं शिवतत्त्वाय स्वाहा ॥
ॐ गं सर्वतत्त्वाय स्वाहा (इत्याचम्य)

श्रीगुरुपादुकामन्त्रः ।

श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं हंसः शिवः सोऽहं स्वरूपनिरूपण-हेतवे श्रीगुरवे नमः अमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं सोऽहं हंसः शिवः स्वच्छप्रकाशवि-मर्शहेतवे श्रीपरमगुरवे नमः अमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः ।

श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं हंसः शिवः सोऽहं हंसः स्वात्माराम-पञ्जरविलीनतेजसे श्रीपरमेष्ठिगुरवे नमः अमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूज-यामि नमः ॥

इति मृगीमुद्रया गुरुपादुकामुच्चार्य सुमुख-सुवृत्त-चतुरस्र-मुद्गरयोन्या-ख्याभिः पञ्चभिर्मुद्राभिः श्रीगुरूम् वामभुजे प्रणम्य गणपतिमूलेन स्वदक्षभुजे योनिमुद्रया महागणपतिं प्रणमेत् ॥

घंटापूजा

आगमार्थं च देवानां गमनार्थं च रक्षसाम् ।
कुर्याद् घंटारवं तत्र देवताह्वानलाञ्छनम् ॥
(इति घंटानादं कृत्वा) ॥

॥ सङ्कल्पः ॥

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥

(मूलेन प्राणानायम्य) । देशकालौ संकीर्त्य, मम श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित-महागणपति-प्रीत्यर्थं यथासंभवद्रव्यैः यथाशक्ति सपर्याक्रमं निर्वर्तयिष्ये, तेन परमेश्वरं प्रीणयामि ॥

(आत्मानमलङ्कृत्य ताम्बूलेन सुरभितवदनः सन् प्रमुदितचित्तः शिवोहं इति भावयेत्) ॥

॥ आसनपूजा ॥

आसनमास्तीर्य दक्षिणहस्ते जलमादाय "सौः" इति द्वादशवारमभिमन्त्र्य तज्जलेन मूलमन्त्रेण-आसनं प्रोक्षयेत् ॥

अस्य श्रीआसनमहामन्त्रस्य-पृथिव्या मेरुपृष्ठऋषिः सुतलं छंदः कूर्मो देवता आसने विनियोग :—

पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम् ॥

योगासनाय नमः । वीरासनाय नमः । शरासनाय नमः ॥ श्रीं ह्रीं-क्लीं आधारशक्तिकमलासनाय नमः । (इति पुष्पाक्षतैः आसनसभ्यर्च्यं आसने-उपविशेत्)

श्रीं ह्रीं क्लीं रक्तद्वादशशक्तियुक्ताय द्वीपनाथाय नमः ॥ (इति भूमौ पुष्पाञ्जलिं विकिरेत्) ॥

३ समस्तगुप्तप्रकटसिद्धयोगिनीचक्रश्रीपादुकाभ्यो नमः ॥ (इति मूर्ध्नि-बद्धाञ्जलिः)

३ ऐं ह्लः अस्त्राय फट्—इति अस्त्रमन्त्रेण मुहुरावृतेन अङ्गुष्ठादिकनि-ष्ठिकान्तं करतलयोः कूर्परयोः देहे च व्यापकं कुर्यात् ॥

॥ दीपपूजा ॥

(स्वदक्षभागे गन्धपुष्पाक्षतादीन् निधाय दीपानभितः प्रज्वाल्य) ।

घृतदीपो दक्षिणे स्यात् तैलदीपस्तु वामतः ।
सितवर्तियुतो दक्षे रक्तवर्तिस्तु वामतः ॥
(दक्षवामभागौ देवस्यैव ।)

३ दीपदेवि महादेवि शुभं भवतु मे सदा ।
यावत् पूजासमाप्तिः स्यात्तावत् प्रज्वल सुस्थिरा ॥
(इति पुष्पाञ्जलिं दद्यात् ॥)

मूलेन यन्त्रमध्ये पुष्पाञ्जलिं विकीर्य, मूलत्रिखण्डेन स्वाग्रवामदक्षकोणेषु पुष्पाञ्जलिं दद्यात् ॥

शिखाबन्धनादि मातृकान्यासान्तम्

श्रीक्रमे वक्ष्यमाणप्रकारेण भूतशुद्ध्यादिमात्मनः प्राणप्रतिष्ठाञ्च विधाय विंशतिधा षोडशधा दशधा त्रिधा वा मूलेन प्राणानायम्य ।

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्त्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥

(इति मन्त्रमुच्चार्य) युगपद्वामपार्ष्णिभूतलाघातत्रयकरास्फोटनत्रय क्रूरदृष्ट्यावलोकनपूर्वकतालत्रयेण भौमान्तरिक्षदिव्यान् भेदावभासकान् विघ्नानुत्सारयेत्, अथ "नमः" (इति अङ्गुष्ठमन्त्रमुच्चरन् अङ्कुशमुद्रया शिखां बध्नीयात्)।

ततः श्रीक्रमे वक्ष्यमाणप्रकारेण मातृकान्यासं श्रीं ह्रीं क्लीं, इति त्रिबीजयोजनपूर्वकं विधाय, मूलमन्त्रस्य ऋषि-देवतादिविनियोगपूर्वकं करषडङ्गन्यासौ विधाय मूलेन त्रिर्व्यापकं कृत्वा ध्यायेत्।

। अथ पात्रासादनम् ।

वर्धनीकलशस्थापनम्

स्वपुरतः वामभागे त्रिकोणवृत्तचतुरस्रात्मकं मण्डलं मत्स्यमुद्रया विलिख्य—मण्डलं मूलेन समभ्यर्च्य कर्पूरादिवासितजलपूरितं कलशं गन्धपुष्पाक्षतैः अलङ्कृत्य मण्डलोपरि स्थापयेत्॥

ॐ कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले तत्र स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणः स्मृतः॥
कुक्षौ तु सागराः सर्वे सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदोऽप्यथर्वणः॥
अङ्गैश्च सहिताः सर्वे कलशाम्बुसमाश्रिताः॥

ॐ आपो वा इदं सर्वं विश्वाभूतान्यापः प्राणाः वा आपः पशवः आपोऽन्नमापोऽमृतमापः सम्राडापो विराडापश्छन्दांस्यापो ज्योतींष्यापो यजूंष्यापः सर्वाः देवता आपो भूर्भुवस्सुवराप ॐ॥

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥
सर्वे समुद्राः सरितस्तीर्थानि च नदा ह्रदाः।
आयान्तु देवपूजार्थं दुरितक्षयकारकाः॥

(मूलेन अष्टवारमभिमन्त्र्य धेनुमुद्रां प्रदर्श्य तज्जलेन पूजोपकरणानि-आत्मानञ्च प्रोक्षयेत्) ॥

सामान्यार्घ्यविधिः ॥

वर्धनीपात्रस्य दक्षिणतः वर्धनीपात्रगतेन जलेन विन्दु-त्रिकोण षट्कोण-वृत्त-चतुरस्रात्मकं मण्डलं मत्स्यमुद्रया निर्माय ॥

चतुरस्रे अग्नीशासुरवायुकोणेषु मध्ये दिक्षु च गणपतिषडङ्गैः सम्पूजयेत् । यथा—

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ गां हृदयाय नमः । हृदयशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
३ श्रीं गीं शिरसे स्वाहा । शिरः शक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
३ ह्रीं गूं शिखायै वषट् । शिखाशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
३ क्लीं गैं कवचाय हुं । कवचशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
३ ग्लौं गौं नेत्रत्रयाय वौषट् । नेत्रशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
३ गं गः अस्त्राय फट् । अस्त्रशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

षट्कोणे स्वाग्रादि प्रादक्षिण्येन—

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ गां हृदयाय: नमः । हृदयशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
३ श्रीं गीं शिखायै स्वाहा । शिरः शक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
३ ह्री गूं शिखायै वषट् । शिखाशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
३ क्लीं गैं कवचाय हुं । कवचशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
३ ग्लौं गौं नेत्रत्रयाय वौषट् । नेत्रशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
३ गं गः अस्त्राय फट् । अस्त्रशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

त्रिकोणे स्वाग्रादि प्रादक्षिण्येन –

३ ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं गं नमः ॥
३ गणपतये वरवरद नमः ॥
३ सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा नमः ॥
३ मूलं नमः (बिन्दौ)

ततः, अस्त्राय फट् इति सामान्यर्घ्यंपात्रस्य आधारं प्रक्ष्याल्य,

३ अं अग्निमण्डलाय धर्मप्रददशकलात्मने श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित श्रीमहागणपतेः सामान्यार्घ्यंपात्राधाराय नमः ॥ इति मण्डलोपरि संस्थाप्य ॥

३ अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसं। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्। रां रीं रूं रैं रौं रः रमलवरयूं अग्निमण्डलाय नमः। (इति अग्निमण्डलं विभाव्य)। दशवह्निकलाः संपूजयेत्। तद्यथा—

श्रीं ह्रीं क्लीं यं धूम्रार्चिष्कलायै नमः ॥	३ षं सुश्री कलायै नमः ॥
३ रं ऊष्माकलायै नमः ॥	३ सं सुरूपा कलायै नमः ॥
३ लं ज्वलिनी कलायै नमः ॥	३ हं कपिला कलायै नमः ॥
३ वं ज्वालिनीकलायै नमः ॥	३ ळं हव्यवाहिनी कलायै नमः ॥
३ शं विस्फुलिङ्गिनीकलायै नमः ॥	३ क्षं कव्यवाहिनी कलायै नमः ॥

३ अस्त्राय फट् (इति क्षालितं शङ्खं गृहीत्वा)—

श्रीं ह्रीं क्लीं उं सूर्यमण्डलायार्थप्रदद्वादशकलात्मने श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित श्रीमहागणपतेः, सामान्यार्घ्यपात्राय नमः—इति संस्थाप्य।

श्रीं ह्रीं क्लीं आ सत्येन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च। हिरण्ययेन सविता रथेनाऽऽदेवो याति भुवनानि पश्यन्। हां हीं हूं हैं हौं हः—हमलवरयूम् सूर्यमण्डलाय नमः (इति सूर्यमण्डलं विभाव्य द्वादश सूर्यकलाः संपूजयेत्)। तद्यथा—

३ कं भं तपिनी कलायै नमः ॥	३ घं पं मरीचि कलायै नमः ॥
३ खं बं तापिनी कलायै नमः ॥	३ ङं नं ज्वालिनी कलायै नमः ॥
३ गं फं धूम्रा कलायै नमः ॥	३ चं धं रुचि कलायै नमः ॥
३ छं दं सुषुम्ना कलायै नमः ॥	३ ञं णं बोधिनी कलायै नमः ॥
३ जं थं भोगदा कलायै नमः ॥	३ टं ढं धारिणी कलायै नमः ॥
३ झं तं विश्वा कलायै नमः ॥	३ ठं डं क्षमा कलायै नमः ॥

श्रींह्रींक्लीं मं सोममण्डलाय कामप्रदषोडशकलात्मने श्रीसिद्धलक्ष्मीसहितमहागणपतेः सामान्यार्घ्यामृताय नमः (इति वर्धनीसलिलमापूर्य क्षीरबिन्दुं दत्वा)।

श्रीं ह्रीं क्लीं आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोमवृष्णियं । भवावाजस्य सङ्गथे । सां सीं सूं सैं सौं सः समलवरयूं सोममण्डलाय नमः । (इति सोममण्डलं विभाव्य षोडश सोमकलाः सम्पूजयेत्) । तद्यथा—

श्रींह्रींक्लीं अं अमृताकलायै नमः ॥	३	लृं चन्द्रिकाकलायै	नमः ॥
३ आं मानदाकलायै नमः ॥	३	लॄं कान्तिकलायै	नमः ॥
३ इं पूषाकलायै नमः ॥	३	एं ज्योत्स्नाकलायै	नमः ॥
३ ईं तुष्टिकलायै नमः ॥	३	ऐं श्रीकलायै	नमः ॥
३ उं पुष्टिकलायै नमः ॥	३	ओं प्रीतिकलायै	नमः ॥
३ ऊं रतिकलायै नमः ॥	३	औं अङ्गदाकलायै	नमः ॥
३ ऋं धृतिकलायै नमः ॥	३	अं पूर्णाकलायै	नमः ॥
३ ॠं शशिनीकलायै नमः ॥	३	अः पूर्णामृताकलायै	नमः ॥

ततस्तस्मिन् शङ्खे अग्नीशासुरवायुकोणेषु मध्ये दिक्षु च क्रमेण षडङ्गैः (सम्पूज्य), अस्त्राय फट् (इति संरक्ष्य), कवचायहुं (इति अवगुण्ठ्य), धेनुयोनिमुद्रे प्रदर्श्य, सप्तवारमभिमन्त्र्य, तत्सलिलपृषतैः पूजोपकरणानि आत्मानं च प्रोक्ष्य, शङ्खजलात् किञ्चित् बर्धन्यां क्षिपेत् ॥

विशेषार्घ्यविधिः

सामान्यार्घ्योदकेन तद्दक्षिणतः बिन्दु-त्रिकोण-षट्कोण-वृत्त-चतुरस्रात्मकं मण्डलं मत्स्यमुद्रया विलिख्य, विन्दौ सानुस्वारं तुरीयस्वरं विलिख्य ॥

चतुरस्रे प्राग्वत् षडङ्गं विन्यस्य षट्कोणे स्वाग्रकोणादि प्रादक्षिण्येन षडङ्गैरभ्यर्च्य, त्रिकोणे मूलत्रिखण्डैरभ्यर्च्य, मूलेन विंदुं चार्चयेत् । तद्यथा–

चतुरस्रे अग्नीशासुरवायुकोणेषु मध्ये दिक्षु च—

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ गां हृदयाय नमः । हृदयशक्ति श्रीपादुकांपूजयामि नमः ॥
३ श्रीं गीं शिरसे स्वाहा । शिरःशक्ति श्रीपादुकां ,, ,, ॥
३ ह्रीं गूं शिखायै वषट् । शिखाशक्ति श्रीपादुकां ,, ,, ॥
३ क्लीं गैं कवचाय हुं । कवचशक्ति श्रीपादुकां ,, ,, ॥

३ ग्लौं गौं नेत्रत्रयाय वौषट् । नेत्रशक्ति श्रीपादुकां पूजयामि नमः

३ गं गः अस्त्राय फट् । अस्त्रशक्ति श्रीपादुकां " " ॥

ततः षट्कोणे स्वाग्रादि प्रादक्षिण्येन—

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ गां हृदयाय नमः । हृदयशक्ति श्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

३ श्रीं गीं शिरसे स्वाहा । शिरःशक्ति श्रीपादुकां " " ॥

३ ह्रीं गूं शिखायै वषट् । शिखाशक्ति श्रीपादुकां " " ॥

३ क्लीं गैं कवचाय हुं । कवचशक्ति श्रीपादुकां " " ॥

३ ग्लौं गौं नेत्रत्रयाय वौषट् । नेत्रशक्ति श्रीपादुकां " " ॥

३ गं गः अस्त्राय फट् । अस्त्रशक्ति श्रीपादुकां " " ॥

ततस्त्रिकोणे स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन—

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं नमः ॥

श्रीं ह्रीं क्लीं गणपतये वरवरद नमः ॥

श्रीं ह्रीं क्लीं सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा नमः ॥

३ मूलं नमः (बिन्दौ)

अथ—३ अस्त्राय फट् (इति आधारं प्रक्षाल्य) ।

श्रीं ह्रीं क्लीं अं अग्निमण्डलाय धर्मप्रददशकलात्मने श्रीसिद्धलक्ष्मी-सहितश्रीमहागणपतेः विशेषार्घ्यपात्राधाराय नमः (इति आधारं संस्थाप्य)

श्रीं ह्रीं क्लीं अग्निदूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसं । यस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् । रां रीं रूं रैं रौं रः रमलवरयूं अग्निमण्डलाय नमः—इति अग्निमण्डलं विभाव्य दशवह्निकलाः पूजयेत् । यथा—

श्रीं ह्रीं क्लीं यं धूम्रार्चिष्कलायै नमः ॥

३ रं ऊष्माकलायै नमः ॥

३ लं ज्वलिनीकलायै नमः ॥

३ वं ज्वालिनीकलायै नमः ॥

३ शं विस्फुलिङ्गिनी कलायै नमः ॥

३ षं सुश्रीकलायै नमः ॥

३ सं सुरूपाकलायै नमः ॥

३ हं कपिलाकलायै नमः ॥

३ ळं हव्यवाहिनीकलायै नमः ॥

३ क्षं कव्यवाहिनीकलायै नमः ॥

ततः—श्रीं ह्रीं क्लीं अस्त्राय फट् (इति मन्त्रेण विशेषार्घ्यपात्रं-प्रक्षाल्य)

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ सूर्यमण्डलाय अर्थप्रदद्वादशकलात्मने श्रीसिद्धलक्ष्मी-सहितश्रीमहागणपतेः विशेषार्घ्यपात्राय नमः (इति आधारोपरि संस्थाप्य)।

श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं श्रीमहालक्ष्मीश्वरि परमस्वामिनी ऊर्ध्वशून्यप्रवाहिनि सोमसूर्याग्निभक्षिणि परमाकाशभासुरे आगच्छागच्छ विश विश पात्रं प्रतिगृह्ण प्रतिगृह्ण हुं फट् स्वाहा, (इति पुष्पाञ्जलिं विकीर्य) ॥

श्रीं ह्रीं क्लीं आ सत्येन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च । हिरण्ययेन सविता रथेनाऽऽदेवो याति भुवनानि पश्यन् । ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ह्मलवरयूं सूर्यमण्डलाय नमः (इति सूर्यमण्डलं विभाव्य द्वादश सूर्यकलाः पूजयेत्) । यथा—

श्रींह्रींक्लीं कं भं तपिनीकलायै नमः ॥ ३ छं दं सुषुम्नाकलायै नमः ॥

३ खं वं तापिनीकलायै नमः ॥ ३ जं थं भोगदाकलायै नमः ॥

३ गं फं धूम्राकलायै नमः ॥ ३ झं तं विश्वाकलायैः नमः ॥

३ घं पं मरीचिकलायै नमः ॥ ३ ञं णं बोधिनीकलायै नमः ॥

३ ङं नं ज्वालिनीकलायै नमः ॥ ३ टं ढं धारिणीकलायै नमः ॥

३ चं धं रुचिकलायै नमः ॥ ३ ठं डं क्षमाकलायै नमः ॥

श्रीं ह्रीं क्लीं मं सोममण्डलाय कामप्रदषोडशकलात्मने श्रीसिद्ध-लक्ष्मीसहितश्रीमहागणपतेः विशेषार्घ्यामृताय नमः—इति तत्त्वमुद्रया अकारादि क्षकारान्तं क्षकाराद्यकारान्तं मातृकया अर्पितेन-अमृतेन-आपूर्य अष्टगंधलोलितं पुष्पं निधाय नागरखण्डं निक्षिप्य ॥

श्रीं ह्रीं क्लीं आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोमवृष्णियम् । भवा-वाजस्य सङ्गथे ॥ सां सीं सूं सैं सौं सः समलवरयूं सोममण्डलाय नमः—
इति सोममण्डलं विभाव्य षोडशसोमकलाः पूजयेत् । यथा—

श्रींह्रींक्लीं अं अमृताकलायैः	नमः ॥	३ लृं चन्द्रिकाकलायै	नमः ॥
३ आं मानदाकलायै	नमः ॥	३ लॄं कान्तिकलायै	नमः ॥
३ इं पूषाकलायै	नमः ॥	३ एं ज्योत्स्नाकलायै	नमः ॥
३ ईं तुष्टिकलायै	नमः ॥	३ ऐं श्रीकलायै	नमः ॥
३ उं पुष्टिकलायै	नमः ॥	३ ओं प्रीतिकलायै	नमः ॥
३ ऊं रतिकलायै	नमः ॥	३ औं अङ्गदाकलायै	नमः ॥
३ ऋं धृतिकलायै	नमः ॥	३ अं पूर्णाकलायै	नमः ॥
३ ॠं शशिनीकलायै	नमः ॥	३ अः पूर्णामृताकलायै	नमः ॥

ततः, श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ जुं सः स्वाहा । (इति अष्टवारमभिमन्त्र्य) ॥

तत्राघ्यामृते स्वाग्राद्यप्रादक्षिण्येन अकथादिषोडशवर्णात्मकरेखात्रयं त्रिकोणं विलिख्य, तदन्तः स्वाग्रादि कोणेषु अप्रादक्षिण्येन हलक्षान् बहिः-प्रादक्षिण्येन महागणपतिमूलखण्डत्रयं बिन्दौ सबिन्दुतुरीयस्वरम्, तद्वाम-दक्षयोः क्रमेण हंसः इति विलिख्य—

श्रीं ह्रीं क्लीं हंसः नमः (इति आराध्य) त्रिकोणस्य परितः वृत्तं तद्ब-हिश्च षट्कोणं निर्माय स्वाग्रकोणादि प्रादक्षिण्येन षडङ्गमन्त्रैः षट्कोण-मभ्यर्च्य ।

श्रीं ह्रीं क्लीं मूलं तां चिन्मयीं आनन्दलक्षणां अमृतकलशपिशित-हस्तद्वयां प्रसन्नां देवीं पूजयामि नमः स्वाहा (इति सुधादेवीं समभ्यर्च्य) तदर्घ्यात् किञ्चित् पात्रान्तरेण,

श्रीं ह्रीं क्लीं वषट् । इति उद्धृत्य

३ स्वाहा । इति तत्रैव निक्षिप्य

३ हुं । इति अवगुंठ्य

३ वौषट् । इति धेनुमुद्रया अमृतीकृत्य

३ फट् । इति संरक्ष्य

३ नमः । इति पुष्पं दत्वा

३ मूलेन गालिन्या निरीक्ष्य

३ ऐं इति योनिमुद्रया नत्वा

श्रीं ह्रीं क्लीं मूलेन सप्तवारमभिमन्त्र्य सुधादेवीं षोडशोपचारैः सम्पूज्य । तद्बिन्दुभिः सपर्यासाधनानि प्रोक्ष्य । सर्वं महागणपतिमयं विभावयेत् ॥

ततः विशेषार्घ्यपात्रं करेण संस्पृश्य वक्ष्यमाणगणपतिगायत्र्या ऋचा च अभिमन्त्रयेत्—

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि । तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् ॥
गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपश्रवस्तमम् ।
जेष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् ॥
(श्रीक्रमोक्तचतुर्नवतिमन्त्राद्यभिमन्त्रणमत्र नास्ति) ॥

विशेषार्घ्यपात्रस्याधः त्रिकोण-वृत्त-चतुरस्रात्मकं मण्डलद्वयं विलिख्य, प्रथममण्डले—

श्रीं ह्रीं क्लीं हंसः शिवः सोहं सोहं हंसश्शिवः, हंसश्शिवस्सोहं नमः । इत्यभ्यर्च्य, गुरुपात्रं निधाय । द्वितीयमण्डले—

श्रीं ह्रीं क्लीं हंसः नमः । इत्यभ्यर्च्य आत्मपात्रं निधाय । ततः विशेषार्घ्यामृतात् किंचित् गुरुपात्रे उद्धृत्य गुरुत्रयं यजेत् । पुनः आत्मपात्रे तं विशेषार्घ्यामृतमुद्धृत्य, मूलधारे बालाग्रमात्रं अनादिवासनारूपेन्धनप्रज्वलितं कुण्डलिन्यधिष्ठितचिदग्निमण्डलं ध्यात्वा,

श्रीं ह्रीं क्लीं कुण्डलिन्यधिष्ठितचिदग्निमण्डलाय नमः ।

(इति मनसा संपूज्य),

श्रीं ह्रीं क्लीं मूलं पुण्यं जुहोमि स्वाहा

,, पापं जुहोमि स्वाहा	३ विकल्पं जुहोमि स्वाहा
,, कृत्यं जुहोमि स्वाहा	३ धर्मं जुहोमि स्वाहा
,, अकृत्यं जुहोमि स्वाहा	३ अधर्मं जुहोमि स्वाहा
,, सङ्कल्पं जुहोमि स्वाहा	३ अधर्मं जुहोमि वौषट्

श्रीं ह्रीं क्लीं इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्य-वस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा—इति पूर्णाहुतिं विभाव्य—

श्रीं ह्रीं क्लीं आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि ।
ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि ।
योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि ।
अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि ।
अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा ॥

(इति आत्मनः कुण्डलिनीरूपे चिदग्नौ होमबुद्ध्या जुहुयात्) विशेषार्घ्य-पात्रात् किञ्चित् क्षीरं कारणकलशे निक्षिपेत् ॥

पीठे प्राणप्रतिष्ठा

पुरतो रक्तचन्दनादिभिः निर्मिते पीठे कलधौतादिविरचितां महा-गणपतिप्रतिमां वा ध्यानोक्तरूपां चतुरस्राष्टदलषडरत्रिकोणात्मकं सिन्दूरा-दिना लिखितं लेखितं वा यन्त्रं धातुमयं वा निवेश्य—

श्रीगणेशयन्त्रस्य प्राणाः इह प्राणाः, श्रीगणेशयन्त्रस्य जीव इह स्थितः, श्रीगणेशयन्त्रस्य सर्वेन्द्रियाणि श्रीगणेशयन्त्रस्य वाङ्मनः प्राणाः इह आयान्तु स्वाहा ॥ (इति मन्त्रेण प्राणप्रतिष्ठां विदध्यात्) ॥

पीठशक्तिपूजा

यन्त्रस्य त्रिकोणे स्वाग्रादि प्रादक्षिण्येन परितो मध्ये च क्रमेण—

श्रीं ह्रीं क्लीं	तीव्रायै	नमः ॥	श्रीं ह्रीं क्लीं	उग्रायै	नमः ॥
३	ज्वालिन्यै	नमः ॥	३	तेजोवत्यै	नमः ॥
३	नन्दायै	नमः ॥	३	सत्यायै	नमः ॥
३	भोगदायै	नमः ॥	३	विघ्ननाशिन्यै	नमः ॥
३	कामरूपिण्यै	नमः ॥	३	सर्वशक्तिकमलासनायै	नमः ॥

(इति नवगणेशपीठशक्तिरभ्यर्च्य) ॥

धर्माद्यष्टकपूजा

तत्रैव आग्नेयादि विदिक्षु प्रागादि दिक्षु च क्रमेण

श्रीं ह्रीं क्लीं ऋं धर्माय नमः ॥ श्रीं ह्रीं क्लीं ॠं अधर्माय नमः ॥
३ ऋं ज्ञानाय नमः ॥ ३ ॠं अज्ञानाय नमः ॥
३ ऌं वैराग्याय नमः ॥ ३ ॡं अवैराग्याय नमः ॥
३ ॡं ऐश्वर्याय नमः ॥ ३ ॡं अनैश्वर्याय नमः ॥
(इति-अर्चयेत्)

अन्तर्यागः

द्वादशान्ते सहस्रदलकमलकर्णिकामध्ये निविष्टगुरुचरणयुगलविगलदमृतरसविसरपरिप्लुताखिलाङ्गो हृदयकमलमध्ये ज्वलन्तमुद्यदरुणकोटिपाटलमशेषदोषनिर्विषभूतमनेकपाननं पुर्यष्टकाकारं साङ्गं सावरणम् भक्तानुग्रहार्थं तेजोरूपेण परिणतं प्रापय्य ब्रह्मरन्ध्रं बहन्नासापुटेन निर्गमय्य त्रिखण्डामुद्रामण्डितशिखण्डे कुसुमाञ्जलौ हस्ते समानीय—

ऐक्षवे जलधौ द्वीपे नवरत्नमये शुभे ।
तत्तरङ्गोल्लसत्तोयैं धौते शीततलेऽमले ॥ १ ॥
तत्तोयकणसंपृक्तगंधवाहनिषेविते ।
कल्पपादपसंशोभिभूभागसमलङ्कृते ॥ २ ॥
नानाकुसुमसंकीर्णे नानापक्षिविराजिते ।
अनेकफलसंकीर्णे भाविते वाप्सरोगणैः ॥ ३ ॥
उद्यद्बालातपोद्योतिचंद्रज्योत्स्नासमाकुले ।
विलसत्पद्मरागौघकुट्टिमारुणभूतले ॥ ४ ॥
कल्पपादपपुष्पस्थषट्पदस्वनमञ्जुले ।
पारिजातं कल्पतरुं तस्य मध्ये विचिन्तयेत् ॥ ५ ॥
युगपद् ऋतुषट्केन सेवितं पुष्पशोभितम् ।
नवरत्नमयं तस्याऽधस्तात् सिंहासनं स्मरेत् ॥ ६ ॥
तन्मध्ये लिपिपद्मं च षडस्रं तस्य मध्यतः ।
कर्णिकायां त्रिकोणं च तत्संस्थं च महाग्रणम् ॥ ७ ॥

नानारत्नविभूषाढ्यं एकदन्तं गजाननम् ।
बीजापूरगदाचापशूलचक्राम्बुजान्यपि ॥ ८ ॥
पाशोत्पले च व्रीह्यग्रं स्वदन्तं रत्नपात्रकम् ।
धारयन्तं दशभुजैः भक्ताभीष्टप्रदायकम् ॥ ९ ॥
सर्वाङ्गभूषोज्वलया पद्मसंशोभिहस्तया ।
आश्लिष्टवामपार्श्वं च देव्या वल्लभया सदा ॥ १० ॥
विघ्नेशं विघ्नहर्तारं फुल्लपद्माभविग्रहम् ।
पुष्करोद्घृतरत्नौघमयकुम्भमुखस्नुतात् ॥ ११ ॥
मणिमुक्ताप्रवालादीन् वर्षन्तं धारया मुहुः ।
सर्वतः साधकस्याग्रे स्वदानजललोलुपान् ॥ १२ ॥
षट्पदालीन् कर्णतालैः वारयन्तं मुहुर्मुहुः ।
अमरासुरसंसेव्यं सद्रत्नमुकुटोज्ज्वलं ॥ १३ ॥
उरूदरं गजमुखं नानाभरणभूषितम् ।
इति ध्यात्वा गणपतिं यजेत् सर्वोपचारकैः ॥ १४ ॥
बीजापूरगदेक्षुकार्मुकरुजा चक्राब्जपाशोत्पल-
व्रीह्यग्रस्वविषाणरत्नकलशप्रोद्यत्कराम्भोरुहः ।
ध्येयो वल्लभया सपद्मकरयाश्लिष्टोज्ज्वलद्भूषया
विश्वोत्पत्तिविपत्तिसंस्थितिकरो विघ्नेश इष्टार्थदः ॥१५॥ (इति ध्यात्वा)

गणानांत्वेति मंत्रेण मूलमन्त्रेण च अस्मिन् यन्त्रे (बिम्बे वा)

श्रीसिद्धलक्ष्मीसहितश्रीमहागणपतिं साङ्गम् सपरिवारम् सावरणम् आवाहयामि नमः ॥

श्रीं ह्रीं क्लीं मूलं आवाहितो भव ॥ ३ मूलं सम्मुखो भव ॥
३ मूलं संस्थापितो भव ॥ ३ मूलं अवगुण्ठितो भव ॥
३ मूलं सन्निधापितो भव ॥ ३ मूलं सुप्रसन्नो भव ॥
३ मूलं सन्निरुद्धो भव ॥ ३ मूलं वरदो भव ॥

स्वामिन् सर्वजगन्नाथ यावत्पूजावसानकम् ।
तावत्त्वं प्रीति भावेन यन्त्रेऽस्मिन् सन्निधि कुरु (बिम्बेऽस्मिन्) ॥

इति मन्त्रैरावाहनादि षट्मुद्राः प्रदर्श्य, वन्दनधेनुयोनिमुद्राश्च प्रदर्शयेत् । अथ हृदयादि षडङ्गमुद्राश्चः प्रदर्शयेत् ॥

महागणपतिप्रियपाशादि सप्तमुद्राः प्रदर्शयेत् ॥

अथ षोडशोपचारपूजा

(श्रीसिद्धलक्ष्मीसहितश्रीमहागणपतिदेवतायाः षोडशोपचारानाचरेत्) ।

श्रीं ह्रीं क्लीं श्रीसिद्धलक्ष्मीसहितश्रीमहागणपतये पाद्यं कल्पयामि नमः ॥

३	,,	,,	अर्घ्यं	,,	,,	॥
३	,,	,,	आचमनीयं	,,	,,	॥
३	,,	,,	स्नानं*	,,	,,	॥
३	,,	,,	वस्त्रोत्तरीयं	,,	,,	॥
३	,,	,,	भूषणम्	,,	,,	॥
३	,,	,,	गन्धम्	,,	,,	॥
३	,,	,,	पुष्पम्	,,	,,	॥
३	,,	,,	धूपम्	,,	,,	॥
३	,,	,,	दीपम्	,,	,,	॥
३	,,	,,	नैवेद्यं	,,	,,	॥
३	,,	,,	ताम्बूलम्	,,	,,	॥
३	,,	,,	नीराजनम्	,,	,,	॥
३	,,	,,	प्रदक्षिणाः	,,	,,	॥
३	,,	,,	नमस्कारान्	,,	,,	॥

श्रीं ह्रीं क्लीं दन्त-पाश-अङ्कुश-विघ्न-परशु-लड्डूक बीजापूराह्वयाः सप्तमुद्राः गणेशस्य प्रियाः मताः ॥

इति सप्तमुद्राः प्रदर्शयेत् ॥

---

* स्नानसमये दुग्ध-पञ्चामृत-मधु फलरसादिना अभिसिञ्चेत्, पुरुष-सूक्तगणपत्युपनिषद् गणपतिगायत्र्यादि वेदमन्त्रान् उच्चरेत् ।

चतुरायतनपूजा

विष्णुशिवसूर्यदेव्याह्वयाः चतुरायतनदेवताः ।
आग्नेय-ईशान-नैर्ऋत-वायव्येषु तत्तन्मूलमन्त्रेण यजेत् ॥

श्रीमहागणपतितर्पणम् ।

(ततो मूलान्ते, श्रीमहागणपति श्रीपादुकां पूजयामि, इति देवं दशवारं पूजयेत्) यथा—

श्रीं ह्रीं क्लीं 'मूलं' श्रीसिद्धलक्ष्मीसहितमहागणपति श्रीपादुकां पूजयामि नमः
(इति दशवारं सन्तर्पयेत्)

षडङ्गपूजा

ततो देवस्याङ्गे अग्नीशासुरवायुकोणेषु मौलौ दिक्षु च—

श्रीं ह्रींक्लींॐगां हृदयाय नमः ।	हृदयशक्तिश्रीपादुकां	पूजयामि		नमः ॥
३ श्रीं गीं शिरसे स्वाहा ।	शिरः शक्तिश्रीपादुकां	पू०		नमः ॥
३ ह्रीं गूं शिखायै वषट् ।	शिखाशक्ति	,,	,,	,, ॥
३ क्लीं गैं कवचाय हुं ।	कवचशक्ति	,,	,,	,, ॥
३ ग्लौं गौं नेत्रत्रयाय वौषट् ।	नेत्रशक्ति	,,	,,	,, ॥
३ गं गः अस्त्राय फट् ।	अस्त्रशक्ति	,,	,,	,, ॥

गुरुमण्डलार्चनम् ।

देवस्य पश्चात् प्रागपवर्गरेखात्रये दक्षिणसंस्था क्रमेण गुर्वोघत्रयं यजेत् ॥

यथा—

दिव्यौघः

श्रीं ह्रीं क्लीं विनायकसिद्धाचार्य	श्रीपादुकां	पूजयामि		नमः ॥
३ कवीश्वरसिद्धाचार्य	,,	,,	,,	॥
३ विरूपाक्षसिद्धाचार्य	,,	,,	,,	॥
३ विश्वसिद्धाचार्य	,,	,,	,,	॥
३ ब्रह्मण्यसिद्धाचार्य	,,	,,	,,	॥
३ निधीशसिद्धाचार्य	,,	,,	,,	॥

सिद्धौघः

श्रीं ह्लीं क्लीं गजाधिराजसिद्धाचार्य श्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥
,, वरप्रदसिद्धाचार्य ,, ,, ,,

मानवौघः

३ विजयसिद्धाचार्य श्रीपादुकां पू० नमः ॥
३ दुर्जयसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥
३ जयसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥
३ दुःखारिसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥
३ सुखावहसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥
३ परमात्मसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥
३ सर्वभूतात्मसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥
३ महानन्दसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥
३ फालचन्द्रसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥
३ सद्योजातसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥
३ वृद्धसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥
३ शूरसिद्धाचार्य ,, ,, ,, ॥

ततः परमेष्ठिगुरुमन्त्रेण परमेष्ठिगुरुं, परमगुरुमन्त्रेण परमगुरुं, स्वगुरुमन्त्रेण स्वगुरुं च यजेत् ॥

॥ आवरणदेवता ध्यानम् ॥

त्रिकोणबाह्ये पूर्वादिचतुर्दिक्षु समर्चयेत् ।
अग्रस्थविल्ववृक्षाधः श्रियं श्रीपतिमर्चयेत् ॥
पद्मायुधधरा पद्मा शङ्खचक्रधरो हरिः ।
दक्षिणे वटवृक्षाधः गौरीं गौरीपतिं यजेत् ॥
पाशाङ्कुशधरा गौरी टङ्कशूलधरो हरः ।
पश्चिमे पिप्पलस्याधो रतिं रतिपतिं यजेत् ॥

रतिरुत्पलहस्ताढ्या कोदण्डास्त्रधरः स्मरः ।
सौम्ये प्रियङ्गुवृक्षाधः महापोत्त्रिणमर्चयेत् ॥
शूकव्रीह्यग्रहस्ताभूर्गदाचक्रधरःपतिः ।
षट्कोणेषु च सम्पूज्याः आमोदाद्याः प्रियान्विताः ॥
आमोदं सिद्धिसहितमग्रकोणे प्रपूज्येत् ।
समृद्धया युक्तमभ्यर्च्य प्रमोदं वह्निकोणके ॥
सुमुखं कान्तिसंयुक्तमीशकोणे समर्चयेत् ।
दुर्मुखं मदनावत्या यजेद्वरुणकोणके ॥
विघ्नं मदद्रवायुक्तं कोणे नैशाचरे यजेत् ।
वायव्ये विघ्नकर्तारं द्राविण्या सह संयजेत् ॥
पाशाङ्कुशाभयाऽभीष्टधारिणोऽरुणविग्रहाः ।
गण्डभित्तिगलद्दानपूरधौतमुखाम्बुजाः ॥
विघ्नस्तत्प्रमदास्सर्वाः मदाघूर्णितलोचनाः ।
एकहस्तधृताम्भोजाः इतरालिङ्गितप्रियाः ॥
षट्कोणपार्श्वयोः पूज्यौ शङ्खपद्मनिधी क्रमात् ।
निजप्रियाभ्यां सहितौ सर्वाभरणभूषितौ ॥
केशरेष्वङ्गपूजा स्यात् ब्राह्म्याद्याः पत्रमध्यगाः ।
बहिर्लोकेश्वराः पूज्याः वज्रादीनि यथाक्रमम् ॥

प्रथमावरणम्

त्र्यस्रषडस्रोरन्तराले प्रागादिदिक्षु क्रमेण—

श्रीं ह्रीं क्लीं	श्रीश्रीपति	श्रीपादुकां	पूजयामि नमः	॥
३	गिरिजागिरिजापति	,,	,,	॥
३	रतिरतिपति	,,	,,	॥
३	महीमहीपति	,,	,,	॥

एताः प्रथमावरणदेवताः साङ्गाः सपरिवाराः सायुधाः सशक्तिकाः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः संतुष्टाःसन्तु नमः । (इति पुष्पं दत्वा) । मूलेन देवं त्रिः सन्तर्प्य, पञ्चोपचारं कृत्वा ।

श्रीं ह्रीं क्लीं अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम् ॥

(इति सामान्यार्घ्योदकेन देवताहस्ते पूजां समर्प्य)

अनेन प्रथमावरणार्चनेन भगवान् श्रीमहागणपतिः प्रीयताम् ।

(इति योनिमुद्रया प्रणमेत्)

द्वितीयावरणम्

(षडस्रे देवाग्रकोणमारभ्य प्रादक्षिण्येन तद्दक्षवामपार्श्वयोश्च क्रमेण यजेत्)

श्रीं ह्रीं क्लीं ऋद्ध्यामोद श्रीपादुकां पू० नमः ॥

३	समृद्धिप्रमोद	,,	,,	,,	॥
३	कान्तिसुमुख	,,	,,	,,	॥
३	मदनावतीदुर्मुख	,,	,,	,,	॥
३	मदद्रवा-अविघ्न	,,	,,	,,	॥
३	द्राविणीविघ्नकर्तृ	,,	,,	,,	॥
३	वसुधाराशङ्खनिधि	,,	,,	,,	॥
३	वसुमतीपद्मनिधि	,,	,,	,,	॥

एताः द्वितीयावरणदेवताः साङ्गाः सपरिवाराः सायुधाः सशक्तिकाः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः । इति पुष्पं दत्वा । मूलेन देवं त्रिः सन्तर्प्य, पञ्चोपचारं कृत्वा ।

श्रीं ह्रीं क्लीं अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं द्वितीयावरणार्चनम् ॥

(इति सामान्यार्घ्योदकेन देवताहस्ते पूजां समर्प्य)

अनेन द्वितीयावरणार्चनेन भगवान् श्रीमहागणपतिः प्रीयताम् ।

(इति योनिमुद्रया प्रणमेत्)

———

तृतीयावरणम्

षडस्रसन्धिषट्के प्राग्वत् षडङ्गदेवताऽर्चनम् ।—

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ गां हृदयशक्ति श्रीपादुकां पू० नमः ॥
३ श्रीं गीं शिरःशक्ति ,, ,, ,, ॥
३ ह्रीं गूं शिखाशक्ति ,, ,, ,, ॥
३ क्लीं गैं कवचशक्ति ,, ,, ,, ॥
३ ग्लौं गौं नेत्रशक्ति ,, ,, ,, ॥
३ गं गः अस्त्रशक्ति ,, ,, ,, ॥

एताः तृतीयावरणदेवताः साङ्गाः सपरिवाराः सायुधाः सशक्तिकाः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टा सन्तु नमः ॥ इति पुष्पं दत्वा । मूलेन देवं त्रिः सन्तर्प्य । पञ्चोपचारं कृत्वा ।

श्रीं ह्रीं क्लीं अभीष्टसिद्धि..........................तृतीयावरणार्चनम् ॥
इति सामान्यार्घ्योदकेन देवताहस्ते पूजां समर्प्य—

अनेन तृतीयावरणार्चनेन भगवान् श्रीमहागणपतिः प्रीयताम् ।

(इति योनिमुद्रया प्रणमेत्)

तुरीयावरणम्

अष्टदले पश्चिमादि दिक्षु वायव्यादि विदिक्षु च प्रादक्षिण्यक्रमेण—

श्रीं ह्रीं क्लीं आं ब्राह्मी श्रीपादुकां पू० नमः ॥
३ ईं माहेश्वरी ,, ,, ,, ॥
३ ऊं कौमारी ,, ,, ,, ॥
३ ॠं वैष्णवी ,, ,, ,, ॥
३ ॡं वाराही ,, ,, ,, ॥
३ ऐं माहेन्द्री ,, ,, ,, ॥
३ औं चामुण्डा ,, ,, ,, ॥
३ अः महालक्ष्मी ,, ,, ,, ॥

एताः तुरीयावरणदेवताः साङ्गाः सपरिवाराः सायुधाः सशक्तिकाः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः संतुष्टाः सन्तु नमः ॥ इति पुष्पं दत्वा ॥ मूलेन देवं त्रिः सन्तर्प्य । पञ्चोपचारं कृत्वा ।

श्रीं ह्रीं क्लीं अभीष्ट·················तुरीयावरणार्चनम् । (इति सामान्यार्घ्योदकेन देवताहस्ते पूजां समर्प्य)—

अनेन तुरीयावरणार्चनेन भगवान् श्रीमहागणपतिः प्रीयताम् ।

(इति योनिमुद्रया प्रणमेत्) ॥

पञ्चमावरणम् ।

अथ चतुरस्रस्य रेखायां प्रागाद्यासु अष्टसु दिक्षु क्रमेण—

श्रीं ह्रीं क्लीं लां इन्द्राय वज्रहस्ताय सुराधिपतये ऐरावतवाहनाय सपरिवाराय नमः, इन्द्रश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

३ रां अग्नये शक्तिहस्ताय तेजोऽधिपतये अजवाहनाय सपरिवाराय नमः, अग्निश्रीपादुकां पू० नमः ॥

३ टां यमाय दण्डहस्ताय प्रेताधिपतये महिषवाहनाय सपरिवाराय नमः, यमश्रीपादुकां पू० नमः ॥

३ क्षां निर्ऋतये खड्गहस्ताय रक्षोऽधिपतये नरवाहनाय सपरिवाराय नमः, निर्ऋतिश्रीपादुकां पू० नमः ॥

३ वां वरुणाय पाशहस्ताय जलाधिपतये मकरवाहनाय सपरिवाराय नमः, वरुणश्रीपादुकां पू० नमः ॥

३ यां वायवे ध्वजहस्ताय प्राणाधिपतये रुरुवाहनाय सपरिवाराय नमः, वायुश्रीपादुकां पू० नमः ॥

३ सां सोमाय शङ्खहस्ताय नक्षत्राधिपतये अश्ववाहनाय सपरिवाराय नमः, सोमश्रीपादुकां पू० नमः ॥

३ हां ईशानाय त्रिशूलहस्ताय विद्याऽधिपतये वृषभवाहनाय सपरिवाराय नमः, ईशानश्रीपादुका पू० नमः ॥

एताः पञ्चमावरणदेवताः साङ्गाः सपरिवाराः सायुधाः सशक्तिकाः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिता सन्तुष्टाः सन्तु नमः ॥ इति पुष्पं दत्वा। मूलेन देवं त्रिः सन्तर्प्य। पञ्चोपचारं कृत्वा।

श्रीं ह्रीं क्लीं अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं पञ्चमावरणार्चनम् ॥

(इति सामान्यार्घ्योदकेन देवताहस्ते पूजां समर्प्य)—

अनेन पञ्चमावरणार्चनेन भगवान् श्रीमहागणपतिः प्रीयताम्।

(इति योनिमुद्रया प्रणमेत्) ॥

पुनः मूलेन दशवारं सन्तर्पयेत्

श्रीं ह्रीं क्लीं 'मूलं' श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित श्रीमहागणपति श्रीपादुकां पू. नमः ॥

(इति दशवारं सन्तर्पयेत्) ॥

षोडशनामार्चनम्

श्रीं ह्रीं क्लीं	सुमुखाय	नमः ॥	३	धूमकेतवे	नमः ॥
३	एकदन्ताय	नमः ॥	३	गणाध्यक्षाय	नमः ॥
३	कपिलाय	नमः ॥	३	फालचन्द्राय	नमः ॥
३	गजकर्णकाय	नमः ॥	३	गजाननाय	नमः ॥
३	लम्बोदराय	नमः ॥	३	वक्रतुण्डाय	नमः ॥
३	विकटाय	नमः ॥	३	शूर्पकर्णाय	नमः ॥
३	विघ्नराजाय	नमः ॥	३	हेरम्बाय	नमः ॥
३	गणाधिपाय	नमः ॥	३	स्कन्दपूर्वजाय	नमः ॥

पुनः पूर्वोक्तषोडशभिरुपचारैः पूजयेत्।

श्रीं ह्रीं क्लीं श्रीमहागणपतये नमः नानाविधपरिमलपत्रपुष्पाणिदूर्वादीनि समर्पयामि ॥ अथ यथावकाशं सहस्रनामादिना—अर्चनं कुर्यात् ॥

धूपः

श्रीं ह्रीं क्लीं धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्वयं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्वयं वयं धूर्वामस्त्वं देवानामसि सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं वह्नितमं देवहूतममहृनु-

तससि हविर्धानं दृँहस्व माह्वार्मित्रस्यत्वाचक्षुषा प्रेक्षे माभेर्मा संविक्था मात्वा हिँसिषम् ॥

३ श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित श्रीमहागणपतये नमः धूपमाघ्रापयामि। धूपानन्तरं आचमनीयं समर्पयामि ॥

॥ दीपः ॥

श्रीं ह्रीं क्लीं उद्दीप्यस्व जातवेदोपघ्नन्निर्ऋतिं मम। पशूँश्च मह्यमावह जीवनं च दिशो दिश। मानो हिँसीर्जातवेदो गामश्वं पुरुषं जगत्। अबिभ्रदग्न आगहि श्रिया मा परिपातय ॥

३ श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित श्रीमहागणपतये नमः, दीपं दर्शयामि। दीपानन्तरं आचमनीयं समर्पयामि ॥

ततः—दन्त-पाश-अङ्कुश-विघ्न-परशु लड्डुक बीजापूराख्याः सप्तमुद्राः प्रदर्शयेत् ॥

॥ नैवेद्यम् ॥

श्रीदेवाग्रे, चतुरस्रमण्डलं, सामान्यार्घ्योदकेन विधाय, तत्र आधारोपरि स्थापितं, सौवर्ण - रौप्य - कांस्यादि - स्थाली - चषकभरितं भक्ष्य-भोज्य-चोष्यलेह्यपेयात्मकं रसवद्व्यञ्जनमञ्जुलं प्राज्यकपिलाज्यं दधिदुग्धमधु यथा-सम्भवं वा नैवेद्यं निधाय मूलेन निरीक्ष्य—

श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं ह्रः—इति अस्त्रेण प्रोक्ष्य—

३ ॐ जुं सः वौषट्-इति सप्तवारमभिमन्त्रितजलेन प्रोक्ष्य—

३ चक्रमुद्रां प्रदर्श्य—

३ यं—इति वायुबीजेनाधोमुखवामकरेण सप्तवारम् जपन् तद्गतदोषान् संशोष्य—

३ रं—इति वह्निबीजेन अधोमुखदक्षकरेण सन्दह्य—

३ वं—इति धेनुमुद्रया अमृतीकृत्य—

३ मूलेन विशेषार्घ्यबिन्दुभिः प्रोक्ष्य—

३ मूलेन सप्तवारमभिमन्त्र्य—

३ ॐ क्लीं कामदुघे अमोघे वरदे विच्चे स्फुरस्फुर श्रीं परश्रीं, इति कामधेनुविद्यया धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य, देवस्य पाद्यं अर्घ्यं आचमनीयं च दत्वा—

३ मूलेन देवं त्रिः सन्तर्प्य—

पात्रान्तरे विशेषार्घ्यं किञ्चित् गृहीत्वा वामाङ्गुष्ठेन नैवेद्यपात्रं स्पृशन्—

३ 'मूलं' साङ्गाय सपरिवाराय सशक्तये श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित—श्रीमहागणपतये नैवेद्यं कल्पयामि नमः—इति नैवेद्यपरिसरे संस्थाप्य। कृताञ्जलिः—

३ हेमपात्रगतं दिव्यं परमान्नं सुसंस्कृतम्।
पञ्चधा षड्रसोपेतं गृहाण परमेश्वर॥
शर्करापायसापूपघृतव्यञ्जनसंयुतम्।
विचित्ररुचि नैवेद्यं हृद्यमावेदयाम्यहम्॥ इति निवेद्य—

ॐ भूर्भुवस्वः+परिषिञ्चामि। अमृतोपस्तरणमसि—इति देवतायै आपोशनं दत्वा—वामकरेण ग्रासमुद्रां प्रदर्श्य, दक्षकरेण प्राणादिपञ्चमुद्रा-प्रदर्शनपूर्वकं पञ्चप्राणाहुतीः कल्पयेत्। यथा—

श्रीं ह्रीं क्लीं प्राणाय स्वाहा॥ श्रीं ह्रीं क्लीं उदानाय स्वाहा॥
३ अपानाय स्वाहा॥ ३ समानाय स्वाहा॥
३ व्यानाय स्वाहा॥ ३ ब्रह्मणे स्वाहा॥

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ गं आत्मतत्त्वव्यापकः श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित—
श्रीमहागणपतिस्तृप्यतु

३ ॐ गं विद्यातत्त्वव्यापकः " "
३ ॐ गं शिवतत्त्वव्यापकः " "
३ ॐ गं सर्वतत्त्वव्यापकः " "

(इति किञ्चित्किञ्चित् सामान्यार्घ्योदकं दद्यात्)।

श्रीं ह्रीं क्लीं चित्पात्रे सद्धविस्सौख्यं विविधानेकभक्षणम् ।
निवेदयामि ते देव सानुगस्त्वं जुषाण तत् ॥

श्रीं ह्रीं क्लीं मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः । मधुनक्तमुतोषसि मधुमत्पार्थिवँ रजः । मधुद्यौरस्तु नः पिता । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।

(इति पुष्पाञ्जलिं विन्यस्य नैवेद्यजातं तादात्म्येन समर्पयेत्)

श्रीं ह्रीं क्लीं नमस्ते देवदेवेश सर्वतृप्तिकरं परम् ।
अन्यानिवेदितं शुद्धं प्रकृतिस्थं सुशीतलम् ॥
अमृतानन्दसम्पूर्णं गृहाण जलमुत्तमम् ॥

३ श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित - श्रीमहागणपतये अमृतपानीयं समर्पयामि ॥

(देवं भुक्तवन्तं सुतृप्तं ध्यात्वा)

ॐ अमृतापिधानमसि । इत्युत्तरापोशनं दत्वा—

श्रीं ह्रीं क्लीं हस्तप्रक्षालनं, गण्डूषं, पादप्रक्षालनं, आचमनीयं कल्पयामि नमः ।

(ताम्रबलिपात्रे निवेदन-सामग्रीः किंचित्किंचिदादाय निवेदनपात्राणि निर्गमय्य तत्स्थलं अस्त्रेण शोधयेत्)

ताम्बूलम्

श्रीं ह्रीं क्लीं वनस्पतिदैवत्याय ताम्बूलाय नमः । इति सामान्यार्घ्योदकेन प्रोक्ष्य—

श्रीं ह्रीं क्लीं तमालदलकर्पूरपूगभागसमन्वितम् ।
एलापत्रसुसंयुक्तं ताम्बूलं प्रतिगृह्यताम् ॥

३ श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित-श्रीमहागणपतये ताम्बूलं कल्पयामि नमः ॥

। कुलदीपः ।

३ 'मूलं'—अन्तस्तेजो बहिस्तेज एकीकृत्यामितप्रभम् ।
त्रिधा दीपं परिभ्राम्य कुलदीपं निवेदये ॥

कर्पूरनीराजनम्

श्रीं ह्रीं क्लीं सोमो वा एतस्य राज्यमादत्ते। यो राजा सम्राज्यो वा सोमेन यजते। देवसुवामेतानि हवींषि भवन्ति। एतावन्तो वै देवानाँ सवाः। त एवास्मै सवान् प्रयच्छन्ति। त एनं पुनः सुवन्ते राज्याय। देवसू राजा भवति॥

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ स्वस्ति साम्राज्यं भोज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठिकं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यम्। न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे। स मे कामान् कामकामाय मह्यम्। कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु। कुबेराय वैश्रवणाय–महाराजाय नमः॥ महागणपतये नमः कर्पूरनीराजनं दर्शयामि!

मन्त्रपुष्पम्

योऽपां पुष्पं वेद। पुष्पवान् प्रजावान् पशुमान् भवति।
चन्द्रमा वा अपां पुष्पम्। पुष्पवान् पशुमान् भवति।
श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धिमही।
तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्॥

श्रीं ह्रीं क्लीं नमो नरगजाकृते नलिनवर्णदेहाकृते
नरासुरेडित–श्रुतिशिरोद्यदङ्घ्रिद्वय।
नगेश्वरवरात्मजानयनपद्मभानो नमः
नतार्तिहरणाङ्घ्रियुक् कलित एष पुष्पाञ्जलिः॥

श्रीं ह्रीं क्लीं श्रीसिद्धलक्ष्मीसहित–श्रीमहागणपतये नमः पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि॥

तान्त्रिकनित्यहोमविधि

साधकः स्वस्तिपद्मं विरच्य तस्मिन् गणेशं साङ्गं सावरणं षोडषोपचारैः सम्पूज्य तदुत्तरतः लौकिकाग्निम् प्रतिष्ठाप्य। तस्मिन्नग्नौ साङ्गं सावरणं

गणपतिं सम्पूज्य अष्टद्रव्यैः मध्वाज्यमिश्रितैः ग्रासमितैः त्रिसंख्यं पञ्चसंख्यं वा हुनेत्। संभृताष्टद्रव्यं त्रिधा कृत्वा एकमंशं निवेदयेत्—द्वावंशौ जुहुयात्। ततः जपं कृत्वा गणपत्युपनिषदादिभिः स्तुवीत। पुनः पञ्चोपचारान् उपचर्य, नीराजनं प्रदक्षिणनमस्कारादि कृत्वा। अग्नेः स्वस्तिपद्मादपि गणपतिं उद्वासयेत्। अष्टद्रव्यालाभे तु नारिकेलेन मध्वाज्यगुडमिश्रितेन यथासम्भवद्रव्येण जुहुयात्। इति नित्यहोमविधिः।

विस्तरे तु गुरुपदिष्टमार्गेण चतुष्पात्रप्रयोगेणापि होमः कर्तव्यः। तस्मिन् प्रयोगे अग्निमुखानन्तरं, अग्नौ गणपतिमावाह्य पञ्चोपचारं कृत्वा गणपतिमूलमन्त्रेण प्रधानाहुतिं दत्वा दशवारं मूलमन्त्रेण-अङ्गावरणदेवतानां एकैकामाज्याहुतिं जुहुयात्। ततो होमशेषः॥ स्वस्वशाखोक्तविधिना अग्निप्रतिष्ठापनं कुर्यात्॥

बलिदानम्

देवतादक्षभागे सामान्यार्घ्योदकेन वृत्तचतुरस्रात्मकं मण्डलं परिकल्प्य श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं व्यापकमण्डलाय नमः। इति गन्धाक्षतैरभ्यर्च्य अर्धभक्तपूरितोदकं सक्षीरादित्रयं बलिपात्रं तत्र विन्यस्य—

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ गां गीं गूं गैं गौं गः महागणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय सर्वोपचारसहितं इमं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा। इत्युच्चरन्। बलिपात्रे सामान्यार्घ्योदकं विसृजेत्। ततः पादौ प्रक्षाल्य आचम्य त्रिः प्रदक्षिणनमस्कारान् कृत्वा यथाशक्ति मूलमन्त्रजपमाचरेत्। उत्तराङ्गं विधाय—

गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादान्मयि स्थिरा॥

(इति देवस्य हस्ते जपं समर्पयेत्)॥

गणेशाष्टकम्

विनायकैकभावनासमर्चनासमर्पितं,
प्रमोदकैः प्रमोदकैः प्रमोदमोदमोदकम्।
यदर्पितं समर्पितं नवन्यधान्यनिर्मितं,
न खण्डितं न खण्डितं न खण्डमण्डनं कृतम्॥१॥

सजातिकृद्विजातिकृत्स्वनिष्ठभेदवर्जितं
निरञ्जनं च निर्गुणं निराकृतिं च निष्क्रियम् ।
सदात्मकं चिदात्मकं सुखात्मकं परं पदं
भजामि तं गजाननं स्वमाययाऽऽत्तविग्रहम् ॥२॥

गणाधिप त्वमष्टमूर्तिरीशसूनुरीश्वरः
त्वमम्बरं च शम्बरं धनञ्जयः प्रभञ्जनः ।
त्वमेव दीक्षितः क्षितिर्निशाकरः प्रभाकरः
चराचरप्रचारहेतुरन्तरायशान्तिकृत् ॥३॥

अनेकदं तमालनीलमेकदन्तसुन्दरं
गजाननं नुमो गजाननामृताब्धिमन्दिरम् ।
समस्तवेदवादसत्कलाकलापमन्दिरं
महान्तरायदुस्तमश्शमार्कमाश्रितोदरम् ॥४॥

सरत्नहेमघण्टिकानिनादनूपुरस्वनैः
मृदङ्गतालनादभेदसाधनानुरूपतः ।
धिमिद्धिमित्ततोऽङ्गतोङ्ग थेयिथेयिशब्दतो-
विनायकश्शशाङ्कशेखराग्रतः प्रनृत्यति ॥५॥

नमामि नाकनायकैकनायकं विनायकं
कलाकलापकल्पनानिदानमादिपूरुषम् ।
गणेश्वरं गुणेश्वरं महेश्वरात्मसम्भवं
स्वपादमूलसेविनामपारवैभवप्रदम् ॥६॥

भजे प्रचण्डतुन्दिलं सदन्तशूकभूषणं
सनन्दनादिवन्दितं समस्तसिद्धसेवितम् ।
सुरासुरौघयोस्तदा जयप्रदं भयप्रदं
समस्तविघ्नघातिनं स्वभक्तपक्षपातिनम् ॥७॥

कराम्बुजात्तकङ्कणःपदाब्जकिङ्किणिगणो-
गणेश्वरो गुणार्णवः फणीश्वराङ्गभूषणः ।
जगत्त्रयान्तरायशान्तिकारकोस्तुतारको-
भवार्णवादनेकदुर्गृहाच्चिदेकविग्रहः ॥८॥
यो भक्तिप्रवणः परावरगुरोस्स्तोत्रं गणेशाष्टकं
शुद्धस्संयतचेतसा यदि पठेन्नित्यं त्रिसन्ध्यं पुमान् ।
तस्य श्रीरतुला स्वसिद्धिसहिता श्रीशारदा सारदा
स्यातां तत्परिचारिके किल तदा काः कामनानां कथाः ॥

सुवासिनीपूजा

श्रीं ह्रीं क्लीं प्राङ्निमन्त्रितां सुवासिनीमाहूय तां देवीरूपां विभाव्य ३ ऐं क्लीं सौः सुवासिन्यै-अर्घ्यं कल्पयामि नमः । इत्यादिरीत्या अर्घ्यं-आचमन-स्नान-गन्ध-हरिद्राकुङ्कुम-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य-ताम्बूलानि दद्यात् । (सति विभवे वसनादीनि च) ॥

बटुकपूजा

श्रीं ह्रीं क्लीं प्राङ्निमन्त्रितबटुकममाहूय तं गणपतिरूपं विभाव्य, ३ वं वटुकाय अर्घ्यं कल्पयामि नमः । इत्यादिरीत्या, अर्घ्य-आचमन-स्नान वस्त्र-यज्ञोपवीत-गन्ध-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य-ताम्बूलानि दद्यात् ॥

सामयिकपूजा

ततः संनिहिते गुरौ गुरुं नत्वा गन्धकुङ्कुमादिभिरुपचर्य, गुरुपादुकामन्त्रेण अभिपूज्य पात्राणि समर्पयेत् । असन्निहिते गुरौ स्वशिरसि गुरुत्रयं यजेत् । ततः सन्निहितान् सामयिकानाहूय गन्धकुङ्कुमादिभिरुपचर्य पात्राणि दद्यात् । पश्चात् तत्त्वशोधनं कुर्यात् । सामयिकाश्च पात्रमादाय समस्तप्रकटेत्यादि-

समष्टिमन्त्रेण पुष्पाञ्जलिं दत्वा स्वशिरसि गुरुत्रयं, हृदये आत्मचतुष्टयं च इष्ट्वा देवं सन्तर्प्य तत्वशोधनं यथोपदिष्टं कुर्युः ॥

तत्त्वशोधनं

श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ गं आत्मतत्त्वं शोधयामि स्वाहा ॥

३ ,, ,, विद्यातत्त्वं ,, ,, ॥

३ ,, ,, शिवतत्त्वं ,, ,, ॥

३ ,, ,, सर्वतत्त्वं ,, ,, ॥

पूजासमर्पण-देवतोद्वासने

श्रीं ह्रीं क्लीं साधु वाऽसाधु वा कर्म यद्यदाचरितं मया ।
तत्सर्वं कृपया देव गृहाणाराधनं मम ॥

३ देवनाथगुरोस्वामिन् देशिक स्वात्मनायक ।
त्राहि त्राहि कृपासिन्धो पूजां पूर्णतरां कुरु ॥

इति देवतादक्षिणहस्ते पूजां समर्प्य शङ्खमुद्धृत्य देवतोपरि त्रिः परिभ्राम्य, तज्जलं हस्ते समादाय सामयिकानात्मानं च मूलेन प्रोक्ष्य शङ्खं प्रक्षाल्य निदध्यात् । ततो मूलेन तीर्थनिर्माल्ये स्वीकृत्य,

श्रीं ह्रीं क्लीं ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि यन्मयाचरितं विभो ।
तवकृत्यमिति ज्ञात्वा क्षमस्व परमेश्वर ॥

इति क्षमाप्य, सर्वासामावरणदेवतानां देवताङ्गे विलयं विभाव्य खेचरीं बद्ध्वा—

श्रीं ह्रीं क्लीं हृत्पद्मकर्णिकामध्ये शक्त्या सह गजानन ॥
प्रविश त्वं गणेशान सर्वैरावरणैः सह ॥

इति तेजोरूपेण परिणतं देवं पूर्ववत् हृदयं नित्त्वा, तत्र च मूर्तिं पञ्चोपचारैः सम्पूज्य पुनः आत्माभिन्नसंविद्रूपेण भावयेत् ॥

शान्तिस्तवः

सम्पूजकानां परिपालकानां यतेन्द्रियाणां च तपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य कुलस्य राज्ञां करोतु शान्तिं भगवान् कुलेशः ॥
नन्दन्तु साधककुलान्यणिमाऽऽदिसिद्धाः
शापाः पतन्तु समयद्विषि योगिनीनाम् ।
सा शाम्भवी स्फुरतु काऽपि ममाऽप्यवस्था
यस्यां गुरोश्चरणपङ्कजमेव लभ्यम् ॥
शिवाद्यवनिपर्यन्तं ब्रह्मादिस्तम्बसंयुतम् ।
कालाग्न्यादिशिवान्तं च जगद्यज्ञेन तृप्यतु ॥

इत्यादिशान्तिश्लोकान् पठित्वा—

विशेषार्घ्योद्वासनम्

मूलेन विशेषार्घ्यपात्रं आमस्तकमुद्धृत्य तत्क्षीरं पात्रान्तरेण-आदाय आर्द्रं ज्वलति इति मन्त्रेण आत्मनः कुण्डलिन्यग्नौ हुत्वा ब्राह्मणान् सुवासिनीश्च भोजयित्वा स्वयमपि भुक्त्वा यथासुखं विहरेत् ॥

॥ इति शिवम् ॥

श्रीगणेशपञ्चरत्नस्तोत्रम्

मुदाकरात्तमोदकं सदाविमुक्तिसाधकम् ॥
कलाधरावतंसकं विलासिलोकरक्षकम् ॥
अनायकैकनायकं विनाशितेभदैत्यकम् ॥
नताशुभाशुनाशकं नमामि तं विनायकम् ॥ १
नतेतरातिभीकरं नवोदितार्कभास्वरम् ॥
नमत्सुरारिनिर्जरं नताधिकापदुद्धरम् ॥
सुरेश्वरं निधीश्वरं गजेश्वरं गणेश्वरं ॥
महेश्वरं तमाश्रये परात्परं निरन्तरम् ॥ २

समस्तलोकशङ्करं निरस्तदैत्यकुञ्जरम् ॥
दरेतरोदरं वरं वरेभवक्त्रमक्षरम् ॥
कृपाकरं क्षमाकरं मुदाकरं यशस्करम् ॥
मनस्करं नमस्कृतां नमस्करोमि भास्वरम् ॥ ३
अकिञ्चनार्तिमार्जनं चिरन्तनोक्तिभाजनम् ॥
पुरारिपूर्वनन्दनं सुरारिगर्वचर्वणम् ॥
प्रपञ्चनाशभीषणं धनञ्जयादिभूषणम् ॥
कपोलदानवारिणं भजे पुराणवारणम् ॥ ४
अचिन्त्यरूपमन्तहीनमन्तरायकृन्तनं ॥
नितान्तकान्तिदन्तकान्तमन्तकान्तकात्मजम् ॥
हृदन्तरे निरन्तरं वसन्तमेव योगिनां ॥
तमेकदन्तमेव संविचिन्तयामि सन्ततम् ॥ ५
महागणेशपञ्चरत्नमादरेण योऽन्वहम् ॥
प्रजल्पति प्रदोषके हृदि स्मरन् गणेश्वरम् ॥
अरोगतामदोषतां सुसाहितीं सुपुत्रताम् ॥
समाहितायुरष्टभूतिमभ्युपैति सोऽचिरात् ॥ ६

अथ गणपत्यथर्वशीर्षम्

श्रीगणेशाय नमः ॥ ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः ॥ भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभिर्व्यशेम हि देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ अथ गणेशाथर्वशीर्षव्याख्यास्यामः ॥

ॐ नमस्तेगणपतये ॥ त्वमेवप्रत्यक्षं तत्त्वमसि ॥ त्वमेवकेवलं कर्त्तासि ॥ त्वमेवकेवलं धर्तासि ॥ त्वमेवकेवलं हर्तासि ॥ त्वमेवसर्वं खल्विदंब्रह्मासि ॥ त्वंसाक्षादात्मासि नित्यं ॥ ऋतंवच्मि ॥ सत्यंवच्मि ॥ अवत्वंमां ॥ अववक्तारं॥ अवश्रोतारं॥ अवदातारं॥ अवधातारं॥ अवानूचानमवशिष्यं॥ अवपश्चात्तात् ॥ अवपुरस्तात् ॥ अवोत्तरातात् ॥ अवदक्षिणातात् ॥ अवचोर्ध्वातात् ॥ अवाधरातात् ॥ सर्वतोमांपाहिपाहिसमंतात् ॥ त्वंवाङ्मयस्त्वंचिन्मयः ॥ त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममयः ॥ त्वंसच्चिदानन्दाद्वितीयोसि॥ त्वंप्रत्यक्षंब्रह्मासि ॥ त्वंज्ञानमयोविज्ञानमयोसि ॥ सर्वजगदिदंत्वत्तोजायते ॥ सर्वंजगदिदंत्वत्तस्तिष्ठति ॥ सर्वंजगदिदंत्वयिलयमेष्यति ॥ सर्वजगदिदंत्वयिप्रत्येति ॥ त्वंभूमिरापोऽनिलोऽनलोनभः ॥ त्वंचत्वारिवाक्पदानि ॥ त्वंगुणत्रयातीतः ॥ त्वंकालत्रयातीतः ॥ त्वंदेहत्रयातीतः ॥ त्वंमूलाधारस्थितोऽसिनित्यं ॥ त्वंशक्तित्रयात्मकः ॥ त्वांयोगिनोध्यायन्तिनित्यं ॥ त्वंब्रह्मात्वंविष्णुस्त्वंरुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वंवायुस्त्वंसूर्यस्त्वंचंद्रमास्त्वं ब्रह्मभूर्भुवःस्वरोम् ॥ गणादीन् ॥ पूर्वमुच्चार्य वर्णादींस्तदनन्तरं ॥ अनुस्वारः परतरः ॥ अर्धेन्दुलसितं ॥ तारेणरुद्धं ॥ एतत्तवमनुस्वरूपं ॥ गकारः पूर्वरूपं ॥ अकारोमध्यमरूपं ॥ अनुस्वारश्चांत्यरूपं बिंदुरुत्तररूपं ॥ नादः सन्धानं ॥ संहितासन्धिः ॥ सैषागणेशविद्या ॥ गणकऋषिः ॥ निचृद्गायत्रीछन्दः ॥ गणपतिर्देवता ॥ ॐ गं गणपतये नमः ॥

ॐ एकदन्तायविद्महे वक्रतुण्डायधीमहि ॥ तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् ॥ एकदन्तञ्चतुर्हस्तंपाशमङ्कुशधारिणम् ॥ रदंचवरदंहस्तैर्विभ्राणं मूषकध्वजम् ॥ रक्तंलंवोदरंशूर्पकर्णकंरक्तवाससं ॥ रक्तगंधानुलिप्ताङ्गंरक्तपुष्पैः सुपूजितम् ॥ भक्तानुकंपिनंदेवंजगत्कारणमच्युतं ॥ आविर्भूतञ्चसृष्ट्यादौप्रकृतेः पुरुषात्परं ॥ एवं ध्यायति यो नित्यं स योगीयोगिनाम्वरः ॥ नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्ते अस्तु लम्बोदरायैकदन्तायविघ्नाशिनेशिवसुतायश्रीवरदमूर्तयेनमः ॥ एतदथर्वशीर्षंयोऽधीते ॥ सब्रह्मभूयायकल्पते ॥ ससर्वतः सुखमेधते ॥ ससर्वविघ्नैर्नबाध्यते ॥ सपञ्चमहापापात्प्रमुच्यते ॥ सायमधी-

यानोदिवसकृतंपापंनाशयति ॥ प्रातरधीयानोरात्रिकृतंपापंनाशयति ॥ सायंप्रातः प्रयुञ्जानोऽपापोभवति ॥

सर्वत्राधीयानोऽपविघ्नोभवति ॥ धर्मार्थकाममोक्षंचविंदति ॥ इदमथर्वशीर्षमशिष्यायनदेयं ॥ योयदिमोहाद्दास्यति ॥ सपापीयान् भवति ॥ सहस्रावर्तनात् यंयंकाममधीते ॥ तं तमनेनसाधयेत् ॥ अनेनगणपतिमभिषिञ्चति ॥ सवाग्मीभवति ॥ चतुर्थ्यामनश्नन् जपति ॥ सविद्यावान् भवति ॥ इत्यथर्वणवाक्यं ॥ ब्रह्माद्याचरणंविद्यात् ॥ नबिभेतिकदाचनेति ॥ योदूर्वांकुरैर्यजति ॥ सवैश्रवणोपमोभवति ॥ योलाजैर्यजति ॥ सयशोवान्भवति ॥ समेधावान्भवति ॥ योमोदकसहस्रेणयजति ॥ सवांछितफलमवाप्नोति ॥ यः साज्यसमिद्भिर्यजति ॥ ससर्वंलभते ससर्वंलभते ॥ अष्टौब्राह्मणान् सम्यग्ग्राहयित्वा ॥ सूर्यवर्चस्वीभवति ॥ सूर्यग्रहेमहानद्यांप्रतिमासन्निधौवाजप्त्वा ॥ सिद्धमन्त्रो भवति ॥ महाविघ्नात्प्रमुच्यते ॥ महादोषात्प्रमुच्यते ॥ महापापात्प्रमुच्यते ॥ ससर्वविद्भवतिससर्वविद्भवति ॥ यएवंवेद ॥ इत्युपनिषत् ॥ ॐ भद्रंकर्णेभिः० ॥ १ ॥ स्वतिनइन्द्रो० ॥ १ ॥

॥ इति गणपत्यथर्वशीर्षं समाप्तम् ॥

पुरश्चरणविधिः

एवं नित्यक्रमं प्रवर्तयन् श्यामाक्रमे वक्ष्यमाणेन विधिना अष्टाविंशतिसहस्रसंख्या पुरश्चरणजपः। प्रकृते कलियुगत्वाच्चतुर्गुणितम्। प्रथमेऽह्निसहस्रम्। ततः प्रत्यहं सहस्रसंख्यञ्च कृत्वा जपदशांशेन होमः। दद्दशांशेन तर्पणम्, तद्दशांशेन ब्राह्मणभोजनानि च विदध्यात्।

होमे द्रव्याणि

मोदकैः पृथुकैर्लाजैः सक्तुभिश्चेक्षुपर्वभिः।
नारिकेलैस्तिलैश्शुद्धैस्सुपक्वैः कदलीफलैः॥

इत्युक्तान्यष्टौ, एतेषां प्रमाणन्तु—

मोदकाः-अखण्डिताः ग्रासमिताः, पृथुकलाजसक्तवो मुष्टिपरिमिताः। इक्षुप्रमाणं श्लोक एवोक्तम्। नारिकेलम् अष्टधा खण्डितम्। तिलाःचुलुकप्रमाणाः शतसंख्याकाः वा। कदली फलमल्पम् यद्यखण्डितम् पृथु चेद्यथारूचि खण्डितम्। अमीषां द्रव्याणां मधुक्षीरघृतसिक्तानां पृथक् पृथगाहुतयो होमसंख्या पिण्डाष्टमभागमिताः ३५० श्लोकपाठक्रमेण भवन्ति। अष्टद्रव्यहोमात् प्रागावरणदेवतानामेकैकाहुतिः प्रधानदेवतायैश्च दशाहुतयः ताआज्येनैव भवन्ति। तर्पणपूर्वाङ्गन्तु चतुरावृतितर्पणवदेव। इत्थं पुरश्चरणेन सिद्धमनुः, स्वातन्त्र्येणोपस्तौ च श्रीक्रमोक्तेन क्रमेण नैमित्तिकार्चनपरः काम्यापेक्षी चेत् श्यामा क्रमे वक्ष्यमाणेन तत्तत्कामानुगुणेन द्रव्येणेष्ट्वा सिद्धसङ्कल्पः सुखी विहरेत्, इति शिवम्।

अस्य श्रीमहागणपति-सहस्रनाम-स्तोत्रमन्त्रस्य महागणपतये-ऋषये नमः शिरसि अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे श्रीमहागणपति-देवतायैः नमः हृदये गं बीजाय नमः गुह्ये, हुं शक्तये नमः पादयोः, स्वाहा कीलकाय नमः नाभौ, महागणपतिप्रसाद सिद्धये जपे विनियोगाय नमः करसम्पुटे।

ॐ गां	अङ्गुष्ठाभ्यां नमः,	हृदयाय नमः
ॐ गीं	तर्जनीभ्यां नमः,	शिरसे स्वाहा
ॐ गूं	मध्यमाभ्यां नमः,	शिखायै वषट्
ॐ गैं	अनामिकाभ्यां नमः,	कवचाय हुम्
ॐ गौं	कनिष्ठिकाभ्यां नमः,	नेत्रत्रयाय वौषट्
ॐ गः	करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः,	अस्त्राय फट्

वीजापूरगदेक्षुकार्मुकरुजा चक्राब्जपाशोत्पल।
व्रीह्यग्रस्वविषाणरत्नकलश — प्रोद्यत्कराम्भोरुहः॥
ध्येयो वल्लभया सपद्मकरया श्लिष्टोज्ज्वलद्भूषया।
विश्वोत्पत्ति-विपत्ति-संस्थितिकरो विघ्नेश इष्टार्थदः॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमहागणपतिसहस्रनामावलिः

गं गणेश्वराय नमः
गणक्रीडाय
गणनाथाय
गणाधिपाय
एकदंष्ट्राय
वक्रतुण्डाय
गजवक्त्राय
महोदराय
लम्बोदराय
धूम्रवर्णाय १०
विकटाय
विघ्ननायकाय
सुमुखाय
दुर्मुखाय
वुद्धाय
विघ्नराजाय
गजाननाय
भीमाय
प्रमोदाय
आमोदाय २०
सुरानन्दाय
मदोत्कटाय
हेरम्बाय
शम्बराय
गं शम्भवे नमः
लम्बकर्णाय
महाबलाय
नन्दनाय
अलम्पटाय
अभीरवे ३०
मेघनादाय
गणञ्जयाय
विनायकाय
विरूपाक्षाय
धीरशूराय
वरप्रदाय
महागणपतये
बुद्धिप्रियाय
क्षिप्रप्रसादनाय
रुद्रप्रियाय ४०
गणाध्यक्षाय
उमापुत्राय
अघनाशनाय
कुमारगुरवे
ईशानपुत्राय
मूषकवाहनाय
सिद्धिप्रियाय
सिद्धिपतये

गं सिद्धाय नमः
सिद्धिविनायकाय ५०
अविघ्नाय
तुम्बुरवे
सिंहवाहनाय
मोहिनीप्रियाय
कटङ्कटाय
राजपुत्राय
शालकाय
सम्मिताय
अमिताय
कूश्माण्डसामसम्भूतये ६०
दुर्जयाय
धूर्जयाय
जयाय
भूपतये
भुवनपतये
भूतानां-पतये
अव्ययाय
विश्वकर्त्रे
विश्वमुखाय
विश्वरूपाय ७०
निधये
घृणये
कवये
कवीनामृषभाय

गं ब्रह्मण्याय नमः
ब्रह्मणस्पतये
ज्येष्ठराजाय
निधिपतये
निधिप्रियपतिप्रियाय
हिरण्मयपुरान्तःस्थाय ८०
सूर्यमण्डलमध्यगाय
कराहतिध्वस्तसिन्धुसलिलाय
पूषदन्तभिदे
उमाङ्ककेलिकुतुकिने
मुक्तिदाय
कुलपालनाय
किरीटिने
कुण्डलिने
हारिणे
वनमालिने ९०
मनोमयाय
वैमुख्यहतदैत्यश्रिये
पादाहतिजितक्षितये
सद्योजातस्वर्णमुञ्जमेखलिने
दुर्निमित्तहृते
दुस्स्वप्नहृते
प्रसहनाय
गुणिने
नादप्रतिष्ठिताय
सुरूपाय १००

गं सर्वनेत्राधिवासाय नमः
वीरासनाश्रयाय
पीताम्बराय
खण्डरदाय
खण्डेन्दुकृतशेखराय
चित्राङ्कश्यामदशनाय
भालचन्द्राय
चतुर्भुजाय
योगाधिपाय
तारकस्थाय ११०
पुरुषाय
गजकर्णकाय
गणाधिराजाय
विजयस्थिराय
गजपतिध्वजिने
देवदेवाय
स्मरप्राणदीपकाय
वायुकीलकाय
विपश्चिद्वरदाय
नादोन्नादभिन्नवलाह-
काय १२०
वराहरदनाय
मृत्युञ्जयाय
व्याघ्राजिनाम्बराय
इच्छाशक्तिधराय
देवत्रात्रे

गं दैत्यविमर्दनाय नमः
शम्भुवक्त्रोद्भवाय
शम्भुकोपघ्ने
शम्भुहास्यभुवे
शम्भुतेजसे १३०
शिवाशोकहारिणे
गौरीसुखावहाय
उमाङ्गमलजाय
गौरीतेजोभुवे
स्वर्धुनीभवाय
यज्ञकायाय
महानादाय
गिरिवर्ष्मणे
शुभाननाय
सर्वात्मने १४०
सर्वदेवात्मने
ब्रह्ममूर्ध्ने
ककुप्छ्रुतये
ब्रह्माण्डकुम्भाय
चिद्व्योमभालाय
सत्यशिरोरुहाय
जगज्जन्मलयोन्मेषनिमेषाय
अग्न्यर्कसोमदृशे
गिरीन्द्रैकरदाय
धर्माधर्मोष्ठाय १५०
सामबृंहिताय

गं ग्रहर्क्षदशनाय नमः
वाणीजिह्वाय
वासवनासिकाय
कुलाचलांसाय
सोमार्कघण्टाय
रुद्रशिरोधराय
नदीनदभुजाय
सर्पाङ्गुलीकाय
तारकानखाय १६०
भ्रूमध्यसंस्थितकराय
ब्रह्मविद्यामदोत्कटाय
व्योमनाभये
श्रीहृदयाय
मेरुपृष्ठाय
अर्णवोदराय
कुक्षिस्थयक्षगन्धर्वरक्षः-
किन्नरमानुषाय
पृथ्वीकटये
सृष्टिलिङ्गाय
शैलोरवे १७०
दस्रजानुकाय
पातालजङ्घाय
मुनिपदे
कालाङ्गुष्ठाय
त्रयीतनवे
ज्योतिर्मण्डललाङ्गूलाय

गं हृदयालाननिश्चलाय नमः
हृत्पद्मकर्णिकाशालि-
वियत्केलिसरोवराय
सद्भक्तध्याननिगडाय
पूजावारीनिवारिताय १८०
प्रतापिने
कश्यपसुताय
गणपाय
विष्टपिने
बलिने
यशस्विने
धार्मिकाय
स्वोजसे
प्रथमाय
प्रथमेश्वराय १९०
चिन्तामणिद्वीपपतये
कल्पद्रुमवनालयाय
रत्नमण्डपमध्यस्थाय
रत्नसिंहासनाश्रयाय
तीव्राशिरोधृतपदाय
ज्वालिनीमौलिलालिताय
नन्दानन्दितपीठश्रिये
भोगदाभूषितासनाय
सकामदायिनीपीठाय
स्फुरदुग्रासनाश्रयाय २००
तेजोवतीशिरोरत्नाय

गं सत्यानित्यावतंसिताय नमः
सविघ्ननाशिनीपीठाय
सर्वशक्त्यम्बुजाश्रयाय
लिपिपद्मासनाधाराय
वह्निधामत्रयाश्रयाय
उन्नतप्रप्रदाय
गूढगुल्फाय
संवृत्तपार्ष्णिकाय
पीनजङ्घाय २१०
श्लिष्टजानवे
स्थूलोरवे
प्रोन्नमत्कटये
निम्ननाभये
स्थूलकुक्षये
पीनवक्षसे
बृहद्भुजाय
पीनस्कन्धाय
कम्बुकण्ठाय
लम्बोष्ठाय २२०
लम्बनासिकाय
भग्नवामरदाय
तुङ्गाय सव्यदन्ताय
महाहनवे
ह्रस्वनेत्रत्रयाय
शूर्पकर्णाय
निबिडमस्तकाय

गं स्तवकाकारकुम्भाग्राय नमः
रत्नमौल्ये
निरङ्कुशाय २३०
सर्पहारकटीसूत्राय
सर्पयज्ञोपवीतवते
सर्पकोटीरकटकाय
सर्पग्रैवेयकाङ्गदाय
सर्पकक्ष्योदराबन्धाय
सर्पराजोत्तरीयकाय
रक्ताय
रक्ताम्बरधराय
रक्तमाल्यविभूषणाय
रक्तेक्षणाय २४०
रक्तकराय
रक्तताल्वोष्ठपल्लवाय
श्वेताय
श्वेताम्बरधराय
श्वेतमाल्यविभूणाय
श्वेतातपत्ररुचिराय
श्वेतचामरवीजिताय
सर्वावयवसम्पूर्णसर्वलक्षण-
लक्षिताय
सर्वाभरणशोभाढ्याय
सर्वशोभासमन्विताय २५०
सर्वमङ्गलमाङ्गल्याय
सर्वकारणकारणाय

गं सर्वदैककराय नमः
शार्ङ्गिणे
बीजापूरिणे
गदाधराय
इक्षुचापधराय
शूलिने
चक्रपाणये
सरोजभृते २६०
पाशिने
घृतोत्पलाय
शालीमञ्जरीभृते
स्वदन्तभृते
कल्पवल्लीधराय
विश्वाभयदैककराय
वशिने
अक्षमालाधराय
ज्ञानमुद्रावते
मुद्गरायुधाय २७०
पूर्णपात्रिणे
कम्बुधराय
विधृतालिसमुद्गकाय
मातुलिङ्गधराय
चूतकलिकाभृते
कुठारवते
पुष्करस्थस्वर्णघटीपूर्णरत्नाभिवर्षकाय

गं भारतीसुन्दरीनाथाय नमः
विनायकरतिप्रियाय
महालक्ष्मीप्रियतमाय २८०
सिद्धलक्ष्मीमनोरमाय
रमारमेशपूर्वाङ्गाय
दक्षिणोमामहेश्वराय
महीवराहवामाङ्गाय
रतिकन्दर्पपश्चिमाय
आमोदमोदजननाय
सप्रमोदप्रमोदनाय
समेधितसमृद्धश्रिये
ऋद्धिसिद्धिप्रवर्तकाय
दत्तसौमुख्यसुमुखाय २९०
कान्तिकन्दलिताश्रयाय
मदनावत्याश्रिताङ्घ्रये
कृत्तदौर्मुख्यदुर्मुखाय
विघ्नसम्पल्लवोपघ्नसेवाय
उन्निद्रमदद्रवाय
विघ्नकृन्निघ्नचरणाय
द्राविणीशक्तिसत्कृताय
तीव्राप्रसन्ननयनाय
ज्वालिनीपालितैकदृशे
मोहिनीमोहनाय ३००
भोगदायिनीकान्तिमण्डिताय
कामिनीकान्तवक्त्रश्रिये
अधिष्ठितवसुन्धराय

गं वसुन्धरामदोन्नद्धमहाशङ्ख-
निधिप्रभवे नमः
नमद्वसुमतीमौलिमहापद्म-
निधिप्रभवे
सर्वसद्गुरुसंसेव्याय
शोचिष्केशहृदाश्रयाय
ईशानमूर्ध्ने
देवेन्द्रशिखाय
पवननन्दनाय ३१०
अग्रप्रत्यग्रनयनाय
दिव्यास्त्राणां प्रयोगविदे
ऐरावतादिसर्वाशावारणाव-
रणप्रियाय
वज्राद्यस्त्रपरीवाराय
गणचण्डसमाश्रयाय
जयाजयपरीवाराय
विजयाविजयावहाय
अजितार्चितपादाब्जाय
नित्यानित्यावतंसिताय
विलासिनीकृतोल्लासाय ३२०
शौंडीसौन्दर्यमण्डिताय
अनन्तानन्तसुखदाय
सुमङ्गलसुमङ्गलाय
इच्छाशक्तिज्ञानशक्तिक्रिया-
शक्तिनिषेविताय
सुभगासंश्रितपदाय

गं ललिताललिताश्रयाय नमः
कामिनीकामनाय
काममालिनीकेलिलालिताय
सरस्वत्याश्रयाय
गौरीनन्दनाय ३३०
श्रीनिकेतनाय
गुरुगुप्तपदाय
वाचासिद्धाय
वागीश्वरीपतये
नलिनीकामुकाय
वामारामाय
ज्येष्ठामनोरमाय
रौद्रीमुद्रितपादाब्जाय
हुंबीजाय
तुङ्गशक्तिकाय ३४०
विश्वादिजननत्राणाय
स्वाहाशक्तये
सकीलकाय
अमृताब्धिकृतावासाय
मदघूर्णितलोचनाय
उच्छिष्टगणाय
उच्छिष्टगणेशाय
गणनायकाय
सार्वकालिकसंसिद्धये
नित्यशैवाय ३५०
दिगम्बराय

गं अनपायाय नमः
अनन्तदृष्टये
अप्रमेयाय
अजरामराय
अनाविलाय
अप्रतिरथाय
अच्युताय
अमृताय
अक्षराय ३६०
अप्रतर्क्याय
अक्षयाय
अजय्याय
अनाधाराय
अनामयाय
अमलाय
अमोघसिद्धये
अद्वैताय
अघोराय
अप्रतिमाननाय ३७०
अनाकाराय
अब्धिभूम्यग्निवलघ्नाय
अव्यक्तलक्षणाय
आधारपीठाय
आधाराय
आधाराधेयवर्जिताय
आखुकेतनाय
गं आशापूरकाय नमः
आखुमहारथाय
इक्षुसागरमध्यस्थाय ३८०
इक्षुभक्षणलालसाय
इक्षुचापातिरेकश्रिये
इक्षुचापनिषेविताय
इन्द्रगोपसमानश्रिये
इन्द्रनीलसमद्युतये
इन्दीवरदलश्यामाय
इन्दुमण्डलनिर्मलाय
इध्मप्रियाय
इडाभागाय
इडाधाम्ने ३९०
इन्दिराप्रियाय
इक्ष्वाकुविघ्नविध्वंसिने
इतिकर्तव्यतेप्सिताय
ईशानमौलये
ईशानाय
ईशानसुताय
ईतिघ्ने
ईषणात्रयकल्पान्ताय
ईहामात्रविवर्जिताय
उपेन्द्राय ४००
उडुभृन्मौलये
उण्डेरकबलिप्रियाय
उन्नताननाय

गं उत्तुङ्गाय नमः
उदारत्रिदशाग्रगण्ये
ऊर्जस्वते
ऊष्मलमदाय
ऊहापोहदुरासदाय
ऋग्यजुस्सामसम्भूतये
ऋद्धिसिद्धिप्रवर्तकाय ४१०
ऋजुचित्तैकसुलभाय
ऋणत्रयविमोचकाय
स्वभक्तानां लुप्तविघ्नाय
सुरद्विषां लुप्तशक्तये
विमुखार्चानां लुप्तश्रिये
लूताविस्फोटनाशनाय
एकारपीठमध्यस्थाय
एकपादकृतासनाय
एजिताखिलदैत्यश्रिये
एधिताखिलसंश्रयाय ४२०
ऐश्वर्यनिधये
ऐश्वर्याय
ऐहिकामुष्मिकप्रदाय
ऐरम्मदसमोन्मेषाय
ऐरावतनिभाननाय
ओङ्कारवाच्याय
ओङ्काराय
ओजस्वते
ओषधिपतये

गं औदार्यनिधये नमः ४३०
औद्धात्यधुर्याय
औन्नत्यनिस्वनाय
सुरनागानामङ्कुशाय
सुरविद्विषामङ्कुशाय
अःसमस्तविसर्गान्तपदेषु-
परिकीर्तिताय
कमण्डलुधराय
कल्पाय
कपर्दिने
कलभाननाय
कर्मसाक्षिणे ४४०
कर्मकर्त्रे
कर्माकर्मफलप्रदाय
कदम्बगोलकाकाराय
कूष्माण्डगणनायकाय
कारुण्यदेहाय
कपिलाय
कथकाय
कटिसूत्रभृते
खर्वाय
खङ्गप्रियाय ४५०
खड्गखांतान्तस्थाय
खनिर्मलाय
खल्वाटशृङ्गनिलयाय
खट्वाङ्गिने

गं खदुरासदाय नमः
गुणाढ्याय
गहनाय
गस्थाय
गद्यपद्यसुधार्णवाय
गद्यगानप्रियाय ४६०
गर्जाय
गीतगीर्वाणपूर्वजाय
गुह्याचाररताय
गुह्याय
गुह्यागमनिरूपिताय
गुहाशयाय
गुहाब्धिस्थाय
गुरुगम्याय
गुरोर्गुरवे
घण्टाघर्घरिकामालिने ४७०
घटकुम्भाय
घटोदराय
चण्डाय
चण्डेश्वरसुहृदे
चण्डीशाय
चण्डविक्रमाय
चराचरपतये
चिन्तामणिचर्वणलालसाय
छन्दसे
छन्दोवपुषे ४८०

गं छन्दोदुर्लक्ष्याय नमः
छन्दविग्रहाय
जगद्योनये
जगत्साक्षिणे
जगदीशाय
जगन्मयाय
जपाय
जपपराय
जप्याय
जिह्वासिंहासनप्रभवे ४९०
झलज्झलोल्लसद्दान-
झङ्कारिभ्रमराकुलाय
टङ्कारस्फारसंरावाय
टङ्कारिमणिनूपुराय
ठद्वयीपल्लवान्तस्थसर्व-
मन्त्रैकसिद्धिदाय
डिण्डिमुण्डाय
डाकिनीशाय
डामराय
डिण्डिमप्रियाय
ढक्कानिनादमुदिताय
ढौकाय ५००
ढुण्ढिविनाकाय
तत्वानां परमाय तत्त्वाय
तत्त्वम्पदनिरूपिताय
तारकान्तरसंस्थानाय

गं तारकाय नमः
तारकान्तकाय
स्थाणवे
स्थाणुप्रियाय
स्थात्रे
स्थावराय जङ्गमाय जगते ५१०
दक्षयज्ञप्रमथनाय
दात्रे
दानवमोहनाय
दयावते
दिव्यविभवाय
दण्डभृते
दण्डनायकाय
दन्तप्रभिन्नाभ्रमालाय
दैत्यवारणदारणाय
दंष्ट्रालग्नद्विपघटाय ५२०
देवार्थनृगजाकृतये
धन्यधान्यपतये
धन्याय
धनदाय
धरणीधराय
ध्यानैकप्रकटाय
ध्येयाय
ध्यानाय
ध्यानपरायणाय
नन्दाय ५३०

गं नन्दिप्रियाय नमः
नादाय
नादमध्यप्रतिष्ठिताय
निष्कलाय
निर्मलाय
नित्याय
नित्यानित्याय
निरामयाय
परंव्योम्ने
परंधाम्ने ५४०
परमात्मने
परम्पदाय
परात्पराय
पशुपतये
पशुपाशविमोचकाय
पूर्णानन्दाय
परानन्दाय
पुराणपुरुषोत्तमाय
पद्मप्रसन्ननयनाय
प्रणताज्ञानमोचनाय ५५०
प्रमाणप्रत्ययातीताय
प्रणतार्तिनिवारणाय
फलहस्ताय
फणिपतये
फेत्काराय
फाणितप्रियाय

गं बाणार्चिताङ्घ्रियुगलाय नमः
बालकेलिकुतूहलिने
ब्रह्मणे
ब्रह्मार्चितपदाय ५६०
ब्रह्मचारिणे
बृहस्पतये
बृहत्तमाय
ब्रह्मपराय
ब्रह्मण्याय
ब्रह्मवित्प्रियाय
बृहन्नादाग्र्यचीत्काराय
ब्रह्माण्डावलिमेखलाय
भ्रूक्षेपदत्तलक्ष्मीकाय
भर्गाय ५७०
भद्राय
भयापहाय
भगवते
भक्तिसुलभाय
भूतिदाय
भूतिभूषणाय
भव्याय
भूतालयाय
भोगदात्रे
भ्रूमध्यगोचराय ५८०
मन्त्राय
मन्त्रपतये

गं मन्त्रिणे नमः
मदमत्तमनोरमाय
मेखलावते
मन्दगतये
मतिमत्कमलेक्षणाय
महाबलाय
महावीर्याय
महाप्राणाय ५९०
महामनसे
यज्ञाय
यज्ञपतये
यज्ञगोप्त्रे
यज्ञफलप्रदाय
यशस्कराय
योगगम्याय
याज्ञिकाय
याजकप्रियाय
रसाय ६००
रसप्रियाय
रस्याय
रञ्जकाय
रावणार्चिताय
रक्षोरक्षाकराय
रत्नगर्भाय
राज्यसुखप्रदाय
लक्ष्याय

गं लक्ष्यप्रदाय नमः
लक्ष्याय ६१०
लयस्थाय
लड्डुकप्रियाय
लानप्रियाय
लास्यपराय
लाभकृते
लोकविश्रुताय
वरेण्याय
वह्निवदनाय
वन्द्याय
वेदान्तगोचराय ६२०
विकर्त्रे
विश्वतश्चक्षुषे
विधात्रे
विश्वतोमुखाय
वामदेवाय
विश्वनेत्रे
वज्रिवज्रनिवारणाय
विश्वबन्धनविष्कम्भाधाराय
विश्वेश्वरप्रभवे
शब्दब्रह्मणे ६३०
शमप्राप्याय
शम्भुशक्तिगणेश्वराय
शास्त्रे
शिखाग्रनिलयाय
शरण्याय
शिखरीश्वराय
षड्ऋतुकुसुमस्रग्विणे
षडाधाराय
षडक्षराय
संसारवैद्याय ६४०
सर्वज्ञाय
सर्वभेषजभेषजाय
सृष्टिस्थितिलयक्रीडाय
सुरकुञ्जरभेदनाय
सिन्दूरितमहाकुम्भाय
सदसद्व्यक्तिदायकाय
साक्षिणे
समुद्रमथनाय
स्वसंवेद्याय
स्वदक्षिणाय ६५०
स्वतन्त्राय
सत्यसङ्कल्पाय
सामगानरताय
सुखिने
हंसाय
हस्तिपिशाचीशाय
हवनाय
हव्यकव्यभुजे
हव्याय
हुतप्रियाय ६६०

गं हर्षाय नमः
हृल्लेखामन्त्रमध्यगाय
क्षेत्राधिपाय
क्षमाभर्त्रे
क्षमापरपरायणाय
क्षिप्रक्षेमकराय
क्षेमानन्दाय
क्षोणीसुरद्रुमाय
धर्मप्रदाय
अर्थदाय ६७०
कामदात्रे
सौभाग्यवर्धनाय
विद्याप्रदाय
विभवदाय
भुक्तिमुक्तिफलप्रदाय
आभिरूप्यकराय
वीरश्रीप्रदाय
विजयप्रदाय
सर्ववश्यकराय
गर्भदोषघ्ने ६८०
पुत्रपौत्रदाय
मेधादाय
कीर्तिदाय
शोकहारिणे
दौर्भाग्यनाशनाय
प्रतिवादिमुखस्तम्भाय

गं रुष्टचित्तप्रसादनाय नमः
पराभिचारशमनाय
दुःखभञ्जनकारकाय
लवाय ६९०
त्रुटये
कलायै
काष्ठायै
निमेषाय
तत्पराय
क्षणाय
घट्यै
मुहूर्ताय
प्रहराय
दिवानक्ताय ७००
अहर्निशाय
पक्षाय
मासाय
अयनाय
वर्षाय
युगाय
कल्पाय
महालयाय
राशये
तारायै ७१०
तिथये
योगाय

गं वाराय नमः
करणाय
अंशकाय
लग्नाय
होरायै
कालचक्राय
मेरवे
सप्तर्षिभ्यो ७२०
ध्रुवाय
राहवे
मन्दाय
कवये
जीवाय
बुधाय
भौमाय
शशिने
रवये
कालाय ७३०
सृष्टये
स्थितये
विश्वस्मै स्थावराय जङ्गमाय
यस्मै
भुवे
अद्भ्यो
अग्नये
मरुते

गं व्योम्ने नमः
अहङ्कृतये
प्रकृतये ७४०
पुंसे
ब्रह्मणे
विष्णवे
शिवाय
रुद्राय
ईशाय
शक्तये
सदाशिवाय
त्रिदशेभ्यो
पितृभ्यो ७५०
सिद्धेभ्यो
यक्षेभ्यो
रक्षोभ्यो
किन्नरेभ्यो
साध्येभ्यो
विद्याधरेभ्यो
भूतेभ्यो
मनुष्येभ्यो
पशुभ्यो
खगेभ्यो ७६०
समुद्रेभ्यो
सरिद्भ्यो
शैलेभ्यो

गं भूताय नमः
भव्याय
भवोद्भवाय
साङ्ख्याय
पातञ्जलाय
योगाय
पुराणेभ्यो ७७०
श्रुत्यै
स्मृत्यै
वेदाङ्गेभ्यो
सदाचाराय
मीमांसायै
न्यायविस्तराय
आयुर्वेदाय
धनुर्वेदाय
गान्धर्वाय
काव्यनाटकाय ७८०
वैखानसाय
भागवताय
सात्वताय
पाञ्चरात्रकाय
शैवाय
पाशुपताय
कालामुखाय
भैरवशासनाय
शाक्ताय

गं वैनायकाय नमः ७९०
सौराय
जैनाय
आर्हतसंहितायै
सते
असते
व्यक्ताय
अव्यक्ताय
सचेतनाय
अचेतनाय
बन्धाय ८००
मोक्षाय
सुखाय
भोगाय
अयोगाय
सत्याय
अणवे
महते
स्वस्ति
हुं नमः
फट् नमः ८१०
स्वधा नमः
स्वाहा नमः
श्रौषड् नमः
वौषड् नमः
वषण्णमः

गं नमो नमः
ज्ञानाय
विज्ञानाय
आनन्दाय
बोधाय ८२०
संविदे
शमाय
यमाय
एकस्मै
एकाक्षराधाराय
एकाक्षरपरायणाय
एकाग्रधिये
एकवीराय
एकानेकस्वरूपधृते
द्विरूपाय ८३०
द्विभुजाय
द्व्यक्षाय
द्विरदाय
द्वीपरक्षकाय
द्वैमातुराय
द्विवदनाय
द्वन्द्वातीताय
द्वयादिगाय
त्रिधात्मे
त्रिकराय ८४०
त्रेतायै

गं त्रिवर्गफलदायकाय नमः
त्रिगुणात्मने
त्रिलोकादये
त्रिशक्तीशाय
त्रिलोचनाय
चतुर्बाहवे
चतुर्दन्ताय
चतुरात्मने
चतुर्मुखाय
चतुर्विधोपायमयाय ८५०
चतुर्वर्णाश्रमाश्रयाय
चतुर्विधवचोवृत्तिपरि-
वृत्तिप्रवर्तकाय
चतुर्थीपूजनप्रीताय
चतुर्थीतिथिसम्भवाय
पञ्चाक्षरात्मने
पञ्चात्मने
पञ्चास्याय
पञ्चकृत्यकृते
पञ्चाधाराय
पञ्चवर्णाय ८६०
पञ्चाक्षरपरायणाय
पञ्चतालाय
पञ्चकराय
पञ्चप्रणवभाविताय
पञ्चब्रह्ममयस्फूर्तये

गं पञ्चावरणवारिताय नमः
पञ्चभक्ष्यप्रियाय
पञ्चबाणाय
पञ्चशिवात्मकाय
षट्कोणपीठाय ८७०
षट्चक्रधाम्ने
षड्ग्रन्थिभेदकाय
षडध्वध्वान्तविध्वंसिने
षडङ्गुलमहाह्लदाय
षण्मुखाय
षण्मुखभ्रात्रे
षट्शक्तिपरिवारिताय
षड्वैरिवर्गविध्वंसिने
षडूर्मिभयभञ्जनाय
षट्तर्कदूराय ८८०
षट्कर्मनिरताय
षड्रसाश्रयाय
सप्तपातालचरणाय
सप्तद्वीपोरुमण्डलाय
सप्तस्वर्लोकमुकुटाय
सप्तसप्तिवरप्रदाय
सप्ताङ्गराज्यसुखदाय
सप्तर्षिगणमण्डिताय
सप्तछन्दोनिधये
सप्तहोत्रे ८९०
सप्तस्वराश्रयाय

गं सप्ताब्धिकेलिकासाराय
सप्तमातृनिषेविताय
सप्तच्छन्दोमोदमदाय
सप्तच्छन्दोमखप्रभवे
अष्टमूर्तिध्येयमूर्तये
अष्टप्रकृतिकारणाय
अष्टाङ्गयोगफलभुवे
अष्टपत्राम्बुजासनाय
अष्टशक्तिसमृद्धश्रिये ९००
अष्टैश्वर्यप्रदायकाय
अष्टपीठोपपीठश्रियै
अष्टमातृसमावृताय
अष्टभैरवसेव्याय
अष्टवसुवन्द्याय
अष्टमूर्तिभृते
अष्टचक्रस्फुरन्मूर्तये
अष्टद्रव्यहविःप्रियाय
नवनागासनाध्यासिने
नवनिध्यनुशासित्रे ९१०
नवद्वारपुराधाराय
नवाधारनिकेतनाय
नवनारायणस्तुत्याय
नवदुर्गानिषेविताय
नवनाथमहानाथाय
नवनागविभूषणाय
नवरत्नविचित्राङ्गाय

गं नवशक्तिशिरोधृताय नमः
दशात्मकाय
दशभुजाय ९२०
दशदिक्पतिवन्दिताय
दशाध्यायाय
दशप्राणाय
दशेन्द्रियनियामकाय
दशाक्षरमहामन्त्राय
दशाशाव्यापिविग्रहाय
एकादशादिभिरुद्रैः स्तुताय
एकादशाक्षराय
द्वादशोद्दण्डदोर्दण्डाय
द्वादशान्तनिकेतनाय ९३०
त्रयोदशाभिधाभिन्नविश्वेदेवाधिदैवताय
चतुर्दशेन्द्रवरदाय
चतुर्दशमनुप्रभवे
चतुर्दशादिविद्याढ्याय
चतुर्दशजगत्प्रभवे
सामपञ्चदशाय
पञ्चदशीशीतांशुनिर्मलाय
षोडशाधारनिलयाय
षोडशस्वरमातृकाय
षोडशान्तपदावासाय ९४०
षोडशेन्दुकलात्मकाय
कलासप्तदश्यै

गं सप्तदशाय नमः
सप्तदशाक्षराय
अष्टादशद्वीपपतये
अष्टादशपुराणकृते
अष्टादशौषधीसृष्टये
अष्टादशविधिस्मृताय
अष्टादशलिपिव्यष्टिसमष्टिज्ञानकोविदाय
एकविंशाय पुंसे ९५०
एकविंशत्यङ्गुलिपल्लवाय
चतुर्विंशतितत्त्वात्मने
पञ्चविंशाख्यपूरुषाय
सप्तविंशतितारेशाय
सप्तविंशतियोगकृते
द्वात्रिंशद्भैरवाधीशाय
चतुस्त्रिंशन्महाह्रदाय
षट्त्रिंशत्तत्त्वसम्भूतये
अष्टत्रिंशत्कलातनवे
नमदेकोनपञ्चाशन्मरुद्वर्गनिरर्गलाय ९६०
पञ्चाशदक्षरश्रेण्यै
पञ्चाशद्रुद्रविग्रहाय
पञ्चाशद्विष्णुशक्तीशाय
पञ्चाशन्मातृकालयाय
द्विपञ्चाशद्वपुःश्रेण्यै
त्रिषष्ट्यक्षरसंश्रयाय

गं चतुष्षष्ट्यर्णनिर्णेत्रे नमः
चतुष्षष्टिकलानिधये
चतुष्षष्टिमहासिद्धयोगिनी वृन्दवन्दिताय
अष्टषष्टिमहातीर्थक्षेत्रभैरव-भावनाय ९७०
चतुर्नवतिमन्त्रात्मने
षण्णवत्यधिकप्रभवे
शतानन्दाय
शतधृतये
शतपत्रायतेक्षणाय
शतानीकाय
शतमखाय
शतधारावरायुधाय
सहस्रपत्रनिलयाय
सहस्रफणभूषणाय ९८०
सहस्रशीर्षपुरुषाय
सहस्राक्षाय
सहस्रपदे
सहस्रनामसंस्तुत्याय
सहस्राक्षबलापहाय

गं दशसाहस्रफणभृत्फणिराज-कृतासनाय नमः
अष्टाशीतिसहस्राद्य-महर्षिस्तोत्रयन्त्रिताय
लक्षाधीशप्रियाधाराय
लक्षाधारमनोमयाय
चतुर्लक्षजपप्रीताय ९९०
चतुर्लक्षप्रकाशिताय
चतुरशीतिलक्षाणांजीवानां-देहसंस्थिताय
कोटिसूर्यप्रतीकाशाय
कोटिचन्द्रांशुनिर्मलाय
शिवाभवाध्युष्टकोटिविनायक-धुरन्धराय
सप्तकोटिमहामन्त्रमन्त्रितावयवद्युतये
त्रयस्त्रिंशत्कोटिसुरश्रेणी-प्रणतपादुकाय
अनन्तनाम्ने
अनन्तश्रिये
अनन्तानन्तसौख्यदाय नमः १०००

पुनरपि ऋष्यादि-कराङ्गन्यासौ विदध्यात् ।

श्रीगणपतिसहस्रनामावली समाप्ता ॥

॥ श्रीगणेश्वरैकविंशतिनामानि ॥

गं	गणञ्जयाय नमः	१
	गणपतये नमः	२
	हेरम्बाय नमः	३
	धरणीधराय नमः	४
	महागणपतये नमः	५
	लक्षप्रदाय नमः	६
	क्षिप्रप्रसादनाय नमः	७
	अमोघसिद्धये नमः	८
	अमिताय नमः	९
	मन्त्राय नमः	१०
	चिन्तामणये नमः	११
गं	निधये नमः	१२
	सुमङ्गलाय नमः	१३
	बीजाय नमः	१४
	आशापूरकाय नमः	१५
	वरदाय नमः	१६
	शिवाय नमः	१७
	काश्यपाय नमः	१८
	नन्दनाय नमः	१९
	वाचासिद्धाय नमः	२०
	ढुण्ढिविनायकाय नमः	२१

॥ इति-एकविंशतिनामानि ॥

गणञ्जयो गणपतिर्हेरम्बो धरणीधरः ।
महागणपतिर्लक्षप्रदः क्षिप्रप्रसादनः ॥
अमोघसिद्धिरमितो मन्त्रश्चिन्तामणिर्निधिः ।
सुमङ्गलो बीजमाशापूरको वरदःशिवः ॥
काश्यपो नन्दनो वाचासिद्धो ढुण्ढिविनायकः ।
मोदकैरेभिरत्रैकविंशत्यानामभिः पुमान् ॥
यः स्तौति मद्गतमना मदाराधनतत्परः ।
स्तुतो नाम्नां सहस्रेण तेनाहं नात्र संशयः ॥

नमो नमः सुरवरपूजिताङ्घ्रये नमो नमो निरुपममङ्गलात्मने ।
नमो नमो विपुलपदैकसिद्धये नमो नमः करिकलभाननाय ते ॥

श्रीकरपात्रस्वामिविरचिते श्रीविद्यारत्नाकरे ।
श्रीमहागणपतिक्रमः समाप्तः ।

॥ श्रीः ॥

अथ श्री-क्रमः

ब्राह्ममुहूर्तकृत्यम्

(मन्त्रमहार्णवश्रीविद्यार्णवनित्योत्सवादिषु प्रतिपादितम्)

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय निद्रास्थानाद् बहिर्निर्गत्य हस्तौ पादौ मुखञ्च प्रक्षाल्याचम्य रात्रिवस्त्रं परित्यज्य शुद्धवस्त्रं परिधाय शुद्धासन उपविश्याज्ञा-चक्रे कोटीन्दुप्रकाशे स्वगुरुं ध्यायेत्—

ॐ आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं, ज्ञानस्वरूपं निजबोधरूपम् ।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं, श्रीमद्गुरुं नित्यमहं भजामि ॥

श्रीगुरुपादुकापञ्चकम्

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातमद्भुतम् ।
कुण्डलीविवरकाण्डमण्डितं द्वादशार्णसरसीरुहं भजे ॥ १ ॥
तस्य कन्दलितकर्णिकापुटे क्लृप्तरेखमकथादिरेखया ।
कोणलक्षितहलक्षमण्डलीं भावलक्ष्यमबलालयं भजे ॥ २ ॥
तत्पुटे पटुतडित्कडारिमस्पर्द्धमानमणिपाटलप्रभम् ।
चिन्तायामि हृदि चिन्मयं वपुर्नादबिन्दुमणिपीठमुज्ज्वलम् ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वमस्य हुतभुक्शिखात्रयं तद्विलासपरिबृंहणास्पदम् ।
विश्वघस्मरमहोच्चिदोत्कटं व्यामृशामि युगमादिहंसयोः ॥ ४ ॥
तत्र नाथचरणारविन्दयोः कुङ्कुमासवपरीमरन्दयोः ।
द्वन्द्वबिन्दुमकरन्दशीतलं मानसं स्मरति मङ्गलास्पदम् ॥ ५ ॥

निषक्तमणिपादुका नियमितौघकोलाहलं ।
स्फुरत्किसलयारुणं नखसमुल्लसच्चन्द्रकम् ॥
परामृतसरोवरोदितसरोज — सद्रोचिषं ।
भजामि शिरसि स्थितं गुरुपदारविन्दद्वयम् ॥

नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्याऽवतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रहः ॥
नवाय नवरूपाय परमार्थस्वरूपिणे।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनाय ते ॥
स्वतन्त्राय दयाक्लृप्तविग्रहाय शिवात्मने।
परतन्त्राय भक्तानां भव्यानां भव्यरूपिणे ॥
विवेकिनां विवेकाय विमर्शाय विमर्शिनाम्।
प्रकाशानां प्रकाशाय ज्ञानिनां ज्ञानरूपिणे ॥
पुरस्तात् पार्श्वयोः पृष्ठे नमस्कुर्यामुपर्यधः।
सदा मच्चित्तरूपेण विधेहि भवदासनम् ॥
इत्येवं पञ्चभिः श्लोकैः स्तुवीत यतमानसः।
प्रातः प्रबोधसमये जपात् सुदिवसं भवेत् ॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

'ऐं ह्रीं श्रीं ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं सहक्षमलवरयीं ह्सौः स्हौः स्वरूपनिरूपणहेत्वमुकाम्बासहितश्रीगुरुपादुकां पूजयामि'

'स्वच्छप्रकाशविमर्शहेत्वमुकाम्बासहितश्रीपरमगुरुपादुकां पूजयामि'

'स्वात्मारामपञ्जरविलीनचेतस्कामुकाम्बासहित श्रीपरमेष्ठिगुरुपादुकां पूजयामि', इति गुरुपरमगुरुपरमेष्ठिगुरुपादुकां पूजयेत्।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुस्साक्षात्परं ब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

इति प्रणम्य प्राणानायम्य च तच्चरणयुगलविगलदमृतरस-विसरपरिप्लुताखिलाङ्गमात्मानं भावयेत्।

ततश्च सर्वचैतन्यात्मिकां जाग्रदाद्यवस्थात्रयावभासिकां सर्वाधिष्ठानरूपां प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मात्मिकां सर्वचैत्यविवर्जितामखण्डां चितिं भावयेत्।

आमूलाधारादाब्रह्मबिलं विलसन्तीं तडिल्लतासदृशाकृतिं तरुणारुणपिञ्जरां तैजसीं ज्वलन्तीं कुण्डलीरूपां सर्वाधिष्ठानभूतां परां संविदं भावयेत्।

नियमितपवनस्पन्दो मूलाधारे चतुर्दलपद्मे त्रिकोणात्मकं पीठस्थितज्योतिर्लिङ्गमावष्टभ्यावस्थितां सार्धत्रिवलयां ॐ "हूं" बीजोनोत्थिताम् 'ऐं ह्रीं श्रीं' इति मन्त्रं च जपन् कुण्डलिनीं ध्यायेत् ।

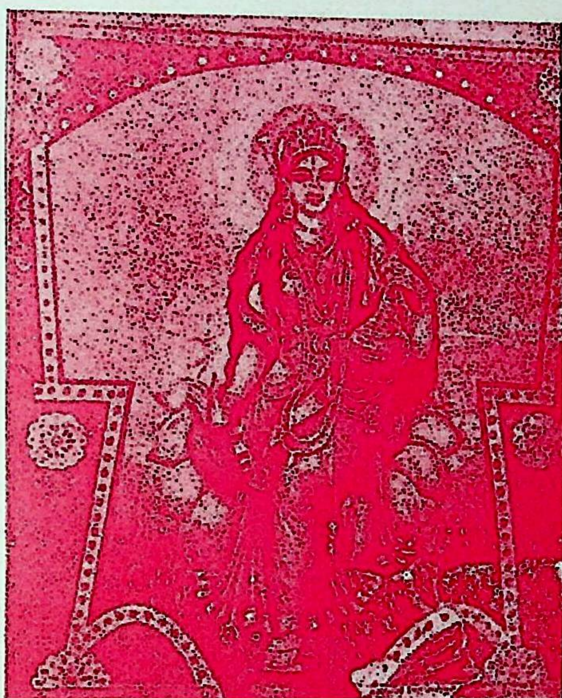
कुण्डलिनीमन्त्रः

वाग्भवं भुवनेशी च श्री-बीजन्तु तथैव च ।
त्र्यक्षरो मन्त्र आख्यातः कुण्डलिन्यास्सुसिद्धिदः ॥ १ ॥
ऋषिश्शक्तिस्समाख्यातो गायत्रीच्छन्द ईरितम् ।
चेतना कुण्डली शक्तिर्देवतात्र समीरिता ॥ २ ॥
वाग्भवं बीजमाम्नातं शक्तिः श्रीबीजमुच्यते ।
हृल्लेखाकीलकं प्रोक्तं कुण्डलिन्यास्तु चिन्तने ॥ ३ ॥
विनियोगस्समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ।
बीजत्रयद्विरावृत्या षडङ्गन्यास ईरितः ॥ ४ ॥
ध्यानं वक्ष्यामि कुण्डल्यास्सावधानतया शृणु ।
मूलाधारे त्रिकोणे तु सूर्यकोटिसमत्विषि ॥ ५ ॥
प्रसुप्तभुजगाकारां सार्धत्रिवलयस्थिताम् ।
नीवारशूकवत्तन्वीं तडित्कोटिसमप्रभाम् ॥ ६ ॥
सूर्यकोटिप्रभां दीप्तां चन्द्रकोटिसुशीतलाम् ।
शिवशक्तिमयीं देवीं शङ्खावर्तक्रमात्स्थिताम् ॥ ७ ॥
सुषुम्नामध्यमार्गेण यान्तीं परशिवावधि ।
ह्रींकारबीजरूपेण चिन्तयेद्योगवर्त्मना ॥ ८ ॥

ध्यानम्

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलि-
स्फुरत्तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम् ।
पाणिभ्यामलिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं
सौम्यां रत्नघटस्थसव्यचरणां ध्यायेत्परामम्बिकाम् ॥

श्रीभुवनेश्वरी



(कुण्डलिनी शक्ति ध्यानम्)

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलीस्फुरत् ।
तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम् ॥
पाणिभ्यामलिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं ।
सौम्यां रत्नघटस्थरक्तचरणां ध्यायेत्परामम्बिकाम् ॥



कुण्डलिनीस्तुतिः

मूलोन्निद्रभुजङ्गराजसदृशीं यान्तीं सुषुम्नान्तरं
भित्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनीसन्निभाम् ।
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद्दिव्यामृतौघैः पतिं
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां सञ्चिन्तयेत् कुण्डलीम् ॥

हंसं नित्यमनन्तमव्ययगुणं स्वाधारतो निर्गता,
शक्तिः कुण्डलिनी समस्तजननी हस्ते गृहीत्वा च तम् ।
याता शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूय स्वयं,
यान्ती स्वाश्रममर्ककोटिरुचिरा ध्येया जगन्मोहिनी ॥

अव्यक्तं परबिम्बमञ्चितरुचिं नीत्वा शिवस्यालयं,
शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा ।
आनन्दामृतकन्दगं पुरमिदं चन्द्रार्ककोटिप्रभं
संवीक्ष्य स्वगृहं गता भगवती ध्येयाऽनवद्या गुणैः ॥

मध्ये वर्त्म समीरणद्वयमिथस्सङ्घट्टसंक्षोभजं,
शब्दस्तोममतीत्य तेजसि तडित्कोटिप्रभाभास्वराम् ।
उद्यन्तीं समुपास्महे नवजपासिन्दूरसान्द्रारुणां,
सान्द्रानन्दसुधामयीं परशिवं प्राप्तां परां देवताम् ॥

गमनागमनेषु जाङ्घिकी सा तनुयाद्योगफलानि कुण्डली ।
मुदिता कुलकामधेनुरेषा भजतां वाञ्छितकल्पवल्लरी ॥

आधारस्थितशक्तिबिन्दुनिलयां नीवारशूकोपमां,
नित्यानन्दमयीं गलत्परसुधावर्षैः प्रबोधप्रदैः ।
सिक्त्वा षट्सरसीरुहाणि विधिवत्कोदण्डमध्योदितां,
ध्यायेद्भास्वरबन्धुजीवरुचिरां संविन्मयीं देवताम् ॥

हृत्पङ्केरुहभानुबिम्बनिलयां विद्युल्लतामन्थरां,
बालार्कारुणतेजसा भगवतीं निर्भर्त्सयन्तीं तमः ॥

नादाख्यं परमर्धचन्द्रकुटिलं संविन्मयीं शाश्वतीं,
यान्तीमक्षररूपिणीं विमलधीर्ध्यायेद्विभुं तेजसाम् ॥
भाले पूर्णनिशाकरप्रतिभटां नीहारहारत्विषा,
सिञ्चन्तीममृतेन देवममितेनानन्दयन्तीं तनुम् ।
वर्णानां जननीं तदीयवपुषा संव्याप्य विश्वं स्थितां,
ध्यायेत्सम्यगनाकुलेन मनसा संविन्मयीमम्बिकाम् ॥
मूले भाले हृदि च विलसद्वर्णरूपा सवित्री,
पीनोत्तुङ्गस्तनभरनमन्मध्यदेशा महेशी ।
चक्रे चक्रे गलितसुधया सिक्तगात्री प्रकामं,
दद्यादद्य श्रियमविकलां वाङ्मयी देवता नः ॥
आधारबन्धप्रमुखक्रियाभिः समुत्थिता कुण्डलिनी सुधाभिः ।
त्रिधामबीजं शिवमर्चयन्ती शिवाङ्गना वः शिवमातनोतु ॥
निजभवननिवासादुच्चलन्ती विलासैः
पथि पथि कमलानां चारु हासं विधाय ।
तरुणतपनकान्तिः कुण्डली देवता सा
शिवसदनसुधाभिर्दीपयेदात्मतेजः ॥
सिन्दूरपुञ्जनिभमिन्दुकलावतंसमानन्दपूर्णनयनत्रयशोभिवक्त्रम् ।
आपीनतुङ्गकुचनम्रमनङ्गतन्त्रं शम्भोः कलत्रममितां श्रियमातनोतु ॥
वर्णैरर्णवषट्दिशा रविकलाचक्षुर्विभक्तैः क्रमात्,
सान्तैरादिभिरावृतान् क्षहयुतैष्षट्चक्रमध्यानिमान् ।
डाकिन्यादिभिराश्रितान् परिचितान् ब्रह्मादिभिर्दैवतै
र्भिन्दाना परदेवता त्रिजगतां चित्तेषु दत्तां मुदम् ॥
आधाराद्गुणवृत्तशोभिततनुं निर्गत्वरीं सत्वरं,
भिन्दन्तीं कमलानि चिन्मयघनानन्दप्रबोधोद्धुराम् ।
संक्षुब्धं ध्रुवमण्डलामृतकरप्रस्यन्दमानामृत-
स्रोतःकन्दलितामन्दतडिदाकारां शिवां भावये ॥

मूलाधारे त्रिकोणे तरुणतरणिभाभास्वरे विभ्रमन्तं
कामं बालार्ककालानलजरठकुरङ्गाङ्ककोटिप्रभाभम् ।
विद्युन्मालासहस्रद्युतिरुचिरलसद्बन्धुजीवाभिरामं,
त्रैगुण्याक्रान्तबिन्दुं जगदुदयलयैकान्तहेतुं विचिन्त्य ॥

तस्योर्ध्वे विस्फुरन्तीं स्फुटरुचिरतडित्पुञ्जभाभास्वराङ्गी-
मुद्गच्छन्तीं सुषुम्नामनु सरणिशिखामाललाटेन्दुबिम्बम् ।
चिन्मात्रां सूक्ष्मरूपां जगदुदयकरीं भावनामात्रगम्यां,
मूलं या सर्वधाम्नां स्फुरति निरुपमा हूँकृतोदञ्चितोरः ॥

नीता सा शनकैरधोमुखसहस्रारारुणाब्जोदरे,
च्योतत्पूर्णशशाङ्कबिम्बमधुनः पीयूषधारास्रुतिम् ।
रक्तां मन्त्रमयीं निपीय च सुधानिःष्यन्दरूपा विशेद्
भूयोऽप्यात्मनिकेतनं पुनरपि प्रोत्थाय पीत्वा विशेत् ॥
योऽभ्यस्यत्यनुदिनमेवमात्मनोऽन्तर्बीजांशं दुरितजरापमृत्युरोगान् ।
जित्वाऽसौ स्वयमिव मूर्तिमाननङ्गः सञ्जीवेच्चिरमतिनीलकेशजालः ॥

(इति तद्रश्मिनिकरभस्मितसकलकश्मलजालो "मूलं"—
मनसा दशवारमावर्तयेत्) ।

अजपाजप-विधिः

अथ षट्शताधिकैकविंशतिसाहस्रिकां निःश्वासोच्छ्वासरूपिणीं मूलाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तसप्तचक्रनिवासिनीभ्यो देवताभ्यो निवेदयामि, यथा—

मूलाधारे चतुर्दलपद्मे वं शं षं सं चतुरक्षरे चतुष्कोणयन्त्रे एरावतवाहने लं बीजे स्थिताय सिद्धिबुद्धिशक्तिसहिताय कुङ्कुमवर्णाय महागणपतये षट्शतमजपागायत्रीजपं निवेदयामि ।

स्वाधिष्ठाने षड्दलपद्मे बं भं मं यं रं लं षडक्षरे अर्धचन्द्रे यन्त्रे मकरवाहने वं बीजे स्थिताय सरस्वतीशक्तिसहिताय सिन्दूरवर्णाय ब्रह्मणे षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि ।

मणिपूरकचक्रे दशदलपद्मे डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं दशाक्षरे त्रिकोणयन्त्रे मेषवाहने रं बीजे स्थिताय लक्ष्मीशक्तिसहिताय नीलवर्णाय विष्णवे षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि।

अनाहतचक्रे द्वादशदलपद्मे कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं द्वादशाक्षरे षट्कोणयन्त्रे हरिणवाहने यं बीजे स्थिताय पार्वतीशक्तिसहिताय हेमवर्णाय परमशिवाय षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि।

विशुद्धिचक्रे षोडशदलपद्मे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः षोडशाक्षरे शून्ययन्त्रे हस्तिवाहने हं बीजे स्थिताय प्राणशक्तिसहिताय शुद्धस्फटिकसङ्काशाय जीवाय सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि, आज्ञाचक्रे द्विदलपद्मे श्वेतवर्णे हं क्षं द्व्यक्षरे लिङ्गयन्त्रे नरवाहने स्थिताय ज्ञानशक्तिसहिताय विद्युद्वर्णाय गुरवे सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि,

ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रदलपद्मे चित्रवर्णे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं इति विंशतिवारोच्चारिते सहस्राक्षरे विसर्गयन्त्रे बिन्दुवाहने पूर्णचन्द्रमण्डले आनन्दमहासमुद्रमध्ये चिन्मयमणिद्वीपे चित्सारचिन्तामणिमयमन्दिरे कल्पवृक्षाधस्थले-अव्याकृत-ब्रह्ममहासिंहासने स्थिताय नानावर्णाय वर्णातीताय चिच्छक्तिसहिताय परमात्मने सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि (इति निवेदयेत्)।

(अथ कतिचित् क्षणान् हंसः सोऽहमिति श्वासोच्छ्वासेषु भावयेत्)

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसोऽतिपरमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥

(इति ध्यात्वा) मानसैरुपचारैस्सर्वान् देवान् पूजयेत्।
लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि (कनिष्ठकाङ्गुष्ठाभ्याम्)।
हं आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि (अङ्गुष्ठतर्जनीभ्याम्)।
यं वाय्वात्मकं धूममाघ्रापयामि (तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्याम्)।
यं वन्ह्यात्मकं दीपं दर्शयामि (अङ्गुष्ठमध्यमाभ्याम्)।

वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि (अङ्गुष्ठानामिकाभ्याम्)।

सं सर्वात्मकं ताम्बूलादिसर्वोपचारान् समर्पयामि। (साङ्गुष्ठाभिस्सर्वाभिः)।

आमूलाधारादाब्रह्मबिलं विलसन्त्यां बिसतन्तुतनीयस्यां विद्युत्पुञ्जपिञ्जरायां विवस्वदयुतप्रकाशायां कुण्डलिन्यामेव निम्नाङ्कितेषु चक्रेषु श्रीचक्रस्थितां देवतां भावयन् पूजयेत्।

तद्यथा—मूलाधारादधोगते अकुलसहस्रारे तदुपरि स्थिते विषुवन्नाम्नि रक्तवर्णे षड्दले च देहश्रीचक्रयोरभेदेन भूपुरस्थिताः अणिमादिदेवीः पूजयामि।

चतुर्दले मूलाधारे षोडशदलगतकामाकर्षिण्यादिदेवीः पूजयामि।

षड्दले स्वाधिष्ठाने अष्टदलगतानङ्गकुसुमादिदेवीः पूजयामि।

दशदले मणिपूरे चतुर्दशारगतसर्वसंक्षोभिण्यादिदेवीः पूजयामि।

द्वादशदले अनाहते बहिर्दशारगतसर्वसिद्धिप्रदादिदेवीः पूजयामि।

षोडशदले विशुद्धे अन्तर्दशारगतसर्वज्ञादिदेवीः पूजयामि।

लम्बिकाग्रे अष्टारगतवशिन्यादिदेवीः पूजयामि।

आज्ञाचक्रे द्विदले त्रिकोणगतमहाकामेश्वर्यादिदेवीश्च पूजयामि।

सहस्रारे बिन्दुगतश्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीं कामेश्वराङ्कनिलयां देवीं पूजयामि। (इति)

श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यां सचक्रावयवान्यावरणानि विलीनानि विभाव्य सहस्रारे स्थितजीवात्मना सहितां देवीं हृदयं नीत्वा स्वाञ्जलिगतकुसुमैस्तां सम्पूज्य ततोऽकुलेन्दुगलितामृतधारारूपिणीः चन्दनकुसुमधूपदीपनैवेद्यशालिकरकमलाःपीतासितश्यामरक्तशुक्लवर्णाः भूवियदनिलानलजललक्षणाः पञ्चभूतमयीः सर्वावयवसुन्दरीः पञ्च देवताः देव्यग्रे पञ्चोपचारमुद्राश्च प्रदर्शिता भावयेत्।

ततो देव्याः नासायां गन्धदेवता, श्रोत्रे पुष्पदेवता, नाभौ धूपदेवता, नयने दीपदेवता, जिह्वायां नैवेद्यदेवता—इति क्रमेण ताः विलीनाः विभाव्य मूलविद्यामुच्चरन् जीवात्मानं देवीपादमूले लीनं विभाव्य हृदयगतदेवीरूपं मध्यत्र्यस्रसहितं तथैव केवलं ज्योतिर्मयतामापन्नं ध्यायन् संक्षोभिण्यादिमुद्राः भावयित्वा क्षणं न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।

रश्मिमालामन्त्राः

ततो रश्मिमालाप्रवर्तनम् । रश्मिमालामन्त्रेषु वैदिकान्मन्त्रान् सस्वरान् पठेत् ।

ॐ भूर्भुवस्स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात् (इति गायत्री मूलाधारे) ॥ १ ॥

सावित्र्या विश्वामित्र ऋषिः नृचिद्गायत्रीच्छन्दः सविता देवता, तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवल — च्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम् ।
गायत्री वरदाभयाङ्कुशकशः शुभ्रं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं जजे ॥

'यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये विद्विषो विमृधो जहि ॥
स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः स्वस्तिदा अभयङ्करः' ॥

(इत्यैन्द्री विद्या सप्तषष्ट्यर्णा सङ्कटे भयनाशिनी, हृदये) ॥ २ ॥

अभयङ्करमन्त्रस्य गृत्समद ऋषिः, त्रिष्टुप् छन्दः, अभयङ्करो देवता, तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

आरूढो वारणेन्द्रं दशशतनयनः श्यामलः कोमलाङ्गः
वर्मी वीरः प्रतापी प्रतिभटदहनप्रज्ज्वलच्चक्रपाणिः ।

दोर्भिर्दिव्यायुधाढ्यैर्मणिगणखचितैर्देवमन्त्रीसनाथो
दत्वाभीष्टानि शश्वत्परिहृतदुरितः पातु विश्वं महेन्द्रः ॥

'ॐ घृणिस्सूर्य आदित्योम्' (इत्यष्टार्णा सौरी तेजोदा, फाले) ॥ ३ ॥

(सौरमन्त्रस्य देवभाग ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, सूर्यो देवता, तत्प्रसाद-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

धृतपद्मद्वयं भानुं तेजोमण्डलमध्यगम् ।
सर्वाधिव्याधिशमनं छायास्लिष्टतनुं भजे ॥)

'ॐ' (इति प्रणवः केवलो ब्रह्मविद्या मुक्तिप्रदा, ब्रह्मरन्ध्रे) ॥ ४ ॥

प्रणवस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, परमात्मा देवता, तत्प्रसाद-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

ओंकारवाच्यमुच्चण्डचण्डांशुसदृशप्रभम् ।
वासुदेवाभिधं ब्रह्म विश्वगर्भमुपास्महे ॥

'ॐ परोरजसेऽसावदोम्' (इति नवार्णा तुरीया गायत्री स्वैक्यविमर्शिनी, द्वादशान्ते) ॥ ५ ॥

(तुरीयागायत्रीमन्त्रस्य विश्वामित्र ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, सविता देवता, तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

देवीं तुरीयगायत्रीं तुर्यातीतपदाश्रयाम् ।
परोरजःप्रकाशात्मचितिरूपामहं जजे ॥

रश्मिपञ्चकमेतन्मूलाधारहृत्फालविधिबिलद्वादशान्तस्थानबीजतयाविभावनीयम् । (द्वादशान्तस्थानन्तु ललाटस्योत्तरभागः) ।

'ॐ सूर्याक्षितेजसे नमः । खेचराय नमः । असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्माऽमृतं गमय । उष्णो भगवान् शुचिरूपः । हंसो भगवान् शुचिरप्रतिरूपः ।

विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं हिरण्मयं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

'ॐ नमो भगवते सूर्यायाहोवाहिनि वाहिन्यहोवाहिनि वाहिनि स्वाहा'।

वयस्सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाथमानाः।
अपध्वान्तमूर्णूहि पूर्धिचक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्॥

'पुण्डरीकाक्षाय नमः। पुष्करेक्षणाय नमः। अमलेक्षणाय नमः। कमलेक्षणाय नमः। विश्वरूपाय नमः। श्रीमहाविष्णवे नमः' (इति षोडश-मन्त्रसमष्टिरूपिणी चक्षुष्मती विद्या दूरदृष्टिसिद्धिप्रदा मूलाधारे)॥ ६॥

(चक्षुष्मतीमन्त्रस्य भार्गवऋषिः, नानाच्छन्दांसि, चक्षुष्मती देवता तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।) ध्यानम् :—

चक्षुस्तेजोमयं पुष्पकन्दुकं बिभ्रतीं करैः।
रौप्यसिंहासनारूढां देवीं चक्षुष्मतीं भजे॥

'ॐ गन्धर्वराज विश्वावसो ममाभिलषितां कन्यां प्रयच्छ स्वाहा' (इत्युत्तमकन्याविवाहदायिनी हृदये)॥ ७॥

(विश्वावसुमन्त्रस्य सम्मोहन ऋषिः। गायत्रीच्छन्दः विश्वावसुर्देवता। तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।) ध्यानम्—

रक्ताङ्गरागारुणभूषणाढ्यं वीणाधरं वीटिकयोल्लसन्तम्।
गन्धर्वकन्याजनगीयमानं विश्वावसुं सद्बृहतीं नमामि॥

ॐ नमो रुद्राय पथिषदे स्वस्ति मां सम्पारय' (इति मार्गसङ्कट-हारिणी विद्या, फाले)॥ ८॥

पथिषद्रुद्रमन्त्रस्य वामदेवः ऋषिः पंक्तिच्छन्दः, पथिषद्रुद्रो देवता। तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः। ध्यानम्—

आत्तसज्जधनुर्बाणकरं वृषभसंस्थितम्।
अन्नपूर्णासमाश्लिष्टं पथिषद्रुद्रमाश्रये॥ ८॥

ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा, (इति जलापच्छमनी विद्या, ब्रह्मरन्ध्रे)॥९॥

तारा मन्त्रस्य मत्स्य ऋषिः, ताराम्बा देवता, तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः। ध्यानम्—

नौकासिंहासनारूढां शाक्यदर्शनदेवताम् ।
जलापच्छमनीं वन्दे तारां वारिदमेचकाम् ॥

'अच्युताय नमः, अनन्ताय नमः, गोविन्दाय नमः, (इति महाव्याधिनाशिनी नामत्रयी विद्या, द्वादशान्ते) ॥ १० ॥

(नामत्रयमन्त्रस्य काश्यपात्रिभरद्वाजा ऋषयः, अनुष्टुप् छन्दः, श्रीमहाविष्णुर्देवता, तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः ।

ध्यानम्— समस्तदुस्तरव्याधिसंघध्वंसपटीयसे ।
अच्युतानन्तगोविन्दनाम्ने धाम्ने नमो नमः ॥

(एतद्रश्मिपञ्चकं मूलधारादिपरिकरतया ज्ञेयम्) ।

"ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वर वरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा" (इति महागणपतिविद्या प्रत्यूहशमनी, मूलाधारे) ॥ ११ ॥

महागणपतिमन्त्रस्य गणक ऋषिः, निचृद्गायत्री छन्दः, श्रीमहागणपतिर्देवता, तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

बीजापूरगदेक्षुकार्मुकरुजा चक्राब्जपाशोत्पल-
व्रीह्यग्रस्वविषाणरत्नकलशप्रोद्यत्कराम्भोरुहः ।
ध्येयो वल्लभया सपद्मकरया श्लिष्टोज्ज्वलद्भूषया
विश्वोत्पत्तिविपत्तिसंस्थितिकरो विघ्नेश्वरोऽभीष्टदः ॥

'ॐ नमः शिवायै, ॐ नमः शिवाय' (इति द्वादशार्णा शिवतत्त्वविमर्शिनी विद्या, हृदये) ॥ १२ ॥

(शिवशवत्यात्मकपञ्चाक्षरमन्त्रस्य वामदेव ऋषिः, पंक्तिच्छन्दः, उमामहेश्वरो देवता, तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

वामांसन्यस्तवामेतरकरकमलायास्तथा वामहस्त-
न्यस्तारक्तोत्पलायाःस्तनभरविलसद्वामहस्तः प्रियायाः ।
सर्वाकल्पाभिरामः श्रितपरशुमृगेष्टः करैःकाञ्चनाभः
ध्येयः पद्मासनस्थः स्मरललितवपुः सम्पदे पार्वतीशः ॥)

'ॐ जुं सः मां पालय-पालय' (इति दशार्णा मृत्योरपि मृत्युरेषा विद्या, फाले) ॥ १३ ॥

(अमृतमृत्युञ्जयस्य कहोल ऋषिः, विराट्छन्दः अमृतमृत्युञ्जयसदाशिवो देवता । तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

स्फुटितनलिनसंस्थं मौलिबद्धेन्दुरेखा-
स्रवदमृतरसार्द्रं चन्द्रवन्ह्यर्कनेत्रम् ।
स्वकरलसितमुद्रापाशवेदाक्षमालं
स्फटिकरजतमुक्तागौरमीशं नमामि ॥)

ॐ नमो ब्रह्मणे धारणं मे अस्तु निराकरणं धारयिता भूयासं कर्णयोः श्रुतं मा च्योढ्वं ममामुष्य ॐ (इति श्रुतधारिणी विद्या ब्रह्मरन्ध्रे) ॥१४॥

(श्रुतधारिणीमन्त्रस्य भार्गव ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, ब्रह्मा देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

चतुराननमम्भोजनिषण्णं भारतीसखम् ।
अक्षमालावराभीतिकमण्डलुधरं भजे ॥)

"अं आं······ अः कं खं·····ळं क्षं" (इति सबिन्दुरकारादिक्षकारान्तवर्णमालिकामातृका सर्वज्ञताकरी द्वादशान्ते) ॥ १५ ॥

(मातृकामन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दः, मातृकासरस्वती देवता तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

पञ्चाशता मातृकया ह्यारब्धाखिलदेहया ।
समस्तविद्यारूपिण्या धन्योऽहं मातृकाम्बया ॥)

(पञ्चेमाः रश्मयो मूलादिरक्षात्मकतया द्रष्टव्याः) ॥

'हसकलह्रीं, हसकहलह्रीं सकलह्रीं' (इति लोपामुद्राविद्या स्वस्वरूपविमर्शिनी, मूलाधारे) ॥ १६ ॥

(श्रीहादिलोपामुद्रामन्त्रस्य दक्षिणामूर्त्तिः ऋषिः, पंक्तिच्छन्दः, श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी देवता, ह ५ बीजम्, ह ६ शक्तिः, स ४ कीलकम्, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । वालया षडङ्गम् ।

ध्यानम्—

श्रीदेवीभूषितोत्सङ्गं सान्द्रसिन्दूररोचिषम् ।
हकारादिमनोर्वाच्यं वन्दे कामेश्वरं हरम् ॥)

'क्लीं ह्रैं ह्सौः स्हौः ह्रैं क्लीं (इति षट्कूटा सम्पत्करी विद्या-हृदये) ॥ १७ ॥

(सम्पत्करीमन्त्रस्य कण्व ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, सम्पत्सरस्वती देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

अनेककोटिमातङ्गतुरङ्गरथपत्तिभिः ।
सेवितामरुणाकारां वन्दे सम्पत्सरस्वतीम् ॥

'सं सृष्टिनित्ये स्वाहा, हं स्थितिपूर्णे नमः, रं महासंहारिणि कृशे चण्डकालि फट्, रं ह्स्ख्फ्रें महानाख्ये अनन्तभास्करि महाचण्डकालि फट्, रं महासंहारिणि कृशे चण्डकालि फट्, हं स्थितिपूर्णे नमः, सं सृष्टिनित्ये स्वाहा, ह्स्ख्फ्रें महाचण्डयोगेश्वरि' (इति विद्यापञ्चकरूपिणी कालसङ्कर्षणी परमायुःप्रदा, फाले ॥ १८ ॥

(चण्डयोगेश्वरीमन्त्रस्य ईश्वर ऋषिः, नानाच्छन्दांसि, चण्डयोगीश्वरी देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

सृष्टिस्थितिभ्यां संहृत्यनाख्यया भासया श्रिताम् ।
कूलङ्कषकपालाढ्यां चण्डयोगीश्वरीं भजे ॥

ऐं ह्रीं श्रीं ह्स्ख्फ्रें ह्सौः अहमहं अहमहं ह्सौःह्स्ख्फ्रें श्रीं ह्रीं ऐं' (इति शुद्धज्ञानदा शाम्भवी विद्या । ब्रह्मरन्ध्रे) ॥ १९ ॥

(परशम्भुनाथमन्त्रस्य वामदेव ऋषिः, पंक्तिच्छन्दः, परशम्भुनाथो देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

पूर्णाहन्तास्वरूपाय तस्मै परमशम्भवे ।
आनन्दताण्डवोद्दण्डपण्डिताय नमो नमः ॥)

'सौः' (इयं परा विद्या द्वादशान्ते) ॥ २० ॥

(परामन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, परा सरस्वती देवता, तत्प्रसादसिद्धयर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

अकलङ्कशशाङ्काभा त्र्यक्षा चन्द्रकलावती ।
मुद्रापुस्तलसद्वाहा पातु मां परमा कला ॥)

(एताः पञ्च रश्मयो मूलाद्यधिष्ठानतया कलनीयाः) ।

'ऐं क्लीं सौः, सौः क्लीं ऐं, ऐं क्लीं सौः' (इति नवाक्षरी श्रीदेव्यङ्गभूता बाला) ॥ २१ ॥

(बालामन्त्रस्य दक्षिणामूर्ति ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः बालात्रिपुरसुन्दरी देवता । तत्प्रसादसिद्धयर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

अरुणकिरणजालैरञ्जिताशावकाशा
विधृतजपवटीका पुस्तकाभीतिहस्ता ।
इतरकरवराढ्या फुल्लकह्लारसंस्था
निवसतु हृदि बाला नित्यकल्याणशीला ॥)

'श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ नमो भगवति अन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा' इति श्रीदेव्या उपाङ्गभूता अन्नपूर्णा ॥ २२ ॥

(अन्नपूर्णेश्वरीमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, अन्नपूर्णेश्वरी देवता । तत्प्रसादसिद्धयर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

आदाय दक्षिणकरेण सुवर्णदर्वीं
दुग्धान्नपूर्णमितरेण च रत्नपात्रम् ।
अन्नप्रदाननिरतां नवहेमवर्णाम्
अम्बां भजे कनकभूषणमाल्यशोभाम् ॥)

'ॐ आं ह्रीं क्रों एहि परमेश्वरि स्वाहा' (इयं श्रीदेवीप्रत्यङ्गभूता-अश्वारूढा) ॥ २३ ॥

(अश्वारूढामन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, अश्वारूढा देवता । तत्प्रसादसिद्धयर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

बद्ध्वा पाशेनाङ्कुशेन कृष्यमाणां स्वसाध्यकम् ।
घ्नन्तीं वेत्रेण फालस्रक्पाणिमश्वासनां भजे ॥)

ध्यानान्तरम्—

अश्वारूढा कराग्रे नवकनमयीं वेत्रयष्टिं दधाना
दक्षेऽन्ये धारयन्ती स्फुरति धनुर्लता पाशहस्ता सुसाध्या ॥
देवी नित्यप्रसन्ना शशिशकललसत्केशपाशा त्रिणेत्रा
दद्यादद्यानवद्यां श्रियमखिलसुखप्राप्तिहृद्यां श्रियै नः ॥)

(श्रीविद्यागुरुपादुकामन्त्रस्तु–आन्हिकप्रकरण एवोक्त इह पठितव्यः) ।

तद्यथा—

'ऐं ह्रीं श्रीं ह्स्ख्फ्रें ह स क्ष म ल व र यूं स ह क्ष म ल व र यीं ह्सौः, स्हौः अमुकानन्दनाथ श्रीगुरुपादुकां पूजयामि नमः ॥ २४ ॥

(श्रीविद्यागुरुपादुकामन्त्रस्य दक्षिणामूर्तिः ऋषिः, पंक्तिच्छन्दः, श्रीविद्यागुरुपादुका देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः ।

ध्यानम्—

तेजोमयमहाविद्यां शेखराञ्चितमस्तकाम् ।
रक्तां चतुर्भुजां वन्दे श्रीविद्यागुरुपादुकाम् ॥)

(अथ मूलविद्या—सा च गुरुमुखादवगता कादिनाम्नी—

'कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं' ॥ २५ ॥

(बाला अन्नपूर्णा अश्वारूढा श्रीपादुका चेत्येताभिश्चतसृभिर्युक्ता मूलविद्या साम्राज्ञी मूलधारे विलोकनीया) ॥

(ऋषिच्छन्दोदेवतादिकं गुरुपरम्परातः प्राप्तमवगन्तव्यम् ।)

'ऐं नमः उच्छिष्टचण्डालि मातङ्गि सर्ववशङ्करि स्वाहा'

(इति श्यामाङ्गभूता लघुश्यामा) ॥ २६ ॥

(लघुश्यामामन्त्रस्य मतङ्ग ऋषिः, विराट्छन्दः, श्रीलघुश्यामाम्बा देवता तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

स्मरेत्प्रथमपुष्पिणीं रुधिरबिन्दुशोणाम्बरां
गृहीतमधुपात्रिकां मदविघूर्णनेत्राञ्चलाम् ।
घनस्तनभरालसां गलितचूलिकां श्यामलां
करस्फुरितवल्लकीविमलशङ्खताटङ्किनीम् ॥
माणिक्यवीणामुपलालयन्तीं
मदालसां मञ्जुलवाग्विलासाम् ।
माहेन्द्रनीलद्युतिकोमलाङ्गीं
मातङ्गकन्यां मनसा स्मरामि ॥ (इति वा ॥)

'ऐं क्लीं सौः वद वद वाग्वादिनि स्वाहा' ।

(इयं श्यामाङ्गभूता वाग्वादिनी) ॥ २७ ॥

(वागीश्वरीमन्त्रस्य कण्व ऋषिः, विराट्छन्दः, वागीश्वरी देवता तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

अमलकमलसंस्था लेखनीपुस्तकोद्यत्
करयुगलसरोजा कुन्दमन्दारगौरा ।
धृतशशधरखण्डोल्लासिकोटीरपीठा
भवतु भवभयानां भङ्गिनी भारती नः ॥)

ॐ ओष्ठपिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥

(इयं श्यामाप्रत्यङ्गभूता नकुलीविद्या) ॥ २८ ॥

(नकुलीवागीश्वरीमन्त्रस्य कहोल ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, नकुली-वागीश्वरी देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

नकुली वज्रदन्ताली साध्यजिह्वाहिदंशिनी ।
भक्तवक्तृत्वजननी भावनीया सरस्वती ॥)

श्रीविद्यागुरुपादुकैव प्रथमबीजत्रयस्थाने बालासहिता श्यामागुरुपादुका भवति । यथा—

'ऐं क्लीं सौः ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं सहक्षमलवरयीं ह्सौः स्हौः अमुकानन्दनाथश्रीगुरुपादुकां पूजयामि नमः' ॥ २९ ॥

(श्यामागुरुपादुकामन्त्रस्य मतङ्ग ऋषिः, पंक्तिच्छन्दः, श्यामागुरुपादुका देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

वन्दे गुर्वङ्घ्रिमुकुटां श्यामलां शुकपाणिनीम् ।
समस्तसिद्धिजननीं श्यामलागुरुपादुकाम् ॥)

'ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ॐ नमो भगवति श्रीमातङ्गीश्वरि सर्वजनमनोहारि सर्वमुखरञ्जिनि, क्लीं ह्रीं श्रीं सर्वराजवशङ्करि सर्वस्त्रीपुरुषवशङ्करि सर्वदुष्टमृगवशङ्करि सर्वसत्त्ववशङ्करि सर्वलोकवशङ्करि (त्रैलोक्यं) अमुकं मे वशमानय स्वाहा सौः क्लीं ऐं श्रीं ह्रीं ऐं' (इत्यष्टनवतिवर्णा राजश्यामला पूर्वोक्ताभिरङ्गोपाङ्गपादुकेत्येताभिश्च—चतसृभिर्विद्याभिस्सहिता हृच्चक्रे यष्टव्या) ॥ ३० ॥

(ऋष्यादिकं गुरुपरम्परातोऽवगन्तव्यम्)

'लृं वाराहि लृं उन्मत्तभैरवि पादुकाभ्यां नमः'

(इयं वार्ताल्यङ्गभूता लघुवार्ताली) ॥ ३१ ॥

(लघुवाराहीमन्त्रस्य नारद ऋषिः, पंक्तिच्छन्दः, लघुवाराही देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

महार्णवे निपतितामुद्धरन्तीं वसुन्धराम् ।
महादंष्ट्रां महाकायां नमाम्युन्मत्तभैरवीम् ॥)

'ॐ ह्रीं नमो वाराहि घोरे स्वप्नं ठः ठः स्वाहा'

(इयं स्वप्ने शुभाशुभवक्त्री वार्ताल्या उपाङ्गभूता स्वप्नवाराही) ॥३२॥

(स्वप्नवाराहीमन्त्रस्य अग्नि ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, स्वप्नवाराही देवता । तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

स्वप्ने शुभाशुभं भावि शासन्तीं भक्तकार्ययोः ।
दुःस्वप्नहारिणीं वन्दे वाराहीं स्वप्नायिकाम् ॥)

ॐ नमो भगवति तिरस्करिणि महामाये महानिद्रे सकल पशुजनमनश्च-
चक्षुःश्रोत्र तिरस्करणं कुरु कुरु स्वाहा ॥ ३३ ॥

(तिरस्करिणीमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, तिरस्करिणी देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

मुक्तकेशीं विवसनां सर्वाभरणभूषिताम् ।
स्वयोनिदर्शनान्मुह्यत्पशुवर्गां नमाम्यहम् ॥

'ऐं ग्लौं ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं सहक्षमलवरयीं ह्सौः स्हौः अमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः' । (एषा वार्तालीगुरुपादुका) ॥ ३४ ॥

(वाराहीगुरुपादुकामन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्रीच्छन्दः, वाराहीगुरुपादुकादेवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

देशिकाङ्घ्रिलसन्मौलिं खड्गिनीञ्च कपालिनीम् ।
भावयामि घनच्छायां पञ्चमीगुरुपादुकाम् ॥)

'ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्तालि वार्तालि वाराहि वाराहि वराहमुखि वराहमुखि अन्धे अन्धिनि नमः । रुन्धे रुन्धिनि नमः । जम्भे जम्भिनि नमः । मोहे मोहिनि नमः । स्तम्भे स्तम्भिनि नमः । सर्वदुष्टप्रदुष्टानां सर्वेषां सर्ववाक्चित्तचक्षुर्मुखगतिजिह्वास्तम्भनं कुरु कुरु शीघ्रं वश्यं ऐं ग्लौं ठः ठः ठः हुं अस्त्राय फट् (इति द्वादशोत्तरशताक्षरो महावराहीमन्त्रः) ॥ ३५ ॥

(पूर्वोक्ताभिश्चतसृभिर्युक्तेयं महावाराही आज्ञाचक्रे परिपूज्या ।)

प्रथमद्वितीयकूटयोः हृल्लेखावर्जं पञ्चदश्येव त्रयोदशाक्षरी श्रीपूर्तिविद्या ब्रह्मरन्ध्रे यष्टव्या ।

तद्यथा—'क ए ई ल ह स क ह ल स क ल ह्रीं' (इयं कादिपूर्तिविद्या)
'ह स क ल ह स क ह ल स क ल ह्रीं' (इयं हादिपूर्तिविद्या) ॥ ३६ ॥

(श्रीपूर्तिविद्यामन्त्रस्य दक्षिणामूर्ति ऋषिः, पंक्तिच्छन्दः, श्रीपूर्तिविद्या देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोः ।)

प्रथमत्रिकस्थाने त्रितारी कुमारी वाक् ग्लौं इत्यष्टबीजपूर्वा श्रीगुरुपादुकैव महापादुका सर्वमन्त्रसमष्टिरूपिणी स्वैक्यविमर्शिनी महासिद्धिप्रदायिनी द्वादशान्ते वरिवस्या । यथा—

"ऐंह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं सहक्षमलवरयीं ह्सौः स्हौः अमुकानन्दनाथश्रीगुरुपादुकां पूजयामि नमः ॥ ३७ ॥

(महापादुकामन्त्रस्य दक्षिणामूर्ति ऋषिः, पंक्तिच्छन्दः, श्रीमहापादुका देवता, तत्प्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । ध्यानम्—

सर्वविद्यामयीं सर्वशक्तिपीठस्वरूपिणीम् ।
कराग्रे हृदये मूले देशिकाङ्घ्रियुगत्रयम् ॥
दधतीं दीप्तभूषाढ्यां श्रीमहापादुकां नमः ।

(इति ऋष्यादिसहितरश्मिमाला) । रश्मिमालामन्त्रा आहत्य सप्तत्रिंशति । एते ब्राह्मे मुहूर्ते सकृदावर्तनीयाः सर्वं एमेवे मन्त्राः श्रीगुरुमुखादवगत्यैव पठिताः महते श्रेयसे, नान्यथेति शिवशासनम् ।

पुस्तके लिखितान् मन्त्रानवलोक्य जपेत्तु यः ।
स जीवन्नेव चाण्डालो मृतः श्वा चाभिजायते ॥

इति सांख्यायनतन्त्रवचनेन गुरुमुखागमं विना जपस्य निषेधात् ॥

प्रातःकृत्यम्

भूप्रार्थनादिमुखक्षालनान्तम्

प्रातः प्रभृति सायान्तं सायादिप्रातरन्ततः ।
यत्करोमि जगद्योनें तदस्तु तव पूजनम् ॥
मञ्जुसिञ्जितमञ्जीरं वामधर्मं महेशितुः ।
आश्रयामि जगन्मूलं यन्मूलं सचराचरम् ॥

प्रातः स्मरामि ललितावदनारविन्दं
बिम्बाधरं पृथुलमौक्तिकशोभिनासम् ।
आकर्णदीर्घनयनं मणिकुण्डलाढ्यं
मन्दस्मितं मृगमदोज्ज्वलभालदेशम् ॥१॥

प्रातर्भजामि ललिता भुजकल्पवल्लीं
रक्ताङ्गुलीयलसदङ्गुलिपल्लवाढ्याम् ।
माणिक्यहेमवलयाङ्गदशोभमानां
पुण्ड्रेक्षुचापकुसुमेषुसृणीर्दधानाम् ॥२॥
प्रातर्नमामि ललिताचरणारविन्दं
भक्तेष्टदाननिरतं भवसिन्धुपोतम् ।
पद्मासनादिसुरनायकपूजनीयं
पद्माङ्कुशध्वजसुदर्शनलाञ्छनाढ्यम् ॥३॥
प्रातः स्तुवे परशिवां ललितां भवानीं
त्रय्यन्तवेद्यविभवां करुणानवद्याम् ।
विश्वस्य सृष्टिविलयस्थितिहेतुभूतां
विद्येश्वरीं निगमवाङ्मनसातिदूराम् ॥४॥
प्रातर्वदामि ललिते तव पुण्यनाम
कामेश्वरीति कमलेति महेश्वरीति ।
श्रीशाम्भवीति जगतां जननी परेति
वाग्देवतेति वचसा त्रिपुरेश्वरीति ॥५॥
यः श्लोकपञ्चकमिदं ललिताम्बिकायाः
सौभाग्यदं सुललितं पठति प्रभाते ।
तस्मै ददाति ललिता झटिति प्रसन्ना
विद्यां श्रियं विपुलसौख्यमनन्तकीर्तिम् ॥६॥

भूप्रार्थना

समुद्र वसने देवि पर्वतस्तनमण्डिते ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादचारं क्षमस्व मे ॥

इति भूमिं सम्प्रार्थ्य, धरणीतलन्यस्तवहन्नाड़ीपार्श्वपादमुत्थाय ग्रामाद्बहिः स्मार्तेन विधिना निर्वर्तितशौचक्रमः ।

दन्तधावनम्

आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजा पशुवसूनि च ।
ब्रह्मप्रज्ञाञ्च मेधाञ्च त्वं नो देहि वनस्पते ॥

इति मन्त्रेण दन्तधावनकाष्ठमभिमन्त्र्य 'ऐंह्रीँश्रीं, 'क्लीं कामदेवाय-सर्वजनप्रियाय नमः' (इति मन्त्रेण दन्तधावनम्) । ऐंह्रींश्रीं हृल्लेखया जिह्वोल्लेखनं च विधाय कफविमोचननासाशोधनदूषिकानिरसनपूर्वकं-विहितविंशतिगण्डूषः । ऐंह्रींश्रीं, 'श्रीं' । ऐं ह्रीं श्रीं 'ॐ ह्रीं श्रीं कमले कमलालये प्रसीद प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीं ॐ महालक्ष्म्यै नमः' । ऐंह्रींश्रीं 'श्रीं ह्रीं क्लीं' । ऐंह्रींश्रीं 'श्रींसहकलह्रीं श्रीं' इति मन्त्रचतुष्टयेन मुखं प्रक्षाल्य यथा स्मृत्याचामेत् ।

स्नानविधिः

ततो नद्यादौ वैदिकस्नानोत्तरं श्रीललितप्रीत्यर्थं तान्त्रिकस्नानं करिष्ये, इति सङ्कल्प्य, जले पुरतो हस्तमात्रं चतुरस्रमण्डलं परिगृह्य तत्र—

ब्रह्माण्डोदरतीर्थानि करैः स्पृष्टानि ते रवे ।
तेन सत्येन मे देव तीर्थं देहि दिवाकर ॥

इति सूर्यमभ्यर्च्य,

आवाहयामि त्वां देवि स्नानार्थमिह सुन्दरि ।
एहि गङ्गे नमस्तुभ्यं सर्वतीर्थसमन्विते ॥

(इति गङ्गामर्थयित्वा) ऐंह्रींश्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः क्रों, इत्यङ्कुश-मुद्रया सूर्यमण्डलं भित्वा गङ्गादिसर्वतीर्थावाहनोत्तरं "वं" इति सलिल-बीजेन सप्तवारमभिमन्त्र्य मुहुर्मुहुरावर्तयन् मूर्ध्नि त्रीनुदकाञ्जलीन् दत्वा त्रींश्च पीत्वा, मूलपूर्वं श्रीललितां तर्पयामीति त्रिस्तर्पणं मूलेन त्रिः-प्रोक्षणञ्चात्मनो योनिमुद्रया विदध्यात्) ।

(गृहे तु विना तर्पणम् । अशक्तौ च स्मार्तेन पथा मन्त्रभस्मनोरन्यतर-न्निर्वर्त्य मूलेन त्रिराचमनप्रोक्षणे केवलं कुर्यात्) ।

सन्ध्याविधिः

अथ धौते वाससी परिधाय विधृतपुण्ड्रः वैदिकीं सन्ध्यामभिवन्द्य तान्त्रिकीमाचरेत् । यथा—मूलेन त्रिराचम्य द्विः परिमृज्य सकृदुपस्पृश्य चक्षुषी नासिके श्रोत्रे अंसौ नाभिं हृदयं शिरश्चाभिमृशेत् । एवं त्रिराचम्य पूर्ववत्प्राणानायम्य त्रिरात्मानञ्च प्रोक्ष्य अञ्जलिना सलिलमादाय 'ऐं ह्रीं श्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं सः मार्तण्डभैरवाय प्रकाशशक्तिसहिताय स्वाहा' इति मन्त्रेण उदयते विवस्वते त्रिरर्घ्यं दत्वा तन्मण्डले श्रीचक्रमनुचिन्त्य तत्र ध्यायेत्—

ध्यायेत्कामेश्वराङ्कस्थां कुरुविन्दमणिप्रभाम् ।
शोणाम्बरस्रगालेपां सर्वाङ्गीणविभूषणाम् ॥
सौन्दर्यशेवधिं सेषुचापपाशाङ्कुशोज्ज्वलाम् ।
स्वभाभिरणिमाद्याभिः सेव्यां सर्वनियामिकाम् ॥
सच्चिदानन्दवपुषं सदयापाङ्गविभ्रमाम् ।
सर्वलोकैकजननीं स्मेरास्यां ललिताम्बिकाम् ॥

(अत्रायुधानां क्रमः स्वरूपञ्च सपर्याप्रकरणे वक्ष्यते)

ततः—'ऐं ह्रीं श्रीं क ए ई ल ह्रीं त्रिपुरसुन्दरि विद्महे,
ऐं ह्रीं श्रीं ह स क ह ल ह्रीं पीठकामिनि धीमहि,
ऐं ह्रीं श्रीं स क ल ह्रीं तन्नः क्लिन्ने प्रचोदयात्'

(इति मन्त्रेण महेश्यै त्रिरर्घ्यं दत्वा मूलेन त्रिस्सन्तर्प्य, मूलेन पूर्ववदाचम्य जपप्रकरणे वक्ष्यमाणान् ऋष्यादीन् न्यस्य मूलमष्टोत्तरशतवारमावर्तयेत्) । ततः पुनः कराङ्गन्यासादिकं कृत्वा जपं वक्ष्यमाणमन्त्रेण श्रीदेव्यै समर्प्याचम्य मण्डलस्थं तीर्थं विसर्जनमुद्रया सूर्ये विसृजेत् ।

अथ सपर्यासाधनानि सम्पाद्य ब्रह्मयज्ञादि निर्वर्तयेद् । इति शिवम् ॥

प्रथममाह्निकप्रकरणं समाप्तम्

श्रीविद्यासपर्या-प्रकरणम्

ॐ श्रीगुरुभ्यो नमः ।

ॐ श्रीमहागणपतये नमः ।

ॐ श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः ।

ब्रह्मविद्यासम्प्रदायगुरुस्तोत्रम्

आब्रह्मलोकादाशेषादालोकालोकपर्वतात् ।
ये वसन्ति द्विजा देवास्तेभ्यो नित्यं नमाम्यहम् ॥

ॐनमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशर्षिभ्यो नमो गुरुभ्यः, सर्वोपप्लवरहितप्रज्ञानघनप्रत्यगर्थो ब्रह्माहमस्मि, सोहमस्मि, ब्रह्माहमस्मि ॥

श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं
सिद्धौघं वटुकत्रयं पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम् ।
वीरान्द्व्यष्टचतुष्कषष्टिनवकं वीरावलीपञ्चकं,
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम् ॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

वन्दे गुरुपदद्वन्द्वमवाङ्मनसगोचरम् ।
रक्तशुक्लप्रभामिश्रमतर्क्यं त्रैपुरं महः ॥

नारायणं पद्मभुवं वसिष्ठं, शक्तिं च तत्पुत्रपराशरञ्च ।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं, गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकञ्च शिष्यम् ।
तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि ॥

यागमन्दिर-प्रवेशः

ऐं ह्रीं श्रीं भं भद्रकाल्यै नमः। (द्वारस्य दक्षशाखायां)
३ भं भैरवाय नमः। (,, वामशाखायां)
३ लं लम्बोदराय नमः। (,, ऊर्ध्वशाखायां)

(इति द्वारदेवताः सम्पूज्य)।

तत्त्वाचमनम्

ऐं ह्रीं श्रीं ऐं कएईलह्रीं आत्मतत्त्वं शोधयामि स्वाहा।
३ क्लीं हसकहलह्रीं विद्यातत्त्वं शोधयामि स्वाहा।
३ सौः सकलह्रीं शिवतत्त्वं शोधयामि स्वाहा।
३ ऐं कएईलह्रीं क्लीं हसकहलह्रीं सौः सकलह्रीं सर्वतत्त्वं शोधयामि स्वाहा॥

गुरुपादुकामन्त्र

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं, ऐं क्लीं सौः, हंसः शिवः सोहं, ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयं ह्सौः सहक्षमलवरयीं स्हौः हंसः शिवः सोहं स्वरूपनिरूपणहेतवे श्रीगुरवे नमः, अमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः॥

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं, ऐं क्लीं सौः, सोहं हंसः शिवः, ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं ह्सौः सहक्षमलवरयीं स्हौः सोहं हंसः शिवः स्वच्छप्रकाशविमर्शहेतवे श्रीपरमगुरवे नमः, अमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः॥

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं, ऐं क्लीं सौः, हंसः शिवः सोहं हंसः, ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं ह्सौः सहक्षमलवरयीं स्हौः हंसः शिवः सोहं हंसः स्वात्मारामपञ्जरविलीनतेजसे श्रीपरमेष्ठिगुरवे नमः, अमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः॥

इति मृगीमुद्रया गुरुपादुकामुच्चार्य, सुमुख-सुवृत्त-चतुरस्रमुद्गर-योन्याख्याभिः पञ्चमुद्राभिः श्रीगुरून् वामभुजे प्रणम्य, गणपतिमूलेन स्वदक्षभुजे योनिमुद्रया महागणपतिं प्रणमेत्॥

घण्टापूजा

हे घण्टे सुस्वरे पीठे घण्टाध्वनिविभूषिते ।
वादयन्ति परानन्दे घण्टादेवं प्रपूजयेत् ॥
आगमार्थं च देवानां गमनार्थं तु रक्षसाम् ।
कुर्यात् घण्टारवं तत्र देवताह्वानलाञ्छनम् ॥

(इति घण्टानादं कृत्वा) ॥

सङ्कल्पः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥

मूलेन प्राणानायम्य । देशकालौ संकीर्त्य—

मम श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीप्रीत्यर्थं यथासम्भवद्रव्यैः यथाशक्ति सपर्याक्रमं निर्वर्तयिष्ये, तेन परमेश्वरं प्रीणयामि ॥

आत्मानं-अलङ्कृत्य ताम्बूलेन सुरभिलवदनः सन् प्रमुदितचित्तः शिवोऽहं इति भावयेत् ॥

आसनपूजा

(आसनमास्तीर्य दक्षिणहस्ते जलमादाय "सौः" इति द्वादशवारमभिमन्त्र्य तज्जलेन मूलमन्त्रेण आसनं प्रोक्षयेत्) ॥

अस्य श्री आसनमहामन्त्रस्य—पृथिव्याः मेरुपृष्ठ ऋषिः, सुतलं छन्दः, कूर्मो देवता, आसने विनियोगः ॥

पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम् ॥

योगासनाय नमः, वीरासनाय नमः, शरासनाय नमः ।
ऐं ह्रीं श्रीं ॐ ह्रीं आधारशक्तिकमलासनाय नमः ॥

(इति पुष्पाक्षतैः आसनमभ्यर्च्य आसने-उपविशेत्) ॥

ऐं ह्रीं श्रीं रक्तद्वादशशक्तियुक्ताय द्वीपनाथाय नमः ।

(इति भूमौ पुष्पाञ्जलिं विकिरेत्) ॥

देहरक्षा

ऐं ह्लीं श्रीं श्रीमहात्रिपुरसुन्दरि आत्मानं रक्ष रक्ष—

(इति देहे त्रिः व्यापकं कृत्वा) ॥

गुं गुरुभ्यो नमः । (दक्षबाहौ)

गं गणपतये नमः । (वामबाहौ)

दुं दुर्गायै नमः । (दक्षोरौ)

वं वटुकाय नमः । (वामोरौ)

यां योगिनीभ्यो नमः । (नाभौ)

क्षं क्षेत्रपालाय नमः । (नाभौ)

पं परमात्मने नमः । (हृदये)

३ ॐ नमो भगवति तिरस्करिणि महामाये महानिद्रे सकलपशु-जनमनश्चक्षुःश्रोत्रतिरस्करणं कुरु कुरु स्वाहा ॥

३ हसन्ति हसितालापे मातङ्गिपरिचारिके मम भयविघ्नापदां नाशं कुरु कुरु ठः ठः ठः हुं फट् स्वाहा ॥

३ ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनि देवदेवि सर्वभूतसंहारकारिके जातवेदसि ज्वलन्ति ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल ह्लां ह्लीं ह्लूं र र र र र र र हुं फट् स्वाहा—(इति परितोवह्निप्राकारं विभाव्य) भूर्भुवस्स्वरों, इति दिग्बन्धः ॥

परमामृतवर्षेण प्लावयन्तं चराचरम् ।
सञ्चिन्त्य परमद्वैतभावनाऽमृतसेवया ॥
मोदमानो विस्मृतान्यविकल्पविभवभ्रमः ।
चिदम्बुधिमहाभङ्गच्छिन्नसङ्कोचसङ्कटः ॥

(इति—कुण्डलिनीमुत्थाप्य—शरीरममृतेनाप्लावितं विभाव्य ।)

३ समस्तप्रकट गुप्त-गुप्ततर-सम्प्रदाय-कुलोत्तीर्ण-निगर्भ-रहस्यातिरहस्य-परापरातिरहस्ययोगिनीदेवताभ्यो नमः ॥ (इति यन्त्रे पुष्पाञ्जलिं दत्वा) ॥

ऐं ह्रीं श्रीं ऐं ह्रः अस्त्राय फट्—इति अस्त्रमन्त्रेण मुहुरावृत्तेन अङ्गुष्ठादि-कनिष्ठिकान्तं करतलयोः कूर्परयोः देहे च व्यापकं कुर्यात् ॥

३ श्रीगुरो दक्षिणामूर्ते भक्तानुग्रहकारक ।
अनुज्ञां देहि भगवन् श्रीचक्रयजनाय मे ॥

३ अतिक्रूर महाकाय कल्पान्तदहनोपम ।
भैरवाय नमस्तुभ्यमनुज्ञां दातुमर्हसि ॥

लघुप्राणप्रतिष्ठा

३ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं ॐ हंसः सोहं, सोहं हंसः शिवः, श्रीचक्रस्य प्राणा इह प्राणाः ॥

३ आं ह्रीं क्रों श्रीचक्रस्य जीव इह स्थितः । सर्वेन्द्रियाणि वाङ्मनश्चक्षुः-श्रोत्रजिह्वाघ्राणा इहैवागत्य अस्मिन् चक्रे सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा ॥

३ ॐ असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया नस्स्वस्ति ॥

मन्दिरपूजा

ऐं ह्रीं श्रीं अमृताम्भोनिधये नमः
३ रत्नद्वीपाय नमः
३ नानावृक्षमहोद्यानाय नमः
३ कल्पवाटिकायै नमः
३ सन्तानवाटिकायै नमः
३ हरिचन्दनवाटिकायै नमः
३ मन्दारवाटिकायै नमः
३ पारिजातवाटिकायै नमः
३ कदम्बवाटिकायै नमः
३ पुष्परागरत्नप्राकाराय नमः
३ पद्मरागरत्नप्राकाराय नमः
३ गोमेधकरत्नप्राकाराय नमः
३ वज्ररत्नप्राकाराय नमः
३ वैडूर्यरत्नप्राकाराय नमः
३ इन्द्रनीलरत्नप्राकाराय नमः
३ मुक्तारत्नप्राकाराय नमः
३ मरकतरत्नप्राकाराय नमः
३ विद्रुमरत्नप्राकाराय नमः
३ माणिक्यमण्डपाय नमः
३ सहस्रस्तम्भमण्डपाय नमः
३ अमृतवापिकायै नमः
३ आनन्दवापिकायै नमः
३ विमर्शवापिकायै नमः
३ बालातपोद्गाराय नमः

३ चन्द्रिकोद्गाराय नमः	३ मणिमयमहासिंहासनाय नमः
३ महाश्रृङ्गारपरिघायै नमः	३ ब्रह्ममयैकमञ्चपादाय नमः
३ महापद्माटव्यै नमः	३ विष्णुमयैकमञ्चपादाय नमः
३ चिन्तामणिमयगृहराजाय नमः	३ रुद्रमयैकमञ्चपादाय नमः
३ पूर्वाम्नायमयपूर्वद्वाराय नमः	३ ईश्वरमयैकमञ्चपादाय नमः
३ दक्षिणाम्नायमयदक्षिण-द्वाराय नमः	३ सदाशिवमयैकमञ्चफलकाय नमः
	३ हंसतूलिकातल्पाय नमः
३ पश्चिमाम्नायमयपश्चिम-द्वाराय नमः	३ हंसतूलिकामहोपधानाय नमः
	३ कौसुम्भास्तरणाय नमः
३ उत्तराम्नायमयोत्तरद्वाराय नमः	३ महावितानकाय नमः
३ रत्नप्रदीपवलयाय नमः	३ महामायायवनिकायै नमः

इति चतुश्चत्वारिंशन्मन्दिरमन्त्रैः तत्तदखिलं भावयन्कुसुमाक्षतैरभ्यर्चयेत् ।

दीपपूजा

स्वदक्षभागे गन्धपुष्पाक्षतादीन्निधाय दीपानभितः प्रज्वाल्य ॥

घृतदीपो दक्षिणे स्यात्तैलदीपस्तु वामतः ।

सितवर्तियुतो दक्षे रक्तवर्तिस्तु वामतः ॥

(दक्षवामभागौ देव्या एव)

ऐं ह्रीं श्रीं दीपदेवि महादेवि शुभं भवतु मे सदा ।

यावत्पूजासमाप्तिः स्यात्तावत्प्रज्वल सुस्थिरा ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं दद्यात्) ॥

(मूलेन चक्रमध्ये पुष्पाञ्जलिं विकीर्य, मूलत्रिखण्डेन स्वाग्रवामदक्षकोणेषु पुष्पाञ्जलीन्दद्यात्) ॥

भूतशुद्धिः

यथा—सुषुम्ना वर्त्मना वायुमाकृष्य 'हुं' बीजेन मूलाधारस्थपद्मस्थित त्रिकोणस्थितज्योतिर्मयलिङ्गं परिवेष्ट्य स्थितां सार्धत्रिवलयां कुण्डलिनीं विद्युत्पुञ्जपिञ्जरां विवस्वदयुतभास्वत्प्रकाशां परःशतसुधामयूखशीतलां तेजस्वरूपामुत्थाप्य 'जीवशिवं परमशिवे संयोजयामि स्वाहा' इति मन्त्रेण दीपकलिकाकारं हृदिस्थं जीवं कुण्डलिनीमुखेन ब्रह्मरन्ध्रं नीत्वा परमशिवेनैकीभूतं हंसः सोऽहमिति भावयन् वायुमिडया रेचयेत् ।

ततो वामकुक्षिस्थितं पापपुरुषमङ्गुष्ठपरिमाणकं विप्रहत्याशिरोयुक्तं कनकस्तेयबाहुकं मदिरापानहृदयं गुरुतल्पकटीयुक्तं तत्संयोगिपरद्वन्द्वमुपपातकरोमकं खड्गचर्मधरं दुष्टमधोवक्त्रं विचिन्तयेत् ।

ततो "यं यं" इति वायुबीजं स्मरन् वायुं पिङ्गलयापूर्यैनं शोषयेत् । ततो "रं रं" इति वह्निबीजेन पूरकापेक्षया द्विगुणितकालं कुम्भकं विधाय पापपुरुषं 'यं' इति वायुबीजं ततोऽप्यधिककालं जपित्वेडया तद्भस्म रेचकेन बहिर्निष्कासयेत् । ब्रह्मरन्ध्रगते चन्द्रमण्डलेऽमृतवर्षिणीं भवानीं भूमिशुद्ध्यर्थं भावयेत् । ततस्तन्मौलिनिःस्यन्दसुधाकल्लोलवृष्टिभिश्चिन्तयेन्मनसाऽऽत्मानम् । इयं भूमिशुद्धिः ।

ततश्च स्वशिरसि कामेश्वरीकामेश्वरयोः रक्तशुक्लचरणन्यासं भावयित्वा तदमृतक्षरणेन सबाह्याभ्यन्तरमात्मानं भावयेदिति भूशुद्धिः ।

अत्र केचिद्वदन्ति—मातृकाः प्रणवं भूतानि च ब्रह्मरन्ध्रे प्रविलाप्य सच्चिन्मयो भूत्वा पापपुरुषं चिन्तयेत् । पापपुरुषोत्थं भस्म 'वं' इति सुधाबीजेन सम्प्लावयेत् । लं लं इति भूबीजेन तद्भस्म कनकाण्डवद् घनीभावमापाद्य विशुद्धमुकुराकारं ब्रह्मरन्ध्रगतं तत्स्मरेत् । आकाशादीनि भूतानि पुनरुत्पादयेत् । ततोऽखण्डं ब्रह्म, तस्मात्तत्प्रेरकः पुरुषः, ततः प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, ततोऽहंकारः, ततोऽहं त्रिगुणात्मकः, तत आकाशः, आकाशाद्वायुः, वायोस्तेजः, तेजसो जलम्, जलात्पृथ्वी, पृथ्व्या ओषधयः,

ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, पुरुषोऽन्नरसमयः हंसः सोऽहमिति-कुण्डलिनीं जीवमादाय परसङ्गात्सुधामयीं संस्थाप्य हृदयाम्भोजे मूलाधार-गतां स्मरेदिति ।

वयन्तु पापपुरुषोत्थभस्मनस्सकाशादप्रामाणिकतमोमहदाद्युत्पत्यपेक्षया पापपुरुषदाहोत्थं भस्म पार्थिवप्रपञ्चेन साकं पृथिव्यां प्रविलीयते, पृथिव्या-दिकं क्रमेण ब्रह्मणि प्रविलीयते, ततस्तमोमहदादीनामुत्पत्तिरिति युक्तं पश्यामः, अत्र श्रुतिस्मृतिप्रमाणबहुलस्योपलब्धेः ।

मन्त्रमहार्णवरीत्या तु—स्वशरीरयुतं पापं 'रं' इति वह्निबीजेन कुम्भके दहेत्, ततो रेचके स्वशरीरात् पापोत्थं भस्म बहिर्निष्कासयेत् । ततो देहोत्थं भस्म 'वं' इति सुधाबीजेन सम्प्लाव्य 'लं' बीजेन घनीभूतं पिण्डं कृत्वा कन-काण्डवद्भावयेत् । ततो मूर्धादिनखान्ताः देहावयवाः मनसा रचनीया इति ।

वस्तुतस्तु देहोत्थभस्मपिण्डं पृथिव्यां पृथिव्यादिकं सर्वं जगद् ब्रह्मणि विलाप्य ततो महदादिक्रमेण पञ्च भूतानि समुत्पाद्य ततो दिव्यदेहं रचयेदि-त्येव शोभनम् । अत एवेडया लं वं रं यं हं इति पञ्च भूतबीजानि स्मरन् हंसः सोऽहमिति च स्मरन् उपसंहारक्रमेण मातृका भूतानि प्रणवे ब्रह्मणि विलापयेत् । तद्यथा—सकारं हकारे, हकारं सकारे, सकारं षकारे, षकारं शकारे, शकारं वकारे, वकारम् अःकारे, अःकारं अंकारे, अंकारं अकारे अकारं ब्रह्मरन्ध्रे प्रणवात्मके ब्रह्मणि प्रविलापयेत् ।

भूतोपसंहारः

पादादिजानुपर्यन्तं चतुष्कोणं लं बीजाढ्यं स्वर्णवर्णं स्मरेदवनिमण्डलम् । जान्वोरुपरि नाभिपर्यन्तं चन्द्रार्धनिभं पद्मद्वयाकृति वं बीजयुक्तं श्वेताभं मं सोममण्डलं स्मरेत् । नाभेर्हृदयपर्यन्तं त्रिकोणं स्वस्तिकासनं रं बीजेन युतं रक्तं स्मरेत् पावकमण्डलम् । हृदो भ्रूमध्यपर्यन्तं वृत्तं षट्बिन्दुलाञ्छितं यं बीजयुक्तं धूम्राभं वायव्यं मण्डलं स्मरेत् । आब्रह्मरन्ध्रं भ्रूमध्याद्वृत्तं स्वच्छं मनोहरं हं बीजयुक्तमाकाशमण्डलञ्च विचिन्तयेत् । एवं भूतानि विचिन्त्य

प्रत्येकं स्वकारणे प्रविलापयेत्—भुवं जले, जलं वह्नौ, वह्निं वायौ, वायुं नभसि, अमुम् अहङ्कारे, महत्तत्त्वेऽप्यहङ्कृतं, महान्तं प्रकृतौ, मायामात्मनि च प्रविलापयेत् ।

पुनश्च वमित्यमृतबीजेनेडया वायुमापूर्य तस्मादेव ब्रह्मणस्तमोमहदादि-क्रमेण भूतान्युत्पाद्य तैर्दिव्यमुपासनोपयोगि देहमुत्पादयेत् । तथा हि—ब्रह्मणोऽव्यक्तं, ततो महान्, महतोऽहंकारः, तत आकाशः, ततो वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, ततो भूः इति दिव्यैः पञ्चभूतैर्दिव्यभावनया दिव्य-देहोत्पत्तिं भावयेत् । ततः कुण्डलिनीं ब्रह्मरन्ध्रादवतार्य हृदयाम्भोजे जीवं निधाय मूलाधारस्थितां कुण्डलिनीं विभावयेदिति भूतशुद्धिः ।

आत्मप्राणप्रतिष्ठा

(अथ हृदि हस्तं दत्वा) ॐ आं ह्रीं क्रों मम सर्वेन्द्रियाणि, ॐ आं ह्रीं क्रों मम वाङ्मनस्त्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणप्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा ।

ततो मम गर्भाधानादिपञ्चदशसंस्कारसिद्ध्यर्थं पञ्चदशामुकमन्त्रावृत्तीः करिष्ये (इति सङ्कल्प्य) पञ्चदशवारं प्रणवं स्वेष्टं मन्त्रं वा आवर्तयेत् ।

रक्ताम्भोधिस्थपोतोल्लसदरुणसरोजाधिरूढा कराब्जैः
पाशं कोदण्डमिक्षूद्भवमथगुणमप्यङ्कुशं पञ्चबाणान् ।
बिभ्राणाऽसृक्कपालं त्रिनयनलसिता पीनवक्षोरुहाढ्या
देवी बालार्कवर्णा भवतु सुखकरी प्राणशक्तिः परा नः ॥

(इति प्राणप्रतिष्ठा)

(नित्योत्सवरीत्या भूतशुद्धिः) पाञ्चभौतिकं सङ्कोचशरीरमेव यमिति वायुबीजेन शोषितं विभाव्य, रं बीजेन प्लुष्टं भस्मीकृतं विभाव्य, वमित्य-मृतबीजेन तद्भस्म सहस्रारेन्दुमण्डलविगलदमृतरसेन सिक्तं विभाव्य लमिति भूबीजेन तद्भस्मना शाम्भवं दिव्यं शरीरमुत्पन्नं विभाव्य हंसः सोऽहम् इति शिवपदाज्जीवमवतार्य मूलाधारे स्थापितं भावयेत् । तस्मिन्नेव आं सोऽहमिति त्रिःपठित्वा प्राणप्रतिष्ठां कुर्यात् ।

मूलेन षोडशधा दशधा त्रिधा वा प्राणानायच्छेत् ।

'ऐं ह्रीं श्रीं' अपसर्पन्तु ते भूताः ये भूताः भुवि संस्थिताः ।
ये भूताः विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥

इत्युच्चार्य युगपद्वामपार्ष्णिभूतलाघातत्रय-करास्फोटनत्रय-क्रूरदृष्ट्यवलोकन–तालत्रयेण भौमान्तरिक्षदिव्यान् भेदावभासकान् विघ्नानुत्सारयेत् । अथ 'नमः' इत्यङ्गुष्ठमन्त्रमुच्चारयन् अङ्कुशेन शिखां बद्ध्वा श्रीदेवीरूपं भावयन्नात्मानं स्वदेहे न्यासजालात्मकं वज्रकवचं विदधीत ।

मातृकान्यासः

अस्य श्रीमातृकासरस्वतीन्यासमहामन्त्रस्य ब्रह्मणे ऋषये नमः शिरसि, गायत्री छन्दसे नमः मुखे, श्रीमातृकासरस्वती देवतायैः नमः हृदि, हल्भ्यो बीजेभ्यो नमः गुह्ये, स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः पादयोः, बिन्दुभ्यः कीलकेभ्यो नमः नाभौ, मम श्रीविद्याङ्गत्वेन न्यासे विनियोगाय नमः करसम्पुटे ॥

सर्वमातृकया सर्वाङ्गे अञ्जलिना त्रिर्व्यापकं कुर्यात् ॥

६	अं कं खं गं घं ङं आं	अङ्गुष्ठाभ्यां नमः
६	इं चं छं जं झं ञं ईं	तर्जनीभ्यां नमः
६	उं टं ठं डं ढं णं ऊं	मध्यमाभ्यां नमः
६	एं तं थं दं धं नं ऐं	अनामिकाभ्यां नमः
६	ओं पं फं बं भं मं औं	कनिष्ठिकाभ्यां नमः
६	अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः	करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः

एवं हृदयादिन्यासः । भूर्भुवस्स्वरोम् इति दिग्बन्धः ॥

ध्यानम्

पञ्चाशद्वर्णभेदैर्विहितवदनदोःपादयुक्कुक्षिवक्षो–
देशां भास्वत्कपर्दाकलितशशिकलामिन्दुकुन्दावदाताम् ।
अक्षस्रक्कुम्भचिन्तालिखितवरकरां त्रीक्षणामब्जसंस्था-
मच्छाकल्पामतुच्छस्तनजघनभरां भरतीं तां नमामि ॥

लमित्यादि पञ्चपूजां कृत्वा ।

मातृकाः त्रितारीबालापूर्विकाः स्वाङ्गेषु न्यसेत् ।

अन्तर्मातृका

६ अं नमः, आं नमः ++ अः नमः ॥
कण्ठे विशुद्धिचक्रे षोडशदलकमले ॥
६ कं नमः, खं नमः ++ ठं नमः ॥
हृदये अनाहते द्वादशदलकमले ॥
६ डं नमः, ढं नमः ++ फं नमः ॥
नाभौ मणिपूरे दशदलकमले ॥
६ बं नमः, भं नमः ++ लं नमः ॥
लिङ्गमूले स्वाधिष्ठाने षड्दलकमले ॥
६ वं नमः, शं नमः षं नमः सं नमः ॥
गुदोपरि मूलाधारे चतुर्दलकमले ॥
६ हं नमः, क्षं नमः ॥ भ्रुवोर्मध्ये आज्ञाचक्रे द्विदले ॥
६ अं नमः, आं नमः ++ क्षं नमः ॥
(५० वर्णाः) मूर्ध्नि सहस्रारे ॥

बहिर्मातृका

ऐं ह्रीं श्रीं एं क्लीं सौः
अं नमः (शिरसि)
६ आं ,, (मुखवृत्ते)
६ इं ,, (दक्षनेत्रे)
६ ईं ,, (वामनेत्रे)
६ उं ,, (दक्षकर्णे)
६ ऊं ,, (वामकर्णे)
६ ऋं ,, (दक्षनासापुटे)
६ ॠं ,, (वामनासापुटे)
६ ऌं ,, (दक्षकपोले)
६ ॡं ,, (वामकपोले)
६ एं ,, (ऊर्ध्वोष्ठे)
६ ऐं ,, (अधरोष्ठे)
६ ओं ,, (ऊर्ध्वदन्तपंक्तौ)
६ औं ,, (अधोदन्तपंक्तौ)
६ अं ,, (जिह्वाग्रे)
६ अः ,, (कण्ठे)
६ कं ,, (दक्षबाहुमूले)

६ खं ,, (दक्षकूर्परे)
६ गं ,, (दक्षमणिवन्धे)
६ घं ,, (दक्षकराङ्गुलिमूले)
६ ङं ,, (दक्षकराङ्गुल्यग्रे)
६ चं ,, (वामवाहुमूले)
६ छं ,, (वामकूर्परे)
६ जं ,, (वाममणिवन्धे)
६ झं ,, (वामकराङ्गुलिमूले)
६ ञं ,, (वामकराङ्गुल्यग्रे)
६ टं ,, (दक्षोरुमूले)
६ ठं ,, (दक्षजानुनि)
६ डं ,, (दक्षगुल्फे)
६ ढं ,, (दक्षपादाङ्गुलिमूले)
६ णं ,, (दक्षपादाङ्गुल्यग्रे)
६ तं ,, (वामोरुमूले)
६ थं ,, (वामजानुनि)
६ दं ,, (वामगुल्फे)
६ धं ,, (वामपादाङ्गुलिमूले)
६ नं ,, (वामपादाङ्गुल्यग्रे)
६ पं ,, (दक्षपार्श्वे)
६ फं ,, (वामपार्श्वे)
६ बं ,, (पृष्ठे)
६ भं ,, (नाभौ)
६ मं ,, (जठरे)
६ यं ,, (हृदये)
६ रं ,, (दक्षकक्षे)
६ लं ,, (गलपृष्ठे)
६ वं ,, (वामकक्षे)

६ शं नमः (हृदयादिदक्षकराङ्गुल्यन्तं)
६ षं ,, (हृदयादिवामकराङ्गुल्यन्तं)
६ सं ,, (हृदयादिदक्षपादाङ्गुल्यन्तं)
६ हं ,, (हृदयादिवामपादाङ्गुल्यन्तं)
६ ळं ,, (कट्यादिपादाङ्गुल्यन्तं)
६ क्षं ,, (कट्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तं)

करशुद्धिन्यासः

ऐं ह्रीं श्रीं अं नमः (दक्षकरतले)
३ आं नमः (तत्पृष्ठे)
३ सौः नमः (तत्पार्श्वयोः)
३ अं नमः (वामकरतले)
३ आं नमः (तत्पृष्ठे)
३ सौः नमः (तत्पार्श्वयोः)
३ अं नमः (मध्यमयोः)
३ आं नमः (अनामिकयोः)

३ सौः नमः (कनिष्ठिकयोः) ३ आं नमः (तर्जन्योः)

३ अं नमः (अङ्गुष्ठयोः) ३ सौः नमः (करतलकरपृष्ठयोः)

आत्मरक्षान्यासः

३ ऐंक्लींसौः श्रीमहात्रिपुरसुन्दरि आत्मानं रक्ष रक्ष (इत्यञ्जलिं हृदये दद्यात्)॥

बालाषडङ्गन्यासः

३ ऐं हृदयाय नमः ३ ऐं कवचाय हुं

३ क्लीं शिरसे स्वाहा ३ क्लीं नेत्रत्रयाय वौषट्

३ सौः शिखायै वषट् ३ सौः अस्त्राय फट्

चतुरासनन्यासः

३ ह्रीं क्लीं सौः देव्यात्मासनाय नमः (पादयोः)

३ हैं ह्क्लीं ह्सौः श्रीचक्रासनाय नमः (जान्वोः)

३ ह्सै ह्स्क्लीं ह्स्सौः सर्वमन्त्रासनाय नमः (ऊरुमूले)

३ ह्रीं क्लीं ब्लें साध्यसिद्धासनाय नमः (मूलाधारे)

वाग्देवतान्यासः

३ अं आं + + अः ब्लूँ वशिनीवाग्देवतायै नमः (शिरसि)

३ कं खं गं घं ङं क्लह्रीं कामेश्वरीवाग्देवतायै नमः (ललाटे)

३ चं छं जं झं ञं न्व्लीं मोदिनीवाग्देवतायै नमः (भ्रूमध्ये)

३ टं ठं डं ढं णं य्लूं विमलावाग्देवतायै नमः (कण्ठे)

३ तं थं दं धं नं ज्म्रीं अरुणावाग्देवतायै नमः (हृदये)

३ पं फं बं भं मं ह्स्ल्व्यूं जयिनीवाग्देवतायै नमः (नाभौ)

३ यं रं लं वं झ्म्रयूं सर्वेश्वरीवाग्देवतायै नमः (गुह्ये)

३ शं षं सं हं ळं क्षं क्ष्म्रीं कौलिनीवाग्देवतायै नमः (मूलाधारे)

बहिश्चक्रन्यासः

३ अं आं सौः चतुरस्रत्रयात्मकत्रैलोक्यमोहनचक्राधिष्ठात्र्यै अणिमाद्यष्टाविंशतिशक्तिसहितप्रकटयोगिनीरूपायै त्रिपुरादेव्यै नमः (पादयोः)

३ ऐं क्लीं सौः षोडशदलपद्मात्मकसर्वाशापरिपूरकचक्राधिष्ठात्र्यै कामाकर्षिण्यादिषोडशशक्तिसहित-गुप्तयोगिनीरूपायै त्रिपुरेश्वरीदेव्यै नमः (जान्वोः)

३ ह्रीं क्लीं सौः अष्टदलपद्मात्मकसर्वसंक्षोभणचक्राधिष्ठात्र्यै अनङ्गकुसुमाद्यष्टशक्तिसहित–गुप्ततरयोगिनीरूपायै त्रिपुरसुन्दरीदेव्यै नमः (ऊरुमूलयोः)

३ हैं ह्क्लीं ह्सौः चतुर्दशारात्मकसर्वसौभाग्यदायकचक्राधिष्ठात्र्यै सर्वसंक्षोभिण्यादिचतुर्दशशक्तिसहितसम्प्रदाययोगिनीरूपायै त्रिपुरवासिनीदेव्यै नमः (नाभौ)

३ ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः बहिर्दशारात्मकसर्वार्थसाधकचक्राधिष्ठात्र्यै सर्वसिद्धिप्रदादिदशशक्तिसहितकुलोत्तीर्णयोगिनीरूपायै त्रिपुराश्रीदेव्यै नमः (हृदये)

३ ह्रीं क्लीं ब्लें अन्तर्दशारात्मकसर्वरक्षाकरचक्राधिष्ठात्र्यै सर्वज्ञादिदशशक्तिसहित—निगर्भयोगिनीरूपायै त्रिपुरमालिनीदेव्यै नमः (कण्ठे)

३ ह्रीं श्रीं सौः अष्टारात्मकसर्वरोगहरचक्राधिष्ठात्र्यै वशिन्याद्यष्टशक्तिसहित—रहस्ययोगिनीरूपायै त्रिपुरासिद्धादेव्यै नमः (मुखे)

३ ह्स्रैं ह्स्क्लरीं ह्स्रौः त्रिकोणात्मकसर्वसिद्धिप्रदचक्राधिष्ठात्र्यै कामेश्वर्यादित्रिशक्तिसहितातिरहस्ययोगिनीरूपायै त्रिपुराम्बादेव्यै नमः (नेत्रयोः)

३ पञ्चदशी बिन्द्वात्मकसर्वानन्दमयचक्राधिष्ठात्र्यै षडङ्गायुधदशशक्तिसहित–परापरातिरहस्ययोगिनीरूपायै महात्रिपुरसुन्दरीदेव्यै नमः (मूर्ध्नि) ॥

अन्तश्चक्रन्यासः

३ अं आं सौः चतुरस्रत्रयात्मकत्रैलोक्यमोहनचक्राधिष्ठात्र्यै अणिमाद्यष्टाविंशतिशक्तिसहितप्रकटयोगिनीरूपायै त्रिपुरादेव्यै नमः (अधःसहस्रारे)

३ ऐं क्लीं सौः षोडशदलपद्मात्मकसर्वाशापरिपूरकचक्राधिष्ठात्र्यै कामाकर्षिण्यादिषोडशशक्तिसहितगुप्तयोगिनीरूपायै त्रिपुरेश्वरीदेव्यै नमः (मूलाधारे)

३ ह्रीं क्लीं सौः अष्टदलपद्मात्मकसर्वसंक्षोभणचक्राधिष्ठात्र्यै अनङ्गकुसुमाद्यष्टशक्तिसहित–गुप्ततरयोगिनीरूपायै त्रिपुरसुन्दरीदेव्यै नमः (स्वाधिष्ठाने)

३ हैं ह्क्लीं ह्सौः चतुर्दशारात्मकसर्वसौभाग्यदायकचक्राधिष्ठात्र्यै सर्व-संक्षोभिण्यादिचतुर्दशशक्तिसहितसम्प्रदाययोगिनीरूपायै त्रिपुरवासिनी-देव्यै नमः (मणिपुरे)

३ ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः बहिर्दशारात्मकसर्वार्थसाधकचक्राधिष्ठात्र्यै सर्व-सिद्धिप्रदादिदशशक्तिसहितकुलोत्तीर्णयोगिनीरूपायै त्रिपुराश्रीदेव्यै नमः (अनाहते)

३ ह्रीं क्लीं ब्लें अन्तर्दशारात्मकसर्वरक्षाकरचक्राधिष्ठात्र्यै सर्वज्ञादिदश-शक्तिसहित-निगर्भयोगिनीरूपायै त्रिपुरमालिनीदेव्यै नमः (विशुद्धौ)

३ ह्रीं श्रीं सौः अष्टारात्मकसर्वरोगहरचक्राधिष्ठात्र्यै वशिन्याद्यष्टशक्ति सहित—रहस्ययोगिनीरूपायै त्रिपुरासिद्धादेव्यै नमः (लम्बिकाग्रे)

३ ह्स्रैं ह्स्क्लरीं ह्स्रौः त्रिकोणात्मकसर्वसिद्धिप्रदचक्राधिष्ठात्र्यै कामे-श्वर्यादित्रिशक्तिसहितातिरहस्ययोगिनीरूपायै त्रिपुराम्बादेव्यै नमः (आज्ञाचक्रे)

३ पञ्चदशी बिन्द्वात्मकसर्वानन्दमयचक्राधिष्ठात्र्यै षडङ्गायुधदशशक्तिसहित-परापरातिरहस्ययोगिनीरूपायै महात्रिपुरसुन्दरीदेव्यै नमः (सहस्रारे)

पुनः आज्ञाचक्रस्य एकैकाङ्गुलोपरि देशे

अं आं सौः नमः (बिन्दौ)
ऐं क्लीं सौः नमः (अर्धचन्द्रे)
ह्रीं क्लीं सौः नमः (रोधिन्यां)
हैं ह्क्लीं ह्सौः नमः (नादे)
ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः नमः (नादान्ते)
ह्रीं क्लीं ब्लें नमः (शक्तौ)
ह्रीं श्रीं सौः नमः (व्यापिकायां)
ह्स्रैं ह्स्क्लरी ह्स्रौः नमः (समनायां)
पञ्चदशी नमः (उन्मनायां)
षोडशी नमः (ब्रह्मरन्ध्रे महाबिन्दौ)

कामेश्वर्यादिन्यासः

३ एं कएईलह्रीं अग्निचक्रे कामगिरिपीठे मित्रेशनाथ-नव-योनिचक्रात्मक-आत्मतत्व-सृष्टिकृत्य-जाग्रद्दशाधिष्ठायके-च्छाशक्ति-वाग्भवात्मक-वागीश्वरीस्वरूप-ब्रह्मात्मशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः। (मूलाधारे)

३ क्लीं हसकहलह्रीं सूर्यचक्रे जालन्धरपीठे षष्टीशनाथ-दशारद्वय चतुर्दशारचक्रात्मक-विद्यातत्व-स्थितिकृत्य-स्वप्नदशाधिष्ठायक-ज्ञानशक्ति-कामराजात्मक-कामकलास्वरूप - महावज्रेश्वरी - विष्ण्वात्मशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः। (अनाहते)

३ सौः सकलह्रीं सोमचक्रे पूर्णगिरिपीठे उड्डीशनाथ-अष्टदल-षोडशदल-चतुरस्रचक्रात्मक-शिवतत्व-संहारकृत्य-सुषुप्ति-दशाधिष्ठायक-क्रियाशक्ति-शक्तिबीजात्मक-परापरशक्ति-स्वरूप-महाभगमालिनी रुद्रात्मशक्तिश्री-पादुकां पूजयामि नमः। (आज्ञायां)

३ ऐं कएईलह्रीं क्लीं हसकहलह्रीं सौः सकलह्रीं परब्रह्मचक्रे महोड्याण-पीठे चर्यानन्दनाथ समस्तचक्रात्मक-सपरिवार-परमतत्व-सृष्टिस्थिति-संहारकृत्य-तुरीयदशाधिष्ठायकेच्छा-ज्ञानक्रियाशान्ताशक्ति-वाग्भवकाम-राजशक्तिबीजात्मक-परमशक्तिस्वरूप-श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी-परब्रह्मात्म-शक्ति-श्रीपादुकां पूजयामि नमः। (ब्रह्मरन्ध्रे)

मूलविद्यान्यासः

३ कं नमः (शिरसि)
३ एं नमः (मूलाधारे)
३ ईं नमः (हृदि)
३ लं नमः (दक्षनेत्रे)
३ ह्रीं नमः (वामनेत्रे)
३ हं नमः (भ्रूमध्ये)
३ सं नमः (दक्षश्रोत्रे)
३ कं नमः (वामश्रोत्रे)
३ हं नमः (मुखे)
३ लं नमः (दक्षभुजे)
३ ह्रीं नमः (वामभुजे)
३ सं नमः (पृष्ठे)
३ कं नमः (दक्षजानुनि)
३ लं नमः (वामजानुनि)
३ ह्रीं नमः (नाभौ)

अथ ऋष्यादिषडङ्गन्यासं यथोपदेशं कुर्यात् ॥

षोडश्युपासकानां विशेषन्यासाः

श्रीषोडशाक्षरीन्यासः

३ 'मूलं' नमः। दक्षमध्यमानामिकाभ्यां शिरसि न्यसेत्।
तत्र तां दीपाभां स्रवत्सुधारसां महासौभाग्यदां ध्यात्वा—

३ 'मूलं' नमः महासौभाग्यं मे देहि परसौभाग्यं दण्डयामि। (सौभाग्यदण्डिन्या मुद्रया वामकर्णसंवेष्टनपूर्वकं आमस्तकचरणं वामाङ्गे न्यसेत्)॥

३ 'मूलं' नमः मम शत्रून्निगृह्णामि। (रिपुजिह्वाग्रया मुद्रया वामपादाधो न्यसेत्)॥

३ 'मूलं' नमः त्रैलोक्यस्याहं कर्ता। (त्रिखण्डया मुद्रया फाले न्यसेत्)॥

३ 'मूलं' नमः। (त्रिखण्डया मुद्रया मुखवेष्टनत्वेन न्यसेत्)॥

३ 'मूलं' नमः। (त्रिखण्डया मुद्रया दक्षकर्णादिवामकर्णान्तं मुखवेष्टनत्वेन न्यसेत्।॥

३ 'ॐ मूलं' नमः। (त्रिखण्डया गलोर्ध्वमामस्तकं न्यसेत्)॥

३ 'ॐ मूलं' ॐ नमः। (त्रिखण्डया मुद्रया मस्तकात् पादपर्यन्तं पादादामस्तकञ्च न्यसेत्)॥

३ 'मूलं' नमः। (योनिमुद्रया मुखे न्यसेत्)॥

३ 'मूलं' नमः। (योनिमुद्रया ललाटे न्यसेत्)॥

सम्मोहनन्यासः

३ 'मूलं'। मूलविद्यां स्मृत्वा तत्प्रभया जगदरुणं विभावयन् अनामिकां मूर्ध्नि त्रिः परिभ्राम्य—

३ 'मूलं'। (ब्रह्मरन्ध्रे अङ्गुष्ठानामिके न्यसेत्)॥

३ 'मूलं'। (मणिबन्धद्वये) „

३ 'मूलं'। (फाले) „

३ 'मूलं'। (शाक्ततिलकं धारयेत्)॥

श्रीमहाषोडशी-अक्षरन्यासः—

संहारन्यासः

अथ त्रितारीनमस्सम्पुटितान् मूलविद्याषोडशार्णान् क्रमेण पादयोः जङ्घयोः जान्वोः कटिभागद्वये पृष्ठे लिङ्गे नाभौ पार्श्वयोः स्तनयोरंसयोः कर्णयोः मूर्ध्नि मुखे नेत्रयोः कर्णयुगलसन्निधौ कर्णवेष्टनयोश्च न्यसेत् । (अत्र कूटत्रयस्य वर्णत्रयत्वेन षोडशार्णत्वव्यपदेशः) । पादादिषु प्रथमं दक्षः ततो वाम इति बोध्यम् । यथा—

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं, श्रीं नमः पादयोः, ह्रीं नमः जङ्घयोः, क्लीं नमः जान्वोः, ऐं नमः कटिभागद्वये, सौः नमः पृष्ठे, ॐ नमः लिङ्गे, ह्रीं नमः नाभौ, श्रीं नमः पार्श्वयोः, क ए ई ल ह्रीं नमः स्तनयोः, हसकहलह्रीं नमः अंसयोः, सकलह्रीं नमः कर्णयोः, सौः नमः मूर्ध्नि, ऐं नमः मुखे, क्लीं नमः नेत्रयोः, ह्रीं नमः कर्णयुगसन्निधौ, श्रीं नमः कर्णवेष्टनयोः ।

सृष्टिन्यासः

पुनस्तथैव मूलविद्यार्णान् क्रमेण ब्रह्मरन्ध्रे भाले दृशोः कर्णयोः घ्राणपुटयोः गण्डयोः दन्तपंक्त्योः ऊर्ध्वाधरोष्ठयोः जिह्वायां चोरकूपे पृष्ठे सर्वाङ्गे हृदि स्तनयोरुदरे लिङ्गे च न्यस्य मूलेन व्यापकं कुर्यात् । यथा—

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं, श्रीं नमः ब्रह्मरन्ध्रे, ह्रीं नमः फाले, क्लीं नमः नेत्रयोः ऐं नमः कर्णयोः, सौः नमः नासापुटयोः, ॐ नमः गण्डयोः, ह्रीं नमः दन्तपंक्तौ, श्रीं नमः ओष्ठयोः, क ए ई ल ह्रीं नमः जिह्वायाम्, ह स क ह ल ह्रीं नमः कण्ठे, सकलह्रीं नमः पृष्ठे, सौः नमः सर्वांगे, ऐं नमः हृदि, क्लीं नमः स्तनयोः, ह्रीं नमः उदरे, श्रीं नमः लिङ्गे । व्यापकम् ।

स्थितिन्यासः

अथ पूर्वक्रमणैवाङ्गुष्ठादिकनिष्ठिकान्तकराङ्गुलिषु मूर्ध्नि मुखे हृदि आनाभेः पादद्वयावधि, कण्ठादानाभि मूर्ध्नि आकण्ठं पूर्ववत्पादाङ्गुलिषु च न्यसेत् । (अत्र दक्षवामकरचरणाङ्गुलिषु द्वयोर्द्वयोरेकैकमक्षरम्) । तथाहि—

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं, श्रीं नमः अङ्गुष्ठयोः, ह्रीं नमः तर्जन्योः, क्लीं नमः मध्यमयोः, ऐं नमः अनामिकयोः, सौः नमः कनिष्ठिकयोः ॐ नमः मूर्ध्नि,

ह्लीं नमः मुखे, श्रीं नमः हृदि, क ए ई ल ह्रीं नमः नाभौ, ह स क ह ल ह्रीं नमः कण्ठादिनाभ्यन्तम्, सकलह्रीं नमः मूर्धादिकण्ठान्तम्, सौः नमः पादाङ्गुष्ठयोः, ऐं नमः पादतर्जन्योः, क्लीं नमः पादमध्यमयोः ह्रीं नमः पादानामिकयोः, श्रीं नमः पादकनिष्ठिकयोः।

एते पञ्चैव ज्ञानार्णवमते। तन्त्रान्तरेषु तु अन्येऽपि पञ्चोपलभ्यन्ते।

एते पूर्वोक्तन्यासाः कर्तव्या एव, अन्येषामकरणे न प्रत्यवायः-करणे त्वभ्युदय एव।

लघुषोढान्यासः

अस्य श्रीलघुषोढान्यासस्य दक्षिणामूर्तये ऋषये नमः, (शिरसि) गायत्र्यै छन्दसे नमः, (मुखे) गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिपीठरूपिण्यै श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै देवतायै नमः (हृदये) श्रीविद्याङ्गत्वेन न्यासे विनियोगाय नमः (करसम्पुटे)।

ऐं ह्रीं श्रीं, अं कं खं गं घं ङं आं ऐं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः

" " " इं चं छं जं झं ञं ईं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः

" " " उं टं ठं डं ढं णं ऊं सौः मध्यमाभ्यां नमः

" " " एं तं थं दं धं नं ऐं ऐं अनामिकाभ्यां नमः

" " " ओं पं फं बं भं मं औं क्लीं कनिष्ठिकाभ्यां नमः

" " " अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः सौः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

एवमेव हृदयादिन्यासः। ध्यानम्—

उद्यत्सूर्यसहस्राभां पीनोन्नतपयोधराम्।
रक्तमाल्याम्बरालेपां रक्तभूषणभूषिताम्॥
पाशाङ्कुशधनुर्बाणभास्वत्पाणिचतुष्टयाम्।
लसन्नेत्रत्रयां स्वर्णमुकुटोद्भासिमस्तकाम्॥
गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम्।
देवीं पीठमयीं ध्यायेन्मातृकां सुन्दरीं पराम्॥

आयुधक्रमस्तु सपर्याप्रकरण एवोक्त इहानुसन्धेयः। इति श्रीदेवीं समष्टिरूपेण ध्यात्वा गणेशादिव्यष्टिरूपेण च ध्यायेत्।

गणेशन्यासः

तरुणादित्यसङ्काशान् गजवक्त्रांस्त्रिलोचनान् ।
पाशाङ्कुशवराभीतिकरान् शक्तिसमन्वितान् ॥
ते तु सिन्दूरवर्णाभाः सर्वालङ्कारभूषिताः ।
एकहस्तधृताम्भोजा इतरालिङ्गितप्रियाः ॥

वामोर्ध्वकरमारभ्य वामाधःकरपर्यन्तं गणेशानां पाशादिध्यानम् । शक्तीनान्तु वामकरे कमलं दक्षिणे च प्रियाश्लेष इति ध्यात्वा, मातृकास्थानेषु त्रितारीमातृकापूर्वकं गणेशान् न्यसेत् । यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं, अं श्रीयुक्ताय विघ्नेशाय नमः शिरसि,
३ आं ह्रींयुक्ताय विघ्नराजाय नमः मुखवृत्ते,
३ इं तुष्टियुक्ताय विनायकाय नमः दक्षनेत्रे,
३ ईं शान्तियुक्ताय शिवोत्तमाय नमः वामनेत्रे,
३ उं पुष्टियुक्ताय विघ्नहृते नमः दक्षकर्णे,
३ ऊं सरस्वतीयुक्ताय विघ्नकर्त्रे नमः वामकर्णे,
३ ऋं रतियुक्ताय विघ्नराजे नमः दक्षनासापुटे,
३ ॠं मेधायुक्ताय गणनायकाय नमः वामनासापुटे,
३ ऌं कान्तियुक्ताय एकदन्ताय नमः दक्षगण्डे,
३ ॡं कामिनीयुक्ताय द्विदन्ताय नमः वामगण्डे,
३ एं मोहिनीयुक्ताय गजवक्त्राय नमः ऊर्ध्वोष्ठे,
३ ऐं जटायुक्ताय निरञ्जनाय नमः अधरोष्ठे,
३ ओं तीव्रायुक्ताय कपर्दभृते नमः ऊर्ध्वदन्तपंक्तौ,
३ औं ज्वालिनीयुक्ताय दीर्घमुखाय नमः अधोदन्तपंक्तौ,
३ अं नन्दायुक्ताय शङ्कुकर्णाय नमः जिह्वाग्रे,
३ अः सुरसायुक्ताय वृषध्वजाय नमः कण्ठे,
३ कं कामरूपिणीयुक्ताय गणनाथाय नमः दक्षबाहुमूले,
३ खं सुभ्रूयुक्ताय गजेन्द्राय नमः दक्षकूर्परे,

३ गं जयिनीयुक्ताय शूर्पकर्णाय नमः दक्षमणिबन्धे,
३ घं सत्यायुक्ताय त्रिलोचनाय नमः दक्षकराङ्गुलिमूले,
३ ङं विघ्नेशीयुक्ताय लम्बोदराय नमः दक्षकराङ्गुल्यग्रे,
३ चं सुरूपायुक्ताय महानादाय नमः वामबाहुमूले,
३ छं कामदायुक्ताय चतुर्मूर्त्तये नमः वामकूर्परे,
३ जं मदविह्वलायुक्ताय सदाशिवाय नमः वाममणिबन्धे,
३ झं विकटायुक्ताय आमोदाय नमः वामकराङ्गुलिमूले,
३ ञं पूर्णायुक्ताय दुर्मुखाय नमः वामकराङ्गुल्यग्रे,
३ टं भूतिदायुक्ताय सुमुखाय नमः दक्षोरुमूले,
३ ठं भूमियुक्ताय प्रमोदाय नमः दक्षजानुनि,
३ डं शक्तियुक्ताय एकपादाय नमः दक्षगुल्फे,
३ ढं रमायुक्ताय द्विजिह्वाय नमः दक्षपादाङ्गुलिमूले,
३ णं मानुषीयुक्ताय शूराय नमः दक्षपादाङ्गुल्यग्रे,
३ तं मकरध्वजायुक्ताय वीराय नमः वामोरुमूले,
३ थं वीरिणीयुक्ताय षण्मुखाय नमः वामजानुनि,
३ दं भ्रुकुटीयुक्ताय वरदाय नमः वामगुल्फे,
३ धं लज्जायुक्ताय वामदेवाय नमः वामपादाङ्गुलिमूले,
३ नं दीर्घघोणायुक्ताय वक्रतुण्डाय नमः वामपादाङ्गुल्यग्रे,
३ पं धनुर्धरायुक्ताय द्विरण्डकाय नमः दक्षपार्श्वे,

(नित्याषोडशिकार्णवे द्वितुण्डाय नमः)

३ फं यामिनीयुक्ताय सेनान्ये नमः वामपार्श्वे,
३ बं रात्रियुक्ताय ग्रामण्ये नमः पृष्ठे,
३ भं चन्द्रिकायुक्ताय मत्ताय नमः नाभौ,
३ मं शशिप्रभायुक्ताय विमत्ताय नमः जठरे,
३ यं लोलायुक्ताय मत्तवाहनाय नमः हृदये,
३ रं चपलायुक्ताय जटिने नमः दक्षस्कन्धे,

३ लं ऋद्धियुक्ताय मुण्डिने नमः गलपृष्ठे (ककुदि),
३ वं दुर्भगायुक्ताय खड्गिने नमः वामस्कन्धे,
३ शं सुभगायुक्ताय वरेण्याय नमः हृदयादिदक्षकराङ्गुल्यन्तम्,
३ षं शिवायुक्ताय वृषकेतनाय नमः हृदयादिवामकराङ्गुल्यन्तम्,
३ सं दुर्गायुक्ताय भक्ष्यप्रियाय नमः हृदयादिदक्षपादाङ्गुल्यन्तम्,
३ हं कालीयुक्ताय गणेशाय नमः हृदयादिवामपादाङ्गुल्यन्तम्,
३ ळं कालकुब्जिकायुक्ताय मेघनादाय नमः हृदयादिगुह्यान्तम्,
३ क्षं विघ्नहारिणीयुक्ताय गणेश्वराय नमः हृदयादिमूर्धान्तम् ।

ग्रहन्यासः

रक्तं श्वेतं तथा रक्तं श्यामं पीतञ्च पाण्डुरम् ।
कृष्णं धूम्रं धूम्रधूम्रं भावयेद्रविपूर्वकान् ॥
कामरूपधरान्देवान् दिव्याभरणभूषितान् ।
वामोरुन्यस्तहस्तांश्च दक्षहस्तवरप्रदान् ॥
शक्तयोऽपि तथा ध्येया वराभयकराम्बुजाः ।
स्वस्वप्रियाङ्कनिलयाः सर्वाभरणभूषिताः ॥ इति ध्यात्वा

ऐं ह्रीं श्रीं अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः रेणुकायुक्ताय सूर्याय नमः (हृदयाधः हृज्जठरसन्धौ) ।

३ यं रं लं वं अमृतायुक्ताय चन्द्राय नमः (भ्रूमध्ये,)
३ कं खं गं घं ङं धर्मायुक्ताय भौमाय नमः (नेत्रयोः,)
३ चं छं जं झं ञं यशस्विनीयुक्ताय बुधाय नमः (श्रोत्रकूपाधः,)
३ टं ठं डं ढं णं शाङ्करीयुक्ताय बृहस्पतये नमः (कण्ठे,)
३ तं थं दं धं नं ज्ञानरूपायुक्ताय शुक्राय नमः (हृदि,)
३ पं फं बं भं मं शक्तियुक्ताय शनैश्चराय नमः (नाभौ,)
३ शं षं सं हं कृष्णायुक्ताय राहवे नमः (मुखे,)
३ ळं क्षं धूम्रायुक्ताय केतवे नमः (गुदे) ॥

नक्षत्रन्यासः

ज्वलत्कालानलप्रख्या वरदाभयपाणयः ।
नतिपाण्योऽश्विनीपूर्वाः सर्वाभरणभूषिताः ॥ इति ध्यात्वा,

ऐं ह्रीं श्रीं, अं आं अश्विन्यै नमः, ललाटे
३ इं भरण्यै नमः, दक्षनेत्रे
३ ईं उं ऊं कृत्तिकायै नमः, वामनेत्रे
३ ऋं ॠं ऌं ॡं रोहिण्यै नमः, दक्षकर्णे
३ एं मृगशिरसे नमः वामकर्णे
३ ऐं आर्द्रायै नमः, दक्षनासापुटे
३ ओं औं पुनर्वसवे नमः, वामनासापुटे
३ कं पुष्पाय नमः, दक्षस्कन्धे
३ खं गं आश्लेषायै नमः, कण्ठे
३ घं ङं मघायै नमः, वामस्कन्धे
३ चं पूर्वफाल्गुन्यै नमः, पृष्ठे
३ छं जं उत्तरफाल्गुन्यै नमः, दक्षकूर्परे
३ झं ञं हस्ताय नमः, वामकूर्परे
३ टं ठं चित्रायै नमः, दक्षमणिबन्धे
३ डं स्वात्यै नमः, वाममणिबन्धे
३ ढं णं विशाखायै नमः, दक्षहस्ते
३ तं थं दं अनुराधायै नमः, वामहस्ते
३ धं ज्येष्ठायै नमः, नाभौ
३ नं पं फं मूलाय नमः, कटिबन्धे
३ बं पूर्वाषाढायै नमः, दक्षोरौ
३ भं उत्तराषाढायै नमः, वामोरौ
३ मं श्रवणाय नमः, दक्षजानुनि
३ यं रं धनिष्ठायै नमः, वामजानुनि

३ लं शततारकायै नमः, दक्षजङ्घायाम्

३ वं शं पूर्वभाद्रपदायै नमः, वामजङ्घायाम्

३ षं सं हं उत्तरभाद्रपदायै नमः, दक्षपादे

३ ळं क्षं अं अः रेवत्यै नमः, वामपादे।

योगिनीन्यासः

कण्ठस्थाने विशुद्धौ नृपदलकमले श्वेतवर्णां त्रिणेत्रां
हस्तैः खट्वाङ्गखड्गौ त्रिशिखमपि महाचर्म सन्धारयन्तीम्।
वक्त्रेणैकेन युक्तां पशुजनभयदां पायसान्नैकसक्तां
त्वक्स्थां वन्देऽमृताद्यैः परिवृतवपुषं डाकिनीं वीरवन्द्याम्॥ इति ध्यात्वा,

'ऐं ह्रीं श्रीं, डां डीं ड म ल व र यूं डाकिन्यै नमः। ऐं ह्रीं श्रीं अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः मां रक्ष रक्ष त्वगात्मानं नमः' इति मन्त्रेण कण्ठस्थषोडशदलविशुद्धिकमलकर्णिकायां डाकिनी न्यस्य तद्दलेषु पुरोभागादि प्रादक्षिण्येन तदावरणशक्तीः न्यसेत्। यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं, अं अमृतायै नमः, आं आकर्षिण्यै नमः, इं इन्द्राण्यै नमः, ईं ईशान्यै नमः, उं उमायै नमः, ऊं ऊर्ध्वकेश्यै नमः, ऋं ऋद्धिदायै नमः ॠं ॠकारायै नमः, ऌं ऌकारायै नमः, ॡं ॡकारायै नमः, एं एकपदायै नमः, ऐं ऐश्वर्यात्मिकायै नमः, ओं ओङ्कारायै नमः, औं औषध्यै नमः, अं अम्बिकायै नमः, अः अक्षरायै नमः, इति।

ततो ध्यानम्—

हृत्पद्मे भानुपत्रद्विवदनलसितां दंष्ट्रिणीं श्यामवर्णाम्
अक्षं शूलं कपालं डमरुमपि भुजैर्धारयन्तीं त्रिणेत्राम्।
रक्तस्थां कालरात्रिप्रभृतिपरिवृतां स्निग्धभक्तैकसक्तां
श्रीमद्वीरेन्द्रवन्द्यामभिमतफलदां राकिणीं भावयामः॥ इति ध्यात्वा,

'ऐं ह्रीं श्रीं, रां रीं र म ल व र यूं राकिण्यै नमः, ऐं ह्रीं श्रीं, कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं मां रक्ष रक्ष असृगात्मानं नमः' इति हृदयस्थितद्वादशदलानाहतनलिनकर्णिकायां राकिणीं न्यस्य तद्दलेषु प्राग्वत् तदावृतिशक्तीर्न्यसेत्। यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं, कं कालरात्र्यै नमः, खं खण्डितायै नमः, गं गायत्र्यै नमः, घं घण्टाकर्षिण्यै नमः, ङं ङार्णायै नमः, चं चण्डायै नमः, छं छायायै नमः, जं जयायै नमः, झं झङ्कारिण्यै नमः, ञं ज्ञानरूपायै नमः, टं टङ्कहस्तायै नमः, ठं ठङ्कारिण्यै नमः । इति ।

दिक्पत्रे नाभिपद्मे त्रिवदनलसितां दंष्ट्रिणीं रक्तवर्णां
शक्तिं दम्भोलिदण्डावभयमपि भुजैर्धारयन्तीं महोग्राम् ।
डामर्याद्यैः परीतां पशुजनभयदां मांसधात्वेकनिष्ठां
गौड़ान्नासक्तचित्तां सकलसुखकरीं लाकिनीं भावयामः ॥ इति ध्यात्वा,

'ऐं ह्रीं श्रीं, ला लीं ल म ल व र यूं लाकिन्यै नमः । ऐं ह्रीं श्रीं, डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं मां रक्ष रक्ष मांसात्मानं नमः' इति नाभिगत-दशदलमणिपूरकसरोजकर्णिकायां लाकिनीं न्यस्य तद्दलेषु पूर्ववत्तत्परिवार-शक्तीर्न्यसेत् । यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं डं डामर्यै नमः, ढं ढङ्कारिण्यै नमः, णं णार्णायै नमः, तं तामस्यै नमः, थं स्थाण्व्यै नमः, दं दाक्षायण्यै नमः, धं धात्र्यै नमः, नं नार्यै नमः, पं पार्वत्यै नमः, फं फट्कारिण्यै नमः । तदनु—

स्वाधिष्ठानाख्यपद्मे रसदललसिते वेदवक्त्रां त्रिणेत्रां
हस्ताब्जैर्धारयन्तीं त्रिशिखगुणकपालाङ्कुशानात्तगर्वाम् ।
मेदोधातुप्रतिष्ठामलिमदमुदितां बन्धिनीमुख्ययुक्तां
पीतां दध्योदनेष्टामभिमतफलदां काकिनीं भावयामः ॥ इति ध्यात्वा,

'ऐं ह्रीं श्रीं कां कीं क म ल व र यूं काकिन्यै नमः, ऐं ह्रीं श्रीं बं भं मं यं रं लं मां रक्ष रक्ष मेद आत्मानं नमः' इति गुह्यस्थानगतषड्दलस्वा-धिष्ठानसरसिजकर्णिकायां काकिनीं न्यस्य तद्दलेषु तदावरणशक्तीः प्राग्वन्न्यसेत् । यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं बं बन्धिन्यै नमः, भं भद्रकाल्यै नमः, मं महामायायै नमः, यं यशस्विन्यै नमः, रं रक्तायै नमः, लं लम्बोष्ठ्यै नमः । ततः—

मूलाधारस्य पत्रे श्रुतिदललसिते पञ्चवक्त्रां त्रिणेत्रां
धूम्राभामस्थिसस्थां सृणिमपि कमलं पुस्तकं ज्ञानमुद्राम्।
बिभ्राणां बाहुदण्डैः सुललितवरदापूर्वशक्त्यावृतां तां
मुद्गान्नासक्तचित्तां मधुमदमुदितां साकिनीं भावयामः ॥ इति ध्यात्वा,

ऐं ह्लीं श्रीं, सां सीं स म ल व र यूं साकिन्यै नमः।

ऐं ह्लीं श्रीं, वं शं षं सं मां रक्ष रक्ष अस्थ्यात्मानं नमः' इति पायूपस्थ-मध्यगतचतुर्दलमूलाधारकमलकर्णिकायां साकिनीं न्यस्य तद्दलेषु पूर्ववत्तदा-वृतिशक्तीर्न्यसेत्। यथा—

ऐं ह्लीं श्रीं वं वरदायै नमः, शं श्रियै नमः, षं षण्डायै नमः, सं सर-स्वत्यै नमः। अथ—

भ्रूमध्ये बिन्दुपद्मे दलयुगकलिते शुक्लवर्णां कराब्जै-
र्बिभ्राणां ज्ञानमुद्रां डमरुकममलामक्षमालां कपालम्।
षड्वक्त्रां मज्जसंस्थां त्रिणयनलसितां हंसवत्यादियुक्तां
हारिद्रान्नैकसक्तां सकलसुखकरीं हाकिनीं भावयामः ॥ इति ध्यात्वा॥

ऐं ह्लीं श्रीं हां हीं ह म ल व र यूं हाकिन्यै नमः, ऐं ह्लीं श्रीं हं क्षं मां रक्ष- रक्ष मज्जात्मानं नमः' इति भ्रूमध्यगतद्विदलाज्ञाकमलकर्णिकायां हाकिनीं न्यस्य तद्दक्षवामदलयोः क्रमेण—

'ऐं ह्लीं श्रीं, हं हंसवत्यै नमः, क्षं क्षमावत्यै नमः, इति तच्छक्तिद्वयं न्यसेत्। तदनु—

मुण्डव्योमस्थपद्मे दशशतदलके कर्णिकाचन्द्रसंस्थां
रेतोनिष्ठां समस्तायुधकलितकरां सर्वतो वक्त्रपद्माम्।
आदिक्षान्तार्णशक्तिप्रकरपरिवृतां सर्ववर्णां भवानीं
सर्वान्नासक्तचित्तां परशिवरसिकां याकिनीं भावयामः ॥ इति ध्यात्वा,

'ऐं ह्लीं श्रीं, यां यीं य म ल व र यूं याकिन्यै नमः। ऐं ह्लीं श्रीं अं आं..........क्षं (५१) मां रक्ष-रक्ष शुक्रात्मानं नमः' इति ब्रह्मरन्ध्रगत-सहस्रदलसरसिजकर्णिकायां याकिनीं न्यस्य तद्दलेषु प्रतिविंशतिदलं तदा-वरणशक्तीः अमृताद्याः क्षमावत्यन्ताः पूर्वोक्ताः प्राग्वन्न्यसेत्।

राशिन्यासः

रक्तश्वेतहरित्पाण्डुचित्रकृष्णपिशङ्गकान् ।
कपिशबभ्रुकिर्मीरकृष्णधूम्रान् क्रमात्स्मरेत् ॥
राशीनिति शेषः । इति ध्यात्वा,

ऐं ह्रीं श्रीं अं आं इं ईं मेषाय नमः, दक्षिणपादे
३ उं ऊं वृषाय नमः, लिङ्गदक्षभागे
३ ऋं ॠं ऌं ॡं मिथुनाय नमः, दक्षकुक्षौ
३ एं ऐं कर्काय नमः, हृदयदक्षभागे
३ ओं औं सिंहाय नमः, दक्षबाहुमूले
३ अं अः शं षं सं हं ळं कन्यायै नमः दक्षशिरोभागे
३ कं खं गं घं ङं तुलायै नमः, वामशिरोभागे
३ चं छं जं झं ञं वृश्चिकाय नमः, वामबाहुमूले
३ टं ठं डं ढं णं धनुषे नमः, हृदयवामभागे
३ तं थं दं धं नं मकराय नमः, वामकुक्षौ
३ पं फं बं भं मं कुम्भाय नमः, लिङ्गवामभागे
३ यं रं लं वं क्षं मीनाय नमः, वामपादे ।

पीठन्यासः

सितासितारुणश्यामहरित्पीतान्यनुक्रमात् ।
पुनः क्रमेण देवेशि पञ्चाशत्पीठसञ्चयः ॥

इति भावयित्वा मातृकाभिस्समं पूर्वोक्तेषु तासां स्थानेषु पीठानि क्रमेण विन्यसेत् । यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं, अं कामरूपाय नमः, शिरसि
३ आं वाराणस्यै नमः, मुखवृत्ते
३ इं नेपालाय नमः, दक्षनेत्रे
३ ईं पौण्ड्रवर्धनाय नमः, वामनेत्रे
३ उं पुरस्थितकाश्मीराय नमः, दक्षकर्णे

३ ऊं कान्यकुब्जाय नमः, वामकर्णे
३ ऋं पूर्णशैलाय नमः, दक्षनासापुटे
३ ॠं अर्बुदाचलाय नमः, वामनासापुटे
३ लृं आम्रातकेश्वराय नमः, दक्षगण्डे
३ ॡं एकाम्राय नमः, वामगण्डे
३ एं त्रिस्रोतसे नमः, ऊर्ध्वोष्ठे
३ ऐं कामकोट्ये नमः, अधरोष्ठे
३ ओं कैलासाय नमः, ऊर्ध्वदन्तपंक्तौ
३ औं भृगुनगराय नमः, अधोदन्तपंक्तौ
३ अं केदाराय नमः, जिह्वाग्रे
३ अः चन्द्रपुष्करिण्यै नमः, कण्ठे
३ कं श्रीपुराय नमः, दक्षबाहुमूले
३ खं ओङ्काराय नमः, दक्षकूर्परे
३ गं जालन्धराय नमः, दक्षमणिबन्धे
३ घं मालवाय नमः, दक्षकराङ्गुलिमूले
३ ङं कुलान्तकाय नमः, दक्षकराङ्गुल्यग्रे
३ चं देवीकोटाय नमः, वामबाहुमूले
३ छं गोकर्णाय नमः, वामकूर्परे
३ जं मारुतेश्वराय नमः, वाममणिबन्धे
३ झं अट्टहासाय नमः, वामकराङ्गुलिमूले
३ ञं वैराजायै नमः, वामकराङ्गुल्यग्रे
३ टं राजगेहाय नमः, दक्षोरुमूले
३ ठं महापथाय नमः, दक्षजानुनि
३ डं कोलापुराय नमः, दक्षगुल्फे
३ ढं एलापुराय नमः, दक्षपादाङ्गुलिमूले
३ णं कालेश्वराय नमः, दक्षपादङ्गुल्यग्रे
३ तं जयन्तिकायै नमः, वामोरुमूले

ऐं ह्रीं श्रीं थं उज्जयिन्यै नमः वामजानुनि

३ दं चित्रायै नमः, वामगुल्फे

३ धं क्षीरिकायै नमः, वामपादाङ्गुलिमूले

३ नं हस्तिनापुराय नमः, वामपादाङ्गुल्यग्रे

३ पं उड्डीशाय नमः, दक्षपार्श्वे

३ फं प्रयागाय नमः, वामपार्श्वे

३ बं षष्ठीशाय नमः, पृष्ठे

३ भं मायापुर्यै नमः, नाभौ

३ मं ज शाय नमः, जठरे

३ यं मलयाय नमः, हृदये

३ रं श्रीशैलाय नमः, दक्षस्कन्धे

३ लं मेरवे नमः, गलपृष्ठे

३ वं गिरिवराय नमः, वामस्कन्धे

३ शं महेन्द्राय नमः, हृदयादिदक्षकराङ्गुल्यन्तम्

३ षं वामनाय नमः, हृदयादिवामकराङ्गुल्यन्तम्

३ सं हिरण्यपुराय नमः, हृदयादिदक्षपादाङ्गुल्यन्तम्

३ हं महालक्ष्मीपुराय नमः, हृदयादिवामपादाङ्गुल्यन्तम्

३ ळं औड्याणाय नमः, हृदयादिगुह्यान्तम्

३ क्षं छायाच्छत्राय नमः, हृदयादिमूर्धान्तम्

(इति षडवयवकः षोढान्यासस्समाप्तः)

अथ श्रीचक्रन्यासः

अस्य श्री श्रीचक्रन्यासस्येत्यनन्तरं जपप्रकरणे वक्ष्यमाणान् ऋष्यादीन्न्यस्याह्निकप्रकरणोक्तवद् ध्यात्वा श्रीदेव्या उपचारमन्त्रेण पुष्पाञ्जलिं दत्वा,

शरीरं चिन्तयेदादौ निजं श्रीचक्ररूपकम् ।
त्वगाद्याकारनिर्मुक्तं ज्वलत्कालाग्निसन्निभम् ॥ इति ध्यात्वा—

ऐं ह्रीं श्रीं समस्तप्रकटगुप्तगुप्ततरसम्प्रदायकुलोत्तीर्णनिगर्भरहस्यातिरहस्यपरापररहस्ययोगिनीचक्रदेवताभ्यो नमः इति सर्वाङ्गे व्यापकं न्यस्य,

ऐं ह्लीं श्रीं, गं गणपतये नमः, दक्षोरौ
३ क्षं क्षेत्रपालाय नमः, दक्षांसे
३ यां योगिनीभ्यो नमः, वामांसे
३ बं वटुकाय नमः, वामोरौ
३ लं इन्द्राय नमः, पादाङ्गुष्ठद्वयाग्रे
३ रं अग्नये नमः दक्षजानुनि
३ टं यमाय नमः, दक्षपार्श्वे
३ क्षं निर्ऋतये नमः, दक्षांसे
३ वं वरुणाय नमः, मूर्ध्नि
३ यं वायवे नमः, वामांसे
३ सं सोमाय नमः, वामपार्श्वे
३ हं ईशानाय नमः, वामजानुनि
३ हंसः ब्रह्मणे नमः, मूर्ध्नि
३ अं अनन्ताय नमः, मूलाधारे।

त्रैलोक्यमोहनचक्रन्यासः

ऐं ह्लीं श्रीं, अं आं सौः त्रैलोक्यमोहनचक्राय नमः,—इति व्यापकं न्यस्य ततः ऐं ह्लीं श्रीं आद्यचतुरस्ररेखायै नमः,—इति दक्षांसपृष्ठादिवक्ष्यमाणेषु स्थानेष्वञ्जलिना व्यापकं न्यस्य,

ऐं ह्लीं श्रीं अणिमासिद्ध्यै नमः, दक्षांसपृष्ठे
३ लघिमासिद्ध्यै नमः, दक्षपाण्यङ्गुल्यग्रेषु
३ महिमासिद्ध्यै नमः दक्षोरुसन्धौ
३ ईशित्वसिद्ध्यै नमः, दक्षपादाङ्गुल्यग्रेषु
३ वशित्वसिद्ध्यै नमः, वामपादाङ्गुल्यग्रेषु
३ प्राकाम्यसिद्ध्यै नमः, वामोरुसन्धौ

ऐं ह्रीं श्रीं भुक्तिसिद्ध्यै नमः, वामपाण्यङ्गुल्यग्रेषु

३ इच्छासिद्ध्यै नमः, वामांसपृष्ठे

३ प्राप्तिसिद्ध्यै नमः, शिखामूले

३ सर्वकामसिद्ध्यै नमः, शिरःपृष्ठे।

ऐं ह्रीं श्रीं, चतुरस्रमध्यरेखायै नमः—इति वक्ष्यमाणाङ्गेषु व्यापकं न्यस्य,

ऐं ह्रीं श्रीं ब्राह्म्यै नमः, पादाङ्गुष्ठद्वये

३ माहेश्वर्यै नमः, दक्षपार्श्वे

३ कौमार्यै नमः, मूर्ध्नि

३ वैष्णव्यै नमः, वामपार्श्वे

३ वाराह्यै नमः, वामजानुनि

३ इन्द्राण्यै नमः, दक्षजानुनि

३ चामुण्डायै नमः, दक्षांसे

३ महालक्ष्म्यै नमः, वामांसे

ऐं ह्रीं श्रीं चतुरस्रान्त्यरेखायै नमः इति वक्ष्यमाणाङ्गेषु व्यापकं न्यस्य,

ऐं ह्रीं श्रीं सर्वसंक्षोभिण्यै नमः, पादाङ्गुष्ठद्वये

३ सर्वविद्राविण्यै नमः, दक्षपार्श्वे

३ सर्वाकर्षिण्यै नम, मूर्ध्नि

३ सर्ववशङ्कर्यै नमः, वामपार्श्वे

३ सर्वोन्मादिन्यै नमः, वामजानुनि

३ सर्वमहाङ्कुशायै नमः, दक्षजानुनि

३ सर्वखेचर्यै नमः, दक्षांसे

३ सर्वबीजायै नमः, वामांसे

३ सर्वयोनये नमः, द्वादशान्ते

३ सर्वत्रिखण्डायै नमः, पादाङ्गुष्ठद्वये

ऐं ह्रीं श्रीं, अं आं सौः त्रैलोक्यमोहनचक्रेश्वर्यै त्रिपुरायै नमः हृदये।

एताः प्रकटयोगिन्यः त्रैलोक्यमोहने चक्रे समुद्राः ससिद्धयस्सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वाः न्यस्तास्सन्त्विति हृदि चक्रसमर्पणं न्यस्य,

सर्वाशापरिपूरकचक्रन्यासः

ऐं ह्लीं श्रीं, ऐं क्लीं सौः सर्वाशापरिपूरकचक्राय नमः—इति व्यापकं न्यस्य,

३ कामाकर्षिण्यै नित्याकलायै नमः, दक्षकर्णपृष्ठे

३ बुद्ध्याकर्षिण्यै नमः, दक्षांसे

३ अहङ्काराकर्षिण्यै नमः, दक्षकूर्परे

३ शब्दाकर्षिण्यै नमः, दक्षकरपृष्ठे, हस्ततलपृष्ठयोः

३ स्पर्शाकर्षिण्यै नमः, दक्षोरौ, दक्षस्फिजि,

३ रूपाकर्षिण्यै नमः, दक्षजानुनि,

३ रसाकर्षिण्यै नमः, दक्षगुल्फे,

३ गन्धाकर्षिण्यै नमः, दक्षपादतले, दक्षप्रपदे,

३ चित्ताकर्षिण्यै नमः, वामपादतले, वामप्रपदे,

३ धैर्याकर्षिण्यै नमः, वामगुल्फे,

३ स्मृत्याकर्षिण्यै नमः, वामजानुनि,

३ नामाकर्षिण्यै नमः, वामोरौ, वामस्फिजि,

३ बीजाकर्षिण्यै नमः, वामकरतलपृष्ठयोः

३ आत्माकर्षिण्यै नमः, वामकूर्परे,

३ अमृताकर्षिण्यै नमः, वामांसे,

३ शरीराकर्षिण्यै नमः, वामकर्णपृष्ठे,

३ ऐं क्लीं सौः सर्वाशापरिपूरकचक्रेश्वर्यै नमः, हृदये.

एताः गुप्तयोगिन्यस्सर्वाशापरिपूरके चक्रे समुद्रा इत्यादि प्राग्वत् ।

सर्वसंक्षोभणचक्रन्यासः

ऐं ह्लीं श्रीं, ह्रीं क्लीं सौः, सर्वसंक्षोभणचक्राय नमः–इति व्यापकं न्यस्य,

ऐं ह्लीं श्रीं अनङ्गकुसुमायै नमः, दक्षांसे, (ललाटास्थि)

३ अनङ्गमेखलायै नमः, दक्षजत्रुणि, (बाहुमूलसन्धिः)

३ अनङ्गमदनायै नमः, दक्षोरौ,

ऐं ह्रीं श्रीं, अनङ्गमदनातुरायै नमः दक्षगुल्फे,
३ अनङ्गरेखायै नमः वामगुल्फे,
३ अनङ्गवेगिन्यै नमः वामोरौ,
३ अनङ्गाङ्कुशायै नमः वामजत्रुणि,
३ अनङ्गमालिन्यै नमः वामशङ्खे,
३ ह्रीं क्लीं सौः सर्वसंक्षोभणचक्रेश्वर्यै नमः, हृदये।

एताः गुप्ततरयोगिन्यः सर्वसंक्षोभणचक्रे समुद्राः—इत्यादि प्राग्वत्।

सर्वसौभाग्यदायकचक्रन्यासः

ऐंह्रींश्रीं, हैं ह्क्लीं ह्सौः सर्वसौभाग्यदायकचक्राय नमः—इति व्यापकं न्यस्य,
३ सर्वसंक्षोभिण्यै नमः ललाटमध्ये,
३ सर्वविद्राविण्यै नमः ललाटदक्षभागे,
३ सर्वाकर्षिण्यै नमः दक्षगण्डे,
३ सर्वाह्लादिन्यै नमः दक्षांसे,
३ सर्वसम्मोहिन्यै नमः दक्षपार्श्वे,
३ सर्वस्तम्भिन्यै नमः दक्षोरौ,
३ सर्वजृम्भिण्यै नमः दक्षजङ्घायाम्,
३ सर्ववशङ्कर्यै नमः वामजङ्घायाम्,
३ सर्वरञ्जिन्यै नमः वामोरौ,
३ सर्वोन्मादिन्यै नमः, वामपार्श्वे
३ सर्वार्थसाधिन्यै नमः, वामांसे
३ सर्वसम्पत्तिपूरिण्यै नमः, वामगण्डे
३ सर्वमन्त्रमय्यै नमः, ललाटवामभागे
३ सर्वद्वन्द्वक्षयङ्कर्यै नमः, शिरःपृष्ठे
३ हैं ह्क्लीं ह्सौः सर्वसौभाग्यदायकचक्रेश्वर्यै त्रिपुरवासिन्यै नमः, हृदये।

एताः सम्प्रदाययोगिन्यः सर्वसौभाग्यदायके चक्रे समुद्राः—इत्यादि समर्पणं न्यसेत्।

सर्वार्थसाधकचक्रन्यासः

ऐंह्रींश्रीं, ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः सर्वार्थसाधकचक्राय नमः—इति व्यापकं न्यस्य

३ सर्वसिद्धिप्रदायै नमः, दक्षनेत्रे, दक्षनासापुटे

३ सर्वसम्पत्प्रदायै नमः नासामूले, दक्षसृक्विणि

३ सर्वप्रियङ्कर्यै नमः वामनेत्रे, दक्षस्तने

३ सर्वमङ्गलकारिण्यै नमः, वामबाहुमूले, दक्षवृषणे

३ सर्वकामप्रदायै नमः वामोरुमूले, सीविन्या दक्षभागे

३ सर्वदुःखविमोचिन्यै नमः, वामजानुनि, सीविन्या दक्षभागे

३ सर्वमृत्युप्रशमन्यै नमः, दक्षजानुनि, वामस्तने

३ सर्वविघ्नविनाशिन्यै नमः, गुदे वामवृषणे

३ सर्वाङ्गसुन्दर्यै नमः, दक्षोरुमूले वामसृक्विणि

३ सर्वसौभाग्यदायिन्यै नमः, दक्षबाहुमूले वामनासापुटे

३ ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः सर्वार्थसाधकचक्रेश्वर्यै त्रिपुराश्रियै नमः, हृदये।

एताः कुलोत्तीर्णयोगिन्यःसर्वार्थसाधके चक्रे समुद्रा, इत्यादि पूर्ववत्।

सर्वरक्षाकरचक्रन्यासः

ऐं ह्रीं श्रीं, ह्रीं क्लीं ब्लें सर्वरक्षाकरचक्राय नमः, इति व्यापकं न्यस्य,

३ सर्वज्ञायै नमः, दक्षनासापुटे

३ सर्वशक्त्यै नमः, दक्षसृक्विणि (ओष्ठप्रान्ते)

३ सर्वैश्वर्यप्रदायिन्यै नमः, दक्षस्तने

३ सर्वज्ञानमय्यै नमः, दक्षमुष्के

३ सर्वव्याधिविनाशिन्यै नमः, सीविन्यां (तस्या दक्षभागे)
(सीविनी-अण्डद्वयमध्यवर्तिनी सिरा)

३ सर्वाधारस्वरूपायै नमः, वाममुष्के (सीविन्या वामभागे)

३ सर्वपापहरायै नमः, वामस्तने

३ सर्वानन्दमय्यै नमः, वामसृक्विणि

३ सर्वरक्षास्वरूपिण्यै नमः, वामनासापुटे

३ सर्वेप्सितफलप्रदायै नमः, नासाग्रे

ऐं ह्रीं श्रीं, ह्रीं क्लीं ब्लें सर्वरक्षाकरचक्रेश्वर्यै त्रिपुरमालिन्यै नमः, हृदि।
एता निगर्भयोगिन्यः सर्वरक्षाकरे चक्रे समुद्रा इत्यादि प्राग्वत्।

सर्वरोगहरचक्रन्यासः

ऐं ह्रीं श्रीं, ह्रीं श्रीं सौःसर्वरोगहरचक्राय नमः, इति व्यापकं न्यस्य,

३ अं............अः (१६) ब्लूं वशिनीवाग्देवतायै नमः दक्षचिवुके,

३ कं खं गं घं ङं क्लह्रीं कामेश्वरीवाग्देवतायै नमः, दक्षकण्ठे

३ चं छं जं झं ञं न्व्लीं मोदिनीवाग्देवतायै नमः, हृदयदक्षभागे

३ टं ठं डं ढं णं य्लूं विमलावाग्देवतायै नमः, नाभिदक्षभागे,

३ तं थं दं धं नं ज्म्रीं अरुणावाग्देवतायै नमः, नाभिवामभागे,

३ पं फं बं भं मं हस्ल्व्यूं जयिनीवाग्देवतायै नमः, हृदयवामभागे,

३ यं रं लं वं झ्म्र्यूं सर्वेश्वरीवाग्देवतायै नमः, वामकण्ठे,

३ शंषंसंहंळंक्षं क्ष्म्रीं कौलिनीवाग्देवतायै नमः, वामचिवुके,

३ ह्रीं श्रीं सौः सर्वरोगहरचक्रेश्वर्यै त्रिपुरासिद्धायै नमः, हृदि,

एताः रहस्ययोगिन्यः सर्वरोगहरे चक्रे समुद्रा इत्यादि पूर्ववत्।

आयुधन्यासः

अथ हृदि त्रिकोणं विभाव्य तत्र प्रागादिदिक्षु क्रमेणायुधानां चतुष्टयं न्यसेत्। यथा–ऐं ह्रीं श्रीं द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः सर्वजम्भनेभ्यो बाणेभ्यो नमः, त्रिकोणपृष्ठे,

३ धं सर्वसम्मोहनाय धनुषे नमः त्रिकोणदक्षे, (वामे),

३ ह्रीं सर्ववशीकरणाय पाशाय नमः त्रिकोणाग्रे,

३ क्रों सर्वस्तम्भनाय अङ्कुशाय नमः त्रिकोणवामे, (दक्षभागे)।

सर्वसिद्धिप्रदचक्रन्यासः

३ ह्स्रैं ह्स्क्लीं ह्सौः सर्वसिद्धिप्रदचक्राय नमः, इति व्यापकं न्यस्य,

३ मूलप्रथमकूटं कामरूपपीठस्थायै महाकामेश्वर्यै नमः, त्रिकोणाग्रकोणे,

३ मूलद्वितीयकूटं पूर्णगिरिपीठस्थायै महावज्रेश्वर्यै नमः, तद्दक्षकोणे,

३ मूलतृतीयकूटं जालन्धरपीठस्थायै महाभगमालिन्यै नमः, तद्वामकोणे,

ऐं ह्रीं श्रीं मूलं ओड्याणपीठस्थायै महात्रिपुरसुन्दर्यै नमः, तन्मध्ये। अथ तदन्तस्सपर्याप्रकरणोक्तप्रकारेण षोडशस्वरान् विभाव्य षोडशनित्याः न्यसेत्। यथा—कामेश्वरीनित्यामन्त्रमुच्चार्य कामेश्वरीनित्यायै नमः। एवं-प्रकारेणावशिष्टाश्चतुर्दशनित्या विन्यस्य मध्ये मूलमुच्चार्य षोडशीं न्यसेत्।

३ ह्स्रैं ह्स्क्लीं ह्स्रौः सर्वसिद्धिप्रदचक्रेश्वर्यै त्रिपुराम्बायै नमः, हृदि।

एता अतिरहस्ययोगिन्यः सर्वसिद्धिप्रदे चक्रे समुद्रा इत्यादि प्राग्वत्

सर्वानन्दमयचक्रन्यासः

ऐं ह्रीं श्रीं मूलं सर्वानन्दमयचक्राय नमः, इति व्यापकं न्यस्य,

३ मूलं श्रीललितायै नमः हृदयमध्ये,

एषा परापररहस्ययोगिनी सर्वानन्दमये चक्रे समुद्रा ससिद्धिः सायुधा सशक्तिः सवाहना सपरिवारा न्यस्ताऽस्तु।

ऐं ह्रीं श्रीं मूलं सर्वानन्दमयचक्रेश्वर्यै श्रीललितायै नमः, इति हृदि न्यस्य योनिमुद्रां प्रदर्श्य मूलं जपित्वा पुनः कराङ्गन्यासं कुर्यात्।

इति नित्याषोडशिकार्णवोक्तश्रीचक्रन्यासः।

पूर्वोक्तौ षोढाचक्रन्यासौ श्रीषोडशाक्षर्या अपि समानौ।

अथ महाषोढान्यासः

प्रपञ्चो भुवनं मूर्तिर्मन्त्रदैवतमातरः।
महाषोढाह्वयो न्यासः सर्वन्यासोत्तमोत्तमः॥

अस्य श्री महाषोढान्यासस्य ब्रह्मा ऋषिः, जगतीच्छन्दः, श्रीमदर्ध-नारीश्वरो देवता, श्रीविद्याङ्गत्वेन न्यासे विनियोग इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा मूर्धादिषु विन्यस्याङ्गन्यासं कुर्यात्।

अङ्गन्यासस्तु—अङ्गुलीदेहवक्त्रात्मकः। ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः (६) इति षडक्षरमन्त्रपूर्वकं सर्वं न्यसेत्।

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः हौं ईशानाय नमः अङ्गुष्ठयोः

६ हें तत्पुरुषाय नमः तर्जन्योः

६ हुं अघोराय नमः मध्यमयोः

ॐ ऐं ह्लीं श्रीं ह्सौः स्हौः हिं वामदेवाय नमः अनामिकयोः
६ हं सद्योजाताय नमः कनिष्ठिकयोः
६ हौं ईशानाय नमः मूर्ध्नि
६ हें तत्पुरुषाय नमः मुखे
६ हुं अघोराय नमः हृदये
६ हिं वामदेवाय नमः गुह्ये
६ हं सद्योजाताय नमः पादयोः
६ हौं ईशानायोर्ध्ववक्त्राय नमः मूर्ध्नि,
६ हें तत्पुरुषाय पूर्ववक्त्राय नमः मुखे
६ हुं अघोराय दक्षिणवक्त्राय नमः दक्षकर्णे,
६ हिं वामदेवायोत्तरवक्त्राय नमः वामकर्णे,
६ हं सद्योजातायपश्चिमवक्त्राय नमः चोरकूपे,

अयं पञ्चवक्त्रन्यासः, क्रमेणाङ्गुष्ठादिपञ्चाङ्गुलीभिरेकैकाङ्गुलिनैकैक-वक्त्रे न्यस्तव्यः। एवमङ्गन्यासं विधाय ततो ह्सां ह्सीं ह्सूं ह्सैं इत्यादिभिः करषडङ्गन्यासं कृत्वा वक्ष्यमाणरूपं देवं हृदये ध्यात्वा न्यसेत्।

ओघप्रकारान्तरेण ध्यानम्—

पञ्चवक्त्रं चतुर्बाहुं सर्वाभरणभूषितम्।
चन्द्रसूर्यसहस्राभं शिवशक्त्यात्मकं भजे॥

प्रपञ्चन्यासः

ॐ ऐं ह्लीं श्रीं ह्सौ स्हौः अं प्रपञ्चरूपायै श्रियै नमः (शिरसि)
६ आं द्वीपरूपायै मायायै नमः (मुखवृत्ते)
६ इं जलधिरूपायै कमलायै नमः (दक्षनेत्रे)
६ ईं गिरिरूपायै विष्णवल्लभायै नमः (वामनेत्रे)
६ उं पत्तनरूपायै पद्मधारिण्यै नमः (दक्षकर्णे)
६ ऊं पीठरूपायै समुद्रतनयायै नमः (वामकर्णे)
६ ऋं क्षेत्ररूपायै लोकमात्रे नमः (दक्षनासापुटे)
६ ॠं वनरूपायै कमलवासिन्यै नमः (वामनासापुटे)

६	लृं आश्रमरूपायै इन्दिरायै नमः	(दक्षगण्डे)
६	लॄं गुहारूपायै मायायै नमः	(वामगण्डे)
६	एं नदीरूपायै रमायै नमः	(उर्ध्वोष्ठे)
६	ऐं चत्वररूपायै पद्मायै नमः	(अधरोष्ठे)
६	ओं उद्भिज्जरूपायै नारायणप्रियायै नमः	(उर्ध्वदन्तपंक्तौ)
६	औं स्वेदजरूपायै सिद्धलक्ष्म्यै नमः	(अधोदन्तपंक्तौ)
६	अं अण्डजरूपायै राजलक्ष्म्यै नमः	(जिह्वाग्रे)
६	अः जरायुजरूपायै महालक्ष्म्यै नमः	(कण्ठे)
६	कं लवरूपायै आर्यायै नमः	(दक्षबाहुमूले)
६	खं त्रुटिरूपायै उमायै नमः	(दक्षकूर्परे)
६	गं कलारूपायै चण्डिकायै नमः	(दक्षमणिबन्धे)
६	घं काष्ठारूपायै दुर्गायै नमः	(दक्षकराङ्गुलिमूले)
६	ङं निमेषरूपायै शिवायै नमः	(दक्षकराङ्गुल्यग्रे)
६	चं श्वासरूपायै अपर्णायै नमः	(वामबाहुमूले)
६	छं घटिकारूपायै अम्बिकायै नमः	(वामकूर्परे)
६	जं मुहूर्तरूपायै सत्यै नमः	(वाममणिबन्धे)
६	झं प्रहररूपायै ईश्वर्यै नमः	(वाम कराङ्गुलिमूले)
६	ञं दिवसरूपायै शाम्भव्यै नमः	(वाम कराङ्गुल्यग्रे)
६	टं सन्ध्यारूपायै ईशान्यै नमः	(दक्षोरूमूले)
६	ठं रात्रिरूपायै पार्वत्यै नमः	(दक्षजानुनि)
६	डं तिथिरूपायै सर्वमङ्गलायै नमः	(दक्षगुल्फे)
६	ढं वाररूपायै दाक्षायण्यै नमः	(दक्षपादाङ्गुलिमूले)
६	णं नक्षत्ररूपायै हैमवत्यै नमः	(दक्षपादाङ्गुल्यग्रे)
६	तं योगरूपायै महामायायै नमः	(वामोरुमूले)
६	थं करणरूपायै महेश्वर्यै नमः	(वामजानुनि)
६	दं पक्षरूपायै मृडान्यै नमः	(वामगुल्फे)
६	धं मासरूपायै इन्द्राण्यै नमः	(वामपादाङ्गुलिमूले)

६ नं राशिरूपायै शर्वाण्यै नम (वामपादाङ्गुल्यग्रे)
६ पं ऋतुरूपायै परमेश्वर्यै नमः (दक्षपार्श्वे)
६ फं अयनरूपायै काल्यै नमः (वामपार्श्वे)
६ वं वत्सररूपायै कात्यायन्यै नमः (पृष्ठे)
६ भं युगरूपायै गौर्यै नमः (नाभौ)
६ मं प्रयलरूपायै भवान्यै नमः (जठरे)
६ यं पञ्चभूतरूपायै ब्राह्म्यै नमः (हृदये)
६ रं पञ्चतन्मात्रारूपायै वागीश्वर्यै नमः (दक्षकक्षे)
६ लं पञ्चकर्मेन्द्रियरूपायै वाण्यै नमः (गलपृष्ठे)
६ वं पञ्चज्ञानेन्द्रियरूपायै सावित्र्यै नमः (वामकक्षे)
६ शं पञ्चप्राणरूपायै सरस्वत्यै नमः (हृदयादि दक्षकराङ्गुल्यन्तं)
६ षं गुणत्रयरूपायै गायत्र्यै नमः (हृदयादि वामकराङ्गुल्यन्तं)
६ सं अन्तःकरणचतुष्टयरूपायै वाक्प्रदायै नमः (हृदयादि दक्षपादाङ्गुल्यन्तं)
६ हं अवस्थाचतुष्टयरूपायै शारदायै नमः (हृदयादि वामपादाङ्गुल्यन्तं)
६ ळं सर्वधातुरूपायै भारत्यै नमः (कट्यादिपादाङ्गुल्यन्तं)
६ क्षं दोषत्रयरूपायै विद्यात्मिकायै नमः (कट्यादि ब्रह्मरन्ध्रान्तं)

इत्येकपञ्चाशच्छक्तिमातृकास्थानेषु विन्यस्य, ततः ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः (अकारादिक्षकारान्तां मातृकामुच्चार्य) सकलप्रपञ्चाधिदेवतायै श्रीपराम्बादेव्यै नमः ह्सौः स्हौः श्रीं ह्रीं ऐं ॐ इति सर्वाङ्गेव्यापकं कुर्यात् । इति प्रपञ्चन्यासः ।

अथ भुवनन्यासः

तत्र, पादयोः—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौ स्हौः अं आं इं अतललोकनिलयशतकोटिगुह्याद्ययोगिनीमूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः ॥

गुल्फयोः—६ ईं उं ऊं वितललोकनिलयशतकोटिगुह्यतरानन्तयोगिनीमूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः ।

जङ्घयोः—६ ॠं ॠं लृं सुतललोकनिलयशतकोट्यतिगुह्याचिन्त्य-योगिनीमूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः।

जान्वोः—६ ॡं एं ऐं महातललोकनिलयशतकोटिमहागुह्यस्वतन्त्र-योगिनीमूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः।

ऊर्वोः—६ ओं औं तलातललोकनिलयशतकोटिपरमगुह्येच्छायोगिनी-मूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः।

स्फिचोः—६ अं अः रसातललोकनिलयशतकोटिरहस्यज्ञानयोगिनी-मूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः।

मूलाधारे—६ कं खं गं घं ङं पाताललोकनिलयशतकोटिरहस्यतर-क्रियायोगिनीमूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः।

स्वाधिष्ठाने—६ चं छं जं झं ञं भूर्लोकनिलयशतकोट्यतिरहस्यडाकि-नीयोगिनीमूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः।

मणिपूरके—६ टं ठं डं ढं णं भुवर्लोकनिलयशतकोटिमहारहस्यराकिणी-योगिनीमूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः।

अनाहते—६ तं थं दं धं नं स्वर्लोकनिलयशतकोटिपरमरहस्यलाकिनी-योगिनीमूलदेवतायुधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः।

विशुद्धौ—६ पं फं बं भं मं महर्लोकनिलयशतकोटिगुप्तकाकिनी-योगिनीमूलदेवतायुताधारशक्त्थम्बादेव्यै नमः।

आज्ञायां—६ यं रं लं वं जनलोकनिलयशतकोटिगुप्ततरसाकिनी-योगिनीमूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः।

ललाटे—६ शं षं सं हं तपोलोकनिलयशतकोट्यतिगुप्तहाकिनी-योगिनीमूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः।

ब्रह्मरन्ध्रे—६ ळं क्षं सत्यलोकनिलयशतकोटिमहागुप्तयाकिनीयोगिनी-मूलदेवतायुताधारशक्त्यम्बादेव्यै नमः। इति विन्यस्य ६ (समस्तमातृका-मुच्चार्य) सकलभुवनाधिपायै श्रीपराम्बादेव्यै नमः ह्सौः स्हौः श्रीं ह्रीं ऐं ॐ इति व्यापकं कुर्यात्। इति भुवनन्यासः।

अथ मूर्तिन्यासः

शिरसि—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः अं केशवायाक्षरशक्त्यै नमः।
मुखे— ६ आं नारायणाद्यशक्त्यै नमः,
दक्षिणांसे— ६ इं माधवायेष्टदायै नमः,
वामांसे— ६ ईं गोविन्दायेशान्यै नमः,
दक्षपार्श्वे— ६ उं विष्णवे उग्रायै नमः,
वामपार्श्वे— ६ ऊं मधुसूदनायोर्ध्वनयनायै नमः,
दक्षकट्यां— ६ ऋं त्रिविक्रमाय ऋद्धयै नमः,
वामकट्यां— ६ ॠं वामनाय रूपिण्यै नमः,
दक्षोरौ— ६ लृं श्रीधराय लुप्तायै नमः,
वामोरौ— ६ ॡं हृषीकेशाय लूनदोषायै नमः,
दक्षजानुनि— ६ एं पद्मनाभायैकनायिकायै नमः,
वामजानुनि— ६ ऐं दामोदरायैककारिण्यै नमः,
दक्षजङ्घायां— ६ ओं वासुदेवायौघवत्यै नमः,
वामजङ्घायां— ६ औं सङ्कर्षणायौर्वकामायै नमः,
दक्षपादे— ६ अं प्रद्युम्नायाञ्जनप्रभायै नमः,
वामपादे— ६ अः अनिरुद्धायास्थिमालाधरायै नमः,
दक्षपादाग्रादूरुमूलपर्यन्तम्—६ कं भं भवाय करभद्रायै नमः,
वामपादाग्रादूरुमूलपर्यन्तम्—६ खं वं शर्वाय खगबलायै नमः,
दक्षपार्श्वे— ६ गं फं हराय गरिमफलप्रदायै नमः,
वामपार्श्वे— ६ घं पं पशुपतये घोरपादायै नमः,
दक्षदोर्मूले— ६ ङं मं उग्राय पंक्तिवासायै नमः,
वामदोर्मूले— ६ चं धं महादेवाय चन्द्रार्धधारिण्यै नमः,
कण्ठे— ६ छं दं भीमाय छन्दोमय्यै नमः,
वदने— ६ जं थं ईशानाय जगत्स्थानायै नमः,
दक्षकर्णे— ६ झं तं तत्पुरुषाय झङ्कृत्यै नमः,
वामकर्णे— ६ ञं णं अघोराय ज्ञानदायै नमः,
भाले— ६ टं ढं सद्योजाताय टङ्कढक्कधरायै नमः,
शिरसि— ६ ठं डं वामदेवाय ठङ्कृतिडामर्यै नमः,
मूलाधारे— ६ यं ब्रह्मणे यक्षिण्यै नमः,
स्वाधिष्ठाने— ६ रं प्रजापतये रञ्जिन्यै नमः,

मणिपूरके—६ लं बेधसे लक्ष्म्यै नमः,
अनाहते— ६ वं परमेष्ठिने वज्रिण्यै नमः,
विशुद्धौ— ६ शं पितामहाय शशिधरायै नमः,
आज्ञायां— ६ षं विधात्रे षडाधारालयायै नमः,
अर्धेन्दौ— ६ सं विरिञ्चये सर्वनायिकायै नमः,
रोधिन्या— ६ हं स्रष्ट्रे हसिताननायै नमः,
नादे— ६ ळं चतुराननाय ललितायै नमः,
नादान्ते— ६ क्षं हिरण्यगर्भाय क्षमायै नमः, इति विन्यस्य,
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः (सकलमातृकामुच्चार्य) सकलत्रिमूर्त्यात्मिकायै श्रीपराम्बादेव्यै नमः ह्सौः स्हौः श्रीं ह्रीं ऐं ॐ इति व्यापकं कुर्यात् ।

इति मूर्तिन्यासः

अथ मन्त्रन्यासः

मूलाधारे—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः अं आं इं एकलक्षकोटिभेदप्रणवाद्येकाक्षरात्मकाखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै एककूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः ।

स्वाधिष्ठाने—६ ईं उं ऊं द्विलक्षकोटिभेदहंसादिद्व्यक्षरात्मकाखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै द्विकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः ।

मणिपूरके—६ ऋं ॠं लृं त्रिलक्षकोटिभेदवन्ह्यादित्र्यक्षरात्मकाखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै त्रिकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः ।

अनाहते—६ ॡं एं ऐं चतुर्लक्षकोटिभेदचन्द्रादिचतुरक्षरात्मकाखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै चतुष्कूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः ।

विशुद्धे—६ ओं औं अं अः पञ्चलक्षकोटिभेदसूर्यादिपञ्चाक्षरात्मकाखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै पञ्चकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः ।

आज्ञायां—६ कं खं गं षड्लक्षकोटिभेदस्कन्दादिषडक्षरात्मकाखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै षट्कूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः ।

विन्दौ—६ घं ङं चं सप्तलक्षकोटिभेदगणपत्यादिसप्ताक्षरात्मकाखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै सप्तकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः ।

अर्धेन्दौ—६ छं जं झं अष्टलक्षकोटिभेदवटुकाद्यष्टाक्षरात्मकाखिल-मन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै अष्टकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः।

रोधिन्यां—६ ञं टं ठं नवलक्षकोटिभेदब्रह्मादिनवाक्षरात्मकाखिल-मन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै नवकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः।

नादे—६ डं ढं णं दशलक्षकोटिभेदविष्ण्वादिदशाक्षरात्मकाखिल-मन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै दशकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः।

नादान्ते—६ तं थं दं एकादशलक्षकोटिभेदरुद्राद्येकादशाक्षरात्मकाखिल-मन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै एकादशकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः।

शक्तौ—धं नं पं द्वादशलक्षकोटिभेदवाण्यादिद्वादशाक्षरात्मकाखिल-मन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै द्वादशकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः।

व्यापिकायां—६ फं वं भं त्रयोदशलक्षकोटिभेदलक्ष्म्यादित्रयोदशाक्षरा-त्मकाखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै त्रयोदशकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः।

समनस्थाने—६ मं यं रं चतुर्दशलक्षकोटिभेदगौर्यादिचतुर्दशाक्षरात्म-काखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै चतुर्दशकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः।

उन्मन्यां—६ लं वं शं पञ्चदशलक्षकोटिभेददुर्गादिपञ्चदशाक्षरात्मका-खिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै पञ्चदशकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः।

ध्रुवमण्डले—६ षं सं हं ळं क्षं षोडशलक्षकोटिभेदत्रिपुरादिषोडशाक्ष-रात्मकाखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै षोडशकूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमः।

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः (सकलमातृकामुच्चार्य) सकलमन्त्राधिदेवतायै श्रीपराम्बादेव्यै नमः ह्सौः स्हौः श्रीं ह्रीं ऐं ॐ इति व्यापकं कुर्यात्।

इति मन्त्रन्यासः

अथ देवतान्यासः

दक्षपादे—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः अं आं सहस्रकोटिऋषिकुलसेवितायै निवृत्यम्बादेव्यै नमः।

वामपादे—६ इं ईं सहस्रकोटियोगिनीकुलसेवितायै प्रतिष्ठाम्बादेव्यै नमः।

दक्षगुल्फे—६ उं ऊं सहस्रकोटितपस्विकुलसेवितायै विद्याम्बादेव्यै नमः।

वामगुल्फे—६ ऋं ॠं सहस्रकोटिशान्तकुलसेवितायै शान्ताम्बादेव्यै नमः।

दक्षजङ्घायां—६ लं लॄं सहस्रकोटिमुनिकुलसेवितायै शान्त्यतीताम्बादेव्यै नमः ।

वामजङ्घायां–६ एं ऐं सहस्रकोटिदैवतकुलसेवितायै हृल्लेखाम्बादेव्यै नमः ।

दक्षजानुनि–६ ओं औं सहस्रकोटिराक्षसकुलसेवितायै गगनाम्बादेव्यै नमः ।

वामजानुनि–६ अं अः सहस्रकोटिविद्याधरकुलसेवितायै रक्ताम्बादेव्यै नमः ।

दक्षोरौ–६ कं खं सहस्रकोटिसिद्धकुलसेवितायै महोच्छुष्माम्बादेव्यै नमः ।

वामोरौ–६ गं घं सहस्रकोटिसाध्यकुलसेवितायै करालिकाम्बादेव्यै नमः ।

दक्षोरुमूले–६ ङं चं सहस्रकोट्यप्सरःकुलसेवितायै जयाम्बादेव्यै नमः ।

वामोरुमूले–६ छं जं सहस्रकोटिगन्धर्वकुलसेवितायै विजयाम्बादेव्यै नमः ।

दक्षपार्श्वे–६ झं ञं सहस्रकोटिगुह्यककुलसेवितायै अजिताम्बादेव्यै नमः ।

वामपार्श्वे–६ टं ठं सहस्रकोटियक्षकुलसेवितायै अपराजिताम्बादेव्यै नमः ।

दक्षस्तने–६ डं ढं सहस्रकोटिकिन्नरकुलसेवितायै वामाम्बादेव्यै नमः ।

वामस्तने–६ णं तं सहस्रकोटिपन्नगकुलसेवितायै ज्येष्ठाम्बादेव्यै नमः ।

दक्षदोर्मूले–५ थं दं सहस्रकोटिपितृकुलसेवितायै रौद्र्यम्बादेव्यै नमः ।

वामदोर्मूले–६ धं नं सहस्रकोटिगणेश्वरकुलसेवितायै मायाम्बादेव्यै नमः ।

दक्षभुजे–६ पं फं सहस्रकोटिभैरवकुलसेवितायै कुण्डलिन्यम्बादेव्यै नमः ।

वामभुजे–६ बं भं सहस्रकोटिवटुककुलसेवितायै काल्यम्बादेव्यै नमः ।

दक्षांसे–६ मं यं सहस्रकोटिक्षेत्रेशकुलसेवितायै कालरात्र्यम्बादेव्यै नमः ।

वामांसे–६ रं लं सहस्रकोटिप्रमथकुलसेवितायै भगवत्यम्बादेव्यै नमः ।

दक्षकर्णे–६ वं शं सहस्रकोटिब्रह्मकुलसेवितायै सर्वैश्वर्यम्बादेव्यै नमः ।

वामकर्णे–६ षं सं सहस्रकोटिविष्णुकुलसेवितायै सर्वज्ञात्र्यम्बादेव्यै नमः ।

भाले–६ हं ळं सहस्रकोटिरुद्रकुलसेवितायै सर्वकर्त्र्यम्बादेव्यै नमः ।

ब्रह्मरन्ध्रे—६ क्षं सहस्रकोटिचराचरकुलसेवितायै कुलशक्त्यम्बादेव्यै नमः ।

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः (सकलमातृकामुच्चार्य) समस्तदेवताधिपायै श्रीपराम्बादेव्यै नमः ह्सौः स्हौः श्रीं ह्रीं ऐं ॐ इति व्यापकं कुर्यात् ॥

इति देवतान्यासः

अथ मातृकाभैरवन्यासः

मूलाधारे—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः कं खं गं घं ङं अनन्तकोटि भूचरीकुलसहितायै आं क्षां मङ्गलाम्बादव्यै आं क्षां ब्रह्माण्यम्बादेव्यै अनन्तकोटिभूचरकुलसहिताय अं क्षं मङ्गलनाथाय अं क्षं असिताङ्गभैरव-नाथाय नमः।

स्वाधिष्ठाने—६ चं छं जं झं ञं अनन्तकोटिखेचरीकुलसहितायै ईं ळां चर्चिकाम्बादेव्यै ईं ळां माहेश्वर्यम्बादेव्यै अनन्तकोटिवेतालकुलसहिताय इं ळं चर्चिकनाथाय इं ळं रुरुभैरवनाथाय नमः।

मणिपूरके—६ टं ठं डं ढं णं अनन्तकोटिपातालचरीकुलसहितायै ऊं हां योगेश्वर्यम्बादेव्यै ऊं हां कौमार्यम्बादेव्यै अनन्तकोटिपिशाचकुल-सहिताय उं हं योगेश्वरनाथाय उं हं चण्डभैरवनाथाय नमः।

अनाहते—६ तं थं दं धं नं अनन्तकोटिदिक्चरीकुलसहितायै ॠं सां हरसिद्धाम्बादेव्यै ॠं सां वैष्णव्यम्बादेव्यै अनन्तकोट्यपस्मारकुलसहिताय ऋं सं हरसिद्धनाथाय ऋं सं क्रोधभैरवनाथाय नमः।

विशुद्धौ—६ पं फं बं भं मं अनन्तकोटिसहचरीकुलसहितायै ॡं षां भट्टिन्यम्बादेव्यै ॡं षां वाराह्यम्बादेव्यै अनन्तकोटिब्रह्मराक्षसकुलसहिताय ऌं षं भट्टिनाथाय ऌं षं उन्मत्तभैरवनाथाय नमः।

आज्ञायां—६ यं रं लं वं अनन्तकोटिगिरिचरीकुलसहितायै ऐं शां किलिकिलाम्बादेव्यै ऐं शां इन्द्राण्यम्बादेव्यै अनन्तकोटिचेटककुलसहिताय एं शं किलिकिलिनाथाय एं शं कपालीभैरवनाथाय नमः।

भाले—६ शं षं सं हं अनन्तकोटिसहचरीकुलसहितायै औं वां काल-रात्र्यम्बादेव्यै औं वां चामुण्डाम्बादेव्यै अनन्तकोटिप्रेतकुलसहिताय ओं वं कालरात्रिनाथाय ओं वं भीषणभैरवनाथाय नमः।

ब्रह्मरन्ध्रे—६ ळं क्षं अनन्तकोटिजलचरीकुलसहितायै अः ळां भीषणा-म्बादेव्यै अः ळां महालक्ष्म्यम्बादेव्यै अनन्तकोटिकूष्माण्डकुलसहिताय अं ळं भीषणनाथाय अं ळं संहारभैरवनाथाय नमः।

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः स्हौः (समस्तमातृकामुच्चार्य) समस्तमातृका-भैरवाधिदेवतायै श्रीपराम्बादेव्यै नमः ह्सौः स्हौः श्रीं ह्रीं ऐं ॐ इति व्यापकं कुर्यात्। इति मातृकाभैरवन्यासः

अनन्तरं पूर्वोक्तैः ह्सां ह्सीं इत्यादिभिः करषडङ्गन्यासं विधाय देवं ध्यायेत् । यथा—

अमृतार्णवमध्योद्यत्स्वर्णद्वीपे मनोरमे ।
कल्पवृक्षवनान्तःस्थे नवमाणिक्यमण्डपे ॥
नवरत्नमयश्रीमत् सिंहासनगताम्बुजे ।
त्रिकोणान्तस्समासीनं चन्द्रसूर्यायुतप्रभम् ॥
अर्धाम्बिकासमायुक्तं प्रविभक्तविभूषणम् ।
कोटिकन्दर्पलावण्यं सदा षोडशवार्षिकम् ॥
मन्दस्मितमुखाम्भोजं त्रिणेत्रं चन्द्रशेखरम् ।
दिव्याम्बरस्रगालेपं दिव्याभरणभूषितम् ॥
पानपात्रञ्च चिन्मुद्रां त्रिशूलं पुस्तकं करैः ।
विद्यासंसदि बिभ्राणं सदानन्दमुखेक्षणम् ॥
महाषोढोदिताशेषदेवतागणसेवितम् ।
एवं चित्ताम्बुजे ध्यायेदर्धनारीश्वरं शिवम् ॥
पुरुषं वा स्मरेद्देवि स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत् ।
अथवा निष्कलं ध्यायेत्सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥
सर्वतेजोमयं ध्यायेत्सचराचरविग्रहम् ।

इति स्वाभेदेन ध्यात्वा, योनि-लिङ्ग-सुरभि-कपाल-ज्ञान-त्रिशूल पुस्तक-वनमाला-नभो-महामुद्रा इति दशमुद्राः प्रदर्श्य शिरसि श्रीगुरुं ध्यायेत् ।

सहस्रदलपङ्कजे सकलशीतरश्मिप्रभं ।
वराभयकराम्बुजं विमलगन्धपुष्पाम्बरम् ।
प्रसन्नवदनेक्षणं सकलदेवतारूपिणं
स्मरेच्छिरसि हंसगं तदभिधानपूर्वं गुरुम् ॥

इति श्रीगुरुं ध्यात्वा तद्विद्यया तत्पादुकां शिरसि विन्यस्य प्रणम्य स्वगुरुकृतं स्वनाम स्वमूलाधारे स्मृत्वा शिवरूपं स्वात्मानं ध्यायेत् ॥

इति महाषोढान्यासः

महाषोढान्यासफलं कुलार्णवे

एवं न्यासे कृते देवि साक्षात्परशिवो भवेत् ।
मन्त्री चात्र न सन्देहो निग्रहानुग्रहक्षमः ॥

महाषोढाह्वयं न्यासं यः करोति दिने दिने ।
देवास्सर्वे नमस्यन्ति तं नमामि न संशयः ॥

महाषोढाह्वयं न्यासं यत्र मन्त्री न्यसेत्ततः ।
दिव्यक्षेत्रं समुद्दिष्टं समन्ताद्दशयोजनम् ॥

कृत्वा न्यासमिमं देवि यत्र गच्छति मानवः ।
तत्र श्रीर्विजयो लाभः स मान्यः पुरुषः प्रिये ॥

महाषोढाकृतन्यासः त्वदीक्षायाभिवन्दिते ।
स मासान्मृत्युमाप्नोति यदि त्राता शिवः स्वयम् ॥

वज्रपञ्जरनामानमेवं न्यासं करोति यः ।
दिव्यान्तरिक्षभूशैलजलारण्यनिवासिनः ॥

उद्दण्डभूतवेतालदेवरक्षोग्रहादयः ।
भयग्रस्तेन मनसा नेक्षन्ते साधकं प्रिये ॥

महाषोढाह्वयं न्यासं ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
देवास्सर्वे प्रकुर्वन्ति ऋषयश्च मुनीश्वराः ॥

बहुनोक्तेन किं देवि सुशिष्याय प्रकाशयेत् ।
अक्षयां लभते सिद्धिं रहसि न्यासमाचरेत् ॥

अस्मात्परतरस्साक्षाद्देवताभावसिद्धिदः ।
लोके नास्ति न सन्देहः सत्यं सत्यं न संशयः ॥

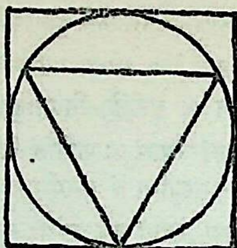
ऊर्ध्वाम्नायप्रवेशश्च पराप्रासादचिन्तनम् ।
महाषोढापरिज्ञानं नाल्पस्य तपसः फलम् ॥

इति महाषोडान्यासफलम्

अथ पात्रासादनम्

वर्धनीकलशस्थापनम्

स्वपुरतः वामभागे त्रिकोणवृत्तचतुरस्रात्मकं मण्डलं मत्स्यमुद्रया विलिख्य—



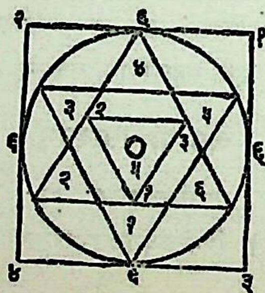
मण्डलं मूलेन समभ्यर्च्य, कर्पूरादिवासितजलपूरितं कलशं गन्धपुष्पाक्षतैः अलङ्कृत्य मण्डलोपरि स्थापयेत् ॥

ॐ कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः ।
मूले तत्र स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः ॥
कुक्षौ तु सागराः सर्वे सप्तद्वीपा वसुन्धरा ।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदोऽप्यथर्वणः ॥
अङ्गैश्च सहिताः सर्वे कलशाम्बुसमाश्रिताः ।
गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ॥
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन्सन्निधिं कुरु ।
सर्वे समुद्राः सरितस्तीर्थानि च नदा ह्रदाः ॥
आयान्तु देवीपूजार्थं दुरितक्षयकारकाः ।

मूलेन अष्टवारमभिमन्त्र्य, धेनुमुद्रां प्रदर्श्य, तज्जलेन पूजोपकरणानिआत्मानञ्च प्रोक्षयेत् ॥

सामान्यार्घ्यविधिः

वर्धनीपात्रस्य दक्षिणतः वर्धनीपात्रगतेन जलेन विन्दु-त्रिकोण-षट्कोण-वृत्त-चतुरस्रात्मकं मण्डलं मत्स्यमुद्रया निर्माय ॥



चतुरस्रे अग्नीशासुरवायुकोणेषु मध्ये दिक्षु च बालाषडङ्गैः सम्पूजयेत् । यथा-

३ ऐं हृदयाय नमः । हृदयशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

३ क्लीं शिरसे स्वाहा । शिरःशक्तिश्रीपादुकां ,,

३ सौः शिखायै वषट् । शिखाशक्तिश्रीपादुकां ,,

३ ऐं कवचाय हुं । कवचशक्तिश्रीपादुकां ,,

३ क्लीं नेत्रत्रयाय वौषट् । नेत्रशक्तिश्रीपादुकां ,,

३ सौः अस्त्राय फट् । अस्त्रशक्तिश्रीपादुकां ,,

षट्कोणे स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन—

३ ऐं क-५ हृदयाय नमः । हृदयशक्तिश्रीपादुकां ,,

३ क्लीं ह-६ शिरसे स्वाहा । शिरःशक्तिश्रीपादुकां ,,

३ सौः स-४ शिखायै वषट् । शिखाशक्तिश्रीपादुकां ,,

३ ऐं क-५ कवचाय हुं । कवचशक्तिश्रीपादुकां ,,

३ क्लीं ह-६ नेत्रत्रयाय वौषट् । नेत्रशक्तिश्रीपादुकां ,,

३ सौः स-४ अस्त्राय फट् । अस्त्रशक्तिश्रीपादुकां ,,

त्रिकोणे स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन—

३ ऐं क-५ नमः ३ सौः स-४ नमः

३ क्लीं ह-६ नमः ३ मूलं नमः (बिन्दौ)

ततः ३ अस्त्राय फट्—इति सामान्यार्घ्यपात्रस्य आधारं प्रक्षाल्य

३ अं अग्निमण्डलाय धर्मप्रददशकलात्मने श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्याः सामान्यार्घ्यपात्राधाराय नमः ॥

(इति मण्डलोपरि संस्थाप्य)

३ अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसं अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।
रां रीं रूं रैं रौं रः रमलवरयूं अग्निमण्डलाय नमः, इति अग्निमण्डलं विभाव्य दशवह्निकलाः पूजयेत् । तद्यथा—

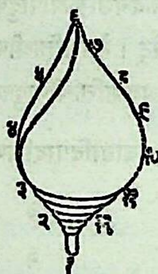
१०

३ यं धूम्रार्चिष्कलायै नमः	३ षं सुश्री कलायै नमः
३ रं ऊष्मा ,, ,,	३ सं सुरूपा ,, ,,
३ लं ज्वलिनी ,, ,,	३ हं कपिला ,, ,,
३ वं ज्वालिनी ,, ,,	३ ळं हव्यवाहिनी ,,
३ शं विस्फुलिङ्गिनी ,,	३ क्षं कव्यवाहिनी ,,

३ अस्त्राय फट्—इति क्षालितं शङ्खं गृहीत्वा—

३ उं सुर्यमण्डलायार्थप्रदद्वादशकलात्मने श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्याः सामान्यार्घ्यपात्राय नमः—इति संस्थाप्य

३ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्। ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः हमलवरयूम्। सूर्यमण्डलाय नमः—इति (सूर्यमण्डलं विभाव्य द्वादशसूर्यकलाः पूजयेत्) तद्यथा—



३ कं भं तपिनी कलायै नमः	३ छं दं सुषुम्ना कलायै नमः
३ खं बं तापिनी ,,	३ जं थं भोगदा ,,
३ गं फं धूम्रा ,,	३ झं तं विश्वा ,,
३ घं पं मरीची ,,	३ ञं णं वोधिनी ,,
३ ङं नं ज्वालिनी ,,	३ टं ढं धारिणी ,,
३ चं धं रुचि ,,	३ ठं डं क्षमा ,,

३ मं सोममण्डलाय कामप्रदषोडशकलात्मने श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्याः सामान्यार्घ्यामृताय नमः—इति वर्धनीसलिलमापूर्य क्षीरबिन्दुं दत्वा।

३ आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोमवृष्णियं भवावाजस्य सङ्गथे। सां सीं सूं सैं सौं सः समलवरयूं सोममण्डलाय नमः—इति सोममण्डलं विभाव्य षोडश सोमकलाः पूजयेत्। तद्यथा—

३ अं अमृता कलायै नमः	३ लृं चन्द्रिका कलायै नमः
३ आं मानदा ,,	३ लॄं कान्ति ,,
३ इं पूषा ,,	३ एं ज्योत्स्ना ,,
३ ईं तुष्टि ,,	३ ऐं श्री ,,
३ उं पुष्टि ,,	३ ओं प्रीति ,,
३ ऊं रति ,,	३ औं अङ्गदा ,,
३ ऋं धृति ,,	३ अं पूर्णा ,,
३ ॠं शशिनी ,,	३ अः पूर्णामृता ,,

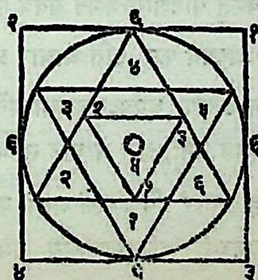
ततस्तस्मिन्शङ्खे अग्नीशासुरवायुकोणेषु मध्ये दिक्षु च क्रमेण षडङ्गैः सम्पूज्य, 'अस्त्राय फट्' इति संरक्ष्य, 'कवचाय हुं' इति अवगुण्ठ्य, धेनुयोनिमुद्रे प्रदर्श्य, मूलेन सप्तवारमभिमन्त्र्य, तत्सलिलपृषतैः पूजोपकरणानि, आत्मानं च प्रोक्ष्य, शङ्खजलं किञ्चित् वर्धन्यां निक्षिपेत्॥

विशेषार्घ्यविधिः

सामान्यार्घ्योदकेन तद्दक्षिणतः बिन्दु-त्रिकोण-षट्कोण वृत्त-चतुरस्रात्मकं मण्डलं मत्स्यमुद्रया विलिख्य, बिन्दौ सानुस्वारं तुरीयस्वरं विलिख्य,

चतुरस्रे प्राग्वत् षडङ्गं सम्पूज्य, षट्कोणे स्वाग्रकोणादिप्रादक्षिण्येन षडङ्गैरभ्यर्च्य, त्रिकोणे मूलत्रिखण्डैरभ्यर्च्य, मूलेन बिन्दुञ्चार्चयेत्।

तद्यथा—



चतुरस्रे अग्नीशासुरवायुकोणेषु मध्ये दिक्षु च—

३ ऐं क ५ हृदयाय नमः,	हृदयशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः
३ क्लीं ह-६ शिरसे स्वाहा,	शिरःशक्तिश्रीपादुकां ,,
३ सौः स-४ शिखायै वषट्,	शिखाशक्तिश्रीपादुकां ,,
३ ऐं क ५ कवचाय हुं,	कवचशक्तिश्रीपादुकां ,,
३ क्लीं ह-६ नेत्रत्रयाय वौषट्,	नेत्रशक्तिश्रीपादुकां ,,
३ सौः स-४ अस्त्राय फट्,	अस्त्रशक्तिश्रीपादुकां ,,

ततः षट्कोणे स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन—

३ ऐं क-५ हृदयाय नमः,	हृदयशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि नमः
३ क्लीं ह-६ शिरसे स्वाहा,	शिरःशक्तिश्रीपादुकां ,,
३ सौः स-४ शिखायै वषट्,	शिखाशक्तिश्रीपादुकां ,,
३ ऐं क-५ कवचाय हुं,	कवचशक्तिश्रीपादुकां ,,
३ क्लीं ह-६ नेत्रत्रयाय वौषट्,	नेत्रशक्तिश्रीपादुकां ,,
३ सौः स-४ अस्त्राय फट्,	अस्त्रशक्तिश्रीपादुकां ,,

ततस्त्रिकोणे स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन—

३ ऐं क-५ नमः	३ सौः स-४ नमः
३ क्लीं ह-६ नमः	३ मूलं नमः (बिन्दौ)

षोडश्युपासकैस्तु षोडशीमन्त्रेणैव सर्वत्र पूजा विधेया ।

अथ ३ अस्त्राय फट् इति आधारं प्रक्षाल्य,

३ ऐं क-५ अं अग्निमण्डलाय धर्मप्रददशकलात्मने श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्याः विशेषार्घ्यपात्राधाराय नमः, इति आधारं संस्थाप्य

३ अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसं अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् । रां रीं रूं रैं रौं रः रमलवरयूं अग्निमण्डलाय नमः—इति अग्निमण्डलं विभाव्य दशवह्निकलाः पूजयेत् । यथा—

३ यं धूम्रार्चिष्कलायै नमः	३ षं सुश्री कलायै नमः
३ रं ऊष्मा ,,	३ सं सुरूपा ,,
३ लं ज्वलिनी ,,	३ हं कपिला ,,
३ वं ज्वालिनी ,,	३ ळं हव्यवाहिनी ,,
३ शं विस्फुलिङ्गिनी ,,	३ क्षं कव्यवाहिनी ,,

ततः—

३ अस्त्राय फट् इति अस्त्रमन्त्रेण विशेषार्घ्यपात्रं प्रक्षाल्य

३ क्लीं ह-६ उं सूर्यमण्डलाय अर्थप्रदद्वादशकलात्मने श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्याः विशेषार्घ्यपात्राय नमः, इति आधारोपरि संस्थाप्य ॥

३ ह्रीं ऐं महालक्ष्मीश्वरि परमस्वामिनि ऊर्ध्वसून्यप्रवाहिनि सोम-सूर्याग्निभक्षिणि परमाकाशभासुरे आगच्छागच्छ विश विश पात्रं प्रतिगृह्ण प्रतिगृह्ण हुं फट् स्वाहा, इति पुष्पाञ्जलिं विकीर्य ॥

३ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् । ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः हमलवरयूं सूर्यमण्डलाय नमः, इति सूर्यमण्डलं विभाव्य द्वादश सूर्यकलाः पूजयेत् ।

३ कं भं तपिनी कलायै नमः	३ छं दं सुषुम्ना कलायै नमः
३ खं बं तापिनी ,,	३ जं थं भोगदा ,,
३ गं फं धूम्रा ,,	३ झं तं विश्वा ,,
३ घं पं मरीचि ,,	३ ञं णं बोधिनी ,,
३ ङं नं ज्वालिनी ,,	३ टं ढं धारिणी ,,
३ चं धं रुचि ,,	३ ठं डं क्षमा ,,

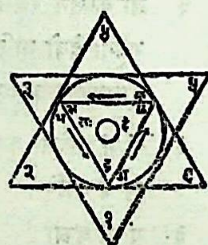
ततो विशेषार्घ्यपात्रे—

२ सौः स-४ मं सोममण्डलाय कामप्रदषोडशकलात्मने श्रीमहात्रिपुर-सुन्दर्याः विशेषार्घ्यामृताय नमः—इति अकारादिक्षकारान्तं क्षकारा-द्यकारान्तं सबिन्दुमातृकयार्पितं कस्तूरीकाद्यधिवासितं क्षीरं पूरयित्वा अष्टगन्धलोलितं पुष्पं निधाय नागरखण्डं निक्षिप्य ॥

३ आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोमवृष्णियम् । भवावाजस्य सङ्गथे ॥ सां सीं सूं सैं सौं सः समलवरयूं सोममण्डलाय नमः—इति सोममण्डलं विभाव्य षोडश सोमकलाः पूजयेत् । यथा—

३ अं अमृता कलायै नमः
३ आं मानदा ,,
३ इं पूषा ,,
३ ईं तुष्टि ,,
३ उं पुष्टि ,,
३ ऊं रति ,,
३ ऋं धृति ,,
३ ॠं शशिनी ,,
३ ऌं चन्द्रिका कलायै नमः
३ ॡं कान्ति ,,
३ एं ज्योत्स्ना ,,
३ ऐं श्री ,,
३ ओं प्रीति ,,
३ औं अङ्गदा ,,
३ अं पूर्णा ,,
३ अः पूर्णामृता ,,

ततः ३ ॐ जुंसः स्वाहा, इति अष्टवारमभिमन्त्र्य ।



तत्रार्घ्यामृते स्वाग्राद्यप्रादक्षिण्येन अकथादि-षोडशवर्णात्मक-रेखात्रयं त्रिकोणं विलिख्य, तदन्तः स्वाग्रादिकोणेषु अप्रादक्षिण्येन हळक्षान्, बहिः प्रादक्षिण्येन पञ्चदशीमूल-खण्डत्रयं, बिन्दौ सबिन्दुतुरीयस्वरं (ईं) तद्वामदक्षयोः क्रमेण हं सः इति च विलिख्य

३ हंसः नमः, इति आराध्य, त्रिकोणस्य परितः वृत्तं, तद्बहिश्च षट्कोणं निर्माय, स्वाग्रकोणादिप्रादक्षिण्येन षडङ्गमन्त्रैः षट्कोणमभ्यर्च्य

३ 'मूलं' तां चिन्मयीं आनन्दलक्षणां अमृतकलशपिशितहस्तद्वयां प्रसन्नां देवीं पूजयामि नमः स्वाहा, इति सुधादेवीं समभ्यर्च्य तदर्घ्यात्किञ्चित् पात्रान्तरेण—

३ वषट्, इत्युद्धृत्य, ३ स्वाहा, इति तत्रैव निक्षिप्य,
३ हुं, इति अवगुण्ठ्य, ३ वौषट्, इति धेनुमुद्रया अमृतीकृत्य
३ फट्, इति संरक्ष्य, ३ नमः, इति पुष्पं दत्वा

३ मूलेन गालिन्या निरीक्ष्य ३ एं, इति योनिमुद्रया नत्वा

३ मूलेन सप्तवारमभिमन्त्र्य, सुधादेवीं षोडशोपचारैः सम्पूज्य, तद्बिन्दुभिः सपर्यासाधनानि प्रोक्ष्य सर्वं विद्यामयं विभावयेत् ॥

शुद्धिसंस्कारः

विशेषार्घ्यपात्रस्य दक्षिणतः सामान्यार्घ्योदकेन त्रिकोण-वृत्तचतुरस्रात्मकं मण्डलं मत्स्यमुद्रया विलिख्य*

३ ॐ ह्रीं ह्रौं नमः शिवाय, इति मण्डलमभ्यर्च्य शुद्धिपात्रं संस्थाप्य

३ ॐ श्लीं पशु हुं फट्, इति अष्टवारमभिमन्त्र्य

३ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः।
भवे भवे नाति भवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ॥

३ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः ॥

३ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥

३ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

३ ईशानस्सर्वविद्यानमीश्वरस्सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम् ॥ इत्यभ्यर्च्य ॥

तदधः, त्रिकोण-वृत्त-चतुरस्रात्मकं मण्डलद्वयं विलिख्य। प्रथममण्डले—

३ हंसश्शिवस्सोहं, सोहं हंसश्शिवः, हंसश्शिवस्सोहं हंसः ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं नमः। इत्यभ्यर्च्य, गुरुपात्रं निधाय। द्वितीयमण्डले—

३ हंस नमः। इत्यभ्यर्च्य, आत्मपात्रं निदध्यात्। ततो विशेषार्घ्यपात्रं करेण संस्पृश्य वक्ष्यमाणचतुर्नवतिमन्त्रैः अभिमन्त्रयेत्—

वह्निकलाः

३ यं धूम्रार्चिषे	नमः	३ षं सुश्रियै	नमः
३ रं ऊष्मायै	,,	३ सं सुरूपायै	,,
३ लं ज्वलिन्यै	,,	३ हं कपिलायै	,,
३ वं ज्वालिन्यै	,,	३ ळं हव्यवाहिन्यै	,,
३ शं विस्फुलिङ्गिन्यै	,,	३ क्षं कव्यवाहिन्यै	,,

* अस्य चित्रं १४४ पुटे द्रष्टव्यम्।

सूर्य कलाः

३	कं भं तपिन्यै	नमः		३	छं दं सुषुम्नायै	नमः
३	खं बं तापिन्यै	,,		३	जं थं भोगदायै	,,
३	गं फं धूम्रायै	,,		३	झं तं विश्वायै	,,
३	घं पं मरीच्यै	,,		३	ञं णं बोधिन्यै	,,
३	ङं नं ज्वालिन्यै	,,		३	टं ढं धारिण्यै	,,
३	चं धं रुच्यै	,,		३	ठं डं क्षमायै	,,

सोमकलाः

३	अं अमृतायै	नमः		३	लृं चन्द्रिकायै	नमः
३	आं मानदायै	,,		३	लॄं कान्त्यै	,,
३	इं पूषायै	,,		३	एं ज्योत्स्नायै	,,
३	ईं तुष्ट्यै	,,		३	ऐं श्रियै	,,
३	उं पुष्ट्यै	,,		३	ओं प्रीत्यै	,,
३	ऊं रत्यै	,,		३	औं अङ्गदायै	,,
३	ऋं धृत्यै	,,		३	अं पूर्णायै	,,
३	ॠं शशिन्यै	,,		३	अः पूर्णामृतायै	,,

ब्रह्मकलाः

३	कं सृष्ट्यै	नमः		३	चं लक्ष्म्यै	नमः
३	खं ऋद्ध्यै	,,		३	छं द्युत्यै	,,
३	गं स्मृत्यै	,,		३	जं स्थिरायै	,,
३	घं मेधायै	,,		३	झं स्थित्यै	,,
३	ङं कान्त्यै	,,		३	ञं सिद्ध्यै	,,

३ हँसश्शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ नमः ॥

विष्णुकलाः

३ टं जरायै नमः	३ तं कामिकायै नमः
३ ठं पालिन्यै ,,	३ थं वरदायै ,,
३ डं शान्त्यै ,,	३ दं ह्लादिन्यै ,,
३ ढं ईश्वर्यै ,,	३ धं प्रीत्यै ,,
३ णं रत्यै ,,	३ नं दीर्घायै ,,

३ प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्याय मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ नमः ॥

रुद्रकलाः

३ पं तीक्ष्णायै नमः	३ यं क्षुधायै नमः
३ फं रौद्र्यै ,,	३ रं क्रोधिन्यै ,,
३ बं भयायै ,,	३ लं क्रियायै ,,
३ भं निद्रायै ,,	३ वं उद्गार्यै ,,
३ मं तन्द्र्यै ,,	३ शं मृत्यवे ,,

३ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ नमः ॥

ईश्वरकलाः

३ षं पीतायै नमः	३ हं अरुणायै नमः
३ सं श्वेतायै ,,	३ क्षं असितायै ,,

३ तद्विष्णोः परम पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ नमः ॥

सदाशिवकलाः

३ अं निवृत्त्यै नमः	३ उं इन्धिकायै नमः।
३ आं प्रतिष्ठायै ,,	३ ऊं दीपिकायै ,,
३ इं विद्यायै ,,	३ ऋं रेचिकायै ,,
३ ईं शान्त्यै ,,	३ ॠं मोचिकायै ,,

३ ॡं परायै नमः ३ ओं ज्ञानामृतायै नमः
६ लूं सूक्ष्मायै ,, ३ औं आप्यायिन्यै ,,
३ एं सूक्ष्मामृतायै ,, ३ अं व्यापिन्यै ,,
३ ऐं ज्ञानायै ,, ३ अः व्योमरूपायै ,,

३ विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा ॥ नमः ॥

३ 'मूलं' नमः ॥

३ अखण्डैकरसानन्दकरे परसुधात्मनि ।
स्वच्छन्दस्फुरणामत्र निधेहि कुलनायिके ॥ नमः ॥

३ अकुलस्थामृताकारे शुद्धज्ञानकरे परे ।
अमृतत्वं निधेह्यस्मिन् वस्तुनि क्लिन्नरूपिणि ॥ नमः ॥

३ तद्रूपिण्यैकरस्यत्वं कृत्वा ह्येतत्स्वरूपिणि ।
भूत्वा परामृताकारा मयि चित्स्फुरणं कुरु ॥ नमः ॥

३ ऐं ब्लूं झ्रौं जुं सः अमृते अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहा ॥ नमः ॥

३ ऐं वद वद वाग्वादिनि ऐं क्लीं क्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदय क्लेदय महाक्षोभं कुरु कुरु क्लीं सौः मोक्षं कुरु कुरु ह्सौः स्हौः ॥ नमः ॥

एवमभिमन्त्रितविशेषार्घ्यामृतात् किञ्चित् गुरुपात्रे उद्धृत्य गुरुत्रयं यजेत् । गुरुः सन्निहितो यदि तस्मै निवेदयेत् ।

पुनः आत्मपात्रे किञ्चिद्विशेषार्घ्यामृतमुद्धृत्य, मूलाधारे वालाग्रमात्रं अनादिवासनारूपेन्धनप्रज्वलितं कुण्डलिन्यधिष्ठितं चिदग्निमण्डलं ध्यात्वा–

३ कुण्डलिन्यधिष्ठितचिदग्निमण्डलाय नमः, इति मनसा सम्पूज्य

३ मूलं पुण्यं जुहोमि स्वाहा ३ मूलं सङ्कल्पं जुहोमि स्वाहा
३ मूलं पापं ,, ३ मूलं विकल्पं ,,
३ मूलं कृत्यं ,, ३ मूलं धर्मं ,,
३ मूलं अकृत्यं ,, ३ मूलं अधर्मं ,,

३ मूलं अधमं जुहोमि वौषट्

३ इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यांमुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा—इति पूर्णाहुतिं विभाव्य

३ आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि। योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि। अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा।

इति आत्मनः कुण्डलिनीरूपे चिदग्नौ होमबुद्ध्या जुहुयात्। विशेषार्घ्यपात्रात्किञ्चित्क्षीरं क्षीरकलशे निक्षिपेत्॥

आविसर्जनं शङ्खं विशेषार्घ्यपात्रञ्च न चालयेत्।

अन्तर्यागः

स च ज्ञानार्णवे दृष्टः, यथा मूलाधारादाब्रह्मबिलं विलसन्तीं विसतन्तुतनीयसीं विद्युत्पुञ्जपिञ्जरां विवस्वदयुतभास्वत्प्रकाशां परश्शतसुधामयूखशीतलतेजोदण्डरूपां परचितिं भावयेत्। ततस्तत्तेजसि—

मूलाधारादधोगते अकुलसहस्रारे, भूपूरस्थितदेवीः,

तदुपरि स्थिते विषुवनाम्नि रक्तवर्णषड्दलपद्मे, षोडशदलदेवीः,

मूलाधारे चतुर्दले अष्टदलदेवीः, स्वाधिष्ठाने षड्दले चतुर्दशारदेवीः, मणिपूरके दशदले बहिर्दशारदेवीः, अनाहते द्वादशदले अन्तर्दशारदेवीः, विशुद्धौ षोडशदले अष्टारदेवी, लम्बिकाग्रे आयुधदेवीः, त्रिकोणदेवीश्च, आज्ञायां द्विदले बिन्दुगतदेवीं च, ध्यात्वा

तत्तदग्रे जीवात्मनं पुष्पपूरिताञ्जलिनिविष्टं भावयन् तत्तत्पूजा मन्त्रैः तत्तदावरणपूजां, देव्याः वामहस्ते पूजासमर्पणं च विभाव्य श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यां सचक्रावयवानि आवरणानि विलीनानि विभाव्य मध्यत्र्यस्राग्रे (देवीपादमूले) स्थितजीवात्मना सहितां श्रीदेवीं हृदयं नीत्वा स्वाञ्जलिगतकुसुमैः तत्र तां सम्पूज्य, ततः अकुलेन्दुगलितामृतधारारूपिणीः चन्दनकुसुमधूपदीपनैवेद्यशालिकरकमलाः पीतासितश्यामरक्तशुक्लवर्णाः धरणिवियदनिलानलजललक्षणपञ्चभूतमयीः सर्वावयवसुन्दरीः पञ्चदेवताः

देव्यग्रे संस्मृत्य, ताभिः चन्दनाद्युपचारान् श्रीदेव्यै समर्पितान् स्मारं स्मारं पञ्चोपचारमुद्राश्च प्रदर्शिताः भावयेत् ॥

ततो देव्या नासायां गन्धदेवता, श्रोत्रे पुष्पदेवता, नाभौ धूपदेवता, नयने दीपदेवता, जिह्वायां नैवेद्यदेवता, इति क्रमेण विलीनाः विभाव्य, मूलविद्यां उच्चरन्, जीवात्मानं श्रीदेवीपादारविन्दमूले लीनं विभाव्य, हृदयगतदेवीरूपं मध्यत्र्यस्रसहितं तत्रैव केवलं ज्योतिर्मयतामापन्नं ध्यायन् संक्षोभिण्यादिनवमुद्राः भावयित्वा, क्षणं न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।

अथ देव्या प्रेरितमानसः सन् पुनः प्रकृतिमालम्ब्य तेजोरूपेण परिणतां परमशिवज्योतिरभिन्नप्रकाशात्मिकां वियदादिविश्वकारणां स्वात्माभिन्नां परचितिं सुषुम्नापथेन उद्गमय्य विनिर्भिन्नविधिबिलविलसदमलदशशत-दलकमलात् वहन्नासापुटेन निर्गतां त्रिखण्डामुद्रामण्डितशिखण्डे कुसुम-गर्भितेऽञ्जलौ समानीय—

३ ह्रीं श्रीं सौः श्रीललितायाः अमृतचैतन्यमूर्तिं कल्पयामि नमः ॥

ध्यानम्

ध्यायेन्निरामयं वस्तु जगत्त्रयविमोहिनीम् । अशेषव्यवहाराणां स्वामिनीं संविदं पराम् ॥
उद्यत्सूर्यसहस्राभां दाडिमीकुसुमप्रभाम् । जपाकुसुमसङ्काशां पद्मरागमणिप्रभाम् ॥
स्फुरत्पद्मनिभां तप्तकाञ्चनाभां सुरेश्वरीम् । रक्तोत्पलदलाकारपादपल्लवराजिताम् ॥
अनर्घरत्नखचितमञ्जीरचरणद्वयाम् । पादाङ्गुलीयकक्षिप्तरत्नतेजोविराजिताम् ॥
कदलीललितस्तम्भसुकुमारोरुकोमलाम् । नितम्बबिम्बविलसद्रक्तवस्त्रपरिष्कृताम् ॥
मेखलाबद्धमाणिक्यकिङ्किणीनादविभ्रमाम् । अलक्ष्यमध्यमां निम्ननाभिं शातोदरीं पराम् ॥
रोमराजिलतोद्भूतमहाकुचफलान्विताम् । सुवृत्तनिबिडोत्तुङ्गकुचमण्डलराजिताम् ॥
अनर्घमौक्तिकस्फारहारभारविराजिताम् । नवरत्नप्रभाराजद्ग्रैवेयकविभूषणाम् ॥
श्रुतिभूषामनोरम्यकपोलस्थलमञ्जुलाम् । उद्यदादित्यसङ्काशताटङ्कमुखप्रभाम् ॥
पूर्णचन्द्रमुखीं पद्मवदनां वरनासिकाम् । स्फुरन्मदनकोदण्डसुभ्रुवं पद्मलोचनाम् ॥
ललाटपट्टसंराजद्रत्नाढ्यतिलकाङ्किताम् । मुक्तामाणिक्यघटितमुकुटस्थलकिङ्किणीम् ॥

स्फुरच्चन्द्रकलाराजन्मुकुटाढ्यां त्रिलोचनाम्। प्रवालवल्लीविलसद्बाहुवल्लीचतुष्टयाम् ॥
इक्षुकोदण्डपुष्पेषुपाशाङ्कुशचतुर्भुजाम् । सर्वदेवमयीमम्बां सर्वसौभाग्यसुन्दरीम् ॥
सर्वतीर्थमयीं दिव्यां सर्वकामप्रपूरिणीम् । सर्वमन्त्रमयीं नित्यां सर्वागमविशारदाम् ॥
सर्वक्षेत्रमयीं देवीं सर्वविद्यामयीं शिवाम् । सर्वयागमयीं विद्यां सर्वदेवस्वरूपिणीम् ॥
सर्वशास्त्रमयीं नित्यां सर्वागमनमस्कृताम् । सर्वाम्नायमयीं देवीं सर्वायतनसेविताम् ॥
सर्वानन्दमयीं ज्ञानगह्वरां संविदं पराम् । एवं ध्यायेत्परामम्बां सच्चिदानन्दरूपिणीम् ॥

इति (निजलीलाङ्गीकृतललितवपुषं विचिन्त्य)

३ ह्सैं ह्स्क्लरीं ह्स्रौः

महापद्मवनान्तस्थे कारणानन्दविग्रहे ।
सर्वभूतहिते मातः एह्येहि परमेश्वरि ॥

श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकामावाहयामि नमः ॥

नित्यादिकमणिमान्तं श्रीकामेश्वराङ्कोपवेशनं विना श्रीदेवीसमानाकृतिवेषभूषणायुधशक्तिचक्रं ओघत्रयगुरुमण्डलं च वक्ष्यमाणेषु आवरणेषु निजस्वामिन्यभिमुखोपविष्टमवमृश्य

३	मूलं	आवाहिता	भव ॥	३	मूलं	सन्निरुद्धा	भव ॥
३	,,	संस्थापिता	भव ॥	३	,,	सन्मुखी	भव ॥
३	,,	सन्निधापिता	भव ॥	३	,,	अवगुण्ठिता	भव ॥

इति मन्त्रैरावाहनादिषण्मुद्राः प्रदर्श्य, वन्दनधेनुयोनिमुद्राश्च प्रदर्शयेत् । अथ हृदयादिषडङ्गमुद्राः बाणाद्यायुधमुद्राश्च तत्तन्मन्त्रपूर्वकं प्रदर्शयेत् ॥

चतुःषष्ट्युपचारपूजाः

अथ श्रीपरदेवतायाः चतुष्षष्ट्युपचारानाचरेत् । तेष्वशक्तानां भावनया पुष्पाक्षतानर्पयेत् ॥

३ श्रीललितायै पाद्यं कल्पयामि नमः

,, आभरणावरोपणं ,,
,, सुगन्धितैलाभ्यङ्गं ,,
,, मज्जनशालाप्रवेशनं ,,
,, श्रीललितायै मज्जनशालामणिपीठोपवेशनं क० नमः
,, दिव्यस्नानीयोद्वर्तनं ,,

३ श्रीललितायै उष्णोदकस्नानं क० नमः, श्रीललितायै प्रथमभूषणं (माङ्गल्यसूत्रं) क० नमः

,, *कनककलशच्युत-सकलतीर्थाभिषेकं	,,	,, कनकचिन्ताकं	,,
,, धौतवस्त्रपरिमार्जनं	,,	,, पदकं	,,
,, अरुणदुकूलपरिधानं	,,	,, महापदकं	,,
,, अरुणकुचोत्तरीयं	,,	,, मुक्तावलिं	,,
,, आलेपमण्डपप्रवेशनं	,,	,, एकावलिं	,,
,, आलेपमण्डपमणि-पीठोपवेशनं	,,	,, छन्नवीरं	,,
		,, केयूरयुगलचतुष्टयं	,,
,, दिव्यगन्धसर्वाङ्गीण-विलेपनं	,,	,, वलयावलिं	,,
		,, ऊर्मिकावलिं	,,
		,, काञ्चीदाम	,,
,, केशभारस्य कालागरुधूपं	,,	,, कटिसूत्रं	,,
,, कुसुममालाः	,,	,, सौभाग्याभरणं	,,
,, भूषणमण्डपप्रवेशनं	,,	,, पादकटकं	,,
,, भूषणमण्डपमणि, पीठोपवेशनं	,,	,, रत्ननूपुरं	,,
		,, पादाङ्गुलीयकं	,,
		,, एककरे पाशं	,,
,, नवमणिमकुटं	,,	,, अन्यकरेऽङ्कुशं	,,
,, चन्द्रशकलं	,,	,, इतरकरे पुण्ड्रेक्षुचापं	,,
,, सीमन्तसिन्दूरं	,,	,, अपरकरे पुष्पबाणान्	,,
,, तिलकरत्नं	,,	,, श्रीमन्माणिक्यपादुके	,,
,, कालाञ्जनं	,,	,, स्वसमानवेषाभिरावरण-देवताभिः सह महा-चक्राधिरोहणं	,,
,, वालीयुगलं	,,		
,, मणिकुण्डलयुगलं	,,	,, कामेश्वराङ्कपर्यङ्को-पवेशनं	,,
,, नासाभरणं	,,		
,, अधरयावकं	,,	,, अमृतासवचषकं	,,

* इह श्रीसूक्तेनाभिषेको विधेयः ॥

३ श्री ललितायै आचमनीयं कल्पयामि नमः।
" *कर्पूरवीटिकां " "
" आनन्दोल्लासविलासहासं " "

अथ मङ्गलारार्तिकम्—कलधौतादिभाजने कुङ्कुमचन्दनादिलिखित-स्याष्टषट्चतुर्दलाद्यन्यतमस्य कमलस्य चन्द्राकारचरुगोलकवत्यां चणकमुद्गजुषि वा कर्णिकायां दलेषु च पयःशर्करापिण्डीकृतयवगोधूमादिपिष्टोपादानकानि त्रिकोणशिरस्कडमर्वाकृतीनि चतुरङ्गुलोत्सेधानि घृतपाचितानि नवसप्तपञ्चान्यतमसंख्यानि दीपपात्राणि निधाय तेषु गोघृतं कर्षप्रमितं आपूर्य कर्पूरगर्भितां वर्तिकां हृल्लेखया प्रज्वाल्य—

३ श्रीं ह्रीं ग्लूं स्लूं म्लूं प्लूं न्लूं ह्रीं श्रीं—इति नवाक्षर्या रत्नेश्वरीविद्यया अभिमन्त्र्य चक्रमुद्रां प्रदर्श्य मूलेनाभ्यर्च्य—

३ जगद्ध्वनिमन्त्रमातः स्वाहाः—इति मन्त्रपूर्वकं गन्धाक्षतादिना घण्टां सम्पूज्य तां वादयन् जानुचुम्बितभूतलः तत्पात्रं आमस्तकमुद्धृत्य—

३ श्रीललितायै मङ्गलारार्तिकं कल्पयामि नमः।
समस्तचक्रचक्रेशीयुते देवि नवात्मिके।
आरार्तिकमिदं तुभ्यं गृहाण मम सिद्धये॥

इति नववारं श्रीदेव्या आचूडं आचरणाब्जं परिभ्राम्य दक्षभागे स्थापयेत्।

३ श्रीललितायै छत्रं कल्प० नमः ३ श्रीललितायै गन्धं कल्प० नमः
" चामरयुगलं " " पुष्पं "
" दर्पणं " " धूपं "
" तालवृन्तं " " दीपं "

अथ नैवेद्यम्—देव्याः पुरतः स्वदक्षिणे चतुरस्रमण्डलं निर्माय तत्र आधारोपरि नैवेद्यं निधाय मूलेन प्रोक्ष्य वं इति धेनुमुद्रया अमृतीकृत्य मूलेन त्रिवारं अभिमन्त्र्य आपोशनं दत्वा—

३ श्रीललितायै नैवेद्यं कल्पयामि नमः॥

अथ श्रीललितायै पानीयं उत्तरापोशनं हस्तप्रक्षालनं गण्डूषं आचमनीयं ताम्बूलञ्च कल्पयेत्।

---

* एलालवङ्गकर्परकस्तूरीकेशरादिभिः, जातीफलदलैः पूगैः लाङ्गल्यूषणनागरैः चूर्णैःखदिरसारैश्च युक्ता कर्पूरवीटिका।

३ द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः क्रों ह्स्ख्फ्रें ह्सौः ऐं—इति सर्वसंक्षोभिण्यादिनव-
मुद्राः प्रदर्शयेत् ।

षोडश्युपासकास्तु ह्स्रैं ह्स्क्लरीं ह्स्रौः इति त्रिखण्डामपि प्रदर्शयेयुः ॥

चतुरायतनपूजा

नित्योत्सवे तु, तत्तद्देवतामन्त्रैः तर्पणमात्रमेव । विस्तरेणापि लिख्यते यथेच्छं विधेयम् ।

नैर्ऋते च गणेशानं सूर्यं वायव्य एव च ।
ईशाने विष्णुमाग्नेये शिवं चैव प्रपूजयेद् ॥

गणपतिपूजा

बीजापूरगदेक्षुकार्मुकरुजाचक्राब्जपाशोत्पल
व्रीह्यग्रस्वविषाणरत्नकलशप्रोद्यत्करम्भोरुहः ।
ध्येयो वल्लभया सपद्मकरया श्लिष्टोज्ज्वलद्भूषया
विश्वोत्पत्तिविपत्तिसंस्थितिकरो विघ्नेश इष्टार्थदः ॥

श्रीमहागणपतिं ध्यायामि आवाहयामि महागणपतये नमः आसनं समर्पयामि पाद्यं समर्पयामि अर्घ्यं समर्पयामि आचमनीयं समर्पयामि मधुपर्कं समर्पयामि स्नानं समर्पयामि वस्त्रालङ्कारान् समर्पयामि । यज्ञोपवीतं समर्पयामि गन्धान् धारयामि ।

ॐ सुमुखाय	नमः	ॐ धूमकेतवे	नमः
एकदन्ताय	,,	गणाध्यक्षाय	,,
कपिलाय	,,	फालचन्द्राय	,,
गजकर्णकाय	,,	गजाननाय	,,
लम्बोदराय	,,	वक्रतुण्डाय	,,
विकटाय	,,	शूर्पकर्णाय	,,
विघ्नराजाय	,,	हेरम्बाय	,,
विनायकाय	,,	स्कन्दपूर्वजाय	,,

श्रीमहागणपतये नमः नानाविधपरिमलपुष्पाणि समर्पयामि ॥

३ 'गणपतिमूल' महागणपति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । इति त्रिः सन्तर्पयेत् ॥

महागणपतये नमः, धूपमाघ्रापयामि। दीपं दर्शयामि। नैवेद्यं समर्पयामि। मध्ये मध्ये पानीयं, उत्तरापोशनं, हस्तप्रक्षालनं, पादप्रक्षालनं आचमनीयं, ताम्बूलं समर्पयामि। कर्पूरनीराजनं दर्शयामि॥

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्। महागणपतये नमः मन्त्रपुष्पं समर्पयामि। प्रदक्षिणनमस्कारान् समर्पयामि। समस्तराजोपचारदेवोपचारान् समर्पयामि। अनया पूजया भगवान्सर्वदेवात्मकः श्रीमहागणपतिः सुप्रसन्नो वरदो भवतु॥

सूर्यपूजा

अध्यारूढं रथेन्द्रे वसुदलसहिते वृत्तषट्कोणमध्ये
भास्वन्तं भास्करन्तं शुभदमसिगदाशङ्खचक्राब्जयुग्मम्।
वेदाकारं त्रिमूर्तिं त्रिविधनयगुणं विश्वरूपं पुराणं
ह्रांह्रींह्रूङ्काररूपं सुरनुतमनिशं भावयेद्धृत्सरोजे॥

आदित्यं ध्यायामि। आवाहयामि। आदित्याय नमः, आसनं समर्पयामि। पाद्यं समर्पयामि। अर्घ्यं समर्पयामि। आचमनीयं समर्पयामि। मधुपर्कं समर्पयामि। स्नानं समर्पयामि। आचमनीयं समर्पयामि। वस्त्रालङ्कारान् समर्पयामि। यज्ञोपवीतं समर्पयामि गन्धान् धारयामि।

ॐ मित्राय	नमः	हिरण्यगर्भाय	नमः
रवये	,,	मरीचये	,,
ॐ सूर्याय	,,	आदित्याय	,,
भानवे	,,	सवित्रे	,,
खगाय	,,	अर्काय	,,
पूष्णे	,,	भास्कराय	,,

आदित्याय नमः नानाविधपरिमलपत्रपुष्पाणि समर्पयामि॥

३ 'आदित्यमूलं' आदित्यश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। इति त्रिः सन्तर्पयेत्॥

आदित्याय नमः, धूपमाघ्रापयामि। दीपं दर्शयामि। नैवेद्यं समर्पयामि। मध्ये मध्ये पानीयं, उत्तरापोशनं, हस्तप्रक्षालनं, पादप्रक्षालनं आचमनीयं, ताम्बूलञ्च समर्पयामि। कर्पूरनीराजनं दर्शयामि।

ॐ भास्कराय विद्महे महाद्युतिकराय धीमहि। तन्नो आदित्यः प्रचोदयात्। आदित्याय नमः मन्त्रपुष्पं समर्पयामि। प्रदक्षिणनमस्कारान् समर्पयामि। समस्तराजोपचारदेवोपचारान् समर्पयामि। अनया पूजया भगवान्सर्वदेवात्मकः आदित्यः सुप्रीतः सुप्रसन्नो वरदो भवतु॥

विष्णुपूजा

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाकरं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥

श्रीमहाविष्णुं ध्यायामि। आवाहयामि। महाविष्णवे नमः, आसनं समर्पयामि। पाद्यं समर्पयामि। अर्घ्यं समर्पयामि। आचमनीयं समर्पयामि। मधुपर्कं समर्पयामि। स्नानं समर्पयामि। आचमनीयं समर्पयामि। वस्त्रालङ्कारान् समर्पयामि। यज्ञोपवीतं समर्पयामि गन्धान्-धारयामि।

ॐ केशवाय	नमः	ॐ त्रिविक्रमाय	नमः
नारायणाय	,,	वामनाय	,,
माधवाय	,,	श्रीधराय	,,
गोविन्दाय	,,	हृषीकेशाय	,,
विष्णवे	,,	पद्मनाभाय	,,
मधुसूदनाय	,,	दामोदराय	,,

महाविष्णवे नमः नानाविधपरिमलपत्रपुष्पाणि समर्पयामि॥

३ 'अष्टाक्षरी' महाविष्णुश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। इति त्रिः सन्तर्पयेत्।

महाविष्णवे नमः। धूपमाघ्रापयामि। दीपं दर्शयामि। नैवेद्यं समर्पयामि। मध्ये मध्ये पानीयं, उत्तरापोशनं, हस्तप्रक्षालनं, पादप्रक्षालनं, आचमनीयं, ताम्बूलं समर्पयामि कर्पूरनीराजनं दर्शयामि।

ॐ नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। महाविष्णवे नमः मन्त्रपुष्पं समर्पयामि। प्रदक्षिणनमस्कारन् समर्पयामि।

समस्तराजोपचारदेवोपचारान् समर्पयामि । अनया पूजया भागवान्सर्व-देवात्मकः श्रीमहाविष्णुः सुप्रसन्नो वरदो भवतु ॥

शिवपूजा

मूले कल्पद्रुमस्य द्रुतकनकनिभं चारुपद्मासनस्थं
वामाङ्कारूढगौरीनिविडकुचभराभोगगाढोपगूढम् ।
सर्वालङ्कारकान्तं वरपरशुमृगाभीतिहस्तं त्रिणेत्रं
वन्दे बालेन्दुमौलिं गजवदनगुहाश्लिष्टपार्श्वं महेशम् ॥

साम्बपरमेश्वरं ध्यायामि । आवाहयामि । परमेश्वराय नमः, आसनं समर्पयामि । पाद्यं समर्पयामि । अर्घ्यं समर्पयामि । आचमनीयं समर्पयामि । मधुपर्कं समर्पयामि । स्नानं समर्पयामि । आचमनीयं समर्पयामि । वस्त्रा-लङ्कारान् समर्पयामि । यज्ञोपवीतं समर्पयामि । गन्धान् धारयामि ।

ॐ भवाय	देवाय नमः	ॐ रुद्राय	देवाय नमः
शर्वाय	,,	उग्राय	,,
ईशानाय	,,	भीमाय	,,
पशुपतये	,,	महते	,,

परमेश्वराय नमः । नानाविधपरिमलपत्रपुष्पाणि समर्पयामि ।

३ 'पञ्चाक्षरी' सम्बपरमेश्वरश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । इति त्रिः सन्तर्पयेत् ॥

परमेश्वराय नमः । धूममाघ्रापयामि । दीपं दर्शयामि । नैवेद्यं समर्पयामि । मध्ये मध्ये पानीयं, उत्तरापोशनं, हस्तप्रक्षालनं, पादप्रक्षालनं आचमनीयं, ताम्बूलञ्च समर्पयामि । कर्पूरनीराजनं दर्शयामि ॥

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि । तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् । परमेश्वराय नमः मन्त्रपुष्पं समर्पयामि । प्रदक्षिणनमस्कारान् समर्पयामि । समस्तराजोपचारदेवोपचारान् समर्पयामि । अनया पूजया भगवान्सर्व-देवात्मकः साम्बपरमेश्वरः सुप्रीतः सुप्रसन्नो वरदो भवतु ॥

अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं चतुरायतनार्चनम् ॥
इति सामान्यार्घ्योदकेन देव्याः वामहस्ते पूजां समर्पयेत् ॥

लयाङ्गपूजा

३ 'मूलं' श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरी (पराभट्टारिका) श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति बिन्दौ देवीं त्रिः सन्तर्पयेत् ।

षडङ्गार्चनम्

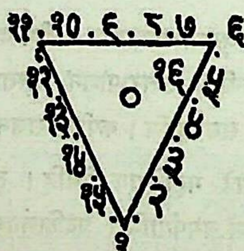
देव्यङ्गे (बिन्दौ) अग्नीशासुरवायुकोणेषु मध्ये दिक्षु च—

३	ऐं	क-५	हृदयाय नमः ।	हृदयशक्तिश्रीपादुकां	पू० त० नमः
३	क्लीं	ह-६	शिरसे स्वाहा ।	शिरःशक्तिश्रीपादुकां	,,
३	सौः	स-४	शिखायै वषट् ।	शिखाशक्तिश्रीपादुकां	,,
३	ऐं	क-५	कवचाय हुं ।	कवचशक्तिश्रीपादुकां	,,
३	क्लीं	ह-६	नेत्रत्रयाय वौषट् ।	नेत्रशक्तिश्रीपादुकां	,,
३	सौः	स-४	अस्त्राय फट् ।	अस्त्रशक्तिश्रीपादुकां	,,

षोडश्युपासकानान्तु षोडशीषट्कूटेन षडङ्गपूजा ।

नित्यादेवीयजनम्

३ अः पञ्चदशी अः श्रीललितामहानित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । इति बिन्दौ महानित्यां त्रिर्यजेत् ॥
अथ तत्तत्तिथिनित्यामन्त्रेण तत्तत्तिथिनित्यां बिन्दौ त्रिर्यजेत् ।
ततः पूर्ववत् महानित्यां त्रिर्यजेत् ॥



ततो मध्यत्रिकोणस्य दक्षिणरेखायां वारुण्याद्यग्नेयान्तं क्रमेण अं आं इं ईं उं इति, पूर्वरेखायां आग्नेयादीशानान्त ऊं ऋं ॠं लृं ॡं इति,

उत्तररेखायां ईशानादिवारुण्यन्तं एं ऐं ओं औं अं इति, पञ्चपञ्चस्वरान् विभाव्य तेषु वामावर्तेन कामेश्वर्यादिनित्या यजेत्। बिन्दौ षोडशं स्वरं (अः) विचिन्त्य महानित्यां यजेत्। यथा—

३ अं ऐं सकलह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे सौः अं कामेश्वरीनित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ आं ऐं भगभुगे भगिनि भगोदरि भगमाले भगावहे भगगुह्ये भगयोनि भगनिपातिनि सर्वभगवशङ्करि भगरूपे नित्यक्लिन्ने भगस्वरूपे सर्वाणि भगानि मे ह्यानय वरदे रेते सुरेते भगक्लिन्ने क्लिन्नद्रवे क्लेदय द्रावय अमोघे भगविच्चे क्षुभ क्षोभय सर्वसत्त्वान् भगेश्वरि ऐं ब्लूं जं ब्लूं भें ब्लूं मों ब्लूं हें ब्लूं हें क्लिन्ने सर्वाणि भगानि मे वशमानय स्त्रीं हर ब्लें ह्रीं, आं भगमालिनीनित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ इं ॐ ह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा, इं नित्यक्लिन्नानित्या श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ ईं ॐ क्रों भ्रों क्रौं भ्रौं छ्रौं ज्रौं स्वाहा ईं भेरुण्डानित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ उं ओं ह्रीं वह्निवासिन्यै नमः उं वह्निवासिनीनित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ ऊं ह्रीं क्लिन्ने ऐं क्रों नित्यमदद्रवे ह्रीं ऊं महावज्रेश्वरीनित्या श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः

३ ऋं ह्रीं शिवदूत्यै नमः ऋं शिवदूतीनित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ ॠं ॐ ह्रीं हुं खे च छे क्षः स्त्री हुं क्षें ह्रीं फट् ॠं त्वरितानित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ ऌं ऐं क्लीं सौः ऌं कुलसुन्दरीनित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ ॡं ह्स्क्लर्डें ह्स्क्लर्ड़ीं ह्स्कलर्डौः ॡं नित्यानित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ एं ह्रीं फ्रें स्रूं क्रों आं क्लीं ऐं ब्लूं नित्यमद्रवे हुं फ्रें ह्रीं एं नीलपताका नित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ ऐं भ्म्र्य्यूं ऐं विजया नित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ ओं स्वौं ओं सर्वमङ्गलानित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ औं ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनि देवदेवि सर्वभूतसंहारकारिके जातवेदसि ज्वलन्ति ज्वलज्वल प्रज्वल प्रज्वल ह्लां ह्लीं ह्लूं र र र र र र र हुं फट् स्वाहा औं ज्वालामालिनीनित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

३ अं च्क्रौं अं चित्रानित्याश्रीपादुकां पजयामि तर्पयामि नमः ॥

३ अः पञ्चदशी अः ललितामहानित्याश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

एवं शुक्लपक्षे । कृष्णपक्षे तु चित्राद्याः कामेश्वर्यन्ताः तिथिनित्याः स्वस्वमन्त्रेण तथैव सम्पूज्य बिन्दौ महानित्यां यजेत् ॥

गुरुमण्डलार्चनम्

३ परौघेभ्यो नमः । इति बिन्दुत्रिकोणयोः पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा बिन्दौ महापादुकां यजेत् ॥ यथा—

३ ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं ह्सौः सहक्षमलवरयीं स्हौः श्रीविद्यानन्दनाथात्मकचर्यानन्दनाथश्रीमहापादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ॥

त्रिकोणे वामकोणादारभ्य पूर्वरेखायां—

३ उड्डीशानन्दनाथ श्रीपादुकां पू० त० नमः

३ प्रकाशानन्दनाथ ,,

३ विमर्शानन्दनाथ ,,

३ आनन्दानन्दनाथ ,,

दक्षकोणादारभ्य दक्षरेखायां—

३ षष्ठीशानन्दनाथ ,,

३ ज्ञानानन्दनाथ ,,

३ सत्यानन्दनाथ श्रीपादुकां पू० त० नमः

३ पूर्णानन्दनाथ ,,

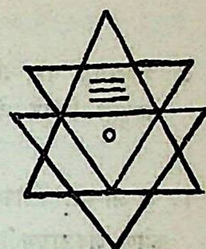
स्वाग्रकोणादारभ्य वामरेखायां-

३ मित्रेशानन्दनाथ ,,

३ स्वभावानन्दनाथ ,,

३ प्रतिभानन्दनाथ ,,

३ सुभगानन्दनाथ ,,



१
२
३

ततो देव्याः पश्चात् मूलत्रिकोणपूर्वरेखायाः तदव्यवहितप्रागग्रत्रिकोणपश्चिमरेखायाश्चान्तरे विमलाजयिन्योर्मध्ये अरुणावाग्देवतासन्निधौ दक्षिणोत्तरायतं रेखात्रयं विभाव्य दक्षिण-संस्थाक्रमेण दिव्यसिद्धमानवाख्यमोघत्रयं मुनिवेदवसुसङ्ख्यं समर्चयेत् ।

यथा—

३ दिव्यौघसिद्धौघमानवौघेभ्यो नमः—इति पुष्पाञ्जलिः ।

दिव्यौघः । प्रथमरेखायां—

३ परप्रकाशानन्दनाथश्रीपादुकां पू० त० नमः
३ परशिवानन्दनाथ „
३ पराशक्त्यम्बा „
३ कौलेश्वरनन्दनाथ „
३ शुक्लदेव्यम्बा „
३ कुलेश्वरानन्दनाथ „
३ कामेश्वर्यम्बा „

सिद्धौघः । द्वितीयरेखायां—

३ भोगानन्दनाथ „
३ क्लिन्नानन्दनाथ „
३ समयानन्दनाथ „
३ सहजानन्दनाथ „

मानवौघः । तृतीयरेखायां—

३ गगनानन्दनाथ श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ विश्वानन्दनाथ „
३ विमलानन्दनाथ „
३ मदनानन्दनाथ „
३ भुवनानन्दनाथ „
३ लीलाम्बा „
३ स्वात्मानन्दनाथ „
३ प्रियानन्दनाथ „

ततः प्रथमरेखायां परमेष्ठिगुरुमन्त्रेण परमेष्ठिगुरुं, द्वितीयरेखायां परम-गुरुमन्त्रेण परमगुरुं, तृतीयरेखायां स्वगुरुमन्त्रेण स्वगुरुञ्च यजेत् ॥

———

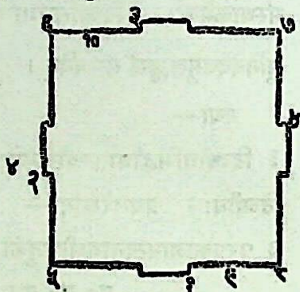
आवरणपूजा

३ सविन्मये परे देवि परामृतरुचि प्रिये।
अनुज्ञां त्रिपुरे देहि परिवारार्चनाय मे ॥

प्रथमावरणम्

३ अं आं सौः त्रैलोक्यमोहनचक्राय नमः। इति पुष्पाञ्जलिं दद्यात् ॥

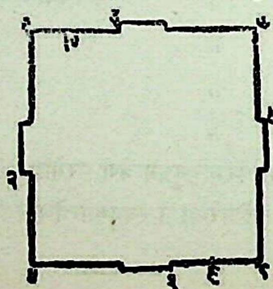
क्रमेण शुक्लारुणपीतवर्णरेखात्रयस्य लकारप्रकृतिकपृथिव्यात्मकस्य चतुरस्रस्य प्रवेशरीत्या प्रथमरेखायां पश्चिमादिद्वारचतुष्टयदक्षिणभागेषु वाय्वादिकोणेषु च पश्चिमनैर्ऋतयोः पूर्वेशानयोश्च मध्ये क्रमेण—



३ अं अणिमासिद्धि श्रीपादुकां पू० त० नमः	३ पं प्राकाम्यसिद्धि श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ लं लघिमासिद्धि ,,	३ भुं भुक्तिसिद्धि ,,
३ मं महिमासिद्धि ,,	३ इं इच्छासिद्धि ,,
३ ईं ईशित्वसिद्धि ,,	३ पं प्राप्तिसिद्धि ,,
३ वं वशित्वसिद्धि ,,	३ सं सर्वकामसिद्धि ,,

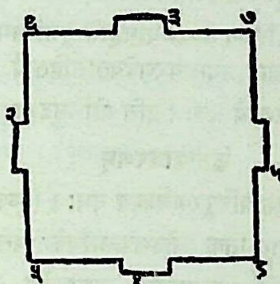
इति स्वस्य तत्तदाभिमुख्यं भावयन् पूजयेत्। एवमुत्तरत्रापि ॥

अथ चतुरस्रमध्यरेखायां प्रागुक्तद्वारवामभागेषु च क्रमेण—



३ आं ब्राह्मीमातृ श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ ईं माहेश्वरीमातृ ,,
३ ऊं कौमारीमातृ ,,
३ ऋं वैष्णवीमातृ ,,
३ लॄं वाराहीमातृ श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ ऐं माहेन्द्रीमातृ ,,
३ औं चामुण्डामातृ ,,
३ अः महालक्ष्मीमातृ ,,

ततः चतुरस्रान्त्यरेखायां प्रथमरेखोक्तक्रमेण—



३ द्रां सर्वसंक्षोभिणीमुद्राशक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
३ द्रीं सर्वविद्राविणीमुद्राशक्ति ,,
३ क्लीं सर्वाकर्षिणीमुद्राशक्ति ,,
३ ब्लूं सर्ववशङ्करीमुद्राशक्ति ,,
३ सः सर्वोन्मादिनीमुद्राशक्ति ,,
३ क्रों सर्वमहाङ्कुशामुद्राशक्ति ,,
३ ह्स्ख्फ्रें सर्वखेचरीमुद्राशक्ति ,,
३ ह्सौः सर्वबीजामुद्राशक्ति ,,
३ ऐं सर्वयोनिमुद्राशक्ति ,,
३ ह्स्रैं ह्स्क्लरीं ह्स्रौः सर्वत्रिखण्डामुद्राशक्ति श्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ एताः प्रकटयोगिन्यः त्रैलोक्यमोहने चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः । (पुष्पाञ्जलिः)

अणिमासिद्धेः पुरतः—

३ अं आं सौः त्रिपुराचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पू० त० नमः

३ अं *अणिमासिद्धिः ,,

३ द्रां सर्वसंक्षोभिणीमुद्राशक्ति ,,

३ द्रां इति सर्वसंक्षोभिणीमुद्रां प्रदर्श्य—

३ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम् ॥

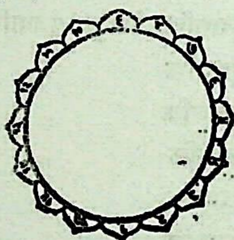
इति सामान्यार्घ्योदकेन देव्या वामहस्ते पूजां समर्प्य—

३ प्रकटयोगिनीमयूखायै प्रथमावरणदेवतासहितायै श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकायै नमः । इति योनिमुद्रया प्रणमेत् ॥

द्वितीयावरणम्

३ ऐं क्लीं सौः सर्वाशापरिपूरकचक्राय नमः । (पुष्पाञ्जलिः)

श्वेतवर्णे सकारप्रकृतिक षोडशकलात्मके चन्द्रस्वरूपे स्रवदमृतरसे षोडशदलकमले देव्यग्रदलमारभ्य वामावर्तेन—



३ अं कामाकर्षिणी नित्याकलादेवी श्रीपादुकां पू० त० नमः

३ आं बुद्ध्याकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,

३ इं अहङ्काराकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,

३ ईं शब्दाकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,

३ उं स्पर्शाकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,

३ ऊं रूपाकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,

३ ऋं रसाकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,

---

* चक्रेश्वर्या दक्षे सिद्धिः, वामे मुद्रा । एवमुत्तरत्रापि ।

३ ॠं गन्धाकर्षिणी नित्याकलादेवी श्रीपादुकां पू०त० नमः
३ ऌं चित्ताकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,
३ ॡं धैर्याकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,
३ एं स्मृत्याकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,
३ ऐं नामाकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,
३ ओं बीजाकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,
३ औं आत्माकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,
३ अं अमृताकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,
३ अः शरीराकर्षिणी नित्याकलादेवी ,,

३ एताः गुप्तयोगिन्यः सर्वाशापरिपूरके चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः। (पुष्पाञ्जलिः)

कामाकर्षिण्याः पुरतः—

३ ऐं क्लीं सौः त्रिपुरेशी चक्रेश्वरी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ लं लघिमासिद्धि ,,
३ द्रीं सर्वविद्राविणीमुद्राशक्ति ,,
३ द्रीं—इति सर्वविद्राविणीमुद्रां प्रदर्श्य—
३ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं द्वितीयावरणार्चनम् ॥ इति पूजां समर्प्य—
३ गुप्तयोगिनीमयूखायै द्वितीयावरणदेवतासहितायै श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकायै नमः। इति योनिमुद्रया प्रणमेत्।

तृतीयावरणम्

३ ह्रीं क्लीं सौः सर्वसंक्षोभणचक्राय नमः। (पुष्पाञ्जलिः)

हकारप्रकृतिक—अष्टमूर्त्यात्मक-शिवाभिन्ने जपाकुसुममित्रे अष्टपत्रे श्रीदेव्याः पृष्ठदलमारभ्य पूर्वादिदिक्षु आग्नेयादिविदिक्षु च क्रमेण—

३ कं खं गं घं ङं अनङ्गकुसुमादेवी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ चं छं जं झं ञं अनङ्गमेखलादेवी „
३ टं ठं डं ढं णं अनङ्गमदनादेवी „
३ तं थं दं धं नं अनङ्गमदनातुरादेवी „
३ पं फं बं भं मं अनङ्गरेखादेवी „
३ यं रं लं वं अनङ्गवेगिनीदेवी „
३ शं षं सं हं अनङ्गाङ्कुशादेवी „
३ ळं क्षं अनङ्गमालिनीदेवी „

३ एताः गुप्ततरयोगिन्यः सर्वसंक्षोभणे चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तुः नमः । (पुष्पाञ्जलिः)

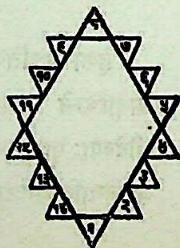
अनङ्गकुसुमायाः पुरतः—

३ ह्रीं क्लीं सौः त्रिपुरसुन्दरीचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ मं महिमासिद्धि „
३ क्लीं सर्वाकर्षिणीमुद्राशक्ति „
३ क्लीं—इति सर्वाकर्षिणीमुद्रां प्रदर्श्य—
३ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं तृतीयावरणार्चनम् ॥ इति पूजां समर्प्य—
३ गुप्ततरयोगिनीमयूखायै तृतीयावरणदेवतासहितायै
श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकायै नमः ।
इति योनिमुद्रया प्रणमेत् ॥

तुरीयावरणम्

३ हैं ह्क्लीं ह्सौः सर्वसौभाग्यदायकचक्राय नमः । (पुष्पाञ्जलिः)

ईकारप्रकृतिकचतुर्दशभुवनात्मक-महामायारूपे दाडिमीप्रसूनसहोदरे चतुर्दशारे देव्यग्रकोणमारभ्य वामावर्तेन—



३ कं सर्वसंक्षोभिणीशक्ति श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ खं सर्वविद्राविणीशक्ति ,,
३ गं सर्वाकर्षिणीशक्ति ,,
३ घं सर्वाह्लादिनीशक्ति ,,
३ ङं सर्वसम्मोहिनीशक्ति ,,
३ चं सर्वस्तम्भिनीशक्ति ,,
३ छं सर्वजृम्भिणीशक्ति ,,
३ जं सर्ववशङ्करीशक्ति श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ झं सर्वरञ्जिनीशक्ति ,,
३ ञं सर्वोन्मादिनीशक्ति ,,
३ टं सर्वार्थसाधिनीशक्ति ,,
३ ठं सर्वसम्पत्तिपूरणीशक्ति ,,
३ डं सर्वमन्त्रमयीशक्ति ,,
३ ढं सर्वद्वन्द्वक्षयङ्करीशक्ति ,,

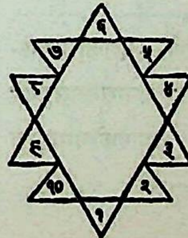
३ एताः सम्प्रदाययोगिन्यः सर्वसौभाग्यदायके चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः (पुष्पाञ्जलिः)। सर्वसंक्षोभिण्याः पुरतः—

३ हैं ह्क्लीं ह्सौः त्रिपुरवासिनीचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ ईं ईशित्वसिद्धि ,,
३ ब्लूं सर्ववशङ्करीमुद्राशक्ति ,,
३ ब्लूं इति सर्ववशङ्करीमुद्रां प्रदर्श्य—
३ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं तुरीयावरणार्चनम्॥ इति पूजां समर्प्य—
३ सम्प्रदाययोगिनीमयूखायै तुरीयावरणदेवतासहितायै
श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकायै नमः।
इति योनिमुद्रया प्रणमेत्।

पञ्चमावरणम्

३ ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः सर्वार्थसाधकचक्राय नमः। (पुष्पाञ्जलिः)

एकारप्रकृतिकदशावतारात्मकविष्णुस्वरूपे प्रभापराभूतसिन्दूरे बहिर्दशारे देव्यग्रकोणमारभ्य वामावर्तेन—



३ णं सर्वसिद्धिप्रदादेवी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ तं सर्वसम्पत्प्रदादेवी „
३ थं सर्वप्रियङ्करीदेवी „
३ दं सर्वमङ्गलकारिणीदेवी „
३ धं सर्वकामप्रदादेवी „
३ नं सर्वदुःखविमोचिनीदेवी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ पं सर्वमृत्युप्रशमनीदेवी „
३ फं सर्वविघ्ननिवारिणीदेवी „
३ बं सर्वाङ्गसुन्दरीदेवी „
३ भं सर्वसौभाग्यदायिनीदेवी „

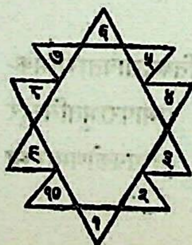
३ एताः कुलोत्तीर्णयोगिन्यः सर्वार्थसाधके चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः। (पुष्पाञ्जलिः) सर्वसिद्धिप्रदायाः पुरतः—

३ ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः त्रिपुराश्रीचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ वं वशित्वसिद्धि „
३ सः सर्वोन्मादिनीमुद्राशक्ति „
३ सः—इति सर्वोन्मादिनीमुद्रां प्रदर्श्य—
३ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं पञ्चमावरणार्चनम् ॥ इति पूजां समर्प्य—
३ कुलोत्तीर्णयोगिनीमयूखायै पञ्चमावरणदेवतासहितायै श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकायै नमः।
इति योनिमुद्रया प्रणमेत् ॥

षष्ठावरणम्

३ ह्रीं क्लीं ब्लें सर्वरक्षाचक्राय नमः। (पुष्पाञ्जलिः)

रेफप्रकृतिक—दशकलात्मक-वैश्वानराभिन्ने जपासुमनसहचरे अन्तर्दशारे देव्यग्रकोणमारभ्य वामावर्तेन :—



३ मं सर्वज्ञादेवी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ यं सर्वशक्तिदेवी „
३ रं सर्वैश्वर्यप्रदादेवी „
३ लं सर्वज्ञानमयीदेवी „
३ वं सर्वव्याधिविनाशिनीदेवी „
३ शं सर्वाधारस्वरूपादेवी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ षं सर्वपापहरादेवी „
३ सं सर्वानन्दमयीदेवी „
३ हं सर्वरक्षास्वरूपिणीदेवी „
३ क्षं सर्वेप्सितफलप्रदादेवी „

३ एताः निगर्भयोगिन्यः सर्वरक्षाकरे चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः । (पुष्पाञ्जलिः)

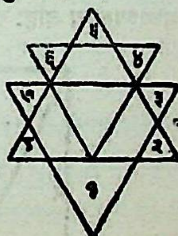
सर्वज्ञायाः पुरतः—

३ ह्रीं क्लीं ब्लें त्रिपुरमालिनीचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ पं प्राकाम्यसिद्धि „
३ क्रों सर्वमहाङ्कुशामुद्राशक्ति „
३ क्रों—इति सर्वमहाङ्कुशामुद्रां प्रदर्श्य—
३ अभीष्टसिद्धि मे देहि शरणागतवत्सले ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं षष्ठाख्यावरणार्चनम् ॥ इति पूजां समर्प्य—
३ निगर्भयोगिनीमयूखायै षष्ठावरणदेवतासहितायै श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकायै नमः । इति योनिमुद्रया प्रणमेत् ॥

सप्तमावरणम्

३ ह्रीं श्रीं सौः सर्वरोगहरचक्राय नमः (पुष्पाञ्जलिः)

ककारप्रकृतिक-अष्टमूर्त्यात्मक-कामेश्वरस्वरूपे पद्मरागरुचिरे अष्टारे देव्यग्रकोणमारभ्य वामावर्तेन—



३ अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः ब्लूं वशिनी वाग्देवता श्रीपादुकां पू० त० नमः

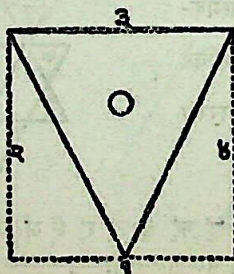
३ कं खं गं घं ङं क्ल्ह्रीं कामेश्वरी वाग्देवता श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ चं छं जं झं ञं न्व्लीं मोदिनी वाग्देवता ,,
३ टं ठं डं ढं णं य्लूं विमला वाग्देवता ,,
३ तं थं दं धं नं ज्म्रीं अरुणा वाग्देवता ,,
३ पं फं बं भं मं ह्स्ल्व्यूं जयिनी वाग्देवता ,,
३ यं रं लं वं झ्म्र्यूं सर्वेश्वरी वाग्देवता ,,
३ शं षं सं हं ळं क्षं क्ष्म्रीं कौलिनी वाग्देवता ,,

३ एताः रहस्ययोगिन्यः सर्वरोगहरे चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः। (पुष्पाञ्जलिः) वशिन्याः पुरतः—

३ ह्रीं श्रीं सौः त्रिपुरासिद्धाचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पू० त० नमः
३ भुं भुक्तिसिद्धि ,,
३ ह्स्ख्फ्रें सर्वखेचरीमुद्राशक्ति ,,
३ ह्स्ख्फ्रें—इति सर्वखेचरीमुद्रां प्रदर्श्य—
३ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं सप्तमावरणार्चनम् ॥ इति पूजां समर्प्य—
३ रहस्ययोगिनीमयूखायै सप्तमावरणदेवतासहितायै श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकायै नमः। इति योनिमुद्रया प्रणमेत् ॥

अष्टमावरणम्

मध्यत्र्यस्त्रस्य बहिः पश्चिमादिदिक्षु प्रादक्षिण्येन—



३ यां रां लां वां सां द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः सर्वजम्भनेभ्यः कामेश्वरीकामेश्वरबाणेभ्यो नमः । बाणशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

३ थं धं सर्वसम्मोहनाभ्यां कामेश्वरीकामेश्वरधनुर्भ्यां नमः । धनुःशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

३ ह्रीं आं सर्ववशीकरणाभ्यां कामेश्वरीकामेश्वरपाशाभ्यां नमः पाशशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

३ क्रों क्रों सर्वस्तम्भनाभ्यां कामेश्वरीकामेश्वराङ्कुशाभ्यां नमः । अङ्कुशशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
इत्यायुधार्चनं विदध्यात् । ततः—

३ ह्स्रैं ह्स्क्लरीं ह्स्रौः सर्वसिद्धिप्रदचक्राय नमः । (पुष्पाञ्जलिः)

नादप्रकृतिगुणत्रयप्रधानत्रिशक्तिरूपरेखात्रयात्मके बन्धूकपुष्पबन्धुकिरणे त्रिकोणे, अग्रदक्षवामकोणेषु बिन्दौ च क्रमेण—

३ ऐं क-५ अग्निचक्रे कामगिरिपीठे मित्रेशनाथ-नवयोनिचक्रात्मक-आत्मतत्व - सृष्टिकृत्य-जाग्रद्दशाधिष्ठायक-इच्छाशक्ति - वाग्भवात्मक - वागीश्वरीस्वरूप-रुद्रात्मशक्ति-महाकामेश्वरी-श्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ क्लीं ह-६ सूर्यचक्रे जालन्धरपीठे षष्ठीशनाथ-दशारद्वयचतुर्दशारचक्रात्मक विद्यातत्व-स्थितिकृत्य-स्वप्नदशाधिष्ठायक-ज्ञानशक्ति-कामराजात्मक-कामकलास्वरूप - विष्ण्वात्मशक्ति- महावज्रेश्वरीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

३ सौः स-४ सोमचक्रे पूर्णगिरिपीठे उड्डीशनाथ-अष्टदलषोडशदलचतुरस्रचक्रात्मक - शिवतत्व - संहारकृत्य - सुषुप्तिदशाधिष्ठायक-क्रियाशक्ति—शक्तिबीजात्मक - परापरशक्तिस्वरूप - ब्रह्मात्मशक्ति - महाभगमालिनी श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

३ ऐं क-५ क्लीं ह-६ सौः स-४ परब्रह्मचक्रे महोड्याणपीठे चर्यानन्दनाथ-समस्तचक्रात्मक - सपरिवारपरमतत्व - सृष्टिस्थितिसंहारकृत्य - तुरीयदशाधिष्ठायक - इच्छाज्ञानक्रियाशान्ताशक्ति - वाग्भवकामराजशक्तिबीजात्मक – परमशक्तिस्वरूप – परब्रह्मात्मशक्ति-श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

३ एताः अतिरहस्ययोगिन्यः सर्वसिद्धिप्रदे चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः । (पुष्पाञ्जलिः) महाकामेश्वर्याः पुरतः—

३ ह्स्रैं ह्स्क्ल्रीं ह्स्रौः त्रिपुराम्बाचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ इं इच्छासिद्धि „

३ ह्सौः—सर्वबीजमुद्राशक्ति „

३ ह्सौः—इति सर्वबीजमुद्रां प्रदर्श्य—

३ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यमष्टमावरणार्चनम् ।। इति पूजां समर्प्य—

३ अतिरहस्ययोगिनीमयूखायै अष्टमावरणदेवतासहितायै श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकायै नमः । योनिमुद्रया प्रणमेत् ।।

नवमावरणम् ।

३ क-१५ सर्वानन्दमयचक्राय नमः । (पुष्पाञ्जलिः)
बिन्दुभिन्नपरब्रह्मात्मके बिन्दुचक्रे—

३ 'मूलं' श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । इति त्रिः सन्तर्प्य ।

३ एषा परापरातिरहस्ययोगिनी सर्वानन्दमये चक्रे समुद्रा ससिद्धिः सायुधा सशक्तिः सवाहना सपरिवारा सर्वोपचारैः सम्पूजिता सन्तर्पिता सन्तुष्टास्तु नमः । (पुष्पाञ्जलिः) महात्रिपुरसुन्दर्याः पुरतः—

३ 'पञ्चदशी' श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ पं प्राप्तिसिद्धि „

३ ऐं सर्वयोनिमुद्राशक्ति „

३ ऐं—इति सर्वयोनिमुद्रां प्रदर्श्य*

३ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले ।

भक्त्या समर्पये तुभ्यं नवमावरणार्चनम् ।। इति पूजां समर्प्य—

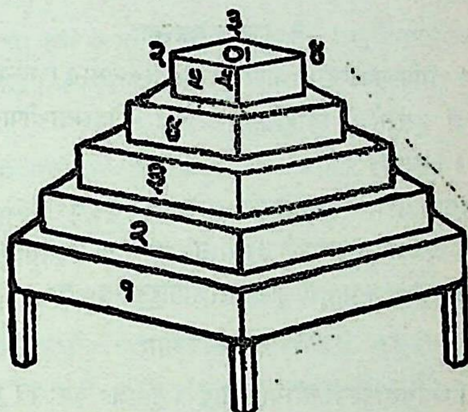
---

* षोडश्युपासकानामेव—
३ हसकल हसकहल सकलह्रीं तुरीयाम्बा श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । इति त्रिः संतर्प्य—

३　परापरातिरहस्ययोगिनीमयूखायै नवमावरणदेवतासहितायै श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकायै नमः । योनिमुद्रया प्रणमेत् ।

पञ्चपञ्चिकापूजा ।

विन्दुचक्रोपरि सिंहासनाकारेण पीठभावनां कृत्वा मध्ये वाय्वीशानाग्नि-निर्ऋतिकोणेषु च क्रमेण यजेत् ॥



१ पञ्च लक्ष्म्यः ।

३　मूलं । श्रीविद्यालक्ष्म्यम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । (मध्ये)
३　श्रीं । लक्ष्मीलक्ष्म्यम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । (वायव्ये)

३　सर्वानन्दमये चक्रे महोड्याणपीठे चर्यानन्दनाथत्मकतुरीयातीतदशाधिष्ठायक-शान्त्यतीतकलात्मक-प्रकाशविमर्शसामरस्यात्मक परब्रह्मस्वरूपिणी परामृतशक्तिः सर्वमन्त्रेश्वरी सर्वपीठेश्वरी सर्वयोगेश्वरी सर्ववागीश्वरी सर्वसिद्धेश्वरी सर्ववीरेश्वरी सकलजगदुत्पत्तिमातृका सचक्रा सदेवता सासना सायुधा सशक्तिः सवाहना सपरिवारा सचक्रेशिका परया अपरया परापरया सपर्यया सर्वोपचारैः सम्पूजिता सन्तर्पिता सन्तुष्टास्तु नमः । इति समष्ट्यञ्जलिं विधाय ।

३　सं सर्वकामसिद्धि श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
३　ह्स्त्रैं ह्स्क्लरीं ह्स्त्रौः सर्वत्रिखण्डामुद्राशक्तिश्रीपादुकां पू० त० नमः ।
३　ह्स्त्रैं ह्स्क्लरीं ह्स्त्रौः सर्वत्रिखण्डामुद्रां प्रदर्श्य ।

३ ॐ श्रीं ह्रीं श्रीं कमले कमलालये प्रसीद प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीं ॐ महालक्ष्म्यै नमः। महालक्ष्मीलक्ष्म्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (ईशाने)

३ श्रीं ह्रीं क्लीं। त्रिशक्तिलक्ष्म्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (आग्नेये)

३. श्रीं सहकलह्रीं श्रीं। सर्वसाम्राज्यलक्ष्म्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (नैर्ऋते)

२ पञ्च कोशाम्बाः

३ मूलं। श्रीविद्याकोशाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (मध्ये)

३ ॐ ह्रीं हंसस्सोहं स्वाहा। परंज्योतिः—कोशाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (वायव्ये)

३ ॐ हंसः। परानिष्कलाकोशाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (ईशाने)

३ हंसः। अजपाकोशाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (आग्नेये)

३ अं आं + ळं क्षं। मातृकाकोशाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (नैर्ऋते)

३ पञ्च कल्पलताः

३ मूलं। श्रीविद्याकल्पलताम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (मध्ये)

३ ह्रीं क्लीं ऐं ब्लूं स्त्रीं। (पञ्चकामेश्वरी) त्वरिताकल्पलताम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। (वायव्ये)

३ ॐ ह्रीं ह्रां हसकलह्रीं ॐ सरस्वत्यै नमः ह्स्त्रैं। पारिजातेश्वरीकल्पलताम्बाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। (ईशाने)

३ श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं क्लीं सौः। (कुमारी) त्रिपुटाकल्पलताम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (आग्नेये)

३ द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः। पञ्चबाणेश्वरीकल्पलताम्बाश्रीपादुकां पू०त० नमः। (नैर्ऋते)

४ पञ्च कामदुघाः

३ मूलं। श्रीविद्याकामदुघाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (मध्ये)

३ ॐ ह्रीं हंसः जुं संजीवनि जीवं प्राणग्रन्थिस्थं कुरु कुरु स्वाहा। अमृतपीठेश्वरीकामदुघाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः। (वायव्ये)

३ ऐं वद वद वाग्वादिनि ह्स्रैं क्लीं क्लिन्ने क्लेदिनि महाक्षोभं कुरु कुरु ह्स्क्ल्रीं सौः ॐ मोक्षं कुरु कुरु ह्स्रौः, सुधाकामदुघाम्बाश्रीपादुकां, पू० त० नमः । (ईशाने)

३ ऐं ब्लूं झ्रौं जुं सः अमृते अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि अमृतवर्षिणी अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहा । अमृतेश्वरीकामदुघाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः । (आग्नेये)

३ ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ॐ नमो भगवति माहेश्वरि अन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा । अन्नपूर्णाकामदुघाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः । (नैर्ऋते)

५ पञ्च रत्नाम्बाः

३ मूलं । श्रीविद्यारत्नाम्बा श्रीपादुकां पू० त० नमः । (मध्ये)

३ ज्झ्रीं महाचण्डे तेजःसङ्कर्षिणी कालमन्थाने हः । सिद्धलक्ष्मीरत्नाम्बा-श्रीपादुकां पू० त० नमः । (वायव्ये)

३ ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ॐ नमो भगवति श्रीमातङ्गीश्वरि सर्वजनमनोहरि सर्वसुखरञ्जनि क्लींह्रींश्रींसर्वराजवशङ्करि सर्वस्त्रीपुरुषवशङ्करि सर्वदुष्टमृगवशङ्करि सर्वसत्ववशङ्करि सर्वलोकवशङ्करि त्रैलोक्यं मे वशमानय स्वाहा सौः क्लीं ऐं श्रीं ह्रीं ऐं । राजमातङ्गीश्वरीरत्नाम्बा-श्रीपादुकां पू० त० नमः । (ईशाने)

३ श्रीं ह्रीं श्रीं । भुवनेश्वरीरत्नाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः । (आग्नेये)

३ ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्तालि वार्तालि वाराहि वाराहि वराहमुखि वराहमुखि अन्धे अन्धिनि नमः रुन्धे रुन्धिनि नमः जम्भे जम्भिनि नमः मोहे मोहिनि नमः स्तम्भे स्तम्भिनि नमः सर्वदुष्टप्रदुष्टानां सर्वेषां सर्ववाक्चित्तचक्षुर्मुखगतिजिह्वास्तम्भनं कुरु कुरु शीघ्रं वश्यं ऐं ग्लौं ऐं ठः ठः ठः ठः हुं फट् स्वाहा । वाराहीरत्नाम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः । (नैर्ऋते)

षड्दर्शनविद्या

३ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा । तारादेवताधिष्ठितबौद्धदर्शनश्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ 'गायत्री' परोरजसे सावदों । ब्रह्मदेवताधिष्ठितवैदिकदर्शनपादुकां पू० त० नमः ।

३ ॐ ह्रीं नमश्शिवाय । रुद्रदेवताधिष्ठितशैवदर्शनश्रीपादुकां पू० त० नमः

३ ॐ ह्रीं घृणिस्सूर्यं आदित्यों । सूर्यदेवताधिष्ठितसौरदर्शनश्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ ॐ नमो नारायणाय । विष्णुदेवताधिष्ठितवैष्णवदर्शनश्रीपादुकां पू०त० नमः ।

३ ॐश्रींह्रींश्रीं । भुवनेश्वरीदेवताधिष्ठितशाक्तदर्शनश्रीपादुकां पू०त० नमः

षडाधारपूजा

३ सां हंसः मूलाधाराधिष्ठानदेवतायै साकिनीसहितगणनाथस्वरूपिण्यै नमः गणनाथस्वरूपिण्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ कां सोहं स्वाधिष्ठानाधिष्ठानदेवतायै काकिनीसहितब्रह्मस्वरूपिण्यै नमः ब्रह्मस्वरूपिण्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ लां हंसस्सोहं मणिपूरकाधिष्ठानदेवतायै लाकिनीसहितविष्णुस्वरूपिण्यै नमः । विष्णुस्वरूपिण्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ रां हंसश्शिवस्सोहं अनाहताधिष्ठानदेवतायै राकिणीसहितसदाशिव-स्वरूपिण्यै नमः । सदाशिवस्वरूपिण्यम्बाश्रीदुकां पू० त० नमः ।

३ डां सोहं हंसश्शिवः विशुद्धयधिष्ठानदेवतायै डाकिनीसहितजीवेश्वर-स्वरूपिण्यै नमः । जीवेश्वरस्वरूपिण्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ हां हंसश्शिवस्सोहं सोहं हंसश्शिवः आज्ञाधिष्ठानदेवतायै डाकिनी-सहितपरमात्मस्वरूपिण्यै नमः । परमात्मस्वरूपिण्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः ।

आम्नायसमष्टिपूजा

३ ह्सैं ह्स्क्ल्रीं ह्स्रौ । पूर्वाम्नायसमयविद्येश्वर्युन्मोदिनीदेव्यम्बा श्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ ॐ ह्रीं ऐं क्लिन्ने क्लिन्नमदद्रवे कुले ह्सौः । दक्षिणाम्नायसमयविद्ये-श्वरीभोगिनीदेव्याम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः ।

३ हसैं हस्त्रीं हस्त्रौ हस्ख्फ्रें भगवत्यम्बे हसक्षमलवरयूं हस्ख्फ्रें अघोरमुखि छ्रां छ्रीं किणि किणि विच्चे हस्त्रौः हस्ख्फ्रें हस्त्रौः। पश्चिमाम्नायसमयविद्येश्वरीकुब्जिकादेव्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः।

३ हस्ख्फ्रें महाचण्डयोगीश्वरि कालिके फट्। उत्तराम्नायसमयविद्येश्वरीकालिकादेव्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः।*

दण्डनाथानामानि

ॐ पञ्चम्यै	नमः	ॐ पोत्रिण्यै	नमः
दण्डनाथायै	,,	शिवायै	,,
सङ्केतायै	,,	वार्ताल्यै	,,
समयेश्वर्यै	,,	महासेनायै	,,
समयसङ्केतायै	,,	आज्ञाचक्रेश्वर्यै	,,
वाराह्यै	,,	अरिघ्न्यै	,,

मन्त्रिणीनामानि

ॐ संगीतयोगिन्यै	नमः	ॐ वीणावत्यै	नमः
श्यामायै	,,	वैणिक्यै	,,
श्यामलायै	,,	मुद्रिण्यै	,,
मन्त्रनायिकायै	,,	प्रियकप्रियायै	,,
मन्त्रिण्यै	,,	नीपप्रियायै	,,
सचिवेशान्यै	,,	कदम्बेश्यै	,,
प्रधानेश्यै	,,	कदम्बवनवासिन्यै	,,
शुकप्रियायै	,,	सदामदायै	,,

---

* षोडश्युपासकानाम्।

३ मखपरयघच् महिचनडयङ् गंशफर् ऊर्ध्वाम्नायसमयविद्येश्वर्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः।

३ भगवति विच्चे महामाये मातङ्गिनि ब्लूं अनुत्तरवाग्वादिनि हस्ख्फ्रें हस्ख्फ्रें हस्त्रौः। अनुत्तरशाङ्कर्यम्बाश्रीपादुकां पू० त० नमः।

ललितानामानि

ॐ सिंहासनेश्यै	नमः	ॐ कामेश्यै	नमः
ललितायै	,,	परमेश्वर्यै	,,
महाराज्यै	,,	कामराजप्रियायै	,,
वराङ्कुशायै	,,	कामकोटिकायै	,,
चापिन्यै	,,	चक्रवर्तिन्यै	,,
त्रिपुरायै	,,	महाविद्यायै	,,
महात्रिपुरसुन्दर्यै	,,	शिवायै	,,
सुन्दरिचक्रनाथायै	,,	अनङ्गवल्लभायै	,,
सम्राज्यै	,,	सर्वपाटलायै	,,
चक्रिण्यै	,,	कुलनाथायै	,,
चक्रेश्वर्यै	,,	आम्नायनाथायै	,,
महादेव्यै	,,	सर्वाम्नायनिवासिन्यै	,,

ॐ शृङ्गारनायिकायै नमः

(अथ यथावकाशं सहस्रनामावल्यादिना अर्चनं कुर्यात् ।)

अथ पुनरपि श्रीदेव्यै पूर्ववत् धूपदीपौ कल्पयित्वा सर्वसंक्षोभिण्यादि मुद्राः सबीजाः प्रदर्श्य, मूलेन त्रिवारं सन्तर्प्य महानैवेद्यं समर्पयेत् । यथा—श्रीदेव्यग्रे चतुरस्रमण्डलं सामान्योदकेन विधाय तत्र आधारोपरि स्थापितं सौवर्णरौप्य-कांस्यादिस्थालीचषकभरितं भक्ष्यभोज्यचोष्यलेह्यपेयात्मकं सद्रव्यशुध्यादि-रसवद्व्यञ्जनमञ्जुलं प्राज्यकपिलाज्यं दधिदुग्धमुग्धं यथासम्भवं वा नैवेद्यं विधाय ।

"स्विन्नं वामे आमं दक्षिणे निदध्यात्" इति श्यामारहस्ये दृष्टम् । सुन्दरीमहोदये तु—"देव्या वामे दीपो दक्षिणे नैवेद्यम्" इत्युक्तम् ।

'ऐं ह्रीं श्रीं मूलेन त्रिः प्रोक्ष्य, वं इति धेनुमुद्रया अमृतीकृत्य, सप्तवारं मूलेनाभिमन्त्र्य, पूर्ववत् आपोशनं कल्पयित्वा ।

हेमपात्रगतं देवि परमान्नं सुसंस्कृतम् ।
पञ्चधा षड्रसोपेतं गृहाण परेश्वरि ॥

इति प्रार्थ्य, पूर्वोक्तनैवेद्योपचारमन्त्रेण निवेद्य, तत्तन्मुद्राविधानपूर्वकं पञ्चप्राणाहुतीः कल्पयेत् । यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं, ऐं प्राणाय स्वाहा, ३ क्लीं अपानाय स्वाहा, ३ सौः व्यानाय स्वाहा, ३ ऐंक्लीं उदानाय स्वाहा, ३ ऐं क्लीं सौः समानाय स्वाहा । ब्रह्मणे स्वाहा । ततः—

३ क ए ई ल ह्रीं नमः आत्मतत्त्वव्यापिनी श्रीललिता तृप्यतु ।

३ ह स क ह ल ह्रीं नमः विद्यातत्त्वव्यापिनी श्रीललिता तृप्यतु ।

३ क ए ई ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं स क ल ह्रीं नमः सर्वतत्त्वव्यापिनी श्रीललिता तृप्यतु ।

इति किञ्चित्, किञ्चित् सामान्यार्घ्योदकं समर्पयेत् ।

पुनः निमीलितनयनः क्षणमवस्थाय, श्रीदेवीं भुक्तवतीं विभाव्य, पूर्ववद् उपचारमन्त्रैः पानीयोत्तरापोशनकरप्रक्षालनगण्डूषपाद्यादीन् कल्पयित्वा, भोजनपात्रं नैर्ऋत्यां निरस्य, अस्त्रेण स्थलं संशोध्य, ततः पुनः प्राग्वदाचमनीयकर्पूरवीटिकादक्षिणाकर्पूरनीराजनानि दत्वा, सुवर्णादिभाजनलिखितं कुङ्कुमपङ्करेखात्मकम् अष्टदलकमलकर्णिकास्थापितमणिमयचषकपूरितं प्रथमं प्रज्वाल्य पुष्पाक्षतैरभ्यर्च्य, उपचारमन्त्रपूर्वकम्—

अन्तस्तेजो बहिस्तेज एकीकृत्यामितप्रभम् ।
त्रिधा दीपं परिभ्राम्य कुलदीपं निवेदये ॥

इति चतुर्दशधा नवधा त्रिधा वा परिभ्राम्य दक्षभागे स्थापयेत् ।

अथाञ्जलौ पुष्पाण्यादाय मन्त्रपुष्पम् । यथा—

मन्त्रपुष्पम्

शिवे शिवसुशीतलामृततरङ्गगन्धोल्लस-
न्नवावरणदेवते नवनवामृतस्यन्दिनि ।
गुरुक्रमपुरस्कृते गुणशरीरनित्योज्ज्वले
षडङ्गपरिवारिते कलित एष पुष्पाञ्जलिः ॥

इति उक्त्वा पुष्पाञ्जलिं समर्पयेत् ।

इत्येते कतिचिच्चतुष्षष्ट्युपचारातिरिक्ता उपचारास्तु पूर्ववत् धूपदीपेतिसूत्रगतेनादिपदेन गृह्यन्ते ।

कामकलाध्यानम्

अथ विन्दुना मुखं बिन्दुद्वयेन स्तनौ सपरार्धेन योनिरिति सानुस्वारे तुरीयस्वरे कामकलात्मिकां ध्यात्वा, सौः इति देवीशक्तिबीजं श्रीदेव्या हृदयत्वेन भावयेत् ।

होमस्य कृताकृतत्वम्

अथ होमः । स च "यद्यग्निकार्यसम्पत्तिः" इति सूत्रगतेन यदिशब्देन कृताकृतः सूचितः । तस्य च करणपक्षे तदितिकर्तव्यता होमप्रकरणाद् ज्ञातव्या । तत्र महाव्याहृतिहोमादर्वागेव बलिदानम् । होमाकरणपक्षे तु बलिदानमात्रम् ।

बलिदानविधिः

यथा—देव्या दक्षभागे सामान्योदकेन त्रिकोणवृत्तचतुरस्रात्मकं मण्डलं परिकल्प्य, ३ ऐं व्यापकमण्डलाय नमः इति गन्धाक्षतैरभ्यर्च्य, अर्घभक्तपूरितोदकं सक्षीरादित्रयं पात्रं तत्र विन्यस्य ।

३ ॐ ह्रीं सर्वविघ्नकृद्भ्यः सर्वभूतेभ्यो हुं फट् स्वाहा, इति मन्त्रं त्रिः पठित्वा दक्षकरार्पितं वामकरतत्त्वमुद्रास्पृष्टं सलिलं बल्युपरि दत्वा वाम पार्ष्णिघातकरास्फोटौ समुदञ्चितवक्त्रो बाणमुद्रया बलिं भूतैः ग्रासितं विभाव्य, प्रणमेत् ।

इति बलिदानविधिः ।

प्रदक्षिणा

अजेशशक्तिगणपभास्कराणां क्रमादिमाः ।
वेदार्थचन्द्रवह्न्यद्रिसंख्याः स्युः सर्वसिद्धये ॥

प्रदक्षिणनमस्कारानन्तरं जपप्रकरणोक्तविधिना जपं निर्वर्त्य स्तुवीत—

पुष्पाञ्जलि स्तोत्रम्

शिवे शिवसुशीतलामृततरङ्गगन्धोल्लस-
न्नवावरणदेवते नवनवामृतस्यन्दिनि ।
गुरुक्रमपुरस्कृते गुणशरीरनित्योज्ज्वले
षडङ्गपरिवारिते कलित एष पुष्पाञ्जलिः ॥

समस्तमुनियक्षकिम्पुरुषसिद्धविद्याधर-
गुहासुरसुराप्सरोगणमुखैर्गणैः सेविते ।
निवृत्तितिलकाम्बरप्रकृतिशान्तिविद्याकला-
कलापमधुराकृते कलित एष पुष्पाञ्जलिः ॥

त्रिवेदकृतविग्रहे त्रिविधकृत्यसन्धायिनि
त्रिरूपसमवायिनि त्रिपुरमार्गसञ्चारिणि ।
त्रिलोचनकुटुम्बिनि त्रिगुणसंविदुद्यत्पदे
त्रयि त्रिपुरसुन्दरि त्रिजगदीशि पुष्पाञ्जलिः ॥

पुरन्दरजलाधिपान्तककुबेररक्षोहर-
प्रभञ्जनधनञ्जयप्रभृतिवन्दनानन्दिते ।
प्रवालपदपीठिकानिकटनित्यवर्तिस्वभू-
विरिञ्चिविहितस्तुते विहित एष पुष्पाञ्जलिः ॥

यदानतिबलादलङ्कृतिरुदेति विद्यावय-
स्तपोद्रविणसौरभाकृतिर्क्षविहवसंविन्मयी ।
जरामरणजन्मजं भयमपैति तस्यै समा-
हिताखिलसमीहितप्रसवभूमि तुभ्यं नमः ॥

निरावरणसंविदुद्भ्रमपरास्तभेदोल्लस-
त्पदास्पदचिदेकतावरशरीरिणि स्वैरिणि ।
रसायनतरङ्गिणीरुचितरङ्गसञ्चारिणि
प्रकामपरिपूरणि प्रसृत एष पुष्पाञ्जलिः ॥

तरङ्गयति सम्पदं तदनु संहरत्यापदं
सुखं वितरति श्रियं परिचिनोति हन्ति द्विषः ।
क्षिणोति दुरितानि यत्प्रणतिरम्ब तस्यै सदा
शिवङ्करि शिवे परे शिवपुरन्ध्रि तुभ्यं नमः ॥

त्वमेव जननी पिता त्वमथ बान्धवस्त्वं सखा
त्वमायुरपरं त्वमाभरणमात्मनस्त्वं कला ।
त्वमेव वपुषःस्थितिस्त्वमखिलायतिस्त्वं गुरुः
प्रसीद परमेश्वरि प्रणतिपात्रि तुभ्यं नमः ॥

कञ्जासनादिसुरवृन्दलसत्किरीट
कोटिप्रघर्षणसमुज्ज्वलदङ्घ्रिपीठे ।
त्वामेव यामि शरणं विगतान्यभावं
दीनं विलोकय दयार्द्रविलोचनेन ॥

महामन्त्रराजान्तबीजं पराख्यं स्वतो न्यस्तबिन्दुं स्वयं न्यस्तहार्दम् ।
भवद्वक्त्रवक्षोजगुह्याभिधानं स्वरूपं सकृद्भावयेत् स त्वमेव ॥
तथान्ये विकल्पेषु निर्विण्णचित्तास्तदेकं समाधाय बिन्दुत्रयन्ते ।
परानन्दसन्धानसिन्धौ निमग्नाः पुनर्गर्भरन्ध्रं न पश्यन्ति धीराः ॥

श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि ।

कल्याणवृष्टिस्तोत्रम्

कल्याणवृष्टिभिरिवामृतपूरिताभि-
र्लक्ष्मी स्वयम्वरणमङ्गलदीपिकाभिः ।
सेवाभिरम्ब तव पादसरोजमूले
नाकारि किं मनसि भक्तिमतां जनानाम् ॥१॥

एतावदेव जननि स्पृहणीयमास्ते
त्वद्वन्दनेषु सलिलस्थगिते च नेत्रे ।
सान्निध्यमुद्यदरुणायतसोदरस्य
त्वद्विग्रहस्य सुधया परयाऽऽप्लुतस्य ॥२॥

ईशित्वभावकलुषाः कतिनाम सन्ति
ब्रह्मादयः प्रतियुगं प्रलयाभिभूताः ।
एकः स एव जननि स्थिरसिद्धिरास्ते
यः पादयोस्तव सकृत् प्रणतिं करोति ॥३॥

लब्ध्वा सकृत् त्रिपुरसुन्दरि तावकीनं
कारुण्यकन्दलितकान्तिभरं कटाक्षम् ।
कन्दर्पभावसुभगास्त्वयि भक्तिभाजः
सम्मोहयन्ति तरुणीर्भुवनत्रयेषु ॥४॥

ह्रीङ्कारमेव तव नाम गृणन्ति वेदाः
मातस्त्रिकोणनिलये त्रिपुरे त्रिनेत्रे ।
यत्संस्मृतौ यमभटादिभयं विहाय
दीव्यन्ति नन्दनवने सह लोकपालैः ॥५॥

हन्तुः पुरामधिगलं परिपूर्यमाणः
क्रूरः कथन्नु भविता गरलस्य वेगः ।
आश्वासनाय किल मातरिदं तवार्धं
देहस्य शश्वदमृताप्लुतशीतलस्य ॥६॥

सर्वज्ञतां सदसि वाक्पटुतां प्रसूते
देवि त्वदङ्घ्रिसरसीरुहयोः प्रणामः ।
किञ्च स्फुरन्मुकुटमुज्ज्वलमातपत्रं
द्वे चामरे च वसुधां महतीं ददाति ॥७॥

कल्पद्रुमैरभिमतप्रतिपादनेषु
कारुण्यवारिधिभिरम्ब भवत्कटाक्षैः ।
आलोकय त्रिपुरसुन्दरि मामनाथं
त्वय्येव भक्तिभरितं त्वयि दत्तदृष्टिम् ॥८॥

हन्तेतरेष्वपि मनांसि निधाय चान्ये
भक्तिं वहन्ति किल पामरदैवतेषु ।
त्वामेव देवि मनसा वचसा स्मरामि
त्वामेव नौमि शरणं जगति त्वमेव ॥९॥

लक्ष्येषु सत्स्वपि तवाक्षिविलोकनाना-
मालोकय त्रिपुरसुन्दरि मां कथञ्चित् ॥
नूनं मयापि सदृशं करुणैकपात्रं
जातो जनिष्यति जनो न च जायते च ॥१०॥

ह्रीं ह्रीमिति प्रतिदिनं जपतां जनानां
किं नाम दुर्लभमिह त्रिपुराधिवासे ।
मालाकिरीटमदवारणमाननीयां-
स्तान् सेवते वसुमती स्वयमेव लक्ष्मीः ॥११॥

सम्पत्कराणि सकलेन्द्रियनन्दनानि
साम्राज्यदानकुशलानि सरोरुहाक्षि ।
त्वद्वन्दनानि दुरितौघहरोद्यतानि
मामेव मातरनिशं कलयन्तु नान्यम् ॥१२॥

कल्पोपसंहरणकल्पितताण्डवस्य
देवस्य खण्डपरशोः परमेश्वरस्य ।
पाशाङ्कुशैक्षवशरासनपुष्पबाणा
सा साक्षिणी विजयते तव मूर्तिरेका ॥१३॥

लग्नं सदा भवतु मातरिदं तवार्धं
तेजः परं बहुलकुङ्कुमपङ्कशोणम् ।
भास्वत्किरीटममृतांशुकलावतंसं
मध्ये त्रिकोणमुदितं परमामृतार्द्रम् ॥१४॥

ह्रींकारमेव तव धाम तदेव रूपं
त्वन्नाम सुन्दरि सरोजनिवासमूले ।
त्वत्तेजसा परिणतं जगदादिमूलं
सङ्गं तनोतु सरसीरुहसङ्गमस्य ॥१५॥

ह्रींकारत्रयसम्पुटेन महता मन्त्रेण सन्दीपितं
स्तोत्रं यः प्रतिवासरं तव पुरो मातर्जपेन्मन्त्रवित् ।
तस्य क्षोणिभुजो भवन्ति वशगाः लक्ष्मीश्चिरस्थायिनी
वाणीनिर्मलसूक्तिभारभरिता जागर्ति दीर्घं वयः ॥१६॥

सर्वसिद्धिकृत् स्तोत्रम्

ॐ गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम् ।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम् ॥१॥

प्रणमामि महादेवीं मातृकां परमेश्वरीम् ।
कालहल्लोहलोल्लोलकलनाशमकारिणीम् ॥२॥

यदक्षरैकमात्रेऽपि संसिद्धे स्पर्धते नरः ।
रवितार्क्ष्येन्दुकन्दर्पशङ्करानलविष्णुभिः ॥३॥

यदक्षरशशिज्योत्स्नामण्डितं भुवनत्रयम् ।
वन्दे सर्वेश्वरीं देवीं महाश्रीसिद्धमातृकाम् ॥४॥

यदक्षरमहासूत्रप्रोतमेतज्जगत्त्रयम् ।
ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं तां वन्दे सिद्धमातृकाम् ॥५॥

यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयोद्भवम् ।
ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते ॥६॥

अकचादिटतोन्नद्धपयशाक्षरवर्गिणीम् ।
ज्येष्ठाङ्गबाहुहृत्पृष्ठकटिपादनिवासिनीम् ॥७॥

तामीकाराक्षरोद्धारां सारात् सारां परात् पराम् ।
प्रणमामि महादेवीं परमानन्दरूपिणीम् ॥८॥

अद्यापि यस्या जानन्ति न मनागपि देवताः ।
केयं कस्मात् क्व केनेति सरूपारूपभावनाम् ॥९॥

वन्दे तामहमक्षय्यां क्षकाराक्षररूपिणीम् ।
देवीं कुलकलोल्लासप्रोल्लसन्तीं परां शिवाम् ॥१०॥

वर्गानुक्रमयोगेन यस्यां मात्रष्टकं स्थितम् ।
वन्दे तामष्टवर्गोत्थमहासिद्ध्यष्टकेश्वरीम् ॥११॥

कामपूर्णजकाराख्यश्रीपीठान्तर्निवासिनीम् ।
चतुराज्ञाकोशमूलां नौमि श्रीत्रिपुरामहम् ॥१२॥

इति द्वादशभिः श्लोकैः स्तवनं सर्वसिद्धिकृत् ।
देव्यास्त्वखण्डरूपायाः स्तवनं तव तथ्यतः ॥

भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम् ।
त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं शिवे ॥

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः ।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ॥

पिता माता भ्राता गुरुरथ सुहृद्बान्धवजनः
प्रभुस्तीर्थं कर्माविकलमिह चामुत्र च हितम् ।
विशुद्धा विद्या वा पदमपि च तत्प्राप्यमसि मे
त्वमेव श्रीमातः स्वपिमि गतशङ्कः सुखतमः ॥
दृशा द्राघीयस्या दरदलितनीलोत्पलरुचा
दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे ।
अनेनायं धन्यो भवति न च ते हानिरियता
वने वा हर्म्ये वा समकरनिपातो हिमकरः ॥
हे सद्रूपिणि हे चिदंचिरुदये हे कामराजप्रिये
हे भण्डासुरहन्त्रि हेऽद्भुतनिधे हेऽनङ्गसञ्जीविनि ।
हे विश्वप्रसवित्रि हे सकरुणे हे दीनरक्षामणे
हे श्रीमल्ललिताम्ब हे परशिवे मां पाहि डिम्भं निजम् ॥
नमो हेमाद्रिस्थे शिवसति नमः श्रीपुरगते
नमः पद्माटव्यां कुतुकिनि नमो रत्नगृहगे ।
नमः श्रीचक्रस्थेऽखिलमयि नमो बिन्दुनिलये
नमः कामेशाङ्कस्थितिमति नमस्तेऽम्ब ललिते ॥
जय जय जगदम्ब भक्तवश्ये
जय जय सान्द्रकृपावशान्तरङ्गे ।
जय जय निखिलार्थदानशौण्डे
जय जय हे ललिताम्बचित्सुखाब्धे ॥
षडङ्गदेवतां नित्यां दिव्याद्योघत्रयीगुरून् ।
नमाम्यायुधदेवीश्च शक्तीश्चावरणस्थिताः ॥
अमुकानन्दनाथाय मम श्रीगुरवे नमः ॥
अमुकानन्दनाथाय गुरवे परमाय मे ॥
अमुकानन्दनाथाय गुरवे परमेष्ठिने ॥
यदिदं श्रीगुरुस्तोत्रं स्वस्वरूपोपलक्षणम् ॥

बालभावानुसारेण ममेदं हि विचेष्टितम् ॥
मातृवात्सल्यसदृशं त्वया देवि विधीयताम् ॥

एवमादिभिरन्याभिश्च यथाऽवकाशं स्तुतिभिरखिललोकमातरमभिष्टुत्य शक्तिं पूजयेत् ।

सुवासिनीपूजनम्

यथा प्राङ्निमन्त्रितां गौरीरूपिणीं दीक्षितां सुवासिनीं प्रक्षालितपादामासन उपवेशयेत् । सा चेददीक्षिता तदा ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः त्रिपुरायै नमः इमां शक्तिं पवित्रीकुरु मम शक्तिं कुरु स्वाहा, इत्यभिषेकमन्त्रपूर्वकं सामान्यसलिलेन त्रिः शक्तिं सम्प्रोक्ष्य ३ ॐ शान्तिरस्तु शिवञ्चास्तु प्रणश्यत्वशुभञ्च यत् यत एवागतं पापं तत्रैव प्रतिगच्छतु, इत्युच्चार्य तस्याः कर्णे हृल्लेखां जपेत् । अथ तां देवतारूपां विभाव्य ३ ऐं क्लीं सौ शक्त्यै अमुकं समर्पयामि इति मन्त्रेण हरिद्राकुङ्कुमचन्दनपट्टवासः पुष्पधूपदीपनैवेद्यताम्बूलानि वसंनाभरणानि च दद्यात् । समस्तप्रकटयोगिनीत्यादिसमष्टिमन्त्रेण श्रीदेव्यै आवरणदेवताभ्यश्च दत्तपुष्पाञ्जल्याः तस्याः करे विशेषार्घ्यादमृतं पात्रान्तरे कृत्वा समर्पयेत् । साप्युत्थाय तदादाय शिरसि गुरुपादुकामन्त्रेण गुरुं त्रिरिष्ट्वा हृदि देवीञ्च सन्तर्प्य मूलेन, गुर्वाज्ञां गृहीत्वा मूलान्ते सर्वंतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा, इति मन्त्रेण सर्वंतत्त्वं संशोधयेत् । ततश्च तत्स्वीकुर्य्यात् । पश्चात्तां भोजयित्वा ताम्बूलदक्षिणादिभिः सन्तर्प्य विसृजेत् ।

तत्त्वशोधनम्

३ क-५ प्रकृत्यहङ्कारबुद्धिमनस्श्रोत्रत्वक्चक्षुः जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाकाशवायुवह्निसलिलभूम्यात्मना अं''''अः ३ क-५ आत्मतत्त्वेन आणवमलशोधनार्थं स्थूलदेहं परिशोधयामि जुहोमि स्वाहा । आत्मा मे शुध्यतां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ।

३ ह-६ मायाकलाऽविद्यारागकालनियतिपुरुषात्मना कं''''मं ३ ह-६ विद्यातत्त्वेन मायिकमलशोधनार्थं सूक्ष्मदेहं परिशोधयामि जुहोमि स्वाहा । अन्तरात्मा मे शुध्यतां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ।

३ स—४ शिवशक्तिसदाशिवेश्वरशुद्धविद्यात्मना यं....क्षं शिवतत्त्वेन कार्मिकमलशोधनार्थं कारणदेहं परिशोधयामि जुहोमि स्वाहा। परमात्मा मे शुद्ध्यतां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा।

३ 'मूलं' प्रकृत्यहङ्कारबुद्धिमनस्श्रोत्रत्वक्चक्षुः जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाकाशवायुवन्हिसलिलभूमिमायाकलाऽविद्यारागकालनियतिपुरुषशिवशक्तिसदाशिवेश्वरशुद्धविद्यात्मना अं आं....ळंक्षं 'मूलं' सर्वतत्वेन सर्वदेहं सर्वदेहाभिमानिनं जीवात्मानं परिशोधयामि जुहोमि स्वाहा। ज्ञानात्मा मे शुद्ध्यतां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा।*

३ आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि। ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि। योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि। अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि। अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा।

इति (गुरौ सन्निहिते होष्यामि इति सम्प्रार्थ्य गुरोरनुज्ञां लब्ध्वा)चिदग्नौ होमबुद्ध्या जुहुयात्। ततः पात्रं प्रक्षाल्य तत्र सुवर्णपुष्पाक्षतान्निक्षिप्य।

३ देवनाथ गुरो स्वामिन् देशिक स्वात्मनायक।
त्राहि त्राहि कृपासिन्धो पात्रं पूर्णतरं कुरु॥

इति गुरवे समर्पयेत्। असन्निहिते गुरौ स्वशिरसि पात्रं निधाय आत्मपात्रमण्डले निक्षिपेत्।

देवतोद्वासनम्

ततः सामान्यार्घ्योदकात् किञ्चिदादाय—

साधु वाऽसाधु वा कर्म यद्यदाचरितं मया।
तत् सर्वं कृपया देवि गृहाणाराधनं मम॥

इति देव्या वामहस्ते पूजां समर्प्य शङ्खमुद्धृत्य देव्युपरि त्रिः परिभ्राम्य तज्जलं हस्ते समादाय सामयिकानात्मानञ्च 'मूलेन' प्रोक्ष्य शङ्खं प्रक्षाल्य निदध्यात्। ततो मूलेन तीर्थनिर्माल्ये स्वीकृत्य,

---

* षोडश्युपासकानां पञ्चमपात्रेण—

३ 'मूलं' पूर्णमद पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि यन्मयाऽऽचरितं शिवे ।
तव कृत्यमिति ज्ञात्वा क्षमस्व परमेश्वरि ॥

इति क्षमाप्य सर्वासामावरणदेवतानां श्रीदेव्यङ्गे विलयं विभाव्य, खेचरीं बद्ध्वोद्वास्य तेजोरूपेण परिणतां श्रीदेवीं पूर्ववत् हृदयं नीत्वा तत्र च मूर्ति पञ्चधोपचर्यं पुनरात्माभिन्नसंविद्रूपेण विभावयेदिति विसर्जनम् । ततः शान्तिस्तवः ॥

सम्पूजकानां परिपालकानां यतेन्द्रियाणाञ्च तपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य कुलस्य राज्ञां करोतु शान्ति भगवान् कुलेशः ॥

नन्दन्तु साधककुलान्यणिमादिसिद्धाः
शापाः पतन्तु समयद्विषि योगिनीनाम् ।
सा शाम्भवी स्फुरतु काऽपि ममाऽप्यवस्था
यस्यां गुरोश्चरणपङ्कजमेव लभ्यम् ॥

शिवाद्यवनिपर्यन्तं ब्रह्मादिस्तम्बसंयुतम् ।
कालाग्न्यादिशिवान्तं च जगद्यज्ञेन तृप्यतु ॥

इत्यादि शान्तिश्लोकान् पठित्वा, विशेषार्घ्यविसर्जनं कुर्यात् ।

विशेषार्घ्यपात्रं मूलेनामस्तकमुद्धृत्य तत् क्षीरं पात्रान्तरेणादाय "आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि । ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्मामस्मि । योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि । अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि । अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा" इति मन्त्रेण आत्मनः कुण्डलिन्यग्नौ हुत्वा शेषं प्रियशिष्याय दत्वा तत्पात्रमन्यानि च हविश्शेषप्रतिपत्तिपात्राणि प्रक्षाल्याग्नौ प्रताप्यावस्थापयेत् ।

अथ यथाशक्ति ब्राह्मणान् सुवासिनीश्च भोजयित्वा, स्वयमपि भुञ्जीत । इति नित्यकर्मविधिः ॥

श्रीचक्रे त्रिवृत्ताचंनम्

सम्प्रदायविशेषज्ञानां रीत्या हयग्रीवसम्प्रदाये श्रीचक्रे वृत्तत्रयं नोल्लिख्यते । आनन्दभैरवसम्प्रदाये वृत्तत्रये लिखितेऽपि तत्रार्चनं न भवति । श्रीदक्षिणामूर्तिसम्प्रदाये वृत्तत्रयमुल्लिख्यते पूज्यते च ।

तद्यथा

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं त्रिवर्गसाधकचक्राय नमः। संहारक्रमेण शुक्लारुण-कृष्णवर्णरेखात्रयस्य मायावीजप्रकृतिकस्य गुणप्रकृतिपरादिवागात्मकस्य प्रथमवृत्तरेखायां देव्यग्रमारभ्याप्रादक्षिण्येन।

(१)	ॐ ऐं ह्रीं श्रीं		कं कालरात्रि	श्रीपादुकां पूजयामि			।
(२)	,,	,,	खं खण्डिता	,,	,,	,,	।
(३)	,,	,,	गं गायत्री	,,	,,	,,	।
(४)	,,	,,	घं घण्टार्कार्षिणी	,,	,,	,,	।
(५)	,,	,,	ङं ङार्णा	,,	,,	,,	।
(६)	,,	,,	चं चण्डा	,,	,,	,,	।
(७)	,,	,,	छं छाया	,,	,,	,,	।
(८)	,,	,,	जं जया	,,	,,	,,	।
(९)	,,	,,	झं झङ्कारिणी	,,	,,	,,	।
(१०)	,,	,,	ञं ज्ञानरूपा	,,	,,	,,	।
(११)	,,	,,	टं टङ्कहस्ता	,,	,,	,,	।
(१२)	,,	,,	ठं ठङ्कारिणी	,,	,,	,,	।
(१३)	,,	,,	डं डामरी	,,	,,	,,	।
(१४)	,,	,,	ढं ढङ्कारिणी	,,	,,	,,	।
(१५)	,,	,,	णं णार्णा	,,	,,	,,	।
(१६)	,,	,,	तं तामसी	,,	,,	,,	।
(१७)	,,	,,	थं स्थाण्वी	,,	,,	,,	।
(१८)	,,	,,	दं दाक्षायणी	,,	,,	,,	।
(१९)	,,	,,	धं धात्री	,,	,,	,,	।
(२०)	,,	,,	नं नारी	,,	,,	,,	।
(२१)	,,	,,	पं पार्वती	,,	,,	,,	।
(२२)	,,	,,	फं फट्कारिणी	,,	,,	,,	।

(२३)	ॐ ऐं ह्रीं श्रीं	बं बन्धिनी	श्रीपादुकां पूजयामि ।	
(२४)	,, ,,	भं भद्रकाली	,, ,, ,, ।	
(२५)	,, ,,	मं महामाया	,, ,, ,, ।	
(२६)	,, ,,	यं यशस्विनी	,, ,, ,, ।	
(२७)	,, ,,	रं रक्ता	,, ,, ,, ।	
(२८)	,, ,,	लं लम्बोष्ठी	,, ,, ,, ।	
(२९)	,, ,,	वं वरदा	,, ,, ,, ।	
(३०)	,, ,,	शं श्री	,, ,, ,, ।	
(३१)	,, ,,	षं षण्ढा	,, ,, ,, ।	
(३२)	,, ,,	सं सरस्वती	,, ,, ,, ।	
(३३)	,, ,,	हं हंसवती	,, ,, ,, ।	
(३४)	,, ,,	क्षं क्षमावती	,, ,, ,, ।	

द्वितीयवृत्तरेखायाम् अप्रादक्षिण्यक्रमेण—

(१)	ॐ ऐं ह्रीं श्रीं	अं अमृता	श्रीपादुकां पूजयामि ।
(२)	,, ,,	आं आकर्षिणी	,, ,, ,, ।
(३)	,, ,,	इं इन्द्राणी	,, ,, ,, ।
(४)	,, ,,	ईं ईशानी	,, ,, ,, ।
(५)	,, ,,	उं उमा	,, ,, ,, ।
(६)	,, ,,	ऊं ऊर्ध्वकेशी	,, ,, ,, ।
(७)	,, ,,	ऋं ऋद्धिदा	,, ,, ,, ।
(८)	,, ,,	ॠं ॠकारा	,, ,, ,, ।
(९)	,, ,,	ऌं ऌकारा	,, ,, ,, ।
(१०)	,, ,,	ॡं ॡकारा	,, ,, ,, ।
(११)	,, ,,	एं एकपदा	,, ,, ,, ।
(१२)	,, ,,	ऐं ऐश्वर्यात्मिका	,, ,, ,, ।
(१३)	,, ,,	ओं ओङ्कारा	,, ,, ,, ।

(१४) ॐ ऐं ह्रीं श्रीं औं औषधि श्रीपादुकां पूजयामि ।
(१५) ,, ,, अं अम्बिका ,, ,, ,, ।
(१६) ,, ,, अः अक्षरा ,, ,, ,, ।

तृतीयवृत्तरेखायामप्रादक्षिण्यक्रमेण—

(१) ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अं कामेश्वरी ,, ,, ,, ।
(२) ,, ,, आं भगमालिनी ,, ,, ,, ।
(३) ,, ,, इं नित्यक्लिन्ना ,, ,, ,, ।
(४) ,, ,, ईं भेरुण्डा ,, ,, ,, ।
(५) ,, ,, उं वह्निवासिनी ,, ,, ,, ।
(६) ,, ,, ऊं महावज्रेश्वरी ,, ,, ,, ।
(७) ,, ,, ऋं शिवदूती ,, ,, ,, ।
(८) ,, ,, ॠं त्वरिता ,, ,, ,, ।
(९) ,, ,, ऌं कुलसुन्दरी ,, ,, ,, ।
(१०) ,, ,, ॡं नित्या ,, ,, ,, ।
(११) ,, ,, एं नीलपताका ,, ,, ,, ।
(१२) ,, ,, ऐं विजया ,, ,, ,, ।
(१३) ,, ,, ओं सर्वमङ्गला ,, ,, ,, ।
(१४) ,, ,, औं ज्वालामालिनी ,, ,, ,, ।
(१५) ,, ,, अं चित्रा ,, ,, ,, ।
(१६) ,, ,, अः ललितामहानित्या ,, ,, ,, ।
(१७) ,, ,, कामेश्वरी ,, ,, ,, ।

एता मातृकायोगिन्यः त्रिवर्गसाधकचक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टा सन्त्विति तासां समष्ट्यर्चनं विधाय कालरात्र्याः पुरतः ऐं ह्रीं श्रीं त्रिपुरेशिनी-चक्रेश्वरी श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। गं गरिमासिद्धि श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। ऐं महायोनिमुद्राशक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। ऐं महायोनिमुद्रां प्रदर्श्य—

'अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं द्वितीयावरणार्चनम् ॥'

एतद्रीत्या सर्वाशापरिपूरकचक्रे तृतीयावरणम्। तथा च दशावरणानि सम्पद्यन्ते।

अन्तश्चक्रन्यासेऽपि—

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं त्रिवर्गसाधकचक्राधिष्ठात्र्यै कालरात्र्यादिसहितमातृका योगिनीरूपायै त्रिपुरेशिनीदेव्यै नमः।

इति त्रिवृत्तार्चनम्।

श्रीचक्रस्वरूपम्

अधः सहस्रारोपरिभागे—

सृष्टिस्थितिसंहारक्रमेण श्रीचक्रार्चनमधिकारभेदेन भवति।

यथोक्तम्—

'स्थितिक्रमो गृहस्थस्य संहारो वनिनो यतेः।
ब्रह्मचारिण उत्पत्तिः स्त्रियः शूद्रस्य चेष्टतः॥'

दक्षिणामूर्तिसम्प्रदाये बिन्दुमारभ्यभूपुरपर्यन्तं सृष्टिक्रमेणार्चनम्। भूपुरमारभ्याष्टारपर्यन्तं पुनश्च बिन्दुमारभ्य चतुर्दशारं यावत् पूजनं स्थितिक्रमे। भूपुरमारभ्यबिन्दुपर्यन्तमर्चनं संहारक्रमे।

हयग्रीवानन्दभैरवसम्प्रदाययोश्च स्थितिक्रमे पूर्वं बिन्दुत्रिकोणकामेश्वर्यादिनित्या-गुरुपंक्ति पूजनम्, तदनुभूपुरमारभ्य क्रमेणाष्टारत्रिकोणपूजनम्। अन्यत् समानम्।

बिन्दुमारभ्य अष्टदलपर्यंतं सृष्टिचक्रं, चतुर्दशारमाभ्यान्तर्दशारं यावत्, स्थितिचक्रं, अष्टारमारभ्य बिन्दुं यावत् संहारचक्रम्, तादृक् चक्रत्रयस्य त्रिपुरस्वरूपत्वम्, तत्प्रधाननायिकात्वेन ललिता परामबा त्रिपुरसुन्दरी प्रोच्यते।

भूपुर-वृत्त-त्रिकोणादपरे गुणत्रयकालत्रया-वस्थात्रय-लोकत्रयादि बोधकाः। बिन्दुस्तुरीयरूपस्तुरीयातीतरूपो वा। पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यात् श्रीचक्रस्य

ब्रह्माण्डरूपत्वं पिण्डरूपत्वञ्च। प्रणवस्वरूपशब्दब्रह्मणोऽपि प्रतीकस्वरूपम् श्रीचक्रम्। तद्रीत्या (अ, उ, म्) इति नादबिन्दुत्रयस्य प्रणवस्य जाग्रदाद्याश्चतस्रोऽवस्थाः वैखरीमध्यमा-पश्यन्ती-परारूपाणि,श्रीचक्रस्य सृष्टिस्थिति-संहारानाख्याचक्रेष्वन्तर्भवन्ति। पञ्चमं कार्यकारणातीतं भासा चक्रात्मकं भवति।

शरीरस्य मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहत-विशुद्धयाज्ञारूपाणां चक्राणामपि श्रीचक्रावयवेष्वन्तर्भावः। भूपुर-त्रिवृत्त-षोडश दलाष्टदलानां समुदायः सृष्टिचक्रं चतुर्दशारबहिर्दशारान्तर्दशाराणां समूहः स्थितिचक्रं अष्टार-त्रिकोणबिन्दूनां समवायः संहारचक्रम्। तेषां समष्टौ द्वितीयबिन्दुं यावदनाख्या चक्रम्, तृतीयबिन्दुं यावत् भासाचक्रम्। श्रीकल्पे पञ्चानामेषां क्रमेण स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञा-चक्रेष्वन्तर्भावः।

कालीक्रमे सृष्टिचक्रं मूलाधारे भवति।

तत्रापि—'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि'। 'चतुर्भिः शिव चक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः। नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥' इत्यादिरीत्या त्रिकोणाष्टकोण-दशारद्वय चतुर्दशारञ्च शक्तिचक्राणि। बिन्द्वष्टदलकमल-षोडशदलकमल-चतुरस्रत्रयाणि चत्वारि शिवचक्राणि। त्रिकोणेनाष्टदलम् अष्टारेण षोडशदलम् अन्तर्दशार-बहिर्दशाराभ्यां भूपुरं चतुर्दशारेण संश्लिष्टम्। तत एवैषामविनाभावसम्बन्धः।

'त्रिकोणमष्टकोणञ्च दशकोणद्वयं तथा।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च॥
बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम्।
चतुरस्रञ्च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात्॥
त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनास्रके॥'

एवमेव श्रीविद्यापञ्चदश्यामपि ककारत्रयं हकारद्वयञ्च शैवो भागः। ह्रीङ्कारश्चोभयात्मकः। शेषाणिशक्त्यक्षराणि।

'कत्रयं हृद्यञ्चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः ।
शेषाणिशक्त्यक्षराणि ह्रीङ्कार उभयात्मकः ॥'

बिन्दुचक्रे सत्यलोकः, त्रिकोणे तपोलोकः, अष्टकोणे जनलोकः, अन्तर्दशारे महर्लोकः, बहिर्दशारे स्वर्लोकः, चतुर्दशारे भुवर्लोकः, प्रथमवृत्ते भूलोकः ।

अष्टदलेऽतलम्, अष्टदलबहिर्वृत्ते वितलं, षोडशदलकमले सुतलम् वृत्तत्रये तलातलम्, भूपुरप्रथमरेखायां महातलम्, द्वितीयरेखायां रसातलम्, तृतीयरेखायां पातालम् ।

श्रीचक्रमहिमा

ब्रह्मेन्द्रादि देवाः, सूर्यचन्द्रादि ग्रहाः, अश्विन्यादि-नक्षत्राणि, मेषादि-राशयः, वस्वादयो नागाः, वरुणवैनतेयादयो मन्दारादयो वृक्षाः, रम्भाद्यप्स-रसः, कपिलादयः सिद्धाः, वसिष्ठाद्याः मुनीश्वराः, कुवेरप्रमुखा यक्षाः, राक्षसाः गन्धर्वाः, किन्नराः विश्वावस्वाद योगायकाः, ऐरावताद्या गजेन्द्राः, उच्चैःश्रव-आद्याश्वाः, हिमालयाद्याः पर्वताः, गङ्गाद्याः पुण्यनद्यः, सर्वे समुद्राः, सर्वाणि नगरराष्ट्राणि सर्वाण्येतानि श्रीचक्रोत्पन्नानि ।

बिन्दुं ब्रह्मरन्ध्रे, त्रिकोणं मस्तके, ललाटे-अष्टकोणं, भ्रूमध्ये अन्तर्दशारम्, कण्ठे-बहिर्दशारं, हृदये-अन्तर्दशारं, कुक्षौ-वृत्तं, नाभौ अष्टदलं, कट्याम्-अष्टदलबहिर्वृत्तम्, स्वाधिष्ठाने षोडशदलं, मूलाधारे बहिस्त्रिवृत्तं, जान्वोः-भूपुरस्य प्रथमरेखा, जङ्घायां द्वितीयरेखा, पादयोः भूपुरस्य तृतीयरेखा ।

'त्रिपुरेशीमहायन्त्रं पिण्डात्मकमीश्वरि ।
यो जानाति स योगीन्द्रः स शम्भुः स हरिर्विधिः ॥
पिण्डब्रह्माण्डयोर्ज्ञानं श्रीचक्रस्य विशेषतः ।
ज्ञात्वाशम्भुफलावाप्तिः नाल्पस्य तपसः फलम् ॥'
(इति योगिनीहृदये) ।

तथैव मन्त्रयन्त्रयोरप्यैक्यम् । लकारेण भूपुरं सकारेण षोडशदलम्, हकारेणाष्टमूर्त्यात्मकमष्टदलम्, भुवनेश्वरीरूपेणेकारेण चतुर्दशारम्, एका-

रेण दशावतारात्मकं बहिर्दशारम्, हृल्लेखागतेन रेफेणान्तर्दशारम्, ककारेणाष्टारम्, अर्धचन्द्रेण त्रिकोणम्, तदन्तर्गता देव्यस्तत्त्वानि च तन्मयान्येव।

नादरूपाया अर्धमात्रायाः सकाशात् त्रिकोणा योनिरुत्पद्यते । बिन्दोर्बिन्दुचक्रम् । बिन्दुचक्रं च कामेश्वरस्वरूपम्, तदेव च विश्वाधारस्वरूपम् ।

श्रीविद्यान्तर्गतलंबीजरूपाल्लकारात्पृथिवी – तदन्तर्वर्तिवृक्षपर्वतादयउत्पद्यन्ते । तत एव एकपञ्चाशत्पीठानि सर्वतीर्थानि गङ्गाद्यानद्यः पुण्यक्षेत्राणि चोत्पद्यन्ते । मन्त्रस्थितसकारात् चन्द्र - नक्षत्र - ग्रह - राश्यादय उत्पद्यन्ते ।

'गणेशग्रहनक्षत्र—योगिनीराशि—रूपिणीम् ।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम् ॥'

इति नित्याषोडशिकार्णवतन्त्रात् ।

हं बीजरूपादाकाशस्य, भुवनेश्वरी बीजरूपादीकाराच्चतुर्दशभुवनानामुत्पत्तिः । दशावतारविष्णुस्वरूप एकारः वैष्णवीशक्तिरूपः । रं बीजरूपोरेफः परमज्योतिर्मयीपराशक्तिः । ककारात्सर्वकामपूरणी कामदा शक्तिर्गृह्यते । अर्धचन्द्रात् (ँ) विश्वयोनिर्गृह्यते । बिन्दोः (ं) महाकामेश्वरी व्यज्यते । बिन्दुरेव सर्वानन्दमयचक्रं तच्चब्रह्माभिन्नम् । तत्रैव महाकामेश्वरीमहाकामेश्वरयोर्वासः । तत्पदार्थभूतं निर्गुणब्रह्म महाकामेश्वरः, त्वं पदार्थभूतः संविद्रूपः कूटस्थः साक्षी महाकामेश्वरीरूपः तयोरभेद एव सामरस्यम् । तत एव ज्ञातृज्ञेययोरहन्तेदन्तयोः प्रकाशविमर्शयोश्चैक्यम् । भूमि बिन्दुचक्रम् तत्रत्या परापरातिरहस्ययोगिनी भवति । तत्रैव तुरीयाम्बायजनम् । सर्वानन्दमयचक्रमेवोड्याणपीठोऽप्युच्यते । तत एवोड्याणपीठनिलयैव बिन्दुमण्डलवासिनी भवति ।

अथ जपविधिः

अस्य श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीपञ्चदशाक्षरीमहामन्त्रस्य ३ आनन्दभैरवायऋषये नमः—शिरसि । ३ पङ्क्त्यै छन्दसे नमः—मुखे । ३ श्रीमहत्रिपुरसुन्दर्यै देवतायै नमः—हृदि । ३ ऐं बीजाय नमः—गुह्ये । ३—सौः शक्तये

नमः—पादयोः । ३ क्लीं कीलकाय नमः—नाभौ । (उक्तबीजशक्तिकीलकानि नाभिगुह्यपादेषु प्रायशो न्यस्तव्यनीति, मूलविद्याखण्डत्रयेणापि न्यस्तव्यानीति च केषाञ्चिदभिमतम्) । ३ श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरीप्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः—करसम्पुटे ।

ऐं ह्रीं श्रीं मूलविद्यया सर्वाङ्गे त्रिव्यापकम् ।

३ क ए ई ल ह्रीं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।

३ ह स क ह ल ह्रीं तर्जनीभ्यां स्वाहा ।

३ स क ल ह्रीं मध्यमाभ्यां वषट् ।

३ क ए ई ल ह्रीं अनामिकाभ्यां हुं ।

३ ह स क ह ल ह्रीं कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् ।

३ स क ल ह्रीं करतलकरपृष्ठाभ्यां फट ।

एवं हृदयादिन्यासः । यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं क ए ई ल ह्रीं हृदयाय नमः ।

३ ह स क ह ल ह्रीं शिरसे स्वाहा ।

३ स क ल ह्रीं शिखायै वषट् ।

३ क ए ई ल ह्रीं कवचाय हुम् ।

३ ह स क ह ल ह्रीं नेत्रत्रयाय वौषट् ।

३ स क ल ह्रीं अस्त्राय फट् । भूर्भुवस्सुवरों इति दिग्बन्धः ।

अथ ध्यानम् । तच्च पूर्वोक्तमेव ।

श्रीषोडशाक्षर्यास्तु दक्षिणामूर्तिः ऋषिः । करषडङ्गन्यासयोः तत्कूटषट्कमिति विशेषः ।

ततः शक्त्युत्थापनमुद्रया स्वदेहे शून्यतां विभाव्य बिन्दुत्रयसपरार्धरूपां कामकलां विचिन्त्य तस्याः स्वात्मतया परिणामं श्रीगुरुमुखावगतं विभाव्य श्रीगुरुदेवतामन्त्रात्मनामैक्यं भावयेत् । अथ मूर्ध्नि शिरोमुद्रां न्यस्य ३ एं क्लीं ह्रीं त्रिपुरे भगवति स्वाहा, इति द्वादशाक्षरीं कुल्लुकाविद्यां, ततो हृदयमुद्रया (हृदि हस्तं दत्वा) ३ ॐ इत्येकाक्षरं सेतुम्, अथ कण्ठे न्यास-

मुद्रया ३ ह्लीं इत्येकाक्षरं महासेतुम्, तदनु नाभौ पूर्वमुद्रयैव ३ ॐ अं""क्षं (५१) ऐं मूलं ऐं अं""क्षं (५१) ॐ इति एकविंशाधिकैकशताक्षरं निर्वाणमन्त्रञ्च त्रिस्त्रिः जपेत्। ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं, इति कामेश्वरीमन्त्रं स्वाधिष्ठाने त्रिः जपेत्।

३ ईं इति कामकलामन्त्रं मूलाधारे त्रिः जपेत्।

३ समस्तप्रकटगुप्तगुप्ततरसम्प्रदायकुलोत्तीर्णनिगर्भरहस्यातिरहस्यपरापरातिरहस्ययोगिनीभ्यो नमः इति समष्टिमन्त्रं जपेत्।

३ ईं ए क ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं स क ल ह्रीं

इति पञ्चदशाक्षरमुत्कीलनं सप्तवारं जपेत्।

३ विद्युदक्षीं परां विद्यां कालिकां देशभाषिणीम्।
खड्गमुण्डविकाराख्यां व्याघ्रचर्मविभूषिताम्॥
रक्तमाल्याम्बरधरां घोररूपां चतुर्भुजाम्।
खड्गं शूलं कपालञ्च दधतीं तीक्ष्णनासिकाम्।
सिद्धयर्थं चिन्तयेद्देवीं सर्वविद्यासुजीविनीम्॥

इति सञ्जीविनीं ध्यात्वा पञ्चधोपचर्य, ३ श्रीं क्लीं क्लीं हैं हैं क ल ह्रीं सौः स क ल ह्रीं क्लीं क्लीं ह्रीं श्रीं इति सप्तदशाक्षरं सञ्जीविनीमन्त्रं सप्तवारं जपेत्।

ऐं ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं हं सः क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं स क ल ह्रीं हं सः ह्रीं श्रीं, इति त्रयोविंशत्यक्षरं प्राणमन्त्रं सप्तवारं जपेत्।

३ ॐ श्रीं ऐं क्ली ह्रीं क ए ई ल ह्रीं ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं ह स क ह ल ह्रीं, ॐ ऐं श्रीं क्लीं ह्रीं ह स क ल ए ह्रीं ह क ह ल ह्रीं ह ए क ल ह्रीं, ॐ ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं क ह ल ए ह्रीं क ह ए ल ह्रीं क ह ह ल ह्रीं हं सः, ॐ ह्रीं श्रीं हं सः सोहं स क ल ह्रीं, इति त्रिसप्तत्यक्षरं दीपिनीमन्त्रञ्च प्रत्येकं सप्तवारं जपेत्।

(इमे मन्त्राः पञ्चदशीषोडशीनां साधारणाः)।

षोडशाक्षर्यां असाधारणाः पञ्चमन्त्रा। यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ॐ ह्रीं श्रीं ह स क्ष म ल व र यूं, स ह क्ष म ल व र यीं, य र ल व क्ष म ल व र यूं ॐ ह्रीं श्रीं ॐ सौः क्लीं ऐं इति महाकामेश्वरमन्त्रं दशवारं जपेत्।

३ (पञ्चदशी) क ए ई ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं स क ल ह्रीं–त्रिवारं जपेत् ॥१॥

३ (षोडशी) श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौः ॐ ह्रीं श्रीं क ए ई ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं स क ल ह्रीं सौः ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं, त्रिवारं जपेत् ॥२॥

३ ऐं क्लीं सौः बालायै नमः त्रिवारं जपेत् ॥३॥

३ ऐं क्लीं उच्छिष्टचाण्डालि सुमुखि देवि महापिशाचिनि ह्रीं ठः ठः ठः स्वाहा—त्रिवारं जपेत् ॥४॥

३ ॐ ह्रीं स्त्रीं हूं क्रीं श्रीं उग्रतारे सौः क्लीं ह्रीं श्रीं स्वाहा, त्रिवारं जपेत् ॥५॥ एते पञ्च मन्त्राः पञ्चरत्नपदेन उच्यन्ते ।

ततः सूतकनिवारणाय प्रणवसम्पुटितां मूलविद्यां (पञ्चदशीं) दशवारमावर्त्यानन्तरं विघ्नहरान् षण्मन्त्रान् त्रिस्त्रिर्जपेत् । यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं, इ रि मि लि कि रि कि लि प रि मिरोम् ।

३ ॐ ह्रीं नमो भगवति महात्रिपुरभैरवि मम त्रैपुररक्षां कुरु कुरु ।

३ संहर संहर विघ्नरक्षोविभीषकान् कालय हुं फट् स्वाहा ।

३ ब्लूं रक्ताभ्यो योगिनीभ्यो नमः ।

३ सां सारसाय वह्न्याशनाय नमः ।

३ दु मु लु षु मु लु षु ह्रीं चामुण्डायै नमः ।

एते कुल्लूकाद्या विघ्नहरान्ता जपस्य पूर्वाङ्गमन्त्राः ।

(त्रितारीपूर्वकत्वन्तु सर्वेषां सिद्धमेव) ।

३ ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं भगवति त्रिपुरसुन्दरि स्वाहा, कुलुकां शिरसि, ॐ, सेतुं हृदि, द्रीं महासेतुं कण्ठे, ह्रीं महासेतुं सहस्रारे, ॐ श्रीं अं एं क्लीं सौः अं आं इं ईं उं ऊं........क्षं इति निर्वाणं नाभौ, क्लीं कामवीजं लिङ्गे, जिह्वायां मूलविद्यां विचिन्त्य जपेत् ।

ततः पेशीच्छन्नां सुवर्णरत्नस्फटिकमणिपुत्रजीवरुद्राक्षाद्यन्यतमनिर्मितां मालां श्यामाक्रमे वक्ष्यमाणेन संस्कारविधिना संस्कृतामादाय, क्वचित्पात्रे वामपाणौ वा निधाय, सामान्यार्घ्योदकेन शुद्धोदकेन वा मूलेनाभ्युक्ष्य,

ॐ मां माले महामाये सर्वशक्तिस्वरूपिणि ।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव ॥

इति प्रार्थ्य, ह्रीं सिद्धयै नमः, इति मन्त्रेण पुनः पुनः आवृत्तेन गन्धादिभिः पञ्चभिः गन्धपुष्पाभ्यामेव वा सम्पूज्य, ऐं ह्रीं श्रीं गं

अविघ्नं कुरु माले त्वं करे गृह्णामि दक्षिणे ।
जपकाले तु सततं प्रसीद मम सिद्धये ॥

इति दक्षिणहस्तेन मालां गृहीत्वा, मध्यमामध्यपर्वावलम्बिनीं तां तर्जन्या वामहस्तेन चास्पृशन् एकमणिग्रहण अन्यमनुपाददानः क्रमादङ्गुष्ठाग्रेण मणीन् परिवर्तयत् जृम्भाक्षुताद्यकुर्वन् अनिद्राणः, एतेषां सम्भवे-आचम्य देवतात्मत्वं भावयन्, मालामपातयन् प्रमादपतितायामुक्तसंस्कारं कृत्वा खटखटाशब्दमकुर्वाणः अश्लिष्टमनुमुच्चारयन् असम्भाषमाणो मालामप्रदर्शयन् अन्यदप्युक्तमाचरन् श्रीगुरुमुखादवगतं षडर्थाद्यन्यतममर्थं चतुर्विधैक्यशून्यषट्कावस्थापञ्चकविषुवत्सप्तकमन्त्रचैतन्यादिरहस्यजातं चानुसन्दधानो यथाऽधिकारं मनसोपांशुना वा सहस्रं त्रिशतं शतं वा मूलविद्यामारम्भे प्रोक्तसंख्यावधौ च प्रणवपुटितां सकृज्जपित्वा उत्तराङ्गमन्त्रान् जपदमांशमावर्तयेत् ।

जपोत्तराङ्गमन्त्राः

ते तु त्रिपुराद्यष्टचक्रेश्वरीमन्त्रा अष्टौ—

ऐं ह्रीं श्रीं, अं आं सौः, ३ ऐं क्लीं सौः, ३ ह्रीं क्लीं सौः, ३ हैं ह्क्लीं ह्सौः, ३ ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः, ३ ह्रीं क्लीं ब्लें, ३ ह्रीं श्रीं सौः, ह्स्रैं ह्स्क्लीं ह्स्रौः ।

मूलमेकं—ऐं ह्रीं श्रीं क ए ई ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं सकल ह्रीं ।

तत्तत्तिथिनित्याविद्या—ताश्च शुक्लपक्षे कामेश्वर्यादिचित्रान्ताः । कृष्णपक्षे तु चित्रादिकामेश्वर्यन्ताः । तिथिवृद्धावेकां नित्यां दिनद्वये तिथिक्षये एकस्मिन् दिवसे नित्याद्वयम्, इति क्रमेण जप्याः । यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं अं ऐं स क ल ह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे सौः।

३ आं ऐं भगभुगे भगिनि भगोदरि भगमाले भगावहे भगगुह्ये भगयोनि भगनिपातिनि सर्वभगवशङ्करि भगरूपे नत्यक्लिन्ने भगस्वरूपे सर्वाणि भगानि मे ह्यानय वरदे रेते सुरेते भगक्लिन्ने क्लिन्नद्रवे क्लेदय द्रावय अमोघे भगविच्चे क्षुभ क्षोभय सर्वंत्वान् भगेश्वरि ऐं ब्लूं जें ब्लूं भें ब्लूं मों ब्लूं हें ब्लूं हें क्लिन्ने सर्वाणि भगानि मे वशमानय स्त्रीं ह्रब्लें ह्रीं।

३ इं ॐ ह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहाः।

३ ईं ॐ क्रों भ्रों क्रौं झ्रौं छ्रौं ज्रौं स्वाहा।

३ उं ॐ ह्रीं वह्निवासिन्यै नमः।

३ ऊं ह्रीं क्लिन्ने ऐं क्रों नित्यमदद्रवे ह्रीं।

३ ऋं ह्रीं शिवदूत्यै नमः।

३ ॠं ॐ ह्रीं हुं खे च छे क्षः स्त्रीं हुं क्षें ह्रीं फट्।

३ ऌं ऐं क्लीं सौः।

३ ॡं ह स क ल र डैं हस क ल र डीं ह स क ल र डौः।

३ एं ह्रीं फ्रें स्रूं क्रों आं क्लीं ऐं ब्लूं नित्यमदद्रवे हुं फ्रें ह्रीं।

३ ऐं भ्म्र्यूं।

३ ॐ स्वौं।

३ ओं ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनि देवदेवि सर्वभूतसंहारकारिके जातवेदसि ज्वलन्ति ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल ह्रां ह्रीं ह्रूं र र र र र र र ज्वालामालिनि हुं फट्।

३ औं च्क्लौम्।

अङ्गोपाङ्गप्रत्यङ्गीभूता बाला, अन्नपूर्णा, अश्वारूढा इति त्रयो वक्ष्यमाणाश्चेति मन्त्राः त्रयोदश।

३ ऐं क्लीं सौः सौः क्लीं ऐं ऐं क्लीं सौः, इति श्रियोऽङ्गबाला।

३ ह्रीं श्रीं क्लीं ॐ नमो भवगति अन्नपूर्णेश्वरि ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा, इति श्रिय उपाङ्गमन्नपूर्णा।

३ ॐ आं ह्रीं क्रों एहि परमेश्वरि स्वाहा, इति श्रीप्रत्यङ्गमश्वारूढा।

कालनित्या तु सूत्रकृता नोपात्ता।

अथ पुनरपि ऋष्यादि मानसपूजान्तं विधाय, सबीजाः सर्वसंक्षोभिण्यादि मुद्राः प्रदर्श्य,

गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत् कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्मयि स्थिरा॥

इति देव्याः वामकरे सामान्यर्घ्यप्रक्षेपेण जपं निवेद्य,

त्वं माले सर्वदेवानां प्रीतिदा शुभदा मम।
शुभं कुरुष्व मे भद्रे यशो वीर्यं च सर्वदा॥

इति मालां सम्प्रार्थ्य, निगूढं निधाय, श्रीगुरुपादुकामन्त्रं मुहुर्मुहुरुच्चारयन् गुरुपरमगुरुपरमेष्ठीगुरून् तत्तन्नामपूर्वं प्रणमेत्।

इति जपविधिः।

हादि विद्यान्यासध्यानानि

अस्य हादिपञ्चदशी श्रीविद्यामहामन्त्रस्य दक्षिणामूर्ति ऋषिः पंक्तिश्छन्दः श्रीदेवीभूषितोत्सङ्ग, श्रीकामेश्वरो देवता हसकलह्रीं बीजं स क ल ह्रीं शक्तिः ह स क ह ल ह्रीं कीलकम् श्रीदेवीभूषितोत्सङ्गश्रीकामेश्वरदेवता प्रीत्यर्थे श्रीगुरोराज्ञया जपे विनियोगः।

ह स क ल ह्रीं	सर्वज्ञताशक्ति धाम्ने	अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
ह स क ह ल ह्रीं	नित्यतृप्तिशक्ति धाम्ने	तर्जनीभ्यां नमः।
स क ल ह्रीं	अनादिबोधशक्ति धाम्ने	मध्यमाभ्यां नमः।
ह स क ल ह्रीं	स्वतन्त्रताशक्ति धाम्ने	अनामिकाभ्यां नमः।
ह स क ह ल ह्रीं	नित्यमलुप्तशक्ति धाम्ने	कनिष्ठिकाभ्यां नमः।
स क ल ह्रीं	अनन्तशक्ति धाम्ने	करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।
ह स क ल ह्रीं	सर्वज्ञताशक्ति धाम्ने	हृदयाय नमः।
ह स क ह ल ह्रीं	नित्यतृप्तिशक्ति धाम्ने	शिरसे स्वाहा।
स क ल ह्रीं	अनादिबोधशक्ति धाम्ने	शिखायै वषट्।

ह स क ल ह्रीं स्वतन्त्रताशक्ति धाम्ने कवचाय हुम् ।
ह स क ह ल ह्रीं नित्यमलुप्तशक्ति धाम्ने नेत्रत्रयाय वौषट् ।
स क ल ह्रीं अनन्तशक्ति धाम्ने अस्त्राय फट् ।

ध्यानम्

श्रीदेवीभूषितोत्सङ्गं सान्द्रसिन्दूररोचिषम् ।
हकारादिमनोर्वाच्यं वन्दे कामेश्वरं हरम् ॥
उद्यद्दिनकरप्रख्यं जपाकुसुमसन्निभम् ।
नवरत्नसमायुक्तं मुकुटेन विराजितम् ॥
चतुर्बाहुमुदाराङ्गं मोहयन्तं जगत्त्रयम् ।
श्रीदेवीभूषितोत्सङ्गं ध्यायेत्परशिवं प्रभुम् ॥
एवं ध्यायेन्महादेवं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् । इति ।

बालात्रिपुरसुन्दरीमन्त्रस्य न्यासध्यानानि

अस्य श्रीबालात्रिपुरसुन्दरी महामन्त्रस्य दक्षिणा मूर्ति ऋषिः पङ्क्तिश्छन्दः श्रीबालात्रिपुरसुन्दरी देवता ऐं बीजं सौः शक्तिः क्लीं-कीलकम् श्रीबालात्रिपुरसुन्दरीदेवता प्रीत्यर्थे श्रीगुरोराज्ञया जपे विनियोगः ।

दक्षिणा मूर्तये ऋषये नमः शिरसि । पङ्क्तिश्छन्दसे नमो मुखे ।
श्रीबालात्रिपुरसुन्दरी देवतायै नमो हृदये । ऐं बीजाय नमो गुह्ये ।
सौः शक्तये नमः पादयोः । क्लीं कीलकाय नमः नाभौ ।
विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे ।

ऐं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । क्लीं तर्जनीभ्यां नमः । सौः मध्यमाभ्यां नमः । ऐंअनामिकाभ्यांनमः । क्लींकनिष्ठिकाभ्यांनमः । सौः करतलकरपृष्ठाभ्यांनमः ।

ऐं हृदयाय नमः । क्लीं शिरसे स्वाहा । सौः शिखायै वषट् । ऐं कव-चाय हुम् । क्लीं नेत्रत्रयाय वौषट् । सौः अस्त्राय फट् ।

अरुणकिरणजालैः रञ्जिता सावकाशा
विधृतजपवटीका पुस्तकाभीतिहस्ता
इतरकरवराढ्या फुल्लकल्हारसंस्था
निवसतु हृदि बाला नित्यकल्याणशीला ।

ऐंकाराङ्कितगर्भितानलशिखा सौः क्लीं कलां बिभ्रतीम्,
सौवर्णाम्बुजधारिणीं वरधरां धाराधराङ्गोज्ज्वलाम् ।
वन्दे साङ्कुशपाशपुस्तकधरां स्रग्भासितोद्यत्कराम्,
तां बालां त्रिपुरां पदत्रयतनुं षट्चक्रसञ्चारिणीम् ॥

मालासृणी पुस्तक पाश हस्तां
बालाम्बिकां श्रीललितां कुमारीम् ।
कुमारकामेश्वरकेलिलोलां
नमामि गौरीं नववर्षवेषाम् ॥

श्रीमहाषोडशीमहिमा

समस्तजगतामुत्पत्तिभूताशिवा। सेयं श्रीर्ब्रह्मस्वरूपा सकलगुणमयी निर्गुणा निष्प्रपञ्चा साक्षात्कामदुघा सुरमुनिनिवहैर्वन्दिताऽऽनन्दरूपा ।

वाक्यकोटिसहस्रैस्तु जिह्वाकोटिशतैरपि ।
वर्णितुं नैव शक्येऽहं श्रीविद्यां षोडशाक्षरीम् ॥
वैखरीवाच्यभावत्वादशक्ता गुणवर्णने ।
यतो निरक्षरं वस्तु परा तत्रैव कारणम् ॥
मूकीभूता हि पश्यन्ती मध्यमा मध्यमा भवेत् ।
ब्रह्मविद्यास्वरूपा हि भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ॥
एकोच्चारेण देवेशि ! वाजपेयस्य कोटयः ।
अश्वमेधसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवस्तथा ॥
काश्यादितीर्थयात्राः स्युः सार्धकोटित्रयान्विताः ।
तुलां नार्हन्ति देवेशि ! नात्र कार्या विचारणा ॥
एकोच्चारेण गिरिजे किं पुनर्ब्रह्म केवलम् ।
षोडशार्णा महाविद्या न प्रकाश्या कदाचन ॥
गोपितव्या त्वया भद्रे स्वयोनिरिव पार्वति ।
षोडशीयं सुगोप्या हि स्नेहाद्देवि प्रकाशिता ॥
अपि प्रियतमं देयं सुतदारधनादिकम् ।
राज्यं देयं शिरो देयं न देया षोडशाक्षरी ॥

श्रीसुन्दरी भेदाः

रुद्रयामले—ॐ क्लीं ह्लीं श्रीं ऐं क्लीं सौः क ए ई ल ह्लीं हसकलहह्लीं सकलह्लीं स्त्रीं ऐं क्रों क्रीं क्लीं हूँ, हसकलह्लीं हसकलहलह्लीं हंसः, सप्तदशी। हसकलहह्लीं हसकहलह्लीं सकलह्लीं। हसकलह्लीं, सहसकहलह्लीं सकलह्लीं। इति षोडशीद्वयम्।

हसकलहह्लीं। हसकहलह्लीं। सकलहह्लीं, लोपामुद्रा १७।

ऐं हसकलह्लीं क्लीं हसकहलह्लीं सौः सकलह्लीं लोपा० विद्या १८।

ॐ ऐं क्लीं सौं कएलहह्लीं सौः क्लीं ऐं ॐ ऐं क्लीं सौः ह स क ल ह्लीं सौंः क्लीं ऐं ॐ ऐं क्लीं सौः स क ह ल ह्लीं सौः क्लीं एं ॐ इति परमा। क ल ईं, ब्रह्मविद्या।

कएईलह्लीं हकहलह्लीं हसकलह्लीं, इयमुन्मनीश्रीविद्या।
कएईलह्लीं हकहलह्लीं सहकलह्लीं, इयं वरुणोपासिता।
कएकलह्लीं हकहह्लीं सहकलह्लीं, धर्मराजोपासिता।
कसकलह्लीं हसलकलह्लीं सकलरलह्लीं, वह्न्युपासिता।
हसकलह्लीं हसकहलह्लीं सकलरलह्लीं नागराजोपासिता।
कएरलरह्लीं हकलरहलह्लीं सरकलरह्लीं, वायूपासिता।
कएईरलह्लीं हकहलरह्लीं सहकलरह्लीं बुधोपासिता।
कहलह्लीं हकलहललरह्लीं सकलह्लीं ईशानोपासिता।
कएईलह्लीं ह०स०, रत्युपासिता।
कादि स०ह० क० विलोममिलिता ३० नारायणोपासिता।
कएईलह्लीं हकहसरह्लीं हसकलह्लीं, ब्रह्मोपासिता।
हसकलह्लीं हकहसरह्लीं हसकलह्लीं, जीवोपासिता।
हसकलह्लीं हसकहलह्लीं सकलह्लीं, लोपामुद्रोपासिता।
कहएईलह्लीं हकएईलह्लीं सकएईलह्लीं, मनूपासिता।

कामराजाख्यविद्यायाः शक्तिं तुर्याञ्च सुन्दरि ।

हित्वा मुखे शिवेन्द्वाख्या लोपामुद्रा प्रकाशिता ।

एकारं ईकारं हित्वा हकारं सकारं च दद्याद् अन्यत्समानम् ।

शक्तिमादनमध्यगं शिवं कुर्याद् वाग्भवेतु शिवाद्यं कामराजकं चन्द्राद्यन्तुं तृतीयं स्यान्मनूपासिता ।

सहाद्यं वाग्भवं देवि ! चन्द्राद्यं शिवमध्यगम् ।

मादनं कामबीजं तु शक्तिबीजं हसाननम् ॥ चन्द्राराधिता ॥

हसाद्यं वाग्भवं शिवाद्यं सहमध्यगम् ।

मादनं कामबीजं तु तार्तीयं शृणु पार्वति ॥

हसाद्यं शक्तिबीजं तु कुबेरेण प्रपूजिता ।

हसकएईलह्रीं हसकहएईलह्रीं हसकएईलह्रीं, कुबेरोपासिता ।

कामराजाख्यविद्यायास्तृतीयं शृणु पार्वति ॥

शक्तिबीजं सहाद्यं स्याद्विद्याऽगस्त्य प्रपूजिता ॥

क ए ई ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं स ह स क ल ह्रीं, इयमगस्त्योपासिता द्वितीया लोपामुद्रोपासिता च ।

कामराजख्यविद्याया वाग्भवे मादनं त्यज ।

चन्द्रं तत्रैव संयोज्य कामराजे ततः परम् ॥

हित्वाचन्द्रं मुखे कुर्य्याद्विद्येयं नन्दिपूजिता ।

सएईलह्रीं सहकहलह्रीं सकलह्रीं, नन्दिपूजिता ।

कामराजमिदं भद्रे षड्वर्णं सर्वमोहनम् । (हसकहलह्रीं)

शक्तिबीजं वरारोहे चन्द्राद्यं सर्वसिद्धिदम् ।

कामराजाख्यविद्याया हित्वा भूमिं तृतीयके ।

शक्तिबीजे स्थितां देवि ! चन्द्राधः कुरु तत्र च ।

इन्द्राराधितविद्येयं भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।

क ए ई ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं सकलह्रीं ।

इन्द्रलोपामुद्राख्यविद्या द्वितीया या महेश्वरी ।

कामराजे भृगुं हित्वा मुखे कुर्यात्तमेव हि ॥

शिवं विना चतुर्थं तु तार्तीये शक्रगः शिवः।
एषा विद्या वरारोहे त्रिपुरा सूर्यपूजिता।

सूर्य्येण कएईलह्रीं सहकलह्रीं सहसकल ह्रीं। क ए ई ल ह स क ह स ह स क ल ह्रीं शिवोपासिता।

क ए इ ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं स क ल ह्रीं ह्रीं भुवनेशानः बिन्दुहीना नादहीना दुर्वाससा पूजिता।

श्रीबीजं शक्तिबीजञ्च कामबीजञ्च वाग्भवम्।
बालान्तः संस्थितं बीजं प्रणवञ्च ततः परम्॥
शक्तिबीजं रमां चैव विद्यां च परमेश्वरि॥
लोपां वा कामराजं वा त्रिकूटामथवा पराम्॥
विन्यस्य पुनराद्यानि पञ्चबीजानि सुन्दरि॥
विपरीतक्रमेणैव विन्यसेत्षोडशीपरा।

एषा श्रीपरमा परात्परतमा सर्वार्थसिद्धिप्रदा सारात्सारतरा।

इति सुन्दरीभेदाः।

अथ होमप्रकरणम्

पूजामण्डपस्य ईशानभागे चतुरस्राकारं हस्तायाममङ्गुष्ठोन्नतं स्थण्डिलं परिकल्प्य, 'मूलेन' निरीक्ष्य, फट् इति सामान्यार्घ्योदकेन प्रोक्ष्य कुशेन ताडयित्वा, हुं इत्यवगुण्ठ्य स्थण्डिलोपरि मध्यमदक्षिणोत्तरेषु क्रमेण प्रागग्रास्तिस्रो रेखा विलिख्य तदुपरि मध्यमपश्चिमपूर्वेषु उदगग्रास्तिस्रो रेखा विलिख्य, तासु रेखासु उल्लेखक्रमेण—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ब्रह्मणे नमः। ७ यमाय नमः। ७ सोमाय नमः। ७ रुद्राय नमः। ७ विष्णवे नमः। ७ इन्द्राय नमः। इत्यभ्यर्चयेत् ॥

ततः स्वदेहे षडङ्गन्यासं कुर्यात्। यथा—

७ सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः। ७ स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा। ७ उत्तिष्ठ-पुरुषाय शिखायै वषट्। ७ धूमव्यापिने कवचाय हुं। ७ सप्तजिह्वाय नेत्र-त्रयाय वौषट्। ७ धनुर्धराय अस्त्राय फट्।

अननैव षडङ्गेन अग्नीशासुरवायुकोणेषु मध्ये दिक्षु च स्थण्डिलमभ्यर्च्य तत्र अष्टकोणषट्कोणत्रिकोणात्मकमग्निचक्रं प्रवेशरीत्या विलिख्य त्रिकोणे दिगष्टकं विभाव्य तत्र स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन दिक्षु मध्ये च क्रमात्—

७ पीतायै नमः। ७ श्वेतायै नमः। ७ अरुणायै नमः। ७ कृष्णायै नमः। ७ धूम्रायै नमः। ७ तीव्रायै नमः। ७ स्फुलिङ्गिन्यै नमः। ७ रुचिरायै नमः। ७ ज्वालिन्यै नमः, इति पीठशक्तीः समर्चयेत् ॥

ततः पीठमध्ये–७ तं तमसे नमः। ७ रं रजसे नमः। ७ सं सत्वाय नमः। ७ आं आत्मने नमः। ७ अं अन्तरात्मने नमः। ७ पं परमात्मने नमः। ७ ह्रीं ज्ञानात्मने नमः। इति पूजयेत् ॥

ततः त्रिकोणे–७ ॐ ह्रीं वागीश्वरीवागीश्वराभ्यां नमः—इति मन्त्रेण जनिष्यमाणस्य वन्हेः पितरौ वागीश्वरीवागीश्वरौ सम्पूज्य तयोर्मिथुनी भावं भावयित्वा, अरणेः सूर्यकान्ताद्वा वन्हिमुत्पाद्य द्विजगृहाद्वा आनीय मृत्पात्रे ताम्रपात्रे वा अग्निं स्थण्डिलाद्वहिः आग्नेय्यां ऐशान्यां नैर्ऋत्यां

वा दिशि 'निधाय, तस्मात्क्रव्यादांशमेकमग्निशकलं फट् इति अस्त्रमन्त्रेण नैर्ऋत्यां निरस्य अग्निं मूलेन निरीक्ष्य प्रोक्ष्य च, अस्त्रेण कुशैस्ताडयित्वा, कवचेनावगुण्ठ्य, धेनुयोनिमुद्रे प्रदर्श्य, ततः ७ ॐ रं वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा, इति मूलाधारोद्गतं सम्विदग्निं ललाटनेत्रद्वारा निर्गमय्य तं वागीश्वरीयोन्यां प्रवेशबुद्ध्या बाह्याग्नौ संयोजयेत् ॥

ततः कवचाय हुं इति मन्त्रेण इन्धनैराच्छाद्य ७ अग्निं प्रज्ज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम् । सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतोमुखम् ॥ इत्युपस्थाय । ७ उत्तिष्ठ पुरुष हरितपिङ्गल लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय मे देहि दापय स्वाहा, इति वन्हिमुत्थाप्य ततः ॐ ह्रीं इति स्थण्डिलोपरि अग्निं त्रिवारं भ्रामयित्वा स्थण्डिले स्थापयेत् । ७ चित्पिङ्गल हन हन दह दह पच पच सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा, इति प्रज्वाल्य, ज्वालिनीमुद्रां प्रदर्श्य, (प्राक्तोयं निधाय), वागीश्वरीगर्भे धृतं ध्यत्वा, ७ ऐं नमः अस्य होमाग्नेः गर्भाधानकर्म, पुंसवनकर्म, सीमन्तोन्नयनकर्म, जातकर्म, ललिताग्निरिति नाम्ना नामकरणकर्म कल्पयामि नमः, ७ ऐं नमः अस्य ललिताग्नेः अन्नप्राशनकर्म, चौलकर्म, उपनयनकर्म, गोदानकर्म, विवाहकर्म कल्पयामि नमः—इति तत्तत्कर्मभावनया अक्षतैरभ्यर्चयेत् ॥

ततः सामान्यार्घ्योदकेनाग्निं मूलेन परिषिच्य अग्निमलङ्कृत्य प्रागग्रैरुदगग्रैश्च कुशैः परिस्तीर्य त्रिभिः परिधिभिः प्राग्वर्जं परिधानं कृत्वा ।

त्रिनयनमरुणाब्जबद्धमौलिं सुशुक्लां-
शुकमरुणमनेकाकल्पमम्भोजसंस्थम् ।
अभिमतवरशक्ति स्वस्तिकाभीतिहस्तं
नमत कनकमालालङ्कृतांसं कृशानुम् ॥

(शारदातिलके—वैश्वनरं स्थितं ध्यायेत् समिद्धोमेषु देशिकः । शयानमाज्यहोमेषु निषण्णं शेपवस्तुषु ॥)

अथ अष्टकोणे स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन—

७ जातवेदसे नमः। ७ सप्तजिह्वाय नमः। ७ हव्यवाहनाय नमः। ७ अश्वोदराय नमः। ७ वैश्वानराय नमः। ७ कौमारतेजसे नमः। ७ विश्वमुखाय नमः। ७ देवमुखाय नमः। इत्यभिपूज्य॥

षट्कोणे षडङ्गं यथा—

७ सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः। ७ स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा। ७ उत्तिष्ठपुरुषाय शिखायै वषट्। ७ धूमव्यापिने कवचाय हुम्। ७ सप्तजिह्वाय नेत्रत्रयाय वौषट्। ७ धनुर्धराय अस्त्राय फट्। इत्यभ्यर्च्य।

त्रिकोणे—७ ॐ वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा, इति मन्त्रेण अग्निं पुष्पाक्षतैरर्चयेत्।

अथ-आज्यं मूलेन सप्तवारमभिमन्त्रणेन संशोध्य पुरतो दर्भेषु निधाय स्रुवञ्च मूलेन प्रक्षाल्य तदुत्तरतो निवेश्य।

अथ अग्नेः सप्तजिह्वासु एकैकां आज्याहुतिं कुर्यात्। यथा—

७ हिरण्यायै नमः स्वाहा—		हिरण्याया इदं न मम		(ऐशान्यां)
७ कनकायै	,,	कनकाया	,,	(प्राच्यां)
७ रक्तायै	,,	रक्ताया	,,	(आग्नेय्यां)
७ कृष्णायै	,,	कृष्णाया	,,	(नैर्ऋत्यां)
७ सुप्रभायै	,,	सुप्रभाया	,,	(पश्चिमायां)
७ अतिरक्तायै	,,	अतिरक्ताया	,,	(वायव्यायां)
७ बहुरूपायै	,,	बहुरूपाया	,,	(मध्ये)

ततस्तिस्र आहुतीःजुहुयात्। यथा—

७ वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा—अग्नय इदम्। ७ उत्तिष्ठपुरुष हरितपिङ्गल लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय मे देहि दापय स्वाहा—अग्नय इदम्। ७ चित्पिङ्गल हन हन दह दह पच पच सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा—अग्नय इदम्। अथ अग्नेर्मध्यभागे स्थितायां दक्षिणोत्तरायतायां बहुरूपाख्यजिह्वायां, ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्स्रैं ह्स्क्लरीं ह्स्रौः। महापद्मवनान्तस्थे करुणानन्दविग्रहे। सर्वभूतहिते मातरेह्येहि परमेश्वरि॥

इति श्रीदेवीमावाह्य उपचारमन्त्रैः गन्धादीन् पञ्चोपचारानाचर्य पूजाक्रमेण जुहुयात् । यथा—

४ गणपतिमूलं महागणपतये स्वाहा (त्रिः) ॥

४ मूलं श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा (दशकृत्वः) ॥

क-५ हृदयाय नमः हृदयदेव्यै, ह-६ शिरसे स्वाहा शिरोदेव्यै, स-४ शिखायै वषट् शिखादेव्यै, क-५ कवचाय हुं कवचदेव्यै, ह-६ नेत्रत्रयाय वौषट् नेत्रदेव्यै, स-४ अस्त्राय फट् अस्त्रदेव्यै स्वाहा ॥

अः क-१५ अः ललितामहानित्यायै (त्रिः), तत्तिथिनित्यामन्त्रेण तत्तिथिनित्यायै, अः क-१५ अः ललितामहानित्यायै स्वाहा ॥

४ अं ऐं सकलह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे सौः अं कामेश्वरीनित्यायै स्वाहा ॥

४ आं ऐं भगभुगे भगिनि भगोदरि भगमाले भगावहे भगगुह्ये भगयोनि भगनिपातिनि सर्वभगवशङ्करि भगरूपे नित्यक्लिन्ने भगस्वरूपे सर्वाणि भगानि मे ह्यानय वरदे रेते सुरेते भगक्लिन्ने क्लिन्नद्रवे क्लेदय द्रावय अमोघे भगविच्चे क्षुभक्षोभय सर्वसत्वान् भगेश्वरि ऐं ब्लूं जें ब्लूं भें ब्लूं मों ब्लूं हे ब्लूं हें क्लिन्ने सर्वाणि भगानि मे वशमानय स्त्रीं हर ब्लें ह्रीं आं भगमालिनी-नित्यायै स्वाहा ॥

४ इं ॐ ह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा इं नित्यक्लिन्नानित्यायै स्वाहा ॥

४ ईं ॐ क्रों भ्रों क्रौं झ्रौं छ्रौं ज्रौं स्वाहा ईं भेरुण्डानित्यायै स्वाहा ॥

४ उं ॐ ह्रीं वन्हिवासिन्यै नमः उं वन्हिवासिनीनित्यायै स्वाहा ॥

४ ऊं ह्रीं क्लिन्ने ऐं क्रों नित्यमदद्रवे ह्रीं ऊं महावज्रेश्वरीनित्यायै स्वाहा ॥

४ ऋं ह्रीं शिवदूत्यै नमः ऋं शिवदूतीनित्यायै स्वाहा ।

४ ॠं ॐ ह्रीं हुं खे च छे क्षः स्त्री हुं क्षें ह्रीं फट् ॠं त्वरितानित्यायै स्वाहा ॥

४ ऌं ऐं क्लीं सौः ऌं कुलसुन्दरीनित्यायै स्वाहा ॥

४ ॡं ह्स्क्लर्डैं ह्स्क्लर्डीं ह्स्क्लर्डौः ॡं नित्यानित्यायै स्वाहा ॥

४ एं ह्रीं फ्रें स्रूं क्रों आं क्लीं ऐं ब्लूं नित्यमदद्रवे हुं फ्रें ह्रीं एं नीलपताका-नित्यायै स्वाहा ॥

४ ऐं भ्म्र्यूं ऐं विजयानित्यायै स्वाहा ॥

४ ओं स्वौं ओं सर्वमङ्गलानित्यायै स्वाहा ॥

४ औ ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनी देवदेवि सर्वभूतसंहारकारिके जातवेदसि ज्वलन्ति ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल ह्रां ह्रीं ह्रूं र र र र र र र ज्वालामालिनि हुं फट् स्वाहा औंज्वालामालिनीनित्यायै स्वाहा ॥

४ अं च्क्रौं अं चित्रानित्यायै स्वाहा ॥

४ अः पञ्चदशी अः ललितामहानित्यायै स्वाहा ॥

४ ऐं ग्लौं ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं ह्सौः सहक्षमलवरयीं स्हौः श्रीविद्यानन्दनाथात्मकचर्यानन्दनाथाय स्वाहा, उड्डीशानन्दनाथाय, प्रकाशानन्दनाथाय, विमर्शानन्दनाथाय, आनन्दानन्दनाथाय, षष्ठीशानन्दनाथाय, ज्ञानानन्दनाथाय, सत्यानन्दनाथाय, पूर्णानन्दनाथाय, मित्रेशानन्दनाथाय, स्वभावानन्दनाथाय, प्रतिभानन्दनाथाय, सुभगानन्दनाथाय स्वाहा ॥

४ परप्रकाशानन्दनाथाय, परशिवानन्दनाथाय, पराशक्त्यम्बायै, कौलेश्वरानन्दनाथाय, शुक्लदेव्यम्बायै, कुलेश्वरानन्दनाथाय, कामेश्वर्यम्बायै, भोगानन्दनाथाय, क्लिन्नानन्दनाथाय, समयानन्दनाथाय, सहजानन्दनाथाय, गगनानन्दनाथाय, विश्वानन्दनाथाय, विमलानन्दनाथाय, मदनानन्दनाथाय, भुवनानन्दनाथाय, लीलाम्बायै, स्वात्मानन्दनाथाय, प्रियानन्दनाथाय, (परमेष्ठिगुरु) अमुकानन्दनाथाय, (परमगुरु) अमुकानन्दनाथाय, (स्वगुरु) अमुकानन्दनाथाय स्वाहा ॥

४ अं आं सौः त्रैलोक्यमोहनचक्राय, अं अणिमासिद्ध्यै, लं लघिमासिद्ध्यै, मं महिमासिद्ध्यै, ईं ईशत्वसिद्ध्यै, वं वशित्वसिद्ध्यै, पं प्राकाम्यसिद्ध्यै, भुं भुक्तिसिद्ध्यै, इं इच्छासिद्ध्यै, पं प्राप्तिसिद्ध्यै, सं सर्वकामसिद्ध्यै, आं ब्राह्मीमात्रे, ईं माहेश्वरीमात्रे, ऊं कौमारीमात्रे, ॠं वैष्णवीमात्रे, ॡं वाराहीमात्रे, ऐं महेन्द्रीमात्रे, ॐ चामुण्डामात्रे, अः महालक्ष्मीमात्रे, द्रां सर्वसंक्षोभिणीमुद्राशक्त्यै, द्रीं सर्वविद्राविणीमुद्राशक्त्यै, क्लीं सर्वाकर्षिणीमुद्राशक्त्यै, ब्लूं सर्ववशङ्करीमुद्राशक्त्यै, सः सर्वोन्मादिनीमुद्राशक्त्यै, क्रों सर्वमहाङ्कुशामुद्राशक्त्यै, ह्स्ख्फ्रें सर्वखेचरीमुद्राशक्त्यै, ह्सौः सर्वबीजमुद्राशक्त्यै, ऐं सर्वयोनिमुद्राशक्त्यै, हस्रैं ह्स्क्ल्रीं हस्रौः सर्वत्रिखण्डमुद्राशक्त्यै, प्रकटयोगिनीभ्यः, अं आं सौः त्रिपुराचक्रेश्वर्यै, अं अणिमासिद्ध्यै, द्रां सर्वसंक्षोभिणीमुद्राशक्त्यै, मूलं ललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा ।

४ ऐं क्लीं सौः सर्वाशापरिपूरकचक्राय, अं कामाकर्षिण्यै, आं बुद्ध्याकर्षिण्यै, इं अहङ्कारार्काषिण्यै, ईं शब्दाकर्षिण्यै, उं स्पर्शाकर्षिण्यै, ऊं रूपाकर्षिण्यै, ऋं रसाकर्षिण्यै, ॠं गन्धाकर्षिण्यै, ऌं चित्ताकर्षिण्यै, ॡं धैर्याकर्षिण्यै, एं स्मृत्याकर्षिण्यै, ऐं नामाकर्षिण्यै, ओं बीजाकर्षिण्यै, औं आत्माकर्षिण्यै, अं अमृताकर्षिण्यै, अः शरीराकर्षिण्यै, गुप्तयोगिनीभ्यः, ऐं क्लीं सौः त्रिपुरेशीचक्रेश्वर्यै, लं लघिमासिद्ध्यै, द्रीं सर्वविद्राविणीमुद्राशक्त्यै, मूलं ललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा।

३ ह्रीं क्लीं सौः सर्वसंक्षोभणचक्राय, कं-५ अनङ्गकुसुमायै, चं-५ अनङ्गमेखलायै, टं-५ अनङ्गमदनायै, तं-५ अनङ्गमदनातुरायै, पं-५ अनङ्गरेखायै, यं-४ अनङ्गवेगिन्यै, शं-४ अनङ्गाङ्कुशायै, ळं क्षं अनङ्गमालिन्यै, गुप्ततरयोगिनीभ्यः, ह्रीं क्लीं सौः त्रिपुरसुन्दरीचक्रेश्वर्यै, मं महिमासिद्ध्यै, क्लीं सर्वाकर्षिणीमुद्राशक्त्यै, मूलं ललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा।

४ हैं ह्क्लीं ह्सौः सर्वसौभाग्यदायकचक्राय, कं सर्वसंक्षोभिण्यै, खं सर्वविद्राविण्यै, गं सर्वाकर्षिण्यै, घं सर्वाल्हादिन्यै, ङं सर्वसम्मोहिन्यै, चं सर्वस्तम्भिन्यै, छं सर्वजृम्भिण्यै, जं सर्ववशङ्कर्यै, झं सर्वरञ्जन्यै, ञं सर्वोन्मादिन्यै, टं सर्वार्थसाधिन्यै, ठं सर्वसम्पत्तिपूरण्यै, डं सर्वमन्त्रमय्यै, ढं सर्वद्वन्द्वक्षयङ्कर्यै, सम्प्रदाययोगिनीभ्यः, हैं ह्क्लीं ह्सौः त्रिपुरवासिनीचक्रेश्वर्यै, ईं ईशित्वसिद्ध्यै, ब्लूं सर्ववशङ्करीमुद्राशक्त्यै, मूलं ललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा।

४ ह्सैं ह्स्क्लीं ह्सौः सर्वार्थसाधकचक्राय, णं सर्वसिद्धिप्रदायै, तं सर्वसम्पत्प्रदायै, थं सर्वप्रियङ्कर्यै, दं सर्वमङ्गलकारिण्यै, धं सर्वकामप्रदायै, नं सर्वदुःखविमोचिन्यै, पं सर्वमृत्युप्रशमन्यै, फं सर्वविघ्ननिवारिण्यै, बं सर्वाङ्गसुन्दर्यै, भं सर्वसौभाग्यदायिन्यै, कुलोत्तीर्णयोगिनीभ्यः, ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः त्रिपुराश्रीचक्रेश्वर्यै, वं वशित्वसिद्ध्यै, सः सर्वोन्मादिनीमुद्राशक्त्यै, मूलं ललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा।

४ ह्रीं क्लीं ब्लें सर्वरक्षाकरचक्राय, मं सर्वज्ञायै, यं सर्वशक्त्यै, रं सर्वैश्वर्यप्रदायै, लं सर्वज्ञानमय्यै, वं सर्वव्याधिविनाशिन्यै, शं सर्वाधार-

स्वरूपायै, षं सर्वपापहरायै, सं सर्वानन्दमय्यै, हं सर्वरक्षास्वरूपिण्यै, क्षं सर्वेप्सितफलप्रदायै, निगर्भयोगिनीभ्यः, ह्रीं क्लीं ब्लें त्रिपुरमालिनी-चक्रेश्वर्यै, पं प्राकाम्यसिद्धयै, क्रों सर्वमहाङ्कुशामुद्राशक्त्यै, मूलं ललिता-महात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा ॥

४ ह्रीं श्रीं सौः सर्वरोगहरचक्राय, अं + + अः(१६) ब्लूं वशिनीवाग्दे-वतायै, कं-५ क्ल्ह्रीं कामेश्वरीवाग्देवतायै, चं-५ न्व्लीं मोदिनीवाग्देवतायै, टं-५ य्लूं विमलावाग्देवतायै, तं-५ ज्म्रीं अरुणावाग्देवतायै, पं-५ ह्स्ल्व्यूं जयिनीवाग्देवतायै, यं-४ झ्म्र्यूं सर्वेश्वरीवाग्देवतायै, शं-६ क्ष्म्रीं कौलिनी वाग्देवतायै, रहस्ययोगिनीभ्यः, ह्रीं श्रीं सौः त्रिपुरासिद्धाचक्रेश्वर्यै, भुं भुक्ति-सिद्धयै, ह्स्ख्फ्रें सर्वखेचरीमुद्राशक्त्यै, मूलं ललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा ॥

४ यां रां लां वां सां द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः सर्वजम्भनेभ्यः कामेश्वरीकामे-श्वरबाणेभ्यः स्वाहा ॥

४ थं धं सर्वसंमोहनाभ्यां कामेश्वरीकामेश्वरधनुर्भ्यां स्वाहा ।

४ ह्रीं आं सर्ववशीकरणाभ्यां कामेश्वरीकामेश्वरपाशाभ्यां स्वाहा ।

४ क्रों क्रों सर्वस्तम्भनाभ्यां कामेश्वरीकामेश्वराङ्कुशाभ्यां स्वाहा ।

४ ह्स्रैं ह्स्क्ल्रीं ह्स्रौः सर्वसिद्धिप्रदचक्राय, ऐं क-५ महाकामेश्वर्यै, क्लीं ह-६ महावज्रेश्वर्यै, सौः स-४ महाभगमालिन्यै, ऐं क-५ क्लीं ह-६ सौः स-४ श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै, अतिरहस्ययोगिनीभ्यः, ह्स्रैं ह्स्क्ल्रीं ह्स्रौः त्रिपुराम्बाचक्रेश्वर्यै, इं इच्छासिद्धयै, ह्सौः सर्वबीजमुद्राशक्त्यै, मूलं ललिता-महात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा ॥

४ पञ्चदशी सर्वानन्दमयचक्राय, मूलं श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा । इति दशवारं, परापरातिरहस्ययोगिन्यै, मूलं त्रिपुरसुन्दरीचक्रेश्वर्यै, पं प्राप्तिसिद्धयै, ऐं सर्वयोनिमुद्राशक्त्यै, मूलं ललितामहात्रिपुरसुन्दर्यै स्वाहा ॥

४ षोडश्युपासकानां—'तुरीयविद्या' तुरीयाम्बायै, सं सर्वकामसिद्धयै, ह्स्रैं ह्स्क्ल्रीं ह्स्रौः सर्वत्रिखण्डामुद्राशक्त्यै, 'महाषोडशी' महात्रिपुर-सुन्दरीपराभट्टारिकायै स्वाहा ॥

पञ्चपञ्चिकादिहोमे तत्तन्मन्त्रेण प्रदर्शितरीत्या होमः कर्तव्यः ॥

ततो होमावशिष्टेन आज्येन स्रुचं पूरयित्वा पुष्पं फलं अग्रे निधाय स्रुवेणाच्छाद्य मूलेन वौषट् इति उत्थितो जुहुयात् ॥ ततो बलिदानम् (पुटं १८६) । ततो महाव्याहृतिहोमः । यथा—

७ भूरग्नये च पृथिव्यै च महते च स्वाहा । अग्नये पृथिव्यै महत इदम् । ७ भुवो वायवे चान्तरिक्षाय च महते च स्वाहा । वायवे अन्तरिक्षाय महत इदम् । ७ स्वरादित्याय च दिवे च महते च स्वाहा । आदित्याय दिवे महत इदम् । ७ भूर्भुवःस्वश्चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यश्च दिग्भ्यश्च महते च स्वाहा । चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यो दिग्भ्यो महत इदम् । इति चतस्र आहुतीराज्येन हुत्वा ।

ऐं ह्रीं श्रीं ॐ इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत् स्मृतं यदुक्तं यत् कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा । परब्रह्मण इदम् । इति ब्रह्मार्पणाहुतिं विदध्यात् ॥

अस्मिन् ललिताहोमकर्मणि मध्ये सम्भावितसमस्तमन्त्रलोपतन्त्रलोपद्रव्यलोपक्रियालोपाज्यलोपन्यूनातिरेकविस्मृतिविपर्यासप्रायश्चित्तार्थं सर्वप्रायश्चित्तं होष्यामि । ॐ भूर्भुवस्वः स्वाहा । प्रजापतय इदम् । श्रीविष्णवे स्वाहा । विष्णवे परमात्मन इदम् । नमो रुद्राय पशुपतये स्वाहा । रुद्राय पशुपतय इदम् । आप उपस्पृश्य । सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धामप्रियाणि । सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा । अग्नये सप्तवत इदम् । आज्यपात्रादीनुत्तरतो निधाय प्राणायामं कृत्वा, अग्निं परिषिञ्चति । अदितेऽन्वमँस्थाः । अनुमतेऽन्वमँस्थाः । सरस्वतेऽन्वमँस्थाः । देव सवित प्रासावीः ॥

ततः प्रणीतात्रं स्वस्य पुरत आदाय, पूर्णमसि पूर्णं मे भूयाः । सदसि सन्मे भूयाः । सर्वमसि सर्वं मे भूया ॥ इति अन्यजलं नीनीय तज्जलं प्रागादिप्रदक्षिणं—प्राच्यां दिशि देवा ऋत्विजो मार्जयन्ताम् । दक्षिणस्यां दिशि मासाः पितरो मार्जयन्ताम् । प्रतीच्यां दिशि गृहाः पशवो मार्जयन्ताम् । उदीच्यां दिश्याप ओषधयो वनस्पतयो मार्जयन्ताम् ।

ऊर्ध्वायां दिशि यज्ञः सम्वत्सरो यज्ञपतिर्मार्जयन्ताम्—इति प्रतिदिशमुत्सृज्य पुरस्तात् निस्राव्य, तेन—ब्राह्मणेष्वमृतं हितं येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा तेन सहस्रधारेण पावमान्यः पुनन्तु मा—इत्यात्मानं प्रोक्ष्य, प्रागादिपरिस्तरणमुत्तरे विसृजेत्। अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्। सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतोमुखम्॥ इत्युपस्थाय चिदग्निं, उपावरोह जातवेदः पुनस्त्वं देवेभ्यो हव्यं वह नः प्रजानन्। आयुः प्रजाँ रयिमस्मासु धेहि अजस्रो दीदिहि नो दुरोणे॥ ललिताग्निमात्यन्युद्वासयामि नमः इत्युद्वास्य हृदये अञ्जलिं दद्यात्।

तद्भूतितिलकं—त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् यद्देवेसु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम्। इति त्र्यायुषेण मन्त्रेण धारयेत्।

इति होमप्रकरणम् समाप्तम्॥

जपप्रकरणे सूत्रकृता पुरश्चरणादिकं न विधित्सितम् काम्यकर्मण्येवतस्यावश्यकत्वात्। युक्तं चैतत्—

शुभं वाऽप्यशुभं वाऽपि काम्यं कर्म करोति यः।
तस्यारित्वं व्रजेन्मन्त्रो न तस्मात् तत्परो भवेत्॥
काम्यकर्मप्रसक्तानां तावन्मात्रं फलं भवेत्।
निष्कामं भजतां देवमखिलाभीष्टसिद्धयः॥

देवेत्युपलक्षणं देव्या अपि। काम्यकर्मविधिश्च दुःसाध्यश्चेत् कस्यचित् काम्यफललिप्सा, तेन तदा श्यामाक्रमोक्तं पुरश्चरणादिकं काम्यहोम-द्रव्यं चानुसन्धेयम्।

श्यामदीनामुपासनाकालः

ललिता प्राह्णे, अपराह्णे श्यामा, रात्रौ दण्डिनी, ब्राह्मे महूर्त्ते परा, सूर्यपरावृत्तिप्राक्कालः प्राह्णः।

श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दर्य्याः प्रधानसचिवपदमलङ्करोति श्यामा तदुपासनद्वारा श्रीविद्या प्रसीदति। यथा राजदर्शनोत्सुका आदौ प्रधानसचिवमुपसेव्य तद्द्वारा राजदर्शनं कुर्वन्ति तथैव श्यामायाः प्रथममुपासनं न्याय्यम्। 'प्रधानद्वारा राजप्रसादनं हि न्याय्यम्' इति परशुरामसूत्रात्।

साङ्गां सङ्गीतमातृकां श्यामामिष्ट्वा सिंहासनारूढायाः ललितायाः महाराज्ञ्याः दण्डनायिकास्थानीयां दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहनिरर्गलाज्ञां चन्द्रां कोलमुखीं वरिवस्येत्। इयञ्च महारात्रे पूज्या। ततश्च श्रींविद्याया महाराज्ञ्या हृदयात्मिकां परां पूजयेत्। तत्प्रीतौ श्रीविद्या प्रीतिः सुतरां सम्पद्यते 'प्रभुहृदयज्ञातुः पदे पदे सुखानि' भवन्तीति परशुरामसूत्रात्।

क्रत्वर्थनियमाः

कृष्णाष्टमीतच्चतुर्दश्यमापूर्णिमासंक्रान्तिसंज्ञेषु पर्वसु पञ्चसु सविशेषैः साधनैः आराधयेत्। तत्प्रकारस्तु नैमित्तिकप्रकरणे वक्ष्यते। नित्यनैमित्तिकक्रमौ च शिष्यसुतादिभिरपि कारयितुं शक्यते।

श्रीललितोपासको नेक्षुखण्डं भक्षयेत्। न दिवा स्मरेद्वार्तालीम्। न जुगुप्सेत सिद्धद्रव्याणि। न कुर्यात् स्त्रीषु निष्ठुरताम्। वीरस्त्रियं न गच्छेत्। न तां हन्यात्। न तत् द्रव्यमपहरेत्। नात्मेच्छया मपञ्चकमुररीकुर्यात्। कुलभ्रष्टैः सह नासीत। न बहु प्रलपेत्। योषितं सम्भाषमाणामप्रतिसम्भाषमाणो न गच्छेत्। कुलपुस्तकानि गोपायेत्। एते क्रत्वर्थनियमाः अकरणे क्रतुवैगुण्यापादकाः साधकेनावश्यमनुष्ठेयाः। अन्यांश्च दीक्षाक्रमोक्तान् सामायिकानामाचाराननुतिष्ठेत्। अनिशमात्मनं कामकलात्मकं श्रीदेवीरूपं भावयेत्। एवं वर्तमानस्य कुलनिष्ठस्य सर्वतः कृतकृत्यता। शरीरविमोके च श्वपचगृहकाश्योर्नान्तरम्। स एव जीवन्मुक्तः सुखी विहरेदिति॥

श्रीचक्रप्रतिष्ठापनविधिः

दीक्षाप्रकरणोक्ते शुभे दिवसे कृतान्हिकः साधको गणपतिमाराध्य ब्राह्मणैः स्वस्ति वाचयित्वा आचम्य प्राणानायम्य देशकालौ संकीर्त्य अमुकगोत्रोऽमुकशर्मवर्मादिरहं महात्रिपुरसुन्दरीमाराधयिष्यन् श्रीचक्रराजप्रतिष्ठापनं करिष्ये, इति दुग्धदधिघृतशकृन्मूत्रात्मकं पञ्चगव्यमानीय सम्मिश्र्य ह्रौं इति मन्त्रेण अष्टोत्तरशतवारानभिमन्त्र्य, तत्र प्रणवेन

यन्त्रं निक्षिप्य ततः उद्धृत्य पात्रान्तरे निधाय, मिश्रितेन गोदुग्धदधिघृतमधुशर्करात्मकेन पञ्चामृतेन संस्नाप्य धूपयेत्। अथ प्रत्येकं दुग्धादिभिः क्रमेण अन्तरान्तरा धूपनपूर्वकं स्नपयित्वा पुनर्मिश्रितैश्च तैः स्नपयेत्। ततोऽष्टासु दिक्षु शालितण्डुलपुञ्जोपरि निहितैः नूतनवसनवेष्टितैः गन्धपुष्पार्चितैः कुङ्कुमरोचनाचन्दनकस्तूरीसुरभिलशीतलसलिलपूर्णैः कुशाग्रेण स्पृष्ट्वा मूलेनाष्टोत्तरशतवारानभिमन्त्रितैः सौवर्णादिमार्त्तिकान्तान्यतमैरष्टभिः कलशैरभिषिञ्चेत्। इह सर्वमपि पञ्चगव्यादिकं स्नानं मूलमन्त्रकरणकमेव। अथ यन्त्रं धौतेन वाससा परिमृज्य पीठे निधाय कुशाग्रैः स्पृशन्—ऐं ह्रीं श्रीं ॐ यन्त्रराजाय विद्महे महायन्त्राय धीमहि। तन्नो यन्त्रः प्रचोदयात्, इति यन्त्रगायत्रीम् अष्टोत्तरशतवारानावर्त्यात्मनो भूतशुद्धयादिमातृकान्यासान्तं कृत्वा यन्त्रं करेण संस्पृश्य प्राणप्रतिष्ठां कुर्यात्। यथा—

अस्य श्रीयन्त्रराजस्य प्राणप्रतिष्ठामहामन्त्रस्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ऋषयः, ऋग्यजुस्सामाथर्वाणि छन्दांसि, चैतन्यं देवता। आं बीजम्, ह्रीं शक्तिः, क्रों कीलकम् मम श्रीचक्रप्राणप्रतिष्ठायै जपे विनियोगः।

ऐं ह्रीं श्रीं अं कं खं गं घं ङं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मने आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।

३ इं चं छं जं झं ञं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मने ईं तर्जनीभ्यां नमः।

३ उं टं ठं डं ढं णं श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणात्मने ऊं मध्यमाभ्यां नमः।

३ एं तं थं दं धं नं वाक्पाणिपादपायूपस्थात्मने ऐं अनामिकाभ्यां नमः।

३ ओं पं फं बं भं मं वचनादानविहरणविसर्गानन्दात्मने औं कनिष्ठिकाभ्यां नमः।

३ अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तान्तःकरणात्मने अः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। एवं हृदयादिन्यासः। ध्यानम्—

रक्ताम्बोधिस्थपोतोल्लसदरुणसरोजाधिरूढा कराब्जैः
पाशं कोदण्डमिक्षूद्भवमलिगुणमप्यङ्कुशं पञ्चबाणान्।
बिभ्राणासृक्कपालं त्रिनयनलसिता पीनवक्षोरुहाढ्या
देवी बालार्कवर्णा भवतु सुखकरी प्राणशक्तिः परा नः॥

ऐं ह्रीं श्रीं ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः श्रीचक्रस्य प्राणाः इह प्राणाः, ३ ॐ हंसः श्रीचक्रस्य जीव इह स्थितः, ३ ॐ हंसः श्रीचक्रस्य सर्वेन्द्रियाणि, ३ ॐ हंसः''''श्रीचक्रस्य वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रजिह्वाघ्राणप्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा, इति।

(यन्त्रान्तरप्राणप्रतिष्ठायां तत्तन्नाम्नः ऊहः कार्यः)। अथ तत्र श्रीक्रमोक्तेन विधिना देवीमावाह्याभ्यर्च्य यन्त्रं कुशाग्रैः स्पृशन् मूलमष्टोत्तरसहस्रं शतं वा वारानावर्त्य होमप्रकरणोक्तेन क्रमेणाष्टोत्तरशतमाज्याहुतीः मूलेन हुत्वा सम्पाताज्यं मध्ये मध्ये यन्त्रे अवनीय सव्यञ्जनेनान्नेन सर्वभूतबलिं प्रदाय होमशेषं समाप्य गुरुवे सुवर्णशृङ्गालङ्कृतां गां वसनाभरणानि च प्रदाय देवीमुद्वास्य कुमारीं योगिनीं ब्राह्मणांश्च भोजयेत्। इमाञ्च यन्त्रप्रतिष्ठां गुर्वादिना वा कारयेदिति वामकेश्वरतन्त्रीयो यन्त्रप्रतिष्ठापनविधिः।

इति श्रीचक्रप्रतिष्ठापनविधिः समाप्तः॥

मुद्राप्रकरणम्

श्रीगुरुवन्दनमुद्राः

विकासितकल्प उत्तानाञ्जलिः सुमुखम्। इदमेव मुष्टीकृतं सुवृत्तम्। ऊर्ध्वाधः स्थितयोः दक्षवामकरतलयोः अङ्गुलीनां मिथो मणिवन्धसम्वन्धे चतुरस्रम्। अधरोत्तरस्य वामदक्षमुष्टियुगस्य स्वाभिमुख्येन योजने मुद्गरः। तिर्यङ्मिलिताग्रयोः मध्यमयोः पश्चात् ऊर्ध्वाधः स्थिते वामदक्षानामिके तिरः प्रसारिते तर्जनीभ्यां निपीड्य वामकनिष्ठां दक्षिणया धृत्वा अङ्गुष्ठाग्रयोः मध्यमापुरोमध्यपर्वद्वयसम्वन्धे योनिः॥

इति श्रीगुरुवन्दनमुद्राः॥

अर्घ्यस्थापनमुद्राः

अधोमुखप्रसारितं वामदक्षकरतलयुगमधरोत्तरं विधायाङ्गुष्ठद्वयचालने मत्स्यः। लक्ष्यममितः छोटिकां दत्वा दक्षमध्यमातर्जनीभ्यां अधिवामकरतलं त्रिस्ताडने अस्त्रम्। अधोमुखस्य दक्षवाममुष्टिद्वयस्य प्रसारितयोः तर्जन्योः स्वस्वभागमारभ्य क्रमेण लक्ष्यं परितः प्रादक्षिण्यवामावर्ताभ्यां

परिभ्रमणे अवगुण्ठनम्। अभिमुखमन्योन्यग्रथितानां दक्षवामकराङ्गुलीनां क्रमेण कनिष्ठानामे तर्जनींमध्यमे च संयोज्य अधोमुखीकरणे धेनुः। योनि-रुक्तैव। उत्तानस्य वामकरस्य विरलं आकुञ्चितैः अनामामध्यमातर्जन्यग्रैः अधोमुखस्य दक्षस्य वक्रीकृतानि तानि संयोज्य कनिष्ठाङ्गुष्ठाग्राणां मिथः सम्बन्धे गालिनी ॥

अर्चने मुद्राः

विततोत्तान ऊर्ध्वाधो व्यापारितोञ्जलीः आवाहनी। तथाविधो न्युब्जाञ्जलिः संस्थापनी। उदङ्गुष्ठयोः मुष्ट्योरभिमुखयोगे सन्निधापनी। सैवकनिष्ठामूलं अन्तःप्रविष्टाङ्गुष्ठमिथः स्पृष्टनखा सन्निरोधिनी। सन्निधा-पन्येव तिरः प्रयोजिता सम्मुखी करणी। अवगुण्ठनी उक्तैव। उदङ्गु-लिनोः करतलयोः योजने वन्दनं प्रसिद्धम्। धेनुयोनि उक्ते एव। वामा-नामाङ्गुष्ठयोगे तत्वमुद्रा। दक्षाङ्गुष्ठतर्जनीयोगे ज्ञानमुद्रा।

सङ्क्षोभिण्यादिमुद्राः

उत्तानयोः करतलयोः प्रसारिततर्जनीकं संहृतकनिष्ठानामामध्यमाग्राण्य-न्योन्याभिमुख्ये संयोज्य स्वस्वकनिष्ठोपर्यङ्गुष्ठाग्रसम्बन्धे सर्वसङ्क्षोभिणी। सैव प्रसारितमध्यमाऽपि सर्वविद्राविणी। इयमेव मध्यमा तर्जन्योराकुञ्चने सर्वाकर्षणी। परस्परग्रथिताङ्गुलिस्पृष्टनखाग्राङ्गुष्ठयोः मुष्टयोः योगे सर्ववशङ्करी। अधरोत्तरं तिर्यक्प्रसारिते वामदक्षिणकनिष्ठे मध्यमाभ्यां धृत्वा तयोरग्रे अङ्गुष्ठाभ्यां निपीड्य अनामातर्जन्यग्राणां पार्श्वतो मिथः संस्पर्शे सर्वोन्मादिनी। एषैव अनामयोराकुञ्चने तर्जन्योः किञ्चित् भुग्नत्वे च सर्वमहाङ्कुशा। दक्षभुजमध्यसन्धिस्थापितवामकूर्परमामणिबन्धम्पाणी परिवर्त्य स्वाभिमुखमन्योन्य स्पृष्टाग्रयोः मध्यमयोः पृष्ठतोऽधरोत्तरं तिरः प्रसारितानि दक्षवामानामा कनिष्ठाग्राणि तर्जनीभ्यां धृत्वा पुरोऽङ्गुष्ठयो-रन्योन्यसम्बन्धे सर्वखेचरी। ऊर्ध्वाधस्तिरः प्रसृते वामदक्षकनिष्ठाग्रे धृत्वा अर्धचन्द्राकृतियोजितेषु तर्जन्यङ्गुष्ठेषु मिथः श्लिष्टाभ्यामृजुभ्यां मध्य-माभ्यां तर्जन्योः सम्बन्धे सर्वबीजा। योनिरुक्तैव। अस्यामेव ऋजूकृतयोः

कनिष्ठयोः मध्यमयोरङ्गुष्ठयोश्च पृथङ्मिथः संस्पर्शे सर्वत्रिखण्डा । उदग्राणां विरलाणां वामकराङ्गुलीनां ईषदाकुञ्चने ग्रासः । मध्यमा तर्जन्यङ्गुष्ठयोगे प्राणमुद्रा मध्यानामाऽङ्गुष्ठमेलने अपानस्य । कनिष्ठाऽनामाऽङ्गुष्ठसम्बधं व्यानस्य । तर्जन्यनामाऽङ्गुष्ठमिश्रणे उदानस्य । सर्वाङ्गुलिसंश्लेषः समानस्य । वाममुष्टेरङ्गुष्ठाग्रचुम्बितमूलपर्वणि तर्जन्यामीषदधोमुखप्रसृतायां नाराचः । व्यत्ययेन वामदक्षकर कनिष्ठाङ्गुष्ठाग्रयोः योगे अन्यासां वैरल्येन प्रसारणे च चक्रम् ।

न्यासे मुद्राः

संहताभिः चतसृभिः अङ्गुलीभिः मुखस्पर्शे मुखम् । सम्पुटीकृतयोः करयोः मिथोऽभिमुखप्रश्लेषे करसम्पुटम् । किञ्चिदाकुञ्चिताङ्गुल्यग्रयोः स्वाभिमुखं करयोरन्योन्यसम्बन्धे अञ्जलिः । तर्जनीमध्यमानामाग्रैः हृदय-स्पर्शे हृदयम् । मध्यमाऽनामाग्रयोः ब्रह्मरन्ध्रसम्बन्धे शिरः । अङ्गुष्ठाग्र चूल्लीयोगे शिखा । व्यत्ययहस्तयोरधरोत्तरवामहस्तदक्षकरयोः सर्वाङ्गु-लीभिः अंससम्बन्धे कवचम् । तर्जनीमध्यमाऽनामाग्रैः नेत्रयुगमध्यस्पर्शे नेत्रम् । अस्त्रं उक्तचरम् । एताः षडङ्गन्यास एव । अङ्गुष्ठमिलितया अनामिकया तदत्ताङ्गस्पर्शे न्यासमुद्रा । वामहस्तमुष्टिं बद्ध्वा सरलया तर्जन्या अंसकर्णमभितो भ्रामणे सौभाग्यदण्डिनी । सैव गर्भिताङ्गुष्ठ वाम-पादतलं न्यस्ता रिपुजिह्वाग्रहा । अन्त्यमिदं मुद्रायुगलं श्रीषोडशाक्षरी-विषयम् ।

जपे मुद्राः

मुख कर सम्पुट षडङ्ग मुद्राः प्रोक्तचर्यं एव । परस्परमनभिमुख-ग्रथिताकुञ्चतानामामध्यमाकनिष्ठं करौ परिवर्त्य प्रसारित तर्जनीयुगाग्र-सम्बन्धे शक्त्युत्थापनी । सर्वसङ्क्षोभिण्यादयो दश दर्शितचर्याः । अभि-मुखाभ्यां दक्षमध्यमातर्जनीभ्यां पराङ्मुखयो वाममध्यमातर्जन्योः अवपी-ड्याकर्षणेऽन्यासामङ्गुलीनां आकुञ्चने च पाशः । उदग्रायां दक्षमध्यमायां तन्मध्यपर्वस्पर्शिमध्यपर्वण स्तर्जन्याकुञ्चने अनामाकनिष्ठाग्रयोश्चाङ्गुष्ठाग्र-

निपीडने अंकुशः। उत्तानदक्ष मध्यमाऽग्रेण तादृशतर्जन्यग्रपरिग्रहे चापः। वाणस्तु नाराचपदेनोक्तचर एव॥ आहत्य अपुनरुक्ता मुद्राः पञ्चाशत्। एतासां प्रकारभेदोऽपि तन्त्रान्तरेषु दृश्यत इति शिवम्॥

मुद्राप्रकरणं समाप्तम्॥

नैमित्तिकप्रकरणम्

पर्वसु नैमित्तिकार्चनविधिः

उक्तेन क्रमेण नित्यक्रमनिरतः साधकः प्रतिमासं पञ्चपर्वसु नैमित्तिकमर्चनमाचरेत्—

नित्यार्चनरतैः सिद्धै कार्यं नैमित्तकार्चनम्॥

इति तन्त्रराजवचनात्। तच्च नित्यार्चनाधिकसाधनविशेषकरणम् पर्वाणि तु कृष्णाष्टमी कृष्णचतुर्दशी दर्शः पूर्णिमा सङ्क्रान्तिश्चेति कुलार्णवोक्तानि। तत्र कालस्य कर्तव्यतायाश्च निर्णयः। सङ्क्रान्तिव्यतिरिक्तपर्वार्चनं सूर्यास्तमयोत्तरं दशघटिकाऽऽत्मके रात्रिपूर्वभागे कार्यम्। सङ्क्रमणसपर्या तु तत्तत्सङ्क्रान्तिपुण्यकालोपलक्षितासु घटिकासु। तदुक्तम्—

प्रागूर्ध्वं च दशैव मेषतुलयोः सिंहे वृषे वृश्चिके।
कुम्भे षोडशपूर्वतोऽथ मिथुने मीने धनुः कन्ययोः।
ऊर्ध्वाः षोडश कीर्तिताः प्रथमतस्त्रिंशन्तु कर्काटके।
चत्वारिंशदथो परास्तु मकरे पुण्यप्रदा नाडिकाः॥ इति॥

नाडिकाः घटिकाः। अष्टमी चतुर्दशी दर्शपूर्णिमानां स्वस्वदिने पूजाकालव्याप्तौ न विवादः। दिनद्वये एकदेशव्याप्तौ यत्राधिका सा तिथिर्ग्राह्या। समव्याप्तौ परैव। तिथि वृद्धिह्रासवशेन चतुर्दशी दर्शयोः एकस्मिन्नेव दिने पूजाकालव्याप्तौ नैमित्तिकद्वयस्य तन्त्रेणानुष्ठानम्। तदा सङ्क्रान्तियोगे तु तत्र तस्यापि दिवा सङ्क्रमणे सति नित्यार्चनस्य प्रासङ्गिकी सिद्धिः। यत्र चतुर्णां नैमित्तिकार्चनानां एकस्मिन्नेव काले सन्निपातः सम्भाव्यते तत्र तेषामप्येकतन्त्रेणैव। यथा दमन समर्पणस्य मुख्यकाले चैत्रपूर्णिमायामसम्भवे तत्कृष्णचतुर्दशी दर्शादि ज्येष्ठकृष्णचतुर्दशीदर्शान्ते गौणकाले। यथा

च पवित्रारोपणस्य श्रावण्यामलाभे आ मिथुन सङ्क्रमणं आ च तुलासङ्क्रान्ति प्रोक्तासु तिथिसु आश्विनशुक्लाष्टमीनवमीचतुर्दशीपूर्णासु च तत्कृष्ण चतुर्दशीदर्शयोश्च तादृशि विषये पूजाद्वयं त्रयं चतुष्टयं वा करिष्य इति सङ्कल्पयेदिति दिक् ॥

नित्यक्रमात् नैमित्तिके विशेषः

तत्र परिगणितेषु पर्वसु प्रातः नित्यक्रमं निर्वर्त्य रात्रौ अमुकपर्व प्रयुक्तं नैमित्तिकार्चनं करिष्य इति सङ्कल्प्य यथाविभवं समारम्भ विशेषेण क्रमो निर्वर्तनीयः। चैत्राद्यासु पौर्णमासीषु तु वक्ष्यमाणेन विधिना तत्रान्तरोक्तेन दमनकादि समर्पणमपि। सति सम्भवे आश्वयुज्यां तत्प्रतिपदादि पर्वान्त-प्रयोगोऽप्यनुष्ठेयः, "पञ्चपर्वसु विशेषार्चा" इति सूत्रस्य नानाविद्याऽङ्गशाल्यर्चाबोधकत्वात्, विविधाः शेषाः कालद्रव्यक्रियाऽऽदिरुपाण्यङ्गानि यस्यां तादृश्यर्चेति विग्रहात् ॥

निवेदने पक्षभेदाः

तत्र द्रवद्रव्यनिवेदने त्रयः पक्षा भवन्ति। पृथक्-पृथक् पातस्थं हिमोदकादिके ऐं ह्रीं श्रीं अमुकदेवतायाः अमुकं कल्पयामि नम इति तत्तन्नाम-घटितेन उपचारमन्त्रेण प्रधानदेव्यादिभ्यो नवचक्रेश्वर्यन्ताभ्यस्त्रिपञ्चाशदुत्तरशतसंख्याकाभ्यो देवताभ्यः प्रत्येकं निवेदयेत्। इह प्रधानदेव्या सह नित्याः षोडश, महाकामेश्वर्यादयश्चतस्रः, त्रिपुरादयः चक्रेश्वर्यो नव, कामेश्वरायुधदेव्यः चतस्र इति विवेकः। यदि वा प्रधानदेवतानिवेदनोत्तरं ३ अङ्गदेवीभ्यो नित्याभ्यो अमुकौघायौघत्रयाय अणिमाऽऽदिभ्यो मातृभ्यो मुद्रादेवीभ्यो अणिमाऽऽदिभ्यो वा कामेश्वर्यादि नित्याकलाभ्यः अनंग-कुसुमादिभ्यः सर्वसङ्क्षोभिण्यादिभ्यः सर्वसिद्धिप्रदाभ्यः सर्वज्ञादिभ्यो वशिन्यादिभ्यः आयुधदेवीभ्यो महाकामेश्वर्यादिभ्यः त्रिपुराचक्रेश्वरीभ्योऽमुकं कल्पयामीति तत्समष्ट्यै निवेदयेत्। अथवा प्रधानदेवतायै पृथङ् निवेद्य—ऐं ह्रीं श्रीं हृदयदेव्यादिभ्यो नवचक्रेश्वर्यन्ताभ्योऽमुकं कल्पयामीति सर्व-समष्ट्यै निवेदयेदित्येकः ॥

अनेकपात्रासम्भवे अष्टादश चतुर्दश वा पात्राणि तत्तद्द्रव्यसम्भृतानि उपहृत्य पूर्वोक्तान्यतमेन प्रकारेण निवेदयेदिति द्वितीयः। अत्रौघत्रयसिद्धिमातृमुद्राणां पार्थक्यतदन्यत्वाभ्यां पात्राणामष्टदशत्वं चतुर्दशत्वञ्च ज्ञेयम् ॥

तत्राप्यसम्भवे प्रथमद्वितीययोः प्रकारयोः महति पात्रे सम्भृतं हिमोदकादिकम् उपपात्रेण आदायादाय निवेद्य निवेद्य पात्रान्तरे निक्षिपेत्। अन्त्ये तु प्रकारे महापात्रस्थं सर्वाभ्यो देवताभ्यो युगपन्निवेदयेदिति तृतीयः ॥

कठिनद्रव्यनिवेदने पक्षद्वयम् ॥ तत्रफलादिकमुक्तदेवतासमसंख्याकमुक्तान्यतमेन प्रकारेण तत्तद्देवतायै निवेदयेदित्येकः। तदशक्तौ यथासम्भवमुपहृत्येतिद्वितीयः ॥

पवित्रारोपणे दीपदाने च प्रथमपक्षीयः प्रथमप्रकार एव नान्यो हिमोदकादौ। सङ्कोचपक्षाश्रयणे वीजमशक्तिरवसराभावो वा तन्त्रान्तरोक्तानां चतुराम्नायपञ्चसिंहासनपञ्चपञ्चिकाषड्दर्शनाङ्गदेवीभूतशक्तिसमयदेवतानामप्यर्चने अभ्युदय एवेति दिक् ॥

दमनविधिः

अथादौ दमनार्चनम्। चैत्रशुक्लचतुर्दश्यां सायं स्वयं दमनारामं गत्वा।

ॐ शिवप्रसादसम्भूत अत्र सन्निहितो भवः।
देवीकार्यं समुद्दिश्य नेतव्योऽसि शिवाज्ञया ॥

इति दमनमामन्त्र्य अस्त्रमन्त्रेण समूलं दमनलताः सपर्यापर्याप्ता उत्पाट्य तदलाभे तद्गुच्छान्वा शस्त्रेण छित्वा स्वातन्त्र्याभावे विक्रेतुरनुमत्या क्रयक्रीता वा आनीयानाय्य वा पवित्रे वंशादिपात्रे निधाय मूलविद्यया शुद्धाभिरद्भिः अभ्युक्ष्य ऐं ह्रीं श्रीं दमनाय अमुकं कल्पयामि इत्यादिरीत्या उपचारमन्त्रैः गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्याख्यान् पञ्चोपचारान् आचर्य, सूक्ष्मनववस्त्रेण आच्छाद्य यागमन्दिर एव क्वचन शुचिनि स्थले निधाय जागृयात्। जागरणं त्वभ्युदयाय। इत्यधिवासनम्। इदं च सद्योऽपि वा कार्यम्। समानमेदुत्तरत्रापि कुसुमानाम्। दुग्धान्नादिनिवेद्यस्य तु सद्य एवोचितवासनम्। अथ पूर्णिमायां रात्रौ प्रधानदेवीपूजोत्तरं आवरणार्चने—

षोडशार्णे जगन्मातः वाञ्छितार्थफलप्रदे ।
हृत्स्थान् पूरय मे कामान् देवि कामेश्वरेश्वरि ॥

इति देवीं प्रार्थ्य, नित्यार्चनक्रमेणैव श्रीदेव्याद्याः देवताः चतुराम्नायादिसमयान्तदेवताश्च दमनैः समभ्यर्च्य नित्यहोमत्रिगुणित होमं कृत्वा मूलमन्त्रं च तथा जपित्वा अङ्गमन्त्रांश्च तद्दशांशं श्रीगुरुमभिपूज्य शक्तिसामयिकान् सम्भाव्य तैः सह अन्यैश्च ब्राह्मणैः भुञ्जीत । एतस्य मुख्यकाले कर्त्तुमसम्भवे चैत्रवैशाखज्येष्ठानां कृष्णाष्टमी कृष्णचतुर्दश्योः वैशाखज्येष्ठयोश्च वा कुर्यात् । इति दमनविधिः ।

चैत्र पूर्णिमाकृत्यम्

अस्यामेव पूर्णिमायां वसन्तोत्सवोऽपि विहितः । तत्र दमनार्पण-वसन्तत्सवौ तन्त्रेण करिष्ये इति सङ्कल्प्य तत्कालसम्भवानि सकल्हाराणि कर्पूरचन्दनोक्षितानि कुसुमानि पूर्ववत् अधिवास्य तैर्दमनकैश्च युगपदर्चयेत् ॥ इति चैत्रपूर्णिमाकृत्यम् ॥

वैशाखकृत्यम्

अथ वैशाख्यां पूर्णिमायां नैवेद्यावसरे प्राग्वदधिवासितं हेमन्तकाले सङ्गृहीतं तुषारोदकं तदलाभे कर्पूरमृगनाभिसुरभिलं शीतलं सलिलं वा पूर्वोक्तान्यतमेन पक्षेण सावरणायै देवतायै निवेदयेत् । अवशिष्टं प्राग्वत् ॥ इति वैशाखकृत्यम् ॥

ज्यैष्ठकृत्यम्

अथ ज्येष्ठायां प्राग्वदधिवासितानि कदलीपनसाम्रादीनिफलानि उक्तया रीत्या कयाचित् उक्तमन्त्रैः प्रदानदेवतादिभ्यो निवेदयेत् । तैः अर्चयेदिति केचित् । अन्यत् समानम् ॥ इति ज्येष्ठकृत्यम् ॥

आषाढ़कृत्यम्

अथाषाढ्यां प्राग्दधिवासनपूर्वकं श्रीदेव्यै कुङ्कुममिश्रं चन्दनं समर्प्य जातीकुसुमैः सावरणामभ्यर्च्य ताम्बूलावसरे लवङ्गैलाकङ्कोलानि उक्तेन प्रकारेण केनापि निवेदयेत् । शेषं पूर्ववत् ॥ इत्याषाढकृत्यम् ॥

पवित्रारोपणविधिः

तदनुश्रावण्यां पूर्णिमायां पवित्रारोपणम्। तानि च सुवर्णरौप्यताम्रान्यतमन्तुसूत्रसरीपद्मदर्भमुञ्जशाणवल्कलकार्पासान्यमसूत्रविनिर्मितानि। कार्पाससूत्रं तु सुवासिनी कर्त्तृकम् उक्तान्यतमेन नवगुणितेन सूत्रेण निर्मितैः षोडशाङ्गुलायामैः तावत्संख्याकैः सरैः सम्पन्नं वेति द्वितीयः। तत्तदावरणगतशक्तिसमसंख्याकाङ्गुलायामसरग्रन्थिकम् वेति तृतीयः॥ आदिमपक्षद्वये पवित्राणि सर्वेषां साधारणानि। अन्तिमे तु पक्षे मूलदेव्याः षोडशनवान्यतराङ्गुलायामसरग्रन्थिकम्, महाकामेश्वर्यादीनां तिसृणां त्र्यङ्गुलायामादिकम्, अङ्गदेवीनां षण्णां तत्संख्याकाङ्गुलायामादिकम्। नित्यानां पञ्चदशाङ्गुलायामादिकम्, गुरुपंक्तित्रयस्य तत्तदोघसमसंख्याङ्गुलायामादिकम्, आयुधदेवीनां चतुरङ्गुलायामादिकमिति विशेषः। पक्षत्रयेऽपि व्याप्तस्य श्रीगुरोः प्रधानदेवीवत्। जीवतस्तस्य स्वस्य च क्रमागमज्ञशिष्यशक्तिसमयिकानाञ्च कण्ठादिनाभ्यन्तायाममङ्गीकृतपक्षन्यतमसंख्यसरग्रन्थिकं एकग्रथिकम् वा। क्रमः कालनित्याक्षरक्रमः। आगमः कादिकालीमतादिः। अन्येषां शक्तिसामयिकानां कण्ठादिनाभ्यन्तमानं नवसरमेकग्रन्थिकञ्च। वितानाद्देवताविष्टरायाममष्टोत्तरशतग्रन्थिकं शक्त्यवतारकं नाम। मण्डपस्य तत्परिधिसमप्रमाणमेकसरग्रन्थिकम्। होमाग्नेः षोडशनवान्यतराङ्गुलायाममेकसरमेकग्रन्थिकमञ्च पवित्रं कुर्यात्। ग्रन्थिः सूत्रवेष्टनरूपः। वेष्टनसंख्या तु उत्तमादिभेदेन षट्त्रिंशच्चतुर्विंशद्द्वादशात्मिका ऐच्छिकी वा। तन्मन्त्रस्तु बाला वा कवचं वा उक्तपक्षत्रये एकतमस्यैवाश्रयणीयत्वं मानसाङ्कर्यं अनिष्टापादकं सर्वथा नाचरेदिति स्थितिः। इत्थमुपकल्पितानि गोरोचनकुंकुमरक्तचन्दनमृगमदपंकालिप्तानि लाक्षागैरिकान्यतरचित्रितग्रन्थिकानि पवित्राणि प्राग्वदधिवास्य श्रावण्यां रात्रौ शक्त्यवतारकं पवित्रं वितानाल्लम्बयित्वा मण्डपं तत्सूत्रेणावेष्ट्य प्रधानदेवीपूजान्ते ज्ञानमुद्रोपात्तैः समं श्रीदेव्याद्यावरणान्तदेवताभ्यः तत्तत्पादुकया पृथक्-पृथक् समर्प्य अग्नये च पुरो निधाय श्रीगुरुशक्ति-

सामयिकेभ्यः प्रदाय स्वयं धृत्वा शिष्येभ्यो दद्यात् । एतावत्कर्तुमसम्भवे षण्णवति-अङ्गुलायामसरग्रन्थिकानि त्रीणि पवित्राणि कृत्वा श्रीदेव्यै समर्पयेत् । शेषं पूर्ववत् । एतन्मुख्यकालातिक्रमे मिथुनादितुलान्तसंक्रान्ति-गतासु कृष्णाष्टमीकृष्णचतुर्दशीपूर्णिमासु वा कार्यम् ॥

इति पवित्रारोपणविधिः ॥

भाद्रपदकृत्यम्

ततो भाद्रपद्यां पूर्ववदधिवासितेनैकेन केतकीपुष्पेण अलाभे पत्रेण वा ज्ञानमुद्रया सर्वाः देवता अर्चयेत् । पुष्पं तु निष्कासितकेसरमिति श्रीगुरु-मुखागमः । शेषं समानम् । इति भाद्रपदकृत्यम् ॥

आश्वयुजकृत्यम्

अथाश्वयुज्यां पुष्पविशेषं निवेद्य विशेषकरणकः क्रमः प्रवर्तनीयः ।

अथवा—

आश्वयुज्यां विशेषस्तु दर्शान्तप्रतिपत्तिथिम् ।
आरभ्य पूजयेत् देवीं गन्धपुष्पोपहारकैः ॥

इति तन्त्रराजवचनात् तच्छुल्कप्रतिपदादि पूर्णावधिकः प्रयोगोऽनु-ष्ठेयः । तत्र प्रतिपद्रात्रौ विशेषतः पुष्पं नैवेद्याद्युपचारैः क्रमं प्रवर्त्य प्रधान-देवतायै शतमाज्याहुतीः आवरणदेवताभ्यः तद्दशांशं हुत्वा जपं होम-समसंख्याकं विधाय अविवाहिताक्षतां प्राङ्निमन्त्रितां कन्यामेकां अभ्यक्त-स्नातां आसने उपवेश्य तस्यां देवीं आवाह्य बालया पञ्चधा उपचर्य यथाविभवं वसनाभरणादि दद्यात् । एवं द्वितीयादि चतुर्दश्यन्ते द्विशतादि-होमजप कन्याद्वयादि पूजनानि कृत्वा पूर्णिमायां वृद्धया शतेन सह षोडश-शतहोमजपषोडशकन्यापूजनानि कुर्यादिति एक पक्षः । प्रतिपदि प्रकृतिहोमः शतमाहुतयो वृद्धिहोमश्च शतं एवं जपः कन्यके द्वे । द्वितीयादिषु त्रिशतादि-होमजपौ त्रयादि कन्यका इत्यपरः । एतयोरेकमाश्रयेत् । तिथिवृद्धौ प्रति-पदादिक्रमेण शतादिहोमादिकम् । तिथिह्रासे तु तस्मिन्नेव दिने तद्द्वितय-कृत्यं, एकस्मिन्नेव काले होमादिकं च कुर्यात् । अवशिष्टमविशिष्टम् । एवं

कृते विद्या सिद्धा भवति। राजा च साधकस्य अर्चको भवति। अथवा— कुलार्णवोक्त नवरात्रपक्षोऽपि एकोत्तरवृद्धया वा तदसम्भवे यथोक्तक्रमेणैव वा कर्त्तव्यः। अयं स्वतन्त्रः न तु पूर्णिमाङ्गम्। तत्पक्षे पूर्णिमापूजाऽपि प्रत्येकमुक्तरीत्या कर्त्तव्येति दिक्॥ इत्याश्वयुजकृत्यम्।

कार्तिककृत्यम्

अथ कार्तिक्यां प्राग्वदधिवासितं कुङ्कुमं सावरणायै देव्यै समर्प्य गोधूमादि पिष्टप्रकृतिकैः घृतपूरितैः प्रज्वालितकर्पूरवर्तिभिः प्रदीपैः नित्यहोमक्रमेण तत्तद्देवताभ्यो हुत्वा देव्याः पुरः शुचिनि भूतले षोडशदीपान् दत्त्वा अङ्गदेवीभ्यो नित्याभ्यः ओघत्रयगुरुभ्यः तत्तत्स्थाने निवेश्य तदभितस्त्रिकोणादि-चतुरस्रान्ताकृत्या च निधाय प्रतिदेवतमेकैकं दीपं निवेदयेत्। एतावद-सम्भवे एकस्मिन्नेव भाजने मध्ये एकं तदभितो नव वा नवयोनिचक्राष्टदलं-कमलान्यतमालङ्कृते वा तत्र मध्ये एकं कोणेषु दलेषु वाऽष्टौ दीपान् प्रज्वाल्य देव्यै मूलेन सप्रसूनं निवेदयेत्। शेषमभिहितवत्॥ इति कार्तिककृत्यम्॥

मार्गशीर्षकृत्यम्

अथ मार्गशीर्षपूर्णिमायां सावरणां श्रीदेवीं सुगन्धिभिः कुसुमैरभ्यर्च्य माषपिष्टापूपान् कर्पूरसुरभिलं नारिकेलोदकं च प्रागुक्तान्यतमया भङ्ग्या सर्वाभ्यो देवताभ्यो निवेदयेत्। अन्यदविशेषम्॥ इतिमार्गशीर्षकृत्यम्॥

पौषकृत्यम्

ततः पौष्यां प्राग्वदधिवासपूर्वकं शर्करया गुडेन वा साकं गव्यं दुग्धं उक्तेन केनचित् प्रकारेण निवेदयेत्। अन्यदविशेषम्॥ इति पौषकृत्यम्।

माघकृत्यम्

तदनुमाघ्यां प्राग्वदधिवासितैः शुक्लैस्तिलैः अलाभे रक्तकृष्णैर्वा शुद्धै-स्सकुसुमैरभ्यर्च्य शर्करादुग्धापूपान् निवेदयेत्। अत्रापूपाः गोधूमादिपिष्ट-प्रकृतिका इति सम्प्रदायः। इतरत् समानम्॥ इति माघकृत्यम्॥

फाल्गुनकृत्यम्

अथ फाल्गुन्यां सौवर्णराजतपुष्पैः पङ्कजैः कल्हारैः आम्रकुसुमैः मधूकैश्च यथासम्भवं मिलितैः प्राग्वदधिवासितैः सावरणां श्रीदेवीं वरिवस्येत्। इति फाल्गुनकृत्यम्॥

अयमेव नैमित्तिकार्चनविधिः गणपतिश्यामावार्तालीनां सामान्यक्रमोक्तानां देवतानाम्। सर्वत्रामुक पौर्णिमायां अमुकेन द्रव्य-विशेषेण अमुकदेवतां पूजयिष्ये इति सङ्कल्पः ॥

अत्राधिकमासापाते एकमासकृत्यस्य मासद्वये आवृत्तिः। क्षयमासप्रसक्तौ त्वेकस्मिन् मासे मासद्वयकृत्यमपि कार्यं भवति। नैमित्तिकार्चनमुख्यगौणकालातिक्रमे मूलविद्यासहस्रजपः प्रायश्चितं आम्नातं तन्त्रराजे—

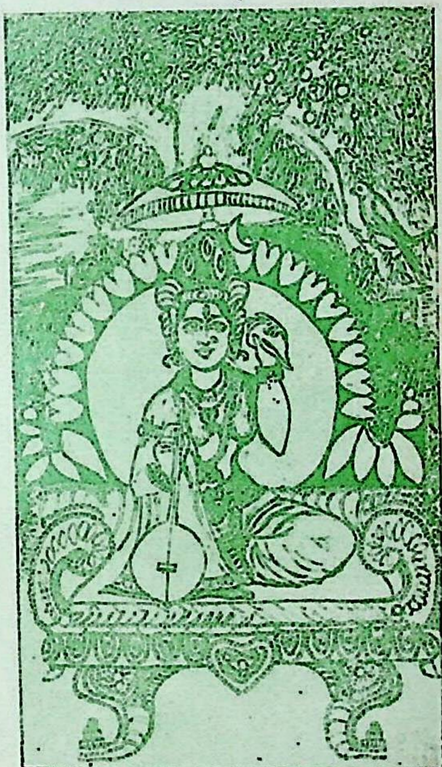
नैमित्तिकातिक्रमणे सहस्रं प्रजपेत्तथेति ॥ इति पञ्चपर्वार्चनविधिः ॥

तन्त्रान्तरोक्तेषु युगमन्वादिषु विशेषदिवसेष्वपि श्रीदेव्यर्चनं अभ्युदयायैव। सूत्रकारेण काम्यहोमस्यैवोक्तत्वात् तत्पूजाऽनुक्तिरिति शिवम् ॥

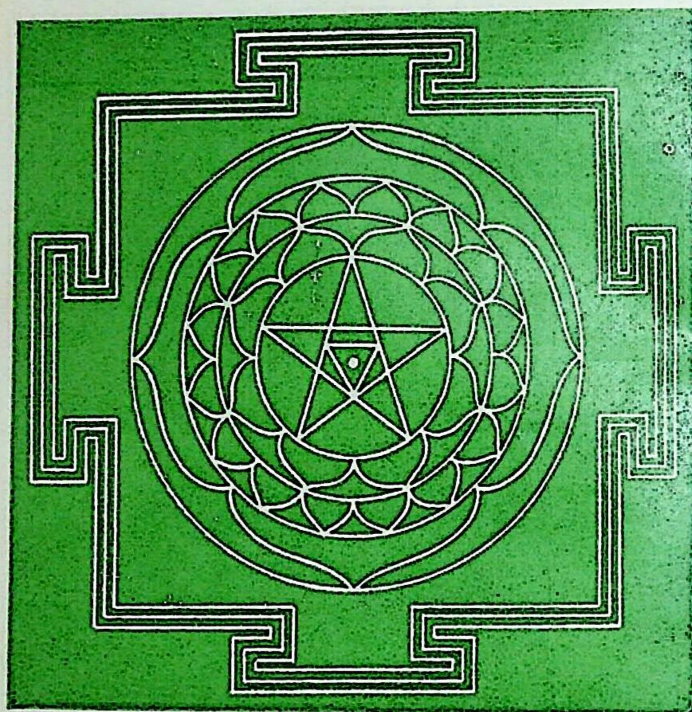
इति नैमित्तिकप्रकरणं समासम्।

श्रीकरपात्रस्वामिविरचिते श्रीविद्यारत्नाकरे श्रीक्रमः समाप्तः।

श्रीश्यामला (मातङ्गी)



माणिक्यवीणामुपलालयन्तीं ।
मदालसां मञ्जुलवाग्-विलासां ॥
माहेन्द्रनीलद्युतिकोमलाङ्गीं ।
मातङ्गकन्यां सततं स्मरामि ॥



श्रीमातङ्गी यन्त्रम्

श्यामाक्रमः

श्रीललिता महात्रिपुरसुन्दर्याः प्रधानसचिवपदमलङ्करोति श्यामा तदुपासनद्वरा श्रीविद्या शीघ्रं प्रसीदति। यथा राजदर्शनोत्सुका आदौ प्रधानसचिवमुपसेव्य तत्द्वारा राजदर्शनं कुर्वन्ति तथैव श्यामायाः प्रथममुपासनं न्याय्यम्। प्रधानद्वारा राजप्रसादनं हि न्याय्यम्। (प० क० सू०)

श्रीमान् साधकः श्यामलां देवीमाराधयिषुः श्रीक्रमोक्तक्रमेण काल्यकृत्याह्निके निर्वर्तयेत्। अत्र विशेषः—

श्रीगुरुपादुकायामादौ त्रितारीस्थाने बालायोगः। सर्वकारणभूतायाः सम्विदश्चिन्तनं मूलाधारादिद्वादशान्ताख्यललाटोर्ध्वभागावधिकमेव। (रश्मिस्रगननुस्मरणम्) तत्र तत्र यथोचितं सम्बुद्ध्यादीनामूहः। आदित्यमण्डले वक्ष्यमाणया भङ्गया सङ्गीतयोगिन्या भावनम्। मूलेन अर्घ्यदानम्। वक्ष्यमाणमृष्यादिन्यासत्रयञ्चेति। इदं चाह्निकं स्वतन्त्रोपास्तौ, पुरश्चरणकाले च, न तु श्रीक्रमाङ्गत्वेन सहानुष्ठाने।

यागमन्दिरप्रवेशः

अथापराह्णे यागमन्दिरमागत्य द्वारस्थण्डिलं गोमयेनोपलिप्य यागगृहञ्च रङ्गवल्लीपुष्पमालावितानकादिभिश्चालङ्कृत्य द्वारस्य दक्षवामशाखयोः उर्ध्वभागे च क्रमेण—

ऐं क्लीं सौः भद्रकाल्यै नमः, ३ भैरवाय नमः, ३ लम्बोदराय नमः, इति तिस्रो द्वारदेवताः सम्पूज्य, अन्तः प्रविष्टः, ३ रक्तद्वादशशक्तियुक्ताय दीपनाथाय नमः, इति पुष्पाञ्जलिना भूमौ दीपनाथमिष्ट्वा सपर्यासामग्रीं स्वस्य दक्षभागे निधाय दीपानभितः प्रज्वाल्य गन्धमाल्यादिभिरलङ्कृतात्मा ताम्बूलेन जातीपत्रफललवङ्गैलाकर्पूराख्यपञ्चतिक्तेन वा सुरभिवदनः सुप्रसन्नमनाः स्वास्तीर्णे शुचिनि ऊर्णामृदुनि बालातृतीयबीजेन द्वादशवारमभिमन्त्रिते मूलमन्त्रोक्षिते आसने ३ आधारशक्तिकमलासनाय नमः, इति

प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा पद्मासनाद्यन्यतमेनासनेनोपविश्य ३ समस्तगुप्त-प्रकटयोगिनीचक्रदेवता श्रीपादुकाभ्यो नमः, इति मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिः स्ववामदक्षपार्श्वयोः क्रमेण गुरुपादुकया श्रीगुरुं, महागणपतिमन्त्रेण च गणपतिं प्रणम्य, ऐं ह्रः अस्त्राय फट्, इति मन्त्रेण मुहुरावृत्तेन अङ्गुष्ठादि-करतलान्तकूर्परयोश्च विन्यस्य देहे च व्यापकं कृत्वा स्वस्य देवतैक्यं भावयन्—

ऐं क्लीं सौः अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः ।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥

इति मन्त्रं सकृदुच्चार्य युगपद्वामपार्ष्णिभूतलत्रिराघातकरास्फोटत्रय-क्रूरदृष्ट्यवलोकनपूर्वकं तालत्रयेण भौमान्तरिक्षदिव्यान् भेदावभासकान् विघ्नानुत्सारयेत् । तालत्रयं नाम, दक्षतर्जनीमध्यमाभ्यामधोमुखाभ्यां वामकरतले सशब्दमुपर्युपरि त्रिरभिघातः ।

प्राणायामः षडङ्गादिन्यासपञ्चकम्

अथ ३ 'नमः' इत्यङ्गुष्ठमन्त्रमुच्चार्य अङ्कुशेन शिखां बद्ध्वा श्रीक्रमोक्त-प्रकारेण भूतशुद्धिम्-आत्मप्राणप्रतिष्ठाञ्च विधाय मूलेन विंशतिधा षोडशधा दशधा सप्तधा त्रिधा वा प्राणानायम्य,

तेजोरूपदेवीमयं भावयन्नात्मानं, निजदेहे न्यासजालात्मकं वज्रकवचं धारयेत् ।

ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः, ऐं, सर्वजनमनोहारि हृदयाय नमः ।
७ सर्वमुखरञ्जिनि शिरसे स्वाहा ।
७ क्लीं ह्रीं श्रीं सर्वराजवशङ्करि शिखायै वषट् ।
७ सर्वस्त्रीपुरुषवशङ्करि कवचाय हुम् ।
७ सर्वदुष्टमृगवशङ्करि नेत्रत्रयाय वौषट् ।

७ सर्वसत्त्ववशङ्करि सर्वलोकवशङ्करि अमुकं (त्रैलोक्यं) मे वशमानय स्वाहा अस्त्राय फट् । इति मन्त्रान् हृदयादिषु न्यसेदिति षडङ्गन्यासः ॥१॥

अथ श्रीक्रमोक्तं मातृकान्यासं कुर्यात् ॥२॥

ऐं क्लीं सौः रत्यैः नमः, मूलाधारे, ३ प्रीत्यै नमः, हृदये,
३ मनोभवाय नमः, इति मुखे न्यसेत् ॥ इति रत्यादिन्यासः ॥३॥
ऐं क्लीं सौः ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः नमः, ब्रह्मरन्ध्रे,

३ ॐ नमो नमः ललाटे,
३ भगवति नमः भ्रूमध्ये,
३ श्रीमातङ्गीश्वरि नमः दक्षनेत्रे,
३ सर्वजनमनोहारि नमः वामनेत्रे,
३ सर्वमुखरञ्जिनि नमः मुखे,
३ क्लीं नमः दक्षश्रोत्रे,
३ ह्रीं नमः वामश्रोत्रे,
३ श्रीं नमः कण्ठे,
३ सर्वराजवशङ्करि नमः दक्षांसे,
३ सर्वस्त्रीपुरुषवशङ्करि नमः वामांसे,
३ सर्वदुष्टमृगवशङ्करि नमः हृदये,
३ सर्वसत्त्ववशङ्करि नमः दक्षस्तने,
३ सर्वलोकवशङ्करि नमः वामस्तने,
३ अमुकं मे वशमानय नमः नाभौ,
३ स्वाहा नमः स्वाधिष्ठाने,

३ सौः क्लीं ऐं श्रीं ह्रीं ऐं नमः मूलाधारे (न्यसेत्,)

इति मूलखण्डसप्तदशकन्यासः ॥४॥

एतानेव प्रतिलोममूलमन्त्रखण्डान् मूलाधारस्वाधिष्ठाननाभिवामस्तनदक्षस्तनहृदयवामदक्षांसकण्ठवामदक्षश्रोत्रमुखवामदक्षनेत्रभ्रूमध्यललाट - ब्रह्मरन्ध्रेषु क्रमात् न्यसेत् । यथा—

ऐं क्लीं सौः सौः क्लीं ऐं श्रीं ह्रीं ऐं नमः मूलाधारे,

३ स्वाहा नमः स्वाधिष्ठाने,
३ अमुकं मे वशमानय नमः नाभौ,
३ सर्वलोकवशङ्करि नमः वामस्तने,
३ सर्वसत्त्ववशङ्करि नमः दक्षस्तने,
३ सर्वदुष्टमृगवशङ्करि नमः हृदये,
३ सर्वस्त्रीपुरुषवशङ्करि नमः वामांसे,
३ सर्वराजवशङ्करि नमः दक्षांसे,
३ श्रीं नमः कण्ठे,
३ ह्रीं नमः वामश्रोत्रे,
३ क्लीं नमः दक्षश्रोत्रे,
३ सर्वमुखरञ्जिनि नमः मुखे,
३ सर्वजनमनोहारि नमः वामनेत्रे,
३ मातङ्गीश्वरि नमः दक्षनेत्रे,
३ भगवति नमः भ्रूमध्ये,
३ ॐ नमो नमः ललाटे,

३ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः नमः ब्रह्मारन्ध्रे। इति प्रतिलोममूलमन्त्रखण्डन्यासः॥५॥

मन्दिरार्चनम्

अथामृताम्भोनिधिमध्यस्थमणिद्वीपमध्यगते कदम्बोद्याने मुक्ताकुसुम-मालिकाहरितपट्टवितानास्तरणवन्दनमालिकाद्यलङ्कृतं धूपधूपितं प्रज्वलत्प्र-दीपपरम्परं चतुर्द्वारं मरकतमण्डपं विचिन्त्य, तस्य प्रागादिषु द्वारेषु—

ऐं क्लीं सौः सां सरस्वत्यै नमः, लां लक्ष्म्यै नमः, शं शङ्खनिधये नमः, पं पद्मनिधये नमः, इति सम्पूज्य—

ऐं क्लीं सौः, लां इन्द्राय वज्रहस्ताय सुराधिपतये ऐरावतवाहनाय सपरिवाराय नमः, पूर्वे,

३ रां अग्नये शक्तिहस्ताय तेजोऽधिपतये अजवाहनाय सपरिवाराय नमः, आग्नेये,

३ टां यमाय दण्डहस्ताय प्रेताधिपतये महिषवाहनाय सपरिवाराया नमः दक्षिणे

३ क्षां निर्ऋतये खड्गहस्ताय रक्षोऽधिपतये नरवाहनाय सपरिवाराय नमः, नैर्ऋते,

३ वां वरुणाय पाशहस्ताय जलाधिपतये मकरवाहनाय सपरिवाराय नमः, पश्चिमे

३ यां वायवे ध्वजहस्ताय प्राणाधिपतये रुरुवाहनाय सपरिवाराय नमः, वायव्ये

३ सां सोमाय शङ्खहस्ताय नक्षत्राधिपतये अश्ववाहनाय सपरिवाराय नमः, उत्तरे,

३ हां ईशानाय त्रिशूलहस्ताय विद्याधिपतये वृषभवाहनाय सपरिवाराय नमः, ऐशान्ये, इति प्रागाद्यष्टासु दिक्षु शक्रादीनभ्यर्च्य,

ऐं क्लीं सौः ॐ ब्रह्मणे पद्महस्ताय लोकाधिपतये हंसवाहनाय सपरिवाराय नमः इति इन्द्रेशानयोः मध्ये,

३ श्रीं विष्णवे चक्रहस्ताय नगाधिपतये गरुडवाहनाय सपरिवाराय नमः, इति निर्ऋतवरुणयोः दिगन्तरे,

३ ॐ वास्तुपतये ब्रह्मणे नमः, इति वास्तुनि चार्चयेत् ।

यन्त्रोद्धारः

अथ चन्दनपङ्कप्रकृतिके मण्डले क्षीरमिश्रितेन सिन्दूरादिना बिन्दुत्रिकोणपञ्चकोणाष्टदलषोडशदलाष्टपत्रचतुष्पत्रचतुस्रात्मकं चक्रं विलिख्य विलेख्य वा सुवर्णरजतताम्रस्फटिकमरकतरत्नाद्युत्कीर्णं वा तत्समास्तीर्णपट्टवसने श्रीखण्डरक्तचन्दनादिनिर्मिते पीठे निवेश्य यन्त्रप्राणप्रतिष्ठां कुर्यात् ।

यथा—ऐं क्लीं सौः श्यामयन्त्रस्य प्राणाः इह प्राणाः, ३ श्यामायन्त्रस्य जीवः इह स्थितः, ३ श्यामायन्त्रस्य सर्वेन्द्रियाणि, ३ श्यामायन्त्रस्य वाङ्मनःप्राणाः इहायान्तु स्वाहा ।

इति मन्त्रेण लिखितयन्त्रे प्राणप्रतिष्ठां विदध्यात् । सुवर्णादि कृतस्य यन्त्रस्य तु प्राणप्रतिष्ठा श्रीक्रमोक्तात्राप्यनुसन्धेया । अत्र देवतानामावाहस्त्वावश्यक एव । एवं देवतान्तरक्रमेष्वपि । ततो मूलेन चक्रे पुष्पाञ्जलिं विकीर्य, श्रीक्रमोक्तक्रमेण सामान्यविशेषार्घ्ये आसादयेत् । अत्र चोभयोरप्यर्घ्ययोः प्रवेशरीत्या अन्तरन्तश्चतुरस्रादिबिन्द्वन्तमण्डलकरणम् ।

ऐं क्लीं सौः अं आत्मतत्त्वाय आधारशक्तये वौषट्, इत्याधारस्थापनम् ।

३ उं विद्यातत्त्वाय पद्मासनाय वौषट्, इति पात्रनिधानम् ।

३ मं शिवतत्त्वाय सोममण्डलाय नमः, इति शुद्धजलापूरणम् ।

(अत्र वह्नि सूर्य सोमकला पूजनम्)

ब्रह्माण्डखण्डसम्भूतमशेषरससम्भृतम् ।
आपूरितं महापात्रं पीयूषरसमावह ॥

इति क्षीरपूरणम् । युक्तं षडङ्गार्चनं, मूलेन दशधा अभिमन्त्रणम् । चतुर्णवतिमन्त्राभिमन्त्रणाभावश्च विशेषः । ततो विशेषार्घ्यबिन्दुभिः वरिवस्यावस्तूनि सम्प्रोक्ष्य ।

चक्रदेवीपूजा

ऐं क्लीं सौः आधारशक्तिकमलासनाय नमः, इति पीठं पुष्पैरभ्यर्च्य, बिन्दुमध्ये ३ श्रीमातङ्गीश्वरीमूर्तये नमः, इति देव्याः मूर्तिं भावयित्वा, हृदि वक्ष्यमाणरूपां देवीं सञ्चिन्त्य, ३ श्रीमातङ्गीश्वर्यै लं पृथिव्यात्मकं गन्धं

कल्पयामि नमः इत्यादिताम्बूलान्तं मानसोपचारैरभ्यर्च्य, तां तेजोरूपेण परिणतां ब्रह्मरन्ध्रं प्रापय्य वहन्नासापुटद्वारा कृतविनिर्गमां कुसुमगर्भिते अञ्जलौ सन्निहितां देवीं ३ श्रीमातङ्गीश्वरि अमृतचैतन्यमावाहयामीति चक्रे भावितायां मूर्त्यामावाह्य मूलान्ते श्रीमातङ्गीश्वरि आवाहिता भव इत्यादि-रीत्या आवाहनसंस्थापन-सन्निरोधन-सम्मुखीकरणावगुण्ठनानि, तत्तन्मुद्रा-प्रदर्शनपूर्वकं विधाय, वन्दनधेनुयोनिमुद्राश्च प्रदर्शयेत्। तत्प्रकारश्च श्रीक्रमतो ज्ञातव्यः। ततः ऐं क्लीं सौः श्रीमातङ्गीश्वर्यै पाद्यं कल्पयामि नमः इत्यादि भङ्ग्या पाद्यार्घ्याचमनीयस्नानवासोगन्धपुष्पधूपदीपनीराजन-च्छत्रचामरयुगलदर्पणनैवेद्यपानीयताम्बूलान्तान् षोडशोपचारान् परि-कल्पयेत्। नैवेद्याङ्गत्वेन पूर्वेत्तरापोशनकरप्रक्षालनगण्डूषाचमनीयानि च दत्वा ताम्बूलं समर्पयेत्। नैवेद्ये त्रिकोणवृत्तचतुरस्रमण्डलकरणं, मूल-मन्त्रेण प्रोक्षणम्, वमित्यमृतबीजेनाभिमन्त्रणपूर्वं धेनुमुद्रया अमृती-करणम्। मूलेन सप्तवारमभिमन्त्रणं प्राणादिमुद्राप्रदर्शनञ्च कार्यम्। अथ मूलमन्त्रान्ते श्रीमातङ्गीश्वरीश्रीपादुकां पूजयामीति वामकरतत्त्वमुद्रासन्दष्ट-द्वितीयशकलगृहीतक्षीरबिन्दुभिस्सह समर्पितैः दक्षकरोपात्तैः कुसुमैः देवीं त्रिस्सन्तर्प्य, देव्या अग्नीशासुर वायव्यभागेषु मौलौ प्रागादिदिक्षु च प्रागुक्तषडङ्गमन्त्रान्ते क्रमेण—

ऐं क्लीं सौः हृदयाय नमः हृदयशक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः
३ शिरसे स्वाहा शिरःशक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।
३ शिखायै वषट् शिखाशक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।
३ कवचाय हुँ कवचशक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।
३ नेत्रत्रयाय वौषट् नेत्रशक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।
३ अस्त्राय फट् अस्त्रशक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

इति लयाङ्गत्वेनाङ्गदेवता आराध्य, देव्याः पश्चात् प्रागपवर्गरेखात्रये दक्षिणसंस्थाक्रमेण गुर्वोघत्रयं वरिवस्येत्। यथा—

दिव्यौघः

(अर्चने सर्वत्र श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इति योजनम्)।

ऐं क्लीं सौः परप्रकाशानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, परमेशानन्द, परशिवानन्द, कामेश्वर्यम्बा, मोक्षानन्द, कामानन्द, अमृतानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति दिव्यौघः।

ऐं क्लीं सौः ईशानानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, तत्पुरुषानन्द, अघोरानन्द, वामदेवानन्द, सद्योजातानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति सिद्धौघः।

ऐं क्लीं सौः पञ्चोत्तरानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, परमानन्द, सर्वज्ञानन्द, सर्वानन्द, सिद्धानन्द, गोविन्दानन्द, शङ्करानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति मानवौघः।

आवरणार्चनम्

(अर्चने सर्वत्र नामादौ त्रितारी अन्ते श्रीपादुकां पू० त० नमः)।

त्र्यस्रे देव्यग्रकोणादिप्रादक्षिण्यक्रमेण—

ऐं क्लीं सौः रतिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, प्रीति श्रीपादुकां पू० त० नमः, मनोभव श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इति प्रथमावरणम्।

पञ्चारस्याराणां मूलेष्वग्रेषु च प्राग्वत्—

ऐं क्लीं सौः द्रां द्रावणबाणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, द्रीं-शोषणबाण, क्लीं बन्धनबाण, ब्लूं मोहनबाण, सः उन्मादनबाणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः,

ऐं क्लीं सौः ह्रीं कामराजश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, क्लीं मन्मथ, ऐं कन्दर्प, ब्लूं मकरकेतन, स्त्रीं मनोभवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति द्वितीयावरणम्।

अष्टदलस्य दलानां मूलेष्वग्रेषु च—

ऐं क्लीं सौः आं ब्राह्मीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ईं माहेश्वरी, ऊं कौमारी, ॠं वैष्णवी, ॡं वाराही, ऐं माहेन्द्री, औं चामुण्डा, अः चण्डिकाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः,

ऐं क्लीं सौः लक्ष्मीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, सरस्वती, रति, प्रीति, कीर्ति, शान्ति, पुष्टि, तुष्टिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति तृतीयावरणम् ।

षोडशदले प्राग्वत्—

ऐं क्लीं सौः वामाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, ज्येष्ठा, रौद्री, शान्ति, श्रद्धा, सरस्वती, क्रियाशक्ति, लक्ष्मी, सृष्टि, मोहिनी, प्रमथिनी, आश्वासिनी, वीचि, विद्युन्मालिनी, सुरानन्दा, नागवुद्धिका श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति चतुर्थावरणम् ।

द्वितीयाष्टदले प्राग्वत्—

ऐं क्लीं सौः अं असिताङ्ग भैरवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इं रुरु, उं चण्ड, ऋं क्रोध, लृं उन्मत्त, एं कपालि, ओं भीषण, अं संहार-भैरवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति पञ्चमावरणम् ।

चतुर्दले प्राग्वत्—

ऐं क्लीं सौः मातङ्गीश्वरीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, सिद्धलक्ष्मी, महामातङ्गी, महासिद्धलक्ष्मीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति षष्ठावरणम् ।

चतुरस्रस्यान्तराग्नेयादिकोणेषु क्रमेण—

ऐं क्लीं सौः गं गणपतिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, दुं दुर्गा, वं वटुक, क्षं क्षेत्रपालश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

देव्यग्रादिद्वारेषु प्रागाद्यास्वेकादशसु दिक्षु च—

ऐं क्लीं सौः सां सरस्वत्यै नमः इत्यादि ऐं वास्तुपतये ब्रह्मणे नमः इत्यन्तैः मन्त्रैः प्रागुक्तै वास्तुपतिपर्यन्तदेवताः समभ्यर्च्य, पूर्वरेखायां च—

ऐं क्लीं सौः हंसमूर्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, परप्रकाश, पूर्ण, नित्य, करुण श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति सम्प्रदायगुरूंश्च पूजयेत् । इति सप्तमावरणम् ।

(सर्वा अप्यावरणदेवताः देव्या अभिमुखासीनाः स्वयं तत्तदभिमुखः पूजयामीति भावयेत्) ।

गुरुपादुकापूजा

अथ स्वशिरसि ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं हस्ख्फ्रें ह स क्ष म ल व र यूं, स ह क्ष म ल व र यीं, ह्सौः स्हौः श्रीशिवादिगुरुश्रीपादुकां पूजयामीति समान्यपादुकया शिवादिगुरून्, ऐं क्लीं सौः हस्ख्फ्रें ह स क्ष म ल व र यूं स ह क्ष म ल व र यीं ह्सौः स्हौः अमुकाम्बासहितामुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामीति च स्वगुरुमभ्यर्च्य,

पुनर्देवीं त्रिः सन्तर्प्य प्राग्वत् वालया षोडशधा चोपचरेत् ।

बलिदानम्

ततः श्रीक्रमोक्तेन क्रमेण होमं कृत्वा कारयित्वा वा (अकृत्वा वा इति पाठान्तरम्) शुद्धजलेन त्रिकोणवृत्तचतुरस्रमण्डलत्रयं विधाय ऐं व्यापकमण्डलाय नमः, इति पुष्पैः समभ्यर्च्य अर्धान्नसलिलपूर्णसक्षीरोपादिमध्यमं सगन्धकुसुमं साधारं पात्रं निधाय ऐं क्लीं सौः श्रीमातङ्गीश्वरि इमं वलिं गृह्ण गृह्ण हुं फट् स्वाहा, ऐं क्लीं सौः श्रीमातङ्गीश्वरि शरणागतं मां त्राहि त्राहि हुं फट् स्वाहा, ऐं क्लीं सौः क्षेत्रपालनाथ इमं बलिं गृह्ण गृह्ण हुं फट् स्वाहा, इति मन्त्रान् क्रमेण पठन् देव्याः दक्षिणभागे बलित्रयं प्रदाय तत्त्वमुद्रास्पृष्टं क्षीरं बल्युपरि निषिच्य, वामपार्ष्णिघातकरास्फोटान् कुर्वाणः समुदञ्चितवक्त्रो नाराचमुद्रया बलिं भूतैः ग्राहयित्वा पाणी प्रक्षाल्य देव्यै प्रदक्षिणनतीर्विधाय पुष्पाञ्जलिं समर्प्य जपेत् ।

श्रीमातङ्गीश्वरीमन्त्रजपः

अस्य श्रीमातङ्गीश्वरीमहामन्त्रस्य दक्षिणामूर्त्यृषये नमः—शिरसि, गायत्रीच्छन्दसे नमः—मुखे, श्रीमातङ्गीश्वरीदेवतायै नमः—हृदये । ऐं बीजाय नमः—गुह्ये, सौः शक्तये नमः—पादयोः, क्लीं कीलकाय नमः—नाभौ, ममाभीष्टसिद्धये विनियोगाय नमः—इति करसम्पुटे, न्यस्य मूलेन त्रिर्व्यापकं कृत्वा न्यासोक्तैरङ्गमन्त्रैः कराङ्गन्यासौ कृत्वा ध्यानम्—

मातङ्गीं भूषिताङ्गीं मधुमदमुदितां नीपमालाढ्यवेणीं
सद्वीणां शोणचेलां मृगमदतिलकामिन्दुरेखावतंसाम् ।

कर्णोद्यच्छङ्खपात्रां स्मितमधुरदृशा साधकस्येष्टदात्रीं
ध्यायेद्देवीं शुकाभां शुकमखिलकलारूपमस्याश्च पार्श्वे ॥

इति ध्यात्वा मनसा पञ्चधोपचर्य पुरश्चरणे वक्ष्यमाण पूर्वोत्तराङ्गमन्त्रसहितं मूलं श्रीक्रमोक्तेन विधिना यथाशक्ति जपित्वा पुनः न्यासादि विधाय,

गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्मयि स्थिरा ॥

इति देव्या वामहस्ते सामान्यार्घ्यसलिलेन जपं समर्प्य, स्तुवीत—

मातङ्गीस्तुतिः

मातङ्गी मातरीशे मधुमदमथनाराधिते महामाये ।
मोहिनी मोहप्रमथिनि मन्मथमथनप्रिये नमस्तेऽस्तु ॥
स्तुतिषु तव देवि विधिरपि पिहितमतिर्भवति विहितमतिः ।
तदपि तु भक्तिर्मामपि भवतीं स्तोतुं विलोभयति ॥
यतिजनहृदयनिवासे वासववरदे वराङ्गि मातङ्गि ।
वीणावादविनोदिनी नारदगीते नमो देवी ॥
देवि प्रसीद सुन्दरि पीनस्तनि कम्बुकण्ठि घनकेशि ।
मातङ्गि विद्रुमौष्ठिस्मितमुग्धाक्ष्यम्ब मौक्तिकाभरणे ॥
भरणे त्रिविष्टपस्य प्रभवसि तत एव भैरवी त्वमसि ।
त्वद्भक्तिलब्धविभवो भवति क्षुद्रोऽपि भुवनपतिः ॥
पतितः कृपणो मूकोऽप्यम्ब भवत्याः प्रसादलेशेन ।
पूज्यः सुभगो भवति जडश्चापि सर्वज्ञः ॥
ज्ञानात्मिके जगन्मयि निरञ्जने नित्यशुद्धपदे ।
निर्वाणरूपिणी शिवे त्रिपुरे शरणं प्रपन्नस्त्वाम् ॥
त्वां मनसि क्षणमपि यो ध्यायति मुक्तामणीवृतां श्यामाम् ।
तस्य जगत्त्रितयेऽस्मिन् कास्ताः ननु याः स्त्रियोऽसाध्याः ।
साध्याक्षरेण गर्भितपञ्चनवत्यक्षराञ्चिते मातः ।
भगवति मातङ्गीश्वरि नमोऽस्तु तुभ्यं महादेवि ॥

विद्याधरसुरकिन्नरगुह्यकगन्धर्वयक्षसिद्धवरैः ।
आराधिते नमस्ते प्रसीद कृपयैव मातङ्गि ॥

वीणावादनवेलानर्तितकलाबुधरगितवामकुचम् ।
श्यामलकोमलगात्रं पाटलनयनं स्मरामि त्वाम् ॥

अवटुतटघटितचूलीताडिततालीपलाशताटङ्काम् ।
वीणावादनवेलाकम्पितशिरसं नमामि मातङ्गीम् ॥

मातामरकतश्यामा मातङ्गी मदशालिनी ।
कटाक्षयतु कल्याणी कदम्बवनवासिनी ।

वामे विस्तृतिशालिनी स्तनतटे विन्यस्तवीणामुखं
तन्त्रीं तारविराविणीमसकलैरास्फालयन्ती नखैः ।

अर्धोन्मीलदपाङ्गमंसवलितग्रीवं मुखं बिभ्रती
माया काचन मोहिनी विजयते मातङ्गकन्यामयी ॥

वीणावाद्यविनोदगीतनिरतां लीलाशुकोल्लासिनीं

बिम्बोष्ठीं नवयावकार्द्रचरणामाकीर्णकेशालिकाम् ।

हृद्याङ्गीं सितशङ्खकुण्डलधरां शृङ्गारवेषोज्ज्वलां
मातङ्गीं प्रणतोऽस्मि सुस्मितमुखीं देवीं शुकश्यामलाम् ॥

स्रस्तं केसरदामभिः वलयितं धम्मिल्लमाबिभ्रती
तालीपत्रपुटान्तरेषु घटितैस्ताटङ्किनी मौक्तिकैः ।

मूले कल्पतरोर्महामणिमये सिंहासने मोहिनी
काचिद्गायनदेवता विजयते वीणावती वासना ॥

वेणीमूलविराजितेन्दुशकलां वीणानिनादप्रियां
क्षोणीपालसुरेन्द्रपन्नगवरैराधिताङ्घ्रिद्वयाम् ॥

एणीचञ्चललोचनां सुवसनां वाणीं पुराणोज्ज्वलां
श्रोणीभारभरालसामनिमिषः पश्यामि विश्वेश्वरीम् ॥

मातङ्गीस्तुतिरियमन्वहं प्रजप्ता
जन्तूनां वितरति कौशलं क्रियासु ।
वाग्मित्वं श्रियमधिकाञ्च गानशक्तिं
सौभाग्यं नृपतिभिरर्चनीयताञ्च ॥

श्रीश्यामला-दण्डकम्

माणिक्यवीणामुपलालयन्तीं मदालसां मञ्जुलवाग्विलासाम् ।
माहेन्द्रनीलद्युति-कोमलाङ्गीं मातङ्गकन्यां मनसा स्मरामि ॥१॥
चतुर्भुजे चन्द्रकलावतंसे कुचोन्नते कुङ्कुमरागशोणे ।
पुण्ड्रेक्षुपाशाङ्कुशपुष्पबाणहस्ते नमस्ते जगदेकमातः ॥२॥
माता मरकतश्यामा मातङ्गी मदशालिनी ।
कटाक्षयतु कल्याणी कदम्बवनवासिनी ॥३॥
जय मातङ्गतनये जय नीलोत्पलद्युते ।
जय सङ्गीतरसिके जय लीलाशुकप्रिये ॥

जय जननि सुधासमुद्रान्त-हृद्यन्मणिद्वीपसंरूढबिल्वाटवीमध्यकल्पद्रुमाकल्पकादम्बकान्तारवासप्रिये कृत्तिवासप्रिये सर्वलोकप्रिये । सदारारब्धसङ्गीतसम्भावनासम्भ्रमालोलनीपस्रगाबद्धचूलीसनाथत्रिके सानुमत्पुत्रिके । शेखरीभूतशीतांशुरेखामयूखावलीबद्धसुस्निग्धनीलालकश्रेणि - शृङ्गारिते लोकसम्भाविते । कामलीलाधनुसन्निभभ्रूलतापुष्पसन्देहसन्दोहकृल्लोचने, वाक्सुधासेचने, चारुगोरोचनापङ्ककेलीललमाभिरामे सुरामे रमे, प्रोल्लसद्वालिकामौक्तिकश्रेणिकाचन्द्रिकामण्डलोद्भासिलावण्यगण्डस्थलन्यस्तकस्तूरिकापत्ररेखासमुद्भूतसौरभ्यसम्भ्रान्त - भृङ्गाङ्गनागीतसान्द्रीभवन्मन्द - तन्त्रीस्वरे सुस्वरे भास्वरे, वल्लीकवादनप्रक्रियालोलतालीदलाबद्धताटङ्कभूषाविशेषान्विते सिद्धसम्मानिते, दिव्यहालामदोद्वेलहेलालसच्चक्षुरान्दोलनश्रीसमाक्षिप्तकर्णैकनीलोत्पले पूरिताशेषलोकाभिवाञ्छाफले श्रीफले, स्वेदबिन्दूल्लसत्फाललावण्यनिःस्यन्दसन्दोहसन्देहकृन्नासिकामौक्तिके सर्वविश्वात्मिके कालिके, मुग्धमन्दस्मितोदारवक्त्रस्फुरत्पूगताम्बूलकर्पूरखण्डोत्करे ज्ञानमुद्राकरे सर्वसम्पत्करे पद्मभास्वत्करे, कुन्दपुष्पद्युतिस्निग्धदन्तावली निर्मलालोलकल्लोलसम्मेलनस्मेरशोणाधरे चारुवीणाधरे पक्वबिम्बाधरे ॥१॥

सुललितनवयौवनारम्भचन्द्रोदयोद्वेललावण्यदुग्धार्णवाविर्भवत्कम्बुबिम्बोकभृत्कन्धरे सत्कलामन्दिरे मन्थरे, दिव्यरत्नप्रभाबन्धुरच्छन्नहारादिभूषा-

समुद्द्योतमानानवद्यांशुशोभे शुभे, रत्नकेयूररश्मिच्छटापल्लवप्रोल्लसद्दोर्लता-राजिते योगिभिः पूजिते, विश्वदिङ्मण्डलव्यापिमाणिक्यतेजः स्फुरत्कङ्कणालङ्कृते विभ्रमालङ्कृते साधकैः सत्कृते, वासराम्भवेलासमुज्जृम्भमाणारविन्दप्रतिद्वन्द्विपाणिद्वये सन्ततोद्यद्दये अद्वये, दिव्यरत्नोर्मिकादीधितिस्तोमसन्ध्यायमानाङ्गुलीपल्लवोद्यन्नखेन्दुप्रभामण्डले सन्नताखण्डले चित्प्रभामण्डले प्रोल्लसत्कुण्डले, तारकाराजिनीकाशहारावलिस्मेरचारुस्तनाभोगभारानमन्मध्यवल्लीवलिच्छेदवीचीसमुल्लाससन्दर्शिताकारसौन्दर्यरत्नाकरे वल्लकीभृत्करे किङ्करश्रीकरे, हेमकुम्भोपमोत्तुङ्गवक्षोजभारावनम्रे त्रिलोकावनम्रे, लसद्वृत्तगम्भीरनाभीसरस्तीरशैवालशङ्काकरश्यामरोमावलीभूषणे मञ्जुसम्भाषणे, चारुशिञ्जत्कटीसूत्रनिर्भर्त्सितानङ्गलीलाधनुःशिञ्जिनीडम्बरे दिव्यरत्नाम्बरे, पद्मरागोल्लसन्मेखलाभास्वरश्रोणिशोभाजितस्वर्णभूभृत्तले चन्द्रिकाशीतले ॥२॥

विकसितनवकिंशुकाताम्रदिव्यांशुकच्छन्नचारूरुशोभापराभूतसिन्दूरशोणायमानेन्द्रमातङ्गहस्तार्गले वैभवानर्गले श्यामले, कोमलस्निग्धनीलोत्पलाऽपादितानङ्गतूणीरशङ्काकरोदारजङ्घालते चारुलीलागते, नम्रदिक्पालसीमन्तिनीकुन्तलस्निग्धनीलप्रभापुञ्जसञ्जातदूर्वाङ्कुराशङ्कसारङ्गसंयोग - रिङ्खन्नखेन्दूज्जवले प्रोज्ज्वले निर्मले, प्रह्वदेवेशलक्ष्मीशभूतेशतोयेशवाणीशकीनाशदैत्येशवाय्वग्निकोटीरमाणिक्यसंघृष्टबालातपोद्दामलाक्षारसारुण्यतारुण्यलक्ष्मीगृहीताङ्घ्रिपद्मे सुपद्मे उमे ! ॥३॥

सुरुचिरनवरत्नपीठस्थिते सुस्थिते रत्नपद्मासने रत्नसिंहासने शङ्खपद्मद्वयोपाश्रिते, तत्र विघ्नेशदुर्गावटुक्षेत्रपालैर्युते मत्तमातङ्गकन्यासमूहान्विते मञ्जुलामेनकाद्यङ्गनामानिते भैरवैरष्टभिर्वेष्टिते, देविवामादिभिः शक्तिभिसेविते धात्रिलक्ष्म्यादिशक्त्यष्टकैः संयुते मातृकामण्डलैर्मण्डिते यक्षगन्धर्वसिद्धाङ्गनामण्डलैरर्चिते पञ्चबाणात्मिके पञ्चबाणेन रत्या च सम्भाविते, प्रीतिभाजा बसन्तेन चानन्दिते भक्तिभाजां परं श्रेयसे कल्पसे योगिनां मानसे द्योतसे छन्दसामोजसा भ्राजसे, गीतविद्याविनोदातितृष्णेन कृष्णेन सम्पूज्यसे, भक्तिमच्चेतसा वेधसा स्तूयसे विश्वहृद्येन वाद्येन विद्याधरैर्गीयसे ॥४॥

श्रवणहरणदक्षिणक्वाणया वीणया किन्नरैर्गीयसे यक्षगन्धर्वसिद्धाङ्गनामण्डलैरर्च्यसे, सर्वसौभाग्यवाञ्छावतीभिर्वधूभिः सुराणां समाराध्यसे सर्वविद्याविशेषात्मकं चाटुगाथासमुच्चारणं कण्ठमूलोल्लसद्वर्णराजित्रयं कोमलं श्यामलोदारपक्षद्वयं तुण्डशोभातिदूरीभवत्किंशुकं तं शुकं लालयन्ती परिक्रीडसे, पाणिपद्मद्वयेनाक्षमालामपि स्फाटिकीं ज्ञानसारात्मकं पुस्तकं चाङ्कुशं पाशमाबिभ्रती येन सञ्चिन्त्यसे तस्य वक्त्रान्तराद् गद्यपद्यात्मिका भारती निःसरेत् येन वा यावका भाकृतिर्भाव्यसे तस्य वश्या भवन्ति स्त्रियः पूरुषाः येन वा शातकुम्भद्युतिर्भाव्यसे सोऽपि लक्ष्मीसहस्रैः परिक्रीडते, किं न सिद्ध्येद् वपुः श्यामलं कोमलं चन्द्रचूडान्वितं तावकं ध्यायतः, तस्य लीलासरो वारिधिस्तस्य केलीवनं नन्दनं तस्यगीर्देवता किङ्करी तस्य चाज्ञाकरी श्रीः स्वयम्, सर्वतीर्थात्मिके सर्वमन्त्रात्मिके सर्वतन्त्रात्मिके सर्वयन्त्रात्मिके सर्वपीठात्मिके सर्वतत्त्वात्मिके सर्वशक्त्यात्मिके सर्वविद्यात्मिके सर्वयोगात्मिके सर्वनादात्मिके सर्वशिष्या(शस्या)त्मिके सर्वविश्वात्मिके सर्वदीक्षात्मिके सर्वसर्वात्मिके सर्वगे पाहि मां पाहि मां पाहि मां देवि ! तुभ्यं नमो देवि तुभ्यं नमः ।।५।।

इति श्यामलादण्डकं सम्पूर्णम्

श्यामे सङ्गीतमातः परशिवनिलये मुख्यसाचिव्यभारो-
द्वाहे दक्षे दयापूरितनिजहृदये मामकीं दैन्यवृत्तिम् ।
श्रीमत्सिंहासनेश्यां भववनपतितान्दावदग्धान्नमस्ते
त्रातुं पीयूषवर्षैः कथय परिकरं बद्धवत्यां विविक्ते ।।

इति मातङ्गिस्तुति सम्पूर्णा ।।

सुवासिनी पूजादिशेषकृत्यम्

अथ श्यामलां शक्तिमाहूय श्रीक्रमोक्तक्रमेण तामुपचर्य तच्छेषमुररीकृत्य हविःप्रतिपत्त्यादिक्रमशेषं समापयेत् । हविः प्रतिपत्ती मूलेन सर्वेण तत्त्वत्रयशोधनं विशेषः ।

श्यामोपासकनियमाः

एतदुपासकस्यावश्यमनुष्ठेयाः नियमाः—

कदम्वतरुं न छिन्द्यात्, वाचा कालीति पदं नोच्चारयेत्। वीणावेणु-वादननर्तनगाथागोष्ठीषु प्रवर्तमानासु पराङ्मुखो न भवेत् गायकान् न निन्द्यात्, इति।

पुरश्चरण-विधानम्

एवं नित्यसपर्यां निर्वर्तयन् पुरश्चरणं कुर्यात्। तच्च जपः होमः तर्पणं ब्राह्मणभोजनश्चेति चतुर्भिरङ्गैरुपेतम्। दीक्षाप्रकरणोक्तकाले श्रीगुर्वनुज्ञातो ब्राह्मणैः स्वस्ति वाचयित्वा, आचम्य, प्राणानायम्य, अमुकशर्मवर्मादिरहं श्यामामन्त्रसिद्धिकामो लक्ष्यचतुष्ठयं जपं तद्दशांशहवनम्, तद्दशांशतर्पणम्, तद्दशांशब्राह्मणभोजनश्चेति पूर्णाङ्गं पुरश्चरणं करिष्य इति सङ्कल्प्य जपेत्।

अथ सति सम्भवे तत्रान्तरदृष्टेन विधिना ग्रामात् बहिः क्रोशे नगराच्च क्रोशद्वये क्षेत्रं परिगृह्णीयात्। अथवा समुद्रमहानदीतीरयोः पश्चिमाभिमुख-वृषशून्यशिवायतनयोः विष्णुगृहपुण्यक्षेत्रतीर्थारण्यपर्वतशिखराश्वत्थबिल्वमूल-विविक्तनिजगृहगोष्ठानां श्रीगुरुस्वेष्टदेवतासन्निध्योश्चान्यतमं देशमासाद्य दीपस्थानविन्यस्ते व्याघ्रचर्ममृगाजिनचित्रकम्बलकुशकटरक्तपटपट्टवसनोर्णा-वस्त्राद्यन्यतमे आसने उपविश्य, विघ्नानुत्सार्य, प्राणानायम्य, सङ्कल्प्य वक्ष्य-माणलक्षणया अक्षमालया वक्ष्यमाणसंस्कारया रुद्राक्षाद्यन्यतमया वा मालया पूर्वाङ्गमन्त्रपूर्वकं प्रत्यहं सहस्रसंख्याकं मूलमन्त्रं तद्दशांशान् उत्तराङ्ग-मन्त्रांश्च जपित्वा पुनर्न्यासादिकं कुर्यात्। पूर्वाङ्गमन्त्रो यथा—

हसन्ति हसितालापे मातङ्गिपरिचारिके। मम भयविघ्नापदां नाशं कुरु कुरु ठः ठः ठः हुं फट् स्वाहा। इति।

मूलमन्त्रश्च—न्यासोक्तसप्तदशखण्डसमष्टिरूपः।

उत्तराङ्गमन्त्रास्तु—ऐं नमः उच्छिष्टचाण्डलि मातङ्गि सर्वशङ्करि, स्वाहा, इति श्यामाङ्गं लघुश्यामा।

ऐं क्लीं सौः वद वद वाग्वादिनि स्वाहा, इति तदुपाङ्गं वाग्वादिनी।

ॐ ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः।

सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत्। इति तत्प्रत्यङ्गं नकुली।

जपकालः

अयञ्च जपो अपराह्णे कर्तव्यः, अपराह्णे श्यामेति सूत्रेण अपराह्णस्य पूजाकालत्वविधानात्। अन्ये त्वामध्यन्दिनमेव। देशोपप्लवादिसम्भावनाया-मासायान्ह्मपीति स्थितिः।

पुरश्चरणाङ्गहोमः

एवं जपोत्तरं तस्मिन्नेवाह्नि श्रीक्रमोक्तेन विधिना कुण्डस्थण्डिलान्य-तरप्रतिष्ठापितेऽग्नौ देव्या उपचारान्ते सर्वासामावरणदेवानां एकैकाहुतिं तत्तन्मन्त्रैः प्रधानदेवतायाः दशाहुतीश्च स्वाहाऽन्तमूलेन उद्देशत्यागपूर्वकं एकैकेन त्रिमध्वक्तेन पलाशकुसुमेन हुत्वा, अथ जपदशांशञ्च हुत्वा होमशेषं समापयेत्।

मन्त्रान्ते या वह्निजाया सा तु मन्त्रस्वरूपिणी।
तदन्तेऽन्यां प्रयुञ्जीत सा होमाङ्गतया मता॥

इति शक्तिसङ्गमतन्त्रवचनात् स्वाहाऽन्तमन्त्रेष्वपि पुनः स्वाहाप्रयोगः कार्यः।

इदं च द्रव्यं इह इन्द्रियकामाग्निहोत्राङ्गदधिवन्नित्यं काम्यं च, संयोग-पृथक्त्वात्। तिलैः शान्त्या इत्यादिविधीनामन्यतः सिद्धहोमाश्रयेण, गोदोह-नस्य तादृशप्रणयनाश्रयेणेव फलाय गुणविधिरूपत्वात्, सत्यां कामनायां अयमेव होमो द्रव्यान्तरैरपि वक्ष्यमाणैः कार्यः, काम्यस्य नित्य-बाधकत्वात्।

पुरश्चरणाङ्गं तर्पणम्

ततो नद्यादौ चतुरस्रमण्डलं विधाय तत्र चिन्तिते श्यामायन्त्रे देवी-मावाह्य पञ्चधा उपचर्य सुरभिलेन सुवर्णरजतताम्रादिपात्रगृहीतेन सलिलेन मूलान्ते श्रीमातङ्गीश्वरीं तर्पयामीति होमादशांशं तर्पयेत्। सत्यानुकूल्ये जपस्थान एव वा पूजाचक्रे तर्पयेत्। "तर्पणेऽपि तथैव स्यान्नमसोऽन्ते पुनर्नमः" इति सङ्गमतन्त्रोक्तेः नमोन्तेष्वपि मन्त्रेषु पुनः नमस्तर्पयामीति। प्रयोगः। तन्त्रान्तरानुसारिणे मार्जनपक्षेऽपि नमो योजनं तत्रैवोक्तम्॥

पुरश्चरणाङ्गं भोजनम्

ततः तर्पणदशांशसंख्याकानेतद्विद्यादीक्षितानलाभे यथासम्भवं तत्तन्मन्त्रदीक्षितान्वा सदाचारान् प्रातः निमन्त्रिताभ्यञ्जितान् ब्राह्मणान् सुवासिनीः कुमारीश्च यथाविभवं वस्त्रगन्धादिभिः देवताधियाऽभ्यर्च्यमृष्टान्नेन भोजितान् ताम्बूलदक्षिणापरितोषितान् प्रदक्षिणीकृतनमस्कृतानाशिषो गृहीत्वा विसृजेत्

तर्पणदशांशब्राह्मणभोजनाशक्तौ तु तर्पणोक्तवज्जले देवतामावाह्य उपचर्यं च मूलान्ते आत्मानमभिषिञ्चामि नमः, इति कुम्भमुद्रया तर्पणदशांशवारं मूर्धन्यभिषेकं वा कुशै मार्जनं वा विधाय तद्दशांशं ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ इत्येकः पक्षः ।

प्रतिलक्षान्ते सर्वान्ते वा होमादि कुर्यादित्यपरौ ।

होमप्रत्याम्नायो जपः

होमाशक्तौ ब्राह्मणानां पुरश्चरणजपसंख्याद्विगुणो जप इति मुख्य पक्षः । होमसंख्या द्विगुणो जप इति गौणः । क्षत्रियादीनां त्रयाणां त्रिगुणादिर्जपः । एवं तर्पणेऽपि । द्विजभक्तस्य शूद्रस्य द्विजस्त्रीणामपि होमप्रतिनिधिः जप एव । तेषां होमे तु नाधिकारः । ब्राह्मणभोजनस्य तु न क्वापि प्रतिनिधिः ॥

आरब्धस्य पुरश्चरणादेः आशौचेऽपि कार्यत्वम् ।

इदं च पुरश्चरणमारब्धं सत् आशौच प्राप्तावपि कार्यम् नित्यार्चनादि च ।

तदुक्तम्—

जपो देवार्चनविधिः कार्यो दीक्षान्वितैर्नरैः ।
नास्ति पापं यतस्तेषां सूतकं वा यतात्मनाम् ॥

इति देवीयामले ।

सूतके मृतके चैव नित्यं विष्णुमयस्य च ।
सानुष्ठानस्य विप्रेन्द्र सद्यः शुद्धि प्रजायते ॥

इति नारदपाञ्चरात्रे ।

शिव विष्ण्वर्चने दीक्षा यस्य चाग्निपरिग्रहः ।

इति तस्येति शेषः ।

ब्रह्मचारियतीनाञ्च शरीरे नास्ति सूतकम् ॥

इति विष्णुयामले ।

ब्राह्मणस्यैव पूज्योऽहं शुचेरप्यशुचेरपि ।
पूजां गृह्णामि शूद्राणां स्वाचरनिरतात्मनाम् ॥
यज्ञव्रतविवाहेषु श्राद्धे होमार्चने जपे ।
आरब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे च सूतकम् ॥
आरम्भो वरणं यज्ञे संकल्पो व्रतजापयोः ।
नान्दीमुखं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिक्रिया ॥

इति विष्णुवचनम् । ब्राह्मणस्य इत्युपलक्षणं क्षत्रियवैश्ययोः ।

न चैवापूज्य भुञ्जीत शिवलिङ्गं महेश्वरि ।
सूतके मृतके चापि न त्याज्यं शिवपूजनम् ॥

इति लिंगपुराणे । पराशरोऽपि—

उपासने तु विप्राणां अङ्गशुद्धिः प्रजायते ॥

इति च । एवं अन्यान्यपि वचनानि तन्त्रान्तरेषु बहुलं उपलभ्यमानानि विस्तरभयान्नेह लिखितानि । सूतकादौ नैमित्तिककाम्ययोः अनधिकार एव, साधकस्य प्रतिबन्धकबाहुल्यात् ॥

सिद्धिपर्यन्तं पुरश्चरणस्य अभ्यासः

एकेन पुरश्चरणेन यदि न मन्त्रः सिध्यति तदा तस्य द्वयं त्रयं वा कुर्यात् । तथाऽपि तदसिद्धौ सिद्धिकारकाः प्रयोगाः ग्रन्थान्तरोक्ताः ग्राह्याः । मनोरथानामक्लेशः सिद्धेरुत्तमलक्षणम्, इत्यादि सिद्धिसूचकानि चान्यतो ज्ञेयानि, इह तु विस्तरभयान्न लिखितानि ।

सम्यक् सिद्धैकमन्त्रस्य पञ्चाङ्गोपासनेन हि ।
सर्वे मन्त्राश्च सिध्यन्ति तत्प्रभावात् कुलेश्वरि ॥
सम्यक् सिद्धैकमन्त्रस्य नासाध्यं विद्यते क्वचित् ।
बहुमन्त्रवतः पुंसः का कथा शिव एव सः ॥

अतः पुरश्चरणमावश्यकमिति ।

पुरश्चरणप्रत्याम्नायः

अतः पुरश्चरणप्रत्याम्नायाः कतिचित् लिख्यन्ते । शशिसूर्योपरागे त्रिरात्रमेकरात्रं वा पूर्वमुपोष्य एकभुक्तं वा विधाय ग्रहणारम्भघटिकार्धात्

प्रागेव स्नातः समुद्रगाया नद्यास्तटादेर्वा नाभिमात्रजले तिष्ठन्, अशक्तौ तु तट एवोपविष्टः, आचम्य, प्राणानायम्य, देशकालौ संकीर्त्य ॐ अमुकराशिगते सवितरि सोमस्य सूर्यस्य वा ग्रहणे अमुकगोत्रोऽमुक शर्मवर्मादिरहं अमुकविद्यासिद्धिकामः स्पर्शमारभ्य विमुक्तिपर्यन्तं जपं करिष्य इति सङ्कल्प्य जपेत् । ततोऽपरेद्युः ग्रहणकालीनस्य जपस्य समसंख्याकं तद्दशांशं वा होमं, तर्पणं तत्समसंख्याकं वा ब्राह्मणभोजनञ्च सम्पादयेत् । यद्वा—ग्रहणपुण्यकाल एव मन्त्रानुसारेण जपस्य तत्समांशस्य तद्दशांशस्य वा होमस्य तदनुगुणस्य तर्पणस्य च कालं विभज्य जपाद्याचरेत् । परेद्युः तर्पणसमसंख्याकं तद्दशांशं वा ब्राह्मणभोजनं कारयेदित्येकः प्रकारः ॥

कृष्णाष्टम्यां प्रातः कृतनित्यक्रियः पूर्ववत् सङ्कल्प्य अयुतचतुष्टयं जपं सप्तधा विभज्य प्रत्यहं चतुर्दशोत्तरसप्तशताधिकसहस्रपञ्चकसंख्यया (५७१४) तत्कृष्णत्रयोदशी पर्यन्तं (६ ५७१४ × ३४२८४) जपित्वा चतुर्दश्यां षोडशोत्तर–सप्तशताधिक–सहस्रपञ्चकं (५७१६; व ५७१६ + ३४२८४ = ४००००) जपेत् । सङ्कल्पे चाद्य कृष्णाष्टमीमारभ्य एतच्चतुर्दशीपर्यन्तमिति विशेषः । होमादि विधिस्तु तद्दशांश एवेत्यन्यः ॥

प्रातः नित्यक्रियोत्तरं प्राग्वत् सङ्कल्प्य अकारादि क्षकारान्तान् आनुलोम्येनोच्चार्य मूलञ्च सकृदुच्चार्य पुनर्मातृकावर्णान् विलोमानुच्चारयेत् । इत्येवं रीत्या प्रत्यहं अष्टोत्तरशतसंख्यया मासमात्रं जपित्वा होमादि-कुर्यात् । सङ्कल्पस्तु एतदनुगुण एवोह्यः, इत्यपरः ॥

यथासम्भवं अनयोः प्रत्याम्नाययो जपस्य चतुर्गुणितत्वं तर्पणादेश्च तद्दशांशत्वं बोध्यम् । प्रत्यहं रात्रौ त्रिकालं सर्वोपचारैरिष्टदेवतां साङ्गां सावरणामर्चयेत् । एवं षण्मासान् मासमात्रं वा पूजयितः पुरश्चरणमन्तरेणापि विद्यासिद्धिर्भवति । संकल्पश्चैतदनुरूप एवोह्यः, इति चापरः ॥

सूर्योदयं समारभ्य यावत्सूर्योदयावधि ।
तावज्जप्त्वा निरातङ्कः सर्वसिद्धीश्वरो भवेत् ॥
सहस्रारे गुरो पादपद्मं ध्यात्वा प्रपूज्य च ।
केवलं देवभावेन जप्त्वा सिद्धीश्वरो भवेत् ॥ इति चान्यः

प्रकारान्तराणि च ग्रन्थान्तरेषु द्रष्टव्यानीति दिक् ॥

कूर्मचक्रलक्षणम्

समीकृते भूतले प्राक् प्रत्यगायताः दक्षिणोत्तरायता चतस्रश्चतस्रो रेखा विलिख्य नव कोष्ठानि विधाय तत्र पूर्वादिप्रादक्षिण्यक्रमेण अष्टसु कोष्ठेषु क च ट त प य श ल, आख्यान् अष्टवर्गान् अकारादिस्वरद्वयं च विलिख्य मध्यकोष्ठे श्रीकारं विलिखेत्। इदं च कूर्मचक्रं क्षेत्रग्रामगृहभेदात् त्रिविधम्। तत्र क्षेत्रग्रामयोः तत्तन्नामाद्यक्षरयुक्तं कोष्ठं मुखम्। तत्पार्श्व-द्वयकोष्ठद्वयं हस्तौ। चरणमध्यगतं कोष्ठं च पुच्छमिति विवेकः। एवमुक्त-प्रकारस्य तदधः स्थितं कुक्षिः। तदधः स्थितौ चरणौ। कुक्षिमध्यगतं कोष्ठं पृष्ठम्। क्षेत्रादौ विभावितस्य कूर्मस्य मुखे पृष्ठे वा जपे होमे च सर्वार्थ-सिद्धिः। करयोः तनौ कोष्ठान्तराणि अनुपयुक्तानीति। कूर्मचक्रानावश्यक-तोक्ता कतिपयेषु स्थलेषु। यथा—

कुरुक्षेत्रे प्रयागे च गंगासागरसंगमे।
महाकाले च काश्याञ्च दीपस्थानं न चिन्तयेत्॥

इति। दीपस्थानोपलक्षितत्वात् कूर्मचक्रमपि दीपस्थानमित्युक्तम्। इह चक्रे चोक्तेषु कोष्ठेषु रिपुस्थानं विचिन्त्य तत्त्यागपूर्वकमवशिष्टं मित्रस्थानमुपा-देयम्। अरिमित्रविचारो यथा—

अद्वयस्य ठकारेण ठकारस्यापि तेन च।
लृद्वयस्य पकारेण पकारस्यापि तेन च॥
ओद्वयस्य षकारेण षकारस्यौयुगेन च।
जकारस्य टकारेण झकारस्य खकारतः॥
उकारस्य लकारेण फकारस्य घकारतः॥
भकारस्य तु रेफेण यकारस्य सकारतः॥
अरित्वमेषां वर्णानां अन्येषां मित्रभावना॥

मालासंस्कारः

ताश्च अकारादिक्षकारान्तमातृकावर्णरुद्राक्षमुक्ताफलमाणिक्यस्फटिक-प्रवालस्वर्णरजतशंखरक्तचन्दनोपादानकमणिपुत्रजीवपद्मवीजकुशग्रन्थ्यादि-मय्यः॥

अक्षमालायाः संस्कारानपेक्षा

अक्षमाला हि ब्रह्मरन्ध्रस्य दक्षभागादिनाभिमभिव्याप्य वामभागपर्यन्तं अवरोहारोहणक्रमेण ब्रह्मनाड्यां अन्योन्याभिमुखत्वेन ग्रथितैः आनुपूर्वेणोच्चारितैः अकारादिभिः ळकारान्तैः पुनः प्रातिलोम्येनोच्चारितैः च ळकारादिभिः अकारान्तैः वर्णै शतबीजात्मिका भवति। क्षकारस्य मेरुस्थानीयस्य लकारद्वयस्य मध्य उच्चारणमात्रम्। न तु जपसंख्याऽन्तर्गणना। अत्रानुलोम्येन अवरोहारोहयोः प्रथमं मातृका ततो मन्त्रः। प्रातिलोम्येन अवरोहारोहयोस्तु प्रथमं मन्त्रः ततो मातृकेति तत्त्वम्। शतान्ते अ क च ट त प य श, आख्यवर्गाष्टकादित्वेन जपस्य अष्टोत्तरशतत्वं ज्ञेयम्। एवं सहस्रादौ च। अस्याः मालायाः न संस्कारापेक्षा॥

रुद्राक्षमालासंस्कार

अष्टोत्तरशतं रुद्राक्षान् षड्गुणिते वक्ष्यमाणान्यतमे सूत्रे सप्रणव-एकैकमातृकोच्चारणपूर्वकं अन्तरान्तरा सग्रन्थिकं अन्योन्याभिमुख-गोपुच्छाकारेण सर्पाकारेण वा ग्रथयित्वा स्थूलमेकं रुद्राक्षमेकीकृते सूत्राग्रद्वये मेरुत्वेन ग्रथयित्वा नवसंख्याकैः अश्वत्थपत्रैः अष्टदलपद्मं विरच्य तत्र मालां निवेश्य मूलमन्त्रान्ते गोमूत्रगोमयगव्यदुग्धदधि-घृताख्येन पञ्चगव्येन, ॐ सद्यो जातं प्रपद्यामि सद्यो जाताय वै नमोनमः। भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः॥—इति मन्त्रान्ते कुशोदकेन च प्रक्षाल्य, ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठायनमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो वलविकरणाय नमो वलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः—इति मन्त्रान्ते चन्दनागुरुकूर्पूरादिभिराघर्षणं विधाय, ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्य सर्वशर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः॥ इति मन्त्रेण धूपयित्वा, ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयाद्—इति मन्त्रेण चन्दनकस्तूरीकुङ्कुमकर्पूरैः लेपयित्वा अक्षमालां वामकरपुटे निधाय, ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधि-

पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्—इति मन्त्रेण अष्टोत्तरशतवारमभिमन्त्र्य रुद्राक्षमालायाः प्राणाः इह प्राणाः। रुद्राक्षमालायाः जीवः इह स्थितः। रुद्राक्षमालायाः सर्वेन्द्रियाणि रुद्राक्षमालायाः वाङ्मनःप्राणाः इह आयान्तु स्वाहा।—इति मन्त्रेण प्राणप्रतिष्ठां कृत्वा उपास्यदेवतां तत्रावाह्य, मूलेन पञ्चधा उपचर्य, तेन मातृकावर्णैश्च अभिमन्त्र्य होमप्रकरणोक्तरीत्या अग्निमुखं विधाय, मूलेन अष्टोत्तरशताज्याहुतीः हुत्वा, सम्पाताज्यं मालायां निक्षिपेत्। अशक्तौ तु होमसंख्या—द्विगुणं मूलमन्त्राभिमन्त्रणं, इति ॥

मालान्तरसंस्कारः

अथान्यासां मालानां संस्कारः—उक्तरीत्या ग्रथितां मालां प्रासादमन्त्रेण पंचगव्ये क्षणं निक्षिप्य तस्मादुद्धृत्य कुशोदकेन प्रक्षाल्य चन्दनादिभिरुपलिप्य पात्रे निधाय पञ्चायतनदेवताः तत्तन्मन्त्रेण आवह्य पञ्चधोपचर्य प्रासादेन शतावाराभिमन्त्र्य सूर्यादीन् ग्रहान् इन्द्रादीन् दिक्पालांश्च तत्तन्मन्त्रेण सम्पूज्य सघृतैः तिलैः यथाशक्तिवारं मूलेनाग्नौ जुहुयात्। अशक्तौ अभिमन्त्रयेत्। ततो यथाविभवं काञ्चनं गुरवे दक्षिणां दत्वा ब्राह्मणांश्च भोजयेत्।

संस्कारान्तरं यथा—सूत्रं मणींश्च पंचगव्ये दिनत्रयं संस्थाप्य चतुर्थदिने उद्धृत्य अस्त्रेण प्रक्षाल्य, हृन्मन्त्रेण स्वेष्टमन्त्रेण वा प्रत्येकं आवृत्तेन मणीनन्योन्याभिमुखं ग्रथयित्वा स्थेण्डिले स्वेष्टदेवतासपर्यामण्डलं विधाय, तत्र तां अभ्यर्च्य, मूलं अष्टोत्तरशतसंख्यं जपित्वा तत्तत्कल्पोक्त-पुरश्चरणहोमद्रव्येण घृतेन वा यथाशक्ति हुत्वा, मण्डले मालां निधाय, तस्यामस्त्रमन्त्रः मूलमन्त्रषडङ्गमन्त्रांश्च विन्यस्य, तां स्वेष्टदेवतारूपां विभाव्य, सम्पूज्य सर्वंभूतबलिं दत्त्वा आचार्यं दक्षिणादिभिः परितोष्य ब्राह्मणान् भोजयेदिति ॥

उक्तसंस्कारविधिः त्रैवर्णिकविषयः। स्त्रीशूद्राणां तु उपास्य मूलमन्त्रेणैव सर्वं कार्यम् ॥

यन्मन्त्रजपार्थं या माला संस्कृता तया तस्यैव जपः कार्यो नान्यस्य।

अत्र च विशेष :—

शिवमन्त्रेण संग्रथ्य शक्तिमन्त्रं जपेदपि।
शक्तिमन्त्रेण संग्रथ्य शिवमन्त्रं जपेच्छिवे॥
ध्रुवेण मातृकाभिर्वा ग्रथ्यन्ते मणयो यदि।
तदा सर्वेऽपि जप्तव्या मनवो मालया तया॥ इति

ध्रुवः प्रणवः।

देवताभेदेन सूत्रभेदः

देवताभेदेन सूत्रभेदे उक्तः। यथा—देव्या रक्तपट्टसूत्रम्। शिवस्योर्णाभवं श्वेतं वा वल्कलं वा। सूर्यगणेशयोः कार्पासजम्। तच्च सुवासिन्या ब्राह्मण्या कर्तितम्। स्वसमानजातीययोषित् कर्तितं वा। त्रिगुणं त्रिगुणी कृतम्। यत्र ब्राह्मणी कर्तितं न मिलति तत्र वर्णान्तरीयकेवलसुवासिनी-कर्तितं ग्राह्यम्। अन्येषु सूत्रेषु त्वैच्छिकं गुणस्थौल्यं मानञ्च॥

मालासंस्कारकालः

मालासंस्कारकालस्तु—विष्णोः द्वादश्यां पूर्वान्हः। शक्तेः अष्टमी-नवमी चतुर्दशीनां रात्रिः। शिवस्य त्रयोदशी दिवा। सूर्यस्य सप्तमी। दिवा इति॥

मालाभेदेन फलभेदः

मालाभेदेन फलभेदो यथा—मातृकाऽक्षमाला क्षिप्रं मन्त्रसिद्धयै। रुद्राक्षमाला मोक्षाय मौक्तिकमाणिक्यमय्यौ साम्राज्याय। स्फाटिकी सर्वेभ्यः कामेभ्यः। पुत्रजीवमयी सम्पत्सारस्वतावाप्त्यै। पद्मवीजमयी श्रीयशोभ्याम्। रक्तचन्दनमयी वश्यभोगाभ्याम्। इत्यन्यासामपि फलानि ग्रन्थान्तरेषु द्रष्टव्यानि।

सूत्रजीर्णतादौ प्रायश्चित्तम्

सूत्रे जीर्णे नवेन ग्रथयित्वा मूलेनाष्टोत्तरशतवारानभिमन्त्रयेत्। जपसमये प्रमादात् करगलितायां छिन्नायां वा मालायां निषिद्धस्पर्शे वा अष्टोत्तरशतमूलमन्त्रजपः प्रायश्चित्तम्॥

जपभेदाः

अथ जपभेदाः ज्ञानार्णवे—

निगदेनोपांशुना वा मानसेनाथवा जपेत् ।
निगदः परमेशानि स्पष्टं वाचा निगद्यते ॥
अव्यक्तश्च स्फुरद्वक्त्र उपांशुः परिकीर्तितः ।
मानसस्तु वरारोहे चित्तेनान्तररूपवान् ।
निगदेन तु यज्जप्तं लक्षमात्रं वरानने ।
उपांशुस्मरणेनैव तुल्यं भवति शैलजे ।
उपांशुलक्षमात्रं तु यज्जप्तं कमलेक्षणे ।
मानसस्मरणेनैव तुल्यमेकेन सुन्दरि ॥

स्वच्छन्दतन्त्रसारे तु—

जपस्तु षड्विधः प्रोक्तस्तत् प्रकारोऽयमुच्यते ।
वाचिकं मानसं चैव योगिकं योगवाचिकम् ॥
योगमानसिकं चैव वाङ्मानसिकयोगिकम् ।
वाचा केवलयोच्चार्यं मन्त्रं देवीं विभाव्य च ॥
जपेद् यत् परमेशानि वाचिकं तत्प्रकीर्तितम् ।
देव्या रूपं च संचिन्त्य सावधानेन चेतसा ॥
मन्त्रस्याप्यनुसन्धानं मानसं परिकीर्तितम् ।
त्रिस्थानेन त्रिबीजानि क्रमात् संचिन्त्य मार्गतः ॥
आरोहो यौगिकं प्रोक्तमुच्यते योगवाचिकम् ।
लक्ष्ये मनः समायोज्य वाचा मन्त्रं जपेच्छिवे ॥
योगवाचिकमेतत् स्याद्योगमानसिकं शृणु ।
लक्ष्येण मानसं पूर्वं संयोज्य मनसा जपन् ॥
योगमानसिकं विद्यादथान्यदपि चोच्यते ।
मनसाऽपि जपेन्मन्त्रं बीजानारोहणक्रमात् ॥
वाङ्मानसिकयोगाख्यं जपमेतदनुत्तमम् ।
वाचिकेन जपेनैव केवला वाक् प्रवर्तते ॥

मानसाज्छ्रियमाप्नोति यौगिकाद् योगसिद्धयः ।
वाङ्मानसजपेनैव वाग्ज्ञानैश्वर्यसिद्धयः ॥
भवन्ति परमेशानि योगमानसिकेन तु ।
अणिमादीनि चान्यानि सर्वाणि लभते ध्रुवम् ॥
वाङ्मानसिकयोगाख्यजपेन परमेश्वरि ।
वागाद्यकुलपर्यन्तमचिराल्लभते नरः ॥
येन केन जपेनैव ह्रस्वदीर्घप्लुतक्रमात् ।
जप्ता विद्याश्च मन्त्राश्च सर्वे सर्वार्थदायिनः ।
भवन्ति गुरुवक्त्रेण लब्धाः सर्वाङ्गसुन्दरि ।
स्वयं निरीक्ष्य ये कोशं मन्त्रं विद्यामथापि वा ॥
गृण्हीयुर्ये व्रजेयुस्ते रौरवं नरकं शिवे ।
तस्मादास्तिक्यसंयुक्तः साधको देशिकाज्ञया ॥
शिवागमान्निरीक्षेत नान्यथा वीरवन्दिते ॥

इति जपभेदाः ।

होमे वह्निस्थिति विचारः

तत्र मुहुर्तचिन्तामणौ—

सैकातिथिर्वारयुता कृताप्ता शेषे गुणेऽभ्रेभुवि वह्निवासः ।
सौख्याय होमः शशियुग्मशेषे प्राणार्थनाशौ दिवि भूतले च ॥

अस्यार्थः—शुक्ल प्रतिपदादिहोमदिनसंख्ययैकमधिकमङ्कमादित्यादि-वारसंख्यां च मेलयित्वा चतुर्भिर्हरणेन त्रये शिष्टे शून्ये वा वह्निर्भुवि वसति । तदा होमः सुखाय भवति । एकस्मिन् द्वये वा शेषे क्रमाद्दिवि पाताले च वह्निवासः । तदानीं होमेन प्राणार्थनाशौ भवतः इति ॥

तत्रैव ग्रहविचारे रुद्रयामले—

तेषां स्थितिक्रमं वक्ष्ये नक्षत्रेषु यथा स्थिताः ।
सूर्यो बुधो भृगुश्चैव शनिश्चन्द्रो महीसुतः ॥
जीवो राहुश्च केतुश्च नवैते देवि खेचराः ।
सूर्यभाच्चन्द्रभं यावत् गणयेच्च महेश्वरि ॥

त्रीणि त्रीणि च ऋक्षाणि रविभाद्दीनि दापयेत् ।
सूर्यादीनां फलं देवि शृणु वक्ष्ये तथाक्रमम् ॥
आदित्ये तु भवेच्छोको बुधे चैव धनागमः ।
शुक्रे लाभं विजानीयाच्छनौ पीड़ा न संशयः ॥
चन्द्रे लाभो महान् देवि भौमे चैव तु बन्धनम् ।
गुरुणा च धनप्राप्तिः राहौ हानिस्तथैव च ॥
केतुना जायते मृत्युः फलमेवं महेश्वरि ।
क्रूरहोमस्तथा देवि क्रूरग्रहमुखो भवेत् ॥

सूर्यभं सूर्याक्रान्तं नक्षत्रं, चन्द्रभं तद्दिवसनक्षत्रम् । दापयेत् सूर्यादिभ्यः इति शेषः । सूर्यनक्षत्रादिचन्द्रनक्षत्रपर्यन्तं नक्षत्राणां त्रयं त्रयं सूर्यादिस्वामिकमित्यर्थः । क्रूरहोमो मारणोच्चाटनादि फलकः । शेषं सुगमम् । एवं वह्निस्थिति ग्रहांश्च विचार्य सौम्यहोमः सौम्यग्रहेषु क्रूरश्च क्रूरग्रहेषु कार्यः ॥

कुण्डस्थण्डिलयोः परिमाणम्

तत्र एकोनपञ्चाशत् संख्याकाहुतिपर्यन्तं स्थण्डिलमेव । तच्च अष्टादशांगुलप्रमाणं परितः अङ्गुष्ठोन्नतम् । अग्रे कुण्डेन सह विकल्पोऽशक्तिशक्तिभ्यां व्यवस्थितिः । पञ्चाशदादिनवनवति संख्याहुति पर्यन्तं मुष्टिमात्रम् । मुष्टिः अरत्निः । शतादिनवनवत्यधिकनवशत्याहुतिपर्यन्तं अरत्निमितम् । निष्कनिष्ठमुष्टिर्हस्तोऽरत्निः । सहस्रादि होमे हस्तमात्रम् । अयुतादौ द्विहस्तम् । लक्षादौ चतुर्हस्तम् । दशलक्षादौ षड्ढस्तम् । कोटिहोमादौ अष्टहस्तं वा । चतुर्विंशत्यंगुलैः हस्तः । अङ्गुलं तिर्यङ्निहिताष्टयवप्रमाणं स्वमध्यमामध्यपर्वमितं वा ज्ञेयम् । मुष्ट्या वा चतुरङ्गुलानि । अर्धयवोनचतुस्त्रिंशतांगुलैः द्विहस्तम् । सार्धैकचत्वारिंशता त्रिहस्तम् । अष्टचत्वारिंशता चतुर्हस्तम् । पादोनचतुःपञ्चाशता पञ्चहस्तम् । पादोनैकोनषष्ट्या षड्ढस्तम् । सार्धत्रिषष्ट्या सप्तहस्तम् । अष्टषष्ट्या यवोनया अष्टहस्तम् । द्विसप्तत्या नव हस्तम् । षट्सप्तत्या दश हस्तं कुण्डं—स्थण्डिलं वा भवति । कुण्डाङ्गानां व्यासखातनाभिकण्ठमेखलायोनीनां सम्यग्ज्ञान एव कुण्डं युक्तम् ।

अन्यथा अत्यन्तमनिष्टम् । स्थण्डिलं चतुरस्रमङ्गुलोत्सेधं चतुरङ्गुलोत्सेधं वा । स्थूलद्रव्यहोमे तत्तत्परिमाणस्यापर्याप्तौ स्वोत्तरपरिमाणमपि ग्राह्यम् ॥

होमे इतिकर्त्तव्यता विशेषः

वहुऋत्विक्कर्तृके होमे यथाकालं प्रत्याहुति उद्देशत्यागयोः कर्तुमशक्यत्वात् यजमानो देवतां द्रव्यं च मनसा ध्यात्वा अमुकदेवताया इदं सर्वं होमद्रव्यजातं न ममेति त्यजेत् ॥

ऋत्विजस्त्वाचान्ताः कृतप्राणायामाः प्रत्येकं देशकालौ संकीर्त्य अमुकेन वृतोऽहं अमुकसङ्ख्याकहोममध्ये अमुकांशेन यजमानोपकल्पितामुकद्रव्येण होमं करिष्य इति सङ्कल्प्य आसनविधिं भूतशुद्ध्यादिकं तत्तदेवता ऋष्यादिन्यासत्रयं कृत्वा अग्नौ देवताध्यानमानसपूजान्ते प्राङ्मुखा वोदङ्मुखाः वा जुहुयुः । होमसङ्ख्यासमाप्तौ परिधिपरिस्तरणान्तः पतित हविः सर्वमग्नौ प्रक्षिपेत् । तद्वहिः पतितं तु न ।

अनेकदिनसाध्ये तु होमे प्रतिदिवसं कयाचित् सङ्ख्यया संस्थाप्य वन्हिरक्षणपूर्वकं शुभदिने समाप्तिं कुर्यात् । प्रतिदिनं होमाद्यन्तयोः प्रधानदेवतां अङ्गदेवताश्च गन्धपुष्पादिभिः अग्निमध्ये पूजयेत् । आरम्भे समाप्तिदिने अग्निमूलमन्त्रेण स्वाहा स्वधा सहितं अग्निं पूजयेत् । तत्र गन्धादिकं वहिरेव अग्नये दद्यात् ॥

यत्र होम एव प्रयोगविशेषे फलप्रदत्वात् प्रधानं न पुनर्जपाङ्ग तत्र तत्र ब्राह्मणभोजनसङ्ख्यया तन्त्रे विशेषानुक्तौ स्मृत्युक्ता ग्राह्या । तत्र लक्षहोमे षष्ठ्यधिका नवशती मुख्यः पक्षः । विंशत्यधिका पञ्चशती मध्यमः । दशाधिका त्रिशती अधमः ॥

यत्र प्रधानदेवता अङ्गत्वेन स्मृतितन्त्रोक्तयोरविरोधे समुच्चयपक्षमाश्रित्य ग्रहा अपि पूज्यन्ते । तत्र तदङ्गब्राह्मणभोजनमपि कार्यम् । तत्रोत्तमे पक्षे विंशत्यधिका सप्तशती ब्राह्मणानां भोजनीया । मध्यमपक्षे चत्वारिंशदुत्तरं शतत्रयम् । अधमे च दशाधिकं शतमिति ॥

काम्यहोमद्रव्याणां मानं फलं च

तिलैश्चुलुकमितैः शतसंख्याकैर्वा प्रत्याहुतिहोमः शान्त्यै, आज्येन च कर्षप्रमाणेन। ग्रासमितैरन्नैरन्नाय। अमृतासमिद्भिः कनिष्ठास्थूलाभिः चतुरङ्गुलप्रमाणाभिः ज्वरोपशमनाय चूतपल्लवश्च। दुर्वाभिः तिसृभिस्तिसृभिरायुषे। कृतमालकुसुमैः धनाय। उत्पलैः भोगाय। विल्वदलैः राज्याय। समग्रैः पद्मैः साम्राज्याय। मुष्टिमितैः लाजैः कन्यायै। नन्द्यावर्तैः कवित्वाय। वञ्जुलमल्लिकाजातीपुन्नागैः भाग्याय। बन्धूकजपाकिंशुकमधूकैः ऐश्वर्याय। कदम्बैः वश्याय। लवणैः शुक्तिप्रमाणै आकर्षणाय। शालितण्डुलैः अर्धमुष्टिमितै धान्याय। कुंकुमगोरोचनादिभिः गुञ्जामितैः सौभाग्याय। पलाशपुष्पैः तेजसे कपिलाघृतेन चोक्तमानेन। धुत्तूरकुसुमैरुन्मादाय। विषवृक्षनिम्बश्लेष्मातकविभीतकसमिद्भिः दशाङ्गुलप्रमाणाभिः शत्रुनाशाय। निम्बतैलाक्तैः लवणैः उक्तमानैः मारणाय। काकोलूकपक्षेणैकेन विद्वेषणाय। तिलतैलाक्तै मरीचैः विंशत्या कासश्वासप्रशमनाय इति। पुष्पेषु स्थूलमेकैकं अल्पानि द्वित्राणि इति वा विवेकः। एतानि द्रव्याणि काम्यजपांगेषु होमेषु तत्तज्जपदशांशसंख्याकानि। प्राधान्येन होमे तु संख्याऽनुक्तौ सहस्रसंख्याकानि। इह च प्रथमं अभीष्टदेवतायै विज्ञाप्य अमुककर्म सिद्ध्यर्थं एतावदाहुतीः करिष्यामीति सङ्कल्पयेत्। कर्षस्तु षड्गुंजामितमाषषोडशकप्रमाणः। शुक्तिः कर्षद्वयम्। मुष्टिस्तु पलम्॥

पुरश्चरणकाले विहितानि

मनःस्थैर्यशौचमौनमन्त्रार्थचिन्तननिर्वेदश्रद्धोत्साहक्रोधाभावसन्तोषेन्द्रियनिग्रहब्रह्मचर्यगुरुप्रणतिसुगन्धामलकस्नानसुवससुनरभिलानुलेपनमध्यपत्रवर्जपलाशपत्रालिमितैकवारभोजनप्रक्षालितदर्भास्तीर्णधौतवस्त्रशयनत्रिषवणस्नानादीनि। अशक्तौ तु प्रातःस्नानमात्रम्।

निषिद्धानि

अप्रियानृतभाषणकरञ्जविभीतकार्कस्नुहिछायाक्रमणप्रतिग्रहादीक्षितस्त्रीशूद्रपतितनास्तिकसम्भाषणबह्वेकमलिनवस्त्रधारणकाम्यकर्माविहितकर्मकांस्यभोजनासत्संगोष्णजलस्नानकञ्चुकोष्णीषधारणप्राणिहिंसापादुकायानशय्यारोहणनग्नत्वकुशरहितकरत्वादीनि अतिभोजनञ्च॥

भोज्यानि

शुक्लकविधान्नं हैमन्तनीवारकंगुषष्टिका यवाः शूद्रानवहृताः गुडवर्जितमैक्षवं कृष्णतिलमुद्गकलायकन्दविशेषनारिकेलकदलीलवलीपनसाम्रामलकार्द्रकसामुद्रलवणानुद्धृतसारगव्यपिप्पलीजीरकनारंगादीनि ॥

अभोज्यानि

गुडकृत्रिमलवणपर्युषितनिस्स्नेहकीटादिदूषितकाञ्जिकगृञ्जनविल्व करंजलशुनमृणालकोद्रवतैलपक्वमाषमसूरचणकादिदेवधान्यादीनि ।

भोजनपर्यायः

स्वेष्टदेवतायै निवेदितं सव्यंजनं अन्नं मूलेन प्रोक्ष्य सप्तवारं प्रतिद्रव्यमभिमन्त्र्य अश्नीयात् । उदकं द्वात्रिंशद्वारंमूलाभिमन्त्रितम् पिवेत् ॥

जपादिसमय आवश्यकोपाधौ शुचौ देशे तं निवर्त्य स्नात्वा शेषं समापयेत् । अशक्तौ तु मन्त्रभस्मान्यतरस्नानवस्त्रपरिवर्तने केवलं कुर्यादिति ॥

इत्थं कृतपुरश्चरणः सिद्धमनुः देवताप्रसादसम्पन्नः स्वातन्त्र्येणोपास्तौ श्रीक्रमोक्तेन क्रमेण नैमित्तिकार्चनपरः सति कामे काम्यमनुतिष्ठन् पूर्णमनोरथः सुखी विहरेदिति शिवम् ॥

श्रीकरपात्रस्वामिविरचिते श्रीविद्यारत्नाकरे श्यामाक्रमः समाप्तः ॥

श्रीदण्डिनीक्रमः

इत्थं साङ्गां सङ्गीतमातृकामिष्ट्वा सिंहासनाधिरूढायाः ललितायाः महाराज्ञ्या दण्डनायिकास्थानीयां दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहनिरर्गलाज्ञाचक्रां समयसङ्केतां कोलमुखीं विधिवद्वरिवस्येत् ।

साधकस्तावन्निशीथे प्रबुद्धः श्रीक्रमोक्तेन क्रमेण श्रीगुरुध्यानादिप्राणायामान्तं विधिं विदध्यात् । तत्र च श्रीगुरुपादुकायामादौ त्रितारीस्थाने वाक् ग्लौं इति बीजद्वयं योज्यम् । ततो हृदयपरमाकाशे स्फुरतोऽखण्डानन्ददायिनः परसंवित्परिणतेरनाहतस्य नादास्यऽनुसन्धानेन भस्मितनिखिलकश्मलो मूलं मनसा दशवारमावर्त्य, उत्थाय निर्वर्तितावश्यको गृह एव वारुणमान्त्रभास्मनस्नानेष्वन्यतमं कुर्यात् । वारुणे मूलेन त्रिरुदकाञ्जलिदानं शिरसि, त्रिराचमनं, त्रिःप्रोक्षणं च विदध्यात् । मान्त्रभास्मनस्नाने स्मृत्युक्ते एव । अथ वाससी धौते परिधाय विधृतपुण्ड्रः मूलेन त्रिराचम्य द्विः परिमृज्य सकृदुपस्पृश्य चक्षुषी नासिके श्रोत्रे अंसे नाभिं हृदयं शिरश्चावमृशेत् ।

यागमन्दिरप्रवेशः

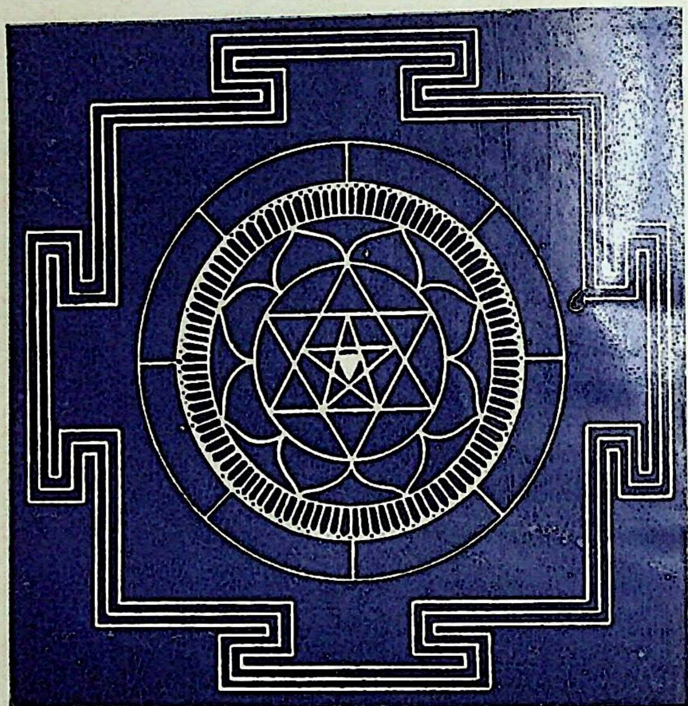
एवं त्रिराचम्य यागमन्दिरमासाद्य गोमयेनोपलिप्तद्वारस्थण्डिलं, द्वारस्य दक्षवामोर्ध्वभागेषु क्रमेण—

ऐं ग्लौं भद्रकाल्यै नमः २ भैरवाय नमः, २ लम्बोदराय नमः, इति तिस्रो द्वारदेवताः समर्च्य, अन्तःप्रविष्टो रङ्गवल्लीपुष्पमालावितानकादिभिरलङ्कृत्य यागमन्दिरम्, ऐं ग्लौं रक्तद्वादशशक्तियुक्ताय दीपनाथाय नमः इति पुष्पाञ्जलिना भूमौ दीपनाथमिष्ट्वा, सपर्यासामग्रीं दक्षभागे निधाय, दीपानभितः प्रज्ज्वाल्य, गन्धमाल्यादिभिरात्मानमलङ्कृत्य, ताम्बूलसुरभिलवदनो जातिपत्रफललवङ्गैलाकर्पूराख्यपञ्चतिक्तामोदितवदनो वा प्रसन्नमनाः स्वास्तीर्णे ऊर्णामृदुनि शुचिनि बालान्त्यबीजेन द्वादशवारमभिमन्त्रिते मूलमन्त्रोक्षिते आसने ऐं ग्लौं आधारशक्तिकमलासनाय नमः इति प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा पद्मासनाद्यन्यतमेनासनेनोपविश्य, ऐं ग्लौं शिवादिश्रीगुरुभ्यो नमः, ऐं ग्लौं समस्तगुप्तप्रकटसिद्धयोगिनीचक्रश्रीपादुकाभ्यो नमः इति मूर्धनि बद्धाञ्जलिः

श्रीवार्ताली (वाराही)



पाथोरुहपीठगतां पाथोधरमेचकां कुटिलदंष्ट्रां ।
कपिलाक्षीत्रितयां घनकुचकुम्भां प्रणतवाञ्छितवदान्यां ॥
दक्षोर्ध्वतोऽरिखड्गौ मुसलमभितिं तदन्यतस्सद्वत् ।
शङ्खं खेटहलवरान् करैर्दधानां स्मरामि वार्तालीम् ॥



श्रीवार्ताली यन्त्रम्

स्ववामदक्षपार्श्वयोः क्रमेण गुरुपादुकया श्रीगुरुं महागणपतिमन्त्रेण च गणपतिं प्रणम्य, ऐं ग्लौं ऐं ह्लः अस्त्राय फट्, इति मन्त्रेणावृत्तेनाङ्गुष्ठादि करतलान्तं कूर्परयोः देहे च क्रमेण न्यासव्यापके कृत्वा स्वस्य दैवतैक्यं भावयन्,

ऐं ग्लौं अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते गच्छन्तु शिवाज्ञया॥

इति मन्त्रं सकृदुच्चार्य युगपद्वामपार्ष्णिभूतलत्रिराघातकरास्फोटत्रयक्रूरदृष्ट्यवलोकनपूर्वकं तालत्रयेण भौमान्तरिक्षदिव्यान् भेदावभासकान् विघ्नानुत्सारयेत्। तालत्रयं पूर्वमुक्तमेव।

प्राणायामः

अथ नमः इति अङ्गुष्ठमन्त्रमुच्चार्य अङ्कुशेन शिखां बद्ध्वा श्रीक्रमोक्तेन क्रमेण भूतशुद्धिं आत्मप्राणप्रतिष्ठाञ्च विधाय मूलेन प्राग्वत् विंशतिधा षोडशधा दशधा सप्तधा त्रिधा वा प्राणानायम्य।

द्वितारीन्यासः

तेजोरूपदेवीमयं भावयन्नात्मानं स्वदेहे न्यासजालात्मकं वज्रकवचमामुञ्चेत्। तत्रादौ अं ऐं ग्लौं अं नमः शिरसि। आं ऐं ग्लौं आं नमः मुखवृत्ते इत्यादिरीत्या क्षान्तमातृकासम्पुटितमुक्तबीजद्वयं मातृकास्थानेषु न्यसेत्, इति द्वितारीन्यासः।

करषडङ्गन्यासौ

ऐं ग्लौं अन्धे अन्धिनि नमः अङ्गुष्ठाभ्याम् नमः,
२ रुन्धे रुन्धिनी नमः तर्जनीभ्याम् नमः,
२ जम्भे जम्भिनि नमो मध्यमाभ्यां नमः,
२ मोहे मोहिनी नमः अनामिकाभ्यां नमः
२ स्तम्भे स्तम्भिनि नमः कनिष्ठिकाभ्यां नमः,
इति पञ्चभिः मन्त्रैः, अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं न्यस्य,
ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्तालि वर्तालि हृदयाय नमः,
२ वाराहि वाराहि शिरसे स्वाहा,
२ वराहमुखि वराहमुखि शिखायै वषट्,

२ अन्धे अन्धिनि नमः कवचाय हुम्,

२ रुन्धे रुन्धिनी नमः नेत्रत्रयाय वौषट्,

२ जम्भे जम्भिनि नमः अस्त्राय फट्,

इति मन्त्रैः हृदयादिषु न्यसेत्। नेह करन्यासेऽस्त्रमन्त्रः। तेन करतलन्यासो न भवति।

अर्घ्यशोधनम्

ततः श्रीक्रमोक्तेन क्रमेण सामान्यविशेषार्घ्ये आसादयेत्। अत्र चोभयोरप्यर्घ्ययोः प्रवेशरीत्या अन्तरन्तश्चतुरस्रादिमण्डलकरणम्—

२ अं आत्मतत्त्वाय आधारशक्तये वौषट्, इत्याधारस्थापनम्,

२ उं विद्यातत्त्वाय पद्मासनाय वौषट्, इति पात्रनिधानम्,

२ मं शिवतत्त्वाय सोममण्डलाय नमः, इति शुद्धजलापूरणम्,

ऐं ग्लौं ब्रह्माण्डखण्डसम्भूतमशेषरससम्भृतम्।
आपूरितं महापात्रं पीयूषरसमावह॥

इति क्षीरपूरणे मन्त्रान्तरं चोक्तम्, षडङ्गं, (चतुर्नवतिमन्त्राभिमन्त्रणाभावः,) मूलेन दशधा अभिमन्त्रणञ्च विशेषः। अथ विशेषार्घ्यबिन्दुभिः सपर्यासामग्रीं पावयित्वा।

सप्तार्णमन्त्रपञ्चकन्यासः

अन्धे अन्धिनि नमः इत्यादीन् पञ्च मन्त्रान् उक्तबीजद्वयादिकान् शिरोवदनहृदयगुह्यपादेषु न्यस्य।

अष्टखण्डन्यासः

मूलस्य खण्डैरष्टभिः वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु न्यसेत्। यथा—

ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्तालि वार्तालि वाराहि वाराहि वराहमुखि वराहमुखि इति आपादजानु,

२ अन्धे अन्धिनि नमः इत्याजानुकटि,

२ रुन्धे रुन्धिनि नमः इत्याकटिनाभि,

२ जम्भे जम्भिनि नमः इत्यानाभिहृदयम्,

२ मोहे मोहिनी नमः इत्याहृदयकण्ठम्,

२ स्तम्भे स्तम्भिनि नमः इत्याकण्ठभ्रूमध्यम्,

२ सर्वदुष्टप्रदुष्टानां सर्वेषां सर्ववाक्चित्तचक्षुर्मुखगतिजिह्वास्तम्भनं कुरु कुरु शीघ्रं वश्यं नमः इत्याभ्रूमध्यललाटम्,

२ ऐं ग्लौं ठः ठः ठः ठः हुं अस्त्राय फट् इत्याललाटब्रह्मरन्ध्रं, चेति।

मातृकास्थानेषु मूलपदन्यासः

ततो मूलमन्त्रस्य द्विचत्वारिंशत्पदानि मातृकास्थानेषु न्यसेत्। यथा—

ऐ ग्लौं ऐं नमः शिरसि, ग्लौं मुखवृत्ते, ऐं नेत्रयोः, नमो कर्णयोः, भगवति नासापुटयोः, वार्तालि कपोलयोः, वार्तालि ओष्ठयोः, वाराहि दन्तपङ्क्त्योः, वाराहि ब्रह्मरन्ध्रे, वाराहमुखि मुखान्तः, वाराहमुखि दक्षदोर्मूले, अन्धे तन्मध्यसन्धौ, अन्धिनि तन्मणिबन्धे, नमो तदङ्गुलिमूले, रुन्धे तदङ्गुल्यग्रे, रुन्धिनि वामदोर्मूले, नमो तन्मध्यबन्धौ, जम्भे तन्मणिबन्धे, जम्भिनि तदङ्गुलिमूले, नमो तदङ्गुल्यग्रे, मोहे दक्षोरुमूले, मोहिनि तज्जानुनि, नमो तत्पादसन्धौ, स्तम्भे तदङ्गुलिमूले, स्तम्भिनि तदङ्गुल्यग्रे, नमो वामोरुमूले, सर्वदुष्ट-प्रदुष्टानां वामजानुनि, सर्वेषां तत्पादसन्धौ, सर्ववाक्चित्तचक्षुर्मुखगतिजिह्वास्तम्भनं तदङ्गुलिमूले, कुरु तदङ्गुल्यग्रे, कुरु पार्श्वयोः, शीघ्रं पृष्ठे, वश्यं नाभौ, ऐं जठरे, ग्लौं हृदि, ठः दक्षकक्षे, ठः अपरगले, ठः वामकक्षे, ठः हृदादिहस्तयोः, हुं हृदादिपादयोः, अस्त्राय हृदादिपाय्वन्तं, ऐ ग्लौं फट् नमः हृदादिमूर्धान्तम्, इति।

तत्त्वाष्टकन्यासः

ततः ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्तालि वार्तालि वाराहि वाराहि वराहमुखि वराहमुखि इत्यादिरीत्या प्रागुक्तानाम् अष्टानां खण्डानां प्रत्येकमन्त्र क्रमेण ह्लां शर्वाय क्षितितत्त्वाधिपतये नमः, ह्लीं भवाय अम्बुतत्त्वाधिपतये नमः, ह्लूं रुद्राय वह्नितत्त्वाधिपतये नमः, ह्लैं उग्राय वायुतत्त्वाधिपतये नमः, ह्लौं ईशानाय भानुतत्त्वाधिपतये नमः, सों महादेवाय सोमतत्त्वाधि-

पतये नमः, ह्रं पशुपतये यजमानतत्त्वाधिपतये नमः, भौं भीमाय आकाश-तत्त्वाधिपतये नमः, इति उक्तेषु पादादिजान्वित्यादिष्वष्टसु स्थानेषु तत्त्वाष्टकं न्यसेत् ।

यन्त्रप्राणप्रतिष्ठा

अथ मूलेन व्यापकत्रयं न्यस्य स्वपुरतः श्वेतपटपट्टदुकूलान्यतमे लिखिते लेखिते वा सुवर्णरजतताम्रचन्दनपीठादौ लिखिते उत्कीर्णे वा दृष्टिमनोहरे भूपुरत्रयसहस्रपत्रशतपत्राष्टपत्रषडरपञ्चारत्र्यस्रबिन्दुमये चक्रे सुकुमाञ्जलिं विकीर्य,

ऐं ग्लौं वार्तालियन्त्रस्य प्राणाः इह प्राणाः, ऐं ग्लौं वार्तालियन्त्रस्य जीव इह स्थितः, ऐं ग्लौं वार्तालियन्त्रस्य सर्वेन्द्रियाणि, ऐं ग्लौं वार्तालियन्त्रस्य वाङ्मनःप्राणाः इहायान्तु स्वाहा, इति यन्त्रप्राणप्रतिष्ठां विदध्यात् ।

पीठपूजा

'अर्चने 'द्वितारी' 'नमः' इति सर्वत्र योजनम्'

ऐं ग्लौं स्वर्णप्रकाराय नमः, सुराब्धये, वराहद्वीपाय, वराहपीठाय, आं आधारशक्तये, कूं कूर्माय, कं कन्दाय, अं अनन्तनालाय नमः, इति पीठस्य मध्ये ।

ऐं ग्लौं ऋं धर्माय नमः, ॠं ज्ञानाय, लृं वैराग्याय, ॡं ऐश्वर्याय नमः इति तस्य आग्नेयादिदिक्षु ।

ऐं ग्लौं ऋं अधर्माय नमः, ॠं अज्ञानाय, ॡं अवैराग्याय, लृं अनैश्वर्याय नमः, इति प्रागाद्यासु दिक्षु चाभ्यर्च्य,

ऐं ग्लौं त्र्यरस्वारषडरदलाष्टकशतपत्रसहस्रारपद्मासनाय नमः, इति चक्रमनुना चक्रमिष्ट्वा,

ऐं ग्लौं वह्निमण्डलाय नमः, सूर्यमण्डलाय, सोममण्डलाय, सं तत्त्वाय, रं रजसे, तं तमसे, आं आत्मने, अं अन्तरात्मने, पं परमात्मने, ह्रीं ज्ञानात्मने नमः इति च तत्रैव विरवस्येत् ।

(स्वर्णप्राकाराय नमः इत्याद्याः ह्रीं ज्ञानात्मने नमः इत्यन्ताः एते सप्तविंशतिः, पीठमनवो ज्ञेयाः) ।

ततः २ ह्रीं प्रेतपद्मासनाय सदाशिवाय नमः, इति पुष्पैः बिन्दौ देव्यासनमभिपूज्य ।

मूर्तिकल्पनम्

तत्र २ ल्ह षा ई वराहमूर्तये ठः ठः ठः ठः हुँ फट् ग्लौं ऐं इति मूर्तिकरिण्या विद्यया चक्रे देव्या मूर्ति सङ्कल्प्य ।

देवीध्यानम्

हृदि देवीं ध्यायेत् । यथा—

पाथोरुहपीठगतां पाथोधरमेचकां कुटिलदंष्ट्राम् ।
कपिलाक्षित्रितयां घनकुचकुम्भां प्रणतवाञ्छितवदान्याम् ॥
दक्षोर्ध्वतोऽरिखड्गौ मुसलमभीतिं तदन्यतस्तद्वत् ।
शङ्खं खेटहलवरान् करैर्दधाना स्मरामि वार्तालीम् ॥

देव्याः षोडशोपचारपूजा

अथ वक्ष्यमाणेन प्रकारेण देव्यै मनसा पञ्चोपचारानर्पयित्वा, भक्तानुग्रहात्तेजोरूपेण परिणतां ब्रह्मरन्ध्रं प्राप्य, वहन्नासापुटद्वारा निर्गतां कुसुमगर्भिते निजाञ्जलौ सन्निहितां तां मूर्तौ मूलविद्यया आवाह्य, आवाहिता भवेत्यादिरीत्या तत्तन्मुद्राप्रदर्शनपूर्वकम् आवाहन संस्थापन-सन्निधापन-सन्निरोधन-सम्मुखीकरणा-वगुण्ठानादीनि विधाय, वन्दनधेनुयोनिमुद्राश्च प्रदर्शयेत् । ततः ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्तालि वार्तालि हृदयाय नमः इत्यादिकान् प्रागुक्तान् षडङ्गमन्त्रान् २ अन्धे अन्धिनि नमः इत्यादिकान् पञ्चाङ्गमन्त्रांश्च न्यासोक्तभङ्ग्या देव्याः तत्तदङ्गे कुसुमेन विन्यस्य, ऐं ग्लौं वाराह्यै पाद्यं कल्पयामि नमः इत्यादिरीत्या देव्यै पाद्यार्घ्याचमनीयस्नानवासोगन्धपुष्पधूपदीपनीराजनच्छत्रचामरयुगलदर्पणनैवेद्यपानीयताम्बूलाख्यान् षोडशोपचारान् कृत्वा, नैवेद्याङ्गत्वेन पूर्वोत्तरापोशनकरप्रक्षालनगण्डूषाचमनीयानि च प्रदद्यात् । नैवेद्ये त्रिकोणवृत्तचतुरस्रमण्डलकरणम्, मूलेन प्रोक्षणम्, वं इति धेनुमुद्रया चामृतीकरणं मूलेन सप्तवारमभिमन्त्रणं, प्राणादिमुद्राप्रदर्शनञ्च विधेयम् ।

देवीतर्पणम्

अथ मूलान्ते वार्तालिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इति वामकरतत्त्वमुद्रासन्दष्टद्वितीयशकलगृहीतक्षीरबिन्दुभिस्सह दक्षकरोपात्तकुसुमक्षेपैः

देवीं दशवारं सन्तर्प्य, पूर्वोक्तानां षडङ्गमन्त्रणामन्ते—हृदयशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, शिरःशक्ति श्रीपादुकां पूययामि तर्पयामि नमः, शिखाशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, कवचशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, नेत्र शक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, अस्त्रशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इति क्रमेण देव्यङ्गे अग्निशासुरवायुकोणेषु मौलौ प्रागादिदिक्षु च षडङ्गानि सम्पूज्य ।

ओघत्रययजनम्

पृष्ठतः प्रागपवर्गरेखात्रये दक्षिणसंस्थाक्रमेण गुर्वोघत्रयं यजेत् । यथा—

ऐं ग्लौं परप्रकाशानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, परमेशानन्द, परशिवानन्द, (परसिद्धानन्द इति पाठान्तरं) कामेश्वर्यम्बानन्द, मोक्षानन्द, कामानन्द, अमृतानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । इति दिव्यौघः ।

ऐं ग्लौं ईशानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, तत्पुरुषानन्द, अघोरानन्द, वामदेवानन्द, सद्योजातानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति सिद्धौघः ।

ऐं ग्लौं पश्चोत्तरानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, परमानन्द, सर्वज्ञानन्द, सिद्धानन्द, गोविन्दानन्द, शङ्करानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति मानवौघः ।

आवरणार्चनम्

अङ्गाद्यावरणान्तानामर्चनप्रकारस्तु पूर्वोक्त एव ।

त्र्यस्रे देव्यग्रकोणमारेभ्य प्रादक्षिण्यक्रमेण—

ऐं ग्लौं जम्भिनीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, मोहिनी, स्तम्भिनीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इति प्रथावरणम् ।

पश्चारे—

ऐं ग्लौं अन्धिनीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, रून्धिनि, जम्भिनी, मोहनी, स्तम्भिनीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इति द्वितीयावरणम् ।

षट्कोणस्य कोणमूलेषु—

ऐं ग्लौं आ क्षा ई ब्राह्मीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, ई ला ई माहेश्वरी, ऊ हा ई कौमारी, ॠ सा ई वैष्णवी, ऐ शा ई इन्द्राणी, औ वा ई चामुण्डाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इति सम्पूज्य तस्यैव कोणाग्रेषु मध्ये च—

ऐं ग्लौं य म र यूं यां यीं यूं यैं यौं यः याकिनी जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां त्वग्धातुं गृह्ण गृह्ण अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहा याकिनी श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२ र म र यूं रां रीं रूं रैं रौं रः राकिनी जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां रक्तधातुं पिव पिव अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहा राकिणी श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२ ल म र यूं लां लीं लूं लैं लौं लः लाकिनी जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां मांसधातुं भक्षय-भक्षय अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहा लाकिनी-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२ ड म र यूं डां डीं डूं डें डौं डः डाकिनी जम्भय जम्भय मम सर्व शत्रूणां मेदोधातुं ग्रस ग्रस अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहा डाकिनी श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२ क म र यूं कां कीं कूं कैं कौं कः काकिनी जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां अस्थिधातुं भञ्जय भञ्जय अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहा काकिनीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२ स म र यूं सां सीं सूं सैं सौं सः साकिनी जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां मज्जाधातुं गृह्ण गृह्ण अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहा साकिनी-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२ ह म र यूं हां हीं हुं हैं हौं हः हाकिनी जम्भय जम्भय मम सर्वशत्रूणां शुक्रधातुं पिव पिव अणिमादि वशं कुरु कुरु स्वाहा हाकिनी श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इति धातुनाथानिष्ट्वा,

षडरस्य दक्षवामपार्श्वयोः क्रमेण—

ऐ ग्लौं क्रोधिनीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

२ स्तम्भिनीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । तत्रैव—

२ स्तम्भनमुसलायुधाय नमः । २ आकर्षणहलायुधाय नमः ।

षडराद् वहिः देव्याः पुरतः—

ऐं ग्लौं क्षौं क्रौं चण्डोच्चण्डाय नमः, इति तृतीयावरणम् ।

अष्टदले—

ऐं ग्लौं वार्तालीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, वाराही, वराहमुखी, अन्धिनी, रुन्धिनी, जम्भिनी, मोहिनी, स्तम्भिनीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

तद्वहिः पुरतो देव्याः—

ऐं ग्लौं महामहिषाय देवीवाहनाय नमः । इति चतुर्थावरणम् ।

शतपत्रे देवीपुरतोऽष्टत्रिंशद्दलसन्धिषु—

ऐं ग्लौं जम्भिन्यै नमः, इन्द्राय, अप्सरोभ्यः, सिद्धेभ्यः, द्वादशादित्येभ्यः, अग्नये, साध्येभ्यः, विश्वेभ्यो देवेभ्यः, विश्वकर्मणे, यमाय, मातृभ्यः, रुद्रपरिचारकेभ्यः, रुद्रेभ्यः, मोहिन्यै, निर्ऋतये, राक्षसेभ्यः, मित्रेभ्यः, गन्धर्वेभ्यः, भूतगणेभ्यः, वरुणाय, वसुभ्यः, विद्याधरेभ्यः, किन्नरेभ्यः, वायवे, स्तम्भिन्यै, चित्ररथाय, तुम्बुरवे, नारदाय, यक्षेभ्यः, सोमाय, कुवेराय, देवेभ्यः, विष्णवे, ईशानाय, ब्रह्मणे, अश्विभ्यां, धन्वन्तरये, विनायकेभ्यो नमः । तद्वहिः—

ऐं ग्लौं रौं क्षौं क्षेत्रपालय नमः । सिंहवराय देवीवाहनाय नमः ।

तद्वहिः—

ऐं ग्लौं महाकृष्णाय मृगराजाय देवीवाहनाय नमः । इति पञ्चमावरणम् ।

सहस्रारे अष्टधा विभक्ते प्रतिपञ्चविंशत्युत्तरशतदलं प्राग्वत् क्रमेण—

ऐं ग्लौं ऐरावताय नमः, पुण्डरीकाय, वामनाय, कुमुदाय, अञ्जनाय, पुष्पदन्ताय, सार्वभौमाय, सुप्रतीकाय नमः ।

एते दिग्गजाः सुराग्रेर्बहिर्वा प्रागाद्यासु यष्टव्याः। बाह्यप्राकारस्याष्टासु प्रागाद्यासु दिक्षु अध उर्ध्वं च क्रमेण प्राग्वत्—

ऐं ग्लौं क्ष्लौं हेतुकभैरवक्षेत्रपालाय नमः। हेतुकभैरवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ऐं ग्लौं त्रिपुरान्तकभैरवक्षेत्रपालाय नमः। त्रिपुरान्तकभैरवश्री०

२ अग्निभैरवक्षेत्रपालाय नमः। अग्निभैरवीश्री०

२ यमजिह्वभैरवक्षेत्रपालाय नमः। यमजिह्वभैरवश्री०

२ एकपादभैरवक्षेत्रपालाय नमः। एकपादभैरवश्री०

२ कालभैरवक्षेत्रपालाय नमः। कालभैरवश्री०

२ करालभैरवक्षेत्रपालाय नमः। करालभैरवश्री०

२ भीमरूपभैरवक्षेत्रपालाय नमः। भीमरूपभैरवश्री०

२ हाटकेशभैरवक्षेत्रपालाय नमः। हाटकेशभैरवश्री०

२ अचलभैरवक्षेत्रपालाय नमः। अचलभैरवश्रीपादुकां पू० तर्पयामि नमः इति षष्ठावरणम्।

(सर्वा अप्यावरणदेवताः देव्यभिमुखासीनाः, स्वयं च तत्तदभिमुखः पूजयामीति भावयेत्।)

देव्याः पुनः पूजाविबलिदानान्तं

इत्थं षडावरणीमभ्यर्च्य पुनर्देवीं त्रिवारं सन्तर्प्य पुनः षोडशभिरुपचारैरुपचर्य श्रीक्रमोक्तेन विधिना होमं तदन्ते बलिदानञ्च कुर्यात्।

होमाकरणपक्षे—देव्याः पुरतो वामभागे हस्तमात्रं सामान्योदकेनोपलिप्य त्रिकोणवृत्तचतुरस्रात्मकं मण्डलं परिकल्प्य रक्तान्नहरिद्रान्नसक्तुशर्कराहेतुफलत्रयमाक्षिकमुद्गत्रयमाषचूर्णदधिक्षीरघृतैः शुद्धौदनं सम्मर्द्य, कुक्कुटाण्डप्रमाणान् दशपिण्डान् कपित्थफलमानञ्च एकं पिण्डं विधाय तत्र निधाय तत्समीपे सादिमद्वितीयतृतीयं चषकं च निधाय, ऐं ग्लौं क्ष्लौं हेतुक भैरव क्षेत्रपालाय नमः इत्यादिभिः पूर्वोक्तैः दशभिः मन्त्रैः हेतुकादिभ्योऽचलान्तेभ्यो दशभ्यः क्रमेण दश पिण्डान् दश दिक्षु दत्वा मध्ये स्थूलमेकं

पिण्डं चषकं च 'ऐं ग्लौं क्षौं क्रौं चण्डोच्चण्डाय नमः' इति मन्त्रेण तस्मै दद्यात्।

फलत्रयम्—त्रिफला। मुद्गत्रयं—हरितं कृष्णं पीतम्।

अथ पाणिं प्रक्षाल्य, देव्यै पुष्पाञ्जलित्रयं दत्वा प्रदक्षिणनमस्कारोत्तरं जपेत्।

वाराहीमन्त्रजपः

अस्य श्रीवाराहीमहामन्त्रस्य ब्रह्मण ऋषये नमः, इति शिरसि, गायत्र्यै छन्दसे नमः इति मुखे, वाराह्यै देवतायै नमः इति हृदये, ऐं ग्लौं वीजाय नमः इति गुह्ये, फट् शक्तये नमः इति पादयोः, ठः ठः ठः ठः कीलकाय नमः इति नाभौ, मम सर्वाभीष्टसिद्ध्यर्थे विनियोगाय नमः इति करसम्पुटे च विन्यस्य, मूलेन त्रिव्यापकं कृत्वा, अन्धे अन्धिनि नमः इत्यादिभिः पञ्चभिः मन्त्रैः पूर्वोक्तैः अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तम्, २ ऐं नमो भगवति वार्तालि वार्तालि हृदयाय नमः इत्यादिभिश्च हृदयादिषु न्यासं विधाय, उक्तप्रकारेण ध्यात्वा, मनसा २ श्रीवाराह्यै लं पृथिव्यात्मकं गन्धं कल्पयामि नमः, २ श्रीवाराह्यै हं आकाशात्मकं पुष्पं कल्पयामि नमः, २ श्रीवाराह्यै यं वाय्वात्मकं धूपं कल्पयामि नमः, २ श्रीवाराह्यै रं अग्न्यात्मकं दीपं कल्पयामि नमः, २ श्रीवाराह्यै वं अमृतात्मकं नैवेद्यं कल्पयामि नमः, नैवेद्याङ्गत्वेन च २ श्रीवाराह्यै सं सर्वात्मकं ताम्बूलं कल्पयामि नमः इति पञ्चोपचारानार्चयं, विघ्नदेव्यङ्गोपाङ्गप्रत्यङ्गसहितं मूलमन्त्रमष्टोत्तरशतवारान् यथाशक्ति वा, श्रीक्रमोक्तेन विधिना जपेत्।

स्तं स्तम्भिन्यै नमः इति वाराह्या विघ्नदेवीमन्त्रः। एतं जपारम्भे त्रिवारं जपेत्। मूलमन्त्रश्च न्यासोक्ताष्टखण्डसमष्टिरूपः। लं वाराही लं उन्मत्तभैरवीपादुकाभ्यां नमः, इति वाराह्यङ्गं लघुवाराही। ॐ ह्रीं नमो वाराहि घोरे स्वप्नं ठः ठः स्वाहा इति तदुपाङ्गं स्वप्नवाराही। ऐं नमो भगवति महामाये पशुजनमनश्चक्षुस्तिरस्करणं कुरु कुरु हुँ फट् स्वाहा, इति तत्प्रत्यङ्गं तिरस्करिणी। एतान् त्रीन् मन्त्रान् मूलजपान्ते तद्दशांशं जपेत्। पुनः न्यासध्यानादि कृत्वा जपं निवेद्य स्तुवीत।

वाराहीस्तोत्रम्

कुवलयनिभा कौशेयार्धोरुका मुकुटोज्जवला
हलमुसलिनी सद्भक्तेभ्यो वराभयदायिनी ।
कपिलनयना मध्ये क्षामा कठोरघनस्तनी
जयति जगतां मातः सा ते वराहमुखी तनुः ॥१॥

तरति विपदो घोरा दूरात्परिह्रियते भय-
स्खलितमतिभिर्भूतप्रेतैः स्वयं व्रियते श्रिया ।
क्षपयति रिपूनीष्टे वाचां रणे लभते जयं
वशयति जगत्सर्वं वाराहि यस्त्वयि भक्तिमान् ॥२॥

स्तिमितगतयस्सीदद्वाचः परिच्युतहेतयः
क्षुभितहृदयास्सद्यो नश्यद्दृशो गलितौजसः ।
भयपरवशा भग्नोत्साहाः पराहतपौरुषाः
भगवति पुरस्त्वद्भक्तानां भवन्ति विरोधिनः ॥३॥

किसलयमृदुहस्तः क्लिश्येत कन्दुकलीलया
भगवति महाभारः क्रीडासरोरुहमेव ते ।
तदपि मुसलं धत्से हस्ते हलं समयद्रुहां
हरसि च तदाघातैः प्राणानहो तव साहसम् ॥४॥

जननि नियतस्थाने त्वद्वामदक्षिणपार्श्वयोः
मृदुभुजलतामन्दाक्षेपप्रणलितचामरे ।
सततमुदिते गुह्याचारद्रुहां रुधिरासवै
रुपशमयतां शत्रून् सर्वानुभे मम दैवते ॥५॥

हरतु दुरितं क्षेत्राधीशः स्वशासनविद्विषां
रुधिरमदिरासक्तः प्राणोहपारबलिप्रियः ।
अविरतचटत्कुर्वद्दंष्ट्रास्थिकोटिरटन्मुखो
भगवति स ते चण्डोच्चण्डः सदा पुरतः स्थितः ॥६॥

क्षुभितमकरैर्वीचीहस्तोपरुद्धपरस्परै
श्चतुरुदधिभिः क्रान्ता कल्पान्तदुर्ललितोदकैः ।
जननि कथमुत्तिष्ठेत् पातालसर्पविलाविला
तव तु कुटिले दंष्ट्राकोटी न चेदवलम्बनम् ॥७॥

तमसि बहुले शून्याटव्यां पिशाचनिशाचार-
प्रथमकलहे चोरव्याघ्रोरगद्विपसङ्कटे ।
क्षुभितमनसः क्षुद्रस्यैकाकिनोऽपि कुतोभयं
सकृदपि मुखे मातस्त्वन्नाम सन्निहितं यदि ॥८॥

विदितविभवं हृद्यैः पद्यैर्वराहमुखीस्तवं
सकलफलदं पूर्णं मन्त्राक्षरैरिममेव यः ।
पठति स पटुः प्राप्नोत्यायुश्चिरं कवितां प्रियां
सुतसुखधनारोग्यं कीर्तिं श्रियं जयमुर्वराम् ॥९॥

इत्यनुग्रहाष्टकम्

देवि क्रोडमुखि त्वदङ्घ्रिकमलद्वन्द्वानुषक्तात्मने
मह्यं द्रुह्यति यो महेशि मनसा कायेन वाचा नरः ।
तस्याद्य त्वदयोग्रनिष्ठुरहलाघातप्रभूतव्यथा
पर्यस्यन्मनसो भवन्तु वपुषः प्राणाः प्रयाणोन्मुखाः ॥१॥

देवि त्वत्पदपद्मभक्तिविभवप्रक्षीणदुष्कर्मणि
प्रादुर्भूतनृशंसभावमलिनां वृत्तिं विधत्से मयि ।
यो देही भुवने तदीयहृदयान्निर्गतैर्लोहितैः
सद्यः पूरयसे कराब्जचषकं वाञ्छाफलैर्मामपि ॥२॥

चण्डोचण्डमखण्डदुष्टहृदयप्रोक्षिप्तरक्तच्छटा—
हालापानमदाट्टहासजनिताटोपप्रतापोत्कटम् ।
मातर्मत्परिपन्थिनामपहृतैः प्राणैस्त्वदङ्घ्रिद्वय
ध्यानोद्दामरवैर्भवोदयवशात् सन्तर्पयामि क्षणात् ॥३॥

वाराहि व्यथमानमानसगलत्सत्त्वं त्वदाज्ञाबलात्
सीदद्धैर्यमपाकृताद्धचवसितं प्राप्तालिखार्थाहतिम् ।
क्रन्दद्बन्धुजनं कलङ्कितकुलं कण्ठे व्रणोद्यत्कृमिं
पश्यामि प्रतिपक्षमाशु सततं श्रान्तं लुठन्तं पुनः ॥४॥

वाराहि त्वमशेषजन्तुषु पुनः प्राणात्मिका स्पन्दसे
शक्तिव्याप्चराचरामिह खलु त्वामेतदभ्यर्थये ।
त्वत्पादाम्बुजसङ्गिनो मम सकृत् पापं चिकीर्षन्ति ये
तेषां मा कुरु शङ्करप्रियतमे देहान्तरावस्थितिम् ॥५॥

विश्वाधीश्वरवल्लभे विजयसे या त्वं नियत्यात्मिके
भूतानां पुरुषायुषावधिकरी पाकप्रदा कर्मणाम् ।
तां याचे भवतीं किमप्यवितथं योऽस्मद्विरोधी जन-
स्तस्यायुर्मम वाञ्छितावधि भवेन्मातस्तवैवाज्ञया ॥६॥

मातस्सम्यगुपासितुं जडमतिस्त्वां नाद्य शक्नोम्यहं
यद्यप्यञ्चितदेशिकाङ्घ्रिकमलानुक्रोशपात्रस्य मे ।
जन्तुः कश्चन चिन्तयत्यकुशलं यस्तस्य तद्वैशसं
भूयाद्देवि विरोधिनो मम च ते श्रेयः पदासङ्गिनः ॥७॥

श्यामां तामरसारुणत्रिनयनां सोमार्धचूडां जग-
त्त्राणव्यग्रहलामुदग्रमुसलामत्रस्तमुद्रावतीम् ।
ये त्वां रक्तकपालिनीं शिववरारोहे वराहाननां
भावे सन्दधते कथं क्षणमपि प्राणन्ति तेषां द्विषः ॥८॥

इति निग्रहाष्टकम्

वृन्दाराधनं, गुरुसन्तोषणं, शक्तिबटुकपूजा च

अथ योगिनीवीरयुग्मसमुदायात्मकं वृन्दं गन्धादिभिराराध्य, यथाविभवं श्रीगुरुं सन्तोष्य, सर्वलक्षणसम्पन्नाः तिस्रः शक्तीर्बटुकञ्चाहूयाभ्यज्य, स्नपयित्वा, मध्ये वार्तालीवुद्धयैकां क्रोधिनीस्तम्भिनीबुद्धया च द्वे पार्श्वयोरुपवेश्य, चण्डोच्चण्डधिया बटुकं चाग्रे समुपवेश्य, द्वितारी नमः सम्पुटितैः

तत्तन्नाममन्त्रैः गन्धादिभिः क्षीरादिभिश्च सर्वैः द्रव्यैः सन्तोष्य, मम श्री-वार्तालीमन्त्रसिद्धिः भूयादिति शक्तीः प्रार्थयेत् । ताश्च प्रसीदन्त्वधिदेवता इति प्रतिब्रूयुः ।

हविःप्रतिपत्तिः

अथ श्रीक्रमोक्तक्रमेण हविः प्रतिपत्तिकर्मादिविशेषार्घ्यविसर्जनान्तं शेषं निर्वर्तयेत् । हविः प्रतिपत्तौ मूलेन तत्त्वत्रयशोधनमेवेति विशेषः ।

मन्त्रसाधनम्

एवं नित्यक्रममाचरन् श्यामाक्रमोक्तेन पुरश्चरणप्रकारेण प्रत्यहं सहस्र-संख्यया, लक्षसंख्याकं प्रकृते कलियुगत्वाच्चतुर्गुणितं जपं पुरश्चरणम् कृत्वा तद्दशांशं नारिकेलोदकैः सन्तर्प्य, तद्दशांशं तापिच्छकुसुमैः तिलैः चुलुकमितैः शतसंख्याकैर्वा हरिद्राखण्डैर्वा तन्त्रान्तरोक्तैः त्रिमध्वक्तैः हेतुमिश्रैश्च जुहुयात् । इह पञ्चधोपचारात् प्राक् महाव्याहृत्यादिषु च आज्येनैव होमः । इतरेषु तापिच्छादिना । एवं सिद्धमन्त्रः स्वतन्त्रोपास्तौ श्रीक्रमोक्तेन क्रमेण नैमित्तिकार्चनरतः सत्यां कामनायां पूर्वोक्तेनैव क्रमेण तत्तत्काम्यानुगुणं होमं कृत्वा सफलमनोरथ आज्ञासिद्धः सुखी विहरेत् । इति शिवम् ॥

श्रीकरपात्रस्वामिविरचिते श्रीविद्यारत्नाकरे वाराहीक्रमः समाप्तः ।

मातर्वाराहि जाते तवचरणसरोजार्चनं वा जपं वा
कर्तुं शक्तो न चाहं तदपि च सदये मय्यतस्त्वां हि याचे ।
यस्त्वां दंष्ट्राशिताग्रां त्रिनयनलसितां चारुभूदारवक्त्रां
मूर्ति चित्ते विधत्ते तदरिगणविनाशोऽस्तु तस्मिन् क्षणे वै ।

———

परा-क्रमः

कल्यकृत्यमाह्निकञ्च

श्रीमान् साधकः कल्ये प्रवुद्धः शयन एव स्थितः श्रोत्राचमनभस्मधारणे विधाय, श्रीक्रमोक्तेन क्रमेण श्रीगुरोर्ध्यानं वक्ष्यमाणया मूलपूर्विकया सामान्यपादुकया सुमुखादिमुद्राप्रदर्शनपूर्वकं वन्दनञ्च विधाय, वक्षमाणया रीत्या प्राणानायम्य ब्रह्मरन्ध्रसम्वन्धिनि सहस्रदलकमले सुखासीनायाः वक्ष्यमाणध्यानोक्तमूर्त्त्याः शक्तिबीजाभिन्नायाः यशोऽम्वायाः चरणयुगलविगलदमृतरसविसरपरिप्लुतमात्मानं ध्यात्वा मूलं मनसा दशवारमावर्त्त्य, वह्न्नाडी पार्श्वपादमुत्थाय, निर्वर्तितावश्यकः उक्तया भङ्ग्या विहितदन्तधावनादिस्नानञ्च शुचिवासो वसानः विधृतपुण्ड्रः सर्वेण मूलेन त्रिराचम्म द्विः परिमृज्य सकृदुपस्पृश्य चक्षुषी नासिके श्रोत्रे अंसे नाभिं हृदयं शिरश्चावमृशेत् ।

यागमन्दिरप्रवेशः

एवं त्रिराचम्य, यागमन्दिरमासाद्य, द्वारस्थण्डिलं गोमयेनोपलिप्य, यागगृहञ्च रङ्गवलीपुष्पमालिकावितानादिभिश्चालङ्कृत्य द्वारस्य दक्षवामशाखयोः उर्ध्वभागे च क्रमेण—

सौः भद्रकाल्यै नमः, भैरवाय, लम्बोदराय नमः, इति तिस्रो द्वारदेवताः सम्पूज्य, अन्तः प्रविष्टः सौः रक्तद्वादशशक्तियुक्ताय दीपनाथाय नमः, इति पुष्पाञ्जलिना भूमौ दीपनाथमिष्ट्वा, सपर्यासामग्रीं स्वदक्षिणभागे निधाय, प्रज्ज्वालितदीपो गन्धमाल्यादिभिरलङ्कृतात्मा जातपत्रफलैलालवङ्गकर्पूराढ्यपञ्चतिक्तेनामोदितवदनः प्रसन्नमनाः स्वास्तीर्णे उर्णामृदुनि शुचिनि मूलेन द्वादशवारमभिमन्त्रिते सकृत्प्रोक्षिते चासने सौः आधारशक्तिकमलासनाय नमः, इति प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा पद्मस्वतिकाद्यन्यतमेनासनेनोपविश्य सौः समस्तगुप्तप्रकटसिद्धयोगिनीचक्रदेवताश्रीपादुकाभ्यो नमः, इति मूर्धनि वद्धाञ्जलिः सौः ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं ह्स्ख्फ्रें ह स क्ष म ल व र यूं स ह क्ष म ल व र यीं ह्सौः स्हौः अमुकाम्बासहितामुकानन्दनाथश्रीगुरुपादुकां

पूजयामीति मन्त्रेण मस्तके निजदेशिकमभिवन्द्य गं गणपतये, नमः इति बद्धाञ्जलिः ।

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः ।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते गच्छन्तु शिवाज्ञया ॥

इति मन्त्रं सकृदुच्चार्य युगपद्वामपार्ष्णिभूतलत्रिराघातकरास्फोटत्रितय-क्रूरदृष्ट्यवलोनपूर्वकं तालत्रयेण भौमन्तरिक्षदिव्यान् भेदावभासकान् विघ्नानुत्सारयेत् ।

प्राणायामः

अथ श्रीक्रमोक्तेन विधिना भूतशुद्धिमात्मप्राणप्रतिष्ठाञ्च विधाय सौः वर्णपूर्वकं मातृकावर्णैः श्रीक्रमोक्तेन क्रमेण बहिर्मातृकान्यासं कृत्वा षोडशवारमावृत्तेन मूलेन पूरकं, चतुःषष्टिवारमावृतेन कुम्भकं द्वात्रिंशद्वारमावृत्तेन रेचकम्, इति विंशतिधा षोडशधा दशधा सप्तधा त्रिधा वा प्राणानायम्य ।

अङ्गन्यासः

तेजोरूपदेवीमयं भावयन्नात्मनं मुहुरावृत्तेन सौः नमः इति नमोऽन्तेन मूलेन शिरोमुखहृन्मूलाधारेषु न्यासं विधाय सर्वाङ्गे च व्यापकं कृत्वा, सौः स् हृदयाय नमः सौः औ शिरसे स्वाहा सौः औः शिखायै वषट् सौः स् कवचाय हुम् सौः औ नेत्रत्रयाय वौषट् सौः औः अस्त्राय फट् इति मूलमन्त्रावयवैर्द्विरावृत्तैः वर्णषडङ्गं सर्वेण मूलेन षड्वारमावृत्तेन मन्त्रषडङ्गञ्च कुर्यात् । इह मूलमन्त्रस्य तृतीयोऽवयवः केवलो विसर्गो न त्वकारविशिष्ट च ज्ञेयम् ।

चिदग्नौ सर्वतत्त्वविलापनम्

अथ काकचञ्चूपुटाकृतिना मुखेन बाह्यमनिलमन्तराकृष्य संस्तभ्य मूलं सप्तविंशतिवारमावर्त्य वक्ष्यमाणक्षित्यादिशिवान्तषट्त्रिंशतत्त्वाकं वेद्यं नाभौ मुद्रितं विभाव्य पुनः प्रोक्तवारं मूलं जपित्वा 'नमः' इति शिखाबन्धोत्तरं पूर्ववद् अनिलमापूर्य तेन सर्वकारणचिद्रूपमग्निमुद्दीप्य तत्र प्राङ्मुद्रितस्य वेद्यस्य विलयनं भावयित्वा ।

अर्घ्यशोधनम्

श्रीक्रमोक्तेन क्रमेण सामान्यविशेषार्घ्यौ आसादयेत् । अत्र चोभयोरप्यर्घ्ययोः प्रवेशरीत्या अन्तरन्तश्चतुरस्रादिबिन्द्वन्तमण्डलकरणम् अं आत्म-

तत्त्वाय आधारशक्त्यै वौषडित्याधारस्थापनम्, उं विद्यातत्त्वाय पद्मासनाय वौषडिति पात्रनिधानम्, मं शिवतत्त्वाय सोममण्डलाय नमः इति शुद्ध-सलिलापूरणम् ।

ब्रह्माण्डखण्डसम्भूतमशेषरससंभृतम् ।
आपूरितमहापात्रं पीयूषरसमावह ॥

इति क्षीरपूरणम् हृदयशक्तिश्रीपादुकां पूजयामीत्याद्यस्त्रान्तं प्रागुक्त-षडङ्गद्वयम् मूलेन दशधा अभिमन्त्रणम् चतुर्नवतिमन्त्राभिमन्त्रणाभावश्च विशेषः । ततो विशेषार्घ्यबिन्दुभिः वरिवस्या वस्तूनि सम्प्रोक्ष्य ।

तत्त्वकदम्बस्य हृत्पद्मस्थापनम्

पूर्वं नाभौ मुद्रयित्वा तप्तायोद्रवमिव चिदग्नौ विलापितं षट् त्रिंशत्तत्त्व-कदम्बरूपं वेद्यं हृत्सरोजमानीय स्थापयेत् ।

पराचक्रनिर्माणम्

अथ कुसुमक्षेपैः मूलपूर्वकैः वक्ष्यमाणैः मन्त्रैः परास्बायाश्चक्ररूपमासनं निर्मिमीत । यथा—

सौः पृथ्वीयोगपीठाय नमः अप् तेज वायु आकाश गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द उपस्थ वायु पाद पाणि वाक् घ्राण जिह्वा चक्षुः त्वक् श्रोत्र अहङ्कार बुद्धि मनः प्रकृति पुरुष नियति काल अविद्या कला राग माया शुद्धविद्या ईश्वर सदाशिव शक्ति शिवयोगपीठाय नमः इत्येवं पराचक्रं निर्माय ।

चक्रे देव्याः पूजा

ब्रह्मरन्ध्रे— अकलङ्कशशाङ्काभा त्र्यक्षा चन्द्रकलावती ।
मुद्रापुस्तलसद्बाहा पातु मां परमा कला ।

इति ध्यातां सादाख्यचन्द्रकलारूपां श्रीपराम्बां मूलेन हृदयगतं परा-चक्रे आवाह्य मूलान्ते श्रीपराम्बा आवाहिता भव इत्यादिरीत्या तत्तन्मुद्रा-विधानपूर्वकं आवाहनाद्यवगुण्ठनान्तं कृत्वा वन्दनधेनुयोनिमुद्राः प्रदर्श्य मूलेन पुनः पुनरावृतेन श्रीपरादेव्यै पाद्यं कल्पयामि नमः इत्यादिरित्या पाद्यार्घ्याचमनीयस्नानवासोगन्धपुष्पधूपदीपनीराजनछत्रचामरयुगदर्पणनैवे—

द्यपानीयताम्बूलाख्यान् षोडशोपचारान् विधाय नैवद्याङ्गत्वेन पूर्वोत्तरापोशने हस्तप्रक्षालनगण्डूषाचमनीयानि च दद्यात्। नैवेद्याय त्रिकोणवृत्तचतुरस्रमण्डलकरणम् मूलेन प्रोक्षणम् वं इति धेनुमुद्रया अमृतीकरणम् मूलेन सप्तवाराभिमन्त्रणम् प्राणादिमुद्राप्रदर्शनञ्चानुष्ठेयम्। ततो वामकरतत्त्वमुद्रा सन्दष्टद्वितयशकलगृहीतक्षीरबिन्दुसहपतितैः दक्षकरोपात्तैः कुसुमैः सौः स् प्रकाशरूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, सौः औ विमर्शरूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, सौः औः प्रकाश विमर्शरूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पू० त० नमः, सौः प्रकाशविमर्शरूपिणीपराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, इति त्रिभिः मन्त्रैः क्रमेण देव्या मूलाधारहृन्मुखेष्वभ्यर्च्य सौः महाप्रकाशविमर्शरूपिणीपराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इति मन्त्रेण देवीं दशवारं सन्तर्प्य।

देव्याम् अखिलतत्त्वहोमभावनम्

तामेव कालाग्निकोटिदीप्तां ध्यात्वा, तस्यां सौः पृथ्वीं जुहोमि स्वाहा, सौः आपो जुहामि स्वाहा इत्यादिरीत्या प्राग्वद्विलाप्य हृदये स्थापितं षट्त्रिंशत्तत्त्वकदम्बकं पृथक् पृथक् मनसा जुहुयात्।

गुर्वोघत्रययजनम्

ततो मूलपूर्विकयोक्तया श्रीगुरुपादुकया मस्तकस्थं श्रीगुरुं त्रिः सम्पूज्य पुनश्चिदग्निमुद्दीप्तं विभाव्य देव्याः पश्चात् प्रागपवर्गे रेखात्रये दक्षिणसंस्थाक्रमेण गुर्वोघत्रयं यजेत्। यथा—सौः पराभट्टारिकादेव्यम्वाश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, अघोरानन्दनाथ श्री०, श्रीकण्ठानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इति दिव्यौघः।

सौः शक्तिधरानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, क्रोधानन्दनाथ श्री०, त्र्यम्बकानन्दनाथश्रीपादुकां पू० तर्पयामि नमः इति सिद्धौघः।

सौः आनन्दानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, प्रतिभादेव्यम्बानन्द, वीरानन्द, संविदानन्द, मधुरादेव्यम्बानन्द, ज्ञानानन्दः, श्रीरामानन्दः, योगानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। इति मानवौघः।

बलिदानम्

ततः त्रिकोणवृत्तचतुरस्रमण्डलं कृत्वा ऐं व्यापकमण्डलाय नमः इति पुष्पेणाभ्यर्च्य, अर्धान्नं सलिलपूर्णं सक्षीरोपादिमध्यमञ्च पात्रं निधाय, ॐ ह्रीं सर्वविघ्नकृद्भ्यः सर्वभूतेभ्यो हुं फट् स्वाहेति त्रिः पठित्वा बलिं दत्वा, तत्त्वमुद्रास्पृष्टं क्षीरं बल्युपरि निषिच्य, वामपार्ष्णिघातकरास्फोटौ कुर्वाणः समुदञ्चितवक्त्रो नाराचमुद्रया बलिं भूतैः ग्राहयित्वा, पाणीं प्रक्षाल्य, मानसिकीः प्रदक्षिणनतीः विधाय, देव्यैः पुष्पाञ्जलिं दद्यात् ।

परामनुजपः

अस्य श्रीपराभट्टारिकामहामन्त्रस्य भैरवाय ऋषये नमः, इति शिरसि, गायत्र्यैः छन्दसे नमः, इति मुखे, पाराम्वायै देवतायै नमः, इति हृदये, सं बीजाय नमः, इति गुह्ये, औः शक्तये नमः इति पादयोः सौःकीलकाय नमः इति नाभौ, मम सर्वाभीष्टसिद्धये विनियोगाय नमः इति करसम्पुटे च न्यस्य, मूलेन त्रिर्व्यापक कृत्वा ।

सां अङ्गुष्ठाभ्यां (हृदयाय) नमः, सीं तर्जनीभ्यां (शिरसे स्वाहा), सूं मध्यमाभ्यां नमः (शिखायैवषट्) सैं अनामिकाभ्यां नमः (कवचाय हुं), सौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः (नेत्रत्रयाय वौषट्), सः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः (अस्त्राय फट्) इति मन्त्रैः कराङ्गन्यासौ कृत्वा । अकलङ्केति ध्यात्वा,

षडुपचारैः मनसा अभ्यर्च्य,

मूलं सहस्रं त्रिशतं शतं वा श्रीक्रमोक्तेन विधिना जपित्वा स्तुवीत ।

परास्तुतिः

यथा—

याऽघोरादिभिरेतैः पारम्पर्यक्रमागतैर्नाथैः ।
प्रथते तां विश्वमयीं विश्वातीतां स्वसंविदं नौमि ॥१॥
आनन्दचरणकमलामकलङ्कशशाङ्कमण्डलच्छायाम् ।
तन्मण्डलाधिरूढां तत्कलया कलितकलां नौमि ॥२॥
इच्छादिशक्तिशूलाम्बुजमूलां मूलकुण्डलीरूपाम् ।
नित्यामप्यणुरूपामणोश्च महतो महीयसीं नौमि ॥३॥

मौक्तिकमणिगणरुचिरां शशाङ्कनिर्मोकनिर्मलं क्षौमम् ।
निवसनां परमेशीं नमामि सौवर्णसम्पुटान्तःस्थाम् ॥४॥
भक्तजनभेदभञ्जनचिन्मुद्राकलितदक्षपाणितलाम् ।
पूर्णाहन्ताकारणपुस्तकवर्येण रुचिरवामकराम् ॥५॥
सृष्टिस्थितिलयकृद्भिर्नयनाम्भोजैश्शशीनदहनाख्यैः ।
मौक्तिकताटङ्काभ्यां मण्डितमुखमण्डलां परां नौमि ॥६॥
षड्गलितषडूर्मिषडरीन् धिक्कृत्याशु स्वभक्तवर्गस्य ।
कञ्चुकपञ्चकनोदनसञ्चितसम्वित्प्रकाशिनीं नौमि ॥७॥
अध्वातीतं बुद्ध्वा बुधाः प्रबुद्धाः परं पदं यस्याः ।
कैवल्यं यान्ति हठात् कटाक्षपातेन तां परां नौमि ।
यः पठतीदं स्तोत्रं पात्रं स भवेच्च पञ्चवर्गस्य ॥८॥
गुरुचरणकमलभाजा सहजानन्देन योगिनाऽभिहितम् ॥९॥

॥ इति परास्तुतिः ॥

हविः शेषस्वीकरणम्

अथ—

सौः आत्मतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।
सौः विद्यातत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।
सौः शिवतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।

इति मन्त्रैः तत्त्वत्रयशोधनपूर्वकं हविः शेषं स्वीकृत्य मूलेन देवीं विसृज्य, तेनैव ब्रह्मरन्ध्रं नीत्वा विशेषार्घ्यपात्रमामस्तकमुद्धृत्य "आर्द्रं ज्वलति" इति मन्त्रेण तदर्घ्यमात्मनः कुण्डलिन्यग्नौ हुत्वा कामकलात्मकं देवीरूपं भावयन्नात्मानं कृतकृत्यो भवेत् ।

मन्त्रसाधनम्

एवं नित्यक्रमं निर्वर्तयन् श्यामाक्रमोक्तक्रमेण लक्षजपं पुरश्चरणम् कलौ तच्चतुर्गुणितं प्रत्यहमयुतसङ्ख्यया, ग्रहणादिजपप्रत्याम्नायान्वा कृत्वा, होमतर्पण-ब्राह्मणभोजनानि क्रमेण दशांशतः कुर्यात् । होमद्रव्यस्य तन्त्रा-

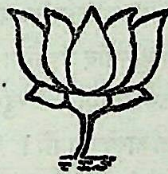
न्तरेष्वदर्शनात्, आज्यमेव । ततः सिद्धमनुः काम्यलिप्सुर्यदि श्यामाक्रमोक्तै-रेव द्रव्यैः हुत्वा पूर्णमनोरथः सुखी विहरेत् । एतदेकविश्रान्तिमभिलषतोऽप्य-यमेवोपास्तिक्रम इति शिवम् ॥ परापद्धतिः समाप्ता ।

नित्यनैमित्तिकक्रमौ शिष्यसुतादिभिरपि कारयितुं शक्येते । नित्यक्रमस्य प्रमादादिना अतिक्रमे मूलशतजपः प्रायश्चित्तमाम्नातम् ।

आपदि तु—अशक्तः कारयेत् पूजां दद्याद्वाऽर्चनसाधनम् ।
दानाशक्तः सपर्यान्तं पश्यत्तत्परमानसः ॥

श्रीकरपात्रस्वामिविरचिते श्रीविद्यारत्नाकरे सपर्यापद्धतिः समाप्ता ।

श्रीविद्यारत्नाकरे सपर्याक्रमः पूर्णतां गतस्तेन श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरी-प्रसीदतु ।



परिशिष्टम्

श्रीविद्यामन्त्रभाष्यम्

ज्योतिषामपि ज्योतिर्निर्दृश्यदृक्स्वरूपो महान् प्रकाशः शिवः। तद्विज्ञाने जाते सर्वं विज्ञातं भवति। तस्मिन् दृष्टे सर्वं बाधितं भवति। तस्य नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपा शक्तिः, तद्योगादेव विश्वोत्पत्तिस्थितिलयलीलत्वं शिवस्य। तदुक्तं वरिवस्यारहस्ये "स जयति महान् प्रकाशो यस्मिन् दृष्टे न दृश्यते किमपि। कथमिव तस्मिन् ज्ञाते सर्वं विज्ञातमुच्यते वेदे। नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपाऽस्य वर्तते शक्तिः"। इति। तद्विज्ञानार्थमेव चतुर्दश विद्यास्थानानि। तेष्वपि सारभूता वेदाः। तेष्वपि गायत्री। तस्या रूपद्वितयम्। तत्रैकं स्पष्टम्। द्वितीयं परमगोपनीयं श्रीविद्याख्यम्। तदेव कामो योनिः कमलेत्येवं साङ्केतिकैः शब्दैर्वेदोऽपि व्यवहरति।

तत्र कादिविद्यायाः कादिवर्णास्तु स्पष्टाः। हृल्लेखायान्तु व्योमाग्निवामलोचनाविन्द्वर्धचन्द्ररोधिनीनादनादान्तशक्तिव्यापिकासमनोन्मनीति द्वादश संहृतिः। विन्द्वादिनवानां संहृतिर्नाद उच्यते। तत्र कामकला (ईकारः) त्रिकोणा (एकारः) च मात्राद्वितयोच्चार्या। विन्दुरहितहृल्लेखा मात्रात्रितयोच्चार्या। अन्ये स्वरा मात्राकालोच्चार्याः। व्यञ्जनानि तु अर्धमात्रोच्चार्याणि। विन्दोरपि व्यञ्जनत्वादर्धमात्रैव। "एकमात्रो भवेद्ध्रस्वः द्विमात्रो दीर्घं उच्यते। त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनन्त्वर्धमात्रकम्"॥ इति वचनादर्धचन्द्ररोधिन्यादयः पूर्वपूर्वार्धाः। विन्दोरर्धः कालश्चन्द्ररोधिन्याः तस्यार्धः कालो रोधिन्या इत्येवम्।

कालपरमाणुर्लव उच्यते। तदुक्तम् "नलिनीपत्रसंहत्याः सूक्ष्मसूच्यभिवेधने। दले दले तु यः कालः स कालो लवसंज्ञितः"॥ इति। तथा षट्पञ्चाशदुत्तरशतद्वयलवैरेका मात्रा। तथा च बिन्दोरष्टाविंशदुत्तरशतं लवाः।

अर्धचन्द्रस्य चतुःषष्टिः। रोधिन्याः द्वात्रिंशत्। नादस्य षोडश। नादान्तस्याष्टौ। शक्तेश्चत्वारः। व्यापिकाया द्वौ। समनाया एको लवः। उन्मनाया नास्त्येव कालः। "अतः सूक्ष्मतमः कालो नोपलभ्यो भृगूद्वह"।

केषाञ्चिन्मतरीत्या द्वादशोत्तरपञ्चशतलवात्मकत्वमेव मात्रायाः स्वरूपम्। ततश्च मात्रायाः द्वादशोत्तरपञ्चशततमो भाग उन्मनाकालः।

प्रथमकूटे अष्टादश वर्णाः, द्वितीये द्वाविंशतिवर्णाः, तृतीयेऽप्यष्टादशैव। तदुक्तं वरिवस्यारहस्ये "प्रथमेऽष्टादश वर्णाः द्वाविंशतिरक्षराणि मध्ये स्युः। प्रथमेन तुल्यमन्त्यं संघातेनाष्टपञ्चाशत्"॥ इति। संहृत्य लवत्रयन्यूना एकत्रिंशन्मात्रा मन्त्रे सम्पद्यते। तत्र प्रथमकूटं प्रलयाग्निनिभं मूलाधारमारभ्याऽनाहतं यावत्, द्वितीयं कोटिसूर्याभमनाहतमारभ्याज्ञाचक्रं यावत्, तृतीयं कूटं कोटिचन्द्राभं तदारभ्य ब्रह्मरन्ध्रं यावत्, माला मणिवद्वर्णाः क्रमेणोपर्य्युपरि भाव्या आधारोत्थितो नादो गुण इव वर्णमध्ये गतो भाति। इदञ्च स्थानत्रयं बिन्द्वादिरहितकूटत्रयस्यैव। बिन्द्वादिनवकस्य तु स्थितिस्थानरूपाकारानाह वरिवस्यारहस्यकारः "मध्ये फालं बिन्दुर्दीप इवाभाति वर्त्तुलाकारः"। तदुपरि गतोऽर्धचन्द्रोऽन्वर्थं कान्त्या तथाकृत्या। अथ रोधिनी तदूर्ध्वं त्रिकोणरूपा च चन्द्रिका कान्ति। नादस्तु पद्मरागवत्, अण्डद्वयवर्त्तिनीव सिरा॥ नादान्तस्तडिदाभः स व्यवस्थितबिन्दुयुक्तलाङ्गलवत्। तिर्यग्बिन्दुद्वितये वामोद्गच्छत्सिराकृतिः शक्तिः। बिन्दूद्गच्छत्° त्र्यस्राकारधरा व्यापिका प्रोक्ता। ऊर्ध्वाधो बिन्दुद्वयसंयुतरेखाकृतिः समना। सैवोर्ध्वबिन्दुहीनोन्मना तदूर्ध्वं महाबिन्दुः। शक्त्यादीनान्तु वपुर्द्वादशरविकान्तिपुञ्जाभम्॥" इति।

तथा च—

मूलाधारे क ए, स्वाधिष्ठाने ईल, मणिपूरे ह्र् ई अनाहते हसक, विशुद्धौ हल, अज्ञायां ह्रीं सकल, सहस्रारे ह्रीं, बिन्दुः ÷ ॅ, अर्धचन्द्रः ◡, रोधिनी▽ॅ, नादः ०।०, नादान्तः ०५ॅ, शक्तिः ¦ ०, व्यापिका ▽ॅ, समना ⁰₀, उन्मनी | ॅ, महाबिन्दुः ०।

मन्त्रवर्णानां कण्ठताल्वादीन्युत्पत्तिस्थानानि आन्तरान् वाह्यांश्च यत्नान् ज्ञात्वा तेषां स्थितिस्थानानि च ज्ञात्वा वर्णानेवमुच्चारयेद्यथा प्राथमिको नादो द्वितीयकूटेन सार्धमुच्चारितो भवेत्। द्वितीयनादस्तु तृतीयेन कूटेन सार्धमुच्चारितो भवेत्। प्राक्तनयोः विन्द्वादिनवकयोस्तु सम्मेलनेन तृतीयं यथा तत्संवलितं भवेत्तथोच्चारणीयम्। तृतीयकूटस्थं नादं बिन्द्वादि समनान्तमुच्चारयेत्। एतदुच्चारणमुन्मन्यन्तर्निलीनं विभावयेत्।

श्रीविद्याया वाग्भवकामराजशक्तिकूटानां व्यष्टिसमष्टिभेदेन चतुर्धा भिन्नानां चत्वारि वीजानि सृष्टिस्थितिसंहारानाख्यारूपाणि भावनीयानि। तान्येव ज्ञातृज्ञानज्ञेयानि तत्सामरस्यञ्च, तान्येवाग्निचक्रसूर्यचक्राणि ब्रह्मचक्रञ्च, मित्रीशनाथषष्ठीशनाथोड्डीशनाथचर्यानन्दनाथश्च, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयस्तुरीया च वामाज्येष्ठारौद्र्यः शान्ता च, इच्छाज्ञानक्रिया अम्बिका च कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्यो महात्रिपुरसुन्दरी च, आत्मान्तरात्मपरमात्मानो ज्ञानात्मा च, आत्मतत्त्वविद्यातत्त्वशिवतत्त्वानि सर्वतत्त्वञ्च, कामरूपपूर्णगिरिजालन्धराण्योड्यानपीठञ्च, प्रागदक्षिणपश्चिमान्वया उत्तरान्वयश्च, एत एव समयाम्नायपदाभ्याञ्च कथ्यन्ते। स्वयम्भूवाणेतराणि परञ्च, पश्यन्तीमध्यमावैखर्यः परा च, एतान्येव पुटधामतत्त्वपीठान्वयलिङ्गमातृकारूपेण चिन्तनीयानीत्यर्थः। तदुक्तंवरिवस्यारहस्ये 'पुटधामतत्त्व-पीठान्वय-लिङ्गक-मातृतत्समीष्टीनां रूपान्तराणि वीजान्यमूनि चत्वारि चिन्तनीयानि' इति।

सृष्टिस्थितिसंहाराख्यानि त्रिविधान्यपि कर्माणि प्रत्येकमपि त्रिविधानि। तद्यथा—सृष्टिसृष्टिः, सृष्टिस्थितिः, सृष्टिसंहृतिः, एवं स्थितिसृष्टिः, स्थितिस्थितिः, स्थितिसंहृतिश्च, संहृतिसृष्टिः, संहृतिस्थितिः, संहृतिसंहृतिः। स्वशक्तिभिः सहिता ब्रह्माद्या एतत्कर्मगामधिपतयः। तत्र प्रथमकूटे ककारो ब्रह्मणो रूपम्, त्रिकोणा भारतीस्वरूपा, तुर्यः स्वरः विष्णुस्वरूपः, लकारः पृथ्वीस्वरूपः, हकारो रुद्ररूपः, रेफो रुद्राणीस्वरूपः, तुर्यस्वरस्तु शान्ताम्बिकात्मकमिथुनस्वरूपः। द्वितीयकूटे मध्यमहकारं परित्यज्यावशिष्टाक्षरे-

ष्वपि पूर्वोक्तैव रीतिः। तृतीयुकूटे तु द्वितीयकूटस्थत्यक्तहकारस्य ब्रह्मरूपत्वं, सकारो भारतीरूपः, शेषाः पूर्ववत्। प्रथमकूटे हल्लेखान्तर्गतकामकलाया या सपरार्धकला तुरीयविन्दुरूपा, बिन्दुना मुखं, बिन्दुद्वयेन कुचौ, सपरार्द्धेन योनिः, सैव वन्हिकुण्डलिनी; द्वितीयकूटे सैव सूर्यकुण्डलिनी, सैव तृतीयकूटे सोमकुण्डलिनी। बिन्द्वादि नवकसमष्टिरूपो नादो दीपशिखाग्रवर्त्तिकज्जलल्लेखावत्तत एवोत्पद्यते। अनाहतमारभ्योत्थिते नादे त्रैलोक्यमोहनसर्वाशापूरकसंक्षोभणकचक्रत्रयस्य त्रिविधसृष्टिरूपस्य बिन्दुस्थानमारभ्योत्थिते नादे, सर्वरोगहरसर्वसिद्धिप्रदसर्वानन्दमयचक्रत्रयस्य त्रिविधसंहृतिरूपस्य च चिन्तनं कार्यम्।

वाह्येन्द्रियव्यवहाररूपा जागरावस्था, तद्धेतुर्ज्ञानंतृतीयकूटस्थहृल्लेखास्ये रेफे भावनीयम्। बाह्लेन्द्रियानपेक्षान्तःकरणव्यवहाररूपा स्वप्नावस्था, तज्जनकज्ञानरूपः प्रकाशः हृल्लेखास्थया कामकलया बोध्यः। अथापि स्वप्नावस्था गलस्ये द्वितीयकूटस्थे लकारे चिन्त्या, वृत्तिसामान्या भावरूपा अविद्या वृत्तिरूपा वा सुषुप्तिः ललाटस्थाने तृतीयकूटस्थहृल्लेखास्थे बिन्दौ चिन्त्या, चिदभिव्यञ्जकनादस्य वेदनं तुर्यावस्था, तद्धेतुः प्रकाशः अर्धचन्द्ररोधिनी नादेषु भावनीयः। मनोवचनातीतप्रत्यगानन्दघन एव तुर्यातीवस्था नादान्तादिपञ्चके भाव्या तार्तीयके रेफस्थाने बिन्दौ रोधिन्यां नादान्तव्यापिकयोः चन्द्रकतुल्यानि पञ्चशून्यानि भाव्यानि। नीरूपं षष्ठं महाशून्यम् उन्मन्यां चिन्त्यम्।

प्राणात्ममानसानां संयोगः प्राणविषुवसंज्ञकः। प्राथमिककूटनादे व्यष्टिसमष्टिभेदेन बीजचतुष्कस्य स्वस्य चैक्येन नादमयताविभावनं मन्त्रविषुवम्। मूलाधारादिषट्चक्रस्याध ऊर्ध्वं चैकैको ग्रन्थिरिति द्वादश ग्रन्थयः। तद्भेदनमार्गेणैव षुसुम्नानाडी मूलाधाराद्ब्रह्मरन्ध्रं व्याप्नोति। तेनैव मार्गेण नादस्य वर्णपंक्तेश्च नाडीसंयुतत्वेन भावनयोच्चारणं नाडीविषुवम्। तृतीयकूटस्थरेफादिषु सप्तसु स्थानेष्वाधारादारब्धस्य नादस्याभिधानादुत्तरोत्तरक्षणेषु कांस्यतालध्वनिवत् सौक्ष्म्यतारतम्य शक्तौ लयभावनं प्रशान्त-

विषुवम् । शक्त्यन्तर्गतनादं समनायां लयचिन्तनं शक्तिविषुवम् । समनोर्ध्वं पुनरुज्जीवनस्य सूक्ष्मतमस्य नादस्योन्मन्यां लयः कालविषुवम् । अकुलहस-स्रारादिकोन्मनान्तप्रदेशसंस्थेषु ककारादिषून्मनान्तेषु श्रीविद्याकूटलयेषु अयुतोत्तराष्टशतोत्तरसप्तदशत्रुटिपर्यन्तं विद्यावयवस्थानसंलग्नतापूर्वकं नादो-च्चारणे कृते सति तत्त्वस्य संविदभेदस्य बोधो भवति, तदिदं तत्त्वविषु-वम् । एवं पूर्वोक्तरीत्या पञ्चावस्था षट्शून्यानि सप्तविषुवानि नव चक्राणि मनोरथांश्च स्मरतो विद्यावर्णोच्चारणं जपः ।

कामयत इति कः परं ब्रह्म, 'कं ब्रह्मेति' श्रुतेः । क्रमेरौणादिको डः । जगत्सिसृक्षावान् परमेश्वरस्तत्पदार्थः काम इत्युच्यते । तदेव गायत्र्यास्त-दिति शब्दार्थः । एकारस्य त्रिकोणत्वाद्योनिरित्यर्थः । तदेव प्राणिप्रसव-कारणम् । त्रिकोणा शक्तिरेकारेण महाभगेन प्रसूते, तस्मादेकार एव गृह्यते । सवितुरिति तु प्रत्ययान्तप्रथमान्तपदस्य स एवार्थः, षूञ् प्राणिप्रसवे इति धातुस्मरणात् । तच्च सर्वसम्भजनीयत्वात् वरेण्यम् सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदम् । अत एव वरेण्यम् इत्यस्यापि स एवार्थः । 'यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रया-त्मकम् । ब्रह्माण्डादि कटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते' ॥ इति वामकेश्वरस्मर-णात् । ईयते योगिभिः सर्वान्तर्यामितयेति ई । पदानां मध्यवर्तित्वेन तुरीय-स्वरेण सर्वान्तर्यामी शिवः । स एव देवस्य भर्ग इत्यनयोरर्थः । सोऽर्ङस् इति देवस्येति पदमपि प्रथमान्तमेव । भर्गः शिवः । धत्त इति धीः सर्वाधारः शिव इति देवस्य भर्गो धीरिति गायत्र्याः पदत्रयस्यार्थः । स एव तुरीय-स्वरस्यार्थः । 'तस्माद्भर्गो देवस्य धीत्येवमीकारः' इति श्रुतेः । ल इति पृथ्वीबीजस्य ससागरं सभूधरं भूमण्डलमर्थः । भूमण्डलमित्यपि पञ्चभूतो-पलक्षणम् । तदपि च मृद्घट इतिवत् परमात्मसामानाधिकरण्येन भूमण्डलोपलक्षितपञ्चभूतात्मना परिणतं परमात्मतत्त्वमेव ल इत्यस्यार्थः । गायत्र्यां महीति पदस्यापि स एवार्थः । महत्त्वात् काठिन्याच्च मही पृथ्वीति बोध्यते । ह्रीम् इति हकारस्य हृदयमर्थः । तत्र हृदये ई गतौ इट् गतौ इति धातोः ई इत्यस्य वासोऽर्थः । तथा च ह्री हृदयागारवासिनी

हृल्लेखा तां माति बोधयतीति ह्रीम् परमात्मतत्त्वावभासिनी गुणत्रयातीता निर्गुणब्रह्मास्वरूपा राजराजेश्वरी। धियो यो न प्रचोदयात् इति गायत्र्यास्तृतीयपादस्य स एवार्थः। अस्मदादीनां धियो वुद्धीः ध्यानादिरहिते निष्प्रपञ्चे वस्तुनि प्रेरयति-परतत्त्वविषयकज्ञानजननीत्यर्थः। परोरजसेऽसावदोम् इति तुरीयपादस्य गुणत्रयातीतं ब्रह्मैवार्थः। रजसः परं परोरजसे सोः शे इत्यादेशः। रजोऽतीतं निर्मलं निर्गुणमिति यावत्। रजःशब्दस्य गुणत्रयोपलक्षकत्वात्। सावदोम् इत्यस्य सवदोऽवदश्च प्रणवो वोद्धयते। स च वक्तुं शक्यो वक्तुमशक्यश्च। शब्दैः शक्तिमर्यादया न बोध्यः। शक्यतावच्छेदकधर्ममात्रस्य परस्मिन्नभावात्। लक्षणया तु बोध्यते, सत्यज्ञानादिपदशक्यविशिष्टतादात्म्यवत्त्वात्। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादिश्रुतिभ्यः। अकारोकारमकारैः प्रणवे ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मकं ब्रह्मार्थः। हृल्लेखाया अपि तदर्थः। तथा च सर्वजगत्सिसृक्षावान् कामेश्वरः, जगत्कारणरूपा कामेश्वरी, शिवः सर्वान्तर्यामी सर्वाधारः पञ्चभूताद्यात्मना परिणतः परवस्तुविषयकज्ञानजनको निर्गुणो वेदैर्लक्षणया गम्यः शक्त्या चागम्यः ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मक इति प्रथमकूटस्यार्थः। एवं श्रीविद्याया द्वितीयकूटस्थब्रह्मशिववाचिप्रथमहकारस्य गायत्र्यास्तत्पदस्य च शिवोऽर्थः, सकारस्य सवितुरित्यस्य च सवितार्थः, ककारस्य वरेण्यमित्यस्य च सर्वसंभजनीयसर्वप्राणिपरप्रेमास्पदमित्यर्थः। द्वितीयहकारस्य भर्गो देवस्य धी इत्यस्य च सर्वान्तर्यामिसर्वधारकः शिवोऽर्थः। तृतीयकूटे सकेत्याभ्यां तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीत्यन्तगायत्र्या अर्थ उच्यते। सकारेण कामेश्वरः सर्वजगद्योनिः, ककारेण सर्वधारकः सर्वप्राणिप्रेमास्पदं शिवः, द्वितीयतृतीयकूटयोर्लह्रीं इत्येताभ्यां पूर्वोक्तरीत्या पञ्चभूताद्यात्मना परिणतः परमात्मैवार्थो बोध्यते, उभयत्रापि हृल्लेखाभ्यां गायत्र्याश्चतुर्थचरणार्थो वोध्यते। तथा च त्रिरावृत्तायाश्चतुश्चरणाया गायत्र्या अर्थः पञ्चदश्याः कूटत्रयेण बोध्यते। त्रिपुरोपनिषद्ययमर्थो निरूपितः। देवीभागवते च 'सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्याञ्च

धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्' इति ह्याद्यायाः श्रीविद्याया एव ब्रह्मरूपत्वं प्रतिपादितम्।

एवं प्रकाशविमर्शात्मकस्य तत्त्वस्य प्रकाशांशभूता वामाज्येष्ठारौद्र्यस्तिस्रः शक्तयो ब्रह्मविष्णुरुद्राः पुरुषाः, तत्समष्टिः शान्तात्मिक शक्तिः तुरीया विमर्शांशभूता। इच्छाज्ञानक्रियास्तिस्रः शक्तयः तद्भार्यात्वेन भारतीपृथ्वीरुद्राण्यः स्त्रीरूपाः प्रसिद्धाः, तत्समष्ट्यम्बिकाशक्तिस्तुरीया।

प्रथममिथुनत्रयं ईकारविनिर्मुक्तकूटत्रयस्य क्रमेणार्णः। ईकाराणान्तु तुरीयमिथुनमर्थः। वक्ष्यमाणे शाक्तेऽर्थे त्वेकैकस्मिन्नपि कूटे रेफान्तवर्णषट्कस्यापि मिथुनत्रयमर्थ इति भेदः। वामेच्छे ब्रह्मभारत्यौ ज्येष्ठाज्ञाने हरिक्षिती। रौद्रीक्रिये शिवापर्णे त्रिभिः कूटैः क्रमान्मिथुनत्रयं वाच्यम्, हृल्लेखास्थैरीकारत्रितयैस्तु तत्समष्ट्यात्मकं शान्ताम्बिकात्मकं बोध्यम्। वामेच्छाद्याः षडीकार इति सप्तभिरक्षरैः त्रिरावृत्तैरियं विद्या सञ्जाता। तेन तन्मयी वामादिसप्तशक्तीनां समष्टिः परदेवता षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपादस्मान्मात्रयापि भिद्यते। मन्त्रे तृतीयवर्णस्य तुर्यस्वरस्य ज्येष्ठाशक्तिवाचकत्वेन वामादिषट्कान्तःपातित्वेनावशिष्टानां हृल्लेखास्थानामेव कामकलानाम् ईकारपदेन परामर्शान्न त्रिरावृत्तैरिति संख्याविरोधः।

ककारस्य वामात्रिकोणाया इच्छातुर्यस्वरस्य ज्येष्ठा लकारस्य ज्ञानात् त्रिरावृत्तैर्हृल्लेखास्थैः ईकारै रौद्रीक्रिये सर्वसमष्टिरूपा च।

नच शाक्तार्थेन पौनरुक्त्यम्, तत्र वामादिषट्कं कामकलाया अभिन्नमिति वाक्यार्थः। अत्र तु वामादिकामकलान्तसप्तकाभिन्नो मन्त्र षट्त्रिंशत्तत्वाभिन्नमात्रभिन्न इत्यर्थं इति भेदात्। अथवा—

शिवशक्तिसमष्टिजन्यत्वान् मन्त्रराजः स्पन्दश्च तद्व्यष्टिरूपौ शिवशक्तिमयौ। तेन जगन्मन्त्रदेवीनामभेदभावनं भावार्थः : तदुक्तं योगिनीहृदये—

....'चलत्ता संस्थितस्य तु। धर्माधर्मस्य वाच्यस्य विषामृतमयस्य च। वाचकाक्षरसंयुक्तैः कथिता विश्वरूपिणी॥ तेषां समष्टिरूपेण-पराशक्तिं तु मात्रिकाम्। कूटत्रयात्मिकां देवीं, समष्टिव्यष्टिरूपिणीम्॥

आद्यां शक्तिं भावयन्तो भावार्थं इति मन्वते।' इति तदर्थो वरिवस्या-रहस्ये "पराहन्तेत्यादि भावार्थकत्वतलादिवाच्यत्वाद्धर्मः शक्तिर्निर्धर्मकत्वादधर्मःशिवः शक्तिरहितस्य शिवस्य स्पन्दनाक्षमत्वाद्भवस्पन्दं प्रति शक्तेः कारणतावच्छेदकत्वात् कारणत्वम्, तेन जननमरणादिक्लेशमसंसार-जनकत्वाद्विषं शक्तिस्तद्विनिर्मोकादमृतं शिवस्तदुभयस्य वाच्यस्य वाचके ये अक्षरे हकाराकाररूपे ताभ्यां व्यस्ताभ्यां तदुभयसमावेशरूपकामकला-क्षरेण चास्य चलत्तासंस्थितस्य नश्वरयुक्तस्य जगतो मन्त्रराजस्य च सम्यक् परिणामपरिणामिभावेन युक्तेः सम्बन्धादेषा विद्या विश्वरूपिणी, एका-कारेणोभयोरभेदात् शिवशक्तिसामरस्यरूपस्य पराशक्त्यादिपदवाच्यस्य कारणस्य कार्याभ्यां विश्वविद्याभ्यामभेदात्" इति।

ब्रह्मपरिणामभूता सृष्टिर्द्वेधा अर्थमयी शब्दमयी च, चक्रमयी देहमयी चेति। सृष्टिद्वयन्तु बालक्रीडनकार्थं स्थूलगृहसमानाकारत्वेन सूक्ष्मगृहनिर्माण-तुल्यमर्थसृष्ट्यन्तर्गतमेव न ततो भिन्नम्। पूर्वोक्ता द्विविधापि सृष्टिः सम-कालीनोत्पत्तिका समकालीनाभिवृद्धिशालिनी च। यथा बीजाङ्कुरतच्छाये। छायादर्शनेन वृक्षानुमितिदर्शनात् छायायां वृक्षसमानाकारत्वं वृक्षाविना-भावश्च विनाऽनुपपन्नमिति तद्द्वयमपि कल्प्यते। तद्वत् शब्दोऽप्यर्थाविनाभूत अर्थज्ञानजनकज्ञानविषयत्वात् 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इति महाकविप्रयोग-दर्शनाच्च। तथार्थसमानाकारोपि। यावन्तः शब्देऽवयवाः तावन्तोऽर्थे तज्ज्ञाने चाभ्युपेतव्याः यथा चैत्रस्तण्डुलं पचति इत्यत्र चैत्रपदं तु प्रत्ययः, तण्डुल-पदं अम् प्रत्ययः, पचिधातुः ति प्रत्ययश्चेति षडवयवात्मकस्य वाक्यस्य चैत्रः कर्तृत्वम्, तण्डुलः कर्मत्वम्, तेजःसंयोगः कृतिश्चेति विशकलिताः षडर्थाः, तेषां परस्परमभिव्याहारस्य तु परस्परसम्बन्धविशेषो तत्तत्पदार्थ-विशिष्टा भावनैव वाक्यर्था इति मीमांसकाः, एवं तज्ज्ञानमपि षट्पदार्था-स्तत्सम्बन्धादींश्च विषयीकुर्वत्तत्समानाकारं भवति, अन्यथा ज्ञानानां परस्परं वैलक्षण्यनुपपत्तेः, अन्तःकरणपरिणामविशेषरूपे ज्ञाने तत्तदाकारत्वेन परि-णतत्वकल्पनसम्भवाच्च। अत एव चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्याकारं ज्ञानमिति

सकलतान्त्रिकाणां व्यवहारः। अनयोः सृष्ट्योर्ज्ञानजनकन्तु मन एव। तच्च शब्दं श्रोत्रद्वारैव गृह्णाति अर्थन्तु कञ्चन चक्षुरादिद्वारेति विशेषः।

द्वे अपि सृष्टी स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमभेदात् प्रातिस्विकं चतुर्विधे, श्रोतमनसोरप्यर्थान्तःपातित्वात् चातुर्विध्यम्। एवञ्च स्थूलश्रोत्रेण स्थूलशब्दस्य श्रवणात् स्थूलार्थस्य स्थूलमनसा ज्ञानम्, सूक्ष्मश्रोत्रेण सूक्ष्मशब्दश्रवणात् सूक्ष्मार्थस्य सूक्ष्ममनसा ज्ञानम्। श्रोत्रमनसोः सूक्ष्मत्वादिकन्तु शास्त्राभ्यासादिपाटवजन्यम्। 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इति सूत्रयोरेतत्स्पष्टम्। श्रुतिरपि "चत्वारि वाक् परमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।"

वैखरी मध्यमा पश्यन्ती परा इति चतुर्विधा वाचः, एतदर्था अपि चतुर्विधा विज्ञेयाः। मस्तकाद्यवयवेन्द्रिये प्राणदशब्दशालित्वं स्थूलजगदादिव्यक्तौ सद्योजातशिशौ पिपीलिकादौ चेत्यविवादम्। इयाँस्तु भेदः-स्थूले स्थूला अवयवाः सूक्ष्मे तु सूक्ष्माः। तथा च वैखरीरूपघटपदवाच्यापेक्षया मध्यमादिरूपघटपदैर्वाच्या घटाः युक्तिभिः कल्प्याः। ते चार्थाः सङ्कोचं गच्छन्तः केचिदस्पष्टनिखिलावयवकाः, केचित्तु सङ्कुचज्जलूकाकमठादिवत् अस्पष्टकिञ्चिदवयवका अप्यवयवन्यूनाधिकभावेन परिणामभेदेऽपि द्रव्याभेदस्य मीमांसकादिभिरप्यङ्गीकाराद्। यथायथमूहनीयम्।

चतुर्णां वाचकानां चतुर्भ्यो वाच्येभ्यो भेदा अपि चतुर्विधाः। सृष्टिचतुष्टयस्यापि मूलभूतो बिन्दुर्बीजस्थानापन्नः तस्मादपि परतः सूक्ष्मतरापेक्षया सूक्ष्मतममपि विशिष्य तद्वाचकत्वादभिन्नशब्दार्थरूपं शब्दब्रह्मेत्यादिपदनिर्देश्यं परं ब्रह्मैव। तच्च प्रकाशैकाकारस्य अर्थादत्यन्तभिन्नस्य शब्दब्रह्मेत्यादिपदनिर्दिशविशेषस्याभावात् अनिर्देश्यम् अग्राह्यम् अशब्दम् अस्पर्शम् इत्यपास्तविशेषम्।

वस्तुतः सृष्टिद्वयमूलभूतसूक्ष्मरूपविशेषात्मकत्वात् अभिन्नशब्दार्थरूपं शब्दब्रह्मेत्यादिपदनिर्देश्यं परं ब्रह्मैव। तच्च प्रकाशकस्वरूपम् 'पटः स्फुरति

घटः स्फुरति' इत्यादिप्रत्ययेन पदार्थमात्रस्फुरणस्य तत्तदभिन्नस्यानुभवसिद्धत्वात् प्रकाशः स्फुरति इति प्रत्ययात् प्रकाशस्यापि स्फुरणमवश्यं वाच्यम्। तच्च स्फुरणं शक्तिः प्रकाशस्फुरणात्मकयोः शिवशक्त्योर्मिलितयोरेव जगत्कारणत्वमन्यतरस्य तत्त्वानुपपत्तेः। तथा च शुद्धस्य शिवस्य केवलायाः शक्तेर्जगत्कारणत्वं तत्र तत्रोच्यमानं शिवशक्तिरूपस्योभयात्मनएव बोध्यम्।

अहमित्यत्र प्रकाशस्वरूपः शिवस्त्वकारस्तद्वाच्यश्च स्फुरणरूप शक्तिः हकारस्वरूपा तत्पदवाच्या। तावेतावकारहकारौ परारूपौ सूक्ष्मतमौ। परादिसृष्टिमूलभूतस्य बीजस्थानीयस्य बिन्दुविशेषस्य तु व्यक्ताव्यक्तविलक्षणौ वाचकौ, तस्यापि जनकस्य परब्रह्मणस्तु केवलमव्यक्तावेव शून्यस्वरूपौ वाचकौ। तयोः शून्यस्वरूपत्वादेव विसर्गरूपस्य शून्यद्वयस्य सूक्ष्मयोः अकारहकारयोरिवोच्चारणं भवति। तदुक्तं **'अहमित्येकमद्वैतं यत्प्रकाशात्मविभ्रमः। ककारः सर्ववर्णाग्रचः प्रकाशः परमः शिवः॥ हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्त्तितः। अनयोः सामरस्यं यत् परस्मिन्नहमि स्फुटम्। शून्याकाराद् विसर्गान्ताद् बिन्दुप्रस्पन्दसंविदः।''** इति योगिनीहृदये च शून्याकारः शून्यमात्ररूपो यो विसर्गान्तः षोडशस्वरान्त्यः तस्मात् बिन्दुविशेष उत्पन्न इति तदर्थः। विसर्गस्य अव्यक्तहकारतुल्यत्वेनाकारस्यापि तत्र सत्त्वेन षोडशस्वरकीर्त्तनम्। तेन अकारहकारावेव शून्याकारे कीर्त्तितौ वेदितव्यौ।

तथा कश्चित् पुरुषः उत्पत्स्यमानपुत्राद्यदृष्टवशात् उत्पादनेच्छाविशिष्टः स्वीयामुत्पादनशक्ति भार्यामवलोक्य स्वार्धाङ्गिन्यां स्वयमन्तः प्रविशति शुक्ररूपेण 'आत्मा वै पुत्र नामासि' इति श्रुतेः प्रवेश्यमानस्य स्वभिन्नत्वात् स्थूलतरभेदाक्रान्तत्वाच्च नाभेदभानम्। ततस्तस्य शुक्रस्यान्तः शोणितबिन्दुरूपेण भार्या प्रविशति। तेन च स बिन्दुरूच्छूनो भवति। स एष वटोदुम्बरादिबीजस्थानीयः। तस्मादङ्कुरविशेषाद्युत्पत्ति क्रमेण कालान्तरे पुत्राद्युत्पत्तिः।

यथा वा सूर्याभिमुखदर्पणे तदन्तःप्रविष्टकिरणात् उभयकिरणसङ्कलनरूपस्तेजोबिन्दुविशेषः कुड्यादौ प्रादुर्भवति तथा प्राण्यदृष्टवशात् स्वान्तः-

संहृतविश्वसिसृक्षया प्रकाशरूपं ब्रह्म स्वीयां शक्तिमवलोकयितुं तदभिमुखीभूय तदन्तस्तेजोरूपेण प्रविश्य शुक्रबिन्दुभावमयते। ततस्तं बिन्दुं रक्तरूपा शक्तिः प्रविशति। तया सम्मिश्र-बिन्दुरुच्छूनो भवति। तत्र च हार्दकलारूप एकः पदार्थविशेषो भवति। स च बिन्दुः समष्टिरूपेणैकः स्फुटशिवशक्तिसामरस्यनामा कामो रविरग्निसोमात्मक इत्यादिशब्दैर्व्यवह्रियते। व्यष्टिरूपेण द्वयं तत्र शुक्लइन्दू रक्तोऽग्निरिति विन्दुद्वयात्मकत्वात् विसर्ग इति च व्यवह्रियते। अत एव च रवे रात्रौ, अग्नौ अमावास्यायाम् चन्द्रे च प्रवेशस्य श्रुतिसिद्धत्वात् समष्टिबिन्दो रवित्वमेवञ्च कामाख्यो बिन्दुर्विसर्गो हार्दकला चेति त्र्यवयवक एक पदार्थोऽणादिप्रत्याहारवत् कामकलेत्युच्यते। इदमेव समस्तसृष्टिबीजम्। अत एव अकारहकारयोर्मध्ये सर्ववर्णपाठः। लकारस्य ककाररूपत्वात्, क्षकारस्य क्षयो रूपत्वाच्च न तद्बहिर्भावः। एतन्मूलभूतं ब्रह्म तु तुरीयबिन्दुरित्युच्यते। तद्रूपाभ्यां शून्यस्वरूपाभ्याम् अकार-हकारभ्यां उत्पन्ना कामकला व्यक्ताव्यक्तविलक्षणा अहम्पदवाच्या अकारहकारोभयात्मकत्वं शिवशक्तिद्वयरूपत्वञ्चायम्पदस्य निष्कृष्टोऽर्थः।

तज्जन्यानां सूक्ष्मादिस्थूलान्तानाम् अखिलसृष्टीनाम् अहम्पदवाच्यत्वम्। यथा उदुम्बरपदवाच्यवीजाज्जनितानां परस्परविलक्षणानामपि पर्णकाष्ठकुसुमफलकृमीणाम् सर्वेषामुदुम्वरत्वम् उदुम्बरपर्णमुदुम्वरकृमिः इत्यादि व्यवहारात्। तथा च "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तत् आत्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति।" (वृहदारण्यकोपनिषदि) 'त्वं वा अहम्, अहं वै त्वम्', (ऐतरेयोपनिषद्) अस्मच्छब्दस्य सर्वनामताऽप्यत एव हंसः सोऽहमित्यादिरूपेण पूर्णा अहम्भावनारूपा उपासना प्रसिद्धा। अहमिति समाहारद्वन्द्वसमासः। 'अहमेव इदं सर्वं' इति श्रुतेश्च। विरूपाक्षपञ्चाशिकायां, "स्वपरावभासनक्षम आत्मा विश्वस्य यःप्रकाशोऽसौ। अहमिति स एक उक्तोऽहन्तास्थितिरीदृशी तस्य।" एतादृशस्य अहम्पदार्थस्य यथा अहमिति पदं वाचकं तथा उत्तमपुरुषस्यैकवचनमपि वाचकम्। तस्य च परस्मैपदात्मनेपदभेदेन द्वैविध्येऽपि तिपः इटश्च इकारत्वेन अनुगमात्

इत्वमेव शक्यतावच्छेदकम्। अन्यायश्चानेकशब्दत्वमितिन्यायात् तस्य च धातूत्तरत्वेनोक्तं पुरुषत्वादिना वा उपस्थितिः पदार्थस्मारकत्वे तन्त्रम्। एर्णलादावपि लुप्तस्य स्मरणम् तदभावे शक्तिभ्रमाद्बोधः। तत्र च अकार-हकारयोरदर्शनेऽपि शास्त्रप्रामाण्यात् सूक्ष्मरूपौ तौ स्त इति स्वीकार्यम्। तस्यैव च हार्दकलायोगे दीर्घताऽपि सम्पद्यते इति तुरीयस्वरस्य कामकला-रूपत्वं मन्त्ररहस्यविद्भिः प्रतिपाद्यते। तदुक्तं योगिनीहृदये—"**मध्यबिन्दु-विसर्गान्तः सकास्थानमये परे। कुटिलारूपके तस्याः प्रतिरूपं वियत्कला॥**" इति। मध्मबिन्दुः कामाख्यः तस्य तुरीयबिन्दुविसर्गमध्य-पातित्वात् समष्टेर्व्यष्टिमध्यएवान्तर्गतत्वाच्च विसर्गो व्यष्टिरूपं बिन्दुद्वयं तयोरन्तर्मध्ये सम्यक् चैतन्यात्मनावस्थानम्। तन्मये तत्प्रधाने परे चरमे अकारहकाररूपे अक्षरे मातृकाणां क्रमेण पाठे चरमत्वात् हकारस्य व्युत्क्रमेण पाठे त्वकारस्य चरमत्वात्। किञ्च इमे अक्षरे कुटिलारूपके कुटिले अकुलकुले कुण्डलिन्यौ तयो रूपान्तरे तस्यास्तयोः कुण्डलिन्योः इत्यर्थः। वियत्पदेन शून्याकारत्वात् कामः प्रतिपाद्यते। कलापदेन हार्दक-लावत्त्वात् विसर्गः, यतः कामविसर्गयोः कुण्डलिनीप्रतिबिम्बरूपत्वं, ततः कुण्डलिन्यभिन्नाकारहकाररूपत्वं संभवतीति भावः, इति वरिवस्यारहस्ये तद्-व्याख्या। एवमकारहकारैकाररूपा कामकला। तद्भूते मन्त्रे विजातीयाक्षर-वत्त्वान्यथानुपपत्त्यापि तयोर्गर्भे सूक्ष्मरूपेणान्येषां वर्णानामर्थसृष्टेश्चावस्थानं सिद्ध्यति। यथा वटबीजरूपे सम्पुटे पर्णकाष्ठादेः। यथा च वटबीजानां स्फोटेनैवाङ्कुराद्युत्पत्तिरिति बीजस्य पूर्वोत्तरार्धयोर्वियोगे इत्यविवादम्। तच्चार्धद्वयं महति वृक्षे कस्मिन् भागेऽस्तीति तु दुर्ज्ञेयम्। एवं मन्त्रांशेऽपि अकारहकारयोरवस्थितयोः परिज्ञानाय संकेतभाषयोक्तं योगिनीहृदये—'**मध्यप्राणप्रथारूपस्पन्दव्योम्निस्थिता पुनः। मध्यमे मन्त्रपिण्डे तु तृतीये पिण्डके पुनः। राहुकूटाद्वयस्फूर्जत् इति**''''॥' तदर्थोऽपि वरिवस्यारहस्ये कलाकामयोर्मध्यस्य विसर्गस्य यः प्राणश्चैतन्यं तस्य प्रथा पृथुत्वेन श्रूय-माणता स्थूलतेति यावत्। तद्रूपं यत् स्पन्दव्योम हकारः स्पन्दते उत्पद्यते

इति स्पन्दः स्पन्दो व्योम यस्मादिति व्युत्पत्तेः। हकाराद्व्योम सम्भूतम् इत्युक्तेरिति केचित्। मध्यात्मको विसर्गाभिन्नो यः प्राणो हकारस्तस्य प्रथारूपो यः स्पन्दः स्थूलरूपा सृष्टिरित्यर्थः, तद्रूपं व्योम हकार इत्यर्थो युक्तः। हः शिवो गगनः प्राण इति मातृकाकोशात्। मध्यम इत्यस्य द्विरन्वयः। तत्रैकपदं मन्त्रपिण्डेन सह सामानाधिकरण्येनान्वेति, अपरं वैयधिकरण्येन, मध्यमकूटस्य मध्यमव्यञ्जने द्वितीयहकार इत्यर्थः द्वितीयगेषु सप्तसु व्यञ्जनेषु तस्य चतुर्थत्वेन मध्यमत्वात् तत्र स्थिता स्त्रीलिङ्गाच्छक्ति-विशेष्या। तृतीयकूटे तु सकारेऽकारो मूलबीजीय इत्याह।

राहुकूटेऽतिलघुषोढान्यासान्तर्गतग्रहन्यासे राहोः शषसहाख्यवर्णचतुष्टय-सहितस्य वक्त्रे न्यासः। वक्त्रेशादिचतुवर्णैं सहितं 'राहुमेवं च' इतिवच-नात्। तेन शादिचतुष्कं राहुकूटम्। तत्र द्वयभिन्नोऽद्वयस्तृतीयः साकारस्त-स्मिन् स्फूर्जत् शोभमानं नपुंसकलिङ्गबलात् ब्रह्म विशेष्यं शिव इत्यर्थः। तथा च अकारहकारौ परस्पराश्लिष्टौ शून्याकारौ प्रकाशस्फुरणात्मक-शिवशक्तिस्वरूपौ वेदान्तवेद्यं ब्रह्म। तदेव विश्वसिसृक्षया स्वार्धशक्तिं विलोकयद् बिन्दुर्भवति। तमिन्दुरूपं शक्तिस्तु रक्तबिन्दुतया प्रविशति। एतत्पिण्डद्वितयं विसर्गसंज्ञं हकारचैतन्यं मिश्रस्तु तत्समष्टिः। कामाख्यो रविरकार-चैतन्यम्। एषाऽहंपदतुर्यस्वरकामकलादिशब्दनिर्देश्या वागर्थ-सृष्टि-बीजम्। तेनाहन्तामयं विश्वं भवति। अन्त्यप्रथमे मध्यचतुर्थे मन्त्रेऽपि तौ व्यक्तौ। तेनाम्बामनुजगतामभेद एवात्र भावार्थः।

कामकलाविमर्शेऽपि—

अन्तर्लीनविमर्शः प्रकाशमात्रतनुः पूर्णाहंभावभावनागर्भितो महेशो विश्वोत्पत्त्यादिकृत्यपञ्चककारणम्। शक्तिश्च शिवादिषट्त्रिंशत्तत्त्वमयी सर्वप्रपञ्चात्मिका तदुत्तीर्णा च। शिवस्य जगन्निर्मातृत्वं तया शक्त्या विना नोपपद्यते। तत्र प्रकाशस्वभावस्य तु परमशिवरवेः किरणसमूहः विस्फुरण-शक्तिरूपे विशदे विमर्शदर्पणे प्रतिफलति। यथा लोके सूर्याभिमुखस्थित-दर्पणतले सूर्यकिरणप्रतिफलनान्तरं निकटगते कुड्ये सूर्यकिरणप्रतिहत-

तेजोबिन्दुः प्रत्यक्षं प्रपद्यते, तथैव प्रकाशस्वरूपपरमेश्वरस्य दर्पणस्वरूप-विमर्शसम्बन्धे जाते महाबिन्दुः पूर्णोऽहमित्येवंरूपः परमेश्वरः प्रकाशते। सितशोणबिन्दुयुगलकामेश्वरीरूपं दिव्यमिथुनम्। तदेव वागर्थसृष्टिहेतुः। परमेश्वरः स्वाङ्गभूताखिलप्रपञ्चविलयात्मकविमर्शशक्तिमनुप्रविश्य बिन्दु-भावं मन्यते। ततो विमर्शशक्तिरपि स्वान्तर्गतप्रकाशमयं बिन्दुमनुप्रविशति। ततश्च बिन्दुरुत्पन्नो भवति। तस्माद् बिन्दोर्नादात्मिका समस्ततत्त्वगर्भिणी जीवरूपा वालाग्रवत्सूक्ष्मरूपिणी भवति। बिन्दुनादस्वरूपयोस्तयोः प्रकाश-विमर्शयोरहमिति शरीरं भवति। विमर्शो रक्तबिन्दुरूपतां प्रकाशः शुक्ल-बिन्दुरूपतां भजति। उभयोर्मेलने मिश्ररूपं सर्वतेजोमयं परमात्मस्वरूपं भवति। तदेव सितशोणबिन्दुसमरसीभूतो मिश्रबिन्दुरुच्यते। अग्नीषोम-रूपिणी विमर्शशक्तिः तदुभयभूतकामेश्वराविनाभूता महात्रिपुरसुन्दरी बिन्दु-समष्टिरूपा कामकला प्रोच्यते। निर्विशेषप्रकाशस्वरूपोरविरस्या मुखं, शशि-हुताशनरूपबिन्दुयुगलं तस्याः स्तनद्वयं, तत्समरसीभावो योनिः। तदुक्तम्—

मिहिरबिन्दुमुखीं तदधोलसच्छशिहुताशनबिन्दुयुगस्तनीम्।
हसपरार्धकलारचनास्पदां भजत नित्यमिमां परदेवताम्॥

'इकारोर्ध्वगतो बिन्दुर्मुखं भानुरधो गतौ। स्तनौ दहनशीतांशु योनि-हार्धकला भवेत्॥'

वर्णपदमन्त्ररूपा वाक्कला तत्त्वभुवनात्मा अर्थः। तावेतौ वागर्थौ नित्यसंपृक्तौ प्रकाशविमर्शात्मकौ ताभ्यामेव षडध्वात्मकसर्वप्रपञ्चोत्पत्तिश्रव-णात्। कामकलारूपायास्त्रिपुरसुन्दर्या एव मातृ-मान-मेयपुट-धाम-पीठ-शक्ति-चक्रादिरूपेणाविर्भाव इति कामकलाविलासे विशदम्। अपरिच्छिन्नानन्त-तेजोराशिमयी अनन्तकोटियोगिनीवृन्दसमाराधिता नित्यनिरवधिकाति-शयानन्दमयात्मसाम्राज्यसम्पदभिमानशालिनी महात्रिपुरसुन्दरी यदा चक्रा-कारेण परिणमते, तदा तस्यास्तेजःपुञ्जात्मकदेहस्य किरणरूपाणामवयवानां तत्तदावरणदेवतारूपे परिणतिर्भवति। तदेतत्सर्वमुक्तं कामकलाविलासे—
'सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेत यदा। तद्देहावयवानां परिणति-

रावरणदेवताः सर्वाः ॥ आसीना बिन्दुमये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरी देवी । कामेश्वराङ्कनिलया कलया चन्द्रस्य कल्पितोत्तंसा ॥ पाशाङ्कुशेक्षुचापप्रशूनशरपञ्चकाञ्चितस्वकरा ॥ बालारुणारुणाङ्गी शशिभानुकृशानुलोचनत्रितया ॥'

सम्प्रदायार्थस्तु—

व्योमवाय्वग्निजलभूमिबीजैः ह, क, र, स, ल वर्णैर्युक्तत्वादियं विद्या पञ्चभूतमयी । तदुक्तम्—"हकाराद्व्योम सम्भूतं ककारात्त प्रभञ्जनः । रेफादग्निः सकाराच्च जलतत्त्वस्य सम्भवः । लकारात्पृथिवी जाता तस्माद्विश्वमयी च सा ।" इति । यद्यपि प्रकाशविमर्शसामरस्यात्मकवस्तुविशेषस्यैव शब्दार्थसृष्टिजनकत्वमविशिष्टं, तथापि प्रकाशांशस्यार्थसृष्टौ विमर्शांशस्य शब्दसृष्टौ जनकत्वं, तयोः परस्परसापेक्षत्वेन स्वस्वकार्यजनकत्वस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात्तथा च विमर्शशक्तेर्हकार उत्पन्नः ततः प्रकाशाद्व्योम ततो विमर्शात्ककारः, ततः प्रकाशाद्वायुः, ततो विमर्शाद्रेफस्ततः प्रकाशादग्निः, ततो विमर्शात्सकारः, ततः प्रकाशाज्जलम्, ततो विमर्शाल्लकारः, ततः प्रकाशात्पृथिवी इत्येवंक्रमेण पञ्चमहाभूतोत्पत्तौ सत्यामपि हकारवद्विमर्शविशिष्टप्रकाशस्यैव व्योम प्रति कारणत्वात्कारणतावच्छेदकस्य हकारे सिद्धे विनिगमनाविरहात्कारणत्वमपि सिद्ध्यति, एवमेव ककारादिष्वपि । नचैवं हकारादेर्वाय्वादिकं प्रत्यपि करणत्वापत्तिरिति वाच्यम्, तेषामन्यथासिद्धत्वात्, पारम्पर्येण तत्त्वेऽपि दोषाभावाच्च ।

ननु तर्हि विद्यायां पञ्चभूतात्मकं वर्णपञ्चकमेवास्तु किमधिकैर्वर्णैरितिचेन्न; व्योमादीनां पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकशब्दादिगुणात्मकत्वेन पञ्चदशार्णानामुपपत्तेः । व्योम्नि पञ्चभूतगाः पञ्चविधाः शब्दाः, वायौ वाय्वादिगताश्चतुर्विधाः स्पर्शाः, तेजसि त्रिविधानि रूपाणि, जले द्विविधोरसः, भूमावेकविधो गन्धः । पञ्चदशभिर्गुणैः पञ्चदशानां वर्णानामभेदः । अथवा विद्यायां मायात्रये हकारत्रयं मध्यकूटे च द्वौ हकारौ तैः पञ्चभिः पञ्चशब्दाः बोध्यन्ते । तदुक्तम्—'व्योमबीजैस्तुविद्यास्थैर्लक्षयेच्छब्दपञ्चकम्' इति ।

अत एव भावार्थप्रकरणे हकारस्य शक्तिवाचकत्वेऽप्यत्र शब्दलक्षणकत्वानुपपत्यभावः, गङ्गायां घोषमत्स्यौ इत्यादौ वृत्तिद्वयस्यापीष्टत्वात्। अथवा तत्र शिवशक्त्यात्मकमूलबीजात्मकयोरकारहकारयोः सूक्ष्मतमं रूपमिह तु वैखर्यात्मकयोः स्थूलरूपयोरर्थान्तरपरत्वमुच्यते। तथा च मध्यमहकारे ध्वन्यंशः परब्रह्मवाचकः वर्णांशस्तु शब्दलक्षक,। सर्वेष्वपि वर्णेषु वर्णांशध्वन्यंशौ परस्परसंसृष्टौ कत्वादिवर्णधर्माणां तारत्वमन्द्रत्वषड्जत्वादिध्वनिधर्माणाञ्च सर्ववर्णेष्वनुभूयमान्त्वात् ध्वन्यालम्बनत्वेनैव तत्तद्वर्णानामेकैकरूपत्वेऽपि देवदत्तयज्ञदत्ताद्युच्चारितवर्णानां वैलक्षण्यप्रतीत्युपपत्तिः।

मायास्थैस्त्रिभिस्तृतीयाक्षररूपेण च चतुर्भिरीकारैश्चतुर्विधाः स्पर्शाः बोध्याः। अत्र पक्षे न ककारैः स्पर्शाः बोध्याः। तदुक्तम् 'महामाया त्रयेणापि कारणेन च बिन्दुना। वाय्वग्निजलभूमीनां स्पर्शानाञ्च चतुष्टयम्। उत्पन्नं भावयेद्देवि स्थूलसूक्ष्मविभेदतः॥' इति। बिन्दुनेति कामकलाचतुष्कस्यापि विशेषणम्। त्रिविधं रूपं मायान्तर्गतैस्त्रिरेफैर्जन्यते। "रूपाणां त्रितयं तद्वत्त्रिभी रेफैर्विभावितम्' इति। सकार-द्वयेन रसद्वयम्, 'विद्यास्थैश्चन्द्रबीजैस्तु स्थूलः सूक्ष्मो रसः स्मृत' इति-वचनात्।

चन्द्रबीजैः सकारैः स्थूलो व्यापको जलगतः, सूक्ष्मः व्याप्यो भूगतो रसश्च बोध्येते। चन्द्रबीजैरिति बहुवचनमविवक्षितम्, विद्यायां सकारद्वयस्यैव सत्त्वात्। हादिविद्यायान्तु सकारत्रयस्य सत्वेन तत्रामृतगतोऽप्येषः रस इति। तेन रसत्रयं बोध्यते। लकारस्तु गन्धबोधकः 'वसुन्धरागतोगन्धस्तल्लिपिर्गन्धवाचिका' इतिवचनात्।

न च विद्यायां लकारत्रयमित्येकेन गन्धबोधोपपत्तावितरयोर्वैयर्थ्यमिति वाच्यम्, भुवनत्रयेण सह वाच्यवाचकसम्बन्धाल्लकारत्रयस्योपपत्तेः। ये यद्यज्जनकास्तेषां तेषां त एवार्था इत्यस्यापवादोऽपि विद्यास्थैः ककारैस्त्रिभिः अशुद्धमिश्रशुद्धाः अधमा मध्यमा उत्तमाः साधकाः प्रोच्यन्ते। तत्र भेदैकदृष्टयः शिवाहंभावनाहीनाः कर्मैकरताः प्रथमाः। सपक्वमलकर्माणः सूक्ष्मपुर्यष्टसम्बन्धशालिनः कर्मज्ञानमार्गयोः साधारणा द्वितीयाः निरस्तभेदाः

सर्वत्र-शिवैकदृष्टयस्तृतीयाः। तदुक्तम्—'अशुद्धमिश्रशुद्धानां प्रमातॄणां परं वपुः। क्रोधीशत्रितयेनाऽस्य विद्यास्थेन प्रकाश्यते ॥' इति।

द्वितीयतृतीयवर्णौ हृल्लेखात्रयञ्च मुक्त्वाऽवशिष्टेषु दशाक्षरेषु अकारा दश भवन्ति। ते च जीवराशिबोधकाः। एकेनापि बोधसम्भवेऽपि दशभिरभिधानं जीवानामानन्त्यबोधनाय। विद्यायाः प्राणभूत एकादशस्वरः एकारः प्राणवाचकः, तदुक्तम्—'श्रीकण्ठदशकं तद्वदव्यक्तस्य हि वाचकम्। प्राणभूतः स्थितो देवि तद्वदेकः वशः स्वरः। एकः सन्नेव पुरुषो बहुधा जायते हि सः।' इति। इह श्रीकण्ठा अकाराः। अव्यक्तो जीवः। बिन्दुभिः त्रिभिः सरुद्रेश्वरसदाशिवा बोद्ध्यन्ते। रुद्रपदेनात्र तेजस्तत्त्वं बोध्यते। ततः पुरुषनियतिकालरागविद्याकलामायानां परिग्रहः। 'पुरुषादिकमायान्तं तेजस्तत्त्वं महेश्वरि' इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तेः॥ शान्तिः प्रकृतिः शुद्धविद्या च नादत्रितयेन बोध्यन्ते अर्धचन्द्राद्युन्मानान्तं वर्णाष्टकं नादपदेनोच्यते। तत्राद्यत्रितयेन शान्तिः प्रकृतिः शुद्धविद्या बोध्यन्ते। एवं व्योमबीजपञ्चकेन चतसृभिः कामकलाभिः द्वाभ्यां चन्द्रबीजाभ्यां त्रिभीरेफैस्त्रिभिर्लकारैः त्रिभिः ककारैः त्रिभिर्बिन्दुभिः त्रिभिर्नादैः श्रीकण्ठदशकेनैकेन एकादशस्वरेण इति संहृत्य सप्तत्रिंशत्पदानि तेषां षट्त्रिंशत्तत्वानि तत्त्वातीतमेकं परं ब्रह्म चार्थः। तानि च तत्त्वानि शिवः, शक्तिः, सदाशिवः, ईश्वरः, शुद्धविद्या, माया, कला, अविद्या, रागः, कालः, नियतिः, पुरुषः, प्रकृतिः, अहङ्कारः, बुद्धिः, मनः, श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः जिह्वा, घ्राणम्, वाक्, पाणिः, पादः, उपस्थः, शब्दः, स्पर्शं, रूपं, रसः, गन्धः, आकाशः, वायुः, तेजः, आपः, पृथ्वीत्येतानि। तत्र शिवशक्तिशुद्धविद्या प्रकृतयः बिन्द्वर्थाः। सदाशिवादिपुरुषान्ताः नव नादार्थाः। शब्दादय आकाशादयश्च श्रोत्रादयो वागादयश्च पञ्च पञ्च हकारादेरर्थाः। अहङ्कारादित्रितयं तु ककारत्रयस्यार्थः। एकादशस्वरस्य तत्त्वातीतं ब्रह्मार्थः। यद्यपि हकारादेः शब्दाद्यर्थकत्ववत् इन्द्रियाद्यर्थकत्वं नोक्तम् तथापि स्वरव्यञ्जनभेदेन सप्तत्रिंशत्प्रभेदिनी। 'सप्तत्रिंशत्प्रभेदेन षट्त्रिंशतत्त्वरूपिणी। तत्त्वातीतस्वभावाऽत्र विद्यैषा भाव्यते मया।' इति वचनबलात्तथा कल्पनीयम्।

यत्तुसप्तत्रिंशद्वर्णानां सप्तत्रिंशति-तत्त्वेषु क्रमेण छक्तिरस्त्वित्याहुस्तन्न, हकारादौ क्लृप्तशक्तित्यागस्य शक्त्यन्तरस्वीकारस्य चापत्तेः। एकस्याऽने-कार्थत्वं तु न दोषः, एकत्र शक्तिरन्यत्र लक्षणेति सुवचत्वात्। न च युगपद्-वृत्तिद्वयविरोधः, एतद्वचनबलादेव सप्तत्रिंशत्त्वस्य शक्ततावच्छेकत्वाङ्गी-कारेण पूर्ववत्तस्यादोषत्वात्। प्रमाणप्रमितत्वाविशेषादनेकार्थत्वस्यापि हर्यादिपदवदविरोधाच्च। क्लृप्तशक्तिपरित्यागस्तु सर्वथाऽप्रामाणिकः यद्यपि पूर्वविद्यायामष्टपञ्चाशद्वर्णा उक्ताः, कथमिह सप्तत्रिंशत्त्वेन गण्यन्त इति भवत्यशङ्का, तथापि तथाप्यस्याः संख्यायाः पदगतत्वेनोपपत्तिर्वाच्या।

ननु विभक्त्यन्तस्यैव पदत्वात्कथमिह पदभाक्त्वमितिचेन्न, अर्थवत्त्वेन प्रत्यक्षरं प्रातिपदिकसंज्ञायां सुबुत्पत्तौ सुपां सुलुगिति लोपस्वीकारेण विभ-क्त्यन्तरूपपदसत्त्वात्। न चैवं ककारेषु जश्त्वापत्तिरिति वाच्यम्, किति-मिति इत्यादिज्ञापकैरेकाक्षरपदे तदनित्यताया ज्ञापनात्। एवञ्च सर्वतत्त्व-तत्त्वातीतवस्तुप्रतिपादकत्वात् सर्वस्वरूपेयं विद्या। यतो जन्यजनकयोर्भेदा-भावात् वाच्यस्य वाचकेनापि भेदाभाव इति ब्रह्मणि जगतोऽभेदः। जगति च विद्याभेद इति सम्प्रदायार्थः।

परमशिवस्य निष्कलता तदितरसर्वपदार्थाभावः, तदितरस्य सर्वस्यापि दुःखजनकत्वात्। 'द्वितीयाद्वै भयं भवती', ति श्रुतेरिति प्रथमकूटार्थः। तेन सह गुरोरभेदभावनादार्ढ्येन तदभेदः सिद्ध्यतीति द्वितीयकूटार्थः। तत्करू-णातः स्वकृताव्यभिचरितभक्तिपूर्वकदृढतरसेवासम्पादितप्रसादजन्यगुरुकरु-णाकरम्बितकटाक्षनिरीक्षणबलात् स्वस्मिन्नपि साधके ब्रह्माभेदः सिध्यतीति तृतीयकूटार्थः। स्वस्य गुरुद्वारा शिवगर्भे प्रवेशसम्पादकत्वादेतज्ज्ञानस्य विषयः शिवगुर्वात्मैक्यं निगर्भार्थपदवाच्यम्।

"गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम्।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम्॥"

भगवत्या गणेशादिषट्कात्मत्वमुक्तम्। तत्र निरुपमतेजोमय्याः स्वस्या मरीचिरूपाणामावरणदेवतानामीशत्वात् श्रीराजराजेश्वरी त्रिपुराम्बैव गणे-

२०

शीत्युच्यते। ताश्च देवता एकादशोत्तरशतसंख्याकाः, तन्त्रभेदेनान्या अपि प्रतिपादिताः। इच्छाज्ञानक्रियेति शक्तित्रयसमष्टिरूपत्वात् गुणत्रयाढ्यत्वाद् अनिलेन्दुरविनेत्रत्वान्नवभिर्योगात् पराम्बैव ग्रहरूपोच्यते। इन्द्रियदशकेनान्तःकरणचतुष्केण शब्दस्पर्शादिवचनादानादिविषयदशकेन गुणत्रयसाम्यावस्थारूपया प्रकृत्या सुखदुःखमोहमूलैः सत्त्वरजस्तमोभिर्गुणैः पुरुषेण च सप्तविंशतिसंख्याकत्वान्नक्षत्ररूपत्वमप्यस्याः। इन्द्रियादिनिरुक्तसप्तविंशतितत्त्वरूपेण पराम्बाया एव प्राकट्यम् इति सप्तविंशतिसंख्यातौल्येन नक्षत्ररूपत्वम्। अमृतादितत्तद्देवतोपलक्षकैः षोडशस्वरैः, कालरात्र्याद्युपलक्षकैः कादिठान्तैर्द्वादशवर्णैः, डामर्य्याद्युपलक्षकैः डादिफान्तैर्दशवर्णैः, बन्धिन्याद्युपलक्षकैः बादिलान्तैः षड्भिः, वरदाद्युपलक्षकैः वादिशान्तैश्चतुर्भिः, हंसवतीक्षमवत्योरुपलक्षकाभ्यां द्वाभ्यां हक्षाभ्यां वर्णाभ्यां वेष्टिताभिरमृताद्यावृताभिर्डाकिनी-राकिनी-लाकिनी-काकिनी-साकिनी-हाकिनीभिः त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाधिपतिभिर्विशुद्ध्यनाहतमणिपूरस्वाधिष्ठानमूलाधाराज्ञाचक्राणां तत्तद्देवतावर्णशक्तिसमानसंख्यातत्तदीयदलनिविष्टतावत्तावत्संख्याकदेवीसंवृत्तानां कर्णिकासु निविष्टाभिर्घटितविग्रहा त्रिपुराम्बायोगिनीत्युच्यते।

पञ्चभिर्नाग-कूर्म-कृकर-देवदत्त-धनञ्जयैः, पञ्चभिः प्राणापानव्यानोदानसमानैर्जीवात्मपरमात्मभ्याञ्च द्वादशात्मकत्वाद्राशिरूपिणी पराम्बापीठानां गणेशादिसमानसंख्याकत्वात्तदात्मकत्वोक्त्यैव तदात्मकत्वोक्तिः।

यथा भगवती श्रीगणेशादिरूपिणी तथैव श्रीविद्यापि गणेशादिरूपिणी। अकारादिषोडशस्वरात्मकं शक्तिकूटं, कादितान्ताक्षरात्मकं कामराजकूटम्, थकारादिसान्ताक्षरात्मकं वाग्भवकूटम्। व्यष्टिसमष्टिभेदेन परादिवाक्चतुष्टयञ्चैतत्। तथाच शब्दरूपस्यगणस्येशत्वाद्गणेशरूपिणी श्रीविद्या।

बिन्दुनादविनिर्मुक्तमेकं कूटम्, बिन्दुरूपञ्चैकम्; नादरूपञ्चैकम्। तथैव प्रतिकूटं त्रयं त्रयमिति बिन्दुत्रयनादत्रयतदन्यत्रयैः कूटत्रये नवत्वयोगाद्ग्रहत्वं विद्यायाः।

सम्प्रदायार्थप्रकरणे पञ्चदश्यां सप्तत्रिंशद्वर्णा उक्ताः। तेषु दशाकाराणां स्वव्यञ्जनैरपार्थक्येन गणनात् दशसंख्याया बाधे सप्तविंशतिरवशिष्यन्ते। तेन नक्षत्रात्मकत्वं सिद्धं विद्यायाः। तदुक्तम्—

"हृल्लेखात्रयसंयुक्तैस्त्रिंशसंख्यैस्तथाऽक्षरैः।
अन्यैर्द्वादशभिर्वर्णैरेषा नक्षत्ररूपिणी॥ इति।

हकाररेफकामकला बिन्दुनादैर्हृल्लेखायाम् एकैकस्यां पञ्चाक्षराणि, तिसृषु पञ्चदशाक्षराणि—'क ए ई ल ह स क ह ल सकल' इति सम्मेलनेन सप्तविंशत्यक्षराणि सम्पद्यन्ते तिसृभिर्हृल्लेखाभिःतद्रहितैः त्रिभिः कूटैश्चेति षड्भिर्योगात् श्रीविद्या योगिनी सम्पद्यते। तिसृणां हृल्लेखानां त्रयाणां कूटानाञ्च योगाच्छ्रीविद्या योगिनीति हृदयम्। तिसृणां हृल्लेखानां पूर्ववर्णैर्ल्कारैरपार्थक्येन गणनात् द्वादश संख्याकावयवशालित्वाद्राशिरूपाऽप्येषा। पञ्चदश्यां लत्रयनिष्कासनेन द्वाशसङ्ख्या एवं गणेशादिषट्कत्वस्य विद्यायां देव्यभेदसाधकत्वे स्थितेपि विद्यायां देवीरूपान्तरत्वस्य वचनबलात् सिद्धत्वेन तदभेदाद् गणेशादिरूपता।

एवं चक्रराजेऽपि गणेशादित्वम्। चतुरस्राभिस्तिसृभिर्वर्तुलाभिस्तिसृभिः रेखाभिश्चतुर्विंशतिदलैः पञ्चचत्वारिंशत्कोणैर्घटनाच्चक्रे गणेशत्वम्। त्रैलोक्यमोहनाद्यैः सर्वानन्दमयान्तैर्नवभिश्चक्रैर्ग्रहत्वं चक्रराजे। वृत्तत्रय--धरणीत्रयमन्वस्राणां विभज्य १४ गणनेन विंशतिः, सप्तभिरितरैस्त्रैलोक्यमोहनसर्वसौभाग्यदायकातिरिक्तैश्चक्रराजे सप्तविंशतिसंख्यायोगान्नक्षत्ररूपत्वम्। बिन्दुत्रिकोणवसुकोणाः संहृतिचक्रम्, द्वे दशारे चतुर्दशारञ्च स्थितिचक्रम्, अवशिष्टं सृष्टिचक्रमित्येतत्त्रिप्रकारत्वं चक्रसङ्केते स्पष्टम्। तथाच—स्थितिसंहृतिचक्रे द्वे द्वे पद्मे वसुषोडशदले वृत्तमेकं, भूगृहञ्चैकमिति षड्भिर्योगाच्छ्रीचक्रं योगिनीरूपम्।

स्वाभिमुखाग्रत्रिकोणानि शक्तय उच्यन्ते। तानि पञ्च पराङ्मुखाग्रत्रिकोणान्यनला उच्यन्ते। तानि चत्वारि बिन्दुः पद्मद्वयगर्भितं वृत्तं भूगृहञ्चेति द्वादशसंख्यैर्घटनाच्चक्रस्य राशिरूपताऽपि। चक्रस्य विद्याक्षरजन्यत्वात्तदभेदस्य सिद्धत्वात्तेन हेतुनाऽपि चक्रराजस्य गणेशादि रूप-

त्वम्, देव्या रूपान्तरत्वाच्च तद्रूपता सिद्ध्यति। पीठरूपतापि गणेशादीनां पञ्चानां मेलनेन पञ्चपञ्चाशत् संख्यासम्पत्तेः। यदपि मातृकासंख्यानि पीठानि मातृकाश्चैकपञ्चाशत्संख्याकाः पीठानि कामरूपादिच्छायाच्छत्रान्तान्येक-पञ्चाशत्संख्याकानि, तथापि ओ (ओड्याण) जा (जालन्धर) पू (पूर्णगिरि) का (कामगिरि) नां पीठानां प्राधान्येन पुनर्गणानात् पञ्चाशत्संख्याकानि पीठानि सम्पद्यन्ते। गणेशादीनाञ्च सम्मेलनेन पञ्चपञ्चाशत्संख्या सम्पद्यते। तत्र गणेशः एकः,ग्रहा नव, नक्षत्राणि सप्तविंशतिः, योगिन्यः षट्, राशयो द्वादशेति। वरिवस्यारहस्ये तदुक्तं विस्तरेण—

"यावन्मातृकमुदितान्येकसमेतानि पञ्चाशत्। पीठानि पुनर्गणितान्यो, जा, पू, कानि चत्वारि॥ गणपग्रहभादीनां शशि-निधितारर्तुसंख्यानाम्। मेलनतः पीठानि ज्ञेयान्येतेषु पञ्चपञ्चाशत्।" इति।

चक्रराजस्य विद्याक्षरजन्यत्वं कथमित्युच्यते—कत्रितयात् ईकाराच्च महाबिन्दुमयं सदाशिवासनं जायते। तदुक्तम्—

"इच्छाज्ञानक्रियारूप,—मादनत्रयसंयुतम्।
सदाशिवासनं देवि महाबिन्दुमयं परम्॥"

तदर्थस्तु—इच्छादयस्तिस्रः शक्तयो रूप्यन्ते यस्मात् स ईकारः माद-नान्तककाराणां त्रयञ्चेत्येताभ्यां संयुतं जनितं महाबिन्दुमयं सदाशिवासनं ब्रह्माविष्णुरुद्रेश्वराः पादाः, फलकं सदाशिवः, तादृशसर्वानन्दमयं चक्रम्। अथवा, इच्छाज्ञानाक्रियारूपाश्च ते मादनाश्च त्रयश्चेति द्वन्द्वः। अत्र त्रयब्देन बिन्दुत्रयात्मकत्वादीकारो ग्राह्यः। सर्वथाऽपि ककारत्रयात् ईकाराच्च बिन्दूत्पत्तिः सर्वसिद्धिप्रदसर्वरोगहराख्यचक्रद्वयमपि मिलित्वा नवयोन्य-त्मकं भवति। तच्च तिसृभिर्लज्जाभिर्जातम्। अत्र यद्यपि हकाररेफईकार-बिन्दुनादैश्च ह्रल्लेखात्रयस्य सम्मेलने पञ्चदशाक्षराणि भवन्ति। तथापि बिन्द्वादीनां ईकारैः सह मेलने प्रतिह्रल्लेखं हकारो रेफ ईकारश्चेति त्रय-मेवेति नवाक्षरसमूहेनैव नवयोन्यात्मकस्य चक्रद्वयस्य जनिः सर्वरक्षाकर-

सर्वार्थसाधक—सर्वसौभाग्यायकाख्यं स्थितचक्रतित्रयं तिसृभिः शक्तिभिः त्रिभिरनलैर्हकारद्वयेनैकादशस्वरेण च समुत्पन्नम्। तदुक्तम्—

"मण्डलत्रययुक्तन्तु चक्रं शश्यनलात्मकम्।
व्योमबीजत्रयेणैव........................॥

अत्र मण्डलत्रयेति दशारद्वयं चतुर्दशारञ्चेत्यभिप्रेतम्। व्योमबीजत्रयेण इत्यत्र व्योमबीजे त्रयञ्चेति विग्रहः। त्रयपदेन कोणत्रयात्मकत्वात् एकारः, बीजपदेन हकारौ ग्राह्यौ। अथवा, व्योमनी च बीजञ्चेति विगृह्य व्योमनीति हकारद्वयं, बीजपदेन एकारः, तस्य ब्रह्माण्डकटाहं प्रति बीजभूतत्वात्। हादिपक्षे तु व्योमबीजत्रयेणेति हकारत्रयमेव ग्राह्यम् इति न व्याख्याक्लेशः। सर्वसंक्षोभणसर्वाशापरिपूरके सकाराभ्यां जनिते। उक्तञ्च सरोरुहद्वयञ्च लार्क्कैः। शार्क्कैः सकाराभ्यामित्यर्थः। अक्षीणि शतिवत् बहुवचनम् लकारैश्चतुरस्राणि जनितानि इति विद्याक्षरैश्चक्रजनिः। देवताविद्याचक्रत्रितयेन गुरोरभेदः। तेन गणेशादिषड्रूपः श्रीगुरुः, तत्प्रसादेन स्वयं साधकोऽपि षड्रूपः।

'देव्या देहो यथा प्रोक्तो गुरुदेहस्तथैव च।
तत्प्रसादाच्च शिष्योऽपि तद्रूपः सम्प्रकाशते॥'

इत्युक्तत्वात्। अत्र यद्यपि गणपदस्य समुदायार्थवस्य समुदायिसापेक्षत्वेन समुदायिना देवणाक्षररेखाणां भेदे तद्भेदस्यावश्यकत्वं नक्षत्रत्वादेरपि संख्यामात्रस्यानुगमकत्वेऽपि संख्यावतां विरुद्धधर्माधिकरणत्वेन भेदस्य संख्यावतां सम्मतत्वेन भिन्नाभिन्नत्वात्तेन च नैकस्यापि धर्मस्याभेदव्यापकतेति कथमभेदः स्यादितीयं शङ्का समुदेति, तथापि वचनबलादेव समुदायिनां सङ्ख्यावताञ्चाभेदस्य सिद्धत्वात् समाधानम्। उपक्रमादिनिर्णीततात्पर्य्यकस्य शब्दस्य प्रत्यक्षादिनिखिलप्रमाणेभ्योऽपि बलवत्तायाश्चन्द्रप्रादेशिकत्वभ्रमादावन्यत्र चौपनिषदैर्बहुतरं साधित्वात्। इत्थं त्रिपुराम्बा विद्या चक्रं गुरुः स्वयञ्चेति पञ्चानामपि भेदभावो मन्त्रस्य कौलिकोऽर्थः।

सर्वरहस्यार्थ उच्यते—ककारादिभिर्द्वादशभिरानुलोम्येन मकारादिभिः प्रातिलोम्येन द्वादशभिश्च युक्ताः सूर्यस्य तापिन्यादयो द्वादश कलाः, षोड-

शभिः स्वरैर्युक्ताः सोमस्यामृतादयः षोडशकलाः, यकारादिभिर्दशवर्णैर्युक्ता वन्हेर्धूम्रार्चिरादिकलाः। एवं, रविशशिवह्निकलाभिराकीर्णैः पञ्चाशद्भिर्वर्णैरभिन्नाकुलकुण्डलिनी विसतन्तुतनीयसी विद्युत्पुञ्जप्रख्या मूलाधारस्थपद्म-कर्णिकास्थशृंगाटरूपा त्रिकोणादुपरि बिन्दुरूपं ज्योतिर्लिङ्गमावेष्ट्य सार्धत्रिवलयाकारेणाधोमुखी समुपविष्टा योगमर्य्यादया योगिभिरूर्ध्वमुख-तयोत्थाप्यते। सा चोत्थिता मूलाधारानाहताज्ञाचक्रेषु वह्निसूर्यसोममण्ड-लानि भित्वा व्योम्नि ललाटोर्ध्वप्रदेशे विद्यमानस्य चिच्छशिमण्डलस्याधो-मुखसहस्रारकर्णिकारूपस्य मध्ये स्थितयाऽकुलकुण्डलिन्या सङ्गम्य ततोऽमृत-पूरं स्रावयित्वा डाकिन्यादिमण्डलान्याप्लावन्यती स्वयमपि तत्पानमत्ता भूत्वा पुनस्तेनैव सुषुम्नामार्गेण परावृत्य स्वस्थाने सुखं स्वपिति। सर्व-मेतद्योगगम्यम्। अन्येसान्तु परोक्षज्ञानगोचर एव ईदृश्याः कुण्डलिन्याः मातुर्विद्यायाः स्वस्य चाभेद इति रहस्यरूपोऽर्थः।

महातत्त्वार्थः प्रोच्यते—जातिगुणक्रियासम्बधादिशून्ये वाचामगोचरे सर्वेन्द्रियागम्ये मनसोऽप्यविषये वेदान्तमहातात्पर्यविषये शिवादिक्षित्यन्त-षट्त्रिंशतत्त्वातीते महतो महीयसि तथैवाणोरणीयसि निरुक्तलक्षणव्यो-म्नोऽप्युपरि स्थितिमति उपासनार्थकल्पितस्थानविशेणोपलक्षिते विश्वाधि-ष्ठाने स्वप्रकाशे चित्सुखस्वरूपे परे ब्रह्मणि स्वात्मा नियोज्यः, प्रत्यक् चैतन्याभिन्नपरब्रह्मावबोधेन भेदकाज्ञाननिवर्तनद्वारा तदात्मनावस्थिति-र्विधेया, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः। सकलतत्त्वमूलभूतत्वादयं महातत्त्वार्थ उच्यते।

नामार्थशब्दरूपार्थौ चोच्येते—तत्तद्वर्णार्थत्वात्तद्वर्णस्वरूपा च श्रीविद्ये-त्येव नामार्थशब्दरूपार्थौ। विद्यायामष्टपञ्चाशद्वर्णाः सप्तत्रिंशद्वर्णाःपञ्चाशद्वर्णा विभिन्नरीत्या गृह्यन्ते। सर्वेषां ब्रह्मवाचकत्वेन सामानाधिकरण्येनान्वयः, पक्षत्रयेऽपि ककारादीनामन्यतमस्य ब्रह्मवाचकत्वाद् अन्येषां वर्णानां वैयर्थ्य-परिहारस्तु विश्वप्रकाशकोशादिरीत्या तत्तदक्षराणामनेकार्थवाचकत्वेन योग्यतानुसारेणार्थकरणात्कार्यः। भूयोऽपि पथ्यं वक्तव्यम् इति रीत्या

केषुचित्स्थलेषु पौनरुक्त्यं न दोषः। एवञ्च सर्वेषामक्षराणां तत्तद्वाचकत्वेन रूढ्यैव प्रत्यक्षरं सोर्लोपस्यावश्यकत्वेन प्रातिपदिकमात्रावशेषाद्वोपासकजनेषु प्रसिद्धत्वाद्वा सम्भाव्यत्वाद्वा परिभाषिकार्थरूपत्वाद्वा परिपक्वार्थरूपत्वाद्वा नामार्थ इति संज्ञा।

ननु ककारादिस्वरूपत्वं नामतः शब्दाभिन्नत्वम्। तथा च न स ककारस्यार्थः, शब्दस्वरूपे शक्त्यभावात्। नहि घटमानय इत्यादौ घटशब्दस्यानयनक्रियान्वयः। अत एव न शब्दार्थयोरभेदपक्षोऽपि युज्यते वह्न्यादिशब्दोच्चारणे मुखदाहाद्यापत्तेश्चेति चेन्न, शब्दस्य स्वरूपेऽपि शक्तेस्तन्त्रवार्त्तिकादावुक्तत्वात्। भर्तृहरिणाऽप्युक्तम्—

'ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वञ्च द्वे शक्ती तेजसो यथा। तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते॥' (व्रा० का०) तथा ककारादिवर्णरूपेत्यादिमन्त्रार्थः। अत्र शब्दस्वरूपस्यैवार्थत्वेन वर्णनाच्छब्दरूपार्थोऽयमिति व्यपदिश्यते' इति।

नामैकदेशार्थो यथा 'ककाररूपा कल्याणी' इत्यादिना त्रिशत्यां पञ्चदशाक्षर्य्या एकैकनामाक्षरमादितः कृत्वा तादृशनामानि प्रत्यक्षरं विंशतिरुक्तानि। तान्येव त्रीणि शतानि भवन्ति। तानि च मन्त्राक्षराणामर्थप्रकाशनार्थं प्रवृत्तानि। तथा च ककारस्य 'ककाररूपा कल्याणी कल्याणगुणशीलिनीत्यादयो विंशतिरर्थाः। तेषु प्रसिद्धकोषव्याकरणादिरीत्या शक्तेरभावादेतद्बलादेव कल्पनस्यार्थापत्तिशरणत्वात् नामैकदेशे नामग्रहणमिति भीमो भीमसेनः, सत्या सत्यभामा इत्यादौ प्रसिद्धम्। तत्र च ककारादिनाम्नामानन्त्यात्ककारस्याप्यनन्तार्थत्वे प्राप्तेऽयं नियमः—एत एवार्था नान्य इति। तेषु च प्रत्यक्षरं प्रथमनाम्नां नामार्थशब्दार्थरूपार्थाभ्यां पौनरुक्त्यादिहैकोनविंशतिरेवार्था विवक्षिताः। तथा च नामैकदेशार्थोऽप्येकोनविंशतिविधः सम्पन्नः।

शाक्तार्थो द्विविधः—अवयवार्थः शक्तिसमूहार्थश्चेति। तत्रावयवार्थो नाम देव्या अवयवानां वर्णनम्। विद्यायां वाक्कूटेन किरीटमारभ्य कण्ठाधःपर्यन्तविग्रहः प्रतिपाद्यः, कामराजकूटेन कण्ठाधः कटिपर्यन्तविग्रहः प्रति-

पाद्यः, शक्तिकूटेन कट्यधः पादाग्रान्तो देहः प्रतिपाद्यः। तत एव वाच्य-वाचकयोरभेदविवक्षयोक्तं सहस्रनामसु 'श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा। कण्ठाधः कटिपर्य्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी। शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभाग-धारिणी। मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा' इति।

शक्तिसमूहार्थः—वेधोभारत्यौ, माधवलक्ष्म्यौ, रुद्रपार्वत्यो रेफान्तवर्ण-षट्कस्यार्थाः। हृल्लेखायां हकाररेफयोर्विभज्य गणनात् प्रथमकूटे कामकलायाः प्राक्षड्वर्णाः भवन्तिः, ब्रह्माद्याः सकला अपि कामकला एव, न ततः पृथक्। तत एव ईकारेण सामानाधिकरण्यं, प्रत्यक्षरं विद्यमानानां सुपां लोपः, वाक्ये संहिताया अविवक्षणात् ईकारेण सह न सन्धिः। प्रथमकूटस्य यावा-नार्थः तावानेव द्वितीय-तृतीयकूटयोरप्यर्थः। परं द्वितीयकूटमध्यस्थो हकारः तृतीयकूटस्य प्रथमभागे सकारात्पूर्वं योजनीयः। तेन तयोरपि कूटयोः प्राति-स्विकं रेफान्ता वर्णाः षडेव भवन्ति। ततश्चोक्तरीत्यैवार्थवर्णनम्। अत्र प्रत्यक्षरमेकैकत्र शक्तिः तेन शक्तानामक्षराणामर्थः शाक्तार्थः।

कादिविद्यायां ककारास्त्रयः, हकारौ द्वौ, तेषां शिव एवार्थः, लकारा-स्त्रयः, सकारौ द्वौ तेषां शक्तिरर्थः। अतएव कामबीजे ककारलकारयो-र्योगः, पराप्रासादे हकारसकारयोर्योगः। शुद्धयोरचोः द्वितीय-तृतीययोरपि शक्तिरर्थः। हृल्लेखाया उभयसामरस्यात्मकं परब्रह्मैवार्थः। तत्रत्यव्यो-माग्नितुरीयस्वरबिन्दुभिः क्रमेण प्रकाशविमर्शसामरस्यतादात्म्यापन्नब्रह्मै-वार्थो बोध्यः। त्रिशत्यां तथैवोक्तम्—

'कत्रयं हृद्वयञ्चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः।
शक्त्यक्षराणि शेषाणि ह्रीङ्कार उभयात्मकः॥ इति।

समस्तार्थः—कन्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति कं प्रकाशकत्वं ककारस्यार्थः। औणादिकडप्रत्ययेन निष्पन्नम्। ईयते अधीयतेऽनेनेति ए बुद्धिः। इङ् अध्ययने इति धातुरधिपूर्वोऽपि। प्रकृत आर्षत्वाद् तद्विमोकः, क्विपि कृते कित्वेऽपि गुणः, अध्ययनकरणं बुद्धिः। कर्मधारयेण प्रकाशमाना बुद्धिरिति तयोरर्थः। ईयते व्याप्नोतीति ई। सर्वत्रासन्धिरार्षः। तस्य लहरी आधि-

क्यम् । हकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य लोपे लह्री । माङ्माने इति धातोः क्विपि णिचि टिलोपे म् इति रूतम् । तथा च तन्निर्माणम् मकारार्थः । प्रकाशमानसूक्ष्ममतिव्यापनाधिक्यनिर्माणं प्रथमकूटार्थः । हन्यतेऽनेनेति हं शौर्यम् । सीयते सूयते इति वा सं द्रव्यम्, स्यतेः सुनोतेर्वा । काम्यते इति कम् स्रक्चन्दनवनितादिकम् । ह्वानं हः । हसकानां हः ओहाङ्गतौ । तस्य लह्र्याधिक्यम् । ईयते इति ई कीर्त्तिः । लह्री इत्यनेन प्रश्लिष्टः । तन्निर्मातीति म् । तथा च शौर्यधनस्रक्चन्दनवनितादिप्राप्त्यतिशयस्य कीर्तेश्च निर्माणमिति द्वितीयकूटार्थः । कूटद्वयस्य द्वन्द्वः । एते निर्माणे सम्यक् कलयतीति सकला । समिति मकारलोपः । हरति निखिलं जगदिति हृ सर्वजगत्संहर्त्री । ई दीप्तौ इति दीप्त्यर्थक ईकारश्च तत्र प्रश्लिष्टः । सृष्टिस्थितिदीप्तिकर्तृत्वं तदर्थः । हृकारेकारयोः कर्मधारये यणि ह्रीः उपलक्षणविधया पञ्चकृत्यकर्त्रीत्यर्थः । अथवा हरति सर्वं विषयीकरोतीति हृ । क्विप् आगमस्थानित्वात् न तुक् । तच्च दहराकाशम् । तत्र ईयते प्रकाशते इति ह्री निर्माणार्थकः मकारः । तेन ह्रीकारपदान्तस्य कर्मधारयः । मकारास्यानुस्वारत्वम् । चरमकूटे त्वनुस्वार एव विशेष्यः । ततश्च प्रकाशमानसूक्ष्मबुद्धिव्यापनशोर्यधनस्त्रीयशसामाधिक्यकर्तृ, निखिलजगत्सृष्ट्यादिकर्तृ, दहराकाशवर्ति, नादरूपं, चिद्रूपं, ब्रह्मेति समस्तमन्त्रार्थः सिद्धः ।

स्यतेरन्तकर्मवाचकत्वेऽप्यत्रोपभोगार्थकत्वम् । अध्ययनार्थकस्येङोऽत्राधे र्विमोकः । हरीत्यत्राकारलोपः । निर्माणार्थकस्य माङ्माने इत्यस्यानुस्वारत्वादिकम् । धातोर्बह्वर्थत्वात् बाहुलकत्वात् पृषोदरादित्वात् आकृतिगणत्वात् उणादिकल्पनात् छान्दसत्वात् सर्वमुपपादनीयम् । तदुक्तं वरिवस्यारहस्ये 'धातोर्बह्वर्थत्वाद्बहुबलग्रहणात् पृषोदरादित्वात् । आकृतिगणपाठेन स्वेच्छानुगुणादिकल्पनतः ॥ छन्दसि सर्वविधीनां वैकल्पिकतावशादमुष्य मनोः । सिद्धैःकथितेऽर्थेऽस्ति वैयाकरणानुशासनानुमतिः' ॥ इति अयमेवार्थः किञ्चिद्विस्तरेणान्यैराचार्यैरुक्तः । तथाहि—

कन्यन्ते प्रकाश्यन्ते शब्दार्थजालानि अनेनेति क । कनयतीति वा क । कद्दीप्तौ इति स्मरणात् आर्षत्वात् प्रगृह्यत्वेन प्रकृतिभावः । ईयते स्मर्यते

अधीयते वा सर्वा वेदशास्त्रादिकला अनेनेति ए। इक् स्मरणे इङ् अध्ययने इत्यस्मादौणादिके विचि वेरपृक्तस्येति वलोपे गुणे निपातत्वात् प्रगृह्यत्वेन प्रकृतिभावः। क च ए च कए। शब्दार्थजालावभासिनी वेदादिशास्त्राध्ययनस्मरणप्रयोजिका बुद्धिः। ईयते व्याप्नोतीति ई। ईङ् गताविति क्विपि नियतत्वात् प्रकृतिभावः। व्यापिनीत्यर्थः। लहरीत्यस्यपरोक्षतया लं ह्लीत्युक्तम्। 'परोक्षप्रिया हि देवाः' इति श्रुतेः। सर्वप्रकाशकबुद्धिव्यापिनी लहरी ल ह्लीत्याधिक्यमर्थः। मीयते इति माङ् माने शब्दे च इत्यस्मात् क्विपि परोक्षश्रुत्या लुप्ताकारत्वेन वा अनुस्वारत्वम्। तस्य निर्माणमर्थः। तथा च क ए ई ल ह्रीं शब्दार्थात्रद्योतकवेदादिशास्त्राध्ययनस्मरणप्रयोजकबुद्धिव्यापनाधिक्ययुक्ता स्वप्रकाशा संवित्। अनेन धर्मात्मकपुरुषार्थसाधनब्रह्मवर्चसा असमृद्धिनिवृत्तिसम्यग्बुद्धिर्निर्मितिरुक्ता। एतेनैव वाक्प्रवृत्तिजालनिमित्तत्वात् वाग्भवकूटत्वं ब्राह्मणवर्णोपास्यगायत्रीसारत्वञ्चोक्तम्। इष्टदेवताप्रकाशनात्मकत्वेन वाग्जालप्रवर्तकत्वादृग्वेदात्मकत्वम्।

हन्यते तापत्रयमनेनेति हः। तथा च शत्रुरोगादिलौकिकस्य दुष्कृतजन्यस्यामुष्मिकस्य च तापस्य निवृत्तिरुक्ता। सीयन्ते उपभुज्यन्ते सर्वधनकनकवाहनभूम्यादिसम्पत्प्रचया अनेनेति सः। स्यतेः सुनोतेर्वा अनुप्रत्यये सकलराजपरिच्छदजालमुच्यते। काम्यन्ते स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगा अनेनेति क ऐहिकामुष्मिकसकलविषयभोग उक्तः। हीयते प्राप्यते इति हः ओहाङ्गताविेत्यस्य रूपम्। हसानां हः। हसकहः तापनिवृत्त्यर्थकामभोगानां प्राप्तिः। तस्या लहरी आधिक्यम्। ईयते प्रकाश्यते कीर्तिजालं दिगन्तेषु अनेनेति ईः। गुणसन्ततिः। ई दीप्तावित्यस्यरूपम्। हसकहलह्लीश्च इश्च हसकलह्यः। तासां निर्मात्री स्वप्रकाशा संवित्। धातूनामनेकार्थत्वात्। निर्माणार्थकान्मा धातोरनुस्वारस्य निष्पत्तिः। अनेनार्थकामपुरुपार्थनिर्मितिरुच्यते। तस्मादेवास्य कामराजकूटत्वं क्षत्रियवर्णोपास्यमानत्रिष्टुप्छन्दःसारत्वम्। स्वकीयाभीष्टसाधककर्मजातविधायकत्वाद्यजुर्वेदात्मकत्वम्। सकलह्रीं सकलाभिरवयवैः शिवादितत्त्वैः चतुःषष्टिकला-

भिर्वा सहिता सकला। सम्यक्कलयतीति वा सकला। हरतीति ह्रीः संहृतिशक्तिः। हृञ् हरणे धातोः इ प्रत्यये बाहुल्याद् गुणाभावेन यणादेशः। ईयते प्रकाश्यते सर्वं जगत् अनयेति ई सृष्टिशक्तिः। इदन्ति सर्वेषां नियन्तृत्वे वर्तते इति इः स्थितिशक्तिः। इदि परमैश्वर्ये इत्यस्मात्क्विपि व्यञ्जनलोपे रूपसिद्धिः। ह्रीश्च ईश्च इश्च ह्रीः सवर्णदीर्घः। संहृतिसृष्टिस्थितिशक्तिः। अथवा हरति विहरति इति ह्रीः। धातूनामनेकार्थत्वात् हरतेर्विहरणार्थान् इन् प्रत्यये ह्रीः। यद्वा हृ इति क्विबन्तः लुप्तसकारशब्दः प्रपञ्चसंहृतिवाचकः। ई प्रकाशः आत्मैक्यगमनम्। ह्री सकलप्रपञ्चदेहेन्द्रियादिकं द्रवीकृत्य प्रकाशरूपैक्यगमकमित्यर्थः।

अथवा ई इत्यनेन हृत्पुण्डरीकदहराकाशस्थदीपशिखामध्ये स्थितो बोधात्मकप्रकाशस्वरूपपरमात्मैव विवक्षितः। 'तस्याः शिखायाः मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः'। सकला च सा ह्री च सकल ह्री। इष्यते अत्यन्ताभीष्टत्वेन विरिञ्च्यादिचेतनवर्गैरिति ई। निरतिशयानन्दरूपाचितिः। व्यञ्जनलोपादिभिः सिद्धिः। तस्य प्रमितिरनुस्वाररूपेण लुप्ताकारेण मकारेण माधातुनिष्पन्नेन बोध्यते। तथा च स्वप्रकाशनिरतिशयानन्द स्वरूपब्रह्मात्मसाक्षात्कारजननीत्यर्थः। लक्षणया स्वप्रकाशप्रकाशपरमानन्दरूपिणीत्यपि। सकल ह्री शिवादिसर्वतत्त्वात्मिकाभिः कलाभिः चतुःषष्टिकलाभिश्च सहिता सृष्टिस्थितिसंहृतिकारिणी सर्वनियामिका सर्वेश्वरी निरतिशयानन्दरूपिणी राजराजेश्वरी श्रीमत्सिंहासनेश्वरी त्रिपुराम्बा विवक्षिता। अथवा ह्री च तत् ईंच ह्रीं। सकलञ्च तत्ह्रीञ्च सकल ह्रीं। सकलहृदाकाशवर्तिदीपशिखान्तर्गतनिरतिशयानन्दानुभवप्रकाशिका नादात्मिकाचिच्छक्तिः। अथवा म् इति नादानुकारि अव्ययम्। अनेन नादात्मकशुद्धचैतन्यरूपता उच्यते। अनेन मोक्षसाधननादलययोगानन्दानुभवः उक्तः। तस्मादेव शक्तिकूटत्वम्। चित्तनिरोधप्रधानत्वं वैश्योपास्यजगतीच्छन्दः सारत्वञ्च। सामवेदस्य। गानप्रधानत्वेन नादविलीनचित्तत्वाद् योगस्य सामवेदात्मकत्वम्।

मन्त्रार्थः—क ए ई ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीश्च सम्यक्कलयतीति कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

सर्वस्य मन्त्रस्यायमर्थः—शब्दार्थप्रकाशकवेदादिशास्त्राध्ययनस्मरण-प्रयोजकबुद्धिव्यापनलहरीयुक्तया स्वप्रकासंविदा अनिष्टनिवारणभोगभोग्या-दिप्राप्त्याधिक्यकीर्तिजालप्रयोगकगुणसन्ततिरचयित्री सर्वतत्त्वसर्वकला-धिष्ठात्री विश्वोत्पत्तिस्थितिसंहृतिजनकसर्वैश्वर्योपेतनिरतिशयानन्दानुभव-प्रकाशिका निरतिशयानन्दात्मकदहराकाशस्थपरमात्मस्वरूपिणी स्वप्रकाशा चिच्छक्तिः।

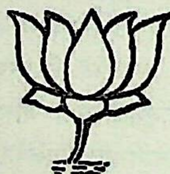
श्रयति-शक्तिरूपेण शिवमिति श्रीः। श्रीयते सर्वैर्गुणैरिति वा। श्रीयते सेव्यते परशिवेनापि या सा श्रीः। तां माति बोधयतीति। ह्रीं इति माया-बीजं हृल्लेखाया बोधकम्। क्लीं इति कामबीजं सर्वार्थप्रापकम्। ऐं इति वाग्भवबीजं सर्वार्थविद्योतकम्। सौरीति ब्रह्मविद्या स्वरूपिण्याः परायाः बोधकम्। प्रणवः वाच्यार्थलक्ष्यार्थभेदेन सगुणनिर्गुणवेदान्तवेद्यपरतत्त्व-बोधकम्। पुनश्च ह्रीं इति सर्वशक्तिसर्वाधिष्ठानब्रह्मबोधकम्। श्रीमिति सर्वैश्वर्यसर्वमाधुर्यतदधिष्ठानबोधकम्। प्रतिलोमक्रमेणेमान्येव बीजानि पञ्च-दश्याः परस्तात् सान्तिबीजैः सहितं कूटत्रयं षोडशी सम्पद्यते। सगुणार्थश्च कः पजापतिः, एकारो विष्णुः। तदुत्तरवर्तिनमकारं प्रश्लिष्य ईशस्तदर्थो ग्राह्यः। ईड्यते इति इड्। एतस्य ऋग्वेदात्मकत्वात् अज्द्वयमध्यगतस्य डकारस्य स्थाने ळकार आदेशः। 'अग्निमीळे पुरोहितमित्यादि'वत्। द्वयोश्चास्यस्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते स डकारो ळकार इति प्रातिशाख्यम्। ततएव द्वितीयतृतीयकूटयोर्यजुःसामात्मकत्वञ्च। यद्यपि कामो योनिः कमला वज्रपाणिरित्यत्र वज्रपाणिशब्देन लकार एवोद्धृतः तथापि डलयोरभेदा-भिप्रायेणादोषः। क्वचिच्चत्रिखण्डीगतास्त्रयोऽपि मोहार्णपदेन-लकारा एवोद्-धृताः। ह्रीं इति विशेष्यम्। नपुंसकं नाम ब्रह्मलक्षकम्। तेन विधिहरि-गिरिशैरीड्यं ब्रह्मेति प्रथमकूटार्थः। हसः हास्यम् अर्थं आदित्वादचि हसो हास्ययुक्तः को मुखं यस्य, अथवा हासस्यानन्दजन्यत्वात् आनन्दे हसपदस्य लक्षणा। कश्च हश्च कहौ चन्द्रौ सूर्यौ लौ नेत्रे यस्य तत् कहलम्। 'मुखे सूर्येऽपि कः स्मृतः' 'हः कोपे वरुणे चन्द्रे' 'इन्द्रे लोचने लः स्यात्' इत्ये-

काक्षरनिघण्टुः । हसकहलपदयोः कर्मधारयः । प्रकाशकत्वाच्चिद्रूपता । ततो हसद्वदन रवीन्दुनेत्रम् आनन्दचिद्रूपं वा विधिहरिगिरिशेड्यत्वे तेनामितानन्दं चिद्ब्रह्मेतिद्वितीयकूटार्थः । अतः प्रसन्नवदनं रवीन्दुनेत्रं आनन्दचिद्रूपं ब्रह्मातो विरिञ्च्यादिवन्द्यम् सकलकलाभिः सहितं सकलं ह्रीं ब्रह्मेति तृतीयकूटार्थः । गुणगणकथनाद्विद्यायाः सगुणार्थः ।

महावाक्यार्थः—विधिहरिशिवबोधकाः कए अ (प्रश्लिष्टाकारः) एते वर्णाः सृष्टिस्थितिभङ्गजनकदेवतावाचकत्वात् तल्लक्षकाः। नामैकदेशन्यायेन ईश्वरवाचीकारः सदाशिववाचको डकारः (लकारः) ताभ्यां तिरोधानानुग्रहौ लक्षितौ । एतेन 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतिषूक्तं ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणमिहोक्तम् । तेन सृष्टिस्थितिलयतिरोधानानुग्रहपञ्चकृत्यकारणं ब्रह्मेति प्रथमकूटार्थः । हस आनन्दः कं सत्यं हं अनन्तं लं ज्ञानं 'सखा कश्च वुधैःप्रोक्तः' इति कोशात् । सखिवाचकस्य ककारस्य सखित्वमाप्तत्वं यथार्थवक्तृत्वमिति रीत्या सत्यमर्थः । हकारस्य व्योमबीजत्वात्तस्यानन्तत्वादानन्त्यमर्थः । लोचनवाचित्वाल्लकारस्य ज्ञानमर्थः । एतेन स्वरूपलक्षणं ब्रह्मद्वितीयकूटार्थः । एवं ब्रह्म तटस्थस्वरूपलक्षणयुगेन निर्णीय तदभेदो जीवगणे तृतीयकूटेनोच्यते । सकलपदं जीवपरम् । शक्तिबीजं ब्रह्मपरम् । सामानाधिकरण्यात् लक्षिताशुद्धयोरभेदो बोध्यते । यथा 'तत्त्वमसीति' महावाक्ये तत्त्वंपदार्थयोरेकविभक्तिकत्वरूपसामानाधिकरण्याद् अभेदो बोध्यते स च वाच्यार्थयोरसम्भवात् भागत्यागलक्षणया लक्ष्यपदार्थयोरभेदो बोध्यते । तथैवात्र तत्पदवाच्यः सृष्ट्यादिकृत्यपञ्चकजनकः स एव यतो वा इमानीति श्रुत्युक्तः । लक्ष्यार्थस्तु सर्वकृत्यातीतं निर्विशेषं ब्रह्म । तदपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' ब्रह्मेत्यत्रोक्तम् । एवं त्वंपदवाच्यार्थो जाग्रदाद्यवस्थापञ्चकविशिष्टः । स च तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संल्यायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति तद्यथा महामत्स्य इत्यादिभिरुक्तः । लक्ष्यार्थस्तु अवस्थातीतं ब्रह्म तदपि योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः

इत्याद्युक्तम् । एवमवान्तरवाक्यैर्वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोर्निर्णये सति महावाक्ये लक्ष्यार्थयोरभेदबोधः । प्रकृते तृतीयकूटस्थसकलपदेन कलाभिरवस्थाभिः सहितः इत्यर्थकेन वाच्यार्थस्योक्तावपि लक्ष्यार्थानुक्तेर्न्यूनता भाति तथापि कूटद्वय-वृत्त्या त्वंपदस्य वाच्यार्थलक्ष्यार्थपरत्वेनादोषात् । तृतीयकूटेन सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति श्रुत्यर्थो वा बोध्यते । सर्वं जगत् देवीरूपमित्यर्थः । एवं वरिवस्यारहस्ययोगिनीहृदयस्वच्छन्दसंग्रहकामकलाविलासादिरीत्या पञ्चदश्याः षोडश्याश्च संक्षेपेणार्था उक्ता इति तेन ।

श्रीराजराजेश्वरी सुप्रीताऽस्तु श्रीकरपात्रस्वामिविरचिते ।
श्रीविद्यारत्नाकरे श्रीविद्यामन्त्रभाष्यं सम्पूर्णम् ।



अथ वाञ्छाकल्पलता

श्रीगुरुभ्यो नमः। श्रीगणेशाय नमः। श्रीक्षेत्रपालाय नमः। श्रीसरस्वत्यै नमः। श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्यै नमः। मूलमुच्चार्य। तालत्रयं कृत्वा। मूलेन प्राणायामत्रयं कृत्वा।

ॐ अस्य श्रीवाञ्छाकल्पलताविद्यागणेशस्य मनोर्नानासूक्तसमूहस्य, आनन्दभैरवगणकाङ्गिरसकश्यपवशिष्ठविश्वामित्रसंवनना ऋषयः, देवीगायत्रीनिचृद्गायत्रीपङ्क्त्यनुष्टुप्निचृत्त्रिष्टुब्जगत्यश्छन्दांसि, श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीमहागणपतिसम्वादाग्न्यमृतरुद्रा देवताः, श्रीं बीजम्, ह्रीं शक्तिः, क्लीं कीलकम्, मम श्रीमहागणपतिमहात्रिपुरसुन्दरीसम्वादाग्न्यमृतरुद्रप्रसादवाञ्छितार्थफलप्रसिद्धये वाञ्छाकल्पतोपस्थाने विनियोगः। इति सङ्कल्प्य।

आनन्दभैरवगणकाङ्गिरसकश्यपवशिष्ठविश्वामित्रसंवननऋषिभ्यो नमः शिरसि, देवीगायत्रीनिचृद्गायत्रीपंक्त्यनुष्टुप्निचृत्त्रिष्टुब्जगतीछन्देभ्यो नमः मुखे, महाश्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरी गणपतिसंवादाग्न्यमृतरुद्रदेवताभ्यो नमः हृदये, श्रीं बीजाय नमो नाभौ, ह्रीं शक्तये नमो गुह्ये, क्लीं कीलकायनमः आधारे, इति न्यस्य मूलेन व्यापकं चरेत्।

ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं क ए ई ल ह्रीं गणपतये हसकहलह्रीं वरवरद सकलह्रीं सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा। इति त्रिचत्वारिंशदर्णोमनुः।

ऐं क्लीं सौः श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी ११ ह्रीं सर्वज्ञायै ह्रां गां ब्रह्मात्मने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ऐं० ११ ह्रीं नित्यतृप्तायै ह्रीं गीं विष्ण्वात्मने तर्जनीभ्यां स्वाहा। ऐं० ११ ह्रीं अनादिबोधितायै ह्रूं गूं रुद्रात्मने मध्यमाभ्यां वषट्। ऐं० ११ ह्रीं स्वतन्त्रायै ह्रैं गैं ईश्वरात्मने अनामिकाभ्यां हुम्। ऐं० ११ ह्रीं नित्यमलुप्तायै ह्रौं गौं सदाशिवात्मने कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। ऐं० ११ ह्रीं अनन्तायै ह्रः गः सर्वात्मने करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासं विधाय पुनर्मूलेन त्रिर्व्याप्य ध्यायेत्। यथा—

हेमाद्रौ हेमपीठस्थितिममरगणैरीड्यमानां विराजत्—
पुष्पेष्विक्ष्वासिपाशाङ्कुशकरकमलां रक्तवेषातिरक्ताम् ।
दिक्षूद्यद्भिश्चतुर्भिर्मणिमयकलशैः पञ्चशक्त्यैकविद्याम्,
स्वस्थां क्लृप्ताभिषेकां भजत भगवतीं भूतिदामन्त्ययामे ॥१॥
बीजापूरगदेक्षुकार्मुकरुजा चक्राब्जपाशोत्पल—
श्रीह्यग्रस्वविषाणरत्नकलशप्रोद्यत्कराम्भोरुहः ।
ध्येयो वल्लभया सपद्मकरया, श्लिष्टो ज्वलद्भूषया,
विश्वोत्पत्तिविपत्तिसंस्थितिकरो विघ्नेश इष्टार्थदः ॥२॥
धवलनलिनराजच्चन्द्रमध्ये निषण्णम्, करधृतवरपाशं साभयं साङ्कुशञ्च ।
अमृतवपुषमिन्दुक्षीरवर्णं त्रिनेत्रम्, प्रणमत सुरवन्द्यं मङ्क्षु सम्वादयन्तम् ॥३॥
स्फुटितनलिनसंस्थं मौलिबद्धेन्दुरेखा गलदमृतरसार्द्रं चन्द्रवह्न्यर्कनेत्रम् ।
स्वकरकलितमुद्रावेदपाशाक्षमालम्, स्फटिकरजतमुक्तागौरमीशं नमामि ॥४॥

(मुद्रा ज्ञानमुद्रेत्यर्थः) ।

इति ध्यात्वा, मुद्रा प्रदर्श्य—

श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरी महागणपतिसम्वादाग्न्यमृतरुद्रेभ्यः लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि नमः इति अङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्याम् । श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीमहागणपतिसंवादाग्न्यमृतरुद्रेभ्यः हं आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि नमः इति तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्याम् । श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीमहागणपतिसंवादाग्न्यमृतरुद्रेभ्यः यं वाय्वात्मकं धूपं समर्पयामि नमः इति अङ्गुष्ठतर्जनीभ्याम् । श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरी महागणपतिसंदाग्न्यमृतरुद्रेभ्यः रं वह्न्यात्मकं दीपं समर्पयामि नमः इति अङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां । श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीमहागणपतिसंवादग्न्यमृतरुद्रेभ्यः वं अमृतात्मकं नैवेद्यं समर्पयामि नमः अङ्गुष्ठानामिकाभ्याम् । श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीमहागणपतिसंवादाग्न्यमृतरुद्रेभ्यः सं सर्वात्मकं सर्वोपचारं समर्पयामि नमः इति संहताभिः सर्वाङ्गुलीभिः दद्यात् । एवं मानसोपचारैः सम्पूज्य, गुरुदेवतात्मनामैक्यं भावयित्वा । रात्रौ अन्त्ययामे सूर्योदयात्पूर्वं शनैः शनैः जपेत् ।

(१) ॐ ऐं ह्रीं श्रीं "ई"

(२) ॐ ऐं ह्रीं श्रीं परोरजसे सावदोम्,

(३) ॐ ऐं ह्रीं श्रीं हसकल हसकहल सकलह्रीं, प्रत्येकं दशवारं जपित्वा,

ॐ ऐं श्रीं ह्रीं लं क्लीं ग्लौं गं गुगुरीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं ऐं क्लीं सौः २९। यदद्यकच्चवृत्रहन्नुदगा अभिसूर्यं सर्वं तदिन्द्र ते वशे २३। गं क्षिप्रप्रसादनाय गणपतये वर वरद आं ह्रीं क्रों सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा सौः क्लीं ऐं। ३६ ॥१॥

ॐ ऐं....सौः २९। तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् २३। गं....ऐं ३६ ॥२॥

ॐ ऐं....सौः २९। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव वन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ३२। गं....ऐं ३६ ॥३॥

ॐ ऐं....सौः २९। जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहादि वेदः। स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ४३। गं....ऐं ३६ ॥४॥

ॐ ऐं....सौः २९। समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ४४। गं....ऐं ३६ ॥५॥

ॐ ऐं....सौः २९। सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर ३०। गं....ऐं ३६ ॥३६॥

ॐऐं....सौः २९। समानो....जुहोषि ४४॥ गं....ऐं ३६ ॥७॥

ॐऐं....सौः २९। जात....त्यग्निः ४३॥ गं....ऐं ३६ ॥८॥

ॐऐं....सौः २९। त्र्यम्ब....मृतात् ३२॥ गं....ऐं ३६ ॥९॥

ॐऐं....सौः २२। तत्स....यात् २३॥ गं....ऐं ३६ ॥१०॥

ॐएं....सौः २९। यदद्य....वशे २३॥ गं....ऐं ३६ ॥११॥

ॐऐं....सौः २९। गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कविनामुपश्रवस्तमम्। ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीदसादनम् ४८॥ गं....ऐं ३६ ॥१२॥

ॐ भूः भद्रं नो अपिवातयः मनः। ॐ ह्रीं वं ठं अमृतरुद्राय आं ह्रीं क्रों प्रतिकूलं मे नश्यत्वनुकूलं मे वशमानय वशमानय स्वाहा ॥१३॥

दमयन्तीनलाभ्याञ्च नमस्कारं करोम्यहम्।
अविवादो भवेदत्र कलिदोषप्रशान्तिदः॥
ऐकमत्यं भवेदेषां ब्राह्मणानाम् पृथग्धियाम्।
निर्वैरिता च जायेत संवादाग्ने! प्रसीद मे॥

इति प्रथमः पर्यायः

ॐऐं""सौः २९। यदद्य""वशे २३॥ गं""ऐं ३६ ॥१॥
ॐऐं""सौः २९। तत्स""यात् २३॥ गं""ऐं ३६ ॥२॥
ॐऐं""सौः २९। त्र्यम्ब""मृतात् ३२॥ गं""ऐं ३६ ॥३॥
ॐऐं""सौः २९। जात""त्यग्नि ४३॥ गं""ऐं ३६ ॥४॥
ॐऐं""सौः २९। समा""होमि ४४॥ गं""ऐं ३६ ॥५॥

ॐऐं""सौः २९। संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ३२॥ गं""ऐं ३६ ॥६॥

ॐऐं""सौः २९। समा""होमि"" ४४॥ गं""ऐं ३६ ॥७॥
ॐऐं""सौः २९। जात""त्यग्नि"" ४३॥ गं""ऐं ३६ ॥८॥
ॐऐं....सौः २९। त्र्यम्ब....मृत्तात् ३२॥ गं....ऐं ३६ ॥९॥
ॐऐं....सौः २९। तत्स....यात् २३॥ गं....ऐं ३६ ॥१०॥
ॐऐं....सौः २९। यद्यश वशे २३॥ गं....ऐं ३६ ॥११॥

ॐऐं....सीः २९। अग्गेमन्युं प्रतिनुदन् परेषामदब्धो गोपाः परिपाहि नस्त्वम्। प्रत्यञ्चो यन्तु निगुतः पुनस्ते मैषां चित्तं प्रवुधां विनेशत् ४३॥ गं....ऐं ३६ ॥१२॥

ॐ भुवः मरुतामोजसे स्वाहा॥ १३॥ ॐ ह्रीं वं ठं अमृतरुद्राय आं ह्रीं क्रों प्रतिकूलं मे नश्यत्वनुकूलं मे वशमानय वशमानय स्वाहा॥

दमयन्तीनलाभ्यां च नमस्कारं करोम्यहम् ।
अविवादो भवेदत्र कलिदोषप्रशान्तिदः ॥
ऐकमत्यं भवेदेषां ब्राह्मणानां पृथग्धियाम् ।
निर्वैरिता च जायेत संवादाग्ने ! प्रसीद मे ॥

इति द्वितीयः पर्यायः

ॐऐं....सौः २९ । यदद्य....वशे २३ ॥ गं....ऐं ३६ ॥१॥
ॐऐं....सौः २९ । तत्स....यात् २३ ॥ गं....ऐं ३६ ॥२॥
ॐऐं....सौः २९ । त्र्यम्ब....मृतात् ३२ ॥ गं....ऐं ३६ ॥३॥
ॐऐं....सौः २९ । जातः....त्यग्निः ४३ ॥ गं....ऐं ३६ ॥४॥
ॐऐं....सौः २९ । समा....होमि ४४ ॥ गं....ऐं ३६ ॥५॥
ॐऐं....सौः २९ । समा....होमि ४४ ॥ गं....ऐं ३६ ॥६॥
ॐऐं....सौः २९ । समा....होमि ४४ ॥ गं....ऐं ३६ ॥७॥
ॐऐं....सौः २९ । जातः....त्यग्नि ४३ ॥ गं....ऐं ३६ ॥८॥
ॐऐं....सौः २९ । त्र्यम्ब....मृतात् ३२ ॥ गं....ऐं ३६ ॥९॥
ॐऐं....सौः २९ । तत्स....यात् २३ ॥ गं....ऐं ३६ ॥१०॥
ॐऐं....सौः २९ । यदद्य....वशे २३ ॥ गं....ऐं ३६ ॥११॥

ॐऐं....सौः २९ । यो मामग्ने भागिनं सन्तमथाभागं चिकीर्षति । अभागमग्ने तं कुरु मामग्ने भागिनं कुरु स्वाहा ३६ ॥ गं....ऐं ३६ ॥१२॥

ॐ स्वः इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥१३॥ ॐ ह्रीं वं ठं अमृतरुद्राय आं ह्रीं क्रों प्रतिकूलं मे नश्यत्वनुकूलं मे वशमानय वशमानय स्वाहा ।

दमयन्तीनलाभ्याञ्च नमस्कारं करोम्यहम् ।
अविवादो भवेदत्र कलिदोषप्रशान्तिदः ॥
ऐकमत्यं भवेदेषां ब्राह्मणानां पृथग्धियाम् ।
निर्वैरिता च जायेत संवादाग्ने प्रसीद मे ॥

इति तृतीयः पर्यायः

ॐऐं....सौः २९। यदद्य....वशे २३॥ गं....ऐं ३६ ॥१॥
ॐऐं....सौः २९। तत्स....यात् २३॥ गं....ऐं ३६ ॥२॥
ॐऐं....सौः २९। त्र्यम्ब....मृतात् ३२॥ गं....ऐं ३६ ॥३॥
ॐऐं....सौः २९। जात....त्यग्नि ४३॥ गं....ऐं ३६ ॥४॥
ॐऐं....सौः २९। समा....होमि ४४॥ गं....ऐं ३६ ॥५॥
ॐऐं....सौः २९। समानी व आकूति समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ३१॥ गं....ऐं ३६ ॥६॥
ॐऐं....सौः २९। समा....होमि ४४॥ गं....ऐं ३६ ॥७॥
ॐऐं....सौः २९। जात....त्यग्निः ४३॥ गं....ऐं ३६ ॥८॥
ॐऐं....सौः २९। त्र्यम्ब....मृतात् ३२॥ गं....ऐं ३६ ॥९॥
ॐऐं....सौः २९। तत्स....यात् २३॥ गं....ऐं ३६ ॥१०॥
ॐऐं....सौः २९। यदद्य....वशे २३॥ गं....ऐं ३६ ॥११॥

ॐऐं....सौः २९। अजैष्माद्यासनाम चा भूमा नागसो वयम् जाग्रत्स्वप्नः सङ्कल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु ४०॥ गं....ऐं ३६ ॥१२॥

ॐ भूर्भुवः स्वः शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१३॥ ॐ ह्रीं वं ठं अमृतरुद्राय आं ह्रीं क्रों प्रतिकूलं मे नश्यत्वनुकूलं मे वशमानय वशमानय स्वाहा।

दमयन्तीनलाभ्याञ्च नमस्कारं करोम्यहम्।
अविवादो भवेदत्र कलिदोषप्रशान्तिदः॥
ऐकमत्यं भवेदेषां ब्राह्मणानां पृथग्धियाम्।
निर्वैरिता च जायेत संवादग्ने प्रसीद मे॥

इति चतुर्थः पर्यायः

इति जपित्वा,

गुह्यातिगुह्यगोप्त्रीत्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु देवेशि, त्वत्प्रसादान्महेश्वरि॥

इति जपं निवेदयेत्॥

एवं प्रत्यहं निशान्ते चतुर्वारं पठेत् ॥ सर्वैश्वर्यं भवति ॥ सर्ववेदान्त-फलमश्नुते । इति शम् ॥

॥ इतिवाञ्छाकल्पलताप्रयोगः समाप्तः ॥

अथ श्रीवाञ्छाकल्पलता—विधानम्

प्रजपेदिष्टसिद्ध्यर्थं विद्याग्रहणसंयुतः ।
तद्भवेद् वेदिकामन्त्रः भेदेनेत्यर्थविद्यया ॥
अष्टवारं जपेन्नित्यं सर्वाभीष्टमवाप्नुयात् ।
जपेत् षोडशसाहस्रं तर्पणाहुतियोगतः ॥२॥
श्रीविद्यायास्तु साधर्म्यं साधयेत्साधितो मनुः ।
पुरश्चर्याविधानेन साधकः सर्वदा जपेत् ॥३॥
तत्सर्वं लभते नित्यं वाञ्छाकल्पलतामनोः ।
इत्येतत्कथितं गुह्यं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥४॥
जपेत्षोडशसाहस्रं षट्साहस्रमथापि वा ।
पायसेन हुनेद्देवि नारिकेलफलैस्तिलैः ॥५॥
असाध्यं साधयेल्लोके अवश्यं वशमाप्नुयात् ।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥६॥

(इतिकुमारसंहितायाम्)

(तन्त्रान्तरे)

वाञ्छाकल्पलतायास्तु न होमो न च तर्पणम् ।
स्मरणादेव सिद्धिःस्यात् यदिच्छति हि तद्भवेत् ॥१॥
एकावृत्त्या वशे लक्ष्मीः पञ्चावृत्त्या वशं जगत् ।
दशावृत्त्या तथा विष्णुरुद्रशक्तिर्भवेदिह ॥२॥
सार्वभौमः शतावृत्त्या भवत्येव न संशयः ।

(प्रयोगपारिजातात्)

आवर्तनत्रयाल्लक्ष्मीः पञ्चावृत्त्या वशं जगत् ।
दशावृत्त्या शिवादीनाम् देवानां शक्तिभाग्भवेत् ॥१॥
लक्षावृत्त्या सार्वभौमः दरिद्रोऽपि न संशयः ।
नार्थवादोऽथर्वणस्य वसिष्ठवचनं यथा ॥२॥
एतज्जपस्य कालस्तु रात्रौ यामत्रयावधि ।
रात्रेश्चतुर्थप्रहरात् तथा सूर्योदयावधि ॥३॥

दैवात् प्रमादाद्वा एकस्मिन् दिने जपलोपे सति अनशनेन वाञ्छाकल्पलतामन्त्रस्य अष्टोत्तरशतावृत्तिपाठाः कर्तव्याः ।

इति शम्

पूर्णाभिषेकविधानम्

अथ श्रीविद्यार्णवादिरीत्या पूर्णाभिषेकः

विरच्य विपुलं चक्रं मण्डपेऽतिमनोरमे ।
खारीतोयभृतं कुम्भं स्थापयेच्चक्रमध्यतः ॥
अन्येषु कलशानन्यान् रत्नवस्त्रसमन्वितान् ।
दलेषु विधिवत्स्थाप्य तत्राऽऽवाह्येष्टदेवताम् ॥
अभ्यर्च्य मध्ये चान्येषु साङ्गावरणदेवताः ।
शिष्यस्य जन्मनक्षत्रे प्राग्वत्तैरभिषेचयेत् ॥

विहितकालेषु प्रातःस्नातः कृतनित्यक्रियः समलङ्कृतः पञ्चवाद्यघोष-पुरःसरं ब्राह्मणैः कृतस्वस्त्ययनो गुरुगृहं गत्वा प्रणम्य मधुपर्कादिनाऽभ्यर्च्य धौतोत्तरीयप्रच्छस्वर्णाङ्गुलियादिभूषणयज्ञोपवीतहरादिशय्यादिसम्पन्नां वर-णसामग्रीं निधाय पुरतो देशकालाद्युच्चार्य्यामुकोऽहं गुरुत्वेन त्वां वृणे इति गुरुं वृणुयात् । गुरुश्च वृतोऽस्मीति प्रतिवचनं दद्यात् । ततश्च स्वेष्टोपासकान् ऋत्विजो वृणुयात् तैः सार्द्धं भूतोत्सादनादिपूर्वकं चन्दनसर्षपदूर्वाभस्माक्ष-तलाजान् अस्त्रमन्त्रेण सप्तधाभिमन्त्रितान् मण्डपान्तर्विकीर्य्य अस्त्रमन्त्रेण कुशमुष्टिना सम्मार्ज्य पुण्याहवाचनं ब्राह्मणैः कारयित्वा सर्वतोभद्रमण्डला-दिकं कारयेत् ।

सप्तविंशतिभिः कुशैरेकीकृताग्रविरचितब्रह्मग्रन्थिकं कूर्चं निधाय श्रीचक्रं विपुलसिन्दूरादिभिर्निर्माय तत्र मध्ये वक्ष्यमाणविधिना शालिपुञ्जोपरि वह्निमण्डलं वह्निकलाश्च सम्पूज्य स्वर्णादिनिर्मितं त्रिगुणीकृतसूत्रवेष्टित-सर्वाङ्गं चन्दनागुरुकर्पूरधूपधूपितं मुख्यं कुम्भं प्रणवमुच्चरन् संस्थाप्य तत्रैवाष्टदलेषु रत्नवस्त्रसमन्वितानन्यान्कलशान् पूर्वादिदिक्षु चतुरः कलशान्-स्थापयेत् साङ्गावरणदेवतासङ्ख्याकान्वा कलशान्स्थापयेत् । सर्वतोभद्र-मण्डलोपरि वा षडस्रचतुरस्रेषु तदितरान् स्थापयेत् ।

तत्राऽष्टगन्धचूर्णं नवरत्ननिरूप्तमृत्तिकागङ्गादिसप्ततीर्थजलमेकपञ्चाशदक्षरौषधक्वाथञ्च निःक्षिपेत् अश्वत्थन्यग्रोधप्लक्षाशोकोदुम्बराम्रपल्लवान् कल्पलताबुद्धया निधाय नारिकेलफलानि चोपरि विन्यसेत् ।

तत्राष्टगन्धवस्तूनि यथा :—

'चन्दनागुरुकर्पूरकाश्मीरै रोचनान्वितैः । ससिह्लकं जटामांसी सटीभिः शक्तिसम्भवम् । गन्धाष्टकं शुभं वश्यं शक्तिमन्त्रेषु योजयेत् ।

काश्मीरं—कुङ्कुमम् । सिह्लकं-शिलारसः । सटी-कचोरः ।

"ह्लीबेरं चन्दनं कुष्ठमगरुं कुङ्कुमं मुरम् ।
सेव्यकं च जटामांसी वैष्णवं तदुदीरित्तम् ।"

ह्लीबेरं—वालकम् । सेव्यकमुशीरम् । मुरं-मोहरीति प्रसिद्धम् ।

मुरागन्धवती दैत्या गन्धाढ्या गन्धमादिनी ।
सुरभिर्भूतगन्धा च कुठी गन्धकुठी स्मृता ।
मुरा-एकाङ्गी छर्व्यु इति लोके प्रसिद्धा ।

'जलकाश्मीरकुष्ठैस्तु रक्तचन्दनचन्दनैः ।
तमालागरुकर्पूरैः शाम्भवं चाष्टगन्धकम् ॥'

जल-वालकम् ।

गन्धाष्टकस्य संयोगात्सामर्थ्याद्देशिकस्य च ।
सशक्तिकं जलं कुम्भे भवेदेव न संशयः ॥

(श्रीविद्यार्णवतन्त्र २९६)

मन्त्रवर्णौषधिनिर्मितमन्त्रवर्णसमह्वयाकानां गुटिकानां धारणं तद्भक्षणं विलेपनम् । ताभिः पूजा । तत्क्वाथजलैः स्नानं तद्भस्मधारणं कुर्यात्तेन मन्त्रसिद्धिः । प्रपञ्चसारे ३५।५२ श्लोकः ।

एकपञ्चाशताक्षरौषधयश्च—

चन्दनं रक्तचन्दनं अगरु-कर्पूर, उशीर-कुष्ठ-वाल कुङ्कुम-केशर-कंकोल जातीफल-जटामांसी-मुरा-चोरग्रन्थि गोरोचना-पत्रा-पिप्पल-बिल्व-पृश्निपर्णी-चित्रक-लवङ्ग-कत्तृण-कट्फल वन्द्रि-उदुम्बर-पाषाणभेद-पद्म शंखपुष्पी-

रोहिण-स्योनाक-बृहती-पाटल-मूषकपर्णी-तुलसी-अपामार्ग-इन्द्रवल्ली-भृङ्ग-राज-अपराजिता-तालमूली-कृताञ्जलि-दूर्वा-श्रीदेवी-कुमारी-भारङ्गी-भद्र-मुस्ता, इत्येकपञ्चाशदोषधयः क्रमादकारादि क्षकारैकपञ्चाशदक्षरवर्णानाम् ।

चन्दनकुचन्दनागरुकर्पूरोशीररोगजलघुसृणाः ।
कक्कोलजातिमांसी मुराचोरग्रन्थिरोचनापत्राः ॥
पिप्पलबिल्व गुहारुणतृणका लवङ्गाह्वकुम्भिवन्दिनः ।
सोदुम्बर कश्मीरिकास्थिराब्ज दरपुष्पिका मयूरशिखा ॥२॥
प्लाक्षाग्निमन्थसिंही कुशाह्वदर्भाश्च कृष्णदरपुष्पी ।
रोहिण-टुण्डुक-बृहती-पाटल-चित्रा-तुलस्यपामार्गाः ॥३॥
शतमूलिलता द्विरेफा विष्णुक्रान्ता मुषल्यथाञ्जली ।
दूर्वाश्रीदेवीसहे तथैव लक्ष्मी सदाभद्रे ॥४॥
आदीनामितिकथिता वर्णानां क्रमवशादथौषधयः ।
गुटिका कषायभसितप्रभेदतो निखिलसिद्धिविधायिन्यः ।

(श्रीविद्यार्णवे षोडशे श्वासे ४०८)

तत्र देवता आवाह्य वक्ष्यमाणप्रकारेण षोडशोपचारैः साङ्गावरणं तत्तत्कल्पोक्तविधिना सम्पूज्य वेधादक्षिणभागे हस्तमात्रायामविस्तारमङ्गुष्ठ-पर्वमात्रोच्चं बालुकाभिः समचतुरस्रं स्थण्डिलं कृत्वा वक्ष्यमाणनित्यहोमप्रोक्त-विधिना वह्निं संस्थाप्य चरुं श्रपयित्वा तत्र देवतामावाह्य सम्पूज्य, नित्य-होमोक्तविधिना साज्येन तेन चरुद्रव्येण हुत्वा पुनर्देवं सम्पूज्य कुम्भस्थमूर्तौ संयोज्य तथैव वह्निं सम्पूज्य विसृज्य वक्ष्यमाणविधिना सर्वभूतबलिं तत्त-त्कल्पोक्तबलिदानं च विधाय प्राणायामत्रयऋष्यादिकरण-षडङ्गन्यासपूर्वकं मूलमन्त्रमष्टोत्तरसहस्रं जपित्वा देवाय वक्ष्यमाणविधिना जपं समर्प्य, पूर्वं-मण्डपस्येशानकोणे स्थापितविकिरपुञ्जोपरि सुवर्णगर्भवस्त्रयुग्मवेष्टितं जल-पूरितं करकं विन्यस्य, तत्रास्त्रदेवतां सिंहरूपां दक्षवामकरयोः खड्गखेटक-धारिणीं घोररूपां पश्चिमाभिमुखां ध्यात्वा, तिष्ठन् गन्धादिपञ्चोपचारैः

तत्राऽष्टगन्धचूर्णं नवरत्ननिरूसमृत्तिकागङ्गादिसप्ततीर्थंजलमेकपञ्चाशदक्षरौषधक्वाथञ्च निःक्षिपेत् अश्वत्थन्यग्रोधप्लक्षाशोकोदुम्बराम्रपल्लवान् कल्पलताबुद्ध्या निधाय नारिकेलफलानि चोपरि विन्यसेत् ।

तत्राष्टगन्धवस्तूनि यथा :—

'चन्दनागुरुकर्पूरकाश्मीरै रोचनान्वितैः । ससिह्लकं जटामांसी सटीभिः शक्तिसम्भवम् । गन्धाष्टकं शुभं वश्यं शक्तिमन्त्रेषु योजयेत् ।

काश्मीरं—कुङ्कुमम् । सिह्लकं-शिलारसः । सटी-कचोरः ।

"ह्रीबेरं चन्दनं कुष्ठमगरुं कुङ्कुमं मुरम् ।
सेव्यकं च जटामांसी वैष्णवं तदुदीरित्तम् ।"

ह्रीबेरं—वालकम् । सेव्यकमुशीरम् । मुरं-मोहरीति प्रसिद्धम् ।

मुरागन्धवती दैत्या गन्धाढ्या गन्धमादिनी ।
सुरभिर्भूतगन्धा च कुठी गन्धकुठी स्मृता ।
मुरा-एकाङ्गी छर्व्यु इति लोके प्रसिद्धा ।

'जलकाश्मीरकुष्ठैस्तु रक्तचन्दनचन्दनैः ।
तमालागरुकर्पूरैः शाम्भवं चाष्टगन्धकम् ॥'

जल-वालकम् ।

गन्धाष्टकस्य संयोगात्सामर्थ्याद्देशिकस्य च ।
सशक्तिकं जलं कुम्भे भवेदेव न संशयः ॥

(श्रीविद्यार्णवतन्त्र २९६)

मन्त्रवर्णौषधिनिर्मितमन्त्रवर्णसमङ्ख्याकानां गुटिकानां धारणं तद्भक्षणं विलेपनम् । ताभिः पूजा । तत्क्वाथजलैः स्नानं तद्भस्मधारणं कुर्यात्तेन मन्त्रसिद्धिः । प्रपञ्चसारे ३५।५२ श्लोकः ।

एकपञ्चाशताक्षरौषधयश्च—

चन्दनं रक्तचन्दनं अगरु-कर्पूर, उशीर-कुष्ठ-वाल कुङ्कुम-केशर-कंकोल जातीफल-जटामांसी-मुरा-चोरग्रन्थि गोरोचना-पत्रा-पिप्पल-बिल्व-पृश्निपर्णी-चित्रक-लवङ्ग-कत्तृण-कट्फल वन्द्रि-उदुम्बर-पाषाणभेद-पद्म शंखपुष्पी-

रोहिण-स्योनाक-बृहती-पाटल-मूषकपर्णी-तुलसी-अपामार्ग-इन्द्रवल्ली-भृङ्ग-राज-अपराजिता-तालमूली-कृताञ्जलि-दूर्वा-श्रीदेवी-कुमारी-भारङ्गी-भद्र-मुस्ता, इत्येकपञ्चाशदोषधयः क्रमादकारादि क्षकारैकपञ्चाशदक्षरवर्णानाम् ।

चन्दनकुचन्दनागरुकर्पूरोशीररोगजलघुसृणाः ।
कक्कोलजातिमांसी मुराचोरग्रन्थिरोचनापत्राः ॥
पिप्पलबिल्व गुहारुणतृणका लवङ्गाह्वकुम्भिवन्दिनः ।
सोदुम्बर कश्मीरिकास्थिराब्ज दरपुष्पिका मयूरशिखा ॥२॥
प्लाक्षाग्निमन्थसिंही कुशाह्वदर्भाश्च कृष्णदरपुष्पी ।
रोहिण-टुण्डुक-बृहती-पाटल-चित्रा-तुलस्यपामार्गाः ॥३॥
शतमूलिलता द्विरेफा विष्णुक्रान्ता मुषल्यथाञ्जली ।
दूर्वाश्रीदेवीसहे तथैव लक्ष्मी सदाभद्रे ॥४॥
आदीनामितिकथिता वर्णानां क्रमवशादथौषधयः ।
गुटिका कषायभसितप्रभेदतो निखिलसिद्धिविधायिन्यः ।

(श्रीविद्यार्णवे षोडशे श्वासे ४०८)

तत्र देवता आवाह्य वक्ष्यमाणप्रकारेण षोडशोपचारैः साङ्गावरणं तत्तत्कल्पोक्तविधिना सम्पूज्य वेधादक्षिणभागे हस्तमात्रायामविस्तारमङ्गुष्ठ-पर्वमात्रोच्चं वालुकाभिः समचतुरस्रं स्थण्डिलं कृत्वा वक्ष्यमाणनित्यहोमप्रोक्त-विधिना वह्निं संस्थाप्य चरुं श्रपयित्वा तत्र देवतामावाह्य सम्पूज्य, नित्य-होमोक्तविधिना साज्येन तेन चरुद्रव्येण हुत्वा पुनर्देवं सम्पूज्य कुम्भस्थमूर्तौ संयोज्य तथैव वह्निं सम्पूज्य विसृज्य वक्ष्यमाणविधिना सर्वभूतबलिं तत्त-त्कल्पोक्तबलिदानं च विधाय प्राणायामत्रयऋष्यादिकरण-षडङ्गन्यासपूर्वकं मूलमन्त्रमष्टोत्तरसहस्रं जपित्वा देवाय वक्ष्यमाणविधिना जपं समर्प्य, पूर्व-मण्डपस्येशानकोणे स्थापितविकिरपुञ्जोपरि सुवर्णगर्भवस्त्रयुग्मवेष्टितं जल-पूरितं करकं विन्यस्य, तत्रास्त्रदेवतां सिंहरूपां दक्षवामकरयोः खड्गखेटक-धारिणीं घोररूपां पश्चिमाभिमुखां ध्यात्वा, तिष्ठन् गन्धादिपञ्चोपचारैः

सम्पूज्य, नमस्कृत्य, तं करकं कराभ्यामुद्धृत्य मण्डपाभ्यन्तरे प्रदक्षिणं भ्रमन् करकं स्वस्थाने निवेश्योपविश्यास्त्रमन्त्रेण पुनस्तामस्त्रदेवतां पञ्चोपचारैः सम्पूज्य, ततः प्राक्कृतेषु कुण्डेषु इन्द्रेशानयोर्मध्यगताचार्यकुण्डे गुरुरग्निस्थापनं कुर्यात् ।

मण्डपनिर्माणं प्राचीसाधनं द्वारशाखानिर्माणं कुण्डनिर्माणञ्च कुण्डसंस्कारः, प्राणानायम्य ऋष्यादिन्यासान् विधाय देवतां ध्यात्वा मानसोपचारैरभ्यर्च्य कुण्डं मूलमन्त्रेण वीक्ष्यास्त्रमन्त्रेण प्रोक्ष्यास्त्रेणैव कुशैस्त्रिः सन्ताड्य कवचेनाभ्युक्ष्यास्त्रेण कुण्डमध्ये किञ्चित्खात्वाऽस्त्रमन्त्रेण तां मृदमङ्गुष्ठानामिकाभ्यामुद्धृत्य बहिस्त्यक्त्वा व्याहृतिमन्त्रेण शुद्धमृत्तिकया खातमापूर्य्य समीकृत्य कवचमन्त्रेण जलैः संसिच्यास्त्रमन्त्रेण काष्ठादिना कुट्टयित्वा दृढ़ीकृत्य, कवचमन्त्रेण कुशैः कुण्डं सम्मार्ज्य कवचेनैव गोमयाद्भिः संल्लिप्य, कवचेनैवाग्निसूर्यसोमानामष्टात्रिंशत्कलारूपं सञ्चिन्त्य, कवचेनैव मेखलात्रयेऽपि त्रिगुणीकृतसूत्रेण प्रतिमेखलं त्रिस्त्रिः समवेष्ट्य, "ॐ अमुककुण्डाय एतदासनं नमः" इत्याद्यासनादिदीपान्तैरुपचारैः प्रथमचतुरस्रादि तत्तत्कुण्डनाम्ना चतुर्थीनमोऽन्तेन सम्पूज्य; तथैव नाभिं च सम्पूज्य मेखलात्रयं तथैव हृन्मन्त्रेण सम्पूज्यास्त्रमन्त्रेण कुण्डं वज्रवद् दृढं सञ्चिन्त्य, हृन्मन्त्रेण कुशैः कुण्डस्य चतुर्दिक्षु वह्निज्वालाविलासाय चतुष्पथं मार्गचतुष्टयं परिकल्प्य; कवचमन्त्रेणाच्छिन्नाग्रैः कुशैरस्त्रमन्त्राभिमन्त्रितैः कुण्डभित्तिगणं सर्वमाच्छादयन् अक्षपाटनं कुर्यात्, इत्यष्टादश संस्काराः। अशक्तौ प्रथमोदितैश्चतुर्भिरेव संस्कारैः कुण्डं संस्कृत्य, तत्रहृन्मन्त्रेणास्त्रमन्त्रेण वा दक्षिणमध्योत्तरेणु प्रागग्राः पश्चिममध्यपूर्वेषूदगग्राः इति तिस्रस्तिस्रोरेखाः कुशमूलेन विलिख्य प्रणवेनाभ्युक्ष्य, प्रागग्रासु रेखासु दक्षिणरेखायां विष्णवे नमः। मध्यरेखायां रुद्राय नमः। उत्तरस्यां इन्द्राय नमः। उदगग्रासु रेखासु पश्चिमस्यां ब्रह्मणे नमः। मध्यमायां सूर्याय नमः। पूर्वरेखायां सोमाय नमः इति सम्पूज्य तत्र वक्ष्यमाणयोगपीठक्रमेण मण्डूकादि परतत्त्वान्तं योगपीठं सम्पूज्य, तत्र पद्मकेसरेषु त्वाग्रादि प्राद-

क्षिण्येन मध्यान्तं ॐ जयायै नमः। एवं विजयायै नमः। अजितायै नमः। अपराजितायै नमः। नित्यायै नमः। विलासिन्यै नमः। दोग्ध्र्यै नमः। अघोरायै नमः। मङ्गलायै नमः इति सम्पूज्य "ह्रीं सर्वशक्तिकमलासनाय नमः" इति मध्ये पुष्पाञ्जलिं निक्षिप्य, तत्र भुवनेश्वरीं तत्तन्मन्त्रेणावाह्या-वहनादिपरमीकरणान्तं तत्तन्मुद्रया विधायासनादिषोडशोपचारैराराध्य, तत्र श्रीशिवं ध्यात्वा मूलमन्त्रेण तथैव सम्पूज्य, देवीमृतुस्नातां देवञ्च कामोन्मत्तं विचिन्त्य स्वर्णादिपात्रेण मृत्पात्रं चेत् नूतनेन सूर्यकान्तादिभव-मरणिभवं श्रोत्रियगृहाद्वानीतमग्निमस्त्रमन्त्रेण पात्रे कृत्वा कवचमन्त्रेण सजातीयेन पात्रान्तरेण पिधाय, कन्यया सुवासिन्या वा समानीतं गुरु-रादायास्त्रमन्त्रेणैकमङ्गारं तन्मध्यात् क्रव्यादांशं नैर्ऋतकोणे परित्यज्य, देवांशं मूलेन वीक्ष्यास्त्रेण प्रोक्ष्यास्त्रेण कुशैः सन्ताड्य कवचेनाभ्युक्ष्य तत्र स्वमूलाधारस्थवह्निमण्डलगतपरमात्मस्वरूपाग्नीसोमात्मकाद्बिन्दोःसकाशाद् वह्निं, मणिपूरगतजाठरानलेन सह सुषुम्नामार्गेण वह्न्नासापुटाध्वना निष्कास्य, रमितिवह्निबीजमुच्चरन् पुरतः पात्रस्थिते वह्नौ वह्निचैतन्यं संयोज्य औदर्यवैन्दवपार्थिववह्नीनामैक्यं विभावयन्, प्रणवेनाऽभिमन्त्र्य वमिति धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्याऽस्त्रमन्त्रेण संरक्ष्य कवचेनावगुण्ठ्य "ॐ रं वह्नये नमः" इति गन्धादिभिः सम्पूज्य जानुभ्यामवनिं गतस्तत्पात्रं कराभ्यामादाय कुण्डोपरित्रिःप्रदक्षिणं परिभ्राम्य, देव्या योनौ शिववीजमिति ध्यायन् स्वाभिमुखं कुण्डमध्ये प्रणवमुच्चरन् तमग्निं निक्षिप्य, मैथुनधिया देव-देव्योराचमनं दत्त्वा "ॐ चित्पिङ्गल हन हन पच पच दह दह सर्वाऽज्ञाज्ञापय स्वाहा" इति मन्त्रमुच्चरन् मुखेन फुत्कृत्य कुशैरग्निं प्रज्वाल्य काष्ठैः पट्कृत्य कृताञ्जलिस्तिष्ठन् "ॐ अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्। सुवर्ण-वर्णममलं समिद्धं सर्वतोमुखम्।" इति ज्वलन्तं वह्निमुपस्थाय वक्ष्यमाणवह्नि-मन्त्रेण प्राणायामत्रयं कृत्वा, शिरसि भृगुऋषये नमः। मुखे गायत्रीछन्दसे नमः। हृदये अग्नये देवतायै नमः। गुह्ये रं बीजाय नमः। पादयो स्वाहा शक्तये नमः, इति विन्यस्य दीक्षाङ्गहोमे विनियोग इति कृताञ्जलिर्वदेत्।

लिङ्गे सरयूं हिरण्यायै नमः। गुदे षरयूं कनकायै नमः। शिरसि शरयूं रक्तायै नमः। मुखे वरयूं कृष्णायै नमः। नासिकायां लरयूं सुप्रभायै नमः। नेत्रयो ररयूं रक्तायै नमः। सर्वाङ्गे यरयं वहुरूपायै नमः। इतिसप्तजिह्वा विन्यस्य, ॐ सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः। स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा। उत्तिष्ठपुरुषाय शिखायै वषट्। धूमव्यापिने कवचाय हुं। सप्तजिह्वाय नेत्र-त्रयाय वौषट्। धनुर्धरायास्त्राय फट् ।इतिषडङ्गानि विन्यस्य शिरसि अग्नये जातवेदसे नमः। वामांसे अग्नये सप्तजिह्वाय नमः। वामपार्श्वे अग्नये हव्यवाहनाय नमः। वामकट्यां अग्नये अश्वोदराय नमः। लिङ्गे-अग्नये वैश्वानराय नमः। दक्षकट्यां अग्नये कौमारतेजसे नमः। दक्षपार्श्वे अग्नये विश्वमुखाय नमः। दक्षांसे अग्नये देवमुखाय नमः। इतिमूर्तीर्विन्यस्य-वह्निरूपं स्वात्मानं ध्यात्वा सप्तजिह्वामुद्रां प्रदर्श्य, कुण्डस्योत्तरभागे कुशान्तरे स्रुक्स्रुवौ प्रोक्षणीपात्रे आज्यस्थाली चरुस्थाली, परिधित्रयं समित्पञ्चात्मकमिध्मं लूनमूलसाग्रकुशमुष्टिरितिपात्राण्यधोमुखानि संस्थाप्य, अन्यान्यपि दध्यक्षतादि वलिद्रव्याणि गन्धपुष्पादिपूजाद्रव्याणि च यथायथं संस्थाप्याधोमुखानि स्रुक्स्रुवादीनि सपवित्राधोमुखहस्तसेकरूपावेक्षणपूर्वक-मुत्तानीकृत्य, प्रणीतापात्रं प्रक्षाल्य स्वपुरतः कुशान्तरे निधाय शुद्धजलैरा-पूर्य तत्र गन्धाक्षतान् निक्षिप्य, प्रादेशमात्रं साग्रं कुशद्वयं मध्ये ब्रह्मग्रन्थियुतं जलाग्रे उत्तराग्रं पवित्रं निधाय करद्वयानामिकाङ्गुष्ठाभ्यां पवित्रं मूलाग्रे विधृत्यास्त्रमन्त्रमुच्चरन् पवित्रमध्येन जलं पात्राद्वहिस्त्रिवारं भूमौ निक्षिपेत् इत्युत्पवनं विधाय तन्मध्ये किञ्चिद्घृतं निक्षिप्य तत्पात्रं कराभ्यामामस्तक-मुद्धृत्य कुण्डस्योत्तरभागे कुशास्तरे निधाय तदुपरि प्रागग्रान् दर्भान् निक्षि-पेत्, इति प्रणीतापात्रं संस्थाप्य, प्रोक्षणीपात्रं प्रक्षाल्य शुद्धजलैरापूर्य तन्मध्ये प्रणीतापात्रजलं पात्रान्तरेणोद्धृत्य किञ्चिद् दत्त्वा, तेन जलेन मूलमन्त्रेण सर्वाणि पात्राणि होमद्रव्याणि पूजाद्रव्याणि च प्रोक्षयेत्, इति द्रव्यासादनं विधाय, प्रोक्षणीजलेनाग्निं परिषिच्य गर्भैस्चतुर्भिर्दर्भैः प्राचीदिशमारभ्य प्राच्यामुत्तराग्रैरीशानाद्याग्नेयान्तं परिस्तीर्य, पुनर्दक्षिणस्यां प्रागग्रैः पूर्व-

परिस्तरणमूलं मूलेनाच्छादयन्, पुनरुत्तरस्यां प्रागग्रैः पश्चिमपरिस्तरणाग्रं पूर्वपरिस्तरणाग्रमग्रेण च परिस्तीर्य, परिधित्रयमादाय सर्वतः स्थूलं पश्चिम-उत्तराग्रं ततःकनिष्ठं दक्षिणे पूर्वाग्रं, पश्चिमपरिधेर्मूलोपरिमूलं यथा भवति तथा, पुनस्ततोऽपि कनिष्ठमुत्तरस्यां पूर्वाग्रं, पश्चिमपरिधेरग्रोपरिमूलमिति कुण्डस्य मध्यमेखलोपरि परिस्तरणोपरि परिधित्रयं निक्षिपेत्। अत्र पश्चिम-मेखलायां तु परिस्तरणपरिधिस्थापनं योनिनालोर्ध्वमेखलयोरन्तरन्तराले कार्यमिति। पश्चिमपरिधौ ॐ ब्रह्मणे नमः। दक्षिणपरिधौ ॐ विष्णवे नमः। उत्तरपरिधौ ॐ रुद्राय नमः। इति सम्पूज्य स्वेष्टदेवतादीक्षितं ब्राह्म-णमाहूय, कुण्डस्य दक्षिणे भागे कुशासने समुपवेश्य, अमुकगोत्रोऽमुकशर्माऽहम-मुकगोत्रममुकवेदान्तर्गतामुकशाखाध्यायिनममुकशर्माणं ममेष्टदीक्षाङ्गभूत-होमकर्मणि कृताकृतवेक्षणाय ब्रह्मत्वेन त्वां वृणे, इति वस्त्रालङ्कारादिभिर्वृणु-यात्। ततस्तं गन्धादिभिः सम्पूज्य, ब्राह्मणालाभे कुशवटुं वा सम्पूज्य वह्नि-मन्त्रेणार्घ्यपाद्याचमनीयमधुपर्कपात्राणि संस्थाप्य, संस्कृत्य, कुण्डमध्ये षट्कोणगर्भितकर्णिकं सकेसरं चतुर्द्वारयुक्तचतुरस्रत्रयवेष्टितमष्टदलकमलं वह्नेःपूजापीठं विभाव्य, तत्र प्रागुक्तविधिना, मण्डूकादिपरतत्त्वान्तं योग-पीठं समभ्यर्च्य अष्टदलकेसरेषु स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन पीतायै नमः, श्वेतायै नमः, अरुणायै नमः, कृष्णायै, धूम्रायै, तीव्रायै, विस्फुलिङ्गिन्यै, रुचिरायै ज्वालिन्यै नमः इति मध्यान्तं नवशक्तीः सम्पूज्य, "रं सर्वशक्तिकमला-सनाय नमः" इति समस्तं पीठं सम्पूज्य।

"करैर्वरस्वस्तिकशक्त्यभीतिर्दधानमम्भोजगतं त्रिनेत्रम्।
सिन्दूरवर्णं तपनीयभूषणं वह्निं जटाभूषितमौलिमीडे।"

इति ध्यात्वा सप्तजिह्वामुद्रां प्रदर्श्य "ॐ वैश्वानर जातवेद लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा, अग्नये नमः" इत्यग्निं त्रिःपुष्पाञ्जलिना सम्पूज्य पुनर्वह्निमन्त्रमुच्चार्याग्नये एतदासनं नमः, एवमग्ने एष ते अर्घ्यः स्वाहा, एतत्ते पाद्यं नमः एतत्ते आचमनीयं स्वधा, एतत्तेमधुपर्कः स्वधा एतत्ते-पुनराचमनीयं स्वधा, एतत्ते स्नानं नमः, इति पुरश्चरणमुखमूर्धादिसर्वा-

ङ्गोद्देशेन मेखलाया बहिः पात्रान्तरे अर्घ्यपाद्यादिस्नानान्तां वह्नेस्तत्तदङ्ग-भावनां परिकल्प्य पुनराचमनीयं दत्त्वा वह्नावेव वस्त्रं दत्त्वा पुरनाचमनीयं दत्त्वा यज्ञोपवीतं निवेद्य वहिःपुनराचमनीयं दत्त्वा गन्धपुष्पे वह्नावेव निवेद-येत् इति वह्निमन्त्रेणाऽऽसनादि पुष्पान्तानुपचारानुपचर्य षट्कोणेषु देवताग्रा-दिकोणमारभ्य सरयूं हिरण्यायै नमः। षरयूं कनकायै नमः। शरयूं रक्तायै नमः। वरयूं कृष्णायै नमः। लरयूं प्रभायै नमः। ररयूं अतिरक्तायै नमः। यरयूं बहुरूपायै नमः इति सम्पूज्य अष्टदलकेसरेषु अग्नीशासुरवायव्यदेवता-दिचतुर्दिक्षु ॐ सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः। ॐ स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा नमः। ॐ उत्तिष्ठ पुरुषाय शिखायै वषट् नमः। ॐ धूमव्यापिने कवचाय हुँ-नमः। सप्तजिह्वाय नेत्रत्रयाय वौषट् नमः। ॐ धनुर्धरायास्त्राय फट् नमः। इति षडङ्गानि सम्पूज्य, अष्टदलेषु देवग्रादिप्रादक्षिण्येन ॐ अग्नये जातदेवसे नमः। एवं अग्नये सप्तजिह्वाय अग्नये हव्यवाहनाय अग्नयेऽश्वोदराय अग्नये वैश्वानराय अग्नये कौमारतेजसे अग्नये विश्वमुखाय अग्नये देवमुखाय नमः इति प्रादक्षिण्येनाऽष्टमूर्तीः सम्पूज्य तद्‌बहिश्चतुरस्रे इन्द्रादीन् सायुधान् सम्पूज्य पुनर्वह्निमन्त्रेण वह्निं सम्पूज्य धूपदीपादि दत्त्वा नैवेद्यमुत्सृज्याग्नौ प्रक्षिप्य प्रावग्दाचमनीयं दत्त्वा ततःस्रुक्स्रुवौ। प्राञ्चावधोमुखावग्नौ सन्ताप्य तयोरग्रं कुशाग्रैर्मध्यं मध्यैर्मूलं मूलैरिति त्रिःसमृज्याऽग्नौ तान् प्रक्षिप्य, स्रुक्स्रुवौ स्वदक्षिणभागे कुशास्तरे निधाय, तदुपर्युत्तराग्रप्रादेशमात्रं मध्ये ब्रह्मग्रन्थियुतं कुशद्वयरूपं पवित्रं निधाय, पात्रान्तरस्थं शुद्धं गोघृतं दुर्ग-न्धादिदूषणरहितं वीक्षणादिचतुःसंस्कारैः संस्कृतं 'वमिति' धेनुमुद्रयामृती-कृतं मूलेनाष्टधाभिमन्त्रितमाज्यस्थाल्यां निक्षिप्य, कुण्डादङ्गारानुद्धृत्यमेख-लाया वहिर्भूमौ वायव्यकोणे निक्षिप्य तेष्वाज्यस्थालीं हृन्मन्त्रेण निधाय-कुशद्वयं प्रज्वाल्यहृन्मन्त्रेणाज्ये निक्षिप्य शेषमग्नौ निक्षिप्य पुनर्दर्भद्वयं प्रज्वाल्य कवचमन्त्रेणाज्यस्थालीमभितः परिभ्राम्य दग्धशेषमग्नौ निक्षिप्य पुनः कुशान् प्रज्वाल्य हृन्मन्त्रेणाज्ये प्रदर्श्य दग्धशेषमग्नौ निक्षिप्य, आज्य-स्थालीमुद्धृत्य प्रादक्षिण्येन कुण्डं परितो भ्रामयन् आनीय स्वपुरतः कुशा-

स्तरे निधाय वाह्यस्थानङ्गारान् कुण्डमध्ये निक्षिप्य, आपः संस्पृश्याङ्गुष्ठानामिकाभ्यां करद्वयेन पवित्रं मूलाग्रे धृत्वा मन्त्रमुच्चरन् पवित्रमध्येन स्वाभिमुखं धृतं निःसंप्लाव्य तत्पवित्रमाज्यस्थाल्यां प्रागग्रं मध्ये निवेश्य, भागद्वयं कृत्वा दक्षिणभागं शुक्लपक्षं वामभागं कृष्णपक्षं परिकल्प्य, पुनस्तथैव वामभागेडां दक्षिणभागे पिङ्गलां मध्ये सुषुम्नामिति नाडीत्रयं सञ्चिन्त्य स्रुवेण दक्षिणभागात् हृन्मन्त्रेणाज्यमादाय "अग्नये स्वाहा" इति वह्नेर्दक्षिणनेत्रे हुत्वा अग्नये इदं न मम इत्युद्देशत्यागं विधाय पुनर्हृन्मन्त्रेण वामभागादाज्यं गृहीत्वा "सोमाय स्वाहा" इति वह्नेर्वामनेत्रे हुत्वा सोमाय इदं न मम, इत्युद्देशत्यागं विधाय पुनर्हृदयमन्त्रेण मध्यादाज्यं गृहीत्वा "ॐ अग्निसोमाभ्यां स्वाहा" इति वह्नेर्ललाटलोचने हुत्वा इदमग्नीसोमाभ्यां न मम इत्युद्देशत्यागं कृत्वा पुनर्दक्षिणभागाद्धृताज्यं गृहीत्वा "अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा" इति वह्नेर्वक्त्रे हुत्वा अग्नये स्विष्टकृते इदं न मम इत्युद्देशत्यागं विधाय "ॐ भूः स्वाहा" अग्नये इदं न मम, "ॐ भुवः स्वाहा" वायवे इदं न मम "ॐ स्वः स्वाहा सूर्याय इदं न मम" "ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा प्रजापतये इदं न मम, ॐ वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्षसर्वकर्माणि साधय स्वाहा" इति वह्निमन्त्रेण वारत्रयं हुत्वा अग्नये इदं न मम इत्युद्देशत्यागं कृत्वा "ॐ अग्नेगर्भाधानं सम्पादयामि स्वाहा" एवं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनम् इति प्रतिकर्माज्याहुत्यष्टकं हुत्वा वागीश्वराज्जातं वह्निं प्रागुक्तरूपं ध्यायन् "अग्नेर्जातकर्म सं०" इत्याष्टवाज्याहुतीर्हुत्वा, वह्नेर्नालच्छेदं कृत्वा सूतकं संशोध्य वह्नेर्नामकरणं सम्पादयामि इत्यष्टावाज्याहुतीर्हुत्वा शिवाग्निरिति तस्य नाम कृत्वा।

"ॐ वह्नेरूपनिस्क्रमणं सं० अग्नेरन्नप्राशनं सं०, अग्नेश्चोलं सं०, अग्नेरुपनयनं सं०, अग्नेर्महानाम्न्यं सं०, अग्नेर्महाव्रतं सं०, अग्नेरौपनिषदं सं०, अग्नेर्गोदानं सम्पा०, अग्नेःसमावर्तनं सं०, अग्नेरुद्वाहं सम्पादयामि स्वाहा" इति प्रतिकर्माष्टावाज्याहुतीर्हुत्वा वह्नेर्गर्भाधानाद्युद्वाहान्तान् संस्कारान् विधाय वह्नेःपितरौ देवदेव्यौ प्राग्वत्सम्पूज्य विसृज्य, मूलाग्रेषु घृतसंसिक्ताः

पञ्चसमिधस्तूष्णीमेकदैवाञ्जलिना वह्नौ समर्प्य ॐ सरयूं हिरण्यायै स्वाहा, एवं षरयूं कनकायै० शरयूं रक्तायै० वरयूं कृष्णायै० लरयूं सुप्रभायै० ररयूं अतिरक्तायै० यरयूं बहुरूपायै। ॐ सहस्रार्चिषे हृदयाय स्वाहा एवं स्वस्तिपूर्णाय शिरसे० उत्तिष्ठपुरुषायशिखायै० धूमव्यापिने कवचाय० सप्तजिह्वायनेत्रत्रयाय०, धनुर्द्धराय अस्त्राय०। ॐ अग्नये जातवेदसे स्वाहा। एवं अग्नये सप्तजिह्वाय० अग्नये हव्यवाहनाय० अग्नये अश्वोदराय०, अग्नये वैशानराय० अग्नये कौमारतेजसे०, अग्नये विश्वमुखाय० अग्नये देवमुखाय० इति जिह्वाङ्गमूर्तिमन्त्रैरेकैकमाहुतिं दत्त्वा ॐ लं इन्द्राय स्वाहा, इन्द्राय नमः एवं अग्नये०, यमाय०, निर्ऋतये० वरुणाय०, वायवे०, कुबेराय०, ईशानाय०, ब्रह्मणे०, अनन्ताय० वज्राय०, शक्तये०, दण्डाय० खड्गाय०, पाशाय०, अङ्कुशाय०, गदायै०, शूलाय०, पद्माय०, चक्राय०। एवं तत्तन्नामभिः एकैकामाहुतिं हुत्वा सर्वत्रतत्तन्नामोद्देशत्यागं कुर्यात्। ततः स्रुवेणाज्यमादाय चतुर्वारं निक्षिप्याधोमुखं स्रुचो मुखे निधायोत्थाय, प्रागुक्तवह्निमन्त्रमुच्चार्य स्वाहास्थाने वौषडित्यग्नौ तिष्ठन् स्रुचा हुत्वोपविश्य ॐ स्वाहा, ॐ श्रीं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरद स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वर वरद स्वाहा ॐ श्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वर वरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा इति दशधाविभक्तेन महागणपतिमन्त्रेण दशाहुतीर्हुत्वा "ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वर वरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा" इति समस्तव्यस्तमन्त्रेण चतस्र आज्याहुतीर्जुहुयात्। इत्यग्निस्थापनविधिः।

इत्थग्निस्थापनं विधाय नूतनताम्रादिपात्रमस्त्रमन्त्रेण प्रक्षाल्यः, तत्र मूलमन्त्रेणाष्टधाभिमन्त्रितांस्तण्डुलान् पञ्चदशप्रसृतिमितान् त्रिः प्रक्षालितानस्त्रमन्त्रं जपन्निक्षिप्य तत्र गोदुग्धं वाष्पं यावत्तावत् पक्वं भवति तावन्निक्षिप्य प्रक्षालितेन पात्रेण कवचमन्त्रमुच्चरन् तत्पात्रवदनं पिधाय तदा तद्दुग्धं-

वाष्पवशादुपर्यायाति तदा प्रोक्षणेन प्रदक्षिणमूर्ध्वमवघट्टयन् मूलमन्त्रं स्मरन् प्राङ्मुखो गुरुश्चरुं पचित्वा, शृते तस्मिन् मूलमन्त्रेणाज्यं स्रुवेण निक्षिप्य कवचमन्त्रेण तत्पात्रमवतार्य अस्त्रमन्त्रेणाभिमन्त्रितं कुशास्तरे चरुं निक्षिप्य त्रिधाविभज्यैकं भागं देवाय कुम्भस्थाय निवेद्य, मण्डपपरितः पूर्वमङ्कुरार्पणकर्मणि कृताङ्कुरमार्जनानि निक्षिप्य, घृतपूर्णान् पिष्टमयदीपांश्च निधाय, कुण्डसमीपं गत्वा स्वासने समुपविश्य, तत्र वक्ष्यमाणविधिना मूलमन्त्रेणार्घ्यादिपात्रस्थापनं विधाय, कुण्डमध्ये वह्नेर्मुखे पूजाचक्रं विभाव्य, तत्र वक्ष्यमाणविधिना साङ्गं सावरणं सर्वोपचारैः पूजयेत्। अत्रार्घ्यादिस्नानान्तमग्निपूजावदेव कुण्डाद्बहिः पात्रान्तरे देवमुद्दिश्य कल्पयेत्। अन्यत्सर्वं कुण्डमध्य एव कल्पयेत्। ततो मूलमन्त्रेण वह्निदेवतयोर्वक्त्रैकीकरणार्थं पञ्चविंशत्याज्याहुतीर्हुत्वा स्वात्माग्नि–देवतानामैक्यं विभावयन् मूलेन नाडीसन्धानार्थमेकादशवारं घृतैर्हुत्वा षडङ्गावरणदेवतानामेकैकामाहुतिं हुत्वा प्रागादिदिक्स्थकुण्डेषु ऋत्विग्भिः प्रागुक्तविधिनाऽष्टादशसंस्कारैः संस्कृतेषु गुरुः स्वकुण्डादग्निमुद्धृत्योद्धृत्य निक्षिपेत्। ऋत्विजश्च स्वस्वकुण्डवह्निं प्रागुक्तविधिना प्रज्वाल्योपस्थाय परिषेचनपरिस्तरणपरिधिप्रक्षेपण पूजादिभिः सम्यक् परितोष्य समिद्धे तस्मिन् स्वेष्टदेवतानित्यपूजोक्तविधिना देवमावाह्य ताम्बूलान्तैरुपचारैः सम्यक् सम्पूज्य वक्त्रैकीकरणनाडीसन्धानावरणहोमान्ते मूलमन्त्रेण गुरुणा विभज्य दत्तेन घृतमिश्रेण पायसेन पञ्चविंशतिधा स्वस्वकुण्डे जुहुयुः।

अथ गुरुः सर्वतोभद्रमण्डलस्य पूर्वादिवीथिचतुष्टये मेषादिराशिस्थानेषु प्राच्यां मेषवृषौ, आग्नेय्यां मिथुनं, दक्षिणे कर्कटसिंहौ, नैर्ऋते कन्यां, पश्चिमे तुलावृश्चिकौ, वायव्ये धनुः, उत्तरे मकरकुम्भौ, ईशाने मीन इति विभक्तेषु राशिस्थानेषु राश्यधिनाथेभ्यो ग्रहेभ्यो नक्षत्रेभ्यः करणेभ्यश्च हुतशेषेण पायसेन बलिं दद्यात्। यथा मेषवृश्चिकस्थानयो कं खं गं घं ङं मेषवृश्चिकराश्यधिपतये मङ्गलाय एष गन्धपुष्पाक्षतयुक्तः पायसबलिर्नमः। एवं चं छं ५ वृषतुलाराश्यधिपतये शुक्राय एष गन्धपुष्पाक्षतयुक्तः पायस-

बलिर्नमः । टं ठं डं ढं णं मिथुनकन्याराश्यधिपतये बुधाय एष गन्धपुष्पाक्ष० यं.....क्षं० १० कर्कटराश्यधिपतये सोमाय एष० । अं १६ सिंहराश्यधिपतये सूर्याय एष० । ५ तं धनुर्मीनाधिपतये गुरवे एष० । पं० ५ मकरकुम्भाधिपतये शनैश्चराय एष गन्धपुष्पाक्षतयुक्तः पायसबलिर्नमः । पुनः क्रमेण मेषादि-स्थानेषु मेषराश्यंशभूताश्विनीभरणीकृत्तिकापादनक्षत्रदेवताभ्यो दिवानक्तं-चरेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यः एष गन्धपुष्पाक्षतयुक्तः पायसबलिर्नम इत्यादि-प्राग्वत् । एवं वृषराश्यंशभूत कृत्तिकापादत्रय रोहिणीमृगशिरोऽर्धनक्षत्र-देवताभ्यो० । मिथुनराश्यंशभूतमृगशिर उत्तरार्धार्द्रापुनर्वसुपादत्रयनक्षत्र-देवताभ्यो० । एवमग्रेऽपि मन्त्रा ऊह्याः । ततो मीनमेषयोरन्तराले ववक-रणाय एष० इत्यादि एवं वृषमिथुनयोरन्तराले वालवाय एष० । मिथुन-कर्कयोर्मध्येकौलवाय० । सिंहकन्ययोर्मध्ये तैतिलाय० कन्यातुलयोर्मध्ये गराय० वृश्चिकधन्वोर्मध्ये वणिजे० । धनुर्मकरयोर्मध्ये विष्टये एष गन्धा-क्षतपुष्पयुक्तपायसबलिर्नमः इति बलिं दद्यात् । अत्रराशिद्वयाधिपतिभ्यो-राशिद्वयस्थानेऽपिबलिर्देयः; इति सम्प्रदायः । ततोगुरुः कुम्भस्थाय देवायो-त्तरापोशानादिनीराजनान्तं वक्ष्यमाणविधिना कृत्वा प्रणम्य क्षमापयेत् । ततस्तृतीयभागं शिष्येण सह गुरुर्भुक्त्वा स्वयमाचान्तः स्वाचान्ताय शिष्याय षडङ्गन्यासयोगेन सकलीकृताय प्रादेशमात्रं यथोक्तहृन्मन्त्रेणाष्ट-धाभिमन्त्रितं दन्तकाष्ठं दद्यात् । शिष्योऽपि तेन दन्तधावनं विधाय दन्त-काष्ठं प्रक्षाल्य पुरतः परित्यज्याचम्य गुरोः समीपं गच्छेत । ततो गुरुः शिष्यं शिखाबन्धनेन मूलमन्त्राभिमन्त्रितेन संरक्ष्य, तेन सार्धं वेद्यां कुशा-स्तरणे तस्यां रात्रौ शयनं कुर्यादित्यधिवासः ।

अत्र प्राक्प्रोक्तविधिनोर्ध्वाम्नायाद्याम्नायदेवतानां दीक्षायां तत्तमन्त्र-होमस्तद्देवतापूजनक्रम ऋत्विग्भिर्विधेयः । नवग्रहपूजा तु आगमोक्तैर्वैदिक मन्त्रैर्वा विधेया । ईशानकोणवेद्यां पृथगेवेति सम्प्रदाय । "पञ्चषट्कूट-विद्याभ्यां शोधितं बहुवासरैः" इतिक्रमे प्रोक्तक्रमेणैव दीक्षाप्रयोगक्रमः साधीयान् तत्राङ्गत्वेनान्यमन्त्राकथनात् । षड्दर्शनाङ्गभूतप्रधानदीक्षाविधौ

तु षड्दर्शनेष्वङ्गत्वेन ये ये मन्त्रा अभिहितास्तद्दूरीकृत्यैव ऋत्विक्सामयिकैर्होमजपपूजादयो विधेयाः। गुरुणाऽपि तथैव साङ्गोपाङ्गपूर्णरूपेणोपदेशः कार्यः। वैदिकदर्शनप्राधान्येन यत्रोपदेशस्तत्र श्रुतिस्मृत्युक्तविधिनैव विशेषो बोधव्यः, अन्यत्साम्यम्।

अथ वैदिकदर्शनदीक्षायां आदौ गणाधिपपूजादिमण्डपपूजा प्रयोगः। तत्रादौ गणेशपूजा - यजमान आसनोपर्य्युपविश्याऽऽचम्य प्राणायामत्रयं कृत्वा, कुशाक्षतान् हस्ते गृहीत्वा सङ्कल्पं कुर्यात्। यद्यथा अद्येत्यादिमासपक्षाद्युल्लेखानन्तरं करिष्यमाणामुक देवतामन्त्र दीक्षाकर्मणि प्रत्यूहशान्तये गणपतिपूजनमहं करिष्ये, इति सङ्कल्प्यावहनादि षोडशोपचारैः "गणानां त्वा" इति मन्त्रेणगणपतिं सम्पूज्य बद्धाञ्जलिः प्रार्थयेत्।

वक्रतुण्डमहाकाय सूर्यकोटिसमप्रभ! अविघ्नं कुरु मे देव! सर्वकार्येषु सर्वदा ॥१॥ पूजा सम्पूर्णतां यातु वाचयित्वा विसर्जयेत्। इति। ततः पीठेऽक्षतपुञ्जेषु गौर्यादिशोडशमातृका ब्राह्म्यादि सप्तमातृकाश्च पूजयेत्। तास्तु 'गौरीपद्माशचीमेधा सावित्री विजया जया। देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ॥१॥ धृतिस्तुष्टिस्तथापुष्टिरात्मनः कुलदेवता।' ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा। वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमातरः इति। पूजाप्रकारस्तु—पूजोपकरणान्युपकल्प्य प्राङ्मुख उपविश्य कुशयवतिलान्यादाय, अद्येहेत्यादि० करिष्यमाणमन्त्रदीक्षाङ्गभूतया गौर्यादिषोडशमातृपूजनं ब्राह्म्यादिसप्तमातृपूजनं च करिष्ये इति सङ्कल्प्य अक्षतैः "ॐ भूर्भुव स्वः गौरीहागच्छ, इह तिष्ठेत्यावाह्य स्वशाखोक्तमन्त्रेण-प्रतिष्ठाप्य गौर्यै नमः इदमासनमित्यादिरीत्या पदार्थानुसमयेन सर्वाः प्रत्येकमुत्तरसंस्थाःपूज्या। एवं ब्राह्म्यादिष्वपि। यदा तु मातॄणां गणदेवतात्वं तदा प्रत्येकं नाम गृहीत्वा गौर्यादिभ्य इति चोक्त्वा युगपत् पूजयेत् एवं ब्राह्म्याद्या अपि। ततःस्वाचारतो "वसोः पवित्रमसी"ति कुड्याभग्नाः पञ्चसप्त वा घृतेन धाराः कुर्यात्। तत्पूजनमपि केचिदाहुः। ततःशान्तिपाठः। ततो यथाचारं वृद्धिश्राद्धं सङ्कल्पपूर्वकं स्वशाखोक्तं कुर्यात्। ततः पुण्याह-

वाचनम् तच्चावनिकृतजानुमण्डल इति पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्त्विति त्रीन् ब्राह्मणान् श्रावयेत्। ते च पुण्याहमिति त्रिःप्रतिब्रूयुः। ॐ स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्त्विति त्रिः ॐ स्वस्ति इति त्रिः प्रतिवचनम्। ॐ ऋद्धिं भवन्तो ब्रुवन्त्विति त्रिः। ॐ ऋद्ध्यतामिति त्रिः प्रतिवचनम्। ततो मण्डपाद्बहिः पश्चिमदेशे उपलिप्ते यजमानः प्राङ्मुख उपविश्याचम्य प्राणानायम्य अद्येहेत्यादि अमुकदेवतामन्त्रदीक्षाकर्मकर्तुमाचार्यर्त्विजां वरणमहं करिष्ये इति सङ्कल्प्य आचार्यमुदङ्मुखमुपवेश्य सिताम्वरहेमकुण्डलसूत्रकेयूर-कण्ठाभरण्याभिरामं कृत्वा वद्धाञ्जलिः "दीक्षादाने त्वं मे गुरुर्भव" इति प्रार्थ्य "भवानि" इति तेनोक्ते अमुकप्रवरान्वितामुकगोत्रममुकवेदान्तर्गता-मुकशखाध्यायिनममुकशर्माणममुकप्रवरान्वितामुकगोत्रोऽमुकशर्माऽहं एभिर्ग-न्धपुष्पाक्षतताम्वूलहेमाभरणाङ्गुलीयकवासोभिरमुकमन्त्रदीक्षाग्रहणे गुरुत्वे-नत्वां वृणे। वृतोऽस्मीति स वदेत्। एवं पूर्वकुण्डे गायत्रीहोमार्थमेकमाग्नेय-दक्षिणनैॠतपश्चिमवायव्यसौम्येशानकुण्डेषु होमार्थं सप्तब्राह्मणान् एवं नव-ब्राह्मणान् वृणुयात्। ततःपूर्वद्वारपालनार्थं द्वावृग्वेदिनौ, दक्षिणद्वारपालनार्थं द्वौ यजुर्वेदिनौ पश्चिमद्वारपालनार्थं द्वौ सामगौ, उत्तरद्वारपालनार्थं द्वावथ-र्वणिकौ एवमष्टौ पृथक् पृथक् वृणुयात्। वरणवाक्यं प्राग्वदेव। एवं पुस्तकाचार्यं वृणुयात्। अत्र द्वारपालकास्तु सर्वदर्शनसाधारणाः। ततः शुक्लाम्वरधरः शुक्लमाल्यानुलेपनः सपत्नीकः सशिष्यर्त्विक् आचार्यो मङ्गलघोषे जायमाने सम्पूर्णकलशहस्तो "भद्रं कर्णेभिः" इत्यादिमन्त्रघोषेण मण्डपं प्रदक्षिणीकृत्य पश्चिमद्वारेण प्रविश्य मण्डपान्तः पश्चिमदेशे उप-विश्याचम्य प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वा करिष्यमाणदीक्षादानाङ्गतया अद्य गणेशपूजामण्डपदेवतास्थापनादि करिष्ये इतिसङ्कल्प्य षोडशोपचारै-र्गणेशं प्रपूज्य गौरसर्षपान् सर्वतोमण्डपान्ते विकिरेत्। तत्र मन्त्ररक्षोघ्नाः यदत्रसंस्थितं भूतं स्थानमाश्रित्य सर्वदा। स्थानं त्यक्त्वा तु तत्सर्वं यत्रस्थं तत्र गच्छतु ॥१॥ अपक्रमान्तु भूतानि पिशाचाःसर्वतो दिशम्। सर्वेषाम-विरोधेन ब्रह्मकर्मसमारभे ॥२॥ इति पञ्चगव्येन कुशैः सर्वत्रः सर्वतः प्रोक्ष-

येत्। "शुचिवो हव्ये"ति "आपोहिष्ठे"ति ऋचः। ततः कृताञ्जलि 'स्वस्त्ययनं' 'तार्क्ष्य'मिति मन्त्रद्वयं जपेत्। ततः पूर्वस्यां दिशि मण्डपद्वाराद्बहिर्हस्तमात्रे वटतोरणमश्वत्थं वा सुदृढनामकं सुशोभननामकं वा शङ्खाङ्कितं "अग्निमीले पुरोहित" मिति विधाय नाम्ना सम्पूज्य चन्दनादिचर्चितं कृत्वा राहुं वृहस्पतिं तत्र न्यसेत्। तत्रैक कलशः स्थाप्यः। तत्र मन्त्रा-'महीद्यौ रिति-भूमिस्पृशनं प्रार्थ्यं "ओषधयः स मिति यवान् क्षिप्त्वा "आकलशेष्वि' ति "आजिघ्रकलश" मिति वा कलशं निधाय "इमंमेगङ्गे" इति जलेनापूर्य "गन्धद्वारा' मिति गंधं "याओषधोरीति सर्वौषधीः "ओषधयः स'मिति यवान् 'काण्डात्काण्डा' दितिदूर्वाः "अश्वत्थेवो" इति पञ्चपल्लवान् "स्योना पृथिवि" इति पञ्चमृदः "याः फलिनी' रिति फलम् "स हि रत्नानी'ति पञ्चरत्नानि "हिरण्यरूप" मिति हिरण्यं क्षिप्त्वा "युवा सुवासा" इति वस्त्रेण रक्तसूत्रेण च मुखे वेष्टयेत्। "पूर्णा दर्वी" त्युपरि धान्यपूर्णशरावं निधाय तत्र ध्रुवमावाह्य पूजयेत्। ततो दक्षिणे औदुम्बरं वा सुभद्रं विकटम्वा चक्राङ्कितं तोरणं "इषेत्वोर्जेत्वा" इति निधाय नाम्ना पूर्ववत् सम्पूज्य चन्दनादिचर्चितं कृत्वा सूर्यमङ्गारकं न्यसेत्। ततः पूर्ववत् कललं स्थापयित्वा तत्र धरामावाह्य पूजयेत्॥ ततः पश्चिमे प्लक्षमौदुम्बरम्वा सुहोत्रं सुप्रभं पद्माङ्कितं तोरणं "शन्नोदेवी" इति निधाय नाम्ना पूर्ववत् सम्पूज्य चन्दनादिचर्चितं कृत्वा शुक्रं वुधं च तत्र न्यसेत्। पूर्ववत्कलशं निधाय वाक्पतिमावाह्य पूजयेत्। तत उत्तरे वाटमाश्वत्थ पालाशम्वा पूर्णसुकर्मसु भीमं वा गदाङ्कितं तोरणं "अग्नआयाही' ति निधाय नाम्ना सम्पूज्य चन्दनादिचर्चितं कृत्वा "सोमकेतुशनींस्तत्र" न्यसेत्। ततः पूर्ववत् कलशं निधाय तत्र विघ्नेशमावाह्य पूजयेत्। ततः पूर्वद्वारे द्वारशाखाद्वये कलशद्वयं दध्यक्षतभूषितं पूर्ववन्मन्त्रैः स्थापयेत्। प्रतिकलशं मन्त्रावृत्तिः। ऐरावतकलशद्वयं न्यस्य पूजयेत्। तत्र ऋग्वेदिनौ ऋत्विजौ—

ऋग्वेदः पद्मपत्राक्षो गायत्र्यः सोमदेवता। अत्रिगोत्रस्तु विप्रेन्द्र! शान्तिपाठं मखे कुरु॥१॥ इति प्रार्थ्य प्रत्येक "मग्निमीले" इति गन्धादिना पूजयेत् ततः।

एह्येहि सर्वामरसिद्धसाध्यैरभिष्टुतो वज्रधरामरेश।
सम्वीज्यमानोऽप्सरसां गणेन रक्षाऽध्वरं नो भगवन्नमस्ते ॥१॥

भो इन्द्रेहागच्छेह तिष्ठेति इन्द्रं साङ्गं सपरिवारं सायुधं सशक्तिकं द्वारकलशे आवाह्य तत्र "त्रातारमिन्द्र" मितीन्द्रं सम्पूज्य "आशुःशिशान" इति पीतां पताकां पीतं च ध्वजद्वयमपि पञ्चहस्तदण्डमुच्छ्रयेत। "इन्द्रं वो विश्वतस्परि" इति वा मन्त्रः तत्र सहस्राक्षं मत्तैरावतस्थितं पीतकिरीट-कुण्डलधरं दक्षिणवामकरस्थवज्रोत्पलमिन्द्रं ध्यात्वा, इन्द्रः सुरपतिः श्रेष्ठो वज्रहस्तो महाबलः। शतयज्ञाधिप देवस्तस्मै नित्यं नमो नमः ॥१॥

इति नत्वा इन्द्राय साङ्गाय सपरिवाराय सायुधाय सशक्तिकायैतं माष भक्तबलिं समर्पयामीति बलिं दद्यात् ॥ तत आचम्याग्नये गत्वा पूर्ववत् कलशं निधाय पुण्डरीकं पूजयित्वाऽमृतं च प्रपूज्य 'एह्येहि वैश्वानर हव्यवाह! मुनिप्रवीरैरभितोऽभिजुष्ट। तेजोवतालोकगणेन सार्धं ममाध्वरं पाहि कवे नमस्ते ॥१॥ भो अग्ने इहागच्छेहतिष्ठेति साङ्गं सपरिवारं सायुधं सशक्ति-कमग्निं कलशे आवाह्य "त्वं नो अग्ने" इत्यग्निं गन्धादिना प्रपूज्य "अग्नि दूतं" इति रक्तां पताकां रक्तध्वजं पञ्चहस्तदण्डमुच्छ्रयेत्। ततश्छागस्थं रक्तं दक्षिणवामकरधृतरक्तकमण्डलुं यज्ञोपवीतिनमग्निं ध्यात्वा, "आग्नेयः पुरुषो रक्तः सर्वदेवमयोऽव्ययः। धूम्रकेतुरजोऽध्यक्षस्तस्मै नित्यं नमो नमः ॥" इति नत्वा साङ्गायेत्यादिकमुक्त्वा अग्नये एतं माषभक्तबलिं समर्पयामीति बलिं दद्यात्।

तत आचम्य दक्षिणे गत्वा प्रतिद्वारशाखं पूर्ववत् कलशद्वयं संस्थाप्य वामनगजं तत्र न्यस्य पूजयेत् ततो यजुर्वेदविदावृत्विजौ—

कातराक्षौ यजुर्वेदस्त्रैष्टुभो विष्णुदैवतः। काश्यपेयस्तु विप्रेन्द्र! शान्ति-पाठं मखे कुरु ॥१॥ इति प्रत्येकं प्रार्थ्य गन्धादिना "इषेत्वोर्जेत्वा" इति-पूजयेत्। ततः "एह्येहि वैवस्वत धर्मराज सर्वामरैरर्चित धर्ममूर्ते। शुभा-शुभानन्दशुचामधीश शिवाय नः पाहि मखे नमस्ते ॥१॥

भो यमेहागच्छेह तिष्ठेति साङ्गादिविशिष्टं यममावाह्य "यमाय सोम" मिति गन्धादिभिः पूजयित्वा कृष्णां पताकां कृष्णं च ध्वजं पञ्चहस्तायतं दण्डं "आयं गौ" रिति उच्छ्रयेत्।

ततो महिषारूढं धृतदण्डपाशदक्षिणवामकरद्वयं कृष्णाञ्जनचयनिभमग्निसमनयनं यमं ध्यात्वा 'महामहिषमारूढं दण्डहस्तं महाबलम् आवाहयामि यज्ञेऽस्मिन् पूजां मे प्रतिगृह्यताम् ॥१॥

इति नत्वा साङ्गायेत्यादि यमायैतं माषभक्तबलिं समर्पयामीति बलिं दद्यात्।

तत आचम्य नैर्ऋत्यां पूर्ववत्कलशं स्थापयित्वा कुमुदगजं दुर्जयञ्च पूजयित्वा।

"एह्येहि रक्षोगणनायकस्त्वं विशालवेतालपिशाचसङ्घैः। ममाध्वरं पाहि पिशाचनाथ ! लोकेश्वरस्त्वं भगवन्नमस्ते। भो निर्ऋते ! इहागच्छेहतिष्ठेति साङ्गादिविशिष्टमावाह्य "मोषण". इति "असुन्वन्त" मिति वा निर्ऋतिं गन्धादिभिः पूजयित्वा नीलां पताकां ध्वजं च पञ्चहस्तदण्डं "मोषुण" इत्युच्छ्रयेत्। ततो नरारूढं खड्गहस्तनीलवर्णं नीलाभरणं निर्ऋतिं ध्यात्वा,

'नरारूढं महाकायं खड्गहस्तं महाबलम्।
नीलं रक्षोगणैर्जुष्टं नीलाभरणभूषितम् ॥१॥
निर्ऋतिं खड्गहस्तं च सर्वलोकैकनायकम्।
आवाहयामि यज्ञेऽस्मिन् पूजां मे प्रतिगृह्यताम् ॥२॥

इति नत्वा साङ्गायेत्यादि निर्ऋतये एतं माषभक्तबलिं समर्पयामीति बलिं दद्यात्।

तत आचम्य पश्चिमद्वारे प्रतिशाखं कलशद्वयं पूर्ववत् स्थापयित्वा अञ्जनं दिग्गजं न्यस्य पूजयेत्। ततः सामवेदविदावृत्विजौ—

'सामवेदस्तु पिङ्गाक्षो जागतः शुक्रदैवतः।
भारद्वाजस्तु विप्रेन्द्र ! शान्तिपाठं मखे कुरु' ॥१॥

इति प्रार्थ्य गन्धादिना "अग्न आयाहि" इति पूजयेत् । ततः

"एह्येहि यादोगण वारिधीनां गणेन पर्जन्यसहाप्सरोभिः ।
विद्याधरेन्द्रामरगीयमान पाहि त्वमस्मान् भगवन्नमस्ते" ॥१॥

भो वरुणेहागच्छेहतिष्ठेति साङ्गादि विशिष्टं वरुणमावाह्य "तत्त्वा यामि" इति गन्धादिभिः पूजयित्वा श्वेतां पताकां ध्वजं च इमं मे वरुण" इत्युच्छ्रयेत् । ततो मकरस्थं पाशहस्तं शुक्लवर्णं किरीटधारिणं वरुणं ध्यात्वा,

'पाशहस्तं च वरुणमर्णसां निधिमीश्वरम् ।
आवाहयामि यज्ञेऽस्मिन्वरुणाय नमो नमः ॥१॥

इति नत्वासाङ्गायेत्यादि वरुणायैतं माषभक्तबलिं समर्पयामीति बलिं दद्यात् ।

तत आचम्य वायव्यां पूर्ववत् कलशं निधाय पुष्पादन्तं सिद्धार्थं च सम्पूज्य—

"एह्येहि यज्ञे मम रक्षणाय मृगाधिरूढः सह सिद्धसङ्घैः ।
प्राणाधिपः कालकवेः सहाय ! गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते" ॥१॥

भो वायो इहागच्छेहतिष्ठेति साङ्गादिविशिष्टं वायुमावाह्य "तव वायवृतस्पतये" इतिगन्धादिना पूजयित्वा धूम्रां पताकां ध्वजं च "वायोशत" मित्युच्छ्रयेत् । ततो मृगाधिरूढं चित्राम्बरध्वजधरदक्षवामहस्तं वायुं ध्यात्वा–

"वायुमाकाशगं चैव पवनं वेगवाहनम् । आवाहयामि यज्ञेऽस्मिन्पूजेयं प्रतिगृह्यताम्" ॥१॥

"अनाकारो महौजाश्च पशुदृष्टिगतिर्दिवि । तस्मै पूज्याय जगतो वायवेऽहं नमामि च ॥"

इति नत्वा साङ्गायेत्यादिवायवे एतं माषभक्तबलिंसमर्पयामि इति बलिं दद्यात्॥

तत आचम्य द्वारे प्रतिद्वारशाखं कलशद्वयं प्राग्वत् स्थापयित्वा सार्वभौमं दिग्गजं न्यस्य प्रपूज्य, अथर्ववेदावृत्विजौ ।

वृहन्नेत्रोऽथर्ववेदोऽनुष्टुभो गुरुदैवतः। वैशम्पायन विप्रेन्द्र ! शान्तिपाठं मखे कुरु ॥१॥

इतिप्रार्थ्य "शन्नोदेवी" रिति गन्धादिना प्रपूज्य ततः 'एह्येहि यज्ञेश्वर यक्षरक्षां विधत्स्व नक्षत्रगणेन सार्धम् । सर्वौषधीभिः पितृभिः सहैव गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते' ॥१॥

भो सोमेहागच्छेहतिष्ठेति साङ्गादिविशिष्टं सोममावाह्य "सोमोधेनु" "वयं सोमे" ति वा पूजयित्वा हरितां श्वेतां पताकां ध्वजं च "आप्यायस्व" इति न्यस्य नरयुतविमानस्थं कुण्डलहारकेयूररुचिरं वरगदाधरदक्षिणवामभुजद्वयं मुकुटिनं महोदरं महाकारं हरितवर्णं कुबेरं ध्यात्वा, 'सर्वनक्षत्रमध्ये तु सोमो राजा व्यवस्थितः । तस्मै सोमाय देवाय नक्षत्रपतये नमः ॥' इति नत्वा साङ्गायेत्यादि सोमायैतं माषभक्तबलिं समर्पयामि इति बलिं दद्यात् ॥

तत आचम्य ऐशान्यां पूर्ववत् कलशं निधाय सुप्रतीकं मङ्गलं च तत्र सम्पूज्य, 'एह्येहि विश्वेश्वर नस्त्रिशूलखट्वाङ्गधारिन् स्वगणेन सार्धम् ।

लोकेश यज्ञेश्वर यज्ञसिद्ध्यै गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते ॥१॥'

भो इशानेहागच्छेहतिष्ठेति साङ्गादिविशिष्टमीशानमावाह्यं "तमीशान" मिति गन्धादिना प्रपूज्य श्वेतां सर्ववर्णाम्वा पताकां ध्वजं च "अभित्वादेवसवितः" इत्युच्छ्रयेत् । ततो वृषारूढं दक्षिणवामहस्तधृतवरत्रिशूलं त्रिनेत्रं शुक्लवर्णमीशानं ध्यात्वा,

'वृषस्कन्धसमारूढं शूलहस्तं त्रिलोचनम् ।
आवाहयामि यज्ञेऽस्मिन् पूजां मे प्रतिगृह्यताम् ॥१॥
सर्वाधिपो महादेव इशानः शुक्लः ईश्वरः ।
शूलपाणिर्विरूपाक्षस्तस्मै नित्यं नमोनमः ॥१॥

इतिनत्वा साङ्गायेत्यादि ईशानायैतं माषभक्तबलिं समर्पयामि इति बलिंदद्यात्॥

तत आचम्य ईशानपूर्वयोर्मध्येऽधः !

'एह्येहिपातालधरामरेन्द्र ! नागाङ्गनाकिन्नरगीयमान ।
यक्षोरगेन्द्रामरलोकसभ्यैरनन्त रक्षाध्वरमस्मदीयम् ॥१॥

भो अनन्तेहागच्छेहतिष्ठेति साङ्गादि विशिष्टमनन्तमावाह्य "आयंगौ" रिति । गन्धादिभिरभ्यर्च्य मेघवर्णां श्वेतां पताकां ध्वजं च "आयंगौ" रित्युच्छ्रयेत् ।

अनन्तशयनासीनं फणासप्तकमण्डितम् । पद्मशंखधरोर्ध्वाधदक्षभागकरद्वयम्
चक्रगदाधरोर्ध्वाधो वामभागकरद्वयम् । इति नीलवर्णमनन्तं ध्यात्वा

याऽसावनन्तरूपेण ब्रह्माण्डं सचराचरम् ।
पुष्पवत्धारयेन्मूर्ध्नि तस्मै नित्यं नमोनमः ॥१॥

इति नत्वा साङ्गायेत्यादि अनन्तायैतं माषभक्तबलिं समर्पयामि इति-बलिं दद्यात् ।

तत आचम्य पश्चिमनैर्ऋतमध्ये ऊर्ध्वम्

एह्येहि सर्वाधिपतये सुरेन्द्र लोकेन सार्धं पितृदेवताभिः ।
सर्वस्य धाताऽस्यमितप्रभावो विशाध्वरं नः सततं शिवाय ॥१॥

भो ब्रह्मन्निहागच्छेह तिष्ठेति साङ्गादिविशिष्टं ब्रह्माणमावाह्य "ब्रह्म-जज्ञान" मिति गन्धादिभिरभ्यर्च्य रक्तां पताकां स्रुवकमण्डलुधरोर्ध्वाधोवा-मकरद्वयं चतुर्मुखं श्मश्रुजटिलं लम्बोदरं रक्तवर्णं ब्रह्माणं ध्यात्वा पद्मयो निश्चतुर्मूर्तिर्वेदावासः पितामहः । यज्ञाध्यक्षश्चतुर्वक्त्रस्तस्मै नित्यं नमो नमः ॥१॥ इति नत्वा साङ्गायेत्यादि ब्रह्मणे एतं माषभक्तबलिं समर्पयामि इति बलिं दद्यात् ।

तत आचम्य मण्डपमध्ये चामरकिङ्किणीयुतात्युच्चदण्डान् दशषोडशहस्त-दण्डे वा दशहस्तदीर्घस्त्रिहस्तविस्तारः पञ्चहस्तदीर्घो हस्तविस्तारो वा महाध्वजो विचित्रवर्णः "इन्द्रस्य वृष्णो" इति संस्थाप्य "ब्रह्मजज्ञान" मिति च तत्रैव ब्रह्मपूजनं कार्यम् । ततो मण्डपषोडशस्तम्भेषु सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । वंशेषु किन्नरेभ्यो नमः । ततः पूर्वस्यां दिशि किञ्चिद्भूमि-मुपलिप्योपविश्य ।

'त्रैलोक्ये यानि भूतानि स्थावराणि चराणि ।
ब्रह्मविष्णुशिवैः सार्धं रक्षां कुर्वन्तु तानि मे ॥१॥
देवदानवगन्धर्वाः यक्षराक्षसपन्नगाः ।
ऋषयोमनवोगावो देवमातर एव च ॥२॥
सर्वे ममाध्वरे रक्षां प्रकुर्वन्तु मदान्विताः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च क्षेत्रपालो गणैःसह ॥३॥

रक्षन्तु मण्डपं सर्वे घ्नन्तु रक्षांसि सर्वतः।' इति। त्रैलोक्यस्थेभ्यः स्थावरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। त्रैलोक्यस्थेभ्यश्चरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। ब्रह्मणे नमः। विष्णवे०, शिवाय०, देवेभ्यो०, गन्धर्वेभ्यो०, दानवेभ्यो०, यक्षेभ्यो०, राक्षसेभ्यो०, पन्नगेभ्यो०, ऋषिभ्यो०, मनुषेभ्यो०, गोभ्यो०, देवमातृभ्यो-नमः। इति प्रत्येकं सम्पूज्य पुष्पादियुतं पूर्ववन्मन्त्रैरेव तस्यां भूमावेवैतेभ्य एव माषभक्तबलिं दद्यात्॥

ततः आचार्यः सर्त्विकः प्रक्षालितपादपाणिराचान्तः प्राग्द्वारेण मण्डपं प्रविश्य दक्षिणद्वारपश्चिमदेशे उपविश्याचम्य "भो ब्राह्मणा यथाविहितं कर्म कुरुध्वमिति ब्रूयात्'। ततो गुरुर्महावेद्युपरि पुष्पाणि विकीर्य उपरि च वितानं पञ्चवर्णं फलपुष्पोपशोभितं वेदिमानं बध्नीयात्। ग्रहवेद्याञ्च तन्मानं बध्नीयात् सर्वतोभद्रं च लिखेत्। पूर्णाभिषेकदीक्षायां तु नवहस्त-परिमितवेद्यां श्रीचक्रं तत्तदिष्टदेवताचक्रं वा रचयेत्।

नवहस्तं त्रिहस्तम्वा श्रीचक्रमभिषेचने।
स्थण्डिले नित्यपूजायां हस्तमात्रं प्रशस्यते॥१॥

इति तन्त्रराजवचनात्। तस्मिन्पक्षे ग्रहवेदी सर्वतोभद्रमण्डलवेदी चैशान्यां क्रियेते। गुरुमण्डलवेदी वायव्ये मिथुनपूजावेदी आग्नेये तद्दिन-नित्यापूजावेदी वास्तुमण्डलसमीपे इति सम्प्रदायः। तथाऽत्रावसरे आचार्यः स्वगृह्योक्तविधिना स्वकुण्डेऽग्निस्थापनं कुर्यात्। तेनैव क्रमेणान्यकुण्डेष्वपि स्वस्वशाखोक्तविधिना ऋत्विजोऽग्निस्थापनं कुर्युः। गुरुश्च सर्वकर्माध्यक्ष-स्तिष्ठेत्। एवमग्निषु प्रणीतेषु गुरुर्ग्रहवेद्यां सर्वतोभद्रे च अर्चेदित्यादि दीक्षा-दानाख्यकर्माङ्गतया मण्डपदेवतास्थापनं करिष्ये, इति सङ्कल्प्य ब्रह्मादीन् स्थापयेत्। मध्ये ब्रह्मा "ब्रह्मजज्ञानं" गौतमो वामदेवो ब्रह्मात्रिष्टुप् ब्रह्म-स्थापने पूजने च विनियोगः। एवमुत्तरत्र। "ॐ ब्रह्मजज्ञानं" ॥१॥ उत्तरे सोमः॥२॥ "ॐ अभित्वादेव सवितः" ॥३॥ पूर्वे इन्द्रः "इन्द्रं वो" मधु-च्छन्दा इन्द्रो गायत्री॥४॥ आग्नेये अग्निः "अग्नि" काण्वो मेधातिथि-रग्निर्गायत्री "अग्निं दूतं वृणीमहे" ॥५॥ दक्षिणे यमः "यमाय सोमं"

वैवस्वतो यमो यमोऽनुष्टुप् ॥६॥ नैर्ऋत्यां निर्ऋतिः "मो षुणो" घोरः कण्वो निर्ऋतिर्गायत्री ॥७॥ पश्चिमे वरुणः "तत्त्वायामि" शुनःशेपो वरुण-स्त्रिष्टुप् ॥८॥ वायव्यां वायुः वायोशतं गौतमो वामदेवो वायुरनुष्टुप् ॥९॥ वायुसोममध्येऽष्टौ वसवः "ज्मया अत्र" मैत्रावरुणो वसिष्ठो वसव-स्त्रिष्टुप् ॥१०॥ सोमेशानमध्ये एकादशरुद्राः "आरुद्रासः" श्यावाश्वस्यै-कादशरुद्रा जगती "आरुद्रासः" ईशानेन्द्रमध्ये द्वादशादित्याः "त्यान्नु क्षत्रियान" सांमदो (मत्स्यो) ॥११॥ मध्ये द्वादशादित्या गायत्री ॥१२॥ इन्द्राग्निमध्ये अश्विनौ "अश्विना" राहूगणो गौतमोऽश्विनौ उष्णिक् ॥१३॥ अग्नियममध्ये विश्वेदेवाः सपैतृकाः "ओमासः मधुच्छन्दाविश्वेदेवा गायत्री ॥१४॥ यमनिर्ऋतिमध्ये सप्तयक्षाः "अभित्यं" वामदेवः सप्तयक्षाः प्रकृतिः "ॐ अभित्यं देवं सवितारमोण्योकविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभिः प्रियं मतिर्कवि मतिम् । ऊर्ध्वायस्या मतिर्भाअदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणि-रमिमीतः सुक्रतुः प्रियास्वः ॥१५॥ निर्ऋतिवरुणमध्ये भूतनागाः "आयं" गौ सार्पराज्ञी सार्पा गायत्री "आयंगौः ॥१६॥ वरुणवायुमध्ये गन्धर्वाप्सरसः "अप्सरसां" एतश ऋष्यशृङ्गो गन्धर्वाप्सरसोऽनुष्टुप् "ॐ अप्सरसां गन्ध-र्वाणां" ॥१७॥ ब्रह्मसोममध्ये स्कन्दनन्दीश्वरशूलमहाकालाः "कुमारं" कुमारः स्कन्दस्त्रिष्टुप् ऋषभं मा ॥१९॥ ब्रह्मेशानमध्ये दक्षादि सप्तकोणे वा "अदितिः" लोक्यो वृहस्पतिर्दक्षोऽनुष्टुप् "ॐ अद्रितिर्ह्यजनिष्ट" ॥२०॥ ब्रह्मेन्द्रमध्ये दुर्गा विष्णुश्च "तामग्निवर्णां" सौभरिदुर्गा त्रिष्टुप् । ॐ तामग्निवर्णां" ॥२१॥ "इदं विष्णुः" काण्वोमेधातिथिर्गायत्री "ॐ इदं विष्णुः ॥२२॥ ब्रह्माग्नेयः मध्ये स्वधा "उदीरतां" शंखः स्वधा त्रिष्टुप् "उदीरतामवर" ॥२३॥ ब्रह्मयममध्ये विष्णुमृत्युरोगाः "परंमृत्यो" सङ्कसुकोमृत्युरोगस्त्रिष्टुप् ॥२४॥ ब्रह्मनिर्ऋतिमध्ये गणपतिः "गणानां त्वा" गृत्समदा गणपतिर्जगती ॥२५॥ ब्रह्मवरुणमध्ये आपः "शन्नो" अम्बरीषः सिन्धुद्वीप आपो गायत्री ॥२६॥ ब्रह्मवायुमध्ये मरुतः "मरुतो यस्य" राहूगणां गौतमामरुता गायत्री ॥२७॥ ब्रह्मणः पादमूले कर्णिकाधः पृथ्वी

"स्योना" मेधातिथिर्भूमिर्गायत्री ॥२८॥ तत्रैव गङ्गादिनद्य "इमंमे" सिन्धुक्षित प्रैयमेधो, गङ्गायमुनासरस्वत्यो-जगती ॥२९॥ तत्रैव सप्तसागराः "धाम्नो धाम्नो राजन्नितो वरुण नो मुञ्च। यदापो अघ्न्या इत वरुणेति शपामहे ततो वरुणो नो मुञ्च। मयिगयोमोषधीर्हिसरितो विश्वव्यचा-भूस्त्वेतो वरुण नो मुञ्च ॥३०॥ तदुपरि मेरुं नाम्ना पूजयेत्। बाह्ये सोमादिसमीपे क्रमेणायुधानि—गदां० त्रिशूलं० वज्रं० शक्ति० खड्गं०, पाशं० अङ्कुशं०। तद्वाह्ये उत्तरादितः गौतमः भरद्वाजः विश्वामित्रः कश्यपः जमदग्निः अरुन्धतीति ॥८॥ तद्वाह्ये पूर्वादित ऐन्द्री कौमारी ब्राह्मी वाराही चामुण्डा वैष्णवी माहेश्वरी वैनायकी इत्यष्टौ शक्तयः एतान् स्वस्वमन्त्रैः प्रतिष्ठाप्य प्रत्येकं सह वा पूजयेत् एवमग्निं प्रणीय देवतास्था-पनवेद्यां ग्रहादिपञ्चाशीतिदेवतास्थापनं कुर्यात्।

तत्राऽयं प्रयोगः अद्येहेत्यादिदीक्षादानख्यकर्मणि ग्रहादिपीठदेवतास्था-पनमहं करिष्ये। प्रणवस्य परब्रह्मऋषिः परमात्मादेवता देवीगायत्रीछन्दः व्याहृतीनां क्रमेण जमदग्निभरद्वाजभृगवोऋषयः अग्निवायुसूर्यदेवताः देवी-गायत्रीदेवीउष्णिक्देवीबृहत्यश्छन्दांसि सूर्याद्यावाहने विनियोगः। तत्राग्र-पीठमध्ये वर्तुले द्वादशाङ्गुले मण्डले प्राङ्मुखं सूर्यं रक्तपुष्पाक्षतैः आकृष्णेति हिरण्यस्तूपऋषिः सवितादेवता त्रिष्टुप् छन्दः सूर्यावाहने विनियोगः। "आकृष्णेन०" ॐ भूर्भुवः स्वः कलिङ्गदेशोद्भव काश्यपगोत्र सूर्यहागच्छेत्या-वाह्येहतिष्ठेति स्थापयेत्। तत आग्नेये चतुरस्रे चतुर्विंशत्यङ्गुले मण्डले प्राङ्मुखं सोमं श्वेतपुष्पाक्षतैः आप्यायस्वेति गौतमः होमो गायत्री सोमा-वाहने विनियोगः "ॐ आप्यायस्व०" ॐ भूर्भुव० स्व० यमुनातीरोद्भव आत्रेयसगोत्र सोमेहागच्छेत्यावाह्येहतिष्ठेति स्थापयेत् ॥२॥ ततो दक्षिणे त्रिकोणे त्र्यङ्गुले मण्डले दक्षिणमुखं भौमं रक्तपुष्पक्षतैः अग्निर्मूर्धेतिविरूपः अङ्गिरसोऽङ्गारको गायत्री अङ्गारकावाहने विनियोगः। "ॐ अग्नि-मूर्धा०" ॐ भूर्भुवः स्वः सरस्वती समुद्भव भारद्वाजसगोत्र भौमेहागच्छे-त्यावाह्येहतिष्ठेति स्थापयेत् ॥३॥ तत ऐशाने बाणाकारे चतुरङ्गुले मण्डले उदङ्मुखं बुधं पीतपुष्पाक्षतैः उद्बुध्यस्वमिति बुधःसौम्यो बुधस्त्रिष्टुप्

वुधावाहने विनियोगः । "ॐ उद्बुध्यस्व०" ॐ भूर्भुवः स्वः मगधदेशोद्भव आत्रेयसगोत्र बुधेहागच्छेत्यावाह्येहतिष्ठेति स्थापयेत् ।।४।। तत उत्तरतो दीर्घ-चतुरस्रे षडङ्गुले उदङ्मुखं वृहस्पतिं पीतपुष्पाक्षतैः बृहस्पतये इति गृत्स-मदो बृहस्पतिस्त्रिष्टुप् बृहस्पत्यावाहने विनियोगः । "बृहस्पतेऽतिय०" ॐ भूर्भुवः स्वः सिन्धुदेशोद्भवाङ्गिरससगोत्र वृहस्पते इहागच्छेत्यावाह्येह-तिष्ठेति स्थापयेत् ।।५।। ततः पूर्वे पञ्चकोणे नवाङ्गुले मण्डले प्राङ्मुखं शुक्रं शुभ्रपुष्पाक्षतैः शुक्रइति पाराशरः शुक्रो द्विपदाविराट् शुक्रावाहने विनियोगः । "ॐ शुक्रः शुशुक्वान्" ॐ भूर्भुवः स्वः भोजराड्देशोद्भवभा-र्गवसगोत्र शुक्रेहागच्छेत्यावाह्येहतिष्ठेति स्थापयेत् ।।६।। ततः पश्चिमे धनुषि द्व्यङ्गुले प्रत्यङ्खं शनिं कृष्णपुष्पाक्षतैः शमग्निरिति इरिंबिठिः शनैश्चर-उष्णिक् शन्यावाहने विनियोगः । "ॐ शमग्निः" ॐ भूर्भुवः स्वः सौराष्ट्र-देशोद्भव काश्यपसगोत्र शने इहागच्छेत्यावाह्येहतिष्ठेति संस्थापयेत् ।।७।। ततः कृष्णशूर्पमण्डले दक्षिणमुखं राहुं धूम्रपुष्पाक्षतैः 'कयान' इति वामदेवो राहुर्गायत्री विनियोगः । "ॐ कयानः" ॐ भूर्भुवः स्वः पूर्वदेशोद्भव पाटलिसगोत्र राहो इहागच्छेत्यावाह्येहतिष्ठेति स्थापयेत् ।।८।। ततो वायव्ये ध्वजाकारे मण्डले दक्षिणमुखान् केतून् कृष्णपुष्पाक्षतैः' केतुं कृण्वन्निति मधुच्छन्दाः केवतो गायत्री केत्वावाहने विनियोगः । "ॐ केतुं कृण्वन्" ॐ भूर्भुवः स्वः मध्यदेशोद्भवा जैमिनिसगोत्राः केतव इहागच्छतेत्यावाह्येह तिष्ठतेति स्थापयेत् ।।९।।

अथाधिदेवताः श्वेतपुष्पाक्षतैः क्रमात् सूर्यादीनां दक्षिणतः स्थाप्याः । "त्र्यम्बकं" वशिष्ठो रुद्रोऽनुष्टुप् । विनियोगः सर्वत्र देयः । "त्र्यम्बकं" ॐ भूर्भुवः स्वः ईश्वरः ।।१।। "गौरीर्मिमाय" दीर्घतमा उमा जगतीसोम-दक्षिणे ।।२।। "यदक्रन्दो" दीर्घतमा स्कन्दस्त्रिष्टुप् ।।३।। "विष्णो दीर्घतमा विष्णुस्त्रिष्टुप् ।।४।। "ब्रह्मजज्ञानं" गौतमी वामदेवोब्रह्मात्रिष्टुप् ।।५।। "इन्द्रं वो" मधुच्छन्दा इन्द्रो गायत्री ।।६।। "यमायसोमं" यमो यमोऽनुष्टुप् ।।७।। "मोषुणो" घोरः कण्वोगायत्री ।।८।। "उषोवाजं" प्रस्कण्वश्चित्रगुप्तो बृहती

॥९॥ "एवमेव" शुक्लपुष्पाक्षतैर्ग्रहाणां वामे मन्त्रान्ते व्याहृतीरुक्त्वा इहागच्छेहतिष्ठेति चोक्त्वा प्रत्यधिदेवताः स्थापयेत् ।

"अग्निं" काण्वो मेधातिथिरग्निगायत्री, "अग्निदूतं" ॥ १ ॥ "अप्सुमेधातिथिरापोऽनुष्टुप् ॥२॥ "स्योना" मेधातिथिर्भूमिगायत्री ॥३॥ "इन्द्रं विष्णुः" मेधातिथिर्विष्णुर्गायत्री ॥४॥ "इन्द्रः श्रेष्ठानि" गृत्समद इन्द्रस्त्रिष्टुप् ॥५॥ "इन्द्राणी" वृषाकपिरिन्द्राणीपङ्क्तिः ॥६॥ "प्रजापते न हि" हिरण्यगर्भःप्रजापतिस्त्रिष्टुप् ॥७॥ "अयं गौः" सार्पराज्ञी सार्पागायत्री ॥८॥ "ब्रह्म जज्ञानं" गौतमो वामदेवो ब्रह्मात्रिष्टुप् ॥९॥ ततः शुक्लपुष्पाक्षतैर्विनायकादीन् पञ्च०। "गणानां त्वा०" गृत्समदो गणपतिर्जगती, राहोः (वामे) विनायकम् ॥१॥ "जातवदसे" काश्यपोदुर्गात्रिष्टुप्, शनेरुत्तरतो दुर्गां० ॥२॥ "तव वामवृतस्पते" आङ्गिरसो वायुर्गायत्री, रवेरुत्तरतोवायु०। एतान् मन्त्रान्पठन्ति साम्प्रदायिकाः ॥३॥ "आदित्प्रत्नस्य" वत्सआकाशो गायत्री राहोर्दक्षिणेआकाशम् ॥४॥ "एषो उषा" प्रस्कण्वोऽश्विनौ गायत्री अश्विनाविहागच्छतमिहतिष्ठतमिति केतोर्दक्षिणेऽश्विनौ ॥५॥

अथ लोकपाला—"इन्द्रं विश्वाजेता मधुच्छन्दस् इन्द्रोऽनुष्टुप्, इन्द्रेहागच्छेहतिष्ठेति पूर्वे इन्द्रं। एवमुत्तरत्र ॥१॥ "अग्नि" मेघातिथिरग्निर्गायत्री ॥२॥ "यमाय सोमं" यमो यमोऽनुष्टुप् ॥३॥ "मोषुणो" घोरः कण्वोनिर्ऋतिर्गायत्री ॥४॥ "त्वन्नो अग्ने" वामदेवोवरुणस्त्रिष्टुप् ॥५॥ "तववायो" व्यश्व्योवायुर्गायत्री ॥६॥ "सोमो धेनुं" गौतमः सोमस्त्रिष्टुप् ॥७॥ "तमीशानं" गौतमःसोम ईशानो गायत्री ॥८॥ "सहस्रशीर्षः" नारायणोऽनन्तोऽनुष्टुप्, ईशानपूर्वयोर्मध्येऽनन्त० ॥९॥ "ब्रह्मजज्ञानं" गौतमो वामदेवो ब्रह्मात्रिष्टुप् ॥१०॥ नैर्ऋत्यपश्चिमयोर्मध्ये ब्रह्माणम्० ॥११॥ ततः उत्तरे "क्षेत्रस्य" वामदेवः क्षेत्रपालोऽनुष्टुप्। "वास्तोष्पते" वसिष्ठो वास्तोस्पतिस्त्रिष्टुप्। ततः 'सामवनिशशीरस्त्वं गहनं परमेष्ठिनः। विषपापहरो नित्यमतःशान्तिं प्रयच्छ मे' ॥१॥ इत्यनेन चोत्तरे गरुत्मन्तमावाह्य। रवेः पूर्वे शेषं, सोमस्याग्रे वासुकिं, भौमाग्रे तक्षकं,

बुधोत्तरे कर्कोटकं, बृहस्पतेरग्रे पद्मकं, शनिपश्चिमे शङ्खपालं, राहोःपुरः कम्बलं, केतोः पुरः कुलिकम्। पीठात् प्राच्यामश्विन्यादि सप्तनक्षत्राणि, विष्कम्भादिसप्तयोगान्, ववबालवकरणे, सप्तद्वीपानि ऋग्वेदं च। दक्षिणे पुष्यादिसप्तनक्षत्राणि, धृत्यादिसप्तयोगान्, कौलवतैतिले करणे, सप्तसागरान्, यजुर्वेदश्च। पश्चिमे स्वात्यादिसप्तनक्षत्राणि, वज्रादिसप्तयोगान्, गरवणिजे करणे, सप्तपातालानि, सामवेदश्च। उत्तरेऽभिजिदादिसप्तनक्षत्राणि, साध्यादिषड्योगान्, विष्टिकरणं भूरादिसप्तलोकान् अथर्ववेदश्च। वायव्ये ध्रुवं सप्तर्षींश्च। अथ यथावकाशं गङ्गादिसप्तसरितः सप्त कुलाचलान्, अष्टौ वसून्, द्वादशादित्यान्, एकादशरुद्रान्, एकोनपञ्चाशन्मरुतः, षोडशमातॄः, षड्ऋतून्, द्वादशमासान्, द्वे अयने पञ्चदशतिथीः, षष्टिसम्वत्सरान्, नागान्सर्पान्, यक्षान्, गन्धर्वान्, विद्याधरान्, अप्सरसः, रक्षांसि भूतानि मनुष्यान् इति। ततो ऐशान्यां कलशं स्थाप्य तत्र वरुणमावाह्य सम्पूज्याभ्यर्च्चयेत्।

यथा कलशाभिमन्त्रणम्।

'कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः ॥१॥
कुक्षौ तु सागराःसर्वे सप्तद्वीपा वसुन्धरा।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः ॥२॥
अङ्गैश्च सहिताः सर्वे कलशन्तु समाश्रिताः।
अत्र गायत्री सावित्री शान्तिः पुष्टिकरी तथा ॥३॥
आयान्तु यजमानस्य दुरितक्षयकारकाः।
देवदानवसम्वादे मथ्यमाने महोदधौ ॥४॥
उत्पन्नोऽसि तदा कुम्भ ! विधृतो विष्णुना स्वयम्।
त्वत्तोये सर्वतीर्थानि, देवाःसर्वे त्वयि स्थिताः ॥५॥
त्वयि तिष्ठन्ति भूतानि त्वयि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
शिवःस्वयं त्वमेवाऽसि विष्णुस्त्वं च प्रजापतिः ॥६॥

आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवाः सपैतृकाः।
त्वयि तिष्ठन्ति सर्वेऽपि यतः कामफलप्रदाः॥ ७॥
त्वत्प्रसादादिमं यज्ञं कर्तुमीहे जलोद्भव !।
सान्निध्यं कुरु मे देव प्रसन्नो भव सर्वदा॥ ८॥

इति। ततः फलपुष्पमालोल्लसितं वितानं बृहस्पतिदैवतं सूर्यादिभ्य इदं न ममेत्युत्सृज्य ग्रहवेद्युपरि बध्नीयात्। एवं वेदोक्तमण्डपप्रतिष्ठादिकं विदध्यादिति। अन्यत्सर्वं प्रागुक्तविधिना विधेयम्। ततो गुरुः शूद्रव्यतिरिक्तं शिष्यं पञ्चगव्यं पाययित्वा पीठन्यासं कारयेत्।

अथ योगपीठन्यासः

तत्रांसद्वयोरुद्वयकल्पितपादचतुष्टयं मुखनाभिपार्श्वद्वयमध्योपकल्पितगात्रचतुष्टयं योगपीठं निजदेहे ध्यात्वा न्यसेत्। मूलाधारे ४ (ॐ ऐं ह्रीं श्रीं) महाकालाय ४ रक्तवर्णाय मण्डूकाधाराय नमः। तदुपरि स्वाधिष्ठानपर्यन्तं ४ पञ्चवक्त्राय दशभुजरक्तकृष्णवामदक्षिणपार्श्वाय कालाग्निरुद्राय नमः। तदुपरि नाभिपर्यन्तं ४ बन्धूकरुचिरायै मूलप्रकृत्यै नमः। तदुपरि हृत्पर्यन्तं ४ शरच्चन्द्रप्रभायै पङ्कजद्वयधारिण्यै आधारशक्तये नमः। तदुपरि हृदय एव ४ कूर्माय नमः, ४ अनन्ताय नमः, ४ वहाराय०, ४ पृथिव्यै०, ४ अमृतार्णवाय०, (४ समस्तमातृकामुच्चार्य) नवखण्डविराजिताय नवरत्नमयद्वीपाय नमः। (तत्रैव नवखण्डेषु ईशानादिमध्यान्तं), ४ अं १६ पुष्परागरत्नाय नमः। ४ कं ५ नीलरत्नाय० ४ चं ५ वैडूर्यरत्नाय० ४ टं ५ विद्रुमरत्नाय ४ तं ५ मौक्तिकरत्नाय० ४ पं ५ मरकतरत्नाय० ४ यं ४ वज्ररत्नाय० ४ शं ४ गोमेदरत्नाय० ४ लं क्षं पद्मरागरत्नाय नमः। तत्रैव स्वर्णपर्वताय नमः। तदुपरि ४ नन्दनोद्यानाय नमः। तन्मध्ये ४ कल्पकोद्यानाय नमः, ४वसन्तादिषट्ऋतुभ्यो नमः। पश्चिमे ४ इन्द्रियाश्वेभ्यः०, पूर्वे ४ इन्द्रियार्थगजेभ्यो नमः, ४ विचित्ररत्नभूमिकायै नमः। तत्र (पश्चिमादिमध्यान्तं विलोमेन) ४ कालचक्रेश्वरी श्रीपादुकां पूजयामि ४ मुद्राचक्रेश्वरी श्रीपा० ४ मातृकाचक्रेश्वरी श्रीपा० ४ रत्नचक्रेश्वरी श्रीपा० ४ देशचक्रेश्वरी श्री० ४

गुरुचक्रेश्वरी श्री० ४ तत्त्वचक्रेश्वरी श्री ४ ग्रहचक्रेश्वरी श्री० ४ मूर्तिचक्रेश्वरी श्री० ४ कारणतोयपरिधये ४ माणिक्यमण्डपाय० । तस्य (निऋतादिकोणेषु मध्ये च) ४ दशरूपिणीशक्ति श्री० ४ कालरूपिणीशक्ति श्री० ४ आकाररूपिणीशक्ति श्री० ४ शब्दरूपिणीशक्ति श्री० ४ मध्ये संगीतयोगिनीरूपिणीशक्ति श्री० ४ तन्मध्ये समस्तगुप्तप्रकटयोगिनी चक्ररूपिणीशक्तिश्री० । (ततस्तन्मध्ये) ४ कल्पतरुभ्यो नमः (तेषामधस्तात्) ४ रत्नवेदिकायै नमः । तदुपरि ४ श्वेतच्छत्राय नमः । तस्याधः ४ रत्नसिंहासनाय नमः । (इत्येतत्सर्वं मानसपङ्कजे विन्यस्य यथायथं तत्तत्स्थानान्यध्यवस्य रत्नसिंहासनत्वेनाऽऽत्मदेहं ध्यायेत्) । तत्र सिंहासनदेवता न्यसेत् । दक्षांसे ४ रक्तवर्णाय ऋषभरूपाय धर्माय नमः । वामांसे ४ श्यामवर्णाय सिंहरूपाय ज्ञानाय० । वामोरौ ४ पीतवर्णाय भूताकराय वैराग्याय० । दक्षोरौ ४ इन्द्रनीलप्रभाय गजरूपाय ऐश्वर्याय० (एते सिंहासनपादरूपिणः) । मुखे ४ अधर्माय० । वामपार्श्वे ४ अज्ञानाय० । नाभौ ४ वैराग्याय० । दक्षपार्श्वे ४ अनैश्वर्याय० (एते सिंहासनगात्ररूपिणः) । मध्ये ४ मायायै० ४ विद्यायै० । तदुपरि आनन्दकन्दाय० ४ संविन्नालाय० ४ प्रकृतिमयपत्रेभ्यः० ४ विकारमयकेसरेभ्यः० ४ पञ्चाशद्वर्णबीजाढ्यसर्वतत्त्वरूपायै कर्णिकायै० तस्यां ४ अं सूर्यमण्डलाय० ४ उं सोममण्डलाय० ४ मं वह्निमण्डलाय० ४ सं सत्त्वाय० ४ रं रजसे, ४ तं तमसे० ४ आं आत्मने० ४ अं अन्तरात्मने० ४ पं परमात्मने० ४ ह्रीं ज्ञानात्मने० । तदुपरि पूर्वादिचतुर्दिक्षु मध्ये च ४ ज्ञानतत्त्वात्मने नमः, ४ मायातत्त्वात्मने० ४ कलातत्त्वात्मने० ४ विद्यातत्त्वात्मने ४ परतत्त्वात्मने० ४ । ततः (केसरेषु पूर्वाद्यष्टदिक्षु मध्ये च श्रीचक्राधारपीठस्य नवशक्तीर्न्यसेत्) । ४ दूतर्यम्बाश्री० ४ सुन्दर्यम्बाश्री० ४ सुमुख्यम्बाश्री० ४ विरूपाम्बाश्री० ४ विमलाम्बाश्री० ४ अन्तर्यम्बाश्री० ४ बदर्यम्बाश्री० ४ पुरन्दर्यम्बाश्री० मध्ये कर्णिकायां ४ पुष्पमर्दन्यम्बाश्री० । (एता वराभयधारिण्यो रक्तवर्णा ध्येयाः) । तदुपरि ४ क्लीं सर्वशक्तिकमलासनाय नमः (इति सिंहासनमन्त्रं विन्यस्य तदुपरि श्रीचक्रं ध्यात्वा), ४ मूलं समस्तप्रकटगुप्तगुप्ततरसम्प्रदायकुलकौलनिगर्भरहस्यातिरहस्यपरापरातिरहस्ययोगिनी–

श्रीचक्रपादुकाभ्यो नमः इति व्यापकेन विन्यस्य, (हृदि त्रिकोणं विभाव्य तन्मध्ये) ४ मूलं ओं ह्रीं क्लीं भगवति ब्लूं नित्यकामेश्वरि ब्लीं सर्वसत्त्ववशंकरि सः त्रिपुरभैरवि ऐं विच्चे ह्रीं श्राश्री महात्रिपुरसुन्दर्यम्बाश्री० इति विन्यस्य, (प्रणवादिनमोऽन्तां मूलविद्याञ्च विन्यस्य श्रीचक्रं पुरत्रयात्मकं ध्यात्वा), तत्राऽऽरोहक्रमेण ४ वाग्भवमुच्चार्य चतुरस्रषोडशदलाष्टदलात्मने शरीरात्मकाय प्रथमपुराय नमः इति व्यापकं न्यसेत् । ततः ४ कामराजमुच्चार्य चतुर्दशारद्विदशारात्मने बुद्ध्यात्मकाय द्वितीयपुराय नमः इति व्यापकम् । ४ शक्तिकूटमुच्चार्याष्टारत्रिकोणबिन्दुचक्रात्मने प्राणात्मकाय तृतीयपुराय नमः इत्यपि व्यापकं विन्यस्य ४ इच्छाशक्तिज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्यादिसमस्तत्रितयात्मने श्रीचक्रस्य पुरत्रयाय नमः इति व्यापकम् । (ततो हृदयत्रिकोणस्याग्रादिकोणत्रयमपि पुरत्रयात्मकं वाग्भवादिपुरत्रयात्मकं च ध्यात्वा, तत्र प्रणवादिनमोऽन्तं वाग्भवादिकूटत्रयं न्यसेत्) । ततो नादबिन्दुकलाज्येष्ठारौद्रीवामाविषघ्नीदूतरीसर्वानन्दाभ्यः श्रीचक्रस्थत्रैलोक्यमोहनादिनवचक्रशक्तिभ्यो नमः इत्यनेन व्यापकं कुर्यात् । (ततो हृदयकमलकेसरेषु कामेश्वरीपीठस्य नवशक्तीर्न्यसेत्) । ४ मोहिन्यै नमः ४ क्षोभिण्यै० ४ वशिन्यै ४ स्तम्भिन्यै० ४ आकर्षिण्यै० ४ द्राविण्यै० ४ आह्लादिन्यै० ४ क्लिन्नायै० मध्ये ४ क्लेदिन्यै० इति विचिन्त्य, त्रिकोणमध्ये (बालामूलं पञ्चदशीं) चोच्चार्य त्रिकोणरक्तवर्णोड्डीयानपीठश्री० त्रिकोणाग्रे ४ बालामूलयोर्वाग्भवद्वयमुच्चार्य चतुरस्रपीतवर्णकामरूपपीठश्री० । दक्षिणकोणे ४ कामराजद्वयमर्धचन्द्रनिभश्वेतवर्णजालन्धरपीठश्री० । वामकोणे ४ शक्तिबीजद्वयं षड्बिन्दुलाञ्छितवृत्तधूम्रवर्णं पूर्णगिरिपीठश्री० इति पीठचतुष्टयं विन्यस्य (पुनर्बैन्दवे आग्नेयादिकोणेषु ४ लां ह्लां ब्रह्मणे पृथिव्यधिपतये नमो ब्रह्मप्रेतासनश्री० । ४ वां ह्लीं विष्णवेऽपामधिपतये नमो विष्णुप्रेतासनश्री० । ४ रां ह्लूं रुद्राय तेजोधिपतये नमो रुद्रप्रेतासनश्री० । ४ यां ह्लैं ईश्वराय वाय्वधिपतये नमः ईश्वरप्रेतासनश्री० । ४ ह्सौ वियदधिपतये पञ्चवक्त्राय । सदाशिवमहाप्रेतपद्मासनाय नमः सदाशिवमहाप्रेतपद्मासनश्री० । इति पञ्चप्रेतासनं न्यस्य, (तदुपरि रक्तपद्मकर्णिकायां चतुरस्रगर्भितषट्कोणपीठे षडासनानि विन्यसेत्) । ४ अं आं सौः त्रिपुरसुधावर्णवासनाय नमः । ४ ऐं क्लीं सौः

त्रिपुरेश्वरी पीताम्बुजासनाय नमः । ४ ह्रीं क्लीं सौः त्रिपुरसुन्दरी देव्यात्मासनाय नमः । ४ हैं ह्क्लीं ह्सौ त्रिपुरवासिनी सर्वचक्रासनाय नमः । ह्सैं ह्स्क्लीं ह्सौः त्रिपुराश्रीसर्वमन्त्रासनाय नमः । ४ ह्रीं क्लीं ब्लें त्रिपुरमालिनी साध्यसिद्धासनाय नमः (इति विन्यस्य मध्ये चतुरस्रे चतुष्पीठे चतुरासनं न्यसेत्) । ऐशाने ४ वाग्भवद्वयमुच्चार्य अग्निचक्रे कामगिर्यालये मिगेशनाथात्मके जाग्रद्दशाधिष्ठायके इच्छाशक्त्यात्मकरुद्रात्मकशक्तिकामेश्वरीदेवी ह्रीं क्लीं सौः त्रिपुरसुन्दरीदेव्यात्मासनाय नमः । वायव्यकोणे ४ कामराजद्वयं, सूर्यचक्रे जालन्धरपीठे षष्ठेशनाथात्मके स्वप्नदशाधिष्ठायके ज्ञानशक्त्यात्मविष्ण्वात्मकशक्तिश्रीवज्रेश्वरीदेवी हैं ह्क्लीं ह्सौः त्रिपुरवासिनी सर्वचक्रासनाय नमः । नैर्ऋते ४ शक्तिबीजद्वयमुच्चार्य सोमचक्रे पूर्णगिरिपीठे उड्डीशनाथात्मके सुषुप्तिदशाधिष्ठायके क्रियाशक्त्यात्मकब्रह्मात्मशक्तिश्रीभगमालिनीदेवी ह्सैं ह्स्क्लीं ह्सौः त्रिपुराश्रीसर्वमन्त्रासनाय नमः । आग्नेये ४ समस्तद्वयमुच्चार्य, ब्रह्मचक्रे महोड्याणपीठे श्रीचक्रनाथात्मके तुर्यतुर्यातीतदशाधिष्ठायके परब्रह्मशक्त्यात्मकश्रीत्रिपुरसुन्दरीदेवी ह्रीं क्लीं ब्लें त्रिपुरमालिनी साध्यसिद्धासनाय नमः । मध्ये ४ ऐं क्लीं सौः क० १५ श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीसर्वमन्त्रासनाय नमः इति विन्यस्य, ४ अं ५१ शिवशक्तिसदाशिवेश्वरशुद्धविद्यामायाकलाविद्यारागकालनियतिपुरुषप्रकृति–अहङ्कारबुद्धिमनस्त्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणवाक्–पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाकाशवायुवह्निसलिलपृथिव्यात्मने श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्या योगपीठासनाय नमः इति व्यापकं कुर्यात् । ततो मूलमुच्चार्य श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीश्री० इति षट्त्रिंशत्तत्वात्मके देहमये महायोगपीठे निजेष्ठदेवतां हृदि न्यसेत् । "इति देहमये पीठे चिन्तयेत्परदेवताम् ।"

आचार्यः प्राङ्मुखो भूत्वा नव्यं ताम्रादिपात्रमादायास्त्रमन्त्रितजलेन प्रक्षाल्य तस्मिन् पात्रे तण्डुलानुसारेण गोक्षीरं निधाय साधारं तत्पात्रं वह्नौ संस्थाप्य, पञ्चदशप्रसृतिपरिमितान् शालितण्डुलान् मूलमन्त्रेणाभिमन्त्र्य तस्मिन् पात्रे क्षिप्त्वा पिधानपात्रमादायास्त्रमन्त्रितजलेन प्रक्षाल्य—

हुँ इति कवचमन्त्रमुच्चरँस्तेन पात्रेण पाकपात्रमुखं पिधाय मूलमन्त्र-मुच्चरँश्चरुं पचेत् ।

ततः स्रुवेणाज्यमादाय स्विन्नं चरुं मूलमन्त्रमुच्चरन्नभिघारयेत् ।

ततः—हुँ इति कवचमन्त्रेण तत्पात्रमवतार्यास्त्रमन्त्राभिमन्त्रितकुशा-स्तीर्णमण्डले स्थापयेत् ।

ततश्चरुं त्रिधा विभज्य भागमेकं पात्रान्तरे निधाय देवतायै समर्पयेत्, द्वितीयभागं वक्ष्यमाणहोमार्थं तृतीयभागं भोजनार्थं स्थापयेत् ।

ततो वह्नौ देवताया आधारशक्त्यादिपीठमन्त्रान्तं सम्पूज्य तत्रेष्टदेवता-मावाह्योपचारैः सम्पूज्यावरणदेवता अभिपूजयेत् ।

ततो देव्या मूलमन्त्रेण स्वाहान्तेन पञ्चविंशत्याज्याहुतीर्वह्निमुखे जुहुयात् । इदमेव वह्नीष्टदेवतयोर्वक्त्रैकीकरणमित्युच्यते । तत आत्माग्निदेवतानामैक्यं विचिन्त्य एकादशाहुतीर्मूलेनैव दद्यात् । इदं च "नाडीसन्धान" मित्युच्यते ।

तत आवरणदेवताभ्य एकैकामाहुतिं दत्त्वा ऋत्विग्भिरुक्तप्रकारेण संस्कृतेषु पूर्वादिकुण्डेषु क्रमेणाचार्यो वह्निं विहरेत् ।

ततः सर्वे ऋत्विजः स्वस्वकुण्डाग्नौ सावरणामिष्टदेवतामुपचारैः सम्पूज्य मूलमन्त्रेणाज्येन पञ्चविंशत्याहुतीर्हुत्वाऽऽवरणदेवताभ्य एकैकामाहुतिं दद्युः ।

ततो गुरुः पूर्वोक्तचरोर्द्वितीयभागं नवधा विभज्य भागमेकं स्वयं गृहीत्वा एकैकं भागं सर्वेभ्य ऋत्विग्भ्यो दद्यात् ।

ततस्तस्मिंश्चरौ घृतं निधाय सघृतेन चरुणाऽऽचार्य ऋत्विजश्च स्वे स्वे कुण्डे मूलमन्त्रेण प्रत्येकं पञ्चविंशत्याहुतीर्जुहुयुः ।

तत आवरणदेवताभ्य एकैकामाहुतिं दत्त्वा मूलमन्त्रेणाज्येन दश दशा-हुतीर्हुत्वा वह्निरूपामिष्टदेवतां प्रणमेयुः ।

तत आचार्यश्चरोस्तृतीयभागं द्विधा विभज्य पलाशपत्रे पिप्पलपत्रे वा भागमेकं स्वयं गृहीत्वापरंऽभागं शिष्याय दद्यात् । ततो गुरुः शिष्यश्च—

नमः इति हृन्मन्त्रमुच्चरन् ग्रासत्रयं ग्रासाष्टकं वा दन्तस्पर्शं विना भुक्त्वा मन्त्रपूतेन जलेनाऽऽचमनं कुर्यात् ।

ततो गुरुः कृताचमनं शिष्यं मूलमन्त्रेण सकलीकृत्य तस्मै पूर्वोक्तलक्षणं हृन्मन्त्रितं दन्तकाष्ठं दद्यात् ।

ततः शिष्यस्तेन दन्तकाष्ठेन दन्तान् विशोध्य जलेन प्रक्षाल्य दन्तकाष्ठं विमृज्याऽऽचमनं कुर्यात् ।

अस्मिन्नेव समये पूर्वोक्तदन्तकाष्ठपरीक्षां केचित् कुर्वन्ति । ततः सायं सन्ध्योपासनं कृत्वा गुरुर्मूलमन्त्रेण स्वकल्पोक्तमन्त्रान्तरेण वा शिष्यस्य शिखां बद्ध्वा मण्डपाद् वहिर्देवताया दक्षिणभागे वेदिकान्तरोपरि कुश-शय्यायां पूर्वशिरस्कः शिष्येण सार्धं शयनं कुर्यात् ।

शिष्यश्च शयनसमये स्वप्नमानवमन्त्रेण शुभस्वप्नं प्रार्थयेत् । स्वप्न-माणवमन्त्रो यथा:—

'भगवन् देवदेवेश ! शूलभृद् वृषवाहन ! ।
इष्टानिष्टे समाचक्ष्व मम सुप्तस्य शाश्वतम्' ॥ यद्वा—

'ॐ हिलिहिलिशूलपाणये ठः ठः ।
नमोऽजाय त्रिनेत्राय पिङ्गलाय महात्मने ।
वामाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ।
स्वप्ने कथय मे तथ्यं सर्वकार्येष्वशेषतः ।
क्रियासिद्धिं विधास्यामि त्वत्प्रसादान्महेश्वर !' ॥

वैष्णवे तु—'ॐ नमः सकललोकाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।
विश्वाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः' ॥

यद्वा:—'परब्रह्मस्वरूपस्त्वमन्तश्चरसि विश्वधृक् ।
शुभाशुभगतिं देव ! स्वप्ने मे विनिवेदय' ॥

इत्युच्चार्य जानुभ्यामवनीं स्पृष्ट्वा विष्णुं प्रणम्य प्रसन्नो वाग्यतो निजेष्टं विचिन्त्य शयनं कुर्यात् ।

ततः स्वप्नं दृष्ट्वा समुत्थायाचम्य पुष्पं धृत्वा गुरुं प्रणम्य गुरवे स्वप्नं निवेदयेत् ।

ततो गुरु शुभमशुभं वा स्वप्नं निर्णीय स्वप्नो यदि शुभस्तदा देवतां प्रसन्नां जानीयात् । स्वप्नो यद्यशुभस्तदा शान्तिं कुर्यात् ।

दुःस्वप्नशान्तिस्तु—

फट् दुःस्वप्नदोषान् जहि जहि फट् स्वाहा—इति मन्त्रेण ।

ॐ वज्रनखदंष्ट्रायुधाय महासिंहाय हुँ फट् नमः स्वाहा—इति सिंहमन्त्रेण वा तद्देवता गायत्र्या वा पलाशसमिच्छतमाज्याहुतिशतं वा जुहुयात् ।

तत्र गुरुर्मूलेन प्राणायामत्रयं कृत्वा अद्येहेत्यादि० करिष्यमाण-पूर्णाभिषेकाख्ये कर्मणि षट्त्रिंशदुत्तरसप्तशताधिकविंशतिसहस्रसङ्ख्याककालनित्याविद्याभिः पूर्णकलशाभिमन्त्रणं करिष्ये इति सङ्कल्प्य, मस्तकदक्षबाहुमूलादिषट्त्रिंशत्स्थानेषु प्रतिस्थानं षोडशदलपद्मं विभाव्य, तेष्वकारादिक्षकारान्तान् षट्त्रिंशत्तत्त्ववर्णान् प्रत्येकं षोडशस्वरसंयुक्तान् विभाव्य, मध्ये तत्प्रथमाक्षरं विन्यस्य, पूर्वादिदलेषु तत्तदक्षरविकृतषोडशवर्णास्तदादिकान् विन्यसेदिति । एवं पूर्णमण्डलवर्णान् विन्यस्य पुनः सहितनित्यविद्यया प्राणायामत्रयं कृत्वा, शिरसि दक्षिणामूर्तये ऋषये नमः । मुखे पङ्क्तिच्छन्दसे नमः । हृदये कालनित्याविद्यारूपिण्यै श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै देवतायै नमः, इति ऋष्यादिकं विन्यस्य, पूर्णकलशाभिमन्त्रणे विनियोगः, इति कृताञ्जलिरुक्त्वा, तत्तद्दिननित्याविद्याक्षरैस्त्रिभिर्द्विरावृत्या यथाविधि करषडङ्गन्यासं प्राक्प्रोक्तचतुरासनं न्यासं वाग्देवताष्टकन्यासं च विधाय, "रक्तां रक्ताम्बरां रक्तस्रग्विभूषानुलेपनाम् । पाशाङ्कुशेक्षुकोदण्डप्रसूनविशिखां स्मरेत् ।" इति कालनित्यां हृदये ध्यात्वा वक्ष्यमाणविधिना हृदये श्रीचक्रं कालचक्रमध्यागतं विभाव्य, तत्र देवीं सावरणां कालनित्याविद्याभिश्च परिवृतां ध्यात्वा मानसैरुपचारैः सम्पूज्य कालनित्याजपमारभेत् । तत्रादावङ्गविद्यास्त्रिपुरार्णवोक्ताः प्रोच्यन्ते ॥ तत्र ॐ मूलं दि० अ ह्सौः हंसः । मू० दि०, आ ह्सौः हंसः । मू० दि० इ ह्सौः हंसः । मू० दि० ई ह्सौः हंसः । मू० दि० उ ह्सौः हंसः । मू० दि० ऊ ह्सौः हंसः । मू० दि० ऋ ह्सौः हंसः । मू० दि० ॠ ह्सौः हंसः । मू० दि ऌ ह्सौः हंसः । मू० दि०

ॡ ह्सौः हंसः। मू० दि० ए ह्सौः हंसः। मू० दि० ऐ ह्सौः हंसः। मू० दि० ओ ह्सौः हंसः। मू० दि० औ ह्सौः हंसः। मू० दि० अं ह्सौः हंसः। मू० दि० अः ह्सौः हंसः। एवं कादिक्षान्तम्। एवमेकपञ्चाशद्विद्याभिः सह मूलविद्यां जपित्वा केवलमूलविद्यां त्रिर्जपित्वा "ऐं वद वद वाग्वादिनि ऐं क्लीं क्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदय क्लेदय महाक्षोभं कुरु कुरु क्लीं सौः मोक्षं कुरु कुरु ह्सौः" स्हौः इति दीपिनीविद्यामेकवारं जपित्वा, प्रागुक्त श्रीगुरुपादुकामेकवारं जपित्वा पुनश्चत्वारिंशद्विद्याभिः सह मूलविद्यां जपेत्। यथा, मूलं आ क्षा ह सा ई ह सः। मूलं ई ला सा ई हं सः। मूलं ऊ हा ह सा ई हं सः। मू० ॠ सा ह ह सा ई हंसः। मूलं ॡ षा ह सा ई हं सः। मूलं ऐं शा ह् सा ई हं सः। मूलं औ वा ह सा ई हं सः। मूलं अः ला ह् सा ई हंसः, इत्यष्टधा जपित्वा पुनः मूलं आ क्षा ई हं सः। मूलं अक्षाईहंसः। मूलं ईळाई हं सः। मूलं इ ळाई हं सः। मू० ऊ हा ई हं सः। मूलं उ हा ई हं सः। मूलं ॠ षा ई हं सः। मूलं ऋ षा ई हं सः। मूलं ॡ सा ई हं सः। मूलं ऌ षा ई हं सः। मूलं ऐ शा ई हं सः। मूलं ए शा ई हं सः। मूलं औ वा ई हं सः। मूलं ओ वा ई हं सः। मूलं अः ला ई हं सः। मूलं अं ला ई हं सः। इति षोडशधा जपित्वा पुनः मूलं अकाई हं सः एवं इचा ई हं सः। उ टा ई हं सः। ऋ ताई हं सः। ऌ पा ई हं सः। ए या इ हंसः। ओ शा ई हं सः। अं ळा ई हं सः' इत्यष्टधा जपित्वा पश्चात् कालनित्याविद्याभिः सह मूलविद्यां जपेत्। अयमङ्गविद्याजपो वर्गद्वयस्यादौ प्रत्यहं कार्यः। अथ श्रीगुरुर्ब्रह्मकूर्चेन कुम्भं संस्पृशना काळनित्यां जपेत्।

अथ कालनित्याजपः। २ मू० अ आ ई हं सः। २ मू० अ का ई हंसः। २ मू अ खा ई हं सः। २ मू० अ गा ई हं सः। २ मू० अ घा ई हं सः। २ मू० अ ङा ई हं सः। २ मू० अ चा ई हं सः। २ मू० अ छा ई हं सः। २ मू० अ जा ई हं सः। २ मू० अ झा ई हं सः। २ मू० अ ञा ई हं सः। २ मू० अ टा ई हं सः। २ मू० अ ठा ई हं सः। २ मू० अ डा ई हं सः। २ मू० अ ढा ई हं सः। २ मू० अ णा ई हं सः। २ मू० अ ता ई हं सः।

२ मू० अ था ई हं सः। २ मू० अ दा ई हं सः। २ मू० अ धा ई हं सः।
२ मू० अ ना ई हं सः। २ मू० अ पा ई हं सः। २ मू० अ फा ई हं सः।
२ मू० अ बा ई हं सः। २ मू० अ भा ई हं सः। २ मू० अ मा ई हं सः।
२ मू० अ या ई हं सः। २ मू० अ रा ई हं सः। २ मू० अ ला ई हं सः।
२ मू० अ वा ई हं सः। २ मू० अ शा ई हं सः। २ मू० अ षा ई हं सः।
२ मू० अ सा ई हं सः। २ मू० अ हा ई हं सः। २ मू० अ ळा ई हं सः।
२ मू० अ क्षा ई हं सः। इति जपित्वा, पुनः २ मूलं आ का ई हं सः।
एवं बीजद्वयमूलविद्या सर्वत्र योज्या। आ खा ई। आ गा ई। आ घा ई।
आ ङा ई। आ चा ई। आ छा ई। आ जा ई। आ झा ई। आ ञा ई।
आ टा ई। आ ठा ई। आ डा ई। आ ढा ई। आ णा ई। आ ता ई।
आ था ई। आ दा ई। आ धा ई। आ ना ई। आ पा ई। आ फा ई।
आ बा ई। आ भा ई। आ मा ई। आ या ई। आ रा ई। आ ला ई।
आ वा ई। आ शा ई। आ षा ई। आ सा ई। आ हा ई। आ ळा ई।
आ क्षा ई। इतिजपित्वा पुन० २ मूलम् इ आ ई। इ का ई। इ खा ई।
इ गा ई। इ घा ई। इ ङा ई। इ चा ई। इ छा ई। इ जा ई।
इ झा ई। इ ञा ई। इ टा ई। इ ठा ई। इ डा ई। इ ढा ई।
इ णा ई। इ ता ई। इ था ई। इ दा ई। इ धा ई। इ ना ई। इ पा ई।
इ फा ई। इ बा ई। इ भा ई। इ मा ई। इ या ई। इ रा ई। इ ला ई।
इ वा ई। इ शा ई। इ षा ई। इ सा ई। इ हा ई। इ ळा ई। इ क्षा ई।
हं स इति जपित्वा पुनः २ मूलम्। ई आ ई। ई का ई। ई खा ई। ई गा ई।
ई घा ई। ई ङा ई। ई चा ई। ई छा ई। ई जा ई। ई झा ई। ई ञा ई।
ई टा ई। ई ठा ई। ई डा ई। ई ढा ई। ई णा ई। ई ता ई। ई था ई।
ई दा ई। ई धा ई। ई ना ई। ई पा ई। ई फ़ा ई। ई बा ई। ई भा ई।
ई मा ई। ई या ई। ई रा ई। ई ला ई। ई वा ई। ई शा ई। ई षा ई।
ई सा ई। ई हा ई। ई ळा ई। ई क्षा ई। हंस इति जपित्वा, पुनः २ मूलम्।
उ आ ई। उ का ई। उ खा ई। उ गा ई। उ घा ई। उ ङा ई। उ चा ई।
उ छा ई। उ जा ई। उ झा ई। उ ञा ई। उ टा ई। उ ठा ई। उ डा ई।

उ ढा ई। उ णा ई। उ ता ई। उ था ई। उ दा ई। उ धा ई। उ ना ई। उ पा ई। उ फा ई। उ बा ई। उ भा ई। उ मा ई। उ या ई। उ रा ई। उ ला ई। उ वा ई। उ शा ई। उ षा ई। उ सा ई। उ हा ई। उ ळा ई। उ क्षा ई। हंस इति जपित्वा पुनः २ मूलम्। ऊ आ ई। ऊ का ई। ऊ खा ई। ऊ गा ई। ऊ घा ई। उ ङा ई। ऊ चा ई। ऊ छा ई। ऊ जा ई। ऊ झा ई। ऊ ञा ई। ऊ टा ई। ऊ ठा ई। ऊ डा ई। ऊ ढा ई। ऊ णा ई। ऊ ता ई। ऊ था ई। ऊ दा ई। ऊ धा ई। ऊ ना ई। ऊ पा ई। ऊ फा ई। ऊ बा ई। ऊ भा ई। ऊ मा ई। ऊ या ई। ऊ रा ई। ऊ ला ई। ऊ वा ई। ऊ शा ई। ऊ षा ई। ऊ सा ई। ऊ हा ई। ऊ ळा ई। ऊ क्षा ई। इति जपित्वा पुनः २ मूलम् ऋ आ ई हंसः। ऋ का ई। ऋ खा ई। ऋ गा ई। ऋ घा ई। ऋ ङा ई। ऋ चा ई। ऋ छा ई। ऋ जा ई। ऋ झा ई। ऋ ञा ई। ऋ टा ई। ऋ ठा ई। ऋ डा ई। ऋ ढा ई। ऋ णा ई। ऋ ता ई। ऋ था ई। ऋ दा ई। ऋ धा ई। ऋ ना ई। ऋ पा ई। ऋ फा ई। ऋ बा ई। ऋ भा ई। ऋ मा ई। ऋ या ई। ऋ रा ई। ऋ ला ई। ऋ वा ई। ऋ शा ई। ऋ षा ई। ऋ सा ई। ऋ हा ई ऋ ळा ई। ऋ क्षा ई। इति पठित्वा पुनः। २ मूलम्। ॠ आ ई। ॠ का ई। ॠ खा ई। ॠ गा ई। ॠ घा ई। ॠ ङा ई। ॠ चा ई। ॠ छा ई। ॠ जा ई। ॠ झा ई। ॠ ञा ई। ॠ टा ई। ॠ ठा ई। ॠ डा ई। ॠ ढा ई। ॠ णा ई। ॠ ता ई। ॠ था ई। ॠ दा ई। ॠ धा ई। ॠ ना ई। ॠ पा ई। ॠ फा ई। ऋ बा ई। ॠ भा ई। ॠ मा ई। ॠ या ई। ऋ रा ई। ॠ ला ई। ॠ वा ई। ॠ शा ई। ॠ षा ई। ॠ सा ई। ॠ हा ई। ऋ ळा ई। ऋ क्षा ई। इति जपित्वा, पुनः २ मूलम्। ऌ आ ई। ऌ का ई। ऌ खा ई। ऌ गा ई। ऌ घा ई। ऌ ङा ई। ऌ चा ई। ऌ छा ई। ऌ जा ई। ऌ झा ई। ऌ ञा ई। ऌ टा ई। ऌ ठा ई। ऌ डा ई। ऌ ढा ई। ऌ णा ई। ऌ ता ई। ऌ था ई। ऌ दा ई। ऌ धा ई। ऌ ना ई। ऌ पा ई। ऌ फा ई। ऌ बा ई। ऌ भा ई। ऌ मा ई। ऌ या ई। ऌ रा ई। ऌ ला ई। ऌ वा ई। ऌ शा ई। ऌ षा ई। ऌ सा ई। ऌ हा ई। ऌ ळा ई। ऌ क्षा ई इति पठित्वा, पुनः २

मूलम् । लॄ आ ई । लॄ का ई । लॄ खा ई । लॄ गा ई । लॄ घा ई । लॄ ङा ई । लॄ चा ई । लॄ छा ई । लॄ जा ई । लॄ झा ई । लॄ ञा ई । लॄ टा ई । लॄ ठा ई । लॄ डा ई । लॄ ढा ई । लॄ णा ई । लॄ ता ई । लॄ था ई । लॄ दा ई । लॄ धा ई । लॄ ना ई । लॄ पा ई । लॄ फा ई । लॄ बा ई । लॄ भा ई । लॄ मा ई । लॄ या ई । लॄ रा ई । लॄ ला ई । लॄ वा ई । लॄ शा ई । लॄ षा ई । लॄ सा ई । लॄ हा ई । लॄ ळा ई । लॄ क्षा ई । इति जपित्वा पुनः मूलम् । ए आ ई । ए का ई । ए खा ई । ए गा ई । ए घा ई । ए ङा ई । ए चा ई । ए छा ई । ए जा ई । ए झा ई । ए ञा ई । ए टा ई । ए ठा ई । ए डा ई । ए ढा ई । ए णा ई । ए ता ई । ए था ई । ए दा ई । ए धा ई । ए ना ई । ए पा ई । ए फा ई । ए बा ई । ए भा ई । ए मा ई । ए या ई । ए रा ई । ए ला ई । ए वा ई । ए शा ई । ए षा ई । ए सा ई । ए हा ई । ए ळा ई । ए क्षा ई । इति जपित्वा पुनः मूल २—ऐ आ ई । ऐ का ई । ऐ खा ई । ऐ गा ई । ऐ घा ई । ऐ ङा ई । ऐ चा ई । ऐ छा ई । ऐ जा ई । ऐ झा ई । ऐ ञा ई । ऐ टा ई । ऐ ठा ई । ऐ डा ई । ऐ ढा ई । ऐ णा ई । ऐ ता ई । ऐ था ई । ऐ दा ई । ऐ धा ई । ऐ ना ई । ऐ पा ई । ऐ फा ई । ऐ बा ई । ऐ भा ई । ऐ मा ई । ऐ या ई । ऐ रा ई । ऐ ला ई । ऐ वा ई । ऐ शा ई । ऐ षा ई । ऐ सा ई । ऐ हा ई । ऐ ळा ई । ऐ क्षा ई । इति जपित्वा पुनः मूलम् २ । ओ आ ई । ओ का ई । ओ खा ई । ओ गा ई । ओ घा ई । ओ ङा ई । ओ चा ई । ओ छा ई । ओ जा ई । ओ झा ई । ओ ञा ई । ओ टा ई । ओ ठा ई । ओ डा ई । ओ ढा ई । ओ णा ई । ओ ता ई । ओ था ई । ओ दा ई । ओ धा ई । ओ ना ई । ओ पा ई । ओ फा ई । ओ बा ई । ओ भा ई । ओ मा ई । ओ या ई । ओ रा ई । ओ ला ई । ओ वा ई । ओ शा ई । ओ षा ई । ओ सा ई । ओ हा ई । ओ ळा ई । ओ क्षा ई । इति जपित्वा पुनः मू०२— औ आ ई । औ का ई । औ खा ई । औ गा ई । औ घा ई । औ ङा ई । औ चा ई । औ छा ई । औ जा ई । औ झा ई । औ ञा ई । औ टा ई । औ ठा ई । औ डा ई । औ ढा ई । औ णा ई । औ ता ई । औ था ई ।

औदाई।औधाई। औ ना ई। औ पा ई। औ फा ई।औबाई।औ भा ई। औ मा ई। औ या ई। औ रा ई। औ ला ई। औ वा ई। औ शा ई। औ षा ई। औ सा ई। औ हा ई। औ ळा ई। औ क्षा ई। इति जपित्वा, पुनः २ मूलम्। अं आ ई। अं का ई। अं खा ई। अं गा ई। अं घा ई। अं ङा ई। अं चा ई। अं छा ई। अं जा ई। अं झा ई। अं ञा ई। अं टा ई। अं ठा ई। अं डा ई। अं ढा ई। अं णा ई। अं ता ई। अं था ई। अं दा ई। अं धा ई। अं ना ई। अं पा ई। अं फा ई। अं बा ई। अं भा ई। अं मा ई। अं या ई। अं रा ई। अं ला ई। अं वा ई। अं शा ई। अं षा ई। अं सा ई। अं हा ई। अं ळा ई। अं क्षा ई। इति जपित्वा, पुनः २ मूलम् अः आ ई। अः का ई। अः खा ई। अः गा ई। अः घा ई। अः ङा ई। अः चा ई। अः छा ई। अः जा ई। अः झा ई। अः ञा ई। अः टा ई। अः ठा ई। अः डा ई। अः ढा ई। अः णा ई। अः ता ई। अः था ई। अः दा ई। अः धा ई। अः ना ई। अः पा ई। अः फा ई। अः बा ई। अः भा ई। अः मा ई। अः या ई। अः रा ई। अः ला ई। अः वा ई। अः शा ई। अः षा ई। अः सा ई। अः हा ई। अः ळा ई। अः क्षा ई। हंस इत्यन्तं जपेत्।

श्रीत्रिपुरार्णवोक्तवर्गान्तरस्तोत्रम्

'क्ष्माम्ब्वग्नीरणखार्केन्दुयष्टृप्राययुगस्वरैः । मातृभैरवगां वन्दे देवीं त्रिपुरभैरवीम् ॥
कादिवर्गाष्टकाकारसमस्ताष्टकविग्रहाम् । अष्टशक्त्यावृत्तां वन्दे देवीम्० ॥
स्वरषोडशकानां तु षट्त्रिंशद्भिः परापरैः । षट्त्रिंशत्तत्त्वगां वन्दे देवीं० ॥
षट्त्रिंशत्तत्त्वसंस्थाय शिवचन्द्रकलास्वपि । कादितत्त्वान्तरां वन्दे देवीं० ॥
आ ई माया द्वयोपाधिविचित्रेन्दुकलावतीम् । सर्वात्मिकां परां वन्दे देवीं० ॥
षडध्वपिण्डयोनिस्थां मण्डलत्रयकुण्डलीम् । लिङ्गत्रयातिगां वन्दे देवीं० ॥
स्वयम्भूहृदयां बाणभ्रूकामान्तःस्थितेतराम् । प्राच्यां प्रत्यक्चितिं वन्दे देवीं ॥
अक्षरान्तर्गताशेषनामरूपां क्रियापराम् । शक्तिं विश्वेश्वरीं वन्दे देवीं त्रिपुरभैरवीम् ॥
वर्गान्ते पठितव्यं स्यात् स्तोत्रमेतत्समाहितैः ।'

इतिस्तुत्वा; प्राग्वत्प्राणायामत्रयं कृत्वा "गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणाऽस्मत्कृतं जपम्। सिद्धिर्भवतु मे देवि! त्वत्प्रसादात् त्वयि स्थिरा" इति देव्यै जपं

समर्प्य, द्वितीयवर्गजपस्यारम्भो विधेयः। यथा मू०दि० क आ ई हंसः। एवं सर्वत्र। क का ई। क खा ई। क गा ई। क घा ई। क ङा ई। क चा ई। क छा ई। क जा ई। क झा ई। क ञा ई। क टा ई। क ठा ई। क डा ई। क ढा ई। क णा ई। क ता ई। क था ई। क दा ई। क धा ई। क ना ई। क पा ई। क फा ई। क बा ई। क भा ई। क मा ई। क या ई। क रा ई। क ला ई। क वा ई। क शा ई। क षा ई। क सा ई। क हा ई। क ळा ई। क क्षा ई। इति जपित्वा, पुनः—का आ ई। हं स इत्यादि का क्षा ई हंसः इत्यन्तं जपित्वा, कि आ ई हं सः इत्यादि कि क्षा ई इत्यन्तं जपित्वा पुनः कू आ ई हं सः। एवं समस्तां मातृकां जपेत्।

तत आचार्य्यः क्रमेण गणपतिललिताश्यामावार्तालीपरादेवताः सावरणाः यथाविधि यथाकालं सम्पूज्य तद्यन्त्राणि पूर्वमध्यदक्षिणादिक्रमेण कलशेष्वधिवासयेत्। तत्रैव च षोडशोपचारैः कलशेष्वेव पूजयेत्।

ततः शिष्यमाहूय नूतनेन वाससा तस्य मुखं प्रावृत्यावध्य गणपत्यादिमूलमन्त्रानुच्चरन् सामान्यार्घ्योदकविन्दुभिः सम्प्रोक्ष्य "अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।" इति कुम्भे पुष्पाञ्जलिं प्रदाप्य नेत्रमुखबन्धनमुन्मोचयेत्। ततः श्रीक्रमोक्तान् भूशुद्धिभूतशुद्धिप्राणप्रतिष्ठामातृकादिन्यासान् लघुषोढान्यासान् महाषोढान्यासाँश्च शिष्यस्य कारयेत्।

ततः शिष्यं कुण्डसमीपं नीत्वा दिव्यदृष्ट्या विलोक्य तस्य हृदयारविन्दात् जीवात्मानं भूतशुद्ध्युक्तपरिपाट्या तद्देहाद् ब्रह्मरन्ध्रमार्गात् निःसार्य स्वात्मनि गुरूक्तयुक्त्या योगवलेन संयोज्य शिष्यषडध्वशोधनं कुर्यात्। तत्र शिष्यस्य पादयोः कुलाध्वनि निवृत्तिप्रतिष्ठा विद्याशान्ति शान्त्यतीताश्चेति पञ्चकलात्मकं सञ्चिन्त्य ततस्तस्य लिङ्गप्रदेशे शिवशक्तिसदाशिवेश्वरशुद्धविद्यामायाकलाविद्या-रागकाल- नियतिपुरुषप्रकृत्यहंकारबुद्धिमन- श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणवाक्- पाणिपादपायूपस्थ- शब्द- स्पर्शरूपरसगन्धाकाशवाय्व - ग्निसलिलपृथिव्यात्मकं षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपं शिवतत्त्वाध्वानं ध्यायेत्। इति

शैवदीक्षायाम् ।(वैष्णवदीक्षायां तु) जीवप्राणधियोमन-इन्द्रियदशकं तन्मात्राः भूतानां पञ्चकमपि हृत्पद्मतेजसां त्रितयं तद्वच्च वासुदेवप्रमुखाश्चत्वार उपदिष्टा इति। इन्द्रियदशकं प्रागुक्तं श्रोत्रादयो वागादयश्च तन्मात्राश्च शब्दादयः भूतपञ्चकमाकाशादि । तेजसां त्रितयं सोमसूर्याग्निमयम् । वासुदेवप्रमुखाश्च वासुदेवसंकर्षण-प्रद्युम्नाऽनिरुद्धाश्चत्वारः ।

सौरदीक्षायां तु—भूततन्मात्रेन्द्रियाणि मनोगर्वश्च बुद्धिश्च धीस्तथा प्रधानं चेति। इन्द्रियाणि दश ज्ञानकर्मभेदात् । गर्वोऽहङ्कारः । प्रधानं प्रकृतितत्त्वम् ।

शक्तिदीक्षायान्तुः—(निवृत्त्याद्याः पञ्चकलाः बिन्दुः नादः शक्तिः सदाशिवः शिव इति दश तत्त्वानि ।) त्रिपददीक्षायान्तु—आत्मविद्या शिवा-एते विपरीतास्त एव च सर्वतत्त्वञ्चेति । विपरीताः शिवविद्यात्मानः इति क्रमेण त एवच आत्मविद्या शिवा एवेति सप्ततत्त्वानि । इत्थं तत्तद्दीक्षायां तत्तदध्वानं चिन्तयेदिति ।

गाणपत्यदीक्षायां तु शैवतत्त्वानि ज्ञातव्यानि ।

ततः शिष्यस्य नाभौ अतलवितलसुतलमहातलतलातलरसातलपाताल-भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यलोकात्मकचतुर्दशभुवनाध्वानं सञ्चिन्त्य (ततस्तस्य हृदये आदिक्षान्तार्णस्वरूपं वर्णाध्वानं भावयेत्) (ततः शिष्यललाटे वर्णसङ्घमयं पदाध्वानं विभावयेत्) ततः शिष्यशिरसि पदसमुदायमयं मूलमन्त्रस्वरूपं मन्त्राध्वानं भावयेत्, इति शिष्यशरीरेऽध्वषट्कं सञ्चिन्त्य, तं कूर्चेन स्पृशन् गुरुः स्वकुण्डे 'ॐ अमुकस्य कलाध्वानं शोधयामि स्वाहा' घृततिलैरष्टधा हुत्वा कलाध्वानं तत्त्वाध्वनि विलीनं विभाव्य "ॐ अमुकस्य तत्त्वाध्वानं शोधयामि स्वाहा" इत्यष्टधा हुत्वा तत्त्वाध्वानं भुवनाध्वनि विलीनं विभाव्य पुनः "ॐ अमुकस्य भुवनाध्वानं शोधयामि स्वाहा" इत्यष्टधा हुत्वा भुवनाध्वानं वर्णाध्वनिविलीनं विभाव्य पुनः "अमुकस्य वर्णाध्वानं शोधयामि स्वाहा" इत्यष्टधा हुत्वा तं पदाध्वनि विलीनं विभाव्य पुनः "ॐ अमुकस्य पदाध्वानं शोधयामि स्वाहा" इत्यष्टधा तं मन्त्राध्वनि विलीनं विभाव्य पुनः "ॐ अमुकस्य मन्त्राध्वानं शोधयामि स्वाहा" इत्यष्टधा

हुत्वा तं ब्रह्मरन्ध्रस्थपरशिवे लीनं विभाव्य पुनः संहृतप्रतिलोमे न परमशिवस्य सकाशात् मन्त्राध्वानं सृष्ट्वा ततः पदाध्वानं तस्माद्वर्णाध्वानं ततो भुवनाध्वानं तस्मात्तत्त्वाध्वानं ततः कलाध्वानं च सृष्ट्वा तत्तत्स्थाने संस्थाप्य शिष्यं दिव्यदृष्ट्या विलोक्य, स्वस्मिन् स्थितं शिष्यचैतन्यं ततो हृदयारविन्दे आवाहनोक्तप्रकारेण तद् ब्रह्मरन्ध्रे नियोजयेत् । अत्र शूद्रसङ्करजातीनामध्वशोधनं न कार्यम् । तेषां पादोदकप्रदानेन शोधनं कुर्यात् । ततः पूर्ववत् स्वेष्टदेवताया अङ्गावरणदेवतानां घृतेनैकैकामाहुतिं दत्वा, ॐ भूरग्नये च महते च स्वाहा, भुवो वायवे चान्तरिक्षाय च महते च स्वाहा, स्वरादित्याय च दिवे च महते च स्वाहा, ॐ भूर्भुवः स्वश्चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यश्च दिग्भ्यश्च महते च स्वाहा, इत्याहुतिचतुष्टयं हुत्वा, इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारितो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्नायत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा, (इत्यष्टावाज्याहुतीर्हुत्वा), महाशक्तिन्यासं शिष्यस्य कुर्यात् । यथा—

"योनिरित्युच्यते शक्तिरेषा ब्रह्माण्डभेदिनी । लेपं विलीनयेद्देहे रेफो बिन्दुरिति स्मृतः ॥१॥ द्वासप्ततिसहस्रेषु नाडीभेदेषु पञ्जरम् । व्याप्यमाना महाशक्तिः कामिनीनामृतुक्रमे ॥२॥ नाडीचक्रागतं रक्तं योनिमार्गे निपातितम् । पुष्पीभूते भगे पुष्पं मासपक्षादिषु क्रमात् । ऐंकारोऽपि स्वयं योनिर्नात्र कार्या विचारणा । न्यस्तं वाप्यत्र देवेशि ! त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥४॥"
इत्यन्तं श्लोकसमुदायस्यार्थं चिन्तयन् महाकामकलायां ब्रह्मरन्ध्रस्थायां लयं भावयित्वा ब्रह्मरन्ध्रे ॐ ३ । ३ ॐ नमः । नादमध्ये ॐ ३ । ३ ॐ नमः । नादान्ते ॐ ३ । ३ ॐ नमः कण्ठे ॐ ३ । ३ अः नमः । हृदि ॐ ३ । ३ कं नमः । एवं मस्तके खं नमः । जङ्घयोः गं नमः । स्तनयोः घं नमः । नासिकान्ते ङं नमः । आज्ञायां चं नमः । वामकुक्षौ छं नमः । दक्षिणकुक्षौ जं नमः । उरुमूलयोः झं नमः । दन्तपङ्क्त्योः ञं नमः । जिह्वाग्रे टं नमः । मुखे ठं नमः । कक्षयोः डं नमः । अस्थिसन्धिषु ढं नमः । चित्ते णं नमः । नाभौ तं नमः । ललाटे थं नमः । कर्णरन्ध्रयोः दं नमः । कपालयोः धं नमः । नयनयो नं नमः । श्वेतसहस्रदलकमले पं नमः । हृत्पद्मे फं नमः । स्कन्धयोः

वं नमः। भ्रूमध्ये भं नमः। हनुमूले मं नमः। तालुमूले यं नमः। लिङ्ग-गुदयोर्मध्ये रं नमः। जिह्वायां लं नमः। सर्वाङ्गे वं नमः। वामादिदक्षिण-शिरःपर्यन्तमापादतलवेष्टत्वेन शं नमः। तालुमूलेषु षं नमः। सर्वाङ्गे सं नमः। ब्रह्मरन्ध्रे हं नमः। हस्तपादयोः। सर्वाङ्गुलीषु क्षं नमः।

प्रागुक्तमूलाधारस्थितकुण्डलिन्याम् ॐ ३। ३ ॐ इति विन्यस्य ॐ ३। ३ समस्तमातृकामुच्चरन् तां कुण्डलिनीं सुषुम्नावर्त्मना षट्चक्रभेदक्रमेण ब्रह्म-रन्ध्रं नीत्वा तत्रस्थाकुलसहस्रदलकमलकर्णिकामध्यस्थितपरमात्मनि शिवे विलीनां विभाव्य "ॐ ३। ३ रक्षरक्ष शूलिनी त्रैलोक्यानन्ददायिनी त्रिपुरे देवि ! रक्ष मां त्रिपुरेश्वरि ! रक्षरक्ष महादेवि अस्मदीयमिदं वपुः ऐं ह्रीं श्रीं हस्फें ह्सौः २ हसफ्रें श्रीं ह्रीं ऐं श्रीं समर्यिनी मदिरानन्दसुन्दरि समस्त-सुरासुरवन्दिते भुजङ्गभूपालमौलिमालालङ्कृतचरणकमले विकटदन्त-च्छटाटोपनिवारिणि मदीयं शरीरं रक्ष रक्ष परमेश्वरि हुं फट् स्वाहा ॐ भूः स्वाहा ॐ भुवः स्वाहा ॐ स्वः स्वाहा ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा नरान्त्रमालाभरणभूषिते महाकौलिनि महाब्रह्मवादिनि महाधनोन्मादन-कारिणि महाभोगप्रदे अस्मदीयं शरीरं वज्रमयं कुरु कुरु दुर्जनान् हन हन दुष्टमहीपालान् भक्षय भक्षय परचक्रं भञ्जय भञ्जय जयङ्करि गगन-गामिनि त्रैलोक्यस्वामिनि यमलवरयूं भमलवरयूं वमलवरयूं शमलवरयं श्रीभैरवि प्रसादय स्वाहा।

कुलाङ्गना कुलं सर्वं मदीयं त्रिपुरेश्वरि !
देवी रक्षतु दिव्याङ्गी दिव्यात्मा भोगदायिनी ! ॥१॥
रक्ष रक्ष महादेवि ! शरीरं परमेश्वरि !
मदीयं मदिरानन्दे आपादतलमस्तकम्" ॥२॥

इत्यात्मरक्षां कृत्वा,

"त्रिपुराख्या महादेवी भुक्तिमुक्तिफलप्रदा।
न गुरोः सदृशं वस्तु न देवः शङ्करोपमः ॥३॥
न च कौलात्परो योगो न विद्या त्रैपुरीसमा।
न च शान्तेः परं ज्ञानं न च क्षान्तेः परं सुखम् ॥४॥

नच शक्तिसमो न्यासो न विद्या त्रैपुरीसमा।
दर्शनेषु समस्तेषु पाखण्डेषु विशेषतः॥५॥
दिव्यरूपा महादेवी सर्वज्ञ परमेश्वरी।"

इति मन्त्रविद्ययोर्महिमानं स्मृत्वा "पीठोपपीठशिरःस्था गगनगिरिभुवनगिरिभुवनगोकुलनिवासिनी जयति कुलशक्तिमहीतलपातालनिवासिनी कुलकौलविभेदिनी सकलजनमनआनन्दकारिणी करोतु मम चिन्तितं कार्यं भैरवीशतमेकं पुनातु परमेश्वरी मदनमण्डलालम्बिनी सप्तकोटिसहस्राणां मन्त्राणां परमेश्वरी" इति मन्त्रं सकृज्जपित्वा, "ऐं नमो भगवति त्रिकोणे त्रिधावर्ते महालिङ्गालङ्कृते त्रैलोक्योत्पत्तिस्थितिप्रलयकारिणि सहल ह्रूं कन्दर्पानन्ददायिनि सहह्लीं ब्रह्मदण्डरेखे सहह्लौं चित्स्वरूपेण पाशाङ्कुशालङ्कृते वद वद वाग्वादिनि श्रीं मूष्टपालराज्यपदे ऐं वं वरदाशिवहस्ते समस्तजनानन्दकारिणि क्लीं क्लीं कामराजबीजाश्रये द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः क्षोभय क्षोभय क्षोभिणि ह्सौः हसः ह्सौः मथ मथ अभयप्रदायिनि चतुर्भुजे त्रिनेत्रे प्रेतासनोच्चारिणि महाकपालमालालङ्कृते चन्द्रशेखरे भुक्तिमुक्तिफलप्रदे ॐ ऐं ॐ नमः सिद्धं अं ५१ क्षमित्यादिविलोमेनाकारान्तं ५१ द्धं सि मनः ॐ ऐं ॐ सर्वबीजमातः श्रीसमयिनि मम मनोरथं देहि देहि स्वाहा॥" एवं जपित्वा "ऐं ईं सौः श्रीमन्त्रराजाय नमः" इति त्रैपुरमन्त्रस्य पूजां विधाय त्रिपुरादिमहानाम्ना त्रयोदशविद्याः पूजयेत्। (१) ॐ ऐं स ह्रौं स ह ल ह्रीं स ह ह्लौः ऐं स ह ह्रीं स ह हूं कामत्रिपुरायै नमः। (२) ॐ ऐं ह्रीं क्लीं ह सौः त्रिपुरभैरव्यै नमः। (३) ॐ ३ ऐं ह्रीं सः वाक्त्रिपुरायै नमः। (४) ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सौः महालक्ष्म्यै त्रिपुरायै नमः। (५) ॐ ऐं प्रें क्लीं मोहिन्यै त्रिपुरायै नमः। (६) ॐ ऐं क्लीं ब्लूं भ्रीं भ्रामरी त्रिपुरायै नमः। (७) ॐ ३ ऐं ह्रीं श्रीं प्रें ह सौः त्रैलोक्यस्वामिन्यै त्रिपुरायै नमः। (८) ॐ ऐं डां डीं डूं डैं डौं डः हंस्यै त्रिपुरायै नमः। (९) ऐं ऐं ऐं सौः कौलिकायै त्रिपुरायै नमः। (१०) ऐं ऐं सौः षण्डिकायै त्रिपुरायै नमः। (११) ऐं ऐं सौः तालुमध्यमायै त्रिपुरायै नमः। (१२) ऐं

ऐं सौः कपालाङ्कुरवासिन्यै त्रिपुरायै नमः। (१३) ठः ठः ठः ॥ यथाशक्ति जपित्वा, रक्तपुष्पैः शिरसि ऐं ईं सौः आत्मदेहाय नमः इति गन्धाक्षतैश्च सप्तधा सम्पूज्य, धूपदीपौ, निवेद्य, तस्मिन्नेव त्रिपुरे देहे "ऐं ईं सौः" इति वनिताक्षोभकरीं महाकामकलां ध्यायेत्। ततः श्लोकशतकं न्यासानुसन्धानेन पठेत्।

शक्तिरुद्रमयं देहं मदीयं त्रिपुरे कुरु।
देहि मे देवदेवेशि! वरं नित्यमभीप्सितम् ॥१॥
मस्तकं मङ्गला देवी ललाटं कुलसुन्दरी।
नेत्रयुग्मं महाकाली कर्णौ रक्षतु कुण्डली ॥२॥
कपाली कर्णगर्भं तु कपोलौ कमलावती।
दन्तान् रक्षतु चामुण्डा चिबुके मेरुवासिनी ॥३॥
भ्रूमध्यं कण्ठदेशं च रक्ष मे भुवनेश्वरी।
जिह्वां सरस्वती रक्षेत् तालुकं तालुवासिनी ॥४॥
स्थातु मे कपिला स्कन्धे स्कन्धां (वामां) से कुलमालिनी।
कुक्षौ विनायकी स्थातु जयानन्दा स्तनद्वये ॥५॥
कण्ठकूपे महालक्ष्मीर्हृदये चण्डभैरवी।
ब्रह्माणी नाभिदेशे तु स्थातु ज्वालावती गुदे ॥६॥
लिङ्गे लिङ्गप्रभा चैव मुण्डिनी मेदमण्डले।
नाडीचक्रे महायोगा उद्भूटा दक्षिणे करे ॥७॥
वामहस्ते महामाया विद्या हस्ताङ्गुलीषु च।
वैष्णवी वामपादे च स्थातु चक्रायुधान्विता ॥८॥
तथा दक्षिणपादान्ते एकपादा सुरेश्वरी।
पादाङ्गुलीषु कौबेरी रोमकूपे महोद्भूटा ॥९॥
मण्डली नस्यमूले तु वाराही मेदमण्डले।
जालन्धरी जलस्थाने कामाक्षी काममध्यगा ॥१०॥
उद्भूटा नाभिलिङ्गान्ते नासाग्रे पूर्णपीठगा।
पृष्ठवंशे जया देवी अस्थिसंधिषु चर्चिता ॥११॥

चर्मधारी त्वचायां तु स्थातु नित्यं महाशयाः ।
रक्तमध्ये मनोऽन्ते च स्थातु मे हिंसनी शुभा ॥१२॥
माहेश्वरी च कौमारी द्वे चैते स्थातु जङ्घयोः ।
वामदक्षिणयोश्चैव वीराली कटिसन्धिषु ॥१३॥
देवी रक्षतु मे गात्रं मस्तकं कुलकामिनी ।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥१४॥
पञ्चभूतेषु भूतेशी सदा रक्षतु ते कुलम् ।
राज्यं ददातु मे चैन्द्री पूजां चैव प्रजावती ॥१५॥
माया ददातु मे नित्यं धनं धान्यं यशस्तथा ।
रणे राजकुले चैव शत्रुमध्ये महावने ॥१६॥
रक्तनेत्रा महादेवी करोतु मम चिन्तितम् ।
समया समयं रक्षेद्विद्यां विद्या कुलागमे ॥१७॥
साधकानां जगन्नाथा भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।
प्राणा करोतु मे सिद्धिं त्रैलोक्यविजया सुखम् ॥१८॥
घण्टाली या महाविद्या सा मे यच्छतु मङ्गलम् ।
सप्तकोटिसहस्राणां मन्त्राणां नायिका तु या ॥१९॥
सा मे सुरेश्वरी देवी सदा सिद्धिं प्रयच्छतु ।
उल्कामुखा मुखे स्थातु मार्जारी देहसंधिषु ॥२०॥
भद्रकाली तु या विद्या सा मे स्थातु शिवामये ।
त्रिकोणं च त्रिधावर्तं त्रैपुरं चक्रमुत्तमम् ॥२१॥
मस्तके स्थातु मे नित्यं तस्यान्ते बहुरूपिणी ।
पूर्वोक्ता त्रैपुरी शक्तिः स्थातु मे मन्मथोत्थिता ॥२२॥
क्षोभावती जगत्सर्वं मदिरानन्दविह्वला ।
निवासं कुरु मे देहे साम्प्रतं दिव्ययोगिनी ॥२३॥
एह्येहि त्वं महादेवि सिद्धयोगिनी मे कुले ।
शत्रूणां घातनार्थाय जेतॄणां भोगदायिनी ॥२४॥

ऐं सौः कपालाङ्कुरवासिन्यै त्रिपुरायै नमः। (१३) ठः ठः ठः॥ यथाशक्ति जपित्वा, रक्तपुष्पैः शिरसि ऐं ईं सौः आत्मदेहाय नमः इति गन्धाक्षतैश्च सप्तधा सम्पूज्य, धूपदीपौ, निवेद्य, तस्मिन्नेव त्रिपुरे देहे "ऐं ईं सौः" इति वनिताक्षोभकरीं महाकामकलां ध्यायेत्। ततः श्लोकशतकं न्यासानुसन्धानेन पठेत्।

शक्तिरूपमयं देहं मदीयं त्रिपुरे कुरु।
देहि मे देवदेवेशि! वरं नित्यमभीप्सितम्॥१॥
मस्तकं मङ्गला देवी ललाटं कुलसुन्दरी।
नेत्रयुग्मं महाकाली कर्णौ रक्षतु कुण्डली॥२॥
कपाली कर्णगर्भं तु कपोलौ कमलावती।
दन्तान् रक्षतु चामुण्डा चिबुके मेरुवासिनी॥३॥
भ्रूमध्यं कण्ठदेशं च रक्ष मे भुवनेश्वरी।
जिह्वां सरस्वती रक्षेत् तालुकं तालुवासिनी॥४॥
स्थातु मे कपिला स्कन्धे स्कन्धां (वामां) से कुलमालिनी।
कुक्षौ विनायकी स्थातु जयानन्दा स्तनद्वये॥५॥
कण्ठकूपे महालक्ष्मीर्हृदये चण्डभैरवी।
ब्रह्माणी नाभिदेशे तु स्थातु ज्वालावती गुदे॥६॥
लिङ्गे लिङ्गप्रभा चैव मुण्डिनी मेदमण्डले।
नाडीचक्रे महायोगा उद्भूटा दक्षिणे करे॥७॥
वामहस्ते महामाया विद्या हस्ताङ्गुलीषु च।
वैष्णवी वामपादे च स्थातु चक्रायुधान्विता॥८॥
तथा दक्षिणपादान्ते एकपादा सुरेश्वरी।
पादाङ्गुलीषु कौवेरी रोमकूपे महोद्भूटा॥९॥
मण्डली नस्यमूले तु वाराही मेदमण्डले।
जालन्धरी जलस्थाने कामाक्षी काममध्यगा॥१०॥
उद्भूटा नाभिलिङ्गान्ते नासाग्रे पूर्णपीठगा।
पृष्ठवंशे जया देवी अस्थिसंधिषु चर्चिता॥११॥

चर्मधारी त्वचायां तु स्थातु नित्यं महाशयाः ।
रक्तमध्ये मनोऽन्ते च स्थातु मे हिंसनी शुभा ॥१२॥
माहेश्वरी च कौमारी द्वे चैते स्थातु जङ्घयोः ।
वामदक्षिणयोश्चैव वीराली कटिसन्धिषु ॥१३॥
देवी रक्षतु मे गात्रं मस्तकं कुलकामिनी ।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥१४॥
पञ्चभूतेषु भूतेशी सदा रक्षतु ते कुलम् ।
राज्यं ददातु मे चैन्द्री पूजां चैव प्रजावती ॥१५॥
माया ददातु मे नित्यं धनं धान्यं यशस्तथा ।
रणे राजकुले चैव शत्रुमध्ये महावने ॥१६॥
रक्तनेत्रा महादेवी करोतु मम चिन्तितम् ।
समया समयं रक्षेद्विद्यां विद्या कुलागमे ॥१७॥
साधकानां जगन्नाथा भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।
प्राणा करोतु मे सिद्धिं त्रैलोक्यविजया सुखम् ॥१८॥
घण्टाली या महाविद्या सा मे यच्छतु मङ्गलम् ।
सप्तकोटिसहस्राणां मन्त्राणां नायिका तु या ॥१९॥
सा मे सुरेश्वरी देवी सदा सिद्धिं प्रयच्छतु ।
उल्कामुखा मुखे स्थातु मार्जारी देहसंधिषु ॥२०॥
भद्रकाली तु या विद्या सा मे स्थातु शिवामये ।
त्रिकोणं च त्रिधावर्तं त्रैपुरं चक्रमुत्तमम् ॥२१॥
मस्तके स्थातु मे नित्यं तस्यान्ते बहुरूपिणी ।
पूर्वोक्ता त्रैपुरी शक्तिः स्थातु मे मन्मथोत्थिता ॥२२॥
क्षोभावती जगत्सर्वं मदिरानन्दविह्वला ।
निवासं कुरु मे देहे साम्प्रतं दिव्ययोगिनी ॥२३॥
एह्येहि त्वं महादेवि सिद्धयोगिनी मे कुले ।
शत्रूणां घातनार्थाय जेतॄणां भोगदायिनी ॥२४॥

महायोगिनि देहेऽस्मिन् सर्वदा निलयं कुरु।
माहेन्द्री च शिखां स्थातु योनिमध्ये मणेश्वरी ॥२५॥
प्रेताशी नाम विख्याता करोतु कुशलं मम।
डाकिनी पूर्वभागे च मम सौख्यं प्रयच्छतु ॥२६॥
शाकिनी पश्चिमाङ्गेषु दक्षिणे चाऽपि रा (क्षसी ?) किणी।
वामभागे महामाया करोतु कुशलं मम ॥२७॥
साऽस्मदीयं शिरः पातु सदा तिष्ठतु भैरवी।
या विशाला विशालाक्षी निर्मला मलवर्जिता ॥२८॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
या कालकल्पिताकाली कालरात्री तु कथ्यते ॥२९॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
या निशाचरराजन्यपूजिता च निशाचरी ॥३०॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
या चोर्ध्वकेशिका नाम मुक्तकेशी महाभया ॥३१॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
या वीरेति समाख्याता वीराणां जयदायिनी ॥३२॥
स योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
या मालिनी समाख्याता नासाग्रे विद्रुमाजिनी ॥३३॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
या कङ्कालकरालाङ्गी चण्डकङ्कालकुण्डला ॥३४॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
प्रचण्डा च विरूपाक्षी विरूपा विश्वरूपिणी ॥३५॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
खट्वाङ्गी कथ्यते या च रौद्रीरूपेण पूजिता ॥३६॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
कलियोगिनी प्रसिद्धा च या लोके श्रूयते कलौ ॥३७॥

सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
प्रेताक्षी कथ्यते या च फेत्कारोत्कटवर्जिता (?) ॥३८॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
धूम्राक्षी या समाख्याता शास्त्रेऽस्मिन् योगिनीमते ॥३९॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
घोररूपा महादेवी कथ्यते या कुलागमे ॥४०॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
विश्वरूपा विशेषेण करोति च जगत्त्रयम् ॥४१॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
भयङ्करी समादिष्टा या चोक्ता वै कुलागमे ॥४२॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
कपालमालिका प्रोक्ता या देवी मुण्डधारिणी ॥४३॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
भीषणा भैरवी नाम या देवी भीमविक्रमा ॥४४॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
न्यग्रोधवासिनी या च कथ्यते च सुरार्चिता ॥४५॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
भैरवी भीषणा या च भैरवाष्टकवन्दिता ॥४६॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
प्रोच्यते दीर्घलम्बोष्ठी महामाया महाबला ॥४७॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
खट्वाङ्गी या महाशक्तिः संसारार्णवतारिणी ॥४८॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
या समस्तेषु मन्त्रेषु प्रोच्यते मन्त्रवादिनी ॥४९॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम ।
कालघ्नी कथ्यते या च युगान्ते परमेश्वरी ॥५०॥

या योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
ग्राहिणीति समाख्याता सुरासुरमहोरगैः ॥५१॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
चक्रिणी गद्यते या च एकपादा त्रिलोचना ॥५२॥
सा योगिनी महामया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
या विश्वबाहुका देवी विश्वनाथप्रिया सदा ॥५३॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
दर्शनेषु समस्तेषु विदिता परमेश्वरी ॥५४॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
कण्टकोच्छेदनार्थाय शास्त्रे या कण्टकी स्मृता ॥५५॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
कीलकी कथ्यते या च सप्तहस्ता महाबला ॥५६॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
संग्रामे या महादेवी महामारीति कथ्यते ॥५७॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
यमदूतीति विख्याता या सुरासुरपूजिता ॥५८॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
करालिनीति या देवी महाविद्यामहाबला ॥५९॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
ललिताम्बा महाराज्ञी सर्वचक्रैकनायिका ॥६०॥
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके मम।
नासाग्रे कौलिकी स्थातु मदनस्था तथा मुखे ॥६१॥
व्योमजङ्के कपोले च गोलके चापाहरिणी।
सा योगिनी महामाया स्थातु श्रीर्मस्तके ॥६२॥
द्राविणी क्षोभिणी चैव स्तम्भिनी मोहिनी तथा।
रौद्रकर्मा महाघण्टा चमरी त्वरिता मतिः ॥६३॥

रौद्री च कुलमाता च काकदृष्टिरधोमुखी।
कपाली कुण्डली दीर्घा कपाली कुलगामिनी ॥६४॥
देवी रक्षतु मे गात्रं मस्तकं कुलमालिनी।
भूमिरापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥६५॥
पञ्चभूतेषु भूतेशी सदा रक्षतु मे कुलम्।
राज्यं ददातु मे चैन्द्री प्रजां चैव प्रजावती ॥६६॥
माया ददातु मे नित्यं धनं धान्यं यशस्तथा।
रणे राजकुले चैव शत्रुमध्ये महावने ॥६७॥
रक्तनेत्रा महादेवी करोतु मम चिन्तितम्।
समया समये रक्षेद् विद्यां विद्या कुलागमे ॥६८॥
साधकानां जगन्नाथा भुक्तिमुक्तिफलप्रदा।
द्विजटी त्रिजटी प्रोक्ता कन्दली ललिताखिला ॥६९॥
गायत्री चाम्बिका तारा पार्वती कमलप्रभा।
मादिनी मदनोन्मादा मन्दारी मदनातुरा ॥७०॥
भीषणा भीषणी नाम प्रेतसिद्धा विभीषणा।
क्षुत् तृष्णा तथा निन्द्रा कान्तिर्बुद्धिस्तथा द्युतिः ॥७१॥
सन्ध्या धृती रतिः क्षान्तिरहर्निशं परिपठ्यते।
सुरनाथेति विख्याता नगरेतरदेवता ॥७२॥
ग्रामदेवी ह्यधिष्ठात्री पीठे पीठेश्वरीं विदुः।
कावेरी नर्मदा चैव गङ्गेति यमुनोच्यते ॥७३॥
गोदावरी महापुण्या प्रोच्यते चाप्यरुन्धती।
त्रैलोक्येऽपि महादेवी स्त्रीनाम्नी या प्रकाशिता ॥७४॥
सा देवीरूपलक्षे तु स्यातु श्रीहृदये मम।
सुवर्णरेखिणी प्रोक्ता विद्या या प्रोच्यते किल ॥७५॥
निर्मूलिनी भुजङ्गानां सा करोतु सुखं मम।
कुरुकुल्लेति विख्याता पक्षिराजमुखोद्भवा ॥७६॥

या विद्या सा महारूपा जिह्वाग्रे स्थातु मे सदा ।
ॐ कारिणीति विख्याता देहे स्थातु सदा मम ॥७७॥
विद्यापहारिणी नाम कलिरूपविदारिणी ।
भेरुण्डा स्थातु मे कण्ठे तोरला स्थातु मस्तके ॥७८॥
तथा शवलरेखाऽपि मूले स्थातु सदा मम ।
जाङ्गली विषनाशाय वाचां सिद्धिं करोतु मे ॥७९॥
सर्वसिद्धिकरी विद्या भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।
अहं ब्रह्मा अहं विष्णुरहं देवो महेश्वरः ॥८०॥
सर्वभूतनिवासोऽहं लोके श्रीशक्तिचिन्तकः ।
शक्तिन्यासेन पूतेन शरीरेण सुरासुराः ॥८१॥
प्रधानदेशमात्रेण आशां (ज्ञां) कुर्वन्तु मे सदा ।
यत्किञ्चिद् योगिनीरूपं त्रैलोक्ये चास्ति शङ्कर ॥८२॥
तत्सर्वं तिष्ठते देहे शक्तिन्यासे अपासिते ।
कामिनी कुरुते चापि या न्यासं भक्तिनिर्मितम् ॥८३॥
तां देवीं दिव्यरूपस्थां संसारे त्रिपुरां विदुः ।
नमोऽस्तु ते जगन्मातर्नमोऽस्तु भुवनेश्वरी ॥८४॥
नमो भोगप्रदेदेवि ! नमस्तुभ्यं महेश्वरी ! ।
प्रकटा गोपिताः सर्वा निर्वाणभैरवी शिवा ॥८५॥
सम्भ्रमा विजया हंसा शुभा चानलदेवता ।
यक्षिणी चूडकन्या च तथा चाकाशगामिनी ॥८६॥
भूचरी चरिता कुम्भी सर्वांगमनिवासिनी ।
चतुष्षष्ट्याश्रया देवी योगिन्यो येन चिन्तिताः ॥८७॥
आधारे लीयमानास्तु स योगी योगविद्भवेत् ।
ललाटे मण्डला स्थातु विरजा स्थातु मस्तके ॥८८॥
एकाक्षी दक्षिणस्कन्धे वामे चैव त्रिलोचना ।
जयन्ती स्थातु मे कुक्षौ कटयां कन्दर्पकुण्डली ॥८९॥

मालिनी लिङ्गसन्धौ च हृदि स्थातु समाधिनी ।
अम्बिका पृष्ठवंशे च पार्श्वयोः स्थातु मेदिनी ॥९०॥
दिग्गजाङ्गी कराग्रे च नागेन्द्री नखसन्धिषु ।
व्याघ्री चक्री च जङ्घायां स्थातु पादतले मही ॥९१॥
अमृताशङ्खिनी रन्ध्रे लोचने च विलासिनी ।
कालिन्दी मूलजिह्वां च रक्तं रक्षतु रक्तिनी ॥९२॥
लाङ्गली जङ्गली रक्षेदस्थिनी चाऽस्थिसन्धिषु ।
मज्जिनी देहमज्जां तु शुक्रं शुक्रेश्वरी तथा ॥९३॥
त्वचं रक्षतु वेताली मम रोगप्रणाशिनी ।
रुद्घटा कुरुते शान्ति सदैव मम विग्रहे ॥९४॥
पादा पादतले स्थातु पथि रक्षतु पन्थिनी ।
चोराग्निराजसर्पेभ्यो भयाद्रक्षतु भैरवी ॥९५॥
दुष्टानां दृष्टिबन्धं तु सदा करोतु बन्धिनी ।
चापेटी नाम या विद्या सा मे करोतु मङ्गलम् ॥९६॥
मर्कटी घण्टकर्णी च हनुमन्ती च रावणी ।
घर्घुरा कीर्तिविख्याता वन्दे विद्याचतुष्टयम् ॥९७॥
चेटका ज्ञानदा विद्या कौमारी चरणावली ।
विघ्नराजैस्तता नाम तुष्टा सन्तानरूपिणी ॥९८॥
मूलाधारस्थिता हंसी पातकी दलनोद्धता ।
दशैता मन्त्रविद्यास्तु तिष्ठन्तु मम मस्तके ॥९९॥
शुभा मे चाग्रतः स्थातु लोहिता स्थातु दक्षिणे ।
वामाङ्गं रतिकाले च पश्चिमे स्थातु शृंखला ॥१००॥
शिखायां शङ्खिनी रक्षेद् वस्त्रे वस्त्रवती शुभा ।
कवचे कवचाङ्गी च नेत्रे नेत्रकृतोत्सवा ॥१०१॥
तिष्ठन्ति योगिनीरूपास्त्रैलोक्ये सचराचरे ।
योगिन्यो याः स्तु ताः सर्वा गेहं कुर्वन्तु मे वपुः ॥१०२॥

पुत्राणां च सदा देयं भक्तानां तु विशेषतः ।
शक्तिन्यासमिदं देयं न देयं यस्य कस्यचित् ॥१०३॥
मनुष्याणां महीलोके चिन्तितार्थफलप्रदम् ।
यः करोति महान्यासं षोढान्यासादिकं विभो ! ॥१०४॥
स जीवन् शक्तिरूपो वै त्रैलोक्योन्मूलनक्षमः ।
शक्तिन्यासे कृते जीवेद् यः कश्चिच्छेदको भवेत् ॥१०५॥
कर्मणा मनसा वाचा तस्य घातो भविष्यति ॥"

इति शक्तिन्यासः ।

एवं महाशक्तिन्यासं स्वयं कृत्वा शिष्यस्य कारयित्वाऽन्तर्यागं कुर्यात् । तद्यथा—मूलेन प्राणायामत्रयं कृत्वा सामान्यार्घ्योदकेन स्वपुरतश्चतुरस्रं कृत्वा "ओ३म् ह्रीं हं सः सोऽहं स्वाहा" इत्यात्ममनुना साधारं कलशोदकमात्मपात्रं संस्थाप्य स्वदेहञ्च शिष्यदेहञ्च श्रीचक्ररूपं विचिन्त्य, अं-कं-क्षं ३६ शिवशक्ति-सदाशिवेश्वर - शुद्धविद्यामायाकलाअविद्याराग कालनियतिपुरुषप्रकृत्य हङ्कारबुद्धिमनःश्रोत्रत्वक्नेत्रजिह्वाघ्राण-वाक्-पाणि-पादपायूपस्थ-शब्द-स्पर्श-रूप-रसगन्धाकाशवाय्वग्निसलिलभूमि-जीवसर्वात्मने षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकाय श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीयोगपीठाय नमः ।" इति पीठसमष्टिविद्यया हृदि पुष्पाञ्जलिं प्रक्षिप्य गन्धमाल्यादिभिर्भूषयित्वा देवीं सम्मुखीं हृदि ध्यात्वाऽऽवाह्यादिमुद्राः प्रदर्श्याऽऽसनाद्युपचारान् समर्प्य ध्यानपूर्वकं हृदि साङ्गामित्यादिना त्रिः सम्पूज्य प्रसन्तर्प्य, मूलेन गन्धादिताम्बूलान्तानुपचारान् समर्प्य तत्त्वचतुष्टयशोधनं कुर्यात् । यथा—ऐं अं १६ अः भूमिजीवसर्वात्मने अं आं १६ ऐं "इदं विष्णुर्विचक्रमे" (१।२२।१७) इदन्तापात्रसभूतमहन्तापरमामृतम् । पराहन्तामये वह्नौ जुहोमि शिवरूपतः । मूलं० आत्मतत्त्वात्मने स्थूलदेहं शोधयामि स्वाहा ।" इत्यात्मपात्रान्तरेण किञ्चित् स्वीकृत्य क्लीं कं खं इत्यादि २५ शिवशक्ति- सदाशिवेश्वर-शुद्धविद्यामायाकलाअविद्याराग-कालनियति—पुरुषप्रकृत्यहङ्कारबुद्धिमनश्रोत्रत्वक्नेत्रजिह्वाघ्राणवाक्पाण्यात्मने कं २५ क्लीं "सुरावन्तं बर्हिषदं सुवीरं यज्ञं हिन्वन्ति महिषा नभोभिः ।

दधानाः सोमं दिवि देवतासु मादेदमेन्द्रं यजमानः स्वर्काः।" अन्तर्निरन्तर-निरिन्धनमेधमाने मोहान्धकारपरिपन्थिनि सं विदग्नौ। कस्मिश्चिदद्भुत-मरीचिविकासभूमौ विश्वं जुहोमि वसुधादिशिवावसनम्। ॥मूलं० विद्या-तावात्मने सूक्ष्मदेहं शोधयामि स्वाहा, इति। पूर्ववत् किञ्चित् स्वीकृत्य, सौः यं रं १० पादपायूपस्थशब्द-स्पर्शरूपरस-गन्धाकाशवाय्वग्निसलिलात्मने यं १० "वाममद्य सवितर्वाममुश्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यं सावीः। वामस्य हि क्षयस्य देव भूरे रया धिया वामभाज स्याम" (यजु ८।६) तृप्यन्तु मातरः सर्वाः भैरवाः सविनायकाः। क्षेत्रपालाश्च योगिन्यो मम देहव्यव-स्थिताः। मूलं० शिवतत्त्वात्मने कारणदेहं शोधयामि स्वाहा, इति पूर्ववत् किञ्चित् स्वीकृत्य; ऐं क्लीं सौः अं० ५१ भूमिजीवसर्वात्मनेशिवशक्तिसदा-शिवेश्वरशुद्धविद्या मायाकलाअविद्यारागकालनियतिपुरुषप्रकृत्यहङ्कारबुद्धि-मनःश्रोत्रत्वक्-नेत्रजिह्वाघ्राणवाक्पाणिपायूपस्थशब्दस्पर्शाकाशवाय्वाग्निस-लिलात्मने अं० ५१ ऐं क्लीं सौः धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा। सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम् ॥"

मूलं० सर्वतत्त्वात्मने स्थूलसूक्ष्मकारणमहाकारणदेहं शोधयामि स्वाहा, इति पूर्ववत् किञ्चित् स्वीकृत्य पुनराधारे (कुण्डे) अनादि वासनेन्धन-ज्वलिते आत्मचतुष्काकारचतुरस्रे कुण्डलिन्यधिष्ठितं चिदग्निं ध्यात्वा, मूलं० "हं सः चिदग्निमण्डलाय नमः" इति मनसा सम्पूज्य, मनसैव "पुण्यं जुहोमि स्वाहा।" एवं पापं० कृत्यं० अकृत्यं० सङ्कल्पं विकल्पं० धर्मं० अधर्मं० चेति हुत्वाऽऽत्मपात्रं हस्ते संगृह्य मूलं० हंसः "इतः पूर्वं प्राणबुद्धिमनोऽहङ्कार - देहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं गुरुदेवतायै समर्पितमस्तु स्वाहा।" इति सर्वं समर्प्य, पात्रमाधारे संस्थाप्य, आधारादि ब्रह्मरन्ध्रगां बिसतन्तुतनीयसीं विद्युत्कोटिप्रभामशेषजगदुत्पत्ति-स्थितिसंहारकारिणीं कुण्डलिनीं देवीरूपां ध्यात्वा, यथाशक्ति मूलमक्षमालया सञ्जप्य, निवेद्य, "मायान्ततत्त्वे सदहं शिवोऽहं शक्त्यन्ततत्त्वे चिदहं शिवो-

ऽहम् । शिवान्ततत्त्वे सुखदः शिवोऽहमतः परं पूर्णमनुत्तरोऽहम् । दैशिकवागुपदेशविनश्यद्द्देहमरुन्मयशून्यविकल्पः । अद्वयबोधविमर्शसुखः सन्नद्य शिवोऽस्मि शिवोऽस्मि शिवोऽस्मि" इत्यनुसन्धाय, प्रणम्य, शिष्यस्याऽपि बालाबीजत्रयस्थाने कूटत्रयं संयोज्य संशोध्य तथैव षोडशार्णायाः खण्डत्रयं विधाय संशोध्य, श्रीपूर्णपीठे चन्दनादिपीठे वा सिन्दूरकुङ्कुमादिना दीक्षाप्रसङ्गोक्तविधिना मातृकायन्त्रं विलिख्य, तत्र शिष्यं निवेश्य, कलशस्थपल्लवान् शिष्यशिरसि कल्पवृक्षबुद्धया निधाय, कुम्भाम्भोभिरङ्गोपाङ्गविद्याभिरावणदेवतामन्त्रैर्देयमूलविद्यया चाभिषिञ्चेत् । ऋत्विक्सामयिकैः सुवासिनीभिश्चाभिषेचयेत् ।

आचार्यस्ततः कुम्भस्थादेवताः षोडशोपचारैरुपचर्य पुनश्च तास्तत उद्धृत्य सम्पूज्य, यथास्थानं संस्थाप्य, अभिषिञ्चेत् ।

अभिषेकप्रकारो यथा—

अभिषेकस्य दक्षिणामूर्तिऋषिरनुष्टुप्छन्दः शक्तिर्देवता सर्वसिद्धसङ्कल्पसिद्धये विनियोगः ।

ॐ राजराजेश्वरी शक्तिर्भैरवी कालभैरवी ।
श्मशानभैरवी देवी त्रिपुरानन्दभैरवी ॥
त्रिपुरा त्रिपुरा देवी तथा त्रिपुरसुन्दरी ।
त्रिपुरेशी महादेवी तथा त्रिपुरमालिका ॥
नित्या च नित्यरूपा च वज्रप्रस्तारिणी तथा ।
सर्वचक्रेश्वरी देवी तथा नीलसरस्वती ॥
सर्वसिद्धिकरी देवी सिद्धगन्धर्व-सेविता ।
उग्रतारा महादेवी तथा दक्षिणकालिका ॥
एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु मन्त्रपूतेन वारिणा ।
उग्रदंष्ट्रा महादंष्ट्रा शुभदंष्ट्रा कपालिनी ॥
भीमनेत्रा विशालाक्षी मङ्गला विजया जया ।
एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु मन्त्रपूतेन वारिणा ॥

मङ्गला नन्दिनी भद्रा लक्ष्मीः कीर्त्तिर्यशस्विनी ।
पुष्टिर्मेधा शिवा साध्वी यशःशोभा उमा धृतिः ॥
श्रीनन्दा च सुनन्दा च नन्दिन्यानन्दपूजिता ।
एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु मन्त्रपूतेन वारिणा ॥
विजया मङ्गला भद्रा स्मृतिःशान्तिः क्षमा धृतिः ।
सिद्धिस्तु परमापुष्टिः श्रीऋद्धिश्च रतिस्तथा ॥
दीप्ता कान्तिर्यशोलक्ष्मीरीश्वरी वुद्धिरेव च ।
शक्तिर्मायावती व्राह्मी जयन्ती चाऽपराजिता ॥
अजिता मानवी श्वेता दितिस्त्वदितिरेव च ।
माया चैव महामाया मोहिनी क्षोभिणी तथा ॥
कमला विमला गौरी लावण्याम्वुधिसुन्दरी ।
दुर्गा क्रियाऽरुन्धती च घण्टाकर्णा कपालिनी ॥
चर्चिका चापरा ज्ञेया तथैव सुरपूजिता ।
वैवस्वती च कौमारी तथा माहेश्वरी परा ॥
वैष्णवी च महालक्ष्मीः कार्तिकी कौशिकी तथा ।
शिवदूती च चामुण्डा मुण्डमालविभूषणा ॥
एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु मन्त्रपूतेन वारिणा ।
इन्द्रौ वह्निर्यमश्चैव नैर्ऋतो वरुणस्तथा ॥
पवनो धनदेशानौ व्रह्माऽनन्तो दिगीश्वराः ।
एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु मन्त्रपूतेन वारिणा ॥
संवत्सरश्चायनौ च मासपक्षदिनानि च ।
तिथयश्चाभिषिञ्चन्तु मन्त्रपूतेन वारिणा ॥
रविः सोमः कुजवुधौ गुरुः शुक्रः शनैश्चरः ।
राहुः केतुश्च सततमभिषिञ्चन्तु ते ग्रहाः ॥
नक्षत्रं करणं योगोऽमृतसिद्धिस्ततः परम् ॥
दग्धाः पापास्तथा भद्रा योगो वाराः क्षणास्तथा ।
वारवेला कालवेला दण्डा ऋक्षादयस्तथा ॥

अभिषिञ्चन्तु सततं मन्त्रपूतेन वारिणा ।
असिताङ्गो रुरुश्चण्डः क्रोध उन्मत्त एव च ॥
कपाली भीषणाख्यश्च संहारश्चाऽष्टभैरवाः ।
एते त्वामभिषिञ्चन्तु मन्त्रपूतेन वारिणा । इति
द्राविणी पुत्रिकाश्चैव डाकिनी पुत्रिकास्तथा ॥
शाकिनी पुत्रिकाश्चान्याः काकिनी पुत्रिका पराः ।
लाकिनी पुत्रिका भूयो हाकिनीपुत्रिकास्तथा ॥
ततश्च राकिणीपुत्री देवपुत्री ततः परम् ।
मातॄणाञ्च तथा पुत्री चोर्ध्वमुख्याः सुतास्तथा ॥
अधोमुख्याः सुताश्चैव ज्वालामुख्याः सुताः पराः ।
एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु मन्त्रपूतेन वारिणा इति ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
एते त्वामभिषिञ्चन्तु मन्त्रपूतेन वारिणा ॥ इति
पुरुषः प्रकृतिश्चैव विकाराश्चैव षोडश ।
आत्मा परमात्मा ज्ञानात्मा ध्यानात्मा परमात्मनः ॥
आत्मनश्चात्मनश्चैव स्थूलसूक्ष्मौ च ये पराः ।
एते त्वां.... ....॥ इति
वेदादिबीजं हुँबीजं स्त्रीबीजं तन्निकेतनम् ।
शक्तिबीजं रमाबीजं मायाबीजं सुधाकरम् ॥
चिन्तारत्नं महाबीजं नारसिंहं च तारकम् ।
मार्तण्डभैरवं दौर्गं बीजं स्त्रीपौरुषोत्तमम् ॥
गाणपत्यञ्च वाराहं कालबीजं भयापहम् ।
एतानि त्वाऽभिषिञ्चन्तु.... ....॥ इति
गङ्गा गोदावरी रेवा यमुना च सरस्वती ।
आत्रेयी भारती चैव सरयू गण्डकी तथा ॥
करतोया चन्द्रभागा श्वेतगङ्गा च कौशिकी ।
भोगवती च पाताले स्वर्गे मन्दाकिनी तथा ॥

एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु मन्त्रपूतेन वारिणा। इति
भैरवी भीमरूपा च शोणः सुमुख एव च॥
सिन्धुश्चैव ह्रदः पुण्यस्तथा पातालसम्भवः।
एते त्वां.... ....॥ इति
यानि कानि च तीर्थानि पुण्यापुण्यतराणि च।
तानि त्वामभिषिञ्चन्तु.... ....इति॥
जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः सागरा लक्षणादयः।
अनन्ताख्यस्तथा नागः सर्पा ये लक्षकादयः॥
एते त्वां.... ....। इति।
तारश्च वह्निजाया च वषट्कूर्चमतःपरम्॥
वौषट्कारस्तु फट्कारो ह्यभिषिञ्चन्तु सर्वदा।
नश्यन्तु प्रेतकूष्माण्डा राक्षसा दानवाश्च ये॥
पिशाचा गुह्यका भूत्वा अभिषेकेण ताडिताः।
अलक्ष्मीः कालकर्णी च पापानि सुमहान्ति च॥
नश्यन्तु चाभिषेकेण तारबीजेन ताडिताः।
रोगाः शोकाश्च दारिद्रयं दौर्बल्यं चित्तविक्रिया॥
नश्यन्तु चाऽभिषिकेण वाग्बीजेनैव ताडिताः।
लोकानुरागत्यागाश्च दौर्भाग्यमपि दुर्यशः॥
नश्यन्तु चाभिषेकेण मन्मथेनैव ताडिताः।
तेजोह्रासः शक्तिह्रासो बुद्धिह्रासस्तथैव च॥
नश्यन्तु चाभिषेकेण शक्तिबीजेन ताडिताः।
विषाणि च महारोगा डाकिन्यो भीतयस्तथा॥
घोराभिचाराः क्रूराश्च ग्रहानागास्तथैव च।
नश्यन्तु चाभिषेकेण कालबीजेन ताडिताः॥
नश्यन्तु विपद सर्वाः सम्पदः सन्तु सुस्थिराः।
अभिषेकेण शाक्तानां पूर्णाः सन्तु मनोरथाः॥"

ततो वस्त्रमाल्याद्यलङ्कृतं श्रीचक्रे समुपवेश्य मातृकायन्त्रमये पीठे।

पराप्रासाद श्रीषोडशार्ण-विद्याभेद षट्-शाम्भवक्रम-चरणविद्या-आम्नाय-समया-पञ्चसिंहासनषड्दर्शन-पञ्चपञ्चिकागण-पञ्चायतनविद्याः श्रीविद्या वृन्दभेदादि-दशमहाविद्याः षडाम्नायमन्त्रान् शैववैष्णवगाणपत्य सौरशाक्त-विद्या गुरुपादुकाविद्या षोडशनित्याविद्या महाषोढोक्तविद्या उपदिशेत्, स्वक्रममपि चोपदिशेत्। दीक्षाप्रकरणोक्तं त्रैपुरं सिद्धान्तञ्च श्रावयेत्। स्वाङ्गेषु किमप्यङ्गं स्पर्शयित्वा तदङ्गं मातृकावर्णादि द्व्यक्षरं त्र्यक्षरं चतुर-क्षरं वा आनन्दनाथशब्दान्तं तस्य नाम दिशेत्। ततः समयाचारपालनं शास्त्राज्ञापालनञ्च दीक्षाप्रसङ्गोक्तमुपदिशेत् ॥

अथ प्रकृते क्रियादीक्षाशक्तानां वर्णदीक्षादिविधिर्लिख्यते—तत्र पुंस्प्र-कृत्यात्मकानकारादिक्षकारान् मातृकावर्णान् पुंस्प्रकृत्यात्मके शिष्यदेहे यथाविधि विन्यस्य पुनः संहारक्रमेण मूर्धादिहृदयान्तस्थं क्षकारं नाभ्यन्तः-स्थलकारे संहरामि, हृदादिनाभिपर्यन्तस्थलकारं हृदादिवामपादाग्रस्थे हकारे संहरामि, हृदादिवामपादाग्रपर्यन्तस्थं हकारं हृदादिदक्षिणापादाग्र-पर्यन्तस्थे सकारे संहरामि, हृदादिदक्षिणपादाग्रपर्यन्तस्थं सकारं हृदादि-वामपाण्यग्रावधिस्थे षकारे संहरामि हृदादिवामपाण्यग्रावधिस्थं षकारं हृदादिदक्षिणपाण्यग्रावधिस्थे शकारे संहरामि एवं युक्त्या वर्णान् संहृत्य, पुनस्तच्चैतन्य सकलग्रामतत्त्वसमेतं परमात्मनि संयोज्य विलीनतत्त्वसकल-समूहं विगतनिखिलकलुषं दिव्यतनुं शिष्यं विचिन्त्य, पुनः परमात्मनः सकाशादकारादिक्षकारान्तान् वर्णानुत्पाद्य वक्ष्यमाणसृष्टिन्यासक्रमेण शिष्य-देहे मातृकावर्णान् विन्यस्य, पुनस्तच्चैतन्यं तत्त्वग्रामसमेतं तस्मिन् संयो-ज्योक्तविधिनोपदेशं कुर्यात्। इति वर्णात्मदीक्षा।

अथ कलादीक्षा—तत्र पादतलतो जानुपर्यन्तं निवृत्तिकलां, जानुतो नाभि पर्यन्तं प्रतिष्ठाकलां, नाभितः कण्ठपर्यन्तं विद्याकलां, कण्ठतोललाट-पर्यन्तं शान्तिकलां, ललाटाद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शान्त्यतीताकलां शिष्यदेहे सञ्चिन्त्य, निवृत्तिकलां प्रतिष्ठाकलायां संहरामि, प्रतिष्ठाकलां शान्त्यतीता-कलायां संहरामि, इति क्रमात् संहृत्य वेधयित्वा, तां परमात्मनि संहृत्य,

प्राग्वत्तस्य शरीरं संशोध्य समुत्पाद्य, परमात्मनः सकाशाच्छन्त्यतीताकलां ततः शान्तिं ततो विद्यां ततःप्रतिष्ठां ततो निवृत्तिञ्च सृष्टिक्रमेण शिष्यदेहे तत्तत्स्थाने संयोज्योपदेशादिकं कुर्यादिति। एवमष्टत्रिंशत्कलाभिर्वोक्तयुक्त्या संहारसृष्टिन्यासक्रमेण शिष्यं संस्कृत्य दीक्षां दद्यात्, इति कलादीक्षा।

अथ स्पर्शदीक्षाः—तत्र गुरुः स्वहस्ततले शिवरूपं स्वगुरुं ध्यायन् षडङ्गमातृकां च जपन् शिष्यस्य शिरसि स्वदक्षिणकरं निधायोपदिशेत्, इति स्पर्शदीक्षा।

अथ वाग्दीक्षाः—तत्र गुरुः परचिद्रूपे शिवे चित्तं निधाय तदुद्भूतान् समस्तमन्त्रान् ध्यायंस्तन्मनाः स्वयं शिष्यायोपदिशेन्मन्त्रान्। इति वाग्दीक्षा।

अथ दृग्दीक्षा—तत्र गुरुः स्वनेत्रे निमील्य परमात्मस्वरूपिणीं देवतां ध्यात्वा प्रसन्नचित्तो दिव्यचक्षुषा शिष्यं निरीक्ष्य मन्त्रोपदेशं कुर्यात्, इति दृग्दीक्षा। पश्चादुक्तमेतत् दीक्षात्रयं विरक्तानां शिष्याणां तत्त्वविदा गुरुणा कर्तव्यमिति। स्त्रीणां तु वाग्दीक्षैव विहिता नान्या।

अथ वेधदीक्षा—तत्र गुरुः शिष्यस्य मूलाधारे चतुर्दलपङ्कजमध्यत्रिकोणमध्ये यथोक्तरूपां कुण्डलिनीं ध्यात्वा तत्पात्रचतुष्टयमध्यस्थवादिसान्ताक्षरचतुष्टयं तन्मध्यस्थिते कमलासने संहृत्य तं ब्रह्माणं तदूर्ध्वगं स्वाधिष्ठानाख्यषट्पत्रकमलमध्यस्थिते विष्णौ संयोज्य, तत्पत्रषट्कमध्यस्थबादिलान्तवर्णषट्कं विष्णौ संयोज्य, तदूर्ध्वे नाभिमण्डले दशदलकलात्मके मणिपूराख्ये विष्णुं संयोज्य तत्पत्रदशकमध्यस्थडादिफान्तवर्णदशकसहितं विष्णुं तत्पङ्कजमध्ये रुद्रे संयोज्य वेधयित्वा तं रुद्रमनाहताख्ये हृत्पद्मे कादिफान्तद्वादशवर्णाढ्यद्वादशदलसंयुक्ते संयोज्य तैरक्षरैः सार्धं तं रुद्रं तन्मध्यस्थिते स्वरे संयोज्य वेधयित्वा, कण्ठदेशे षोडशस्वराढ्यषोडशदलकमले विशुद्धचक्रे तमीश्वरं संयोज्य तैः स्वरैः सार्धं ईश्वरं तन्मध्यस्थे सदाशिवे संयोज्यवेधयित्वा, तं सदाशिवं भ्रूमध्यद्विदलपङ्कजमाज्ञाचक्रं नीत्वा तत्पत्रद्वयहक्षवर्णद्वयसहितं सदाशिवं तन्मध्यवर्तिनि बिन्दौ संयोज्य वेधयित्वा तं बिन्दुं तदूर्ध्वस्थितायां कलायां संयोज्य तां पुनर्नादे तं नादान्ते तन्मुन्मन्यां

तां विष्णुचक्रे विष्णुचक्रं गुरुवक्त्रे चेत्युत्तरोत्तरं संयोज्य वेधयित्वा जीवात्मना सह तां कुण्डलिनीं परशिवे संयोज्य वेधयेत्। एवं कृते शिष्यो गुर्वाज्ञया छिन्नसंसारपाशो विसंज्ञः सद्यः क्षितितले पतति। ततो गुरुः संहृतविपरीतक्रमेण परशिवात् कुण्डलिनीमुत्पाद्य तया हृतमखिलं सृष्टिक्रमेण शिष्यदेहे तत्तच्चक्रे तां तां देवतां संयोज्य हृदये जीवं मूलाधारे कुण्डलिनीं संयोज्योपदेशादिकं कुर्यात्। ततः सञ्जातदिव्यबोधो भूतभविष्यद्वर्तमानज्ञः सदाशिवो भवति इति वेधदीक्षा। प्रायः कलौ वेधदीक्षाकरोगुरुस्तद्योग्यः शिष्यश्च दुर्लभ इत्याहुराचार्याः प्रसङ्गादत्राऽपि लिखितेयमिति शिवम्।

अथैवं दीक्षितानां सद्भक्तियुक्तानां गुरुतःशास्त्रतश्चाधिगताशेषरहस्यपरमार्थानां गुरुः शिष्याणां पूर्णाभिषेकाख्यं द्वितीयमभिषेकं कुर्यात्। तत्र प्रागुक्ते मण्डपे वेदिकायां वक्ष्यमाणं विपुलं तत्पूजाचक्रं निर्माय, प्राग्वत्पञ्चरजोभिः कर्णिकादलकेसरकोणादिकमापूर्य तस्य मध्ये खारीतोयपूर्णकुम्भं प्रागुक्तविधिना संस्थाप्यान्येषु दलेषु कोणेषु चतुरस्रेषु च सर्वावरणदेवतापूजास्थानेषु प्रस्थद्वयजलपूर्णकलशान् संस्थाप्य, तत्र मध्यकुम्भे देवतामावाह्य, प्रागुक्तविधिना षोडशोपचारैः सम्पूज्यान्येषु कलशेषु तथैवाङ्गावरणदेवताः सम्पूज्य, दीक्षोक्तविधिना शिष्यजन्मनक्षत्रे प्राग्वत्पञ्चवाद्यघोषपुरःसरं स्वेष्टदेवताभक्तै ब्राह्मणैः सह तं सम्यगभिषिञ्चेत्।

इति पूर्णाभिषेकः

श्रीमत्करपात्रस्वामिविरचिते श्रीविद्यारत्नाकरे पूर्णाभिषेकः समाप्तः

श्रीविद्यासुप्रसन्नाऽस्तु।

अथश्रीमहात्रिपुरसुन्दरीमानपूजास्तोत्रम्

मम न भजनशक्तिः पादयोस्ते न भक्ति-
र्नं च विषयविरक्तिर्ध्यानयोगे न शक्तिः ।
इति मनसि सदाऽहं चिन्तयन्नाद्यशक्ते
रुचिरवचनपुष्पैरर्चनं सञ्चिनोमि ॥१॥

व्याप्तं हाटकविग्रहैर्जलधरैरारूढदेवव्रजैः
पोतैराकुलितान्तरं मणिधरैर्भूमिधरैर्भूषितम् ।
आरक्तामृतसिन्धुमुद्धरचलद्वीचीचलद्व्याकुल-
व्योमानं परिचिन्त्य सन्ततमहो चेतः कृतार्थीभव ॥२॥

तस्मिन्नुज्ज्वलरत्नजालविलसत्कान्तिच्छटाभिः स्फुटं
कुर्वाणं वियदिन्द्रचापनिचयैराच्छादित सर्वतः ।
उच्चैःशृङ्गनिषण्णदिव्यवनितावृन्दाननप्रोल्लसद्-
गीताकर्णननिश्चलाखिलमृगं द्वीपं नमस्कुर्महे ॥३॥

जातीचम्पकपाटलादिसुमनस्सौरभ्यसम्भावितं
ह्रीङ्कारध्वनिकण्ठकोकिलकुहूप्रोल्लासिचूतद्रुमम् ।
आविर्भूतसुगन्धिचन्दनवनं दृष्टिप्रियं नन्दनं
चञ्चच्चञ्चलचञ्चरीकचटुलं चेतश्चिरं चिन्तय ॥४॥

परिपतितपरागैः पाटलक्षोणिभागो
विकसितकुसुमोच्चैः पीतचन्द्रार्करश्मिः ।
अलिशुकपिकराजीकूजितैः श्रोत्रहारी
स्फुरतु हृदि मदीये नूनमुद्यानराजः ॥५॥

रम्यद्वारपुरप्रचारतमसां संहारकारिप्रभ-
स्फूर्जत्तोरणभारहारकमहाविस्तारहारद्युते ।
क्षोणीमण्डलहेममहारविलसत्संसारपारप्रद-
प्रोद्यद्भक्तमनोविहारकनकप्राकार तुभ्यं नमः ॥६॥

उद्यत्कान्तिकलापकल्पितनभः स्फूर्जद्वितानप्रभः
सत्कृष्णागुरुधूपवासितवियत्काष्ठान्तरे विद्युतः ।
सेवायातसमस्तदैवतगणैरासेव्यमानोऽनिशं
सोऽयं श्रीमणिमण्डपोऽनवरतं मच्चेतसि द्योतताम् ॥७॥

क्वाऽपि प्रोद्भटपद्मरागकिरणव्रातेन सन्ध्यायितं
कुत्राऽपि स्फुटविस्फुरन्मरकतद्युत्या तमिस्रायितम् ।
मध्यालम्बिविशालमौक्तिकरुचा ज्योत्स्नायितं कुत्रचित्-
मातः श्रीमणिमन्दिरं तव सदा वन्दामहे सुन्दरम् ॥८॥

उत्तुङ्गालयविस्फुरन्मरकतप्रोद्यत्प्रभामण्डला-
न्यालोक्याङ्कुरितोत्सवैर्नवतृणाकीर्णस्थलीशङ्कया ।
नीतो वाजिभिरुत्पथं बत रथस्सूतेन तिग्मद्युते-
र्वल्गावल्गितहस्तमस्तशिखरं कष्टैरितः प्राप्यते ॥९॥

मणिसदनसमुद्यत्कान्तिधारानुरक्ते
वियति चरमसन्ध्याशङ्किनो भानुरथ्याः ।
शिथिलितगतकुप्यत्सूतहुङ्कारनादैः
कथमपि मणिगेहादुच्चकैरुच्चलन्ति ॥१०॥

भक्त्या किन्नु समर्पितानि बहुधा रत्नानि पाथोधिना
किंवा रोहणपर्वतेन सदनं यैर्विश्वकर्माऽकरोत् ।
आज्ञातं गिरिजे कटाक्षकलया नूनं त्वया तोषिते
शंभौ नृत्यति नागराजफणिना कीर्णा मणिश्रेणयः ॥११॥

विदूरमुक्तवाहनैर्विनम्रमौलिमण्डलै-
र्निबद्धहस्तसम्पुटैःप्रयत्नसंयतेन्द्रियैः ।
विरञ्चिविष्णुशङ्करादिभिर्मुदा तवाऽम्बिके
प्रतीक्ष्यमाणनिर्गमो विभाति रत्नमण्डपः ॥१२॥

ध्वनन्मृदङ्गकाहलः प्रगीतकिन्नरीगणः
प्रनृत्तदिव्यकन्यकः प्रवृत्तमङ्गलक्रमः ।
प्रकृष्टसेवकव्रजः प्रहृष्टभक्तमण्डलो
मुदे ममाऽस्तु सन्ततं त्वदीयरत्नमण्डपः ॥१३॥

प्रवेशनिर्गमाकुलैः स्वकृत्यरत्नमानसै-
र्बहिःस्थितामरावलीविधीयमानभक्तिभिः ।
विचित्रवस्त्रभूषणैरुपेतमङ्गनाजनैः
सदा करोतु मङ्गलं ममेह रत्नमण्डपः ॥१४॥

सुवर्णरत्नभूषितैर्विचित्रवस्त्रधारिभिः
गृहीतहेमयष्टिभिर्निरुद्धसर्वदैवतैः ।
असंख्यसुन्दरीजनैः पुरःस्थितैरधिष्ठितो
मदीयमेतु मानसं त्वदीयतुङ्गतोरणः ॥१५॥

इन्द्रादींश्च दिगन्तरान्सहपरीवारानथो सायुधान्
योषिद्रूपधरान्स्वदिक्षु निहितान्सञ्चिन्त्य हृत्पङ्कजे ।
शङ्खे श्रीवसुधारया वसुमतीयुक्तश्च पद्मं स्मरन्
कामं नौमि रतिप्रियं सहचरं प्रीत्या वसन्तं भजे ॥१६॥

गायन्तीः कलवीणयाऽतिमधुरं हुङ्कारमातन्वती—
द्वाराभ्यासकृतस्थितीरिह सरस्वत्यादिकाः पूजयन् ।
द्वारे नौमि मदोन्मदं सुरगणाधीशं मदेनोन्मदां
मातङ्गीमसिताम्बरां परिलसन्मुक्ताविभूषां भजे ॥१७॥

कस्तूरिकाश्यामलकोमलाङ्गीं कादम्बरीपानमदालसाङ्गीम् ।
वामस्तनालिङ्गितरत्नवीणां मातङ्गकन्यां मनसा स्मरामि ॥१८॥

विकीर्णचिकुरोत्करे विगलिताम्बराडम्बरे
मदाकुलितलोचने विमलभूषणोद्भासिनी ।
तिरस्करिणि ! तावकं चरणपङ्कजं चिन्तयन्
करोमि पशुमण्डलीमलिकमोहमुग्धाशयाम् ॥१९॥

प्रमत्तवारुणीरसैर्विघूर्णमानलोचनाः
प्रचण्डदैत्यसूदनाः प्रविष्टभक्तमानसाः ।
उपोढकज्जलच्छविच्छटाविराजिविग्रहाः
कपालशूलधारिणीः स्तुवे त्वदीयदूतिकाः ॥२०॥

स्फूर्जन्नव्ययवाङ्कुरोपलसिताभोगैः पुरः स्थापितैः
दीपोद्भासिशरावशोभितमुखैः कुम्भैर्नवैः शोभिता ।
स्वर्णाबद्धविचित्ररत्नपटलीचञ्चत्कपाटश्रिया
युक्तं द्वारचतुष्टयेन गिरिजे वन्दे मणीमन्दिरम् ॥२१॥

आस्तीर्णारुणकम्बलासनयुतं पुष्पोपहारान्वितं
दीप्तानेकमणिप्रदीपसुभगं राजद्वितानोत्तमम् ।
धूपोद्गारिसुगन्धिसम्भ्रममिलद्भृङ्गावलीगुञ्जितं
कल्याणं वितनोतु मेऽनवरतं श्रीमण्डपाभ्यन्तरम् ॥२२॥

कनकरचिते पञ्चप्रेतासनेन विराजिते
मणिगणचिते रक्तश्वेताम्बरास्तरणोत्तमे ।
कुसुमसुरभौ तल्पे दिव्योपधानसुखावहे
हृदयकमले प्रादुर्भूतां भजे परदेवताम् ॥२३॥

सर्वाङ्गस्थितिरम्यरूपरुचिरां प्रातः समभ्युत्थितां
जृम्भामञ्जुमुखाम्बुजां मधुमदव्याघूर्णदक्षत्रयाम् ।
सेवायातसमस्तसन्निधिसखीस्सम्मानयन्तीं दृशा
सम्पश्यन् परदेवतां परमहो मन्ये कृतार्थं जनुः ॥२४॥

उच्चैस्तोरणवर्तिवाद्यनिवहध्वाने समुज्जृम्भिते
भक्तैर्भूमिविलग्नमौलिभिरलं दण्डप्रणामे कृते ।
नानारत्नसमूहनद्धकथनस्थालीसमुद्भासितां
प्रातस्ते परिकल्पयामि गिरिजे नीराजनामुज्ज्वलाम् ॥२५॥

पाद्यं ते परिकल्पयामि पदयोरर्घ्यं तथा हस्तयोः
सौधीभिर्मधुपर्कमम्ब मधुरं धाराभिरास्वादय ।
तोयेनाचमनं विधेहि शुचिना गाङ्गेन मत्कल्पितं
साष्टाङ्गप्रणिपातमीशदयिते दृष्ट्या कृतार्थीकुरु ॥२६॥

मातः पश्य मुखाम्बुजं सुविमले दत्ते मया दर्पणे
देवि स्वीकुरु दन्तधावनमिदं गङ्गाजलेनान्वितम् ।
सुप्रक्षालितमाननं विरचयन्स्निग्धाम्बरप्रोञ्छनं
द्रागङ्गीकुरु तत्त्वमम्ब मधुरं ताम्बूलमास्वादय ॥२७॥

निधेहि मणिपादुकोपरि पदाम्बुजं मज्जना-
लयं व्रज शनैः सखीकृतकराम्बुजालम्बनम् ।
महेशि करुणानिधे तव दृगन्तपातोत्सुकान्
विलोकय मनागमूनुभयसंस्थितान्देवतान् ॥२८॥

हेमरत्नवरणेन वेष्टितं विस्तृतारुणवितानशोभितम् ।
सज्जसर्वपरिचारिकाजनं पश्य मज्जनगृहं मनो मम ॥२९॥

कनककलशजालस्फाटिकस्नानपीठाद्युपकरणविशालं गन्धमत्तालिमालम् ।
स्फुरदरुणवितानं मञ्जुगन्धर्वगानं परमशिवमहेले मज्जनागारमेहि ॥३०॥

पीनोत्तुङ्गपयोधराः परिलसत्सम्पूर्णचन्द्रानना-
रत्नस्वर्णविनिर्मिताः परिलसत्सूक्ष्माम्बरप्रावृताः ।
हेमस्नानघटीस्तथा मृदुपटीरुद्वर्तनं कौसुमं
तैलं कङ्कतिकां करेषु दधतीर्वन्देऽम्ब ते दासिकाः ॥३१॥

तत्र स्फाटिकपीठमेत्य शनकैरुत्तारितालङ्कृति—
र्नीचैरुज्झितकञ्चुकोपरिहिता रक्तोत्तरीयाम्बरा ।
वेणीबन्धमपास्य कङ्कतिकया केशप्रसादं मना-
क्कुर्वाणा परदेवता भगवती चित्ते मम द्योतताम् ॥३२॥

अभ्यङ्गं गिरिजे गृहाण मृदुना तैलेन सम्पादितं
काश्मीरैरगुरुद्रवैर्मलयजैरुद्वर्तनं कारय ।
गीते किन्नरकामिनीभिरभितो वाद्ये मुदा वादिते
नृत्यन्तीमिह पश्य देवि पुरतो दिव्याङ्गनामण्डलीम् ॥३३॥

कृतपरिकरबन्धास्तुङ्गपीनस्तनाढ्या
मणिनिवहनिबद्धा हेमकुम्भीर्दधानाः ।
सुरभिसलिलनिर्यद्गन्धलुब्धालिमालाः
सविनयमुपतस्थुस्सर्वतः स्नानदास्यः ॥३४॥

उद्गन्धैरगुरुद्रवैस्सुरभिणा कस्तूरिकावारिणा
स्फूर्जत्सौरभयक्षकर्दमजलैः काश्मीरनीरैरपि ।
पुष्पाम्भोभिरशेषतीर्थसलिलैः कर्पूरपाथोभरैः
स्नानं ते परिकल्पयामि गिरिजे भक्त्या तदङ्गीकुरु ॥३५॥

प्रत्यङ्गं परिमार्जयामि सुचिना वस्त्रेण संप्रोञ्छनं
कुर्वे केशकलापमायततरं धूपोत्तमैर्धूपितम् ।
आलीवृन्दविनिर्मितां यवनिकामास्थाय रत्नप्रभं
भक्तत्राणपरे महेशगृहिणि स्नानाम्बरं मुच्यताम् ॥३६॥
पीतं ते परिकल्पयामि निबिडं चण्डातकं चण्डिके
सूक्ष्मं स्निग्धमुरीकुरुष्व वसनं सिन्दूरपूरप्रभम् ।
मुक्तारत्नविचित्रहेमरचनाचारुप्रभाभास्वरं
नीलं कञ्चुकमर्पयामि गिरिशप्राणप्रिये सुन्दरि ॥३७॥
विलुलितचिकुरेणच्छादितांसप्रदेशे मणिनिकरविराजत्पादुकान्यस्तपादे ।
सुललितमवलम्ब्य द्राक्सखीमंसदेशे गिरिशगृहिणि भूषामण्डपाय प्रयाहि ॥३८॥
लसत्कनककुट्टिमस्फुरदमन्दमुक्तावली समुल्लसितकान्तिभिः कलितशक्रचापव्रजे
महाभरणमण्डपे निहितहेमसिंहासनं सखीजनसमावृतं समधितिष्ठ
कात्यायनि ॥३९॥
स्निग्धं कङ्कतिकामुखेन शनकैस्संशोध्य केशोत्करं
सीमन्तं विरचय्य चारु विमलं सिन्दूररेखान्वितम् ।
मुक्ताभिर्ग्रंथितालकां मणिचितैस्सौवर्णसूत्रैः स्फुटं
प्रान्ते मौक्तिकगुच्छकोपलतिकां ग्रथ्नामि वेणीमिमाम् ॥४०॥
विलम्बिवेणीभुजगोत्तमाङ्गस्फुरन्मणिभ्रान्तमुपानयन्तम् ।
स्वरोचिषोल्लासितकेशपाशं महेशि चूडामणिमर्पयामि ॥४१॥
त्वामाश्रयद्भिः कवरीतमिस्रैर्बन्दीकृतं द्रागिव भानुबिम्बम्
मृडानि ! चूडामणिमादधानं वन्दामहे तावकमुत्तमाङ्गम् ॥४२॥
स्वमध्यनद्धहाटकस्फुरन्मणिप्रभाकुलं विलम्बिमौक्तिकच्छटाविराजितं समन्ततः
निबद्धलक्षचक्षुषा भवेन भूरि भावितं समर्पयामि भास्वरं भवानि
फालभूषणम् ॥४३॥
मीनाम्भोरुहखञ्जरीटसुषमा विस्तारविस्मारके
कुर्वाणे किल कामवैरिमनसः कन्दर्पबाणप्रभाम् ।
माध्वीपानमदारुणेऽतिचपले दीर्घे दृगम्भोरुहे
देवि ! स्वर्णशलाकयोर्जितमिदं दिव्याञ्जनं दीयताम् ॥४४॥

मध्यस्थारुणरत्नकान्तिरुचिरां मुक्ताभुगोद्भासितां
दैवाद्भार्गवजीवमध्यगरवेर्लक्ष्मीमधः कुर्वतीम् ।
उत्सिक्ताधरबिम्बकान्तिविसरैर्भौमीभवन्मौक्तिकां
मद्दत्तामुररीकुरुष्व गिरिजे नासाविभूषामिमाम् ॥४५॥
उडुकृतपरिवेपस्पर्द्धया शीतभानोरिव विरचितदेहद्वन्द्वमादित्यबिम्बम् ।
अरुणमणिसमुद्यत्प्रान्तविभ्राजिमुक्तं श्रवसि परिनिधेहि स्वर्णताटङ्कयुग्मम् ॥४६॥
मरकतवरपद्मरागहीरोत्थितगुलिकात्रितयावनद्धमध्यम् ।
विततविमलमौक्तिकञ्च कण्ठाभरणमिदं गिरिजे समर्पयामि ॥४७॥
नानादेशसमुत्थितैर्मणिगणप्रोद्यत्प्रभामण्डल-
व्याप्तैराभरणैर्विराजितगलां मुक्ताच्छटालङ्कृताम् ।
मध्यस्थारुणरत्नकान्तिरुचिरां प्रान्तस्थमुक्ताफल-
व्रातामम्ब चतुष्किकां परशिवे वक्षःस्थले स्थापय ॥४८॥
अन्योन्यं प्लावयन्ती सततपरिचलत्कान्तिकल्लोलजालैः
कुर्वाणा मज्जदन्तःकरणविमलतां शोभितेव त्रिवेणी ।
मुक्ताभिः पद्मरागैर्मरकतमणिभिर्निर्मिता दीप्यमानै-
र्नित्यं हारत्रयी ते परशिवरसिके चेतसि द्योततां नः ॥४९॥
करसरसिजनाले विस्फुरत्कान्तिजाले विलसदमलशोभे चञ्चदीशाक्षिलोभे ।
विविधमणिमयूखोद्भासितं देवि दुर्गे कनककटकयुग्मं बाहुयुग्मे निधेहि ॥५०॥
व्यालम्बमानसितपट्टकगुच्छशोभि स्फूर्जन्मणीघटितहारविरोचमानम् ।
मातर्महेशमहिले तव बाहुमूले केयूरकद्वयमिदं विनिवेशयामि ॥५१॥
विततनिजमयूखैर्निर्मितामिन्द्रनीलैः विजितकमलनालालीनमत्तालिमालाम् ।
मणिगणखचिताभ्यां कङ्कणाभ्यामुपेतां कलय वलयराजीं हस्तमूले महेशि ॥५२॥
नीलपट्टमृदुगुच्छशोभितां बद्धनैकमणिजालमञ्जुलाम् ।
अर्पयामि वलयात्पुरःसरे विस्फुरत्कनकतैतृपालिकाम् ॥५३॥
आलवालमिव पुष्पधन्वना बालविद्रुमलतासु निर्मितम् ।
अङ्गुलीषु विनिधीयतां शनैरङ्गुलीयकमिदं मदर्पितम् ॥५४॥

विजितहरमनोभूमत्तमातङ्गकुम्भ-स्थलविलुलितकूजत्किङ्किणीजालतुल्याम् ।
अविरतकलनादैरीशचेतो हरन्तीं विविधमणिनिबद्धां मेखलामर्पयामि ॥५५॥

व्यालम्बमानवरमौक्तिकगुच्छशोभि विभ्राजिहाटकपुटद्वयरोचमानम् ।
हेम्ना विनिर्मितमनेकमणिप्रबन्धं नीवीनिबन्धनगुणं विनिवेदयामि ॥५६॥

विनिहतनवलाक्षापङ्कबालातपौघे मरकतमणिराजीमञ्जुमञ्जीरघोषे ।
अरुणमणिसमुद्यत्कान्तिधाराविचित्रस्तवचरणसरोजे हंसकः प्रीतिमेतु ॥५७॥

निबद्धशितिपट्टकप्रवरगुच्छसंशोभितां
कलक्वणितमञ्जुलां गिरिशचित्तसम्मोहिनीम् ।
अमन्दमणिमण्डलीविमलकान्तिकिर्म्मीरितां
निधेहि पदपङ्कजे कनकघुङ्घुरुमम्बिके ! ॥५८॥

विस्फुरत्सहजरागरञ्जिते शिञ्जितेन कलितां सखीजनैः ।
पद्मरागमणिनूपुरद्वयीमर्पयामि तव पादपङ्कजे ॥५९॥

पादाम्बुजमुपासितं परिगतेन शीतांशुना
कृतां तनुपरस्परामिव दिनान्तरागारुणाम् ।
महेशि नवयावकद्रवभरेण शोणीकृतां
नमामि नखमण्डलीं चरणपङ्कजस्थां तव ॥६०॥

आरक्तश्वेतपीतस्फुरदुरुकुसुमैश्चित्रितां पट्टसूत्रै—
देवस्त्रीभिः प्रयत्नादगुरुसमुदितैर्धूपितां दिव्यधूपैः ।
उद्यद्गन्धान्धपुष्पन्धयनिवहसमारब्धझङ्कारगीतां
चञ्चत्कल्हारमालां परशिवरसिके कण्ठपीठेऽर्पयामि ॥६१॥

गृहाण परमामृतं कनकपात्रसंस्थापितं
समर्पयमुखाम्बुजे विमलवीटिकामम्बिके ।
विलोकय मुखाम्बुजं मुकुरमण्डले निर्मले
निधेहि मणिपादुकोपरि पदाम्बुजं सुन्दरि ॥६२॥

आलम्ब्य स्वसखीं करेण शनकैस्सिंहासनादुत्थिता
कूजन्मन्दमरालमञ्जुलगतिप्रोल्लासिभूषाम्बरा ।
आनन्दप्रतिपादकैरुपनिषद्वाक्यैःस्तुता वेधसा
मच्चिते स्थिरतामुपैतु गिरिजा यान्ती सभामण्डपम् ॥६३॥

चलन्त्यामम्बायां प्रचलति समस्ते परिजने
सवेगं संयाते कनकलतिकालङ्कृतिभरे।
समन्तादुत्तालस्फुरितपदसम्पातजनितै—
र्झणत्कारैस्तारैर्झणझणितमासीन्मणिगृहम् ॥६४॥

चञ्चद्वेत्रकराभिरङ्गविलसद्भूषाम्बराभिः पुरो-
यान्तीभिः परिचारिकाभिरमरव्राते समुत्सारिते।
रुद्धे निर्जरसुन्दरीभिरभितः कक्षान्तरे निर्गतं
वन्दे नन्दितशम्भुनिर्मलचिदानन्दैकरूपं महः ॥६५॥

वेधाः पादतले पतत्ययमसौ विष्णुर्नमत्यग्रतः
शम्भुर्देहि दृगञ्चलं सुरपतिं दूरस्थमालोकय।
इत्येवं परिचारिकाभिरुदिते सम्माननां कुर्वती
दृग्द्वन्द्वेन यथोचितं भगवती भूयाद्विभूत्यै मम ॥६६॥

मन्दं चारणसुन्दरीभिरभितो यान्तीभिरुत्कण्ठया
नामोच्चारणपूर्वकं प्रतिदिशं प्रत्येकमावेदितान्।
वेगादक्षिपथं गतान् सुरगणानालोकयन्ती शनै-
र्दित्सन्तो चरणाम्बुजं पथि जगत्पायान्महेशप्रिया ॥६७॥

अग्रे केचन पार्श्वयोः कतिपये पृष्ठे परे प्रस्थिता-
आकाशे समवस्थिताः कतिपये दिक्षु स्थिताश्चाऽपरे।
सम्मर्दं शनकैरपास्य पुरतो दण्डप्रणामान्मुहुः
कुर्वाणाः कतिचित्सुराः गिरिसुते दृक्पातमिच्छन्ति ते ॥६८॥

अग्रे गायति किन्नरी कलपदं गन्धर्वकान्ताश्शनै-
रातोद्यानि च वादयन्ति मधुरं सव्यापसव्यस्थिताः।
कूजन्नूपुरवादमञ्जु पुरतो नृत्यन्ति दिव्याङ्गनाः
गच्छन्तः परितः स्तुवन्ति निगमस्तुत्यां विरिञ्चादयः ॥६९॥

कस्मैचित्सुचिरादुपासितमहामन्त्रौघसिद्धिं क्रमादेकस्मै
भवनिःस्पृहाय परमानन्दस्वरूपां गतिम्।
अन्यस्मै विषयानुरक्तमनसे दीनाय दुःखापहं
द्रव्यं द्वारसमाश्रिताय ददतीं वन्दामहे सुन्दरम् ॥७०॥

नम्रीभूय कृताञ्जलिप्रकटितप्रेमप्रसन्नानने
मन्दं गच्छति सन्निधौ सविनयात्सोत्कण्ठमोघत्रये ।
नानामन्त्रगणं तदर्थमखिलं तत्साधनं तत्फलं
व्याचक्षाणमुदग्रकान्ति कलये यत्किञ्चिदाद्यं महः ॥७१॥

तव दहनसदृक्षैरीक्षणैरेव चक्षु-
र्निखिलपशुजनानां भीषयद्भीषणास्यम् ।
कृतवसति परेशप्रेयसि द्वारि नित्यं
शरभमिथुनमुच्चैर्भक्तियुक्तो नतोऽस्मि ॥७२॥

कल्पान्ते सरसैकदासमुदितानेकार्कतुल्यप्रभां
रत्नस्तम्भविवद्धकाञ्चनगुणस्फूर्जद्वितानोत्तमाम् ।
कर्पूरागुरुगर्भवर्तिकलिकाप्राप्तप्रदीपावलीं
श्रीचक्राकृतिमुल्लसन्मणिगणां वन्दामहे वेदिकाम् ॥७३॥

स्वस्थानस्थितदेवतागणवृते विन्दौ मुदा स्थापितं
नानारत्नविराजिहेमविलसत्कान्तिच्छटादुर्दिनम् ।
चञ्चत्कौसुमतूलिकासनयुतं कामेश्वराधिष्ठितं
नित्यानन्दनिदानमम्ब ! सततं वन्दे च सिंहासनम् ॥७४॥

वदद्भिरभितो मुदा जय जयेति वृन्दारकैः
कृताञ्जलिपरम्परा विदधती कृतार्था दृशा ।
अमन्दमणिमण्डलीखचितहेमसिंहासनं
सखीजनसमावृतं समधितिष्ठ दाक्षायणि ! ॥७५॥

कर्पूरादिकवस्तुजातमखिलं सौवर्णभृङ्गारकं
ताम्बूलस्य करण्डकं मणिमयं चैलाञ्चलं दर्पणम् ।
विस्फूर्जन्मणिपादुके च दधतीः सिंहासनस्याभित—
स्तिष्ठन्तीः परिचारिकास्तव सदा वन्दामहे सुन्दरि ॥७६॥

त्वदमलवपुरुद्यत्कान्तिकल्लोलजालैः
स्फुटमिव दधतीभिर्बाहुविक्षेपलीलाम् ।
मुहुरपि च विधूते चामरग्राहिणीभिः
सितकरकरशुभ्रे चामरे चालयामि ॥७७॥

प्रान्तस्फुरद्विमलमौक्तिकगुच्छजालं
चञ्चन्महामणिविचित्रितहेमदण्डम् ।
उद्यत्सहस्रकरमण्डलचारुहेम-
च्छत्रं महेशमहिले विनिवेशयामि ॥७८॥
उद्यत्तावकदेहकान्तिपटलीसिन्दूरपूरप्रभा-
शोणीभूतमुदग्रलोहितमणिच्छेदानुकारिच्छवि ।
दूरादादरनिर्मिताञ्जलिपुटैरालोक्यमानं सुर-
व्यूहैः काञ्चनमातपत्रमतुलं वन्दामहे सुन्दरम् ॥७९॥
सन्तुष्टां परमामृतेन विलसत्कामेश्वराङ्कस्थितां
पुष्पौघैरभिपूजितां भगवतीं त्वां वन्दमाना मुदा ।
स्फूर्जत्तावकदेहरश्मिकलनाप्राप्तस्वरूपाभिदाः
श्रीचक्रावरणस्थितास्सविनयं वन्दामहे देवताः ॥८०॥
आधारशक्त्यादिकमाकलय्य मध्ये समस्ताधिकयोगिनीञ्च ।
मित्रेशनाथादिकमत्र नाथ-चतुष्टयं शैलसुते नतोऽस्मि ॥८१॥
त्रिपुरासुधार्णवासनमारभ्य त्रिपुरमालिनीं यावत् ।
आवरणाष्टकसंस्थितमासनषट्कं नमामि परमेशि ! ॥८२॥
ईशाने गणपं स्मरामि विचरद्विघ्नान्धकारच्छिदं
वायव्ये वटुकञ्च कज्जलरुचिं व्यालोपवीतान्वितम् ।
नैर्ऋत्ये महिषासुरप्रमथिनीं दुर्गाञ्च सम्पूजय-
न्नाग्नेयेऽखिलभक्तरक्षणपरं क्षेत्राधिनाथं भजे ॥८३॥
उड्डयाणजालन्धरकामरूपपीठानिमान्पूर्णगिरिप्रसक्तान् ।
त्रिकोणदक्षाग्रिमसव्यभागमध्यस्थितान् सिद्धिकरान्नमामि ॥८४॥
लोकेशः पृथिवीपतिर्निगदितो विष्णुर्जलानां प्रभु—
स्तेजोनाथ उमापतिश्च मरुतामीशस्तथा चेश्वरः ।
आकाशाधिपतिस्सदाशिव इति प्रेताभिधामागता-
नेतांश्चक्रबहिःस्थितान्सुरगणान्वन्दामहे सादरम् ॥८५॥

तारानाथकलाप्रवेशनिगमव्याजादृगतासुप्रथं
त्रैलोक्ये तिथिषु प्रवर्तितकलाकाष्ठादिकालक्रमम् ।
रत्नालङ्कृतिचित्रवस्त्रललितं कामेश्वरीपूर्वकम्
नित्याषोडशकं नमामि लसितं चक्रात्मनोरन्तरे ॥८६॥
हृदि भावितदैवतं प्रयत्नाभ्युपदेशानुगृहीतभक्तसङ्गम् ।
स्वगुरुक्रमसंज्ञचक्रराजस्थितमोघत्रयमानतोऽस्मि मूर्ध्ना ॥८७॥
हृदयमथशिरःशिखाखिलाद्यो कवचमथो नयनत्रयञ्च देवि ! ।
मुनिजनपरिचिन्तितं तथास्त्रं स्फुरतु सदा हृदये षडङ्गमेतत् ॥८८॥
त्रैलोक्यमोहनमिति प्रथिते तु चक्रे
चञ्चद्विभूषणगणत्रिपुराधिवासे ।
रेखात्रये स्थितवतीरणिमादिसिद्धी-
र्मुद्रा नमामि सततं प्रकटाभिधास्ताः ॥८९॥
सर्वाशापरिपूरके वसुदलद्वन्द्वेन विभ्राजिते ।
विस्फूर्जत्त्रिपुरेश्वरीनिवसतौ चक्रे स्थिता नित्यशः ।
कामाकर्षणिकादयो मणिगणभ्राजिष्णुदिव्याम्बरा
योगिन्यः प्रदिशन्तु कांक्षितफलं विख्यातगुप्ताभिधाः ॥९०॥
महेशि ! वसुभिर्दलैर्लसति सर्वसंक्षोभणे
विभूषणगणस्फुरत्त्रिपुरसुन्दीरसद्मनि ।
अनङ्गकुसुमादयो विविधभूषणोद्भासिता
दिशन्तु मम कांक्षितं तनुतराश्च गुप्ताभिधाः ॥९१॥
लसद्युगदशारके स्फुरति सर्वसौभाग्यदे
शुभाभरणभूषितत्रिपुरवासिनीमन्दिरे ।
स्थिता दधतु मङ्गलं सुभगसर्वसंक्षोभिणी-
मुखास्सकलसिद्धयो विदितसम्प्रदायाभिधाः ॥९२॥
बहिर्दशारे सर्वार्थसाधके त्रिपुराश्रयाः ।
कुलकौलाभिधाः पान्तु सर्वसिद्धिप्रदायिकाः ॥९३॥

अन्तःशोभिदशारकेऽतिललिते सर्वादिरक्षाकरे
मालिन्या त्रिपुराद्यया विरचितावासे स्थितं नित्यशः ।
नानारत्नविभूषणं मणिगणभ्राजिष्णु दिव्याम्बरं
सर्वज्ञादिकशक्तिवृन्दमनिशं वन्दे निगर्भाभिधम् ॥९४॥

सर्वरोगहरेऽष्टारे त्रिपुरासिद्धयान्विते ।
रहस्ययोगिनीर्नित्यं वशिन्याद्याः नमाम्यहम् ॥९५॥

चूताशोकविकासिकेतकरजः प्रोद्भासिनीलाम्बुज-
प्रस्फूर्जन्नवमल्लिकासमुदितैः पुष्पैः शरान्निर्मितान् ।
रम्यं पुष्पशरासनं सुललितं पाशं तथा चाङ्कुशम्
वन्दे तावकमायुधं परशिवे चक्रान्तराले स्थितम् ॥९६॥

त्रिकोण उदितप्रभे जगति सर्वसिद्धप्रदे
युते त्रिपुरयाम्बया स्थितवती च कामेश्वरी ।
तनोतु मम मङ्गलं सकलशर्म वज्रेश्वरी
करोतु भगमालिनी स्फुरतु मामके चेतसि ॥९७॥

सर्वानन्दमये समस्तजगतामाकांक्षिते वैन्दवे
भैरव्या त्रिपुराद्यया विरचितावासे स्थिता सुन्दरी ।
आनन्दोल्लसितेक्षणा मणिगणभ्राजिष्णु भूषाम्बरा
विस्फूर्जद्वदना परापररहः सा पातु मां योगिनी ॥९८॥

उल्लसत्कनककान्तिभासुरं सौरभस्फुरणवासिताम्बरम् ।
दूरतः परिहृतं मधुव्रतैरर्पयामि तव देवि चम्पकम् ॥९९॥

वैरमुद्धतमपास्य शम्भुना मस्तके विनिहितं कलाच्छलात् ।
गन्धलुब्धमधुपाश्रितं सदा केतकीकुसुममर्पयामि ते ॥१००॥

चूर्णीकृतं द्रागिव पद्मजेन त्वदाननस्पर्धि सुधांशुबिम्बम् ।
समर्पयामि स्फुरमञ्जलिस्थं विकासिजातीकुसुमोत्करं ते ॥१०१॥

अगुरुबहलधूपाजस्रसौरभ्यरम्यां
मरकतमणिराजीराजिहारिस्रगाभाम् ।
दिशि विदिशि विसर्पद्गन्धलुब्धालिमालां
वकुलकुसुममालां कण्ठपीठेऽर्पयामि ॥१०२॥

ईकारोर्ध्वगबिन्दुराननमधो बिन्दुद्वयञ्चस्तनौ
त्रैलोक्ये गुरुगम्यमेतदखिलं हार्दञ्च रेखात्मकम् ।
इत्थं कामकलात्मिकां भगवतीमन्तस्समाराधय-
न्नानन्दाम्बुधिमज्जने प्रलभतामानन्दथुं सज्जनः ॥१०३॥

धूपं तेऽगुरुसम्भवं भगवति ! प्रोल्लासिगन्धोद्धुरं
दीपं चैव निवेदयामि महसा हार्दान्धकारच्छिदम् ।
रत्नस्वर्णविनिर्मितेषु परितः पात्रेषु संस्थापितं
नैवेद्यं विनिवेदयामि परमानन्दात्मिके सुन्दरि ॥१०४॥

जातीकोरकतुल्यमोदनमिदं सौवर्णपात्रे स्थितं
शुद्धान्नं शुचि मुद्गमाषचणकोद्भूतास्तथा सूपकाः ।
प्राज्यं माहिषमाज्यमुत्तममिदं हैयङ्गवीनं पृथक्-
पात्रेषु प्रतिपादितं परशिवे तत्सर्वमङ्गीकुरु ॥१०५॥

शिम्बीसूरणशाकबिम्बबृहतीकूष्माण्डकोशातकी-
वृन्ताकानि पटोलकानि मृदुना संसाधितान्यग्निना ।
सम्पन्नानि च वेसवारविसरैर्दिव्यानि भक्त्या कृता-
न्यग्रे ते विनिवेदयामि गिरिजे सौवर्णपात्रव्रजे ॥१०६॥

निम्बूकार्द्रकचूतकन्दकदली कौशातकीकर्कटी-
धात्रीबिल्वकरीरकैर्विरचितान्यानन्दचिद्विग्रहे ।
राजीभिः कटुतैलसैन्धवहरिद्राभिः स्थितान्पातये
सन्धानानि निवेदयामि गिरिजे भूरिप्रकाराणि ते ॥१०७॥

सितयाञ्चितलड्डुकव्रजान्मृदुपूपान्मृदुलाश्च पूरिकाः
परमान्नमिदं च पार्वति ! प्रणयेन प्रतिपादयामि ते ॥१०८॥

दुग्धमेतदनले सुसाधितं चन्द्रमण्डलनिभं तथा दधि ।
फाणितं शिखरिणीं सितासितां सर्वमम्ब विनिवेदयामि ते ॥१०९॥

अग्रे ते विनिवेद्य सर्वममितं नैवेद्यमङ्गीकृतं
ज्ञात्वा तत्त्वचतुष्टयं प्रथमतो मन्ये सुतृप्तां ततः ।
देवीं त्वां परिशिष्टमम्ब कनकामत्रेषु संस्थापितं
शक्तिभ्यः समुपाहरामि सकलं देवेशि शम्भुप्रिये ॥११०॥

वामेनस्वर्णपात्रीमनुपमपरमान्नेन पूर्णां दधाना-
मन्येन स्वर्णदर्वीं निजजनहृदयाभीष्टदां धारयन्तीम् ।
सिन्दूरारक्तवस्त्रां विविधमणिलसद्भूषणां मेचकाङ्गीं
तिष्ठन्तीमग्रतस्ते मधुमदमुदितामन्नपूर्णां नमामि ॥१११॥

पंक्त्योपविष्टान्परितस्तु चक्रे शक्त्या स्वया लिङ्गितवामभागान् ।
सर्वोपचारैः परिपूज्य भक्त्या तवाम्बिके पारिषदान्नमामि ॥११२॥

परमामृतमत्तसुन्दरीगणमध्यस्थितमर्कभासुरम् ।
परमामृतघूर्णितेक्षणं किमपि ज्योतिरुपास्महे परम् ॥११३॥

दृश्यते तव मुखाम्बुजं शिवे श्रूयते स्फुटमनाहतध्वनिः ।
अर्चने तव गिरामगोचरे न प्रयाति विषयान्तरं मनः ॥११४॥

त्वन्मुखाम्बुजविलोकनोल्लसत्प्रेमनिश्चलविलोचनद्वयीम् ।
उन्मनीमुपगतां सभामिमां भावयामि परमेशि तावकीम् ॥११५॥

चक्षुः पश्यतु नेह किञ्चन परं घ्राणं न वा जिघ्रतु
श्रोत्रं हन्त शृणोतु न त्वगपि स्पर्शं समालम्बताम् ।
जिह्वा वेत्तु न वा रसं मम परं युस्मत्स्वरूपामृते
नित्यानन्दविघूर्णमाननयने नित्यं मनो मज्जतु ॥११६॥

यस्त्वां पश्यति पार्वति प्रतिदिनं ध्यानेन तेजोमयीं
मन्ये सुन्दरि तत्त्वमेतदखिलं वेदेषु निष्ठां गतम् ।
यस्तस्मिन्समये तवार्चनविधावानन्दसान्द्राशयो
यातोऽहं तदभिन्नतां परशिवे सोऽयं प्रसादस्तव ॥११७॥

गणाधिनाथं वटुकञ्च योगिनीः क्षेत्राधिनाथञ्च विदिक्चतुष्टये ।
सर्वोपचारैःपरिपूज्य भक्तितो निवेदयामो बलिमुक्तयुक्तिभिः ॥११८॥

वीणामुपान्ते खलु वादयन्त्यै निवेद्य शेषं खलु शेषिकायै ।
सौवर्णभृङ्गारविनिर्गतेन जलेन शुद्धाचमनं विधेहि ॥११९॥

ताम्बूलं विनिवेदयामि विलसत्कर्पूरकस्तूरिका-
जातीपूगलवङ्गचूर्णखदिरैर्भक्त्या समुल्लासितम् ।
स्फूर्जद्रत्नसमुद्गकप्रणिहितं सौवर्णपात्रे स्थितै-
र्दीपैरुज्ज्वलमन्नचूर्णरचितैरारात्रिकं गृह्यताम् ॥१२०॥

काचिद्गायति किन्नरी कलपदं वाद्यं घनानोर्वशी-
रम्भा नृत्यति केलिमञ्जुलपदं मातः पुरस्तात्तव ।
कृत्यं प्रोज्झ्य सुरस्त्रियो मधुमदव्याघूर्णमानेक्षणं
नित्यानन्दसुधाम्बुधिं तव मुखं पश्यन्ति हृष्यन्ति च ॥१२१॥

ताम्बूलोद्भासिवक्त्रैस्त्वदमलवदनालोकनोल्लासिनेत्रै-
श्चक्रस्थैः शक्तिसङ्घैः परिहृतविषयासङ्गमाकर्ण्यमानम् ।
गीतज्ञाभिः प्रकामं मधुरसमधुरं वादितं किन्नरीभि-
र्वीणाझङ्कारनादं कलय परशिवानन्दसन्धानहेतोः ॥१२२॥

अर्चाविधौ ज्ञानलवोऽपि दूरे दूरे तदापादकवस्तुजातम् ।
प्रदक्षिणीकृत्य ततोऽर्च्चनं ते पञ्चोपचारात्मकमर्पयामि ॥१२३॥

यथेप्सितमनोगतप्रकटितोपचारार्चितां
निजावरणदेवतागणवृतां सुरेशस्थिताम् ।
कृताञ्जलिपुटो मुहुः कलितभूमिरष्टाङ्गकै-
र्नमामि भगवत्यहं त्रिपुरसुन्दरि त्राहि माम् ॥१२४॥

विज्ञप्तीरवधेहि मे सुमहता यत्नेन ते सन्निधिं
प्राप्तं मामिह कान्दिशीकमधुना मातर्न दूरीकुरु ।
चित्तं त्वत्पदभावने व्यभिचरेद्दृग्वाक्च मे जातु चे-
त्तत्सौम्ये स्वगुणैर्वधान न यथा भूयो विनिर्गच्छति ॥१२५॥

काहं मन्दमतिःक्वचेदमखिलैरेकान्तभक्तैःस्तुतं
ध्यातं देवि तथापि ते स्वमनसा श्रीपादुकापूजनम् ।
कादाचित्कमदीयचिन्तनविधौ सन्तुष्ट्या शर्मदं
स्तोत्रं देवतया तया प्रकटितं मन्ये मदीयानने ॥१२६॥

नित्यार्चनमिदं चित्ते भाव्यमानं सदा मया ।
निवद्धं विविधैः पद्यैरनुगृह्णातु सुन्दरी ॥१२७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य
श्रीमच्छङ्करभगवतःकृतौ महात्रिपुरसुन्दरीमानसपूजास्तोत्रं समाप्तम् ।

श्रीबालात्रिपुरसुन्दरीमानसपूजास्तोत्रम्

श्रीमज्जगद्गुरुश्रीशङ्कराचार्यविरचितम्

ॐ उषसि मागधमङ्गलगायनैर्झटिति जागृहि जागृहि जागृहि ।
अतिकृपार्द्रकटाक्षनिरीक्षणैर्जगदिदं जगदम्ब सुखीकुरु ॥१॥
कनकमयवितर्दिशोभमानं दिशि-दिशि पूर्णसुवर्णकुम्भयुक्तम् ।
मणिमयमण्डपमध्यमेहि मातर्मयि कृपया हि समर्चनं गृहीतुम् ॥२॥
कनककलशशोभमानशीर्षं जलधरचुम्बिसमुल्लसत्पताकम् ।
भगवति तव सन्निवासहेतोर्मणिमयमन्दिरमेतदर्पयामि ॥३॥
तपनीयमयी सतूलिका कमनीया मृदुलोत्तरच्छदा ।
नवरत्नविभूषिता मया शिविकेयं जगदम्ब तेऽर्पिता ॥४॥
कनकमयवितर्दिस्थापिते तूलिकाढ्ये-
विविधकुसुमकीर्णे कोटिबालार्कवर्णे ।
भगवति रमणीये रत्नसिंहासनेऽस्मिन्-
उपविश पदयुग्मं हेमपीठे निधेहि ॥५॥
मणिमयमौक्तिकनिर्मितं महान्तं कनकस्तम्भचतुष्टयेन युक्तम् ।
कमनीयतमं भवानि तुभ्यं नवमुल्लोचमहं समर्पयामि ॥६॥
दूर्वया सरसिजान्वितविष्णुक्रान्तया च सहितं कुसुमाढ्यम् ।
पद्मयुग्मसदृशे पदयुग्मे पाद्यमेतदुररीकुरु मातः ! ॥७॥
गन्धपुष्पयवसर्षपदूर्वासम्मितं तिलकुशाक्षतमिश्रम् ।
हेमपात्रनिहितं सह रत्नैरर्घ्यमेतदुररीकुरु मातः ! ॥८॥
जलजद्युतिनाकरेण जातीफलकङ्कोललवङ्गगन्धयुक्तैः ।
अमृतैरमृतैरिवाहृतैर्भगवत्याचमनं विधीयताम् ॥९॥
निहितः कनकस्य सम्पुटे पिहितो रत्नपिधानकेन सः ।
तदयं भवतीकरेऽर्पितो मधुपर्को भवति प्रगृह्यताम् ॥१०॥

एतच्चम्पकतैलमेव विविधैर्पुष्पैर्मुहुर्वासितम्
न्यस्तं रत्नमये सुवर्णचषके भृङ्गैर्भ्रमद्भिर्वृतम् ।
सानन्दं सुरसुन्दरीभिरभितो हस्तैर्धृतं यन्मया
केशेषु भ्रमरप्रभेषु सकलेष्वङ्गेषु चालिप्यताम् ॥११॥
मातःकुङ्कुमपङ्कनिर्मितमिदं देहे तवोद्वर्तनम्
भक्त्याऽहङ्कलयामि हेमरजसा सम्मिश्रितं केशरम् ।
केशानामलकैर्विशोध्य विशदान् कस्तूरिकाद्यन्वितम्
स्नानं ते नवरत्नकुम्भसहितैः संवासितोष्णोदकैः ॥१२॥
दधिदुग्धघृतैःसमाक्षिकैः सितया शर्करया समन्वितैः ।
स्नपयामि तवाहमादृतो जननि ! त्वां पुनरुष्णवारिभिः ॥१३॥
एलोशीरसुवासितैः सुकुसमैर्गङ्गादितीर्थोदकै-
र्मणिक्यामलमौक्तिकामृतयुतैः स्वच्छैः सुवर्णोदकैः ।
मन्त्रान् वैदिकतान्त्रिकान् परिपठन् सानन्दमत्यादरात्
स्नानं ते परिकल्पयामि जननि स्नेहात्त्वमङ्गीकुरु ॥१४॥
बालार्कद्युतिदाडिमीयकुसुमप्रस्पर्धिसर्वोत्तमं
मातस्त्वं परिधेहि दिव्यवसनं भक्त्या मया कल्पितम् ।
मुक्ताभिर्ग्रथितं सकञ्चुकमिदं स्वीकृत्य पीतप्रभम्
तप्तस्वर्णसमानवर्णबहुलं प्रावर्णमङ्गीकुरु ॥१५॥
नवरत्नयुते मयार्पिते कमनीये तपनीयपादुके-
सविलासमिदं पदद्वयं कृपया देवि ! तयोर्निधीयताम् ॥१६॥
बहुभिरगुरुधूपैः सादरं धूपयित्वा ।
भगवति ! तव केशान् कङ्कतैर्मार्जयित्वा ।
सुरभिरविन्दैश्चम्पकैश्चार्चयित्वा
झटिति कनकसूत्रैर्जूटमावेष्टयामि ॥१७॥
सौवीराञ्जनमिदमम्ब ! चक्षुषोस्ते विन्यस्तं कनकशलाकया मया यत् ।
तन्नूनं मलिनमपि त्वदक्षिसङ्गात् ब्रह्मेन्द्राद्यभिलषणीयतामियाय ॥१८॥

मञ्जीरे पदयोर्निधाय रुचिरे विन्यस्य काञ्चीं कटौ
मुक्ताहारमुरोजयोरनुपमां नक्षत्रमालां गले ।
केयूराणि भुजेषु रत्नवलयश्रेणीः करेषु क्रमात्
ताटङ्के तव कर्णयोर्विनिदधे शीर्षे च चूडामणिम् ॥१९॥

धम्मिल्ले तव देवि हेमकुसुमान्याधाय भालस्थले
मुक्ताराजिविराजिहेमतिलकं नासापुटे मौक्तिकम् ।
मातर्मौक्तिकजालिकाञ्च कुचयोः सर्वाङ्गुलीषूर्मिकाः
कट्यां काञ्चनकिङ्किणीर्विनिदधे रत्नावतंसं श्रुतौ ॥२०॥

मातर्भालतले तवातिविमले काश्मीरकस्तूरिका
कर्पूरागुरुभिः करोमि तिलकं देहेऽङ्गरागं ततः ।
वक्षोजादिषु यक्षकर्दमरसैः सित्काञ्चपुष्पद्रवैः
पादौ कुङ्कुमलेपनादिभिरहं सम्पूजयामि क्रमात् ॥२१॥

रत्नाक्षतैस्त्वां परिपूजयामि मुक्ताफलैश्चारुचैर्विचित्रैः ।
अखण्डितैर्देवि ! यवादिभिर्वा काश्मीरपङ्काङ्किततण्डुलैर्वा ॥२२॥

जननि चम्पकतैलमिदं पुरो मृगमदोऽयमयं पटवासकः ।
सुरभिगन्धमिदं च चतुःसमम् सपदि सर्वमिदं प्रतिगृह्यताम् ॥२३॥

सीमन्ते ते भगवति मया सादरं न्यस्तमेतत्
सिन्दूरं मे हृदयकमले देवि हर्षं तनोतु ।
बालादित्यद्युतिरिव सदा लोहिता यस्य कान्ति-
रन्तर्ध्वान्तं हरतु सकलं चेतसा चिन्तयामि ॥२४॥

मन्दारकुन्दकरवीरलवङ्गपुष्पै-
स्त्वां देवि सन्ततमहं परिपूजयामि ।
जातीजपावकुलचम्पककेतकादि-
नानाविधानि कुसुमानि च तेऽर्पयामि ॥२५॥

मालतीबकुलहेमपुष्पिकाकाञ्चनारकरवीरचम्पकैः ।
कर्णिकारगिरिकर्णिकादिभिः पूजयामि जगदम्ब ते वपुः ॥२६॥

परिजातशतपत्रपाटलैर्मल्लिकाबकुलचम्पकादिभिः ।
अम्बुजैश्चकुसुमैश्च सादरं पूजयामि जगदम्ब ! ते वपुः ॥२७॥

लाक्षासम्मिलितैःशिलारसयुतैः श्रीवाससम्मिश्रितैः
कर्पूराकलितैः सितामधुयुतैर्गोसर्पिषालोडितैः ।
श्रीखण्डागुरुगुग्गुलप्रभृतिभिर्नानाविधैर्वस्तुभिः
धूपं ते परिकल्पयामि जननि ! त्वं धूपमङ्गीकुरु ॥२८॥

रत्नालङ्कृतहेमपात्रनिहितैर्गोसर्पिषोद्दीपितैः
दीपैर्दीर्घतरान्धकारविधुरैर्बालार्ककोटिप्रभैः ।
आताम्रज्ज्वलदुज्ज्वलज्ज्वलनवद्रत्नप्रदीपैः सदा
मातस्त्वामहमादरादनुदिनं नीराजयाम्युच्चकैः ॥२९॥

महति कनकपात्रे स्थापयित्वा विशालान्-
डमरुसदृशरूपान् पक्वगोधूमदीपान् ॥
बहुघृतमथ तेषु न्यस्य दीपैरकम्पै-
र्भुवनजननि कुर्वे नित्यमारात्रिकन्ते ॥३०॥

सविनयमथ दत्त्वा जानुयुग्मं धरायां-
सपदि शिरसि धृत्वा पात्रमारात्रिकस्य ।
मुखकमलसमीपे तेऽम्बसार्धत्रिवारं-
भ्रमयति मयि भूयात् ते कृपार्द्रः कटाक्षः ॥३१॥

मातस्त्वां दधिदुग्धपायसमहाशाल्यन्नसन्तानकान्-
सूपापूपसिताघृतैः सवटकैः सक्षौद्ररम्भाफलैः ।
एलाजीरकहिङ्गुनागरनिशाकौस्तुम्बरीसंयुतैः-
शाकैःसाकमहं सुधाधिकरसैः सन्तर्पयाम्यर्पयन् ॥३२॥

सापूपसूपदधिदुग्धसिताघृतानि
सुस्वादुभक्ष्यपरमान्नपुरःसराणि ।
साकोल्लसन्मरिचजीरकवल्लिकानि
भक्ष्याणि भुङ्क्ष्व जगदम्ब मयार्पितानि ॥३३॥

क्षीरमेतदिदमुत्तमोत्तमं प्राज्यमाज्यमिदमुज्ज्वलं मधु
मातरेतदमृतोपमं त्वया संभ्रमेण परिपीयतां मुहुः ॥३४॥
उष्णोदकैः पाणियुगं मुखञ्च प्रक्षाल्य मातः कलधौतपात्रे ।
कर्पूरमिश्रेण सकुङ्कुमेन हस्तौ समुद्वर्तय चन्दनेन ॥३५॥
अतिशीतमुशीरवासितं तव पाणौ च मया निवेदितम् ।
पटपूतमिदं जितामृतं शुचि गंगामृतमम्ब पीयताम् ॥३६॥
आताम्ररम्भाफलसंयुतानि द्राक्षाफलाक्षोटसमन्वितानि ।
मबीजपूराणि सदाडिमानि फलानि ते देवि ! समर्पयामि ॥३८॥
कर्पूरेण युतैर्लवङ्गसहितैःकङ्कोलचूर्णान्वितैः
सुस्वादुक्रमुकैः सगौरखदिरैः सुस्निग्धजातीफलैः ।
मातः ! केतकिपत्रपाण्डुरुचिरैस्ताम्बूलवल्लीदलैः
सानन्दं मुखमण्डनार्थमतुलं ताम्बूलमङ्गीकुरु ॥३९॥
एलालवङ्गादिसमन्वितानि कङ्कोलकर्पूरविमिश्रितानि ।
ताम्बूलवल्लीदलसंयुतानि फलानि ते देवि समर्पितानि ॥४०॥
ताम्बूलवल्लीदलनिर्जितहेमवर्णस्वर्णाक्त
पूगफलमौक्तिकचूर्णयुक्तम् ।
रत्नस्थलीस्थितमिदं खदिरेण सार्धं
ताम्बूलमम्ब वदनाम्बुरुहे ! गृहाण ॥४१॥
अथ हुम `णमिश्रैर्मौक्तिकैस्त्वां विकीर्य-
त्रिभुवनकमनीयैः पूजयित्वा च वस्त्रैः ।
मिलितविविधमुक्तां दिव्यमाणिक्ययुक्तां-
जननि कनकवृष्टिं दक्षिणां तेऽर्पयामि ॥४२॥
मातः काञ्चनदण्डमण्डितमिदं पूर्णेन्दुबिम्बप्रभं-
नानारत्नविशोभिहेमकलशं लोकत्रयाह्लादकम् ॥
भास्वन्मौक्तिकजालिकापरिवृतं प्रीत्यात्महस्ते धृतं-
छत्रन्ते परिकल्पयामि शिरसि त्वष्ट्रा स्वयं निर्मितम् ॥४३॥

शरदिन्दुमरीचिगौरवर्णैर्मणियुक्तैर्विलसत्सुवर्णदण्डैः ।
जगदम्ब विचित्रचामरैस्त्वामहमानन्दभरेण बीजयामि ॥४४॥

मार्त्तण्डमण्डलनिभो जगदम्ब ! योऽयं-
भक्त्या मया मणिमयो मुकुरोऽर्पितस्ते ।
पूर्णेन्दुविम्बरुचिरं वदनं स्वकीय-
मस्मिन् विलोकय विलोलविलोचने त्वम् ॥४५॥

इन्द्रादयो नतिनतैर्मुकुटप्रदीपै-
र्नीराजयन्ति सततं तव पादपीठम् ।
तस्मादहं तव शरीरमशेषमेतन्-
नीराजयामि जगदम्ब सहस्रदीपैः ॥४६॥

प्रियगतिरतितुङ्गो रत्नपल्लाणयुक्तः-
कनकमयविभूषःस्निग्धगम्भीरघोषः ।
भगवति कलितोऽयं वाहनार्थं मया ते-
तुरगशतसमेतो वायुवेगस्तुरङ्गः ॥४७॥

मधुकरवृतकुम्भो न्यस्तसिन्दूररेणुः-
कनककलितघण्टः किङ्किणीशोभिकण्ठः ।
श्रवणयुगलचञ्चच्चामरो मेघतुल्यो-
जननि तव मुदे स्यान्मत्तमातङ्ग एषः ॥४८॥

द्रुततरतुरगैर्विराजमानं, मणिमयचक्रचतुष्टयेन युक्तम् ।
कनकमयमहं वितानवन्तं भगवति ते हि रथं समर्पयामि ॥४९॥

हयगजरथपत्तिशोभमानं दिशि दिशि दुन्दुभिमेघनादयुक्तम् ।
अभिनवचतुरङ्गसैन्यमेतत् भगवति भक्तिभरेण तेऽर्पयामि ॥५०॥

परिधिकृतसप्तसागरं वहुसम्पत्सहितं मयाम्ब ते ।
विपुलं धरणीतलाभिधं प्रवलं दुर्गमिदं समर्पितम् ॥५१॥

शतपत्रयुतैः स्वभावशीतैरतिसौरभ्ययुतैः परागपीतैः ।
भ्रमरीमुखरीकृतैरनेकैर्व्यंजनैस्त्वां जगदम्ब बीजयामि ॥५२॥

भ्रमविलुलितलोलकुन्तलालिर्विगलितमाल्यविकीर्णरङ्गभूमिः ।
इयमतिचतुरा नटी नटन्ती तव हृदये मुदमातनोतु मातः ! ॥५३॥
मुखचलनविलासलोलवेणीविलसितनिर्णितलोलभृङ्गमालाः ।
युवजनसुखकारिचारुलीला भगवति ! ते पुरतो नटन्ति बालाः ॥५४॥
रुचिरकुचतटीनां नाट्यकाले नटीनां-
प्रतिगृहमथ तत्र प्रत्यहं प्रादुरासीत् ।
धिमिक धिमिकि धिद्धी धिद्धि धिद्धेति धिद्ध-
धिकिति धिकिति तत्थै त्थै यथेयेति शब्दः ॥५५॥
भ्रमदलिकुलतुल्यालोलधम्मिल्लभारास्मितमुखकमलोद्यद्दिव्यलावण्यपूरा ।
अभिनवनववेषा वारयोषा नटन्ती परभृतकलकण्ठी देवि मोदन्तनोतु ॥५६॥

डमरुडिण्डिमझर्झरझल्लरी मृदुरवार्द्रघटार्द्रघटादयः ।
झटितिझङ्कृतिभिर्जगदम्बिके बहुदयं हृदयं सुखयन्तु ते ॥५७॥
विपञ्चीषु सप्तस्वरान् वादयन्त्य-
स्तव द्वारि गायन्ति गन्धर्वकन्याः ।
क्षणं सावधानेन चित्तेन मातः-
समाकर्णय त्वं मया प्रार्थिताऽसि ॥५८॥
अतिशयकमनीयैर्नर्त्तनैर्नर्त्तकीनां-
झटिति च रमयित्वा चेत एवं त्वदीयम् ।
स्वयमहमपि चित्रैर्नृत्यवादित्रगीतै-
र्भगवति भवदीयं मानसं रञ्जयामि ॥५९॥

तव देवि गुणानुवर्णने चतुरा नो चतुराननादयः ।
तदिहैकमुखेषु जन्तुषु स्तवनं कस्तव कर्त्तुमीश्वरः ॥६०॥
पदे पदे या परिपूजकेभ्यः सद्योऽश्वमेधादिफलन्ददाति ।
तां सर्वपापक्षयहेतुभूतां प्रदक्षिणां ते परितः करोमि ॥६१॥
रक्तोत्पलारक्ततलप्रभाभ्यां ध्वजोर्ध्वरेखाकुलिशाङ्किताभ्याम् ।
अशेषवृन्दारकवन्दिताभ्यां नमो भवानीपदपङ्कजाभ्याम् ॥६२॥

चरणनलिनयुग्मं पङ्कजैः पूजयित्वा-
कनककमलमालां कण्ठदेशेऽर्पयित्वा ॥
शिरसि विनिहितोऽयं रत्नपुष्पाञ्जलिस्ते-
हृदयेकमलमध्ये देवि हर्षन्तनोतु ॥६३॥
अथ मणिमयमञ्चकाभिरामे द्युतिमति पुष्पवितानराजमाने ।
प्रसरदगुरुधूपितेऽस्मिन् भगवति वासगृहेऽस्तु ते निवासः ॥६४॥
एतस्मिन् मणिखचिते सुवर्णपीठे त्रैलोक्याभयवरदौ निधाय पादौ ।
विस्तीर्णे मृदुलतरच्छदेऽस्मिन् पर्यङ्के कनकमये निषीद मातः ॥६५॥
तव देवि सरोजचिह्नयोः पदयोर्निर्जितपद्मरागयोः ।
अतिरक्ततरैरलक्तकैः पुनरुक्तां रचयामि रक्तताम् ॥६६॥
अथ मातरुशीरवासितं निजताम्बूलरसेन राजितम् ।
तपनीयमये हि पात्रके मुखगण्डूषजलं विधीयताम् ॥६७॥
क्षणमथ जगदम्ब मञ्चकेऽस्मिन् मृदुतरतूलिकया विराजमाने ।
अतिमहति मुदा निजेच्छया त्वं सुखशयनं कुरु मां हृदि स्मरन्ती ॥८॥
मुक्ताकुन्देन्दुगौरां मणिमयमुकुटां रत्नताटङ्कयुक्ता-
मक्षस्रक्पुष्पहस्तामभयवरकरां चन्द्रचूडां त्रिनेत्राम् ॥
नानालङ्कारयुक्तां सुरमुकुटलसद्द्योतितस्वर्णपीठां,
सानन्दां सुप्रसन्नां त्रिभुवनजननीं चेतसा चिन्तयामि ॥६९॥
एषा भक्त्या तव विरचिता या मया देवि पूजा-
स्वीकृत्यैनां सपदि सकलां मेऽपराधान् क्षमस्व ।
न्यूनं यत्तत्तव करुणया पूर्णतामेतु सद्यः
सानन्दम्मे हृदयकमले तेऽस्तु नित्यं निवासः ॥
पूजामिमां पठेत् प्राज्ञः पूजाकर्तुमनीश्वरः ।
पूजाफलमवाप्नोति वाञ्छितार्थांश्च विन्दति ।
प्रत्यहं भक्तियुक्तो यो देविपूजामिमां पठेत् ।
वाग्वादिन्याः प्रसादेन वत्सरात्स कविर्भवेत् ॥

श्रीबालात्रिपुरसुन्दरीमानसपूजास्तोत्रम् सम्पूर्णम् ॥

श्रीविद्यासर्वस्वभूताः षडाम्नायमन्त्राः

श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं
सिद्धौघं वटुकत्रयं पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम् ।
वीरान्द्वयष्टचतुष्कषष्टिनवकं वीरावलीपञ्चकं
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम् ॥

वन्दे गुरुपदद्वन्द्वमवाङ्मनसगोचरम् ।
रक्तशुक्लप्रभामिश्रमतर्क्यं त्रैपुरं महः ॥

गुरुपादुकामनुमुच्चार्य सुमुखादिपञ्चमुद्राः प्रदर्श्य गणपतिमूलेन महागणपतिं प्रणमेत् ।

अथ पूर्वाम्नायः

तत्र त्रैलोक्यमोहनसर्वाशापरिपूरकसर्वसंक्षोभणाख्ये सृष्टिचक्रे पूर्वाम्नायदेवतां मुक्तातपत्रच्छायायामुपविष्टां पद्मरागारुणां मुक्ताभरणवस्त्रमाल्यानुलेपनां पाशाङ्कुशवराभयकरां रक्तमुकुटार्पितचन्द्रलेखां ध्यात्वा—

गुरुमण्डलम्

१—गुरुः—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं, ऐं क्लीं सौः, हंसः शिवः सोहं ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं ह्सौः, सहक्षमलवरयीं स्हौः, हंसः शिवः सोहं, स्वरूपनिरूपणहेतवे श्रीगुरवे नमः । अमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

२—परमगुरुः—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं, ऐं क्लीं सौः, सोहं हंसः शिवः, ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं ह्सौः, सहक्षमलवरयीं स्हौः, सोहं हंसः शिवः, स्वच्छप्रकाशविमर्शहेतवे श्रीपरगुरवे नमः । अमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

३—परमेष्ठिगुरुः—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं, ऐं क्लीं सौः, हंस, शिवः सोहं हंसः, ह्स्ख्फ्रें सहक्षमलवरयूं ह्सौः, सहक्षमलवरयीं स्हौः, हंसः शिवः सोहं हंसः, स्वात्मारामपञ्जरविलीनतेजसे श्रीपरमेष्ठिगुरवे नमः । अमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

४—गणपतिः—ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वर वरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा । महागणपतिश्रीपा० ।

५—पीठत्रयम्—

(क) ४ ऐं क्लीं सौः अं आं सौः कामगिरिपीठब्रह्मात्मशक्त्यै नमः । कामगिरिपीठब्रह्मात्मशक्तिश्रीपा० ।

(ख) ४ ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः पूर्णगिरिपीठविष्ण्वात्मशक्त्यै नमः । पूर्णगिरिपीठविष्ण्वात्मशक्तिश्रीपा० ।

(ग) ४ ऐं क्लीं सौः श्रीं ह्रीं ऐं जालन्धरपीठरुद्रात्मशक्त्यै नमः । जालन्धरपीठरुद्रात्मशक्तिश्रीपा० ।

देवताः

६—शुद्धविद्या—४ ऐं ईं औः । शुद्धविद्याम्बाश्री० ।

७—बाला—४ ऐं क्लीं सौः सौः क्लीं ऐं । बालात्रिपुरसुन्दर्यम्बा० ।

८—द्वादशार्धा—४ हसकलरडैं हसकलरडीं हसकलरडौः । द्वादशार्धाम्बा० ।

९—मातङ्गिनीमन्त्राः—

(क) ४ ॐ ह्रीं हसन्ति हसितालापे मातङ्गि परिचारिके । मम भयविघ्नापदां नाशं कुरु कुरु ठ ठ हुं फट् स्वाहा । श्रीहसन्तीश्यामलाम्बाश्री० ।

(ख) ४ ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ॐ नमो भगवति श्रीमातङ्गीश्वरि सर्वजनमनोहारि सर्वमुखरञ्जिनि क्लीं ह्रीं श्रीं सर्वराजवशङ्करि सर्वस्त्रीपुरुषवशङ्करि सर्वदुष्टमृगवशङ्करि सर्वसत्त्ववशङ्करि सर्वलोकवशङ्करि त्र्यैलोक्यं मे वशमानय स्वाहा । सौः क्लीं ऐं श्रीं ह्रीं ऐं । श्रीराजश्यामलाम्बाश्रीपा० ।

(ग) ४ ॐ नमो भगवते महाशुकाय त्रिभुवनालङ्काराय राजमदमर्दनाय शीघ्रं राजानं मे वशमानय स्वाहा । श्रीशुकश्यामलाम्बाश्री० ।

(घ) ४ ॐ ऐं ॐ नमो भगवति शां शारिके सकलकलाकोविदे विद्यां बोधय बोधय स्वाहा । श्रीशारिकाश्यामलाम्बाश्रीपा० ।

(ङ) ४ ॐ नमो भगवत्यै वीं वीणायै मम संगीतविद्यां प्रयच्छ स्वाहा । श्रीवीणाश्यामलाम्बाश्रीपा० ।

(च) ४ ॐ नमो भगवते व्यं वेणवे मम साहित्यविद्यां प्रयच्छ स्वाहा । श्रीवेणुश्यामलाम्बाश्रीपा० ।

(छ) ४ ऐं नमः उच्छिष्टचण्डालि मातङ्गि सर्वजनवशङ्करि स्वाहा । श्रीलघुश्यामलाम्बाश्रीपा० ।

१०—गायत्री—

४ ॐ भूर्भुःस्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं—प्रचोदयात् । गायत्र्यम्बाश्रीपा० ।

११—गणपतिमन्त्राः—

(क) ४ ॐ श्रीं ह्रीं ग्लौं गणपतये सर्वकार्यसिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा । क्षिप्रगणपति० ।

(ख) ४ ॐ श्रीं ह्रीं सर्वकार्यविघ्नप्रशमनाय सर्वराजवश्यकराय सर्वस्त्रीपुरुषाकर्षणाय सर्वलोकवशीकरणाय आं ह्रीं क्रों हुं फट् स्वाहा । सिद्धगणपति० ।

(ग) ४ ॐ ग्लौं नवनीतगणपतये सर्वजनान्मे वशमानय स्वाहा । नवनीतगणपति० ।

(घ) ४ ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं ऐं वद वद वाग्वादिनि सिद्धगणपतये गीं भगवति स्वाहा । शक्तिगणपति० ।

(ङ) ॐ हस्तिमुखाय लम्बोदराय उच्छिष्टाय महात्मने आं क्रों ह्रीं क्लीं ग्लौं गं घे घे उच्छिष्टाय स्वाहा । उच्छिष्टगणपति० ।

(च) ४ ॐ गं ॐ । एकाक्षरीगणपति० ।

१२—कार्तिकेयमन्त्राः—

(क) ४ ॐ ऐं क्षं क्षं कुमाराय नमः । कुमारश्रीपा० ।

(ख) ४ ॐ ह्रीं श्रीं सं सुब्रह्मण्याय वैरिधैर्यं चलय चलय स्वाहा । सुब्रह्मण्य० ।

(ग) ४ ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं सौः स्कन्दाय नमः । स्कन्द० ।

१३—मृत्युञ्जयमनु :—४ ॐ ह्रौं जुं सः। मृत्युञ्जय०।

१४—नीलकण्ठमनु:—४ ॐ फ्रों नीं ठः। नीलकण्ठ०।

१५—त्र्यम्बकमनु :—

४ ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। त्र्यम्बक०।

१६—जातवेदोमनु—

४ ॐ वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय साधय स्वाहा। जातवेद०।

१७—प्रत्यङ्गिरामनु :—

(क) ४ ॐ आं ह्रीं क्रों ॐ नमः कृष्णवसने सिंहवदने महाभैरवि ज्वलज्ज्वालाजिह्वे करालवदने प्रत्यङ्गिरे क्ष्म्रों। ॐ नमो नारायणाय। घृणिस्सूर्य आदित्यों। सहस्रार हुं फट्। अव ब्रह्मद्विषो-जहि। ब्राह्मीप्रत्यङ्गिरा०।

(ख) ४ ॐ ह्रीं खें फ्रें भक्षज्वालाजिह्वे करालवदने कालरात्रि प्रत्यङ्गिरे क्षों क्ष्म्रौं ह्रीं नमस्तुभ्यं हन हन, मां रक्ष रक्ष, मम शत्रून् भक्षय भक्षय हुं फट् स्वाहा। नारायणीप्रत्यङ्गिरा०।

(ग) ४ श्रीं ह्रीं ॐ नमः कृष्णवसने सहस्रसिंहिनि सहस्रवदने कालरात्रि प्रत्यङ्गिरे परसैन्यपरकर्मविध्वंसिनि परमन्त्रोत्सादिनि सर्वभूतदमनि सर्वदेहान्बन्ध बन्ध सर्वविद्यां छिन्धि छिन्धि क्षोभय क्षोभय परतन्त्राणि स्फोटय स्फोटय सर्वशृङ्खलान् त्रोटय त्रोटय ज्वलज्ज्वालाजिह्वे करालवदने प्रत्यङ्गिरे ह्रीं नमः। रौद्रीप्रत्यङ्गिरा०।

(घ) ४ यां कल्पयन्ति नोऽरयः क्रूरां कृत्यां वधूमिव। तां ब्रह्मणापन्निर्णुद्मः प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु॥ उग्रकृत्याप्रत्यङ्गिरा०।

(ङ) ४ ज्वलज्ज्वालाजिह्वे करालदंष्ट्रे प्रत्यङ्गिरे क्षीं ह्रीं हुं फट्। अथर्वणभद्रकालीप्रत्यङ्गिरा०।

१८—४ ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्। अकाररूपाय सृष्टिकर्त्रे ब्रह्मणे नमः। ब्रह्म०।

१९—४ ह्स्रैं ह्स्क्लरीं ह्स्रौः। पूर्वाम्नायसमयविद्येश्वर्युन्मोदिनी देव्याम्बा०।

२०—४ मूलं गुरुत्रयगणपतिपीठत्रयसहितायै शुद्धविद्यादिसमयविद्येश्वरीपर्यन्तचतुर्विंशतिसहस्रदेवतापरिसेवितायै कामगिरिपीठस्थितायै पूर्वाम्नाय समष्टिरूपिण्यै श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः। श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

इति पूर्वाम्नायः।

अथ दक्षिणाम्नायः।

चतुर्दशारद्विदशारात्मके स्थितिचक्रे दक्षिणाम्नायदेवतामुद्यत्सूर्यसहस्राभां नानालङ्कारभूषितां रक्तवस्त्रानुलेपनां वामाद्यूर्ध्वयोस्तदाद्यधःस्थयोः करयोः पाशाङ्कुशपुस्तकाक्षमालाधरां ध्यात्वा—

गुरुमण्डलम्।

१—भैरव :—

(क) ४ फ्रें फट् फां फीं ह्लीं श्रीं महामन्थानभैरवश्रीपा०

(ख) ,, ,, खचक्रभैरव०

(ग) ,, ,, फट्कारभैरव०

(घ) ,, ,, एकात्मानन्दभैरव०

(ङ) ४ फ्रें फट् फां फीं ह्लीं श्रीं रविभक्षणभैरवश्रीपा०

(च) ४ ,, ,, चण्डभैरव०

(छ) ,, ,, नभोनिर्मलभैरव०

(ज) ,, ,, डमरभास्करभैरव०

२—सिद्धौघ :—

(क) ४ ह्लीं श्रीं सौः आं महादुर्मनाम्बासिद्धश्रीपा०

(ख) ४ ,, सुन्दर्यम्बासिद्ध०

(ग) ४ ,, विश्वदलनाम्बासिद्ध०

(घ) ४ ह्लीं श्रीं सौः आं कपालिकाम्बासिद्ध०

(ङ) ४ ,, बडवाम्बासिद्ध०

(च) ४ ,, भीमाम्बासिद्ध०

(छ) ४ ,, कराल्यम्बासिद्ध०

(ज) ३ ,, खराननाम्बासिद्ध०

(झ) ४ ,, शालिनाम्बासिद्ध०

३—वटुकत्रयम्—

(क) ४ ॐ ह्रीं श्रीं हुं फट् स्कन्दवटुकश्रीपा०

(ख) ४ ,, ,, चित्रवटुक०

(ग) ४ ,, ,, विरिञ्चिवटुक०

४—पदयुगं—

(क) ४ हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं। प्रकाशपादुकाश्री०

(ख) ४ हसकल हसकहल सकलह्रीं। विमर्शपादुकाश्री०

५—सौभाग्यविद्या—

३ ऐं क-५ क्लीं ह-६ सौः स-४। सौभाग्यविद्याम्बा०

६—बगलामनुः—

४ ॐ ह्लीं बगलामुखि सर्वदुष्टानां वाचं मुखं पदं स्तम्भय जिह्वां कीलय बुद्धि विनाशय ह्लीं ॐ स्वाहा। बगलामुखी०

७—वाराहीमनुः—

४ ऐं ग्लौं ऐं नमो भगवति वार्तालि वार्तालि वाराहि वाराहि वराहमुखि वराहमुखि अन्धे अन्धिनि नमः। रुन्धे रुन्धिनि नमः। जम्भे जम्भिनि नमः। मोहे मोहिनि नमः। स्तम्भे स्तम्भिनि नमः। सर्वदुष्टप्रदुष्टानां सर्वेषां सर्ववाक्चित्तचक्षुर्मुखगतिजिह्वास्तम्भनं कुरु कुरु शीघ्रं वश्यं ऐं ग्लौं ठः ठः ठः ठः हुं अस्त्राय फट्। श्रीवाराह्यम्बा०

८—वटुकमनुः—

४ ॐ ह्रीं वं वटुकाय आपदुद्धारणं कुरु कुरु व वटुकाय ह्रीं ॐ स्वाहा। आपदुद्धारणवटुक०

९—तिरस्करिणीमनुः—

४ ऐं ह्रीं श्री ऐं क्लीं सौः ॐ नमो भगवति तिरस्करिणि महामाये महानिद्रे सकलपशुजनमनश्चक्षुश्श्रोत्रतिरस्करणं कुरु कुरु स्वाहा सौः क्लीं ऐं श्रीं ह्रीं ऐं। तिरस्करिण्यम्बा०

१०–महामाया—

४ ॐ ह्रीं ईं ॐ नमो भगवति महामाये मनोमये जगत्क्षोभिणि वर वरदे सर्वजनं मोहय मोहय ईं ह्रीं ॐ स्वाहा। श्रीमहामाया०

११–अघोरमनुः—

४ ह्रां ह्रीं ह्रूं अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः। सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः। ह्रै ह्रौं ह्रः अघोराय स्वाहा। अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः। सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः स्वाहा। कं कं हं क्षं सं हं ग्रीं ग्रीं प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष ह्रूं ह्रीं ह्रां सं हुं फट् स्वाहा। अघोर०

१२–शरभमनुः—

(क) ४ ॐ नमो भगवते प्रलयकालाग्निरुद्राय दक्षाध्वरध्वंसकाय महाशरभाय मम शत्रुच्छेदनं कुरु कुरु स्वाहा। श्रीशरभेश्वर०

(ख) ४ खें खां खं फट् प्राणग्रहसि प्राणग्रहसि हुँ फट्। सर्वशत्रुसंहारकाय शरभसाल्वाय पक्षिराजाय हुँ फट् स्वाहा। शरभेश्वरी०

१३–भेतालमनुः—

४ छ्रां छ्रीं छ्रूं छ्रैं छ्रौं छ्रः ऐं ह्रीं क्लीं झां परेतभूताधिपतये महापिशाचकपालाय झां झोटिंगदमनाय अधिपाय भो भो भेतालाय तुभ्यं नमस्स्वाहा। भेताल०

१४–खड्गरावणमनुः—

४ ॐ ह्रीं क्लीं खं भूतेश ह्रीं ह्रां खड्गरावणाय नमः। खड्गरावण०

१५–वीरभद्रमनुः—

४ ॐ क्लीं ग्रीं वीरभद्र जय जय नमः स्वाहा। वीरभद्र०

१६—रौद्रमनुः—

४ ॐ नमो भगवते रुद्राय । रुद्र०

१७—शास्तृमनुः—

४ ह्रीं हरिहरपुत्राय पुत्रलाभाय शत्रुनाशाय मदगजवाहनाय महाशास्त्रे प्रत्यक्षवेत्रायुधाय वर वरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा । श्रीशस्तृ०

१८—पाशुपतास्त्रमनुः—

४ ॐ श्लीं पशु हुँ फट् । पाशुपतास्त्र०

१९—ब्रह्मास्त्रमनुः—

४ ॐ आं ह्लीं क्रों ग्लौं हुं ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं बगलामुखि आवेशयावेशय आं ह्लीं क्रों ब्रह्मास्त्ररूपिणि एह्येहि आं ह्लीं क्रों मम हृदये आवहावह संनिधिं कुरु कुरु आं ह्लीं क्रों मम हृदये सुखं चिरं तिष्ठ तिष्ठ आं ह्लीं क्रों हुँ फट् स्वाहा । ब्रह्मास्त्र०

२०—वायव्यास्त्रमनुः—

४ आवायव्ययावायव्या व्यायवाया व्ययवाआ । और्वायव्ययावायव्या व्यायवायाव्यर्वाऔ । ॐ हन हन हुं फट् स्वाहा । वायव्यास्त्र०

२१—भैरवमन्त्राः—

(क) ४ ॐ नमो भगवते उग्रभैरवाय सर्वविघ्नान्नाशय नाशय हुं फट् स्वाहा । उग्रभैरव०

(ख) ॐ ह्रीं आं अङ्गभैरव (देवदत्त) कोपशमनं कुरु कुरु स्वाहा । अङ्गभैरव०

(ग) ४ ह्रूं ह्रीं फ्लीं अघोरभैरवाय (देवदत्तं) मोहय स्वाहा । अघोरभैरव०

(घ) ४ ॐ नमो भगवते महाभीमभैरवाय लोकभयङ्कराय सर्वशत्रुसंहारकाय हुं (देवदत्तं) ध्वंसय ध्वंसय स्वाहा । भीमभैरव०

(ङ) ४ वं रं ह्रूं ॐ नमो भगवते विजयभैरवाय सर्वशत्रुविनाशनाय विबुधवाहनाय नररुधिरमांसभक्षणाय (देवदत्तं) उच्चाटयोच्चाटय हुं ताडय ताडय भस्मीकुरु भस्मीकुरु स्वाहा । विजयभैरव०

(च) ४ ह्रीं स्प्रं रक्तभैरवाय शवकपालमालालङ्कृताय नवाम्बुदश्यामाय एह्येहि शीघ्रं एहि मां पाहि एं ऐं आगामिकार्यं वद वद अखिलोपाधि हर हर सौभाग्यं देहि मे स्वाहा । रक्तभैरव०

(छ) ४ ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ नमो भगवते स्वर्णाकर्षणभैरवाय प्रणताभीष्टपरिपूरणाय एह्येहि करुणानिधे मह्यं हिरण्यं दापय दापय श्रीं ह्रीं क्लीं स्वाहा । स्वर्णाकर्षणभैरव०

२२—दक्षिणामूर्तिमन्त्रा :—

(क) ४ ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा । मेधादक्षिणामूर्ति०

(ख) ४ ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं श्रियं प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा । लक्ष्मीदक्षिणामूर्ति०

(ग) ४ ॐ अः नमः शिवाय अः ॐ । कीर्तिदक्षिणामूर्ति०

(घ) ४ ॐ ज्ञां नमश्चिन्मयमूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा । ज्ञानदक्षिणामूर्ति०

(ङ) ४ ॐ श्रीं सौः श्रीसाम्बशिवाय तुभ्यं स्वाहा । साम्बदक्षिणामूर्ति०

(च) ४ ॐ ह्रीं ॐ दक्षिणामूर्तये सर्वसाध्यमेधां समुत्कर्षय स्वाहा । वीरदक्षिणामूर्ति०

(छ) ४ ओंकारसंहारमूर्तये नमः । संहारदक्षिणामूर्ति०

(ज) ४ ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये त्रिनेत्राय त्रिकालज्ञानाय सर्वशत्रुघ्नाय सर्वापस्मारविदारणाय दारय दारय मारय मारय भस्मीकुरु भस्मीकुरु एह्येहि हुं फट् । अपस्मारनिवर्तकदक्षिणामूर्ति०

२३–४ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः । सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्ते . अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥ उकाररूपाय स्थितिकर्त्रे विष्णवे नमः । विष्णुश्री०

२४–४ ॐ ह्रीं ऐं क्लिन्ने क्लिन्नमदद्रवे कुले ह्सौः । दक्षिणाम्नायसमयविद्येश्वरी भोगिनीदेव्यम्बा०

४ मूलं भैरवाष्टकनवसिद्धौघवटुकत्रयपदयुगसहितायै सौभाग्यविद्यादिसमयविद्येश्वरीपर्यन्तत्रिंशत्सहस्रदेवतापरिसेवितायै पूर्णगिरिपीठस्थितायै

दक्षिणाम्नायसमष्टिरूपिण्यै श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः। श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीश्रीपादुकां पूजयामि नमः॥

इति दक्षिणाम्नायः।

अथ पश्चिमाम्नायः

नवयोनिचक्रे सहस्राराख्ये पश्चिमाम्नायाधिदेवतां पञ्चमुण्डासनां बालार्कसहस्रप्रभां मुण्डमालाधरां रक्तवस्त्राभरणानुलेपनां वामाद्यूर्ध्वं तदाद्यधः पाशाङ्कुशाभयवरकरां त्रिनेत्रां ध्यात्वा—

गुरुमण्डलम्

१—दूत्यः—

(क) ४ अं आं सौः ह्लीं श्रीं सौः योन्यम्बादूतीश्रीपा०
(ख) ४ ,, ,, योनिसिद्धनाथाम्बादूती०
(ग) ४ ,, ,, महायोन्यम्बादूती०
(घ) ४ ,, ,, महायोनिसिद्धनाथाम्बादूती०
(ङ) ४ अं आं सौः ह्लीं श्रीं सौः दिव्ययोन्यम्बादूती०
(च) ४ ,, ,, दिव्ययोनिसिद्धनाथाम्बा०
(छ) ४ ,, ,, शङ्खयोन्यम्बादूती०
(ज) ४ ,, ,, शङ्खयोनिसिद्धनाथाम्बादूती०
(झ) ४ ,, ,, पद्मयोन्यम्बादूती०
(ञ) ४ ,, ,, पद्मयोनिसिद्धनाथाम्बादूती०

२—मण्डलम्—

(क) ४ ह्लीं श्रीं ऐं ह्लीं श्रीं क्लीं ह्लीं श्रीं सौः वह्निमण्डल०
(ख) ४ ,, ,, ,, सूर्यमण्डल०
(ग) ४ ,, ,, ,, सोममण्डल०

३—वीरद्वयष्टकम्—

(क) ४ ह्लीं श्रीं फट् फां फ्रें सृष्टिवीरभैरवश्री०
(ख) ४ ,, ,, स्थितिवीरभैरव०

(ग) ४ ,, ,, संहारवीरभैरव०

(घ) ४ ,, ,, रक्तवीरभैरव०

(ङ) ४ ,, ,, यमवीरभैरव०

(च) ४ ,, ,, मृत्युवीरभैरव०

(छ) ४ ,, ,, भद्रवीरभैरव०

(ज) ४ ,, ,, परमार्कवीरभैरव०

(झ) ४ ,, ,, मार्तण्डवीरभैरव०

(ञ) ४ ,, ,, कालाग्निरुद्रभैरव०

४—चतुःषष्टिसिद्धाः—४ऐं श्रीं ह्लीं क्लीं श्रीं ह्लीं सौः श्रीं ह्लीं मङ्गलानाथश्रीपा०

४-९ चौण्डिकानाथ०
ज्येष्ठानाथ०
कन्तुकिनाथ०
पटहानाथ०
कूर्मानाथ०
धनदानाथ०
गन्धानाथ०
गगनानाथ०
मतङ्गानाथ०
चम्पकानाथ०
कैवर्तानाथ०
मातङ्गगमनानाथ०
सूर्यभक्षानाथ०
नभोभक्षानाथ०
स्रोतिकानाथ०
रूपिकानाथ०
दंष्ट्रानाथ०

४-९ धूम्राक्षानाथ०
ज्वालानाथ०
गान्धारानाथ०
गगनेश्वरानाथ०
मायानाथ०
महामायानाथ०
नित्यानाथ०
शान्तानाथ०
विश्वानाथ०
कामानाथ०
उमानाथ०
श्रियानाथ०
सुभगानाथ०
विद्यानाथ०
महाविद्यानाथ०
अमृतनाथ०
चन्द्रानाथ०

४-९ अन्तरिक्षानाथ०
सिद्धानाथ०
श्रद्धानाथ०
अनन्तानाथ०
शम्बरानाथ०
उल्कानाथ०
त्रैलोक्यानाथ०
भीमानाथ०
राक्षसीनाथ०
मलिनानाथ०
प्रचण्डानाथ०
अनङ्गानाथ०
त्रिविधानाथ०
अनभिहितानाथ०
नन्दिनाथ०

४-९ महाभगानाथ०
सुन्दरानाथ०
विश्वेश्वरानाथ०
कालानाथ०
महाकालानाथ०
अभयानाथ०
विकारानाथ०
महाविकारानाथ०
सर्वगानाथ०
सृगालानाथ०
पूतनानाथ०
शर्वरीनाथ०
व्योमानाथ०
पूर्णानाथ०
(चतुःषष्टिनाथाः)

देवताः ।

५—लोपामुद्रामनुः—
४ हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं । लोपामुद्राम्बाश्री०

६—भुवनेश्वरीमनुः—४ श्रीं ह्रीं श्रीं । भुवनेश्वर्यम्बा०

७—अन्नपूर्णामनुः—४ ह्रीं श्रीं क्लीं ॐ नमो भगवत्यन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा । अन्नपूर्णाम्बा०

८—कामकलामनुः—४ अं आं — — ळं क्षं ईं । कामकलाम्बा०

९—सुदर्शनमनुः—(क) ४ ॐ सहस्रार हुं फट् । सुदर्शन०
(ख) ४ श्रीं ह्रीं ॐ सुदर्शनचक्राय रिपुचित्तं भ्रामय स्वाहा । सुदर्शन०

१०—(क) ॐ क्षिं क्षिप स्वाहा । महागरुडश्री०
(ख) ४ ॐ नमो भगवते श्रीमन्महागरुडाय अमृतकोशोद्भवाय वज्रनखवज्रतुण्डपक्षालङ्कृतशरीराय श्रीमन्महागरुड विषं हुं फट् स्वाहा । गरुडश्री०

(ग) ४ यं क्षं क्षिप स्वाहा। गरुड०

११—कार्तवीर्यमनुः—४ ॐ फ्रों ब्रीं क्लीं ब्लूं आं ह्रीं क्रों श्रीं हुं फट् स्वाहा।
कार्तवीर्यार्जुनाय नमः। कार्तवीर्यार्जुन०

१२—नृसिंहमनुः—४ ॐ क्ष्रौं ईं हं उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। हं ईं क्ष्रौं ॐ।
मन्त्रराजनृसिंह०

१३—नामत्रयमनुः—४ अच्युताय नमः। अनन्ताय नमः। गोविन्दाय नमः।
नामत्रय०

१४—राममन्त्राः—

(क) ४ ॐ रां रामाय नमः। राम०

(ख) ४ ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं नित्यशुद्धबुद्धाय रामाय परब्रह्मणे नमः। राम०

१५—सीतामन्त्रः—४ ॐ श्रीं सीतायै स्वाहा। सीतादेवी०

१७—गोपालमन्त्राः—

(क) ४ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा। राजगोपाल०

(ख) ४ अन्नरूप रसरूप नमो नमः। अन्नाधिपतये ममान्नं प्रयच्छ स्वाहा। गोपालश्री०

(ग) ४ ॐ क्लीं कृष्ण कृष्ण हरे कृष्ण सर्वज्ञ त्वं प्रसीद मे। रामारमण विश्वेश विद्यामाशु प्रयच्छ मे क्लीं ॐ। गोपाल०

(घ) ४ क्लीं देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण शरणागतवत्सल। सन्तानगोपाल०

(ङ) ४ क्लीं कृष्ण क्लीं। गोपाल०

१७—सौरमनुः—४ ॐ ह्रीं घृणिस्सूर्य आदित्योंं। सूर्य०

१८—धन्वन्तरिमनुः—४ ॐ नमो भगवते धन्वन्तरये अमृतकलशहस्ताय सर्वामयविनाशनाय त्रिलोकनाथाय विष्णवे स्वाहा। धन्वन्तरि०

१९—इन्द्रजालिमनुः—

(क) ॐ ह्रीं ईं ॐ नमो भगवति महामाये मनोमये जगत्क्षोभिणि वर वरदे सर्वजनं मोहय मोहय ईं ह्रीं स्वाहा। इन्द्रजालिमायामहादेवि०

(ख) ४ वं सं झं जुं रं ह्रीं श्रीं मों भगवति चित्रविद्ये महामाये अमृतेश्वरि एह्येहि प्रसन्नवदने अमृतं प्लावय अनलं शीतलं कुरु कुरु सर्वविषं नाशय ज्वरं हन हन पैत्योन्मादं मोचय मोचय आज्योष्णं शमय शमय सर्वजनं मोहय मोहय मां पालय पालय मों श्रीं ह्रीं रं जुं झूं झूं सं वं स्वाहा । इन्द्रजालि०

२०—इन्द्रादिसुरमन्त्राः—

(क) ४ ॐ लं यतइन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये विद्विषो विमृधो जहि । लंॐ इन्द्राय नमः । इन्द्रश्री०

(ख) ४ ॐ रं इद्धादुलूक आपप्तत् हिरण्याक्षो अयोमुखः रक्षसां दूत आगतः तमितो नाशयाग्ने । रं ॐ अग्नये नमः । अग्नि०

(ग) ४ ॐ क्रों ह्रीं आं वैवस्वताय धर्मराजाय भक्तानुग्रहकृते नमः । यम०

(घ) ४ ॐ नमो विचित्राय धर्मलेखकाय यमवाहिकाधारिणे यमलवरयूं जन्मसम्पत्प्रलयं कथय स्वाहा । चित्रगुप्त०

(ङ) ४ क्षं निर्ऋतये नमः । निर्ऋति०

(च) ४ वं वरुणाय नमः । वरुण०

(छ) ४ यं वायवे नमः । वायु०

(ज) (१) ४ ॐ क्रीं यक्षाय कुबेराय वैश्रवणाय धनधान्याधिपतये धनधान्यसमृद्धिं मे देहि दापय स्वाहा । कुबेर०

(२) ४ ॐ श्रीं ॐ ह्रीं श्रीं ह्रीं क्लीं वित्तेश्वराय नमः । कुबेर०

(झ) ४ ॐ हं ॐ नमो भगवते रुद्राय हं ॐ । रुद्र०

२१—इन्द्राक्षीमनुः—

(क) ४ ॐ ऐं घ्रीं ह्रीं हूं दुं लं श्रीं ईं इन्द्राक्षि रक्ष रक्ष मम शत्रून् दुःखग्रन्थि स्फोटय स्फोटय मम अरीन् भञ्जय भञ्जय मम मनोग्रन्थि शरीरग्रन्थि घातय घातय हुं फट् स्वाहा । सुरनायिकाइन्द्राक्षीश्री०

(ख) ४ ॐ श्रीं छ्रां ऐं क्लीं सौः ॐ नमो भगवति इन्द्राक्षि भूतभविष्यद्वर्तमानकालवादिनि प्रपञ्चकारिणि (अमुकं) मे कार्यं कथय सौः क्लीं ऐं छ्रां श्रीं ॐ स्वाहा । सर्ववादिनीइन्द्राक्षी०

२२—दत्तात्रेयमन्त्राः—

(क) ४ आं ह्रीं क्रों ऐं क्लीं सौः श्रीं ग्लौं द्रां । दत्तात्रेय०

(ख) ४ ॐ ह्रीं द्रां दत्तात्रेयाय नमः द्रां ह्रीं ॐ । दत्तात्रेय०

(ग) ४ ॐ ह्रीं द्रां दत्तात्रेय हरे कृष्ण उन्मत्तानन्ददायक ।
दिगम्बरमुने बालपिशाचज्ञानसागर द्रां ह्रीं ॐ । दत्तात्रेय०

२३—द्वादशाक्षरीमनुः—

४ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । वासुदेव०

२४—अष्टाक्षरीमनुः—

४ ॐ नमो नारायणाय । नारायण०

२५—रूद्रमनुः—

४ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः ।
भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ॥
मकाररूपाय संहारकर्त्रे रुद्राय नमः । रुद्रश्री०

२६—४ हृस्रैं हृस्क्लीं हृस्रौः हृस्ख्फ्रें भगवत्यम्बे हसक्षमलवरयूं हृस्ख्फ्रें अघोरमुखि छ्रां छ्रीं किणि किणि विच्चे हृस्रौः हृस्ख्फ्रें हृस्रौः पश्चिमाम्नायसमयविद्येश्वरीकुब्जिकादेव्याम्बाश्री०

४ मूलं दशदूतीमण्डलत्रयवीरदशकचतुःषष्टिसिद्धनाथसहितायै लोपामुद्रादिसमयविद्येश्वरीपर्यन्तद्विसहस्रदेवतापरिसेवितायै जालन्धरपीठस्थितायै पश्चिमाम्नायसमष्टिरूपिण्यै श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः । श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

इति पश्चिमाम्नायः ।

अथ उत्तराम्नायः

समष्टिचक्रे उत्तराम्नायदेवतां कुब्जकालीं पञ्चमुण्डासनां बन्धूककुसुमारुणां तादृशवस्त्राभरणानुलेपनां चन्द्रचूडां मुण्डमालाधरां त्रिनेत्रां वामोर्ध्वादितदधोऽन्तं पुस्तकाक्षमालावराभयकरां ध्यात्वा—

१—नवमुद्राः—

४ द्रां सर्वसंक्षोभिणीमुद्राश्री०।४ द्रीं सर्वविद्राविणीमुद्रा०। ४ क्लीं सर्वाकर्षिणीमुद्रा०।४ ब्लूं सर्ववशङ्करीमुद्रा०। ४ सः सर्वोन्मादिनीमुद्रा०। ४ क्रों सर्वमहाङ्कुशा मुद्रा०। ह्स्ख्फ्रें सर्वखेचरी मुद्रा०। ४ ह्सौः सर्वबीज मुद्रा०। ४ ऐं मर्वयोनि मुद्रा०।

२—वीरावलीपञ्चकमनुः—

४ ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः लं ब्रह्मवीरावलीश्री०

" " वं विष्णुवीरावली०

" " रं रुद्रवीरावली०

" " यं ईश्वरवीरावली०

" " हं सदाशिववीरावली०

देवताः।

३—तुरीयमनुः—४ हसकल हसकहल सकलह्रीं। तुरीयाम्बा०

२—महार्घमनुः—४ ऐं ईं औः क-५-ह-६-स-४ सं सृष्टिनित्ये स्वाहा हं स्थितिपूर्णे नमः, रं महासंहारिणि कृशे चण्डकालि फट्, रं ह्स्ख्फ्रें महानाख्ये अनन्तभास्करि महाचण्डकालि फट्, रं महासंहारिणि कृशे चण्डकालि फट्, हं स्थितिपूर्णे नमः, सं सृष्टिनित्ये स्वाहा। महार्घाम्बा०।

५—अश्वारूढामनुः—४ आं ह्रीं क्रों एहि परमेश्वरि स्वाहा। अश्वारूढाम्बा०

६—मिश्राम्बामनुः—४ ऐं। मिश्राम्बा०

७—वाग्वादिनीमनुः—

४ ऐं वद वद वाग्वादिनि स्वाहा। वाग्वादिन्यम्बा०

८—दुर्गामनुः—

(क) ४ ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं दुं उत्तिष्ठ पुरुषे किं स्वपिषि भयं मे समुपस्थितं यदि शक्यमशक्यं वा तन्मे भगवति शमय शमय स्वाहा। वनदुर्गाम्बाश्री०

(ख) ४ ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं क्ष्रौं दुं ज्वल ज्वल शूलिनि दुष्टग्रह हुं फट् स्वाहा। शूलिनीदुर्गाम्बा०

(ग) ४ ॐ ह्रीं दुं जातवेदसे सुनवाम सोमम रातीयतो निदहाति वेदः। स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः— दुं ह्रीं ॐ। जातवेदोदुर्गाम्बा०

(घ) ४ ॐ ह्रीं दुं दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये दुं ह्रीं ॐ। शान्तिदुर्गाम्बा०

(ङ) ४ ॐ ह्रां ह्रीं सौः ऐं श्रीं क्षं दुं शबरिदुर्गायै क्रों अमलवरयूं आदि-शक्तिस्वरूपिणि अक्षरमये रक्षःकुलनाशनि मां रक्ष रक्ष मम शत्रून् विदारय विदारय रोगान् भस्मीकुरु भस्मीकुरु कृत्रिमान् दह दह प्राणान् वह वह आभिचारिकान् नाशय नाशय सर्वं मां रक्ष रक्ष शबरिदुर्गायै हुं फट् स्वाहा। शबरिदुर्गाम्बा०

(च) ४ ह्रां ह्रीं सौः ग्लौं ऐं श्री ज्वलदुर्गे एह्येहि स्फुर प्रस्फुर आदि-विष्णुसोदरि अस्त्रज्वलदुर्गे आवेशयावेशय। ज्वलदुर्गाय विद्महे जाज्वल्यमानाय धीमहि। तन्नो बडवानलः प्रचोदयात्। वमल-वरयूं ज्वलदुर्गास्त्रे हुं फट् स्वाहा। ज्वलदुर्गाम्बा०

(छ) ४ खं चिटि चिटि चण्डालि महाचण्डालि (अमुकं) मे वशमानय स्वाहा। लवणदुर्गाम्बाश्री०

(ज) ४ ॐ क्रों ह्रीं आं दुं दुर्गे एह्येहि आवेशयावेशय ह्रीं दुं दुर्गे आं ह्रीं क्रों ॐ हुं फट् स्वाहा। दीपदुर्गाम्बा०

(झ) ४ ॐ श्रीं ह्रीं कटुके कटुपत्रके असुभगे आसुरि रक्तवसने अथर्वण-दुहिते अघोरे घोरकर्मकारिके (अमुकस्य) प्रतिस्थतस्य साध्यस्य गतिं दह दह उपविष्टस्य गुदं दह दह प्रसुप्तस्य मनो दह दह प्रवुद्धस्य हृदयं दह दह हन हन पच पच नामरूपं दह दह तावद्दह तावत्पच यावन्मे वशमागच्छति तावन्मे वशमानय स्वाहा। असुरदुर्गाम्बा०

९—कालीमनुः—

४ क्रीं क्रीं क्रीं हुँ हुँ हुँ ह्रीं ह्रीं ह्रीं दक्षिणकालिके ह्रीं ह्रीं ह्रीं हुँ हुँ हुँ क्रीं क्रीं क्रीं स्वाहा। दक्षिणकालिकाम्बा०

१०—चण्डीमनुः—

४ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे। चण्डिकापरमेश्वरी०

११—नकुलीमनुः—

४ ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृताः पविः,
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत्। नकुलीवाग्देवता०

१२—पुलिन्दिनीमनुः—

४ ॐ ईं नमो भगवति शारदादेव्यत्यन्तामलभोज्यं देहि देहि आगच्छ आगच्छ आगन्तुकं हृदि संस्थं कार्यं सत्यं ब्रूहि ब्रूहि पुलिन्दिनि ईं ॐ स्वाहा। पुलिन्दिन्यम्बाश्री०

१३—रेणुकामनुः—

४ क्लीं नमो भगवति रक्तपञ्चमि रेणुकादेवि हन हन पच पच अखिल-जगन्मे वशं कुरु कुरु स्वाहा क्लीं। रेणुकाम्बा०

१४—लक्ष्मीमनुः—

४ ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं महालक्ष्मि एह्येहि सर्वसौभाग्यं देहि मे स्वाहा। महालक्ष्म्यम्बा०

१५—वागीशामनुः—४ सं सरस्वत्यै नमः। वागीशा०

१६—मातृकामनुः—

४ ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं अं आं—लं क्षं क्लीं ह्रीं श्रीं ॐ। मातृकाम्बा०

१७—स्वयंवरामनुः—

४ ॐ ह्रीं योगिनि योगिनि योगेश्वरि योगाभयङ्करि सकलस्थावर-जङ्गममुखहृदयं मम वशमाकर्षयाकर्षय स्वाहा। स्वयंवराम्बा०

१८—वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय

नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः । अर्धमात्राकाराय तिरोधानकर्त्रे ईश्वराय नमः । ईश्वरश्री०

१९—४ ह्स्ख्फ्रें महाचण्डयोगीश्वरि कालिके फट् । उत्तराम्नायसमयविद्येश्वरिकालिकादेव्यम्बा०

४ मूलं नवमुद्रापञ्चवीरावलीसहितायै तुर्याम्बादिसमयविद्येश्वरीपर्यन्तद्विसहस्रदेवतापरिसेवितायै ओड्याणपीठस्थितायै उत्तराम्नायसमष्टिरूपिण्यै श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः । श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

इत्युत्तराम्नायः ।

पंचदशीपक्षे चतुराम्नायः षोडशीपक्षे तु षडाम्नायः

अथ ऊर्ध्वाम्नायः

अमृतार्णवमध्योद्यत्स्वर्णद्वीपे मनोरमे ।
कल्पवृक्षवनान्तःस्थे नवमाणिक्यमण्डपे ॥
नवरत्नमयश्रीमत्सिंहासनगताम्बुजे ।
त्रिकोणान्तःसमासीनं चन्द्रसूर्यायुतप्रभम् ॥
अर्धाम्बिकासमायुक्तं प्रविभक्तविभूषणम् ।
कोटिकन्दर्पलावण्यं सदा षोडशवार्षिकम् ॥
मन्दस्मितमुखाम्भोजं त्रिनेत्रं चन्द्रशेखरम् ।
दिव्याम्बरस्रगालेपं दिव्याभरणभूषितम् ॥
पानपात्रं च चिन्मुद्रां त्रिशूलं पुस्तकं करैः ।
विद्यासंसदि बिभ्राणं सदानन्दमुखेक्षणम् ॥
महाषोढोदिताशेषदेवतागणसेवितम् ।
एवं चित्ताम्बुजे ध्यायेदर्धनारीश्वरं शिवम् ॥
पुंरूपं वा स्मरेद्देवि स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत् ।
अथवा निष्कलं ध्यायेत्सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
सर्वतेजोमयं ध्यायेत् सचराचरविग्रहम् ॥

गुरुमण्डलम्

१—मालिनीमन्त्रः—

४ ऐं ह्रीं श्रीं अं आं——ळं क्षं श्रीं ह्रीं एं मालिन्यम्बा०

२—मन्त्रराजः—४ ह्लां ह्लीं हुं फट् । मन्त्रराजश्री०

देवताः ।

३—परापोडशीः—

४ श्रीं सौः क्लीं ऐं ह्रीं श्रीं ह्रीं ॐ सकलह्रीं हसकहलह्रीं कएईलह्रीं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः । परापोडश्यम्बा०

४—पराभट्टारिकामनुः—४ सौः । पराभट्टारिकाम्बाश्री०

५—पराशांभवमनुः—

४ ऐं ह्रीं श्रीं हस्ख्फ्रें ह्सौः अहमहं अहमहं ह्सौः ह्स्ख्फ्रें श्रीं ह्रीं ऐं । पराशाम्भव०

६—पराशांभवीः—४ ह्स्ख्फ्रें ह्रीं सौः श्रीं हुं । पराशाम्भव्यम्बा०

७—प्रासादः—

(क) ४ ह्सौः । प्रासादपराम्बा०

(ख) ४ स्हौः । पराप्रासादाम्बा०

८—दहरम्—४ हं सं रं ईं । दहरविद्याम्बा०

९—हंसः—४ हंसः । हंसश्री०

१०—महावाक्यम्—

४ प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म । महावाक्याम्बा०

११—पञ्चाक्षरी—

(क) ४ ॐ नमः शिवाय । शिवपञ्चाक्षर्यम्बा०

(ख) ४ ॐ ह्रीं नमः शिवाय । शक्तिपञ्चाक्षर्यम्बा०

१२—तारकं—४ ॐ ह्रीं । तारक०

१३—४ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपति-र्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोऽम् । मन्त्रातीतस्वरूपायानुग्रहकर्त्रे सदाशिवाय नमः । सदाशिवश्री०

१४—मखपरयघच् महिचनडयङ् गंशफर् । ऊर्ध्वाम्नायसमयविद्येश्वर्यम्बा श्री० ४ मूलं श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजगुरुमण्डलसहितायै पराम्बादिसमयविद्येश्वरीपर्यन्त-अशीतिसहस्रदेवतापरिसेवितायै शाम्भवपीठस्थितायै ऊर्ध्वाम्नायसमष्टिरूपिण्यै श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः । श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकाश्रीपादुकां पूजयामि नमः ॥

इत्यूर्ध्वाम्नायः ।

अथ अनुत्तराम्नायः ।

गुरुमण्डलम् ।

१—महापादुका—

४ ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं ह्स्ख्फ्रें ह्सक्षमलवरयूं सहक्षमलवरयीं ह्सौः स्हौः । श्रीविद्यानन्दनाथात्मकचर्यानन्दनाथश्रीमहापादुकांपूज०नमः ।

२—संप्रदायपादुका—

४ श्रीं ह्रीं क्लीं अमृततरंगिणीपादुकापरमेश्वरी वौषट् । संप्रादयपादुका०

३—कादिविद्यागुरुपरम्परा—

४ परप्रकाशानन्दनाथ०

४ परशिवानन्दनाथ०

४ पराशक्त्याम्बा०

४ कौलेश्वरानन्दनाथ०

४ शुक्लदेव्यम्बा०

४ कुलेश्वरानन्दनाथ०

४ कामेश्वर्यम्बा०

४ भोगानन्दनाथ०

४ क्लिन्नानन्दनाथ०

४ समयानन्दनाथ०

४ सहजानन्दनाथ०

४ गगनानन्दनाथ०

४ विश्वानन्दनाथ०

४ विमलानन्दनाथ०

४ मदनानन्दनाथ०

४ भुवनानन्दनाथ०

४ लीलाम्बा०

४ स्वात्मानन्दनाथ०

४ प्रियानन्दनाथ०

४—कामराजचरणाः—

४ ऐं ह्रीं श्रीं योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि सोहं।
स्वच्छप्रकाशपरिपूर्णपरापरमहाप्रकाशपरिपूर्णानन्दनाथश्री०

४ ऐं क-५ हंसः।	रक्तचरणश्रीपादुकां पूजयामि नमः।		
,, ,,	रक्तचरणाम्बा	,,	,,
४ क्लीं ह-६ सोहं।	शुक्लचरण	,,	,,
,, ,,	शुक्लचरणाम्बा	,,	,,
४ सौः स-४ हंसःसोहं।	मिश्रचरण	,,	,,
,, ,,	मिश्रचरणाम्बा	,,	,,

४ ऐं क-५ क्लीं ह-६ सौः स-४ हंसः सोहं निर्वाणचरणश्री०

,, ,, ,, निर्वाणचरणाम्बाश्री०

देवताः।

५—पञ्चाम्बाः—

४ आदिनाथव्योमातीताम्बाश्रीपादुकां पूजयामि नमः।
४ आदिनाथव्योमेश्वर्यम्बाश्री० ,,
४ अनामयानन्दनाथव्योमगाम्बाश्री० ,,
४ अनन्तानन्दनाथव्योमचारिण्यम्बाश्री० ,,
४ चिदाभासव्योमस्थाम्बाश्री० ,,

६—नवनाथमन्त्राः—

४ हं उन्मन्याकाशानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः
४ सं समाकाशानन्दनाथश्री० ,,
४ क्षं व्यापकाकाशानन्दनाथश्री० ,,
४ मं शक्त्याकाशानन्दनाथश्री० ,,
४ लं ध्वन्याकाशानन्दनाथश्री० ,,
४ वं ध्वनिमात्राकाशानन्दनाथश्री० ,,
४ रं इन्द्वाकाशानन्दनाथश्री० ,,
४ यं चिदाकाशानन्दनाथश्री० ,,
४ ऊं व्यस्ताकाशानन्दनाथश्री० ,,
४ हसक्षमलवरयऊं समस्ताकाशानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामि नमः

७—मूलविद्याः—

(क) ४ ह्लीं स्वच्छप्रकाशपरिपूर्णपरापरमहासिद्धविद्याकुलयोगिनी ह्लीं। ह्लींमूलविद्याम्बा०

(ख) ४ ह्सौः स्वात्मानं बोधय बोधय स्हौः। प्रासादपरामूलविद्याम्बा०

(ग) ४ ऐं ब्लूं क्लिन्ने क्लेदिनि महामदद्रवे क्लीं क्लेदय क्लां क्लीं मोहय मोहय क्लीं नमः स्वाहा। अतिरहस्ययोगिनीमूलविद्याम्बा०

(घ) ४ हंसः स्वच्छप्रकाशपरिपूर्णानन्दपरमहंसपरमहात्मने स्वाहा ह्सौः ह्स्ख्फ्रें। शाम्भवीमूलविद्याम्बाश्री०

(ङ) ह्लीं नित्यस्फुरणचैतन्यानन्दमयी महाबिन्दुव्यापकमातृकास्वरूपिणी ऐं ह्लीं श्रीं ईं। हृल्लेखामूलविद्याम्बाश्री०

(च) ४ ऐं ह्लीं श्रीं स्वच्छप्रकाशात्मिके ह्लीं कुलमहामालिनि ऐं कुलमातृके ह्लीं ऐं समयविमले श्रीं। समयविमलामूलविद्याम्बाश्री०

(छ) ४ हंसः स्वच्छप्रकाशपरिपूर्णपरापरमहाप्रकाशात्मिके कुलकुण्डलिनि आज्ञासिद्धिमहाभैरवि आत्मानं बोधय बोधय अम्बे भगवति ह्लीं हुं। परबोधिनीमूलविद्याम्बाश्री०

(ज) ४ ॐ मोक्षं कुरु कुरु। कौलपञ्चाक्षरीमूलविद्याम्बाश्री०

(झ) ४ हसकलह्लीं हसकहलह्लीं सकलह्लीं। चैतन्यमूलविद्याम्बा०

(ञ) ४ ऐं शुद्धसूक्ष्मनिराकारनिर्विकल्पपरब्रह्मस्वरूपिणी क्लीं परमानन्दशक्तिः सौः। शाम्भवानन्दनाथानुत्तरकौलिनीमूलविद्याम्बा०

(ट) ४ हंसस्सोहं स्वच्छानन्दपरमहंसपरमात्मने स्वाहा। गुरूत्तमविमर्शिनीमूलविद्याम्बा०

(ठ) ४ अनामाख्यव्योमातीतानन्दनाथपरापरव्योमातीतव्योमेश्वर्यम्बायै नमः। अनामाख्यमूलविद्याम्बा०

(ड) ४ ऐं ईं ॐ। सङ्केतसारमूलविद्याम्बा०

(ढ) ४ ह्लीं भगवति विच्चे वाग्वादिनि क्लीं महाहृदयमातङ्गिनि ऐं क्लिन्ने ब्लूं स्त्रीं। अनुत्तरवाग्वादिनीमूलविद्याम्बा०

८—पञ्चदशाक्षरी—

४ क-१५ । पञ्चदशाक्षरीब्रह्मविद्याम्बा०

९—महाषोडशी—

४ श्रीं ह्रींक्लींऐंसौः ॐह्रींश्रीं क-५ ह-६ स-४ सौः ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं महाषोडश्यम्बा०

१०—पूर्तिविद्या—

४ हसकल हसकहल सकलह्रीं सर्वानन्दमयबैन्दवचक्रे परब्रह्मस्वरूपिणी-परामृतशक्ति-सर्वमन्त्रेश्वरी-सर्वयन्त्रेश्वरी - सर्वतन्त्रेश्वरी - सर्ववीरेश्वरी-सर्वयोगीश्वरी-सकलजगदधिष्ठानदेवतायै श्रीमहापूर्तिविद्यायै नमः । श्रीमहापूर्तिविद्याम्बा०

११—षडाधारविद्यामनुः—

४सां हंसः मूलाधाराधिष्ठानदेवतायै साकिनीसहितगणनाथस्वरूपिण्यै नमः । गणनाथरूपिण्यम्बा०

४कां सोहंस्वाधिष्ठानाधिष्ठानदेवतायै काकिनीसहितब्रह्मस्वरूपिण्यै नमः। ब्रह्मस्वरूपिण्यम्बा०

४ लां हंसः सोहं मणिपूरकाधिष्ठानदेवतायै लाकिनीसहितविष्णुस्वरूपिण्यै-नमः । विष्णुस्वरूपिण्यम्बा०

४ रां हंसश्शिवस्सोहं अनाहताधिष्ठानदेवतायै राकिणीसहितसदाशिव-स्वरूपिण्यै नमः । सदाशिवस्वरूपिण्यम्बा०

४ डां सोहं हंसश्शिवः विशुद्ध्यधिष्ठानदेवतायै डाकिनीसहितजीवेश्वर-स्वरूपिण्यै नमः । जीवेश्वरस्वरूपिण्यम्बा०

४हां हंसश्शिवस्सोहं सोहं हंसश्शिवः आज्ञाधिष्ठानदेवतायै हाकिनीसहित परमात्मस्वरूपिण्यै नमः । परमात्मस्वरूपिण्यम्बा०

१२–(क) ४ ऐं क्लीं सौः श्रीं ह्रीं क्लीं क-५ ह-६ स-४ ह-५ ह-६ स-४ हस-कल हसकहल सकलह्रीं क्लीं ह्रीं श्रीं श्रीं सौः क्लीं श्रीं ह्रीं ऐं प्रकाशचरणाभ्यां नमः । प्रकाशचरणश्री०

(ख) ४ ऐं क्लीं सौः श्रीं ह्रीं क्लीं क-५ ह-६ स-४ ह-५ ह-६ स-४ हस-
कल हसकहल सकलह्रीं क्लीं ह्रीं श्रीं श्रीं सौः क्लीं श्रीं ह्रीं ऐं
विमर्शचरणाभ्यां नमः विमर्शचरणश्री०

१३—४ भगवति विच्चे महामाये मातङ्गिनि ब्लूं अनुत्तरवाग्वादिनि ह्स्ख्फ्रें
ह्स्ख्फ्रें ह्सौः। अनुत्तरशाङ्कर्यम्बा०

४ मूलं परिपूर्णानन्दनाथादिनवनाथसहितायै चतुर्दशमूलविद्याद्यनुत्तर-
शाङ्कर्यनन्तानन्तदेवतापरिसेवितायै अनुत्तराम्नायसमष्टिरूपिण्यै श्रीमहा-
त्रिपुरसुन्दर्यै नमः। श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीपराभट्टारिकाश्रीपादुकां
पूजयामि नमः।

इत्यनुत्तराम्नायः।

॥ इति षडाम्नायाः॥

सम्बुद्ध्यन्तखड्गमाला-मन्त्रः

अस्य श्रीशुद्धशक्तिसम्बुद्ध्यन्तमालामहामन्त्रस्य, उपस्थेन्द्रियाधिष्ठायि-
वरुणादित्यऋषये नमः शिरसि। गायत्रीच्छन्दसे नमः मुखे। सात्त्विकककार-
भट्टारकपीठस्थितशिवकामेश्वराङ्कनिलयायै कामेश्वरीललितामहाभट्टारिकायै
देवतायै नमः हृदये।

ऐं बीजं, क्लीं शक्तिः सौः कीलकं, खड्गसिद्धौ विनियोगः। ह्रां इत्यादिना
करहृदयादिन्यासः।

ध्यानम्—तादृशं खड्गमाप्नोति येन हस्तस्थितेन वै।
अष्टादशमहाद्वीपसम्राड्भोक्ता भविष्यति॥

लमित्यादि पञ्चपूजा।

ऐं ह्रीं श्रीं ॐ नमस्त्रिपुरसुन्दरि (१२) हृदयदेवि शिरोदेवि शिखादेवि
कवचदेवि नेत्रदेव्यस्त्रदेवि (३७) कामेश्वरि भगमालिनि नित्यक्लिन्ने भेरुण्डे
वह्निवासिनि महावज्रेश्वरि शिवदूति त्वरिते कुलसुन्दरि नित्ये नीलपताके
विजये सर्वमङ्गले ज्वालामालिनि चित्रे महानित्ये (१०२) परमेश्वरपरमेश्वरि

मित्रीशमयि षष्ठीशमय्युड्डीशमयि चर्यानाथमयि लोपामुद्रामय्यगस्त्यमयि कालतापनमयि धर्माचारमयि मुक्तकेशीश्वरमयि दीपकलानाथमयि विष्णुदेवमयि प्रभाकरदेवमयि तेजोदेवमयि मनोजदेवमयि कल्याणदेवमयि रत्नदेवमयि वासुदेवमयि (२१७) श्रीरामानन्दमय्यणिमासिद्धे लघिमासिद्धे महिमासिद्धे ईशित्वसिद्धे वशित्वसिद्धे प्राकाम्यसिद्धे भुक्तिसिद्धे इच्छासिद्धे प्राप्तिसिद्धे सर्वकामसिद्धे (२७१) ब्राह्मि माहेश्वरि कौमारि वैष्णवि वाराहि माहेन्द्रि चामुण्डे महालक्ष्मि (२९६) सर्वसंक्षोभिणि सर्वविद्राविणि सर्वाकर्षिणि सर्ववशङ्करि सर्वोन्मादिनि सर्वमहाङ्कुशे सर्वखेचरि सर्वबीजे सर्वयोने सर्वत्रिखण्डे त्रैलोक्यमोहनचक्रस्वामिनि प्रकटयोगिनि (३६५) कामाकर्षिणि बुद्ध्याकर्षिण्यहङ्काराकर्षिणि शब्दाकर्षिणि स्पर्शाकर्षिणि रूपाकर्षिणि रसाकर्षिणि गन्धाकर्षिणि चित्ताकर्षिणी धैर्याकर्षिणि स्मृत्याकर्षिणि नामाकर्षिणि बीजाकर्षिण्यात्माकर्षिण्यमृताकर्षिणि शरीराकर्षिणी सर्वाशापरिपूरकचक्रस्वामिनि (४५९) गुप्तयोगिन्यनङ्गकुसुमेऽनङ्गमेखलेऽनङ्गमदनेऽनङ्गमदनातुरेऽनङ्गरेखेऽनङ्गवेगिन्यनङ्गाङ्कुशेऽनङ्गमालिनि सर्वसंक्षोभणचक्रस्वामिनि गुप्ततरयोगिनि (५२२) सर्वसंक्षोभिणि सर्वविद्राविणि सर्वाकर्षिणि सर्वाह्लादिनि सर्वसंमोहिनि सर्वस्तम्भिनि सर्वजृम्भिणि सर्ववशङ्करि सर्वरञ्जिनि सर्वोन्मादिनि सर्वार्थसाधिनि सर्वसंपत्तिपूरणि सर्वमन्त्रमयि सर्वद्वन्द्वक्षयङ्करि सर्वसौभाग्यदायकचक्रस्वामिनि संप्रदाययोगिनि (६२४) सर्वसिद्धिप्रदे सर्वसंपत्प्रदे सर्वप्रियङ्करि सर्वमङ्गलकारिणि सर्वकामप्रदे सर्वदुःखविमोचिनि सर्वमृत्युप्रशमनि सर्वविघ्ननिवारिणि सर्वाङ्गसुन्दरि सर्वसौभाग्यदायिनि सर्वार्थसाधकचक्रस्वामिनि कुलोत्तीर्णयोगिनि (७१२) सर्वज्ञे शर्वशक्ते सर्वैश्वर्यप्रदे सर्वज्ञानमयि सर्वव्याधिविनाशिनि सर्वाधारस्वरूपे सर्वपापहरे सर्वानन्दमयि सर्वरक्षास्वरूपिणि सर्वेप्सितप्रदे सर्वरक्षाकरचक्रस्वामिनि निगर्भयोगिनि (७८९) वशिनि कामेश्वरि मोदिनि विमलेऽरुणे जयिनि सर्वेश्वरि कौलिनि सर्वरोगहरचक्रस्वामिनि रहस्ययोगिनि (८३१) बाणिनि चापिनि पाशिन्यङ्कुशिनि महाकामेश्वरि महावज्रेश्वरि महाभगमालिनि महाश्रीसुन्दरि सर्वसिद्धिप्रदचक्र-

स्वामिन्यतिरहस्ययोगिनि (८८६) श्रीश्रीमहाभट्टारिके सर्वानन्दमयचक्र-स्वामिनि परापररहस्ययोगिनि (९१५) त्रिपुरे त्रिपुरेशि त्रिपुरसुन्दरि त्रिपुरवासिनि त्रिपुराश्रीस्त्रिपुरमालिनि त्रिपुरासिद्धे त्रिपुराम्ब महात्रिपुर-सुन्दरि (९६१) महामहेश्वरि महामहाराज्ञि महामहाशक्ते महामहागुप्ते महा-महाज्ञप्ते महामहानन्दे महामहास्पन्दे महामहाशये महामहाश्रीचक्रनगरसम्राज्ञि नमस्ते (त्रिः) स्वाहा श्रीं ह्रीं ऐं ॥१०३१॥

एकत्रिंशदधिकसहस्राक्षराणि । इति संबुद्ध्यन्तखड्गमाला ।

चतुर्थ्यन्त—खड्गमालामन्त्रः

अस्य श्रीखड्गमालामन्त्रस्य उपस्थाधिष्ठायिने वरुणादित्यऋषये नमः शिरसि, गायत्रीच्छन्दसे नमः मुखे, ललितादेवतायै नमः हृदये, क ५ बीजाय नमः गुह्ये, ह ६ शक्तये नमः पादयोः, स ४ कीलकाय नमः नाभौ, श्रीललिता-प्रसादसिद्ध्यर्थे पाठे विनियोगः । कूटत्रयद्विरावृत्त्या करहृदयादिन्यासः ।

ध्यानम्

बालार्कारुणतेजसं त्रिनयनां रक्ताम्बरोल्लासिनीं
नानालङ्कृतिराजमानवपुषं बालोडुराड्शेखराम्
हस्तैरिक्षुधनुःसृणीसुमशरान् पाशं मुदा बिभ्रतीं
श्रीचक्रस्थितसुन्दरीं त्रिजगतामाधारभूतां स्मरेत् ॥

इति ध्यात्वा मानसैः संपूज्य ।

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ॐ नमः त्रिपुरसुन्दर्यै नमः
४ ,, हृदयदेव्यै नमः
४ ,, शिरोदेव्यै नमः
४ ,, शिखादेव्यै नमः
४ ,, कवचदेव्यै नमः
४ ,, नेत्रदेव्यै नमः
४ ,, अस्त्रदेव्यै नमः
४ ॐ कामेश्वर्यै नमः
४ ,, भगमालिन्यै नमः
४ ,, नित्यक्लिन्नायै नमः
४ ,, भेरुण्डायै नमः
४ ,, वह्निवासिन्यै नमः
४ ,, महावज्रेश्वर्यै नमः
४ ,, शिवदूत्यै नमः

४ ॐ त्वरितायै नमः
४ ,, कुलसुन्दर्यै नमः
४ ,, नित्यायै नमः
४ ,, नीलपताकायै नमः
४ ,, विजयायै नमः
४ ,, सर्वमङ्गलायै नमः
४ ,, ज्वालामालिन्यै नमः
४ ,, चित्रायै नमः
४ ,, महानित्यायै नमः
४ ,, परमेश्वरपरमेश्वर्यै नमः
४ ,, मित्रीशमय्यै नमः
४ ,, षष्ठीशमय्यै नमः
४ ,, उड्डीशमय्यै नमः
४ ,, चर्यानाथमय्यै नमः
४ ,, लोपामुद्रामय्यै नमः
४ ,, अगस्त्यमय्यै नमः
४ ,, कालतापनमय्यै नमः
४ ,, धर्माचार्यमय्यै नमः
४ ,, मुक्तकेशीश्वरमय्यै नमः
४ ,, दीपकलानाथमय्यै नमः
४ ,, विष्णुदेवमय्यै नमः
४ ,, प्रभाकरदेवमय्यै नमः
४ ,, तेजोदेवमय्यै नमः
४ ,, मनोजदेवमय्यै नमः
४ ,, कल्याणदेवमय्यै नमः
४ ,, रत्नदेवमय्यै नमः

४ ॐ वासुदेवमय्यै नमः
४ ,, श्रीरामानन्दमय्यै नमः
४ ,, अणिमासिद्ध्यै नमः
४ ,, लघिमासिद्ध्यै नमः
४ ,, महिमासिद्ध्यै नमः
४ ,, ईशित्वसिद्ध्यै नमः
४ ,, वशित्वसिद्ध्यै नमः
४ ,, प्राकाम्यसिद्ध्यै नमः
४ ,, भुक्तिसिद्ध्यै ममः
४ ,, इच्छासिद्ध्यै नमः
४ ,, प्राप्तिसिद्ध्यै नमः
४ ,, सर्वकामसिद्ध्यै नमः
४ ,, ब्राह्म्यै नमः
४ ,, माहेश्वर्यै नमः
४ ,, कौमार्यै नमः
४ ,, वैष्णव्यै नमः
४ ,, वाराह्यै नमः
४ ,, माहेन्द्र्यै नमः
४ ,, चामुण्डायै नमः
४ ,, महालक्ष्म्यै नमः
४ ,, सर्वसंक्षोभिण्यै नमः
४ ,, सर्वविद्राविण्यै नमः
४ ,, सर्वाकर्षिण्यै नमः
४ ,, सर्ववशङ्कर्यै नमः
४ ,, सर्वोन्मादिन्यै नमः
४ ,, सर्वमहाङ्कुशायै नमः

४ ॐ सर्वखेचर्यै नमः
४ ,, सर्वबीजायै नमः
४ ,, सर्वयोन्यै नमः
४ ,, सर्वत्रिखण्डायै नमः
४ ,, त्रैलोक्यमोहन-
चक्रस्वामिन्यै नमः
४ ,, प्रकटयोगिन्यै नमः
४ ,, कामाकर्षिण्यै नमः
४ ,, बुद्ध्याकर्षिण्यै नमः
४ ,, अहङ्काराकर्षिण्यै नमः
४ ,, शब्दाकर्षिण्यै नमः
४ ,, स्पर्शाकर्षिण्यै नमः
४ ,, रूपाकर्षिण्यै नमः
४ ,, रसाकर्षिण्यै नमः
४ ,, गन्धाकर्षिण्यै नमः
४ ,, चित्ताकर्षिण्यै नमः
४ ,, धैर्याकर्षिण्यै नमः
४ ,, स्मृत्याकर्षिण्यै नमः
४ ,, नामाकर्षिण्यै नमः
४ ,, बीजाकर्षिण्यै नमः
४ ,, आत्माकर्षिण्यै नमः
४ ,, अमृताकर्षिण्यै नमः
४ ,, शरीराकर्षिण्यै नमः
४ ,, सर्वाशापरिपूरकचक्र-
स्वामिन्यै नमः
४ ,, गुप्तयोगिन्यै नमः

४ ॐ अनङ्गकुसुमायै नमः
४ ,, अनङ्गमेखलायै नमः
४ ,, अनङ्गमदनायै नमः
४ ,, अनङ्गमदनातुरायैनमः
४ ,, अनङ्गरेखायै नमः
४ ,, अनङ्गवेगिन्यै नमः
४ ,, अनङ्गाङ्कुशायै नमः
४ ,, अनङ्गमालिन्यैः नमः
४ ,, सर्वसंक्षोभणचक्र-
स्वामिन्यै नमः
४ ,, गुप्ततरयोगिन्यै नमः
४ ,, सर्वसंक्षोभिण्यै नमः
४ ,, सर्वविद्राविण्यै नमः
४ ,, सर्वाकर्षिण्यै नमः
४ ,, सर्वाह्लादिन्यै नमः
४ ,, सर्वसम्मोहिन्यै नमः
४ ,, सर्वस्तम्भिन्यै नमः
४ ,, सर्वजृम्भिण्यै नमः
४ ,, सर्वशङ्कर्यै नमः
४ ,, सर्वरञ्जिन्यै नमः
४ ,, सर्वोन्मादिन्यै नमः
४ ,, सर्वार्थसाधिन्यै नमः
४ ,, सर्वसम्पत्तिपूरण्यै नमः
४ ,, सर्वमन्त्रमय्यै नमः
४ ,, सर्वद्वन्द्वक्षयङ्कर्यै नमः
४ ,, सर्वसौभाग्यदायकचक्र-
स्वामिन्यै नमः

४ ॐ सम्प्रदाययोगिन्यै नमः
४ ,, सर्वसिद्धिप्रदायै नमः
४ ,, सर्वसम्पत्प्रदायै नमः
४ ,, सर्वप्रियङ्कर्यै नमः
४ ,, सर्वमङ्गलकारिण्यै नमः
४ ,, सर्वकामप्रदायै नमः
४ ,, सर्वदुःखविमोचिन्यै नमः
४ ,, सर्वमृत्युप्रशमिन्यै नमः
४ ,, सर्वविघ्ननिवारिण्यै नमः
४ ,, सर्वाङ्गसुन्दर्यै नमः
४ ,, सर्वसौभाग्यदायिन्यै नमः
४ ,, सर्वार्थसाधकचक्र-
स्वामिन्यै नमः
४ ,, कुलोत्तीर्णयोगिन्यै नमः
४ ,, सर्वज्ञायै नमः
४ ,, सर्वशक्त्यै नमः
४ ,, सर्वैश्वर्यप्रदायै नमः
४ ,, सर्वज्ञानमय्यै नमः
४ ,, सर्वव्याधिविनाशिन्यै नमः
४ ,, सर्वाधारस्वरूपायै नमः
४ ,, सर्वपापहरायै नमः
४ ,, सर्वानन्दमय्यै नमः
४ ,, सर्वरक्षास्वरूपिण्यै नमः
४ ,, सर्वेप्सितप्रदायै नमः
४ ,, सर्वरक्षाकरचक्र-
स्वामिन्यै नमः

४ ॐ निगर्भयोगिन्यै नमः
४ ,, वशिन्यै नमः
४ ,, कामेश्वर्यै नमः
४ ,, मोदिन्यै नमः
४ ,, विमलायै नमः
४ ,, अरुणायै नमः
४ ,, जयिन्यै नमः
४ ,, सर्वेश्वर्यै नमः
४ ,, कौलिन्यै नमः
४ ,, सर्वरोगहरचक्र-
स्वामिन्यै नमः
४ ,, रहस्ययोगिन्यै नमः
४ ,, बाणिन्यै नमः
४ ,, चापिन्यै नमः
४ ,, पाशिन्यै नमः
४ ,, अङ्कुशिन्यै नमः
४ ,, महाकामेश्वर्यै नमः
४ ,, महावज्रेश्वर्यै नमः
४ ,, महाभगमालिन्यै नमः
४ ,, महाश्रीसुन्दर्यै नमः
४ ,, सर्वसिद्धिप्रदचक्र-
स्वामिन्यै नमः
४ ,, अतिरहस्ययोगिन्यै नमः
४ ,, श्रीश्रीमहाभट्टारिकायै
नमः
४ ,, सर्वानन्दमयचक्रस्वा-
मिन्यै नमः

४ ॐ परापररहस्य-
योगिन्यै नमः
४ ,, त्रिपुरायै नमः
४ ,, त्रिपुरेश्यै नमः
४ ,, त्रिपुरसुन्दर्यै नमः
४ ,, त्रिपुरवासिन्यै नमः
४ ,, त्रिपुराश्रियै नमः
४ ,, त्रिपुरमालिन्यै नमः
४ ,, त्रिपुरासिद्धायै नमः
४ ,, त्रिपुराम्बमहात्रिपुर-
सुन्दर्यै नमः
४ ,, महामहेश्वर्यै नमः
४ ॐ महामहाराज्ञ्यै नमः
४ ,, महामहाशक्त्यै नमः
४ ,, महामहागुप्तायै नमः
४ ,, महामहाज्ञप्तायै नमः
४ ,, महामहानन्दायै नमः
४ ,, महामहास्पन्दायै नमः
४ ,, महामहाशयायै नमः
४ ,, महामहाश्रीचक्रनगर-
साम्राज्ञ्यै नमस्ते नमस्ते
नमस्ते स्वाहा श्रीं ह्रीं-
ऐं ॐ श्रीपरदेवतार्पण-
मस्तु ।

इति चतुर्थ्यन्तखड्गमालामन्त्रः ।

अथ श्रीत्रिपुरारहस्योक्तं श्रीललितालक्षार्चनविधानम्

अथ लक्षप्रपूजादिविधानं शृणु वच्मि ते ।
विशेषपर्वसु सदा शुक्रवारेऽपि वाऽऽरभेत् ॥
सङ्कल्प्य पूज्य गणपं स्वस्ति विप्रैर्हि वाचयेत् ।
ततः सम्पूज्य विधिना चाऽऽवृत्यन्तं महेश्वरीम् ॥
पूजयेत्सावृतिं देवीमुपचारैस्तु पञ्चभिः ।
तत्र पुष्पोपचारस्य स्थाने पूजां समाचरेत् ॥
सहस्राद्यैर्नामभिस्तु ततो धूपादिपूजनम् ।
समापयेद्यथावत्तं प्रत्यहञ्चैवमर्चयेत् ॥
समसङ्ख्याविधानेन प्रत्यहं पूजयेत्क्रमात् ।
एकजातीयकैः पुष्पैर्यत्रैव पूजयेत्पराम् ॥

स्वयं वा पुत्रपत्न्याद्यैर्ब्राह्मणद्वारतोऽपि वा ।
अन्ते तु सर्वतोभद्रे नवयोनिसमायुते ॥
कलशं सुप्रतिष्ठाप्य सौवर्णादिसमुद्भवम् ।
अलङ्कृतं सूत्रवस्त्रैर्मध्ये तण्डुलपुञ्जके ॥
अलङ्कृतं धूपितञ्च निधाय मनुमुच्चरन् ।
तमष्टगन्धतोयेन पूरयेत्पञ्चरत्नकम् ॥
निक्षिप्य तस्मिंस्तद्वक्त्रमादाच्छाद्यपञ्चपल्लवैः ।
सतण्डुलं फलं पूर्णं पात्रञ्चापि मुखे न्यसेत् ॥
तत्र प्रतिकृतिं देव्याः सर्वावयवशोभिताम् ।
विन्यस्य तस्यामावाह्य पूजनन्तु समाचरेत् ॥
तत्राऽऽदौ सर्वतोभद्रदेवताः क्रमतो यजेत् ।
दशदिक्षु च दिक्पालान् शृङ्खलासु चतुर्षु च ॥
धर्मादीन्मध्यभवने श्वेतेऽधर्मादिकान् यजेत् ।
रक्तार्धभवने पूर्वात्प्रादक्षिण्येन पूजयेत् ॥
असिताङ्गादिमिथुनं मेखलासु गुणत्रयम् ।
एवं सम्पूज्य कलशे पीठपूजनपूर्वकम् ॥
विधिनाऽऽवाह्य त्रिपुरां पूजयेदुपचारकैः ।
तत्तत्पुष्पादिकं स्वर्णभवं वा रजतोद्भवम् ॥
माषाद्वा कर्षतो वाऽपि कुर्यादन्यूनमुत्तमम् ।
तदर्धं पादमपि वा कृत्वा तन्नवसंख्यकम् ॥
पूजयेदुपचारेषु नामभिर्वशिनीमुखैः ।
मध्ये च त्रिपुरां रात्रौ पूजयेच्चक्रनायकम् ॥
कलशस्य पश्चिमतः सर्वतोभद्रमण्डले ।
स्वयं वा पूजयेदाचार्येण वा क्रमवेदिना ॥

पूजयित्वा यथाशास्त्रं कुमारीं वटुकं तथा ।
गुरुं सुवासिनीश्चापि ब्राह्मणादीनपि क्रमात् ॥

उद्वासरहितां पूजां समाप्याऽखिलसंवृतः ।
कथाभिर्गायनैर्नृत्यैः कुर्याज्जागरणं निशि ॥

परेद्युःकृतकृत्योऽथ पूजयेच्चक्रनायकम् ।
पूजाङ्गहोमतः पश्चादग्निं संसाध्य शास्त्रतः ॥

यथावत्तत्र जुहुयात्तत्तत्पुष्पैः सहस्रकम् ।
पूजां समाप्य चोद्वास्य कलशं वस्त्रसंयुतम् ॥

दक्षिणाप्रतिमायुक्तं सुवासिन्यै निवेदयेत् ।
ब्राह्मणानां षोडशकं सुवासिन्यष्टकं तथा ॥

बटुकांश्च कुमारींश्च वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
भोजयेद्भक्ष्यभोज्याद्यैर्दक्षिणाद्यैश्च तोषयत् ॥

एवं पूजनमात्रेण सर्वपापैर्विमुच्यते ।
प्रसन्ना त्रिपुरेशानी वाञ्छितार्थप्रदा भवेत् ॥

सर्वसौभाग्यसंयुक्तो वंशपुत्रैर्युतस्तथा ।
पितॄन्प्रोद्धरते सर्वानन्ते मोक्षं समश्नुते ॥

राज्यप्राप्तिस्तु कमलैः करवीरैर्महच्छ्रियम् ।
जपापुष्पैस्सन्ततिम्वै जातिपुष्पैर्गृहादिकम् ॥

योनिपुष्पैर्वंशवृद्धिं वकुलैः सौमनस्यताम् ।
किंशुकैः रोगनिर्हृतिं कुटजैः शत्रुनाशनम् ॥

एवमन्यैः सुगन्धाढ्यैः पुष्पैः पत्रैश्च भार्गव ! ।
पूजयित्वा विधानेन महाफलमवाप्नुयात् ॥

फलैर्धान्यैरर्चयेच्च प्रोक्तमार्गानुसारतः ।
लक्षवर्त्तिप्रदीपैर्वा पूजयेत्त्रिपुराम्बिकाम् ॥

समर्थस्तत्र वर्तिभ्यां दीपानेव प्रकल्पयेत् ।
दशकेन शतेनापि सहस्रेणाऽपि वा तथा ॥
पञ्चाशद्दशसाहस्रैः सहस्रशतमेव वा ।
एकैकञ्च घृतापूर्णमर्प्ययेदेकनामभिः ॥
सहस्रनामभिर्देयाः शतनामभिरेव वा ।
दशावर्तनकैर्वाऽपि चैकावर्तनकेन वा ॥
तथा पञ्चशतावृत्या दीपं देव्यै समर्पयेत् ।
अन्ते स्वर्णेन रौप्येण नवकं वर्तियुग्मकम् ॥
कृत्वा ताम्रमये दीपे घृतवर्तिसमुज्ज्वले ।
निवेदयेत्तु कलशे पायसेन हुनेत्तथा ॥
श्रीसूक्तेनाऽभिषेकञ्चै कुर्याच्छ्रीचक्रनायके ।
आवृत्तीनां लक्षकेन सहस्रेण शतेन वा ॥
स्वयम्वा ब्राह्मणैर्वापि क्षीरैरिक्षुरसैर्घृतैः ।
मधुभिर्वा फलरसैर्दधिभिर्वा सुगन्धिभिः ॥
तोयैस्तीर्थाद्भवैर्वाऽपि राम ! पूर्वोक्तवर्त्मना ।
अन्ते दशांशतो वह्नौ पायसेन हुनेत्क्रमात् ॥
प्रत्यृचं श्रीसूक्तकस्य पूर्ववत्तु समापयेत् ।
रुद्राभिषेकतो वाऽपि महाफलमुदीरितम् ॥
एवं भार्गव ! सम्प्रोक्तं-धनिनां सुखसाधनम् ॥

इति श्रीललितलक्षार्चनविधानं सम्पूर्णम् ॥

असामर्थ्ये—

"अशक्तः कारयेत्पूजां दद्याद्वार्चनसाधनम् ।
दानाशक्तः सपर्यान्तं पश्येत्तत्परमानसः ।

अथ श्रीसूक्तमूलपाठः

ॐ हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ॥१॥

तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम् ॥२॥

अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम् ।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवीर्जुषताम् ॥३॥

कांसोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् ।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥४॥

चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम् ।
तां पद्मनीमीं शरणमहं प्रपद्ये अलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणे ॥५॥

आदित्यवर्णे तपसोधिजातो वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः ।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु मायान्तरायाश्च बाह्या अलक्ष्मीः ॥६॥

उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह ।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन्कीर्तिमृद्धिं ददातु मे ॥७॥

क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम् ।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात् ॥८॥

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥९॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि ।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः ॥१०॥

कर्दमेन प्रजाभूता मयि सम्भव कर्दम ।
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ॥११॥

आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे ।
नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले ॥१२॥

आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गलां पद्ममालिनीम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ॥१३॥

आर्द्रां यष्करिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम् ।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ॥१४॥

तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो दास्योऽश्वान्विन्देयं पुरुषानहम् ॥१५॥

यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् ।
श्रियः पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत् ॥१६॥

सरसिजनिलये सरोजहस्ते धवलरांशुकगन्धमाल्यशोभे ।
भगवति हरिवल्लभे मनोज्ञे त्रिभुवनभूतिकरि प्रसीद मह्यम् ॥१७॥

धनमग्निर्धनं वायुर्धनं सूर्यो धनं वसुः ।
धनमिन्द्रो बृहस्पतिर्वरुणं धनमश्विनौ ॥१८॥

वैनतेय सोमं पिब सोमं पिबतु वृत्रहा ।
सोमं धनस्य सोमिनो मह्यं ददातु सोमिनः ॥१९॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां श्रीसूक्तं जपेत् ॥२०॥

पद्मानने पद्मऊरु पद्माक्षि पद्मसम्भवे ।
तन्मे भजसि पद्माक्षि येन सौख्यं लभाम्यहम् ॥२१॥

विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रियाम् ।
विष्णुप्रियसखीं देवीं नमाम्यच्युतवल्लभाम् ॥२२॥

महालक्ष्मीं च विद्महे विष्णुपत्नीं च धीमहि ।
तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात् ॥२३॥

पद्मानने पद्मिनि पद्मपत्रे पद्मप्रिये पद्मदलायताक्षि ।
विश्वप्रिये विश्वमनोनुकूले त्वत्पादपद्मं मयि सन्निधत्स्व ॥२४॥

आनन्दः कर्दमः श्रीदः चिक्लीत इति विश्रुताः ।
ऋषयः श्रियपुत्राश्च मयि श्रीर्देवी देवता ॥२५॥
ऋणरोगादिदारिद्र्यं पापक्षुदपमृत्यवः ।
भयशोकमनस्तापा नश्यन्तु मम सर्वदा ॥२६॥
श्रीर्वर्चस्वमायुष्यमारोग्यमाविधात्पवमानं महीयते ।
धनं धान्यं पशुं बहुपुत्रलाभं शतसंवत्सरं दीर्घमायुः ॥२७॥

इति फलश्रुतिसहितं श्रीसूक्तं समाप्तम् ॥

त्रिपुरारहस्योक्तं ज्ञानकालिकास्तोत्रम्

शिवे देवि सम्वित्सुधासागराऽऽत्मस्वरूपाऽसि सर्वान्तराऽऽत्मैकरूपा।
न किञ्चिद् विना त्वत्कलामस्ति लोके ततः सत्स्वरूपाऽसि सत्येऽप्यसत्ये ॥१॥
असत्यं पुनः सत्यमन्ये द्विरूपं द्वयातीतमेके जगुः सर्वमेतत्।
न ते तां विदुर्मायया मोहितास्ते चिदानन्दरूपा त्वमेवाऽसि सर्वम् ॥२॥
क्षणानां क्रमैर्भिन्नरूपां धराद्यैर्मितामाहुरेके तमोमात्ररूपाम्।
तमोदीप्तिसंभिन्नरूपाञ्च शान्तस्वरूपां महेशीं विदुस्त्वां न तेऽज्ञाः ॥३॥
शिवादिक्षितिप्रान्ततत्त्वावलिर्या विचित्रा यदीये शरीरे विभाति।
पटे चित्रकल्पा जले रेन्दुतारा नभोवत्परा सा त्वमेवाऽसि सर्वा ॥४॥
अभिन्नं विभिन्नं बहिर्वाऽन्तरे वा विभाति प्रकाशस्तमो वाऽपि सर्वम्।
ऋते त्वां चितिं येन नो भाति किञ्चित्ततस्त्वं समस्तं न किञ्चित्त्वदन्यत् ॥५॥
निरुध्याऽन्तरङ्गं विलाप्याऽक्षसङ्गं परित्यज्य सर्वत्र कामादिभावम्।
स्थितानां महायोगिनां चित्तभूमौ चिदानन्दरूपा त्वमेका विभासि ॥६॥
तथाऽन्ये मनः सेन्द्रियं सञ्चरच्चाऽन्त्रसंयम्य तन्मार्गके जागरूकाः।
स्वसम्वित्सुधाऽऽदर्शदेहे स्फुरन्तं महायोगिनाथाः प्रपश्यन्ति सर्वम् ॥७॥
निरुक्ते महासारमार्गेऽतिसूक्ष्मे गतिं ये न विन्दन्ति गूढस्वभावाः।
जनान् तान् समुद्धर्तुमक्षावगम्यं बहिः स्थूलरूपं विभिन्नं बिभर्षि ॥८॥
तदाराधनेऽनेकमार्गान् विचित्रान् विधायाऽथ मार्गेण केनापि यान्तम्।
नदीवारि सिन्धुर्यथा स्वीकरोति प्रदाय स्वभावं नु स्वात्मीकरोषि ॥९॥
तथा तासु मूर्तिष्वनेकासु मुख्या धनुर्बाणपाशाङ्कुशाढ्यैव मूर्तिः।
शरीरेषु मूर्धेव ये तां भजेयुर्जनास्त्रैपुरीं मूर्तिमत्युत्तमास्ते ॥१०॥
जनान् दुःखसिन्धोः समुद्धर्तुकामा पथस्ताननेकान् प्रदिश्य प्रकृष्टान्।
दयार्द्रस्वभावेति विख्यातकीर्तिस्त्वमेकैव पूज्या पराशक्तिरूपा ॥११॥
सदा ते पदाब्जे मनःषट्पदो मे पिबन् तद्रसं निर्वृतः संस्थितोऽस्तु।
इति प्रार्थनां मे निशम्याऽऽशु मातर्विधेहि स्वदृष्टिं दयार्द्रामपीपत् ॥१२॥

इति संस्तुत्य सा गौरी त्रिपुरां परमेश्वरीम्!
स्तोत्रेण ज्ञानकलिकाख्येन ध्यानं समास्थिता ॥१३॥

इति ज्ञानकलिकास्तोत्रं सम्पूर्णम्।

श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः

सौन्दर्य-लहरी

न्यासः

अस्य श्रीसौन्दर्यलहरीस्तोत्रस्य गोविन्दऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीदेवता। शिवः शक्त्या युक्त इति बीजम्। सुधासिन्धोर्मध्य इति शक्तिः। जपो जल्पः शिल्पमिति कीलकम्। ह्लां ह्लीं ह्लूं ह्लैं ह्लौं ह्लः इत्यादि षडङ्गन्यासः॥

ध्यानम्

लौहित्यनिर्जितजपाकुसुमानुरागां पाशाङ्कुशे धनुरिषूनपि धारयन्तीम्।
ताम्रायतामरुणमाल्यविशेषशोभां ताम्बूलपूरितमुखीं त्रिपुरां नमामि॥

लमित्यादिपञ्चोपचाराः।

—०—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥१॥

तनीयांसं पांसुं तव चरणपङ्केरुहभवं
विरञ्चिः सञ्चिन्वन्विरचयति लोकानविकलम्।
वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसां
हरः संक्षुभ्यैनं भजति भसितोद्धूलनविधिम्॥२॥

अविद्यानामन्तस्तिमिरमिहिरद्वीपनगरी
जडानां चैतन्यस्तबकमकरन्दस्रुतिझरी।
दरिद्राणां चिन्तामणिगुणनिका जन्मजलधौ
निमग्नानां दंष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवति॥३॥

त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदो दैवतगण-
स्त्वमेका नैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया ।
भयात्त्रातुं दातुं फलमपि च वाञ्छासमधिकं
शरण्ये लोकानां तव हि चरणावेव निपुणौ ॥४॥

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं
पुरा नारी भूत्वा पुरिरपुमपि क्षोभमनयत् ।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम् ॥५॥

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी पञ्च विशिखाः
वसन्तः सामन्तो मलयमरुदायोधनरथः ।
तथाऽप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते कामपि कृपा-
मपाङ्गात्ते लब्ध्वा जगदिदमनङ्गो विजयते ॥६॥

क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तननता
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना ।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरुषिका ॥७॥

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे ।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥८॥

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि ।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ॥९॥

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः ।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि ॥१०॥

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः ।
चतुश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्रत्रिवलय
त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरणकोणाः परिणताः ॥११॥

त्वदीयं सौन्दर्यं तुहिनगिरिकन्ये तुलयितुं
कवीन्द्राः कल्पन्ते कथमपि विरिञ्चिप्रभृतयः ।
यदालोकौत्सुक्यादमरललना यान्ति मनसा
तपोभिर्दुष्प्रापामपि गिरिशसायुज्यपदवीम् ॥१२॥

नरं वर्षीयांसं नयनविरसं नर्मसु जडं
तवापाङ्गालोके पतितमनुधावन्ति शतशः ।
गलद्वेणीबन्धाः कुचकलशविस्रस्तसिचया
हठात्त्रुटचत्काञ्च्यो विगलितदुकूला युवतयः ॥१३॥

क्षितौ षट्पञ्चाशद्द्विसमधिकपञ्चाशदुदके
हुताशे द्वाषष्टिश्चतुरधिकपञ्चाशदनिले ।
दिवि द्विष्षट्त्रिंशन्मनसि च चतुःषष्टिरिति ये
मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम् ॥१४॥

शरज्ज्योत्स्नाशुद्धां शशियुतजटाजूटमकुटां
वरत्रासत्राणस्फटिकघटिकापुस्तककराम् ।
सकृन्न त्वा नत्वा कथमिव सतां संनिदधते
मधुक्षीरद्राक्षामधुरिमधुरीणाः फणितयः ॥१५॥

कवीन्द्राणां चेतःकमलवनबालातपरुचिं
भजन्ते ये सन्तः कतिचिदरुणामेव भवतीम्।
विरिञ्चिप्रेयस्यास्तरुणतरशृङ्गारलहरी-
गभीराभिर्वाग्भिर्विदधति सतां रञ्जनममी ॥१६॥

सवित्रीभिर्वाचां शशिमणिशिलाभङ्गरुचिभि-
र्वशिन्याद्याभिस्त्वां सह जननि सञ्चिन्तयति यः।
स कर्ता काव्यानां भवति महतां भङ्गिरुचिभि-
र्वचोभिर्वाग्देवीवदनकमलामोदमधुरैः ॥१७॥

तनुच्छायाभिस्ते तरुणतरणिश्रीसरणिभि-
र्दिवं सर्वामुर्वीमरुणिमनिमग्नां स्मरति यः।
भवन्त्यस्य त्रस्यद्वनहरिणशालीननयना-
सहोर्वश्या वश्याः कति कति न गीर्वाणगणिकाः ॥१८॥

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम्।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम् ॥१९॥

किरन्तीमङ्गेभ्यः किरणनिकुरम्बामृतरसं
हृदि त्वामाधत्ते हिमकरशिलामूर्तिमिव यः।
स सर्पाणां दर्पं शमयति शकुन्ताधिप इव
ज्वरप्लुष्टान् दृष्ट्या सुखयति सुधाधारसिरया ॥२०॥

तटिल्लेखातन्वीं तपनशशिवैश्वानरमयीं
निषण्णां षण्णामप्युपरि कमलानां तव कलाम्।
महापद्माटव्यां मृदितमलमायेन मनसा
महान्तः पश्यन्तो दधति परमाह्लादलहरीम् ॥२१॥

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः ।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमकुटनीराजितपदाम् ॥२२॥

त्वया हृत्वा वामं वपुरपरितृप्तेन मनसा
शरीरार्धं शम्भोरपरमपि शङ्के हृतमभूत् ।
यदेतत्त्वद्रूपं सकलमरुणाभं त्रिनयनं
कुचाभ्यामानम्रं कुटिलशशिचूडालमकुटम् ॥२३॥

जगत्सूते धाता हरिरवति रुद्रः क्षपयते
तिरस्कुर्वन्नेतत्स्वमपि वपुरीशस्तिरयति ।
सदापूर्वः सर्वं तदिदमनुगृह्णाति च शिव-
स्तवाज्ञामालम्ब्य क्षणचलितयोर्भ्रूलतिकयोः ॥२४॥

त्रयाणां देवानां त्रिगुणजनितानां तव शिवे
भवेत्पूजा पूजा तव चरणयोर्या विरचिता ।
तथाहि त्वत्पादोद्वहनमणिपीठस्य निकटे
स्थिता ह्येते शश्वन्मुकुलितकरोत्तंसमकुटाः ॥२५॥

विरिञ्चिः पञ्चत्वं व्रजति हरिराप्नोति विरतिं
विनाशं कीनाशो भजति धनदो याति निधनम् ।
वितन्द्री माहेन्द्री विततिरपि संमीलितदृशा
महासंहारेऽस्मिन् विहरति सति त्वत्पतिरसौ ॥२६॥

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः ।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ॥२७॥

सुधामप्यास्वाद्य प्रतिभयजरामृत्युहरिणीं
विपद्यन्ते विश्वे विधिशतमखाद्या दिविषदः ।
करालं यत्क्ष्वेलं कवलितवतः कालकलना
न शंभोस्तन्मूलं तव जननि ताटङ्कमहिमा ॥२८॥

किरीटं वैरिञ्चं परिहर पुरः कैटभभिदः
कठोरे कोटीरे स्खलसि जहि जम्भारिमकुटम् ।
प्रणम्रेष्वेतेषु प्रसभमुपयातस्य भवनं
भवस्याभ्युत्थाने तव परिजनोक्तिर्विजयते ॥२९॥

स्वदेहोद्भूताभिर्घृणिभिरणिमाद्याभिरभितः
निषेव्ये नित्ये त्वामहमिति सदा भावयति यः ।
किमाश्चर्यं तस्य त्रिनयनसमृद्धिं तृणयतः
महासंवर्ताग्निर्विरचयति नीराजनविधिम् ॥३०॥

चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः ।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना-
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ॥३१॥

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामारहरयः ।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिता
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम् ॥३२॥

स्मरं योनिं लक्ष्मीं त्रितयमिदमादौ तव मनो-
र्निधायैके नित्ये निरवधिमहाभोगरसिकाः ।
भजन्ति त्वां चिन्तामणिगुणनिबद्धाक्षवलयाः
शिवाग्नौ जुह्वन्तः सुरभिघृतधाराहुतिशतैः ॥३३॥

शरीरं त्वं शम्भोः शशिमिहिरवक्षोरुहयुगं
तवात्मानं मन्ये भगवति नवात्मानमनघम् ।
अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया
स्थितः सम्बन्धो वां समरसपरानन्दपरयोः ॥३४॥

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम् ।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन बिभृषे ॥३५॥

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता ।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
निरालोकेऽलोके निवसति हि भालोकभुवने ॥३६॥

विशुद्धौ ते शुद्धस्फटिकविशदं व्योमजनकं
शिवं सेवे देवीमपि शिवसमानव्यवसिताम् ।
ययोः कान्त्या यान्त्या शशिकिरणसारूप्यसरणे-
र्विधूतान्तर्ध्वान्ता विलसति चकोरीव जगती ॥३७॥

समुन्मीलत्संवित्कमलमकरन्दैकरसिकं
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम् ।
यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणति-
र्यदादत्ते दोषाद्गुणमखिलमद्भ्यः पय इव ॥३८॥

तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतं
तमीडे सम्वर्तं जननि महतीं तां च समयाम् ।
यदालोके लोकान्दहति महति क्रोधकलिते
दयार्द्रा या दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयति ॥३९॥

तटित्त्वन्तं शक्त्या तिमिरपरिपन्थिस्फुरणया
स्फुरन्नानारत्नाभरणपरिणद्धेन्द्रधनुषम् ।
तव श्यामं मेघं कमपि मणिपूरैकशरणं
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम् ॥४०॥

तवाधारे मूले सह समयया लस्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम् ।
उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम् ॥४१॥

गतैर्माणिक्यत्वं गगनमणिभिः सान्द्रघटितं
किरीटं ते हैमं हिमगिरिसुते कीर्तयति यः ।
स नीडेयच्छायाच्छुरणशबलं चन्द्रशकलं
धनुः शौनासीरं किमिति न निबध्नाति धिषणाम् ॥४२॥

धुनोतु ध्वान्तं नस्तुलितदलितेन्दीवरवनं
घनस्निग्धश्लक्ष्णं चिकुरनिकुरुम्बं तव शिवे ।
यदीयं सौरभ्यं सहजमुपलब्धुं सुमनसो
वसन्त्यस्मिन्मन्ये बलमथनवाटीविटपिनाम् ॥४३॥

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी-
परीवाहस्रोतःसरणिरिव सीमन्तसरणिः ।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर-
द्विषां वृन्दैर्बन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम् ॥४४॥

अरालैः स्वाभाव्यादलिकलभसश्रीभिरलकैः
परीतं ते वक्त्रं परिहसति पङ्केरुहरुचिम् ।
दरस्मेरे यस्मिन् दशनरुचिकिञ्जल्करुचिरे
सुगन्धौ माद्यन्ति स्मरदहनचक्षुर्मधुलिहः ॥४५॥

ललाटं लावण्यद्युतिविमलमाभाति तव यत्
द्वितीयं तन्मन्ये मकुटघटितं चन्द्रशकलम् ।
विपर्यासन्यासादुभयमपि सम्भूय च मिथः
सुधालेपस्यूतिः परिणमति राकाहिमकरः ॥४६॥

भ्रुवौ भुग्ने किञ्चिद्भुवनभयभङ्गव्यसनिनि
त्वदीये नेत्राभ्यां मधुकररुचिभ्यां धृतगुणम् ।
धनुर्मन्ये सव्येतरकरगृहीतं रतिपतेः
प्रकोष्ठे मुष्टौ च स्थगयति निगूढान्तरमुमे ॥४७॥

अहस्सूते सव्यं तव नयनमर्कात्मिकतया
त्रियामां वामं ते सृजति रजनीनायकतया ।
तृतीया ते दृष्टिर्दरदलितहेमाम्बुजरुचिः
समाधत्ते सन्ध्यां दिवसनिशयोरन्तरचरीम् ॥४८॥

विशाला कल्याणी स्फुटरुचिरयोध्या कुवलयैः
कृपाधाराऽऽधारा किमपि मधुराऽऽभोगवतिका ।
अवन्ती दृष्टिस्ते बहुनगरविस्तारविजया
ध्रुवं तत्तन्नामव्यवहरणयोग्या विजयते ॥४९॥

कवीनां सन्दर्भस्तबकमकरन्दैकरसिकं
कटाक्षव्याक्षेपभ्रमरकलभौ कर्णयुगलम् ।
अमुञ्चन्तौ दृष्ट्वा तव नवरसास्वादतरला-
असूयासंसर्गादलिकनयनं किंचिदरुणम् ॥५०॥

शिवे श्रृङ्गारार्द्रा तदितरजने कुत्सनपरा
सरोषा गङ्गायां गिरिशचरिते विस्मयवती ।
हराहिभ्यो भीता सरसिरुहसौभाग्यजननी
सखीषु स्मेरा ते मयि जननि दृष्टिस्सकरुणा ॥५१॥

गते कर्णाभ्यर्णं गरुत इव पक्ष्माणि दधती
पुरां भेत्तुश्चित्तप्रशमरसविद्रावणफले ।
इमे नेत्रे गोत्राधरपतिकुलोत्तंसकलिके
तवाकर्णाकृष्टस्मरशरविलासं कलयतः ॥५२॥

विभक्तत्रैवर्ण्यं व्यतिकरितलीलाञ्जनतया
विभाति त्वन्नेत्रत्रितयमिदमीशानदयिते ।
पुनस्स्रष्टुं देवान् द्रुहिणहरिरुद्रानुपरतान्
रजस्सत्त्वं बिभ्रत्तम इति गुणानां त्रयमिव ॥५३॥

पवित्रीकर्तुं नः पशुपतिपराधीनहृदये
दयामित्रैर्नेत्रैररुणधवलश्यामरुचिभिः ।
नदः शोणो गङ्गा तपनतनयेति ध्रुवममुं
त्रयाणां तीर्थानामुपनयसि सम्भेदमनघम् ॥५४॥

निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
तवेत्याहुस्सन्तो धरणिधरराजन्यतनये ।
त्वदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः
परित्रातुं शङ्के परिहृतनिमेषास्तव दृशः ॥५५॥

तवापर्णे कर्णेजपनयनपैशुन्यचकिताः
निलीयन्ते तोये नियतमनिमेषाश्शफरिकाः ।
इयं च श्रीर्बद्धच्छदपुटकवाटं कुवलयं
जहाति प्रत्यूषे निशि च विघटय्य प्रविशति ॥५६॥

दृशा द्राघीयस्या दरदलितनीलोत्पलरुचा
दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे ।
अनेनायं धन्यो भवति न च ते हानिरियता
वने वा हर्म्ये वा समकरनिपातो हिमकरः ॥५७॥

अरालं ते पालीयुगलमगराजन्यतनये
न केषामाधत्ते कुसुमशरकोदण्डकुतुकम् ।
तिरश्चीनो यत्र श्रवणपथमुलङ्घ्य विलस-
न्नपाङ्गव्यासङ्गो दिशति शरसन्धानधिषणाम् ॥५८॥

स्फुरद्गण्डाभोगप्रतिफलितताटङ्कयुगलं
चतुश्चक्रं मन्ये तव मुखमिदं मन्मथरथम् ।
यमारुह्य द्रुह्यत्यवनिरथमर्केन्दुचरणं
महावीरो मारः प्रमथपतये सज्जितवते ॥५९॥

सरस्वत्याः सूक्तीरमृतलहरीकौशलहरीः
पिबन्त्याः शर्वाणि श्रवणचुलुकाभ्यामविरलम् ।
चमत्कारश्लाघाचलितशिरसः कुण्डलगणो
झणत्कारैस्तारैः प्रतिवचनमाचष्ट इव ते ॥६०॥

असौ नासावंशस्तुहिनगिरिवंशध्वजपटि
त्वदीयो नेदीयः फलतु फलमस्माकमुचितम् ।
वहत्यन्तर्मुक्ताः शिशिरकरनिश्वासगलितं
समृद्ध्या यत्तासां बहिरपि च मुक्तामणिधरः ॥६१॥

प्रकृत्याऽऽरक्तायास्तव सुदति दन्तच्छदरुचेः
प्रवक्ष्ये सादृश्यं जनयतु फलं विद्रुमलता ।
न बिम्बं तद्बिम्बप्रतिफलनरागादरुणितं
तुलामध्यारोढुं कथमिव विलज्जेत कलया ॥६२॥

स्मितज्योत्स्नाजालं तव वदनचन्द्रस्य पिबतां
चकोराणामासीदतिरसतया चञ्चुजडिमा ।
अतस्ते शीतांशोरमृतलहरीमाम्लरुचयः
पिबन्ति स्वच्छन्दं निशि निशि भृशं काञ्जिकधिया ॥६३॥

अविश्रान्तं पत्युर्गुणगणकथाम्रेडनजपा
जपापुष्पच्छाया तव जननि जिह्वा जयति सा ।
यदग्रासीनायाः स्फटिकदृषदच्छच्छविमयी
सरस्वत्या मूर्तिः परिणमति माणिक्यवपुषा ॥६४॥

रणे जित्वा दैत्यानपहृतशिरस्त्रैः कवचिभिः
निवृत्तैश्चण्डांशत्रिपुरहरनिर्माल्यविमुखैः ।
विशाखेन्द्रोपेन्द्रैः शशिविशदकर्पूरशकलाः
विलीयन्ते मातस्तव वदनताम्बूलकबलाः ॥६५॥

विपञ्च्या गायन्ती विविधमपदानं पशुपतेः
त्वयाऽऽरब्धे वक्तुं चलितशिरसा साधुवचने ।
तदीयैर्माधुर्यैरपलपिततन्त्रीकलरवां
निजां वीणां वाणी निचुलयति चोलेन निभृतम् ॥६६॥

कराग्रेण स्पृष्टं तुहिनगिरिणा वत्सलतया
गिरीशेनोदस्तं मुहुरधरपानाकुलतया ।
करग्राह्यं शम्भोर्मुखमुकुरवृन्तं गिरिसुते
कथङ्कारं ब्रूमस्तव चुबुकमौपम्यरहितम् ॥६७॥

भुजाश्लेषान्नित्यं पुरदमयितुः कण्टकवती
तव ग्रीवा धत्ते मुखकमलनालश्रियमियम् ।
स्वतः श्वेता कालागुरुबहुलजम्बालमलिना
मृणालीलालित्यं वहति यदधो हारलतिका ॥६८॥

गले रेखास्तिस्रो गतिगमकगीतैकनिपुणे
विवाहव्यानद्धप्रगुणगुणसंख्याप्रतिभुवः ।
विराजन्ते नानाविधमधुररागाकरभुवां
त्रयाणां ग्रामाणां स्थितिनियमसीमान इव ते ॥६९॥

मृणाली मृद्वीनां तव भुजलतानां चतसृणां
चतुर्भिस्सौन्दर्यं सरसिजभवस्स्तौति वदनैः ।
नखेभ्यः संत्रस्यन् प्रथममथनादन्धकरिपोः
चतुर्णां शीर्षाणां सममभयहस्तार्पणधिया ॥७०॥

नखानामुद्योतैर्नवनलिनरागं विहसतां
कराणां ते कान्ति कथय कथयामः कथमुमे ।
कयाचिद्वा साम्यं भजतु कलया हन्त कमलं
यदि क्रीडल्लक्ष्मीचरणतललाक्षारसचणम् ॥७१॥

समं देवि स्कन्दद्विपवदनपीतं स्तनयुगं
तवेदं नः खेदं हरतु सततं प्रस्नुतमुखम् ।
यदालोक्याशङ्काकुलितहृदयो हासजनकः
स्वकुम्भौ हेरम्बः परिमृशति हस्तेन झटिति ॥७२॥

अमू ते वक्षोजावमृतरसमाणिक्यकुतुपौ
न सन्देहस्पन्दो नगपतिपताके मनसि नः ।
पिबन्तौ तौ यस्मादविदितवधूसङ्गरसिकौ
कुमारावद्यापि द्विरदवदनक्रौञ्चदलनौ ॥७३॥

वहत्यम्ब स्तम्बेरमदनुजकुम्भप्रकृतिभिः
समारब्धां मुक्तामणिभिरमलां हारलतिकाम् ।
कुचाभोगो बिम्बाधररुचिभिरन्तश्शबलितां
प्रतापव्यामिश्रां पुरदमयितुः कीर्तिमिव ते ॥७४॥

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः
पयःपारावारः परिवहति सारस्वतमिव ।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीय कवयिता ॥७५॥

हरक्रोधज्वालावलिभिरवलीढेन वपुषा
गभीरे ते नाभीसरसि कृतसङ्गो मनसिजः ।
समुत्तस्थौ तस्मादचलतनये धूमलतिका
जनस्तां जानीते तव जननि रोमावलिरिति ॥७६॥

यदेतत्कालिन्दी तनुतरतरङ्गाकृति शिवे
कृशे मध्ये किञ्चिज्जननि तव यद्भाति सुधियाम् ।
विमर्दादन्योन्यं कुचकलशयोरन्तरगतं
तनूभूतं व्योम प्रविशदिव नाभिं कुहरिणीम् ॥७७॥

स्थिरो गङ्गावर्तः स्तनमुकुलरोमावलिलता-
कलावालं कुण्डं कुसुमशरतेजोहुतभुजः ।
रतेर्लीलागारं किमपि तव नाभिर्गिरिसुते
बिलद्वारं सिद्धेर्गिरिशनयनानां विजयते ॥७८॥

निसर्गक्षीणस्य स्तनतटभरेण क्लमजुषो
नमन्मूर्तेर्नारीतिलक शनकैस्त्रुटचत इव ।
चिरं ते मध्यस्य त्रुटिततटिनीतीरतरुणा
समावस्थास्थेम्नो भवतु कुशलं शैलतनये ॥७९॥

कुचौ सद्यस्स्विद्यत्तटघटितकूर्पासभिदुरौ
कषन्तौ दोर्मूले कनककलशाभौ कलयता ।
तव त्रातुं भङ्गादलमिति वलग्नं तनुभुवा
त्रिधा नद्धं देवि त्रिवलि लवलीवल्लिभिरिव ॥८०॥

गुरुत्वं विस्तारं क्षितिधरपतिः पार्वति निजान्
नितम्बादाच्छिद्य त्वयि हरणरूपेण निदधे ।
अतस्ते विस्तीर्णो गुरुरयमशेषां वसुमतीं
नितम्बप्राग्भारस्स्थगयति लघुत्वं नयति च ॥८१॥

करीन्द्राणां शुण्डान् कनककदलीकाण्डपटलीं
उभाभ्यामूरुभ्यामुभयमपि निर्जित्य भवति ।
सुवृत्ताभ्यां पत्युः प्रणतिकठिनाभ्यां गिरिसुते
विधिज्ञे जानुभ्यां विबुधकरिकुम्भद्वयमसि ॥८२॥

पराजेतुं रुद्रं द्विगुणशरगर्भौ गिरिसुते
निषङ्गौ जङ्घे ते विषमविशिखो बाढमकृत ।
यदग्रे दृश्यन्ते दशशरफलाः पादयुगली-
नखाग्रच्छद्मानस्सुरमकुटशाणैकनिशिताः ॥८३॥

श्रुतीनां मूर्धानो दधति तव यौ शेखरतया
ममाप्येतौ मातश्शिरसि दयया धेहि चरणौ ।
ययोः पाद्यं पाथः पशुपतिजटाजूटतटिनी
ययोर्लाक्षालक्ष्मीररुणहरिचूडामणिरुचिः ॥८४॥

नमोवाकं ब्रूमो नयनरमणीयाय पदयोः
तवास्मै द्वन्द्वाय स्फुटरुचिरसालक्तकवते ।
असूयत्यत्यन्तं यदभिहननाय स्पृहयते
पशूनामीशानः प्रमदवनकङ्केलितरवे ॥८५॥

मृषा कृत्वा गोत्रस्खलनमथ वैलक्ष्यनमितं
ललाटे भर्तारं चरणकमले ताडयति ते ।
चिरादन्तश्शल्यं दहनकृतमुन्मूलितवता
तुलाकोटिक्वाणैः किलिकिलितमीशानरिपुणा ॥८६॥

हिमानीहन्तव्यं हिमगिरिनिवासैकचतुरौ
निशायां निद्राणं निशि चरमभागे च विशदौ ।
वरं लक्ष्मीपात्रं श्रियमतिसृजन्तौ समयिनां
सरोजं त्वत्पादौ जननि जयतश्चित्रमिह किम् ॥८७॥

पदं ते कीर्तीनां प्रपदमपदं देवि विपदां
कथं नीतं सद्भिः कठिनकमठीकर्परतुलाम् ।
कथं वा बाहुभ्यामुपयमनकाले पुरभिदा
यदादाय न्यस्तं दृषदि दयमानेन मनसा ॥८८॥

नखैर्नाकस्त्रीणां करकमलसङ्कोचशशिभिः
तरूणां दिव्यानां हसत इव ते चण्डि चरणौ ।
फलानि स्वःस्थेभ्यः किसलयकराग्रेण ददतां
दरिद्रेभ्यो भद्रां श्रियमनिशमह्नाय ददतौ ॥८९॥

ददाने दीनेभ्यश्श्रियमनिशमाशानुसदृशीं
अमन्दं सौन्दर्यप्रकरमकरन्दं विकिरति ।
तवास्मिन्मन्दारस्तबकसुभगे यातु चरणे
निमज्जन्मज्जीवः करणचरणष्षट्चरणताम् ॥९०॥

पदन्यासक्रीडापरिचयमिवारब्धुमनसः
स्खलन्तस्ते खेलं भवनकलहंसा न जहति ।
अतस्तेषां शिक्षां सुभगमणिमञ्जीररणित-
च्छलादाचक्षाणं चरणकमलं चारुचरिते ॥९१॥

गतास्ते मञ्चत्वं द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरभृतः
शिवः स्वच्छच्छायाघटितकपटप्रच्छदपटः ।
त्वदीयानां भासां प्रतिफलनरागारुणतया
शरीरी शृङ्गारो रस इव दृशां दोग्धि कुतुकम् ॥९२॥

अराला केशेषु प्रकृतिसरला मन्दहसिते
शिरीषाभा चित्ते दृषदुपलशोभा कुचतटे ।
भृशं तन्वी मध्ये पृथुरुरसिजारोहविषये
जगत्त्रातुं शम्भोर्जयति करुणा काचिदरुणा ॥९३॥

कलङ्कः कस्तूरी रजनिकरबिम्बं जलमयं
कलाभिः कर्पूरैर्मरकतकरण्डं निबिडितम् ।
अतस्त्वद्भोगेन प्रतिदिनमिदं रिक्तकुहरं
विधिर्भूयो भूयो निबिडयति नूनं तव कृते ॥९४॥

पुरारातेरन्तःपुरमसि ततस्त्वच्चरणयोः
सपर्यामर्यादा तरलकरणानामसुलभा ।
तथा ह्येते नीताः शतमखमुखाः सिद्धिमतुलां
तव द्वारोपान्तस्थितिभिरणिमाद्याभिरमराः ॥९५॥

कलत्रं वैधात्रं कति कति भजन्ते न कवयः
श्रियो देव्याः को वा न भवति पतिः कैरपि धनैः ।
महादेवं हित्वा तव सति सतीनामचरमे
कुचाभ्यामासङ्गः कुरवकतरोरप्यसुलभः ॥९६॥

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम् ।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिस्सीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि ॥९७॥

कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम् ।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया
कदा धत्ते वाणीमुखकमलताम्बूलरसताम् ॥९८॥

सरस्वत्या लक्ष्म्या विधिहरिसपत्नो विहरते
रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येण वपुषा ।
चिरं जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान् ॥९९॥

प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधिः
सुधासूतेश्चन्द्रोपलजललवैरर्घ्यरचना ।
स्वकीयैरम्भोभिः सलिलनिधिसौहित्यकरणं
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिरियम् ॥१००॥

श्रीकरपात्रस्वामिविरचिते श्रीविद्यारत्नाकरे
श्रीभगवतपादविरचिता सौन्दर्यलहरी समाप्ता ॥

तन्त्रराजोक्तं नित्याकवचम्

समस्तापद्विमुक्त्यर्थं सर्वसम्पदवाप्तये ।
भूतप्रेतपिशाचादिपीडाशान्त्यै सुखाप्तये ॥
समस्तरोगनाशाय समरे विजयाय च ।
चौरसिंहद्वीपिगजगवयादि - भयानके ॥
अरण्ये शैलगहने मार्गे दुर्भिक्षके तथा ।
सलिलाग्निमरुत्पीडास्वब्धौ पोतादिसङ्कटे ॥
प्रजप्य नित्याकवचं सकृत्सर्वं तरत्यसौ ।
सुखी जीवति निर्द्वन्द्वो निःसपत्नो जितेन्द्रियः ॥
शृणु तत्कवचं देवि ! वक्ष्ये तव तदात्मकम् ।
येनाहमपि युद्धेषु देवासुरजयी सदा ॥
सर्वतः सर्वदाऽऽत्मानं ललिता पातु सर्वदा ।
कामेशी पुरतः पातु भगमाला त्वनन्तरम् ॥
दिशं पातु तथा दक्षपार्श्वं मे पातु सर्वदा ।
नित्यक्लिन्ना तु भेरुण्डा दिशं पातु सदा मम ॥
तथैव पश्चिमं भागं रक्षेत्सा वह्निवासिनी ।
महावज्रेश्वरी रक्षेदनन्तरदिशं सदा ॥
वामपार्श्वं सदा पातु दूती मे त्वरिता ततः ।
पालयेत्तु दिशं वात्यां रक्षेन्मां कुलसुन्दरी ॥

नित्यामामूर्ध्वतः पातु साऽधो मे पातु सर्वदा ।
नित्या नीलपताकाख्या विजया सर्वतश्च माम् ॥

करोतु मे मङ्गलानि सर्वदा सर्वमङ्गला ।
देहेन्द्रियमनःप्राणान् ज्वालामालिनिविग्रहा ॥

पालयेदनिशं चित्रा चित्तं मे पातु सर्वदा ।
कामात् क्रोधात् तथा लोभान्मोहान्मानान्मदादपि ॥

पापान्मत्सरतःशोकात् संशयात्सर्वतः सदा ।
स्तैमित्याच्च समुद्योगादशुभेषु तु कर्मसु ॥

असत्यात् क्रूरचिन्तातो हिंसातश्चोरतस्तथा ।
रक्षन्तु मां सर्वदा ताः कुर्वन्त्विच्छां शुभेषु च ॥

नित्याः षोडश मां पान्तु गजारूढाः स्वशक्तिभिः ।
तथा हयसमारूढाः पान्तु मां सर्वतः सदा ॥

सिंहारूढास्तथा पान्तु मां तरक्षुगता अपि ।
रथारूढाश्च मां पान्तु सर्वतः सर्वदा रणे ॥

तार्क्ष्यारूढाश्च मां पान्तु तथा व्योमगतास्तु ताः ।
भूगताः सर्वदा पान्तु मां सर्वत्र च सर्वदा ॥

भूत-प्रेतपिशाचापस्मारकृत्यादिकान् गदान् ।
द्रावयन्तु स्वशक्तीनां भीषणैरायुधैर्मम ॥

गजाश्वद्वीपिपञ्चास्यतार्क्ष्यारूढाखिलायुधाः ।
असंख्याः शक्तयो देव्याः पान्तु मां सर्वतः सदा ॥

सायं प्रातर्जपन्नित्याकवचं सर्वरत्नकम् ।
कदाचिन्नाशुभं पश्येन्न शृणोति च तत्समः ॥

श्रीकरपात्रस्वामिविरचिते श्रीविद्यारत्नाकरे नित्याकवचं समाप्तम् ।

श्रीललितासहस्रनामावलिः

अस्य श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रमालामन्त्रस्य वशिन्यादिभ्यो वाग्देवताभ्य ऋषिभ्यो नमः शिरसि। अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे। श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै देवतायै नमः हृदये। क ५ बीजाय नमः गुह्ये। स० ४ शक्तये नमः पादयोः। ह० ६ कीलकाय नमः नाभौ। चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थे जपे (श्रीललिताम्बाप्रीत्यर्थं) (पूजने) विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे।

कूटत्रयं द्विरावृत्य (बालया वा) षडङ्गद्वयम्।

ध्यानश्लोकः

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुरत्,
तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम्।
पाणिभ्यामलिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं,
सौम्यां रत्नघटस्थरक्तचरणां ध्यायेत्पराभम्बिकाम् ॥१॥

मानसैः पञ्चोपचारैः सम्पूज्य,

श्रीललितासहस्रनामावलिः

ॐ–ऐं–ह्रीं–श्रीं

ॐ श्रीमात्रे नमः
श्रीमहाराज्ञ्यै
श्रीमत्सिंहासनेश्वर्यै
चिदग्निकुण्डसम्भूतायै
देवकार्यसमुद्यतायै
उद्यद्भानुसहस्राभायै

ॐ चतुर्बाहुसमन्वितायै नमः
रागस्वरूपपाशाढ्यै
क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वलायै
मनोरूपेक्षुकोदण्डायै १०
पञ्चतन्मात्रसायकायै

ॐ निजारुणप्रभापूरमज्जद्ब्रह्माण्डमण्डलायै नमः
चम्पकाशोकपुन्नागसौगन्धिकलसत्कचायै
कुरुविन्दमणिश्रेणीकनत्कोटीरमण्डितायै
अष्टमीचन्द्रविभ्राजदलिकस्थलशोभितायै
मुखचन्द्रकलङ्काभमृगनाभिविशेषकायै
वदनस्मरमाङ्गल्यगृहतोरणचिल्लिकायै
वक्त्रलक्ष्मीपरीवाहचलन्मीनाभलोचनायै
नवचम्पकपुष्पाभनासादण्डविराजितायै
ताराकान्तितिरस्कारिनासाभरणभासुरायै २०
कदम्बमञ्जरीक्लृप्तकर्णपूरमनोहरायै
ताटङ्कयुगलीभूततपनोडुपमण्डलायै
पद्मरागशिलादर्शपरिभाविकपोलभुवे
नवविद्रुमबिम्बश्रीन्यक्कारिरदनच्छदायै
शुद्धविद्याङ्कुराकारद्विजपंक्तिद्वयोज्ज्वलायै
कर्पूरवीटिकामोदसमाकर्षिदिगन्तरायै
निजसंल्लापमाधुर्यविनिर्भर्त्सितकच्छप्यै
मन्दस्मितप्रभापूरमज्जत्कामेशमानसायै
अनाकलितसादृश्यचिबुकश्रीविराजितायै
कामेशबद्धमाङ्गल्यसूत्रशोभितकन्धरायै ३०
कनकाङ्गदकेयूरकमनीयभुजान्वितायै
रत्नग्रैवेयचिन्ताकलोलमुक्ताफलान्वितायै
कामेश्वरप्रेमरत्नमणिप्रतिपणस्तन्यै
नाभ्यालवालरोमालिलताफलकुचद्वय्यै नमः
लक्ष्यरोमलताधारतासमुन्नेयमध्यमायै
स्तनभारदलन्मध्यपट्टबन्धवलित्रयायै
अरुणारुणकौसुम्भवस्त्रभास्वत्कटीतट्यै

ॐ रत्नकिङ्किणिकारम्यरशनादामभूषितायै नमः
कामेशज्ञातसौभाग्यमार्दवोरुद्वयान्वितायै ४०
माणिक्यमुकुटाकारजानुद्वयविराजितायै
इन्द्रगोपपरिक्षिप्तस्मरतूणाभजङ्घिकायै
गूढगुल्फायै
कूर्मपृष्ठजयिष्णुप्रपदान्वितायै
नखदीधितिसञ्छन्ननमज्जनतमोगुणायै
पदद्वयप्रभाजालपराकृतसरोरुहायै
शिञ्जानमणिमञ्जीरमण्डितश्रीपदाम्बुजायै

ॐ मरालीमन्दगमनायै नमः
महालावण्यशेवधये
सर्वारुणायै
अनवद्याङ्ग्यै ५०
सर्वाभरणभूषितायै
शिवकामेश्वराङ्कस्थायै
शिवायै
स्वाधीनवल्लभायै

ॐ सुमेरुमध्यशृङ्गस्थायै नमः
श्रीमन्नगरनायिकायै
चिन्तामणिगृहान्तस्थायै
पञ्चब्रह्मासनस्थितायै
महापद्माटवीसंस्थायै
कदम्बवनवासिन्यै ६०
सुधासागरमध्यस्थायै
कामाक्ष्यै
कामदायिन्यै

देवर्षिगणसङ्घातस्तूयमानात्मवैभवायै नमः
भण्डासुरवधोद्युक्तशक्तिसेनासमन्वितायै
सम्पत्करीसमारूढसिन्धुरव्रजसेवितायै
अश्वारूढाधिष्ठिताश्वकोटिकोटिभिरावृतायै
चक्रराजरथारूढसर्वायुधपरिष्कृतायै
गेयचक्ररथारूढमन्त्रिणीपरिसेवितायै
किरिचक्ररथारूढदण्डानाथापुरस्कृतायै ७०

ॐ ज्वालामालिनिकाक्षिप्तवह्निप्राकारमध्यगायै नमः
भण्डसैन्यवधोद्युक्तशक्तिविक्रमहर्षितायै
नित्यापाराक्रमाटोपनिरीक्षणसमुत्सुकायै
भण्डपुत्रवधोद्युक्तबालाविक्रमनन्दितायै
मन्त्रिण्यम्बाविरचितविषङ्गवधतोषितायै नमः
विशुक्रप्राणहरणवाराहीवीर्यनन्दितायै
कामेश्वरमुखालोककल्पितश्रीगणेश्वरायै
महागणेशनिर्भिन्नविघ्नयन्त्रप्रहर्षितायै
भण्डासुरेन्द्रनिर्मुक्तशस्त्रप्रत्यस्त्रवर्षिण्यै
कराङ्गुलिनखोत्पन्ननारायणदशाकृत्यै ८०
महापाशुपतास्त्राग्निनिर्दग्धासुरसैनिकायै
कामेश्वरास्त्रनिर्दग्धसभण्डासुरशून्यकायै
ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रादिदेवसंस्तुतवैभवायै
हरनेत्राग्निसंदग्धकामसंजीवनौषध्यै
श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजायै
कण्ठाधः कटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिण्यै
शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभागधारिण्यै

ॐ मूलमन्त्रात्मिकायै नमः
मूलकूटत्रयकलेवरायै
कुलामृतैकरसिकायै ९०
कुलसङ्केतपालिन्यै
कुलाङ्गनायै
कुलान्तस्थायै
कौलिन्यै
कुलयोगिन्यै
अकुलायै

ॐ समयान्तस्थायै नमः
समयाचारतत्परायै
मूलाधारैकनिलयायै
ब्रह्मग्रन्थिविभेदिन्यै १००
मणिपूरान्तरुदितायै
विष्णुग्रन्थिविभेदिन्यै
आज्ञाचक्रान्तरालस्थायै
रुद्रग्रन्थिविभेदिन्यै
सहस्राराम्बुजारूढायै

ॐ सुधासाराभिवर्षिण्यै नमः
तटिल्लतासमरुच्यै
षट्चक्रोपरिसंस्थितायै
महासक्त्यै
कुण्डलिन्यै ११०
बिसतन्तुतनीयस्यै
भवान्यै
भावनागम्यायै
भवारण्यकुठारिकायै
भद्रप्रियायै
भद्रमूर्तये
भक्तसौभाग्यदायिन्यै
भक्तिप्रियायै
भक्तिगम्यायै
भक्तिवश्यायै १२०
भयापहायै
शाम्भव्यै
शारदाराध्यायै
शर्वाण्यै
शर्मदायिन्यै
शाङ्कर्यै
श्रीकर्यै
साध्व्यै नमः
शरच्चन्द्रनिभाननायै
शातोदर्यै १३०
शान्तिमत्यै

ॐ निराधारायै नमः
निरञ्जनायै
निर्लेपायै
निर्मलायै
नित्यायै
निराकारायै
निराकुलायै
निर्गुणायै
निष्कलायै १४०
शान्तायै
निष्कामायै
निरुपप्लवायै
नित्यमुक्तायै
निर्विकारायै
निष्प्रपञ्चायै
निराश्रयायै
नित्यशुद्धायै
नित्यबुद्धायै
निरवद्यायै १५०
निरन्तरायै
निष्कारणायै
निष्कलङ्कायै
निरुपाधये
निरीश्वरायै
नीरागायै
रागमथन्यै

ॐ निर्मदायै नमः
मदनाशिन्यै
निश्चिन्तायै १६०
निरहङ्कारायै नमः
निर्मोहायै
मोहनाशिन्यै
निर्ममायै
ममताहन्त्र्यै
निष्पापायै
पापनाशिन्यै
निष्क्रोधायै
क्रोधशमन्यै
निर्लोभायै १७०
लोभनाशिन्यै
निःसंशयायै
संशयघ्न्यै
निर्भवायै
भवनाशिन्यै
निर्विकल्पायै
निराबाधायै
निर्भेदायै
भेदनाशिन्यै
निर्नाशायै १८०
मृत्युमथन्यै
निष्क्रियायै
निष्परिग्रहायै

ॐ निस्तुलायै नमः
नीलचिकुरायै
निरपायायै
निरत्ययायै
दुर्लभायै
दुर्गमायै
दुर्गायै १९०
दुःखहन्त्र्यै
सुखप्रदायै
दुष्टदूरायै
दुराचारशमन्यै नमः
दोषवर्जितायै
सर्वज्ञायै
सान्द्रकरुणायै
समानाधिकवर्जितायै
सर्वशक्तिमय्यै
सर्वमङ्गलायै २००
सद्गतिप्रदायै
सर्वेश्वर्यै
सर्वमय्यै
सर्वमन्त्रस्वरूपिण्यै
सर्वयन्त्रात्मिकायै
सर्वतन्त्ररूपायै
मनोन्मन्यै
माहेश्वर्यै
महादेव्यै

ॐ महालक्ष्म्यै नमः २१०
मृडप्रियायै
महारूपायै
महापूज्यायै
महापातकनाशिन्यै
महामायायै
महासत्त्वायै
महाशक्त्यै
महारत्यै
महाभोगायै
महैश्वर्यायै २२०
महावीर्यायै
महाबलायै
महाबुद्ध्यै
महासिद्ध्यै
महायोगीश्वरेश्वर्यै
महातन्त्रायै
महामन्त्रायै
महायन्त्रायै
महासनायै
महायागक्रमाराध्यायै २३०
महाभैरवपूजितायै
महेश्वरमहाकल्पमहाताण्डवसाक्षिण्यै
महाकामेशमहिष्यै
महात्रिपुरसुन्दर्यै
चतुःषष्ट्युपचाराढ्यायै
ॐ चतुःषष्टिकलामय्यै नमः
महाचतुःषष्टिकोटियोगिनीगणसेवितायै
मनुविद्यायै
चन्द्रविद्यायै
चन्द्रमण्डलमध्यगायै २४०
चारुरूपायै
चारुहासायै
चारुचन्द्रकलाधरायै
चराचरजगन्नाथायै
चक्रराजनिकेतनायै
पार्वत्यै
पद्मनयनायै
पद्मरागसमप्रभायै
पञ्चप्रेतासनासीनायै
पञ्चब्रह्मस्वरूपिण्यै २५०
चिन्मय्यै
परमानन्दायै
विज्ञानघनरूपिण्यै
ध्यानध्यातृध्येयरूपायै
धर्माधर्मविवर्जितायै
विश्वरूपायै
जागरिण्यै
स्वपन्त्यै
तैजसात्मिकायै
सुप्तायै २६०
प्राज्ञात्मिकायै नमः

ॐ तुर्यायै नमः
सर्वावस्थाविवर्जितायै
सृष्टिकर्त्र्यै
ब्रह्मरूपायै
गोप्त्र्यै
गोविन्दरूपिण्यै
संहारिण्यै
रुद्ररूपायै
तिरोधानकर्यै २७०
ईश्वर्यै
सदाशिवायै
अनुग्रहदायै
पञ्चकृत्यपरायणायै
भानुमण्डलमध्यस्थायै
भैरव्यै
भगमालिन्यै
पद्मासनायै
भगवत्यै
पद्मनाभसहोदर्यै २८०
उन्मेषनिमिषोत्पन्नविपन्नभुवनावल्यै
सहस्रशीर्षवदनायै
सहस्राक्ष्यै
सहस्रपदे
आब्रह्मकीटजनन्यै
वर्णाश्रमविधायिन्यै
निजाज्ञारूपनिगमायै

ॐ पुण्यापुण्यफलप्रदायै नमः
श्रुतिसीमन्तसिन्दूरीकृतपादाब्ज-
धूलिकायै
सकलागमसंदोहशुक्तिसम्पुट-
मौक्तिकायै २९०
पुरुषार्थप्रदायै
पूर्णायै
भोगिन्यै
भुवनेश्वर्यै
अम्बिकायै
अनादिनिधनायै
हरिब्रह्मेन्द्रसेवितायै
नारायण्यै
नादरूपायै
नामरूपविवर्जितायै ३००
ह्रींकार्यै नमः
ह्रीमत्यै
हृद्यायै
हेयोपादेयवर्जितायै
राजराजार्चितायै
राज्ञ्यै
रम्यायै
राजीवलोचनायै
रञ्जन्यै
रमण्यै ३१०
रस्यायै

ॐ रणत्किङ्किणिमेखलायै नमः
रमायै
राकेन्दुवदनायै
रतिरूपायै
रतिप्रियायै
रक्षाकर्यै
राक्षसघ्न्यै
रामायै
रमणलम्पटायै ३२०
काम्यायै
कामकलारूपायै
कदम्बकुसुमप्रियायै
कल्याण्यै
जगतीकन्दायै
करुणारससागरायै
कलावत्यै
कलालापायै
कान्तायै
कादम्बरीप्रियायै ३३०
वरदायै
वामनयनायै
वारुणीमदविह्वलायै
विश्वाधिकायै
वेदवेद्यायै
विन्ध्याचलनिवासिन्यै
विधात्र्यै

ॐ वेदजनन्यै नमः
विष्णुमायायै
विलासिन्यै ३४०
क्षेत्रस्वरूपायै
क्षेत्रेश्यै
क्षेत्रक्षेत्रज्ञपालिन्यै
क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तायै
क्षेत्रपालसमर्चितायै
विजयायै
विमलायै
वन्द्यायै
वन्दारुजनवत्सलायै
वाग्वादिन्यै ३५०
वामकेश्यै
वह्निमण्डलवासिन्यै
भक्तिमत्कल्पलतिकायै
पशुपाशविमोचिन्यै
संहृताशेषपाखण्डायै
सदाचारप्रवर्तिकायै
तापत्रयाग्निसन्तप्तसमाह्लादनचन्द्रिकायै
तरुण्यै
तापसाराध्यायै
तनुमध्यायै
तमोपहायै
चित्यै

ॐ तत्पदलक्ष्यार्थायै नमः
चिदेकरसरूपिण्यै
स्वात्मानन्दलवीभूतब्रह्माद्यानन्दसन्तत्यै
परायै
प्रत्यक्चितीरूपायै
पश्यन्त्यै
परदेवतायै
मध्यमायै ३७०
वैखरीरूपायै
भक्तमानसहंसिकायै
कामेश्वरप्राणनाड्यै
कृतज्ञायै
कामपूजितायै
शृङ्गाररसम्पूर्णायै
जयायै
जालन्धरस्थितायै
ओड्याणपीठनिलयायै
बिन्दुमण्डलवासिन्यै ३८०
रहोयागक्रमाराध्यायै
रहस्तर्पणतर्पितायै
सद्यःप्रसादिन्यै
विश्वसाक्षिण्यै
साक्षिवर्जितायै
षडङ्गदेवतायुक्तायै
षाड्गुण्यपरिपूरितायै
नित्यक्लिन्नायै

ॐ निरुपमायै नमः
निर्वाणसुखदायिन्यै ३९०
नित्याषोडशिकारूपायै
श्रीकण्ठार्धशरीरिण्यै
प्रभावत्यै
प्रभारूपायै
प्रसिद्धायै
परमेश्वर्यै
मूलप्रकृत्यै
अव्यक्तायै
व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिण्यै
व्यापिन्यै ४००
विविधाकारायै
विद्याविद्यास्वरूपिण्यै
महाकामेशनयनकुमुदाह्लादकौमुद्यै
भक्तहार्दतमोभेदभानुमद्भानुसन्तत्यै
शिवदूत्यै
शिवाराध्यायै
शिवमूर्त्यै
शिवङ्कर्यै
शिवप्रियायै
शिवपरायै
शिष्टेष्टायै
शिष्टपूजितायै
अप्रमेयायै

ॐ स्वप्रकाशायै नमः
मनोवाचामगोचरायै
चिच्छक्त्यै
चेतनारूपायै
जडशक्त्यै
जडात्मिकायै
गायत्र्यै ४२०
व्याहृत्यै
संध्यायै नमः
द्विजवृन्दनिषेवितायै
तत्त्वासनायै
तस्मै
तुभ्यं
अय्यै
पञ्चकोशान्तरस्थितायै
निःसीममहिम्ने
नित्ययौवनायै ४३०
मदशालिन्यै
मदघूर्णितरक्ताक्ष्यै
मदपाटलगण्डभुवे
चन्दनद्रवदिग्धाङ्ग्यै
चाम्पेयकुसुमप्रियायै
कुशलायै
कोमलाकारायै
कुरुकुल्लायै
कुलेश्वर्यै
कुलकुण्डालयायै ४४०

ॐ कौलमार्गतत्परसेवितायै नमः
कुमारगणनाथाम्बायै
तुष्ट्यै
पुष्ट्यै
मत्यै
धृत्यै
शान्त्यै
स्वस्तिमत्यै
कान्त्यै
नन्दिन्यै ४५०
विघ्ननाशिन्यै
तेजोवत्यै
त्रिनयनायै
लोलाक्षीकामरूपिण्यै
मालिन्यै
हंसिन्यै
मात्रे
मलयाचलवासिन्यै
सुमुख्यै
नलिन्यै ४६०
सुभ्रुवे
शोभनायै
सुरनायिकायै
कालकण्ठ्यै
कान्तिमत्यै
क्षोभिण्यै
सूक्ष्मरूपिण्यै

ॐ वज्रेश्वर्यै नमः
वामदेव्यै
वयोवस्थाविवर्जितायै ४७०
सिद्धेश्वर्यै
सिद्धविद्यायै
सिद्धमात्रे
यशस्विन्यै
विशुद्धिचक्रनिलयायै
आरक्तवर्णायै
त्रिलोचनायै
खट्वाङ्गादिप्रहरणायै
वदनैकसमन्वितायै
पायसान्नप्रियायै ४८०
त्वक्स्थायै
पशुलोकभयङ्कर्यै
अमृतादिमहाशक्तिसंवृतायै
डाकिनीश्वर्यै
अनाहताब्जनिलयायै
श्यामाभायै
वदनद्वयायै
दंष्ट्रोज्ज्वलायै नमः
अक्षमालादिधरायै
रुधिरसंस्थितायै ४९०
कालरात्र्यादिशक्त्योघवृतायै
स्निग्धौदनप्रियायै
महावीरेन्द्रवरदायै

ॐ राकिण्यम्बास्वरूपिण्यै नमः
मणिपूराब्जनिलयायै
वदनत्रयसंयुतायै
वज्रादिकायुधोपेतायै
डामर्यादिभिरावृतायै
रक्तवर्णायै
मांसनिष्ठायै ५००
गुडान्नप्रीतमानसायै
समस्तभक्तसुखदायै
लाकिन्यम्बास्वरूपिण्यै
स्वाधिष्ठानाम्बुजगतायै
चतुर्वक्त्रमनोहरायै
शूलाद्यायुधसम्पन्नायै
पीतवर्णायै
अतिगर्वितायै
मेदोनिष्ठायै
मधुप्रीतायै ५१०
बन्धिन्यादिसमन्वितायै
दध्यन्नासक्तहृदयायै
काकिनीरूपधारिण्यै
मूलाधाराम्बुजारूढायै
पञ्चवक्त्रायै
अस्थिसंस्थितायै
अङ्कुशादिप्रहरणायै
वरदादिनिषेवितायै
मुद्गौदनासक्तचित्तायै

ॐ साकिन्यम्बास्वरूपिण्यै नमः ५२०
आज्ञाचक्राब्जनिलयायै
शुक्लवर्णायै
षडाननायै
मज्जासंस्थायै
हंसवतीमुख्यशक्तिसमन्वितायै
हरिद्रान्नैकरसिकायै
हाकिनीरूपधारिण्यै
सहस्रदलपद्मस्थायै
सर्ववर्णोपशोभितायै
सर्वायुधधरायै ५३०
शुक्लसंस्थितायै
सर्वतोमुख्यै
सर्वौदनप्रीतचित्तायै
याकिन्यम्बास्वरूपिण्यै
स्वाहा
स्वधा
अमत्यै
मेधायै
श्रुत्यै
स्मृत्यै ५४०
अनुत्तमायै
पुण्यकीर्त्यै
पुण्यलभ्यायै
पुण्यश्रवणकीर्तनायै
पुलोमजार्चितायै

ॐ बन्धमोचन्यै नमः
बर्बरालकायै
विमर्शरूपिण्यै
विद्यायै
वियदादिजगत्प्रसुवे ५५०
सर्वव्याधिप्रशमन्यै
सर्वमृत्युनिवारिण्यै
अग्रगण्यायै
अचिन्त्यरूपायै
कलिकल्मषनाशिन्यै
कात्यायन्यै
कालहन्त्र्यै
कमलाक्षनिषेवितायै
ताम्बूलपूरितमुख्यै
दाडिमीकुसुमप्रभायै ५६०
मृगाक्ष्यै
मोहिन्यै
मुख्यायै
मृडान्यै
मित्ररूपिण्यै
नित्यतृप्तायै
भक्तनिधये
नियन्त्र्यै
निखिलेश्वर्यै
मैत्र्यादिवासनालभ्यायै ५७०
महाप्रलयसाक्षिण्यै

ॐ परस्यै शक्त्यै नमः
परयै निष्ठायै
प्रज्ञानघनरूपिण्यै
माध्वीपानालसायै
मत्तायै
मातृकावर्णरूपिण्यै
महाकैलासनिलयायै
मृणालमृदुदोर्लतायै
महनीयायै ५८०
दयामूर्त्यै
महासाम्राज्यशालिन्यै
आत्मविद्यायै
महाविद्यायै
श्रीविद्यायै
कामसेवितायै
श्रीषोडशाक्षरीविद्यायै
त्रिकूटायै
कामकोटिकायै
कटाक्षकिङ्करीभूतकमला-
कोटिसेवितायै ५९०
शिरःस्थितायै
चन्द्रनिभायै
भालस्थायै
इन्द्रधनुःप्रभायै
हृदयस्थायै
रविप्रख्यायै

ॐ त्रिकोणान्तरदीपिकायै नमः
दाक्षायण्यै
दैत्यहन्त्र्यै
दक्षयज्ञविनाशिन्यै ६००
दरान्दोलितदीर्घाक्ष्यै
दरहासोज्ज्वलन्मुख्यै
गुरुमूर्तये
गुणनिधये
गोमात्रे
गुहजन्मभुवे
देवेश्यै
दण्डनीतिस्थायै
दहराकाशरूपिण्यै
प्रतिपन्मुख्यराकान्ततिथिमण्डल-
पूजितायै ६१०
कलात्मिकायै
कलानाथायै
काव्यालापविनोदिन्यै
सचामररमावाणीसव्यदक्षिण-
सेवितायै
आदिशक्त्यै
अमेयायै
आत्मने
परमायै
पावनाकृतये
अनेककोटिब्रह्माण्डजनन्यै ६२०

ॐ दिव्यविग्रहायै नमः
क्लींकार्यै
केवलायै
गुह्यायै
कैवल्यपददायिन्यै
त्रिपुरायै
त्रिजगद्वन्द्यायै
त्रिमूर्तये
त्रिदशेश्वर्यै
त्र्यक्षर्यै ६३०
दिव्यगन्धाढ्यायै
सिन्दूरतिलकाञ्चितायै
उमायै
शैलेन्द्रतनयायै
गौर्यै
गन्धर्वसेवितायै
विश्वगर्भायै
स्वर्णगर्भायै
अवरदायै
वागधीश्वर्यै ६४०
ध्यानगम्यायै
अपरिच्छेद्यायै
ज्ञानदायै
ज्ञानविग्रहायै
सर्ववेदान्तसंवेद्यायै
सत्यानन्दस्वरूपिण्यै
लोपामुद्रार्चितायै
ॐ लीलाक्लृप्तब्रह्माण्डमण्डलायै नमः
अदृश्यायै
दृश्यरहितायै ६५०
विज्ञात्र्यै
वेद्यवर्जितायै
योगिन्यै
योगदायै
योग्यायै
योगानन्दायै
युगन्धरायै
इच्छाशक्तिज्ञानशक्तिक्रियाशक्ति-
स्वरूपिण्यै
सर्वाधारायै
सुप्रतिष्ठायै ६६०
सदसद्रूपधारिण्यै
अष्टमूर्त्यै
अजाजेत्र्यै
लोकयात्राविधायिन्यै
एकाकिन्यै
भूमरूपायै
निर्द्वैतायै
द्वैतवर्जितायै
अन्नदायै
वसुदायै ६७०
वृद्धायै
ब्रह्मात्मैक्यस्वरूपिण्यै

ॐ वृहत्यै नमः
ब्राह्मण्यै
ब्राह्म्यै
ब्रह्मानन्दायै
बलिप्रियायै
भाषारूपायै
वृहत्सेनायै
भावाभावविवर्जितायै ६८०
सुखाराध्यायै
शुभकर्यै
शोभनायै सुलभायै गत्यै
राजराजेश्वर्यै
राज्यदायिन्यै
राज्यवल्लभायै
राजत्कृपायै
राजपीठनिवेशितनिजाश्रितायै
राज्यलक्ष्म्यै
कोशनाथायै ६९०
चतुरङ्गवलेश्वर्यै
साम्राज्यदायिन्यै
सत्यसम्बन्धायै
सागरमेखलायै
दीक्षितायै
दैत्यशमन्यै
सर्वलोकवशङ्कर्यै
सर्वार्थदात्र्यै

ॐ सावित्र्यै नमः
सच्चिदानन्दरूपिण्यै ७००
देशकालापरिच्छिन्नायै
सर्वगायै
सर्वमोहिन्यै
सरस्वत्यै
शास्त्रमय्यै
गुहाम्बायै
गुह्यरूपिण्यै
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तायै
सदाशिवपतिव्रतायै
सम्प्रदायेश्वर्यै ७१०
साधुने
यै
गुरुमण्डलरूपिण्यै
कुलोत्तीर्णायै
भगाराध्यायै
मायायै
मधुमत्यै
मह्यै
गणाम्बायै
गुह्यकाराध्यायै ७२०
कोमलाङ्ग्यै
गुरुप्रियायै
स्वतन्त्रायै
सर्वतन्त्रेश्यै

ॐ दक्षिणामूर्तिरूपिण्यै नमः
सनकादिसमाराध्यायै
शिवज्ञानप्रदायिन्यै
चित्कलायै
आनन्दकलिकायै
प्रेमरूपायै ७३०
प्रियङ्कर्यै
नामपारायणप्रीतायै
नन्दिविद्यायै
नटेश्वर्यै
मिथ्याजगदधिष्ठानायै
मुक्तिदायै
मुक्तिरूपिण्यै
लास्यप्रियायै
लयकर्यै
लज्जायै ७४०
रम्भादिवन्दितायै
भवदावसुधावृष्ट्यै
पापारण्यदवानलायै
दौर्भाग्यतूलवातूलायै
जराध्वान्तरविप्रभायै
भाग्याब्धिचन्द्रिकायै
भक्तचित्तकेकिघनाघनायै
रोगपर्वतदम्भोलये
मृत्युदारुकुठारिकायै
महेश्वर्यै ७५०

ॐ महाकाल्यै नमः
महाग्रासायै
महाशनायै
अपर्णायै
चण्डिकायै
चण्डमुण्डासुरनिषूदन्यै
क्षराक्षरात्मिकायै
सर्वलोकेश्यै
विश्वधारिण्यै
त्रिवर्गदात्र्यै ७६०
त्रिगुणात्मिकायै
स्वर्गापवर्गदायै
शुद्धायै
जपापुष्पनिभाकृतये
ओजोवत्यै
द्युतिधरायै
यज्ञरूपायै
प्रियव्रतायै ७७०
दुराराध्यायै
दुराधर्षायै
पाटलीकुसुमप्रियायै
महत्यै
मेरुनिलयायै
मन्दारकुसुमप्रियायै
वीराराध्यायै
विराड्रूपायै

ॐ विरजसे नमः
विश्वतोमुख्यै ७८०
प्रत्यग्रूपायै
पराकाशायै
प्राणदायै
प्राणरूपिण्यै
मार्तण्डभैरवाराध्यायै
मन्त्रिणीन्यस्तराज्यधुरे
त्रिपुरेश्यै
जयत्सेनायै
निस्त्रैगुण्यायै
परापरायै ७९०
सत्यज्ञानानन्दरूपायै
सामरस्यपरायणायै
कपर्दिन्यै
कलामालायै
कामदुहे
कामरूपिण्यै
कलानिधये
काव्यकलायै
रसज्ञायै
रसशेवधये ८००
पुष्टायै
पुरातनायै
पूज्यायै
पुष्करायै
पुष्करेक्षणायै
परस्मै ज्योतिषे
परस्मै धाम्ने
परमाणवे
परात्परायै

ॐ पाशहस्तायै नमः ८१०
पाशहन्त्र्यै
परमन्त्रविभेदिन्यै
मूर्तायै
अमूर्तायै नमः
अनित्यतृप्तायै
मुनिमानसहंसिकायै
सत्यव्रतायै
सत्यरूपायै
सर्वान्तर्यामिण्यै
सत्यै ८२०
ब्रह्माण्यै
ब्रह्मणे
जनन्यै
बहुरूपायै
बुधार्चितायै
प्रसवित्र्यै
प्रचण्डायै
आज्ञायै
प्रतिष्ठायै
प्रकटाकृतये ८३०
प्राणेश्वर्यै
प्राणदात्र्यै
पञ्चाशत्पीठरूपिण्यै
विशृङ्खलायै
विविक्तस्थायै
वीरमात्रे
वियत्प्रसुवे
मुकुन्दायै
मुक्तिनिलयायै
मूलविग्रहरूपिण्यै ८४०

ॐ भावज्ञायै नमः
भवरोगघ्न्यै
भवचक्रप्रवर्तिन्यै
छन्दःसारायै
शास्त्रसारायै
मन्त्रसारायै
तलोदर्यै नमः
उदारकीर्तये
उद्दामवैभवायै
वर्णरूपिण्यै ८५०
जन्ममृत्युजरातप्तजन-
विश्रान्तिदायिन्यै
सर्वोपनिषदुद्घुष्टायै
शान्त्यतीतकलात्मिकायै
गम्भीरायै
गगनान्तस्थायै
गर्वितायै
गानलोलुपायै
कल्पनारहितायै
काष्ठायै
अकान्तायै ८६०
कान्तार्धविग्रहायै
कार्यकारणनिर्मुक्तायै
कामकेलितरङ्गितायै
कनत्कनकताटङ्कायै
लीलाविग्रहधारिण्यै
अजायै
क्षयविनिर्मुक्तायै

ॐ मुग्धायै नमः
क्षिप्रप्रसादिन्यै
ॐ अन्तर्मुखसमाराध्यायै ८७०
बहिर्मुखसुदुर्लभायै
त्रय्यै
त्रिवर्गनिलयायै
त्रिस्थायै
त्रिपुरमालिन्यै
निरामयायै
निरालम्बायै
स्वात्मारामायै
सुधासृत्यै नमः
संसारपङ्कनिर्मग्नसमुद्धरण-
पण्डितायै ८८०
यज्ञप्रियायै
यज्ञकर्त्र्यै
यजमानस्वरूपिण्यै
धर्माधारायै
धनाध्यक्षायै
धनधान्यविवर्धिन्यै
विप्रप्रियायै
विप्ररूपायै
विश्वभ्रमणकारिण्यै
विश्वग्रासायै ८९०
विद्रुमाभायै
वैष्णव्यै
विष्णुरूपिण्यै
अयोन्यै

ॐ योनिनिलयायै नमः
कूटस्थायै
कुलरूपिण्यै
वीरगोष्ठीप्रियायै
वीरायै
नैष्कर्म्यायै ९००
नादरूपिण्यै
विज्ञानकलनायै
कल्यायै
विदग्धायै
बैन्दवासनायै
तत्त्वाधिकायै
तत्त्वमय्यै
तत्त्वमर्थस्वरूपिण्यै
सामगानप्रियायै
सौम्यायै ९१०
सदाशिवकुटुम्बिन्यै
सव्यापसव्यमार्गस्थायै
सर्वापद्विनिवारिण्यै
स्वस्थायै
स्वभावमधुरायै
धीरायै
धीरसमर्चितायै
चैतन्यार्घ्यसमाराध्यायै
चैतन्यकुसुमप्रियायै
सदोदितायै ९२०

ॐ सदातुष्टायै नमः
तरुणादित्यपाटलायै
दक्षिणादक्षिणाराध्यायै
दरस्मेरमुखाम्बुजायै
कौलिनीकेवलायै
अनर्घ्यकैवल्यपददायिन्यै
स्तोत्रप्रियायै
स्तुतिमत्यै
श्रुतिसंस्तुतवैभवायै
मनस्विन्यै ९३०
मानवत्यै
महेश्यै
मङ्गलाकृतये
विश्वमात्रे
जगद्धात्र्यै
विशालाक्ष्यै
विरागिण्यै
प्रगल्भायै
परमोदारायै
परमोदायै ९४०
मनोमय्यै
व्योमकेश्यै
विमानस्थायै
वज्रिण्यै
वामकेश्वर्यै
पञ्चयज्ञप्रियायै

ॐ पञ्चप्रेतमञ्चाधिशायिन्यै नमः
पञ्चम्यै
पञ्चभूतेश्यै
पञ्चसङ्ख्योपचारिण्यै ९५०
शाश्वत्यै
शाश्वतैश्वर्यायै
शर्मदायै
शम्भुमोहिन्यै
धरायै
धरसुतायै
धन्यायै
धर्मिण्यै
धर्मवर्धिन्यै
लोकातीतायै ९६०
गुणातीतायै
सर्वातीतायै
शमात्मिकायै
बन्धूककुसुमप्रख्यायै
बालायै
लीलाविनोदिन्यै
सुमङ्गल्यै
सुखकर्यै
सुवेषाढ्यायै
सुवासिन्यै ९७०
सुवासिन्यर्चनप्रीतायै
आशोभनायै
शुद्धमानसायै
बिन्दुतर्पणसन्तुष्टायै

ॐ पूर्वजायै नमः
त्रिपुराम्बिकायै
दशमुद्रासमाराध्यायै
त्रिपुराश्रीवशङ्कर्यै
ज्ञानमुद्रायै
ज्ञानगम्यायै ९८०
ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्यै
योनिमुद्रायै
त्रिखण्डेश्यै
त्रिगुणायै
अम्बायै
त्रिकोणगायै
अनघायै
अद्भुतचारित्रायै
वाञ्छितार्थप्रदायिन्यै
अभ्यासातिशयज्ञातायै ९९०
षडध्वातीतरूपिण्यै
अव्याजकरुणामूर्तये
अज्ञानध्वान्तदीपिकायै
आबालगोपविदितायै
सर्वानुल्लङ्घ्यशासनायै
श्रीचक्रराजनिलयायै
श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्यै
श्रीशिवायै
शिवशक्त्यैक्यरूपिण्यै
श्रीललिताम्बिकायै नमः १०००

इति श्रीललितासहस्रनामावलिः सम्पूर्णा ॥

श्रीललिताष्टोत्तरशतनामावलिः

ॐ-ऐं-ह्रीं-श्रीं ।

ॐ रजताचलशृङ्गाग्रमध्यस्थायै नमः
हिमाचलमहावंशपावनायै
शङ्करार्धाङ्गसौन्दर्यशरीरायै
लसन्मरकतस्वच्छविग्रहायै
महातिशयसौन्दर्यलावण्यायै
शशाङ्कशेखरप्राणवल्लभायै
सदापञ्चदशात्मैक्यस्वरूपायै
वज्रमाणिक्यकटककिरीटायै
कस्तूरीतिलकोल्लासिनिटलायै
भस्मरेखाङ्कितलसन्मस्तकायै
विकचाम्भोरुहदललोचनायै
शरच्चाम्पेयपुष्पाभनासिकायै
लसत्काञ्चनताटङ्कयुगलायै
मणिदर्पणसङ्काशकपोलायै
ताम्बूलपूरितस्मेरवदनायै
सुपक्वदाड़िमीबीजरदनायै
कम्बुपूगसमच्छायकन्धरायै
स्थूलमुक्ताफलोदारसुहारायै
गिरीशबद्धमाङ्गल्यमङ्गलायै
पद्मपाशाङ्कुशलसत्कराब्जायै
पद्मकैरवमन्दारसुमालिन्यै
सुवर्णकुम्भयुग्माभसुकुचायै
रमणीयचतुर्बाहुसंयुक्तायै
कनकाङ्गदकेयूरभूषितायै
बृहत्सौवर्णसौन्दर्यवसनायै
बृहन्नितम्बविलसज्जघनायै
सौभाग्यजातशृङ्गारमध्यमायै
दिव्यभूषणसन्दोहरञ्जितायै

ॐ पारिजातगुणाधिक्यपदाब्जायैनमः
सुपद्मरागसङ्काशचरणायै
कामकोटिमहापद्मपीठस्थायै
श्रीकण्ठनेत्रकुमुदचन्द्रिकायै
सचामररमावाणीवीजितायै
भक्तरक्षणदाक्षिण्यकटाक्षायै
भूतेशालिङ्गनोद्भूतपुलकाङ्ग्यै
अनङ्गजनकापाङ्गवीक्षणायै
ब्रह्मोपेन्द्रशिरोरत्नरञ्जितायै
शचीमुख्यामरवधूसेवितायै
लीलाकल्पितब्रह्माण्डमण्डलायै
अमृतादिमहाशक्तिसंवृतायै
एकातपत्रसाम्राज्यदायिकायै
सनकादिसमाराध्यपादुकायै
देवर्षिभिस्तूयमानवैभवायै
कलशोद्भवदुर्वासःपूजितायै
मत्तेभवक्त्रषड्वक्त्रवत्सलायै
चक्रराजमहायन्त्रमध्यवर्तिन्यै
चिदग्निकुण्डसम्भूतसुदेहायै
शशाङ्कखण्डसम्भूतसुदेहायै
मत्तहंसवधूमन्दगमनायै
वन्दारुजनसन्दोहवन्दितायै
अन्तर्मुखजनानन्दफलदायै
पतिव्रताङ्गनाभीष्टफलदायै
अव्याजकरुणापूरपूरितायै
नितान्तसच्चिदानन्दसंयुक्तायै
सहस्रसूर्यसंयुक्तप्रकाशायै
रत्नचिन्तामणिगृहमध्यस्थायै

ॐ हानिवृद्धिगुणाधिक्यरहितायै नमः
महामद्याटवीमध्यनिवासायै
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां साक्षिभूत्यै
महापापौघपापानां विनाशिन्यै
दुष्टभीतिमहाभीतिभञ्जनायै
समस्तदेवदनुजप्रेरकायै
समस्तहृदयाम्भोजनिलयायै
अनाहतमहापद्ममन्दिरायै
सहस्रारसरोजातवासितायै
पुनरावृत्तिरहितपुरस्थायै
वाणीगायत्रीसन्नुतायै
रमाभूमिसुताराध्यपदाब्जायै
लोपामुद्रार्चितश्रीमच्चरणायै
सहस्ररतिसौन्दर्यशरीरायै
भावनामात्रसन्तुष्टहृदयायै
सत्यसम्पूर्णविज्ञानसिद्धिदायै
श्रीलोचनकृतोल्लासफलदायै
श्रीसुधाब्धिमणिद्वीपमध्यगायै
दक्षाध्वरविनिर्भेदसाधनायै
श्रीनाथसोदरीभूतशोभितायै
चन्द्रशेखरभक्तार्तिभञ्जनायै
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तचैतन्यायै
नामपारायणाभीष्टफलदायै
सृष्टिस्थितितिरोधानसङ्कल्पायै
श्रीषोडशाक्षरीमन्त्रमध्यगायै
अनाद्यन्तस्वयम्भूतदिव्यमूर्त्यै

ॐ भक्तहंसपरीमुख्यवियोगायै नमः
मातृमण्डलसंयुक्तललितायै
भण्डदैत्यमहासत्वनाशनायै
क्रूरभण्डशिरश्छेदनिपुणायै
धात्रच्युतसुराधीशसुखदायै
चण्डमुण्डनिशुम्भादिखण्डनायै
रक्ताक्षरक्तजिह्वादिशिक्षणायै
महिषासुरदोवीर्यनिग्रहायै
अभ्रकेशमहोत्साहकारणायै
महेशयुक्तनटनतत्परायै
निजभर्तृमुखाम्भोजचिन्तनायै
वृषभध्वजविज्ञानभावनायै
जन्ममृत्युजरारोगभञ्जनायै
विधेयमुक्तविज्ञानसिद्धिदायै
कामक्रोधादिषड्वर्गनाशनायै
राजराजार्चितपदसरोजायै
सर्ववेदान्तसंसिद्धसुतत्त्वायै
श्रीवीरभक्तविज्ञाननिधनायै
अशेषदुष्टदनुजसूदनायै
साक्षाच्छ्रीदक्षिणामूर्तिमनोज्ञायै
हयमेधाग्रसम्पूज्यमहिमायै
दक्षप्रजापतिसुरवेषाढ्यायै
सुमबाणेक्षुकोदण्डमण्डितायै
नित्ययौवनमाङ्गल्यमङ्गलायै
महादेवसमायुक्तशरीरायै
महादेवरतौत्सुक्यमहादेव्यै

श्रीललिताष्टोत्तरशतनामावलिः सम्पूर्णा

—: ० :—

श्रीललितात्रिशतीस्तोत्ररत्ननामावलिः

अस्य श्रीललितात्रिशतीस्तोत्रमालामन्त्रस्य हृयग्रीवऋषये नमः शिरसि १। अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे २। श्रीललिताम्बादेवतायै नमः हृदये ३। क० ५ बीजाय नमः गुह्ये ४। स० ४ शक्तये नमः पादयोः ५। ह० ६ कीलकाय नमः नाभौ ६। श्रीललिताम्बाप्रसादसिद्धये जपे (पूजने) विनियोगाय सर्वाङ्गे ७॥

कूटत्रयं द्विरावृत्य (बालया वा) षडङ्गद्वयम्।

अथ ध्यानम्

अतिमधुरचापहस्तामपरिमितमोदबाणसौभाग्याम्।
अरुणामतिशयकरुणामभिनवकुलसुन्दरीं वन्दे ॥१॥

लमितिपञ्चोपचारैः सम्पूज्य

श्रीललितात्रिशतीस्तोत्ररत्ननामावलिः

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं

ॐ ककाररूपायै नमः
कल्याण्यै
कल्याणगुणशालिन्यै
कल्याणशैलनिलयायै
कमनीयायै
कलावत्यै
कमलाक्ष्यै
कल्मषघ्न्यै
करुणामृतसागरायै
कदम्बकाननावासायै १०
कदम्बकुसुमप्रियायै
कन्दर्पविद्यायै
कन्दर्पजनकापाङ्गवीक्षणायै
कर्पूरवीटीसौरभ्यकल्लोलित-
ककुप्तटायै
ॐ कलिदोषहरायै नमः
कञ्जलोचनायै
कम्रविग्रहायै
कर्मादिसाक्षिण्यै
कारयित्र्यै
कर्मफलप्रदायै २०
एकाररूपायै
एकाक्षर्यै
एकानेकाक्षराकृत्यै
एतत्तदित्यनिर्देश्यायै
एकानन्दचिदाकृत्यै
एवमित्यागमाबोध्यायै
एकभक्तिमदर्चितायै
एकाग्रचित्तनिर्ध्यातायै
एषणारहितादृतायै

ॐ एलासुगन्धिचिकुरायै नमः ३०
एनःकूटविनाशिन्यै
एकभोगायै
एकरसायै
एकैश्वर्यप्रदायिन्यै
एकातपत्रसाम्राज्यप्रदायै
एकान्तपूजितायै
एधमानप्रभायै
एजदनेकजगदीश्वर्यै
एकवीरादिसंसेव्यायै
एकप्राभवशालिन्यै ४०
ईकाररूपायै
ईशित्र्यै
ईप्सितार्थप्रदायिन्यै
ईदृगित्यविनिर्देश्यायै
ईश्वरत्वविधायिन्यै
ईशानादिब्रह्ममय्यै
ईशित्वाद्यष्टसिद्धिदायै
ईक्षित्र्यै
ईक्षणसृष्टाण्डकोट्यै
ईश्वरवल्लभायै
ईडितायै ५०
ईश्वरार्धाङ्गशरीरायै
ईशाधिदेवतायै
ईश्वरप्रेरणकर्यै
ईशताण्डवसाक्षिण्यै
ईश्वरोत्सङ्गनिलयायै
ईतिबाधाविनाशिन्यै
ईहाविरहितायै
ईशशक्त्यै
ईषत्स्मिताननायै

ॐ लकाररूपायै नमः ६०
ललितायै
लक्ष्मीवाणीनिषेवितायै
लाकिन्यै
ललनारूपायै
लसद्दाडिमपाटलायै
ललन्तिकालसत्फालायै
ललाटनयनार्चितायै
लक्षणोज्ज्वलदिव्याङ्ग्यै
लक्षकोट्यण्डनायिकायै ७०
लक्ष्यार्थायै
लक्षणागम्यायै
लब्धकामायै
लतातनवे
ललामराजदलिकायै
लम्बिमुक्तालताञ्चितायै
लम्बोदरप्रसुवे
लभ्यायै
लज्जाढ्यायै
लयवर्जितायै ८०
ह्रींकाररूपायै
ह्रींकारनिलयायै
ह्रींपदप्रियायै
ह्रींकारबीजायै
ह्रींकारमन्त्रायै
ह्रींकारलक्षणायै
ह्रींकारजपसुप्रीतायै
ह्रींमत्यै
ह्रींविभूषणायै
ह्रींशीलायै ९०
ह्रींपदाराध्यायै

ॐ ह्रींगर्भायै नमः
ह्रींपदाभिधायै
ह्रींकारवाच्यायै
ह्रींकारपूज्यायै
ह्रींकारपीठिकायै
ह्रींकारवेद्यायै
ह्रींकारचिन्त्यायै
ह्रीं
ह्रींशरीरिण्यै १००
हकाररूपायै
हलधृक्पूजितायै
हरिणेक्षणायै
हरप्रियायै
हराराध्यायै
हरिब्रह्मेन्द्रवन्दितायै
हयारूढासेवितांघ्र्यै
हयमेधसमर्चितायै
हर्यक्षवाहनायै
हंसवाहनायै ११०
हतदानवायै
हत्यादिपापशमन्यै
हरिदश्वादिसेवितायै
हस्तिकुम्भोत्तुङ्गकुचायै
हस्तिकृत्तिप्रियाङ्गनायै
हरिद्राकुङ्कुमदिग्धायै
हर्यश्वाद्यमरार्चितायै
हरिकेशसख्यै
हादिविद्यायै
हालामदालसायै १२०
सकाररूपायै
सर्वज्ञायै

ॐ सर्वेश्यै नमः
सर्वमङ्गलायै
सर्वकर्त्र्यै
सर्वभर्त्र्यै
सर्वहर्त्र्यै
सनातान्यै
सर्वानवद्यायै
सर्वाङ्गसुन्दर्यै १३०
सर्वसाक्षिण्यै
सर्वात्मिकायै
सर्वसौख्यदात्र्यै
सर्वविमोहिन्यै
सर्वाधारायै
सर्वगतायै
सर्वावगुणवर्जितायै
सर्वारुणायै
सर्वमात्रे
सर्वभूषणभूषितायै १४०
ककारार्थायै
कालहन्त्र्यै
कामेश्यै
कामितार्थदायै
कामसञ्जीविन्यै
कल्यायै
कठिनस्तनमण्डलायै
करभोरवे
कलानाथमुख्यै
कचजिताम्बुदायै १५०
कटाक्षस्यन्दिकरुणायै
कपालिप्राणनायिकायै
कारुण्यविग्रहायै

ॐ कान्तायै नमः
कान्तिधूतजपावल्यै
कलालापायै
कम्बुकण्ठ्यै
करनिर्जितपल्लवायै
कल्पवल्लीसमभुजायै
कस्तूरीतिलकाञ्चितायै १६०
हकारार्थायै
हंसगत्यै
हाटकाभरणोज्ज्वलायै
हारहारिकुचाभोगायै
हाकिन्यै
हल्यवर्जितायै
हरित्पतिसमाराध्यायै
हठात्कारहतासुरायै
हर्षप्रदायै
हविर्भोक्त्र्यै १७०
हार्दसन्तमसापहायै
हल्लीसलास्यसन्तुष्टायै
हंसमन्त्रार्थरूपिण्यै
हानोपादाननिर्मुक्तायै
हर्षिण्यै
हरिसोदर्यै
हाहाहूहूमुखस्तुत्यायै
हानिवृद्धिविवर्जितायै
हय्यङ्गवीनहृदयायै
हरिगोपारुणांशुकायै १८०
लकाराख्यायै
लतापूज्यायै
लयस्थित्युद्भवेश्वर्यै
लास्यदर्शनसन्तुष्टायै
ॐ लाभालाभविवर्जितायै नमः
लंघ्येतराज्ञायै
लावण्यशालिन्यै
लघुसिद्धिदायै
लाक्षारससवर्णाभायै
लक्ष्मणाग्रजपूजितायै १९०
लभ्येतरायै
लब्धभक्तिसुलभायै
लांगलायुधायै
लग्नचामरहस्तश्रीशारदापरि-
वीजितायै
लज्जापदसमाराध्यायै
लम्पटायै
लकुलेश्वर्यै
लब्धमानायै
लब्धरसायै
लब्धसम्पत्समुन्नत्यै २००
ह्रींकारिण्यै
ह्रींकाराद्यायै
ह्रींमध्यायै
ह्रींशिखामणये
ह्रींकारकुण्डाग्निशिखायै
ह्रींकारशशिचन्द्रिकायै
ह्रींकारभास्कररुच्यै
ह्रींकाराम्भोदचञ्चलायै
ह्रींङ्कारकन्दाङ्कुरिकायै
ह्रींकारैकपरायणायै २१०
ह्रींकारदीर्घिकाहंस्यै
ह्रींकारोद्यानकेकिन्यै
ह्रींङ्कारारण्यहरिण्यै
ह्रींङ्कारावालवल्लर्यै

ॐ ह्रींङ्कारपञ्जरशुक्यै नमः
ह्रींकाराङ्गणदीपिकायै
ह्रींङ्कारकन्दरासिंह्यै
ह्रींकाराम्भोजभृङ्गिकायै
ह्रींङ्कारसुमनोमाध्व्यै
ह्रींकारतरुमञ्जर्यै २२०
सकाराख्यायै
समरसायै
सकलागमसंस्तुतायै
सर्ववेदान्ततात्पर्यभूमये
सदसदाश्रयायै
सकलायै
सच्चिदानन्दायै
साध्यायै
सद्गतिदायिन्यै
सनकादिमुनिध्येयायै २३०
सदाशिवकुटुम्बिन्यै
सकलाधिष्ठानरूपायै
सत्यरूपायै
समाकृत्यै
सर्वप्रपञ्चनिर्मात्र्यै
समानाधिकवर्जितायै
सर्वोत्तुङ्गायै
सङ्गहीनायै
सगुणायै
सकलेष्टदायै २४०
ककारिण्यै

ॐ काव्यलोलायै नमः
कामेश्वरमनोहरायै
कामेश्वरप्राणानाड्यै
कामेशोत्सङ्गवासिन्यै
कामेश्वरालिंगितांग्यै
कामेश्वरसुखप्रदायै
कामेश्वरप्रणयिन्यै
कामेश्वरविलासिन्यै
कामेश्वरतपस्सिद्ध्यै २५०
कामेश्वरमनःप्रियायै
कामेश्वरप्राणनाथायै
कामेश्वरविमोहिन्यै
कामेश्वरब्रह्मविद्यायै
कामेश्वरगृहेश्वर्यै
कामेश्वराह्लादकर्यै
कामेश्वरमहेश्वर्यै
कामेश्वर्यै
कामकोटिनिलयायै
कांक्षितार्थदायै २६०
लकारिण्यै
लब्धरूपायै
लब्धधिये
लब्धवांछितायै
लब्धपापमनोदूरायै
लब्धाहङ्कारदुर्गमायै
लब्धशक्त्यै
लब्धदेहायै

ॐ लब्धैश्वर्यसमुन्नत्यै नमः
लब्धवृद्धये २७०
लब्धलीलायै
लब्धयौवनशालिन्यै
लब्धातिशयसर्वांगसौन्दर्यायै
लब्धविभ्रमायै
लब्धरागायै
लब्धपतये
लब्धनानागमस्थित्यै
लब्धभोगायै
लब्धसुखायै
लब्धहर्षाभिपूरितायै २८०
ह्लींकारमूर्तये
ह्लींकारसौधशृङ्गकपोतिकायै
ह्लींकारदुग्धाब्धिसुधायै
ह्लींकारकमलेन्दिरायै
ह्लींकारमणिदीपार्चिषे

ॐ ह्लींकारतरुशारिकायै नमः
ह्लींकारपेटकमणये
ह्लींकारादर्शबिंबितायै
ह्लींकारकोशासिलतायै
ह्लींकारस्थाननर्तक्यै २९०
ह्लींकारशुक्तिकामुक्तामणये
ह्लींकारबोधितायै
ह्लींकारमणिसौवर्णस्तंभविद्रुम-पुत्रिकायै
ह्लींकारवेदोपनिषदे
ह्लींकाराध्वरदक्षिणायै
ह्लींकारनन्दनारामनवकल्पक-वल्लर्यै
ह्लींकारहिमवद्गङ्गायै
ह्लींकारार्णवकौस्तुभायै
ह्लींकारमन्त्रसर्वस्वायै
ह्लींकारपरसौख्यदायै ३००

ॐ, ऐं, ह्लीं, श्रीं, श्रीमद्राजराजेश्वर्यै नमः

समाप्तम्

अथ महायाग-क्रमः

भद्रंकर्णेभिरितिशान्तिः

भावनोपनिषत् प्रयोगविधिसमेता

१. श्रीगुरुस्सर्वकारणभूता शक्तिः ॥ २. तेन नवरन्ध्ररूपो देहः ॥

३. नवचक्ररूपं श्रीचक्रम् ॥ ४. वाराहीपितृरूपा कुरुकुल्ला बलिदेवतामाता ॥

५. पुरुषार्थास्सागराः ॥ ६. देहो नवरत्नद्वीपः ॥

७. त्वगादिसप्तधातुरोमसंयुक्तः ॥

८. सङ्कल्पाः कल्पतरवः तेजः कल्पकोद्यानम् ॥

९. रसनया भाव्यमाना मधुराम्लतिक्तकटुकषायलवणरसाः षडृतवः ॥

१०. ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविः ज्ञाता होता ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम् ॥

११. नियतिश्शृङ्गारादयो रसा अणिमादिसिद्धयः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यपुण्यपापमय्यो ब्राह्म्याद्यष्टशक्तयः ।

१२. आधारनवकं मुद्राशक्तयः ॥

१३. पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशश्रोत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थानि मनोविकारः कामाकर्षिण्यादिषोडशशक्तयः ॥

१४. वचनादानगमनविसर्गानन्दहानोपादानोपेक्षाख्यबुद्धयोऽनङ्गकुसुमाद्यष्टौ ॥

१५. अलम्बुसा कुहूर्विश्वोदरा वारुणी हस्तिजिह्वा यशोवती पयस्विनी गान्धारीपूषा शंखिनी सरस्वती इडा पिङ्गला सुषुम्ना चेति चतुर्दशनाड्यः सर्वसंक्षोभिण्यादिचतुर्दशशक्तयः ॥

१६. प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया दशवायवस्सर्वसिद्धिप्रदादिवहिर्दशारदेवताः ॥

१७. एतद्वायुसंसर्गकोपाधिभेदेन रेचकः पाचकश्शोषको दाहकः प्लावक इति प्राणमुख्यत्वेन पञ्चधा जठराग्निर्भवति ॥

१८. क्षारक उद्गारकः क्षोभको जृम्भको मोहकः इति नागप्राधान्येन पञ्च-विधास्ते मनुष्याणां देहगाः भक्ष्यभोज्यचोष्यलेह्यपेयात्मकपञ्चविधमन्नं पाचयन्ति ॥

१९. एता दशवह्निकलास्सर्वज्ञाद्या अन्तर्दशारगा देवताः ॥

२०. शीतोष्णसुखदुःखेच्छास्सत्वरजस्तमोगुणाः वशिन्यादिशक्तयोऽष्टौ ॥

२१. शब्दादितन्मात्राः पञ्चपुष्पबाणाः ॥

२२. मन इक्षुधनुः २३. रागः पाशः २४. द्वेषोंऽकुशः ॥

२५. अव्यक्तमहदहङ्काराः कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्योऽन्तस्त्रिकोणगा देवताः ।

२६. निरुपाधिकीसंविदेव कामेश्वरः ॥

२७. सदानन्दपूर्णः स्वात्मैव परदेवता ललिता ॥

२८. लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः

२९. अनन्यचित्तत्वेन च सिद्धिः ॥ ३०. भावनायाः क्रिया उपचाराः ॥

३१. अहं त्वमस्ति नास्ति कर्तव्यमकर्तव्यमुपासितव्यमित्यादि विकल्पानां आत्मनि विलापनं होमः ॥

३२. भावनाविषयाणामभेदभावनन्तर्पणम् ॥

३३. पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनम् पञ्चदश नित्याः ॥

३४. एवं मुहूर्त्तत्रितयं मुहूर्त्तद्वितयं मुहूर्त्तमात्रं वा भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति स एव शिवयोगीति गद्यते ॥

३५. कादिमतेनान्तश्चक्रभावनाः प्रतिपादिताः ॥

३६. य एवं वेद सोऽथर्वशिरोऽधीते ॥ इति भावनोपनिषत् ।

अथ भावनोपनिषदा मुक्त्यै या भावनाः कथिताः ।
भास्कररायो रचयति तासामेवं प्रयोगविधिम् ।

प्रयोगविधिः

मूलेन प्राणानायम्य ऋष्यादिन्यासत्रयं कृत्वा ।
विवेकवृत्यवच्छिन्नचिच्छक्तिरूपसुषुम्नात्मने श्रीगुरवे नमः ।

(इति ब्रह्मरन्ध्रं स्पृष्ट्वा)

दक्षश्रोत्ररूपपयस्विन्यात्मने प्रकाशानन्दनाथाय नमः ।
वामश्रोत्ररूपशङ्खिन्यात्मने विमर्शानन्दनाथाय नमः ।
जिह्वारूपसरस्वत्यात्मने अनन्तानन्दनाथाय नमः ।
दक्षनेत्ररूपपूषात्मने ज्ञानानन्दनाथाय नमः ।
वामनेत्ररूपगान्धार्यात्मने सत्यानन्दनाथाय नमः ।
ध्वजरूपकुहूात्मने पूर्णानन्दनाथाय नमः ।
दक्षनासारूपपिंगलात्मने स्वभावानन्दनाथाय नमः ।
वामनासारूपेडात्मने प्रतिभानन्दनाथाय नमः ।
पायुरूपालम्वुसात्मने सहजानन्दनाथाय नमः ।

(इति तत्तत्स्थानानि संस्पृश्य)

नवचक्ररूपश्रीचक्रात्मने देहाय नमः ।
पितृरूपास्थ्याद्यवयवात्मने वाराह्यै नमः ।
मातृरूपमांसाद्यवयवात्मने बलिदेवतायै कुरुकुल्लायै नमः ।

(इति त्रिर्व्यापकं कृत्वा)

देहपश्चाद्भागरूपधर्मात्मने इक्षुसागराय नमः
देहदक्षिणभागरूपार्थात्मने सुरासागराय नमः
देहप्राग्भागरूपकामात्मने घृतसागराय नमः
देहोदग्भागरूपमोक्षात्मने क्षीरसागराय नमः
देहात्मने नवरत्नद्वीपाय नमः (इति त्रिर्व्यापकं कृत्वा)

१. मांसात्मने पुष्परागरत्नद्वीपाय नमः २. रोमात्मने नीलरत्नद्वीपाय नमः
३. त्वगात्मने वैडूर्यरत्नद्वीपाय नमः ४. रुधिरात्मने विद्रुमरत्नद्वीपाय नमः
५. शुक्रात्मने मौक्तिकरत्नद्वीपाय नमः ६. मज्जात्मने मरकतरत्नद्वीपाय नमः
७. अस्थ्यात्मने वज्ररत्नद्वीपाय नमः ८. मेदात्मने गोमेदकरत्नद्वीपाय नमः
९. ओज आत्मने पद्मरागरत्नद्वीपाय नमः

१. मांसाधिदेवतायै कालचक्रेश्वर्यै नमः २. रोमाधिदेवतायै रुद्रचक्रेश्वर्यै नमः
३. त्वगधिदेवतायै मतृचक्रेश्वर्यै नमः ४. रुधिराधिदेवतायै रत्नचक्रेश्वर्यै नमः
५. शुक्राधिदेवतायै दशाचक्रेश्वर्यै नमः ६. मज्जाधिदेवतायै गुरुचक्रेश्वर्यै नमः
७. अस्थ्यधिदेवतायै तत्वचक्रेश्वर्यै नमः ८. मेदोऽधिदेवतायै ग्रहचक्रेश्वर्यै नमः
९. ओजोऽधिदेवतायै मूर्तिचक्रेश्वर्यै नमः

सङ्कल्पात्मभ्यः कल्पतरुभ्यो नमः। तेज आत्मने कल्पकोद्यानाय नमः ॥
मधुररसात्मने वसन्तर्तवे नमः। अम्लरसात्मने ग्रीष्मर्तवे नमः ॥
तिक्तरसात्मने वर्षर्तवे नमः ! कटुरसात्मने शरदृतवे नमः ॥
कषायरसात्मने हेमन्तर्तवे नमः। लवणरसात्मने शिशिरर्तवे नमः ॥
इन्द्रियात्मभ्योऽश्वेभ्यो नमः। इन्द्रियार्थात्मभ्यो गजेभ्यो नमः ॥
करुणात्मिकायैतोयपरिखायै नमः। ओजपूञ्जात्मने माणिक्यमण्डपाय नमः ॥
ज्ञानात्मने विदोषार्घ्याय नमः। ज्ञेयात्मने हविषे नमः ॥
ज्ञात्रात्मने होत्रे नमः। चिदात्मने श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः ॥

(इति तत्तदनुसन्धानपूर्वकं मनसा नत्वा ज्ञातृज्ञानज्ञेयानां नामरूपविलापनानुसन्धानेन चिन्मात्ररूपताविभावनेन क्षणं विश्रम्य)

पञ्चदश नित्या यजेत्। हृदि हस्तं निधाय।
(१. त्रिपुरा २. त्रिपुरेशी ३. त्रिपुरसुन्दरी ४. त्रिपुरवासिनी ५. त्रिपुराश्रीः ६. त्रिपुरमालिनी ७. त्रिपुरासिद्धा ८. त्रिपुराम्बा ९. महात्रिपुरसुन्दरी, इति मतान्तरे चक्रेश्वरीनवकमाम्नातम्)

चत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मनेप्रतिपत्तिथिरूपकामेश्वरीनित्यायै नमः ॥
तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
द्वितीयातिथिरूपभगमालिनीनित्यायै नमः ॥
तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
तृतीयातिथिरूपनित्यक्लीन्नानित्यायै नमः ॥
तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
चतुर्थीतिथिरूपभेरुण्डानित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
पञ्चमीतिथिरूपवह्निवासिनीनित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
षष्ठीतिथिरूपमहावज्रेश्वरीनित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
सप्तमीतिथिरूपशिवदूतीनित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
अष्टमीतिथिरूपत्वरितानित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
नवमीतिथिरूपकुलसुन्दरीनित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
दशमीतिथिरूपनित्यानित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
एकादशीतिथिरूपनीलपताकानित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
द्वादशीतिथिरूपविजयानित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
त्रयोदशीतिथिरूपसर्वमङ्गलानित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
चतुर्दशीतिथिरूपज्वालामालिनीनित्यायै नमः ॥

तदुत्तरचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतश्वासात्मने
पौर्णमासीतिथिरूपचित्रानित्यायै नमः ॥

(नित्यामन्त्रानपि तत्तदादौ केचित्पठन्ति इयं नित्याभावना सर्वान्त एव वा कार्या)

चतुरस्राद्यरेखायै नमः इति वक्ष्यमाणस्थानेषु व्यापकं न्यस्य ॥

दक्षांसपृष्ठरूपशान्तरसात्मने अणिमासिद्ध्यै नमः

दक्षपाण्यङ्गुल्यग्ररूपाद्भुतरसात्मने लघिमासिद्ध्यै नमः
दक्षस्फिग्रूपकरुणरसात्मने महिमासिद्ध्यै नमः
दक्षपादाङ्गुल्यग्ररूपवीररसात्मने ईशित्वसिद्ध्यै नमः
वामपादाङ्गुल्यग्ररूपहास्यरसात्मने वशित्वसिद्ध्यै नमः
वामस्फिग्रूपबीभत्सरसात्मने प्राकाम्यसिद्ध्यै नमः
वामपाण्यङ्गुल्यग्ररूपरौद्ररसात्मने भुक्तिसिद्ध्यै नमः
वामांसपृष्ठरूपभयानकरसात्मने इच्छासिद्ध्यै नमः
चूलीमूलरूपशृङ्गाररसात्मने प्राप्तिसिद्ध्यै नमः (कर्णमूले)
चूलीपृष्ठरूपनियत्यात्मने सर्वकामसिद्ध्यै नमः
चतुरस्रमध्यरेखायै नमः इति (तदन्तर्व्यापकं न्यस्य)
पादाङ्गुष्ठद्वयरूपकामात्मने ब्राह्म्यै नमः
दक्षपार्श्वरूपक्रोधात्मने माहेश्वर्यै नमः
मूर्धरूपलोभात्मने कौमार्यै नमः
वामपार्श्वरूपमोहात्मने वैष्णव्यै नमः
वामजानुरूपमदात्मने वाराह्यै नमः
दक्षजानुरूपमात्सर्यात्मने इन्द्राण्यै नमः
दक्षबहिरंसरूपपुण्यात्मने चामुण्डायै नमः
वामबहिरंसरूपपापात्मने महालक्ष्म्यै नमः
चतुरश्रान्त्यरेखायै नमः (इतितदन्तर्व्यापकं न्यस्य) पादाङ्गुष्ठद्वयरूपाधः-
सहस्रदलकमलात्मने सर्वसंक्षोभिणीमुद्रायै नमः
दक्षपार्श्वरूपमूलाधारात्मने सर्वविद्राविणीमुद्राशक्त्यै नमः
मूर्धरूपस्वाधिष्ठानात्मने सर्वाकर्षिणीमुद्राशक्त्यै नमः
वामपार्श्वरूपमणिपूरात्मने सर्ववशङ्करीमुद्राशक्त्यै नमः
वामजानुरूपानाहतात्मने सर्वोन्मादिनीमुद्राशक्त्यै नमः
दक्षजानुरूपविशुद्ध्यात्मने सर्वमहाङ्कुशामुद्राशक्त्यै नमः
दक्षोरुरूपेन्द्रयोन्यात्मने सर्वखेचरीमुद्राशक्त्यै नमः

वामोरुरूपाज्ञात्मने सर्वबीजमुद्राशक्त्यै नमः
द्वादशान्तरूपोर्ध्वसहस्रदलकमलात्मने सर्वयोनिमुद्रायै नमः
पादाङ्गुष्ठरूपाधारनवकात्मने सर्वत्रिखण्डामुद्रायै नमः
हृद्रूपत्रैलोक्यमोहनचक्रेश्वर्यै त्रिपुरायै नमः इति तत्तत्स्थानानि स्पृष्ट्वा एता-स्सर्वास्स्वात्माभिन्नत्वेन विभाव्य आत्मनः अपरिच्छिन्नत्वं भावयेत् ।
प्रकटयोगिनीरूपस्वात्मने अणिमासिद्धयै नमः ॥
अपरिच्छिन्नस्वात्माने सर्वसंक्षोभिणीमुद्रायै नमः ॥
इति प्रयोगपूर्वकं वा भिवावयेत् ॥

षोडशदलपद्माय नमः इति तदन्तर्व्यापकं न्यस्य
दक्षश्रोत्रपृष्ठरूपपृथिव्यात्मने कामकर्षिणीनित्याकलायै नमः
दक्षांसरूपवारात्मने बुद्ध्याकर्षिणीनित्याकलायै नमः
दक्षकूर्पररूपतेज आत्मने अहङ्कारार्किषिणीनित्याकलायै नमः
दक्षकरपृष्ठरूपवाय्वात्मने शब्दाकर्षिणी नित्याकलायै नमः
दक्षोरुरूपाकाशात्मने स्पर्शाकर्षिणीनित्याकलायै नमः
दक्षजानुरूपश्रोत्रात्मने रूपाकर्षिणीनित्याकलायै नमः
दक्षगुल्फरूपत्वगात्मने रसाकर्षिणीनित्याकलायै नमः
दक्षपादतलरूपचक्षुरात्मने गन्धाकर्षिणीनित्याकलायै नमः
वामपादतलरूपजिह्वात्मने चित्ताकर्षिणीनित्याकलायै नमः
वामगुल्फरूपघ्राणात्मने धैर्याकर्षिणीनित्याकलायै नमः
वामजानुरूपवागात्मने स्मृत्याकर्षिणीनित्याकलायै नमः
वामोरुरूपपाण्यात्मने नामाकर्षिणीनित्याकलायै नमः
वामकरपृष्ठरूपपादात्मने बीजाकर्षिणीनित्याकलायै नमः
वामकूर्पररूपपाय्वात्मने अत्माकर्षिणीनित्याकलायै नमः
वामांसरूपोपस्थात्मने अमृताकर्षिणीनित्याकलायै नमः
वामश्रोत्रपृष्ठरूपविकृतमनआत्मने शरीराकर्षिणीनित्याकलायै नमः
हृद्रूपसर्वाशापरिपूरकचक्रेश्वर्यै त्रिपुरेश्वर्यै नमः ॥

गुप्तयोगिनीरूपस्वात्मने लघिमासिद्धयै नमः ॥
अपरिच्छन्नरूपस्वात्मने सर्वविद्राविणीमुद्रायै नमः
अष्टदलपद्माय नमः इति तदन्तर्व्यापकं न्यस्य,
दक्षशङ्खरूपवचनात्मने अनङ्गकुसुमायै नमः (कपालास्थि)
दक्षजत्रुरूपादानात्मने अनङ्गमेखलायै नमः (स्कन्धसन्धि)
दक्षोरुरूपगमनात्मने अनङ्गमदनायै नमः
दक्षगुल्फरूपविसर्गात्मने अनङ्गमदनातुरायै नमः
वामगुल्फरूपानन्दात्मने अनङ्गरेखायै नमः
वामोरुरूपहानाख्यबुद्धयात्मने अनङ्गवेगायै नमः
वामजत्रुरूपोपादानाख्यबुद्धयात्मने अनङ्गाङ्कुशायै नमः
वामशङ्खरूपोपेक्षाख्यबुद्धयात्मने अनङ्गमालिन्यै नमः
हृद्रूपसर्वसंक्षोभणचक्रेश्वर्यै त्रिपुरसुन्दर्यै नमः ।
गुप्ततरयोगिनीरूपस्वात्मात्मने महिमासिद्धयै नमः ।
अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वाकर्षिणीमुद्रायै नमः ।
चतुर्दशारचक्राय नमः (इति तदन्तर्व्यापकं न्यस्य) ।
ललाटमध्यभागरूपालंबुसात्मने सर्वसंक्षोभिणीशक्त्यै नमः ।
ललाटदक्षभागरूपकुहूात्मने सर्वविद्राविणीशक्त्यै नमः ।
दक्षगण्डरूपविश्वोदरात्मने सर्वाकर्षिणीशक्त्यै नमः ॥
दक्षांसरूपवारुण्यात्मने सर्वाह्लादिनीशक्त्यै नमः ॥
दक्षपार्श्वरूपहस्तिजिह्वात्मने सर्वसंमोहिनीशक्त्यै नमः ॥
दक्षोरुरूपयशोवत्यात्मने सर्वस्तंभिनीशक्त्यै नमः ॥
दक्षजंघारूपपयस्विन्यात्मने सर्वजृम्भिणीशक्त्यै नमः ॥
वामजंघारूपगान्धार्यात्मने सर्ववशङ्करीशक्त्यै नमः ॥
वामोरुरूपपूषात्मने सर्वरञ्जिनी शक्त्यै नमः ॥
वामपार्श्वरूपशंखिन्यात्मने सर्वोन्मादिनीशक्त्यै नमः ।
वामांसरूपसरस्वत्यात्मने सर्वार्थसाधिनीशक्त्यै नमः ॥

वामगण्डरूपेडात्मने सर्वसंपत्तिपूरणीशक्त्यै नमः ॥
ललाटवामभागरूपपिंगलात्मने सर्वमन्त्रमयीशक्त्यै नमः ॥
लालटपृष्ठभागरूप सुषुम्नात्मने सर्वद्वन्द्वक्षयङ्करी शक्त्यै नमः ॥
हृद्रूपसर्वसौभाग्यदायकचक्रेश्वर्यै त्रिपुरवासिन्यै नमः ॥
सम्प्रदाययोगिनीरूपस्वात्मात्मने ईशित्वसिद्धयै नमः ॥
अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्ववशङ्करीमुद्रायै नमः ॥
बहिर्दशारचक्राय नमः इति व्यापकं न्यस्य ॥
दक्षाक्षिरूपप्राणात्मने सर्वसिद्धिप्रदादेव्यै नमः ॥
नासामूलरूपापानात्मने सर्वसम्पत्प्रदादेव्यै नमः ॥
वामनेत्ररूपव्यानात्मने सर्वप्रियङ्करीदेव्यै नमः ॥
कुक्षीशकोणरूपोदानात्मने सर्वमङ्गलकारिणीदेव्यै नमः ॥
कुक्षिवायुकोणरूपसमानात्मने सर्वकामप्रदादेव्यै नमः ॥
वामजानुरूपनागात्मने सर्वदुःखविमोचिनीदेव्यै नमः ॥
गुदरूपकूर्मात्मने सर्वमृत्युप्रशमनीदेव्यै नमः ॥
दक्षजानुरूपकृकरात्मने सर्वविघ्नविनाशिनीदेव्यै नमः ॥
कुक्षिनिर्ऋतिकोणरूपदेवदत्तात्मने सर्वांगसुन्दरीदेव्यै नमः ॥
कुक्षिवह्निकोणरूपधनञ्जयात्मने सर्वसौभाग्यदायिनीदेव्यै नमः ॥
हृद्रूपसर्वार्थसाधकचक्रेश्वर्यै त्रिपुराश्रियै नमः ॥
कुलकौलयोगिनीरूपस्वात्मात्मने वशित्वसिद्ध्यै नमः
अपरिच्छिन्नस्वात्मात्मने सर्वोन्मादिनीमुद्रायै नमः ॥
अन्तर्दशारचक्राय नमः इति (तदन्तर्व्यापकं न्यस्य) ॥
दक्षनासारूपरेचकाग्न्यात्मने सर्वज्ञादेव्यै नमः ॥
दक्षसृक्वीणीरूपपाचकाग्न्यात्मने सर्वशक्तिदेव्यै नमः ॥ (ओष्ठप्रान्ते)
दक्षस्तनरूपशोषकाग्न्यात्मने सर्वैश्वर्यप्रदादेव्यै नमः ॥
दक्षवृषणरूपदाहकाग्न्यात्मने सर्वज्ञानमयीदेव्यै नमः ॥
सीविनीरूपप्लवकाग्न्यात्मने सर्वव्याधिविनाशिनीदेव्यै नमः ॥

वामवृषणरूपक्षारकाग्न्यात्मने सर्वाधारस्वरूपादेव्यै नमः ॥
वामस्तनरूपोद्गारकाग्न्यात्मने सर्वपापहरादेव्यै नमः ॥
वामसृक्किरूपक्षोभकाग्न्यात्मने सर्वानन्दमयीदेव्यै नमः ॥
वामनासारूपजृम्भकाग्न्यात्मने सर्वरक्षास्वरूपिणीदेव्यै नमः ॥
नासाग्ररूपमोहकाग्न्यात्मने सर्वेप्सितफलप्रदादेव्यै नमः ॥
हृद्रूपसर्वरक्षाकरचक्रेश्वर्यै त्रिपुरमालिन्यै नमः ॥
निगर्भयोगिनीरूपस्वात्मात्मने प्राकाम्यसिद्ध्यै नमः ॥
अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वमहाङ्कुशामुद्रायै नमः ॥
अष्टकोणचक्राय नमः (इति तदन्तर्व्यापकं न्यस्य) ॥
चिबुकदक्षभागरूपशीतात्मने वशिनीवाग्देवतायै नमः ॥
कण्ठदक्षभागरूपोष्णात्मने कामेश्वरीवाग्देवतायै नमः ॥
हृदयदक्षभागरूपसुखात्मने मोदिनीवाग्देवतायै नमः ॥
नाभिदक्षभागरूपदुःखात्मने विमलावाग्देवतायै नमः ॥
नाभिवामभागरूपेच्छात्मने अरुणावाग्देवतायै नमः ॥
हृदयवामभागरूपसत्वगुणात्मने जयिनीवाग्देवतायै नमः ॥
कण्ठवामभागरूपरजोगुणात्मने सर्वेश्वरीवाग्देवतायै नमः ॥
चिबुकवामभागरूपतमोगुणात्मने कौलिनीवाग्देवतायै नमः ॥
हृद्रूपसर्वरोगहरचक्रेश्वर्यै त्रिपुरासिद्धायै नमः ॥
रहस्ययोगिनीरूपस्वात्मात्मने भुक्तिसिद्ध्यै नमः ॥
अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वखेचरीमुद्रायै नमः ॥
हृदयत्रिकोणाधोभागरूपपञ्चतन्मात्रात्मकेभ्यः सर्वजृम्भणबाणेभ्यो नमः ॥
तद्दक्षभागरूपमनआत्मकाभ्यां सर्वसंमोहनधनुर्भ्यां नमः ॥
तदूर्ध्वभागरूपरागात्मकाभ्यां सर्ववशङ्करपाशाभ्यां नमः ॥
तद्वामभागरूपद्वेषात्मकाभ्यां सर्वस्तम्भकराङ्कुशाभ्यां नमः ॥
त्रिकोणचक्राय नमः इति व्यापकं न्यस्य,
हृदयत्रिकोणाग्रभागरूपमहत्तत्वात्मने कामेश्वर्यै देव्यै नमः ॥

तद्दक्षकोणरूपाहङ्कारात्मने वज्रेश्वर्यै देव्यै नमः ॥
तद्वामकोणरूपाव्यक्तात्मने भगमालिनीदेव्यै नमः ॥
हृद्रूपसर्वसिद्धिप्रदचक्रेश्वर्यै त्रिपुराम्बायै नमः ॥
अतिरहस्ययोगिनीरूपस्वात्मात्मने इच्छासिद्ध्यै नमः ॥
अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वबीजमुद्रायै नमः ॥
बिन्दुचक्राय नम इति (व्यापकं न्यस्य),
हृन्मध्यरूपनिरूपाधिकसंविन्मात्ररूपकामेश्वराङ्कनिलयायै सच्चिदानन्दैक-ब्रह्मात्मिकायै परदेवतायै ललितायै महात्रिपुरसुन्दर्यै नमः ॥
निरुपाधिकचैतन्यमेव सच्चिदानन्दात्मकमन्तःकरणप्रतिबिंबितसत्तदहमेवे-त्यनुसन्धानं ललिताया लौहित्यमिति विभाव्य ॥
अभेदसंबन्धेन सत्वचित्वादिविशिष्टसंविदः केवलसंविदश्च तादात्म्यसम्बन्ध-रूपं कामेश्वराङ्कयन्त्रणं विशेषणं विभाव्य ॥
उपाध्यभावरूपशुक्लत्वोपलक्षिता सती शुद्धसंविदेव शुक्लचरणः ॥
चित्वविशिष्टसंवित्प्राथमिकपराहन्तात्मकमृत्युरूपेण
रागेणोपलक्षितासतीरक्तचरणः ।
अहमाकारवृत्तिनिरूपिता विषयता चरणयोर्मिथो
विशेष्यविशेषणभावरूपैव तदुभयसामरस्यमिति विभाव्य ॥
हृद्रूपसर्वानन्दमयचक्रेश्वर्यै महात्रिपुरसुन्दर्यै नमः ॥
परापररहस्ययोगिनीरूपस्वात्मात्मने प्राप्तिसिद्ध्यै नमः ।
अपरिच्छिन्नरूपस्वात्मात्मने सर्वयोनिमुद्रायै नमः ॥
इति तत्तत्स्थानस्पर्शपूर्वकं सम्यगनुसन्धायोपचारान् समर्पयेत् ॥
तद्यथा एवमपरिच्छन्नतया भाविताया ललितायाः स्वेमहिम्न्येवप्रतिष्ठित-मानसमनुसन्दधामि ॥
वियदादिस्थूलप्रपञ्चरूपपादगतनामरूपात्मकमलस्य सच्चिदानन्दैकरूपत्व-भावनाजलेन क्षालनं पाद्यं भावयामि ॥
सूक्ष्मप्रपञ्चरूपहस्तगतस्य तस्य क्षालनमर्घ्यं चिन्तयामि ॥

भावनारूपाणामपामपि कवलीकाररूपमाचमनं भावयामि ॥

सत्त्वचित्त्वानन्दत्वाद्यखिलावयवाच्छेदेन भावनाजलसम्पर्करूपं स्मानमनुचिन्तयामि । तेष्वेवावयवेषु प्रसक्ताया भावनामत्मकवृत्तिविशेष्यतायाः प्रोञ्छनं वृत्त्यविषयत्वभावनेन वस्त्रं कल्पयामि ॥

निर्विषयत्वनिरञ्जनत्वाशोकत्वामृतत्वाद्यनेकधर्मरूप्याभरणानि धर्म्यभेदभावभावनेन समर्पयामि ॥

स्वशरीरघटकपार्थिवभागानां जडतापनयेन चिन्मात्रतावशषेरूपं गन्धं प्रयच्छामि ॥

आकाशभागानां तथा भावनेन पुष्पाणि समर्पयामि ॥

वायव्यभागानान्तथाभावनया धूपयामि ॥

तैजसभागानान्तथाकरणेनोद्दीपयामि ॥

अमृतभागांस्तथा विभाव्य निवेदयामि ॥

षोडशान्तेन्दुमण्डलस्य तथा भावनेन ताम्बूलकल्पमाचरामि ॥

परापश्यन्त्यादिनिखिलशब्दानां नादद्वारा ब्रह्मण्युपसंहारचिन्तनेन स्तवोमि ॥

विषयेषु धावमानानां चित्तवृत्तीनां विषयजडतानिरासेन ब्रह्मणि प्रविलापनेन प्रदक्षिणीकरोमि ॥

तासां विषयेभ्यः परावर्तनेन ब्रह्मैकप्रवणतया प्रणमामि ॥ इत्युपचर्य जुहुयात् ॥

विहिताविहितविषयावृत्तयःउत्पन्नाः अहं त्वं गुरुर्देवतेत्यादयः तास्सर्वाश्चक्रराजस्थानन्तशक्तिकदम्बरूपास्तत्तत्सूक्ष्मरूपा ये ये संस्कारास्तत्सर्वं चिन्मात्रमेवेति विभावनया निर्व्युत्थानं स्वात्मनि जुहोमि ॥

प्रकृतभावनासु ये गुरुचरणादिशक्तिकदम्बान्ताविषयास्ते सर्वेऽपि चिन्मात्ररूपा न परस्परं भिद्यन्ते इति भावनया तर्पयामि ॥

तिथिचक्रमुक्तरूपं कालचक्रं देशचक्रं च सर्वमस्ति भाति प्रियं च न तु नामरूपवदतस्सर्वं ब्रह्मैवेति विभावयामि ॥

अथवा पूर्वलिखितां नित्याभावनामिहैव श्वासप्रविलापनफलिकां कुर्यात्, तेन मनः पवनात्मनामैक्यनिभालनेन त्रीन्मुहुर्तान् द्वावेकं वा मुहूर्तमविच्छिन्नं व्यापयेत् ।

तस्य देवतात्मैक्यसिद्धिः चिन्तितकार्याण्ययत्नेन सिद्ध्यन्ति ॥
ततोऽवतीर्य प्राणायामत्रयमृष्यादिन्यासत्रयञ्च कृत्वा गुरुं स्तुवीतेति सर्वं शिवम् ।

अथर्वशिरसि प्रोक्तभावनानां सतां मुदे ।
इति भास्कररायेण प्रयोगविधिरीरितः ॥

इति प्रयोगविधिः समाप्तः

श्यामे सगीतमातः परशिवनिलये मुख्यसाचिव्यभारो-
द्वाहे दक्षे दयापूरितनिजहृदये मामकीं दैन्यवृत्तिम् ।
श्रीमत्सिंहासनेश्यां भववनपतितान्दावदग्धान्नमस्ते
त्रातुं पीयूषवर्षैः कथय परिकरंबद्धवत्यां विविक्ते ॥

यत्राऽस्ति भोगो न च तत्र मोक्षः यत्राऽस्ति मोक्षो न च तत्र भोगः ।
श्रीसुन्दरीसाधकपुङ्गवानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

पातय वा पाताले स्थापय वा सकललोकसाम्राज्ये ।
मातस्तवांघ्रियुगलं नाहं मुञ्चामि नैव मुञ्चामि ॥
यश्शिवो नामरूपाभ्यां या देवी सर्वमङ्गला ।
तयोः संस्मरणात्पुंसां सर्वतो जयमङ्गलम् ॥
दुर्गे शिवेऽभये माये नारायणि सनातनि ।
जये मे मङ्गलं देहि नमस्ते सर्वमङ्गले ॥ इति श्रीः ॥

श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीहृदयम्

वन्दे सिन्दूरवर्णाभं वामोरुन्यस्तवल्लभम् । इक्षुवारिधिमध्यस्थमिभराजमुखं महः ॥१॥
गम्भीरलहरीजालगण्डूषितदिगन्तरः । अव्यान्माममृताम्भोधिरनर्घमणिसंयुतः ॥२॥
मध्ये तस्य मनोहारि मधुपारवमेदुरम् । प्रसूनविगलन्माध्वीप्रवाहपरिपूरितम् ॥३॥
किन्नरीगानमेदस्वि क्रीडाकन्दरदन्तुरम् ।काञ्चनद्रुमधूलीभिः कल्पितावालवद्द्रुमम् ॥४॥
मुग्धकोकिलनिक्वाणमुखरीकृतदिङ्मुखम् । मन्दारतरुसन्तानमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरम् ॥५॥
नासानाडिन्धमस्मेरनमेरुसुमसौरभम् । आवृन्तहसिताम्भोजदीव्यद्विभ्रमदीर्घिकम् ॥६॥
मन्दरक्तशुकीदष्टमातुलुङ्गफलान्वितम् । सविधस्यन्दमानाभ्रसरित्कल्लोलवेल्लितम् ॥७॥
प्रसूनपांसुसौरम्यपश्यतोहरमारुतम् । वकुलप्रसवाकीर्णं वन्दे नन्दनकाननम् ॥८॥
तन्मध्ये नीपकान्तारं तरणिस्तम्भकारणम् । मधुपालिविमर्दालिकलक्वाणकरम्बितम् ॥
कोमलश्वसनाधूतकोरकोद्गतधूलिभिः ।सिन्दूरितनभोमार्गं चिन्तितं सिद्धवन्दिभिः ॥१०॥
मध्ये तस्य मरुन्मार्गलम्बिमाणिक्यतोरणम् । शाणोल्लिखितवैदूर्यक्लृप्तसालसमाकुलम् ॥
माणिक्यस्तम्भपटलीमयूखव्याप्तदिक्तटम् ।पञ्चविंशतिसालाढ्यं नमामि नगरोत्तमम् ॥१२॥
तत्र चिन्तामणिगृहं तडित्कोटिसमुज्ज्वलम् । नीलोत्पलसमाकीर्णनिर्यूहशतसङ्कुलम् ॥१३॥
सोमकान्तमणिक्लृप्तसोपानोद्भासिवेदिकम् । चन्द्रशालाचलत्केतुसमालीढनभोन्तरम् ॥
गारुत्मतमणीक्लृप्तमण्डपव्यूहमण्डितम् । नित्यसेवापरामर्त्यनिविडद्वारशोभितम् ॥१५॥
अधिष्ठितं द्वारपालैरसितोमरपाणिभिः । नमामि नाकनारीणां सान्द्रसङ्घातमेदुरम् ॥१६॥
तन्मध्ये तरुणार्काभं तप्तकाञ्चननिर्मितम् । शक्रादिमद्द्वारपालैस्सन्ततं परिवेष्टितम् ॥१७॥
चतुष्षष्टिमहाविद्याकलाभिरभिसंवृतम् । रक्षितं योगिनिवृन्दै रत्नसिंहासनं भजे ॥१८॥
मध्ये तस्य मरुत्सेव्यं चतुर्द्वारसमुज्ज्वलम् । चतुरस्रत्रिरेखाढ्यं चारुत्रिवलयान्वितम् ॥१९॥
कलादलसमायुक्तं कनदष्टदलान्वितम् । चतुर्दशारसहितं दशारद्वितयान्वितम् ॥२०॥
अष्टकोणयुतं दिव्यमग्निकोणविराजितम् । योगिभिः पूजितं योगियोगिनीगणसेवितम् ॥
सर्वदुःखप्रसमनं सर्वव्याधिविनाशनम् । विषज्वरहरं पुण्यं विविधापद्विदारणम् ॥२२॥
सर्वदारिद्र्यशमनं सर्वभूपालमोहनम् । आशाभिपूरकं दिव्यमर्चकानामहर्निशम् ॥२३॥
अष्टादशसुमर्माढ्यं चतुर्विंशतिसन्धिकम् । श्रीमद्बिन्दुगृहोपेतं श्रीचक्रं प्रणमाम्यहम् ॥२४॥
तत्रैव बैन्दवस्थाने तरुणादित्यसन्निभम् । पाशाङ्कुशधनुर्बाणपरिष्कृतकराम्बुजम् ॥२५॥
पूर्णेन्दुबिम्बवदनं फुल्लपङ्कजलोचनम् । कुसुमायुधश्रृङ्गारकोदण्डकुटिलभ्रुवम् ॥२६॥
चारुचन्द्रकलोपेतं चन्दनागुरुरूषितम् । मन्दस्मितमधूकालिकिञ्जल्कितमुखाम्बुजम् ॥२७॥
पाटीरतिलकोद्भासिफालस्थलमनोहरम् । अनेककोटिकन्दर्पलावण्यमरुणाधरम् ॥२८॥
तपनीयांशुकधरं तारुण्यश्रीनिषेवितम् । कामेश्वरमहं वन्दे कामितार्थप्रदं नृणाम् ॥२९॥
तस्याङ्कमध्यमासीनां तप्तहाटकसन्निभाम् । माणिक्यमुकुटच्छायामण्डलारुणदिङ्मुखाम् ॥
कलवेणीकनत्फुल्लकह्लारकुसुमोज्ज्वलाम् । उडुराजकृतोत्तंसामुत्पलश्यामलालकाम् ॥३१॥
चतुर्थीचन्द्रसच्छात्रफालरेखापरिष्कृताम् । कस्तूरीतिलकारूढकमनीयललन्तिकाम् ॥३२॥

भ्रूलताश्रीपराभूतपुष्पायुधशरासनाम् । नालीकदलदायादनयनत्रयशोभिताम् ॥३३॥
करुणारससम्पूर्णकटाक्षहसितोज्ज्वलाम् । भव्यमुक्तामणीचारुनासामौक्तिकवेष्टिताम् ॥ ३४॥
कपोलयुगलीनृत्यत्कर्णताटङ्कशोभिताम् । माणिक्यवालीयुगलीमयूखारुणदिङ्मुखाम् ॥ ३५॥
परिपक्वसुबिम्बाभापाटलाधरपल्लवाम् । मञ्जुलाधरपर्वस्थमन्दस्मितमनोहराम् ॥३६॥
द्विखण्डद्विजराजाभगण्डद्वितयमण्डिताम् । दरफुल्ललसद्गण्डधवलापूरिताननाम् ॥३७॥
पचेलिमेन्दुसुपमापाटच्चरमुखप्रभाम् । कन्धराकान्तिहसितकम्बुबिम्बोकडम्बराम् ॥३८॥
कस्तूरीकर्दमाश्यामकन्धरामूलकन्दराम् । वामांसशिखरोपान्तव्यालम्बिघनवेणिकाम् ॥
मृणालकाण्डदायादमृदुबाहुचतुष्टयाम् । मणिकेयूरयुगलीमयूखारुणविग्रहाम् ॥४०॥
करमूललसद्रत्नकङ्कणक्वाणपेशलाम् । करकान्तिसमाधूतकल्पानोकहपल्लवान् ॥४१॥
पद्मरागोर्मिकाश्रेणिभासुराङ्गुलिपालिकाम् । पुण्ड्रकोदण्डपुष्पास्त्रपाशाङ्कुशलसत्कराम् ॥
तप्तकाञ्चनकुम्भाभस्तनमण्डलमण्डिताम् । घनस्तनतटीक्लृप्तकाश्मीरक्षोदपाटलाम् ॥४३॥
कूलङ्कषकुचस्फारतारहारविराजिताम् । चारुकौसुम्भकूर्पासच्छन्नवक्षोजमण्डलाम् ॥४४॥
नवनीलघनश्यामरोमराजिविराजिताम् । लावण्यसागरावर्तनिभनाभिविभूषिताम् ॥४५॥
डिम्भमुष्टितलग्राह्यमध्ययष्टिमनोहराम् । नितम्बमण्डलाभोगनिक्वणन्मणिसेखलाम् ॥४६।
सन्ध्यारुणक्षौमपटीसञ्छन्नजघनस्थलाम् । घनोरुकान्तिहसितकदलीकाण्डविभ्रमाम् ॥४७।
जानुसम्पुटकद्वन्द्व जितमाणिक्यदर्पणाम् । जङ्घायुगलसौन्दर्यविजितानङ्गकाहलाम् ॥४८॥
प्रपदच्छायसन्तानजितप्राचीनकच्छपाम् । नीरजासनकोटीरनिघृष्टचरणाम्बुजाम् ॥४९॥
पादशोभापराभूतपाकारितरुपल्लवाम् । चरणाम्भोजशिञ्जानमणिमञ्जीरमञ्जुलान् ॥
विबुधेन्द्रवधूत्सङ्गविन्यस्तपदपल्लवाम् । पार्श्वस्थभारतीलक्ष्मीपाणिचामरवीजिताम् ॥
पुरतो नाकनारीणां पश्यन्तीं नृत्तमद्भुतम् । भ्रूलताञ्चलसम्भूतपुष्पायुधपरम्पराम् ॥
प्रत्यग्रयौवनोन्मत्तपरिफुल्लविलोचनाम् । ताम्रोष्ठीं तरलापाङ्गीं सुनासां सुन्दरस्मिताम् ॥
चतुरर्थभ्रुवोदारां चाम्पेयोद्गन्धिकुन्तलाम् । मधुस्नपितमृद्वीकमधुरालापपेशलाम् ॥५४॥
शिवां षोडशवार्षीकां शिवाङ्कतलवासिनीम् । चिन्मयीं हृदयाम्भोजे चिन्तयेज्जापकोत्तमः ॥

फलश्रुतिः

इति त्रिपुरसुन्दर्या हृदयं सर्वकामदम् । सर्वदारिद्र्यशमनं सर्वसम्पत्प्रदं नृणाम् ॥५६॥
तापज्वरार्तिशमनं तरुणीजनमोहनम् । महाविपहरं पुण्यं माङ्गल्यकरमद्भुतम् ॥५७॥
अपमृत्युहरं दिव्यमायुष्यश्रीकरं परम् । अपवर्गैकनिलयमवनीपालवश्यदम् ॥५८॥
पठति ध्यानरत्नं यः प्रातस्सायमतन्द्रितः । न विषादैस्स च पुमान् प्राप्नोति भुवनत्रयम् ॥

इति श्रीत्रिपुरसुन्दरीहृदयं सम्पूर्णम्

श्रीकरपात्रस्वामिविरचितः श्रीविद्या-रत्नाकरः समाप्तः ।

श्रीपराम्बा सुप्रसन्ना वरदाऽस्तु

श्रीललिताचतुष्षट्युपचारमानसपूजा

ॐ हृन्मध्यनिलये देवि ललिते परदेवते ।
चतुष्षट्युपचारांस्ते भक्त्या मातः समर्पये ॥१॥
कामेशोत्सङ्गनिलये पाद्यं गृहीष्व सादरम् ।
भूषणानि समुत्तार्यं गन्धतैलं च तेऽर्पये ॥२॥
स्नानशालां प्रविश्याऽथ तत्रत्यमणिपीठके ।
उपविश्य सुखेन त्वं देहोद्वर्त्तनमाचर ॥३॥
उष्णोदकेन ललिते स्नापयाम्यथ भक्तितः ।
अभिषिञ्चामि पश्चात्त्वां सौवर्णकलशोदकैः ॥४॥
धौतवस्त्रप्रोच्छनं चारक्तक्षौमाम्बरं तथा ।
कुचोत्तरीयमरुणमर्पयामि महेश्वरि ॥५॥
ततः प्रविश्य चालेपमण्डपं श्रीमहेश्वरि ।
उपविश्य च सौवर्णपीठे गन्धान् विलेपय ॥६॥
कालागरुजधूपैश्च धूपये केशपाशकम् ।
अर्पयामि च माल्ल्यादिसर्वर्तुकुसुमस्रजः ॥७॥
भूषामण्डपमाविश्य स्थित्वा सौवर्णपीठके ।
माणिक्यमुकुटं मूर्ध्नि दयया स्थापयाम्बिके ॥८॥
शरत्पार्वणचन्द्रस्य शकलं तत्र शोभताम् ।
सिन्दूरेण च सीमन्तमलङ्कुरु दयानिधे ॥९॥
भाले च तिलकं न्यस्य नेत्रयोरञ्जनं शिवे ।
वालीयुगलमप्यम्ब भक्त्या ते विनिवेदये ॥१०॥
मणिकुण्डलमप्यम्ब नासाभरणमेव च ।
ताटङ्कयुगलं देवि यावकञ्चाधरेऽर्पये ॥११॥
आद्यभूषणसौवर्णचिन्ताकपदकानि च ।
महापदकमुक्तावल्येकावल्यादिभूषणम् ॥१२॥

छन्नवीरं गृहाणाम्ब केयूरयुगलन्तथा ।
वलयावलिमङ्गुल्याभरणं ललिताम्बिके ॥१३॥
ओड्याणमथ कट्यन्ते कटिसूत्रञ्च सुन्दरि ।
सौभाग्याभरणं पादकटकं नूपुरद्वयम् ॥१४॥
अर्पयामि जगन्मातः पादयोश्चाङ्गुलीयकम् ।
पाशं वामोर्ध्वहस्ते च दक्षहस्ते तथाङ्कुशम् ॥१५॥
अन्यस्मिन्वामहस्ते च तथा पुण्ड्रेक्षुचापकम् ।
पुष्पबाणांश्च दक्षाधः पाणौ धारय सुन्दरि ॥१६॥
अर्पयामि च माणिक्यपादुके पादयोः शिवे ।
आरोहावृत्तिदेवीभिश्चक्रं परशिवे मुदा ॥१७॥
समानवेशभूषाभिः साकं त्रिपुरसुन्दरि ।
तत्र कामेशवामाङ्कपर्यङ्कोपनिवेशिनीम् ॥१८॥
अमृतासवपानेन मुदितां त्वां सदा भजे ।
शुद्धेन गाङ्गतोयेन पुनराचमनं कुरु ॥१९॥
कर्पूरवीटिकामास्ये ततोऽम्ब विनिवेशय ।
आनन्दोल्लासहासेन विलसन्मुखपङ्कजाम् ॥२०॥
भक्तिमत्कल्पलतिकां कृती स्यां त्वां स्मरन् कदा ।
मङ्गलारार्तिकं छत्रं चामरं दर्पणं तथा ॥२१॥
तालवृन्तं गन्धपुष्पधूपदीपांश्च तेऽर्पये ।
श्रीकामेश्वरि ! तप्तहाटककृतैः स्थालीसहस्त्रैर्भृतम्
दिव्यान्नं घृतसूपशाकभरितं चित्रान्नभेदैर्युतम् ॥
दुग्धान्नं मधुशर्करादधियुतं माणिक्यपात्रार्पितं
माषापूपकपूरिकादिसहितं नैवेद्यमम्बाऽर्पये ॥२२॥
सार्धविंशतिपद्योक्तचतुष्षष्ट्युपचारतः ।
हृन्मध्यनिलया माता ललिता परितुष्यतु ॥२३॥
कामेश्वराङ्कनिलया श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरी तृप्यताम् ।







श्रीस्वामी करपात्रीजी द्वारा विरचित ग्रन्थ

विचार पीयूष
मार्क्सवाद और रामराज्य
श्री भगवत्तत्त्व
वेदस्वरूप और प्रामाण्य (प्रथम, द्वितीय)
भक्तिसुधा
अहमर्थ और परमर्थसार
पूंजीवाद, समाजवाद और रामराज्य
संघर्ष और शान्ति
वर्णाश्रममर्यादा संकीर्त्तनमीमांसा
क्या सम्भोग से समाधि ?
शाङ्कर भाष्य पर आक्षेप और समाधान
राहुलजी की भ्रान्ति
श्रीविद्यारत्नाकरः
श्रीविद्यावरिवस्या
वेदस्वरूपविमर्शः
भक्तिरसार्णवः
चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शः (प्रथम)
चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शः (द्वितीय)
कुम्भनिर्णयः
धर्मराजनीति
आधुनिक राजनीति और रामराज्य परिषद्
ये राजनीतिक दल
रामराज्य परिषद् और अन्य दल
राजनीति में भी ईमानदारी
वेदार्थपारिजात
भागवत सुधा
भ्रमरगीत
रामायण मीमांसा

श्रीविद्या साधना पीठ के मुख्य उद्देश्य

- श्री विद्या से सम्बन्धित दुर्लभ साहित्य का प्रकाशन।
- श्रीविद्या साधकों का पथ प्रदर्शन।
- मन्त्र चैतन्य तथा कुण्डलिनी जागरण का क्रियात्मक बोध।
- श्रीयन्त्रार्चन पद्धति का प्रशिक्षण।
- तन्त्र शास्त्र विषयक अनुसंधान।

श्रीविद्या साधना पीठ द्वारा प्रकाशनाधीन साहित्य

श्रीविद्यावरिवस्या

श्रीमहागणपतिवरिवस्या

षोडशनित्यावरिवस्या

श्रीविद्यामन्त्रभाष्य (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीललितासहस्रनाम (श्रीभास्करराय कृत सौभाग्य-भास्कर भाष्य का हिन्दी अनुवाद)

श्रीललिताम्बात्रिशतीस्तोत्र (शाङ्करभाष्य का हिन्दी अनुवाद)

श्रीः

परानन्दाभिख्यं रस-यति रसं त्वद् भजनवान्

श्रीविद्या साधना पीठ

पो १/२ रवीन्द्रपुरी, वाराणसी (उ० प्र०)

ॐ

आनन्दवनग्रन्थमालायाश्चतुस्त्रिंशं कुसुमम्

कठोपनिषत्

प्रवचनसन्दर्भ

प्रथम भाग

द्वादशदर्शनकाननकेसरी

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज





ॐ

(आनन्दवनग्रन्थमालायाश्चतुस्त्रिंशं कुसुमम्)

कठोपनिषत्

प्रवचन सन्दर्भ

(प्रथम भाग)

(प्रथम एवं द्वितीय वल्ली)

द्वादशदर्शन-कानन-केसरी

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज

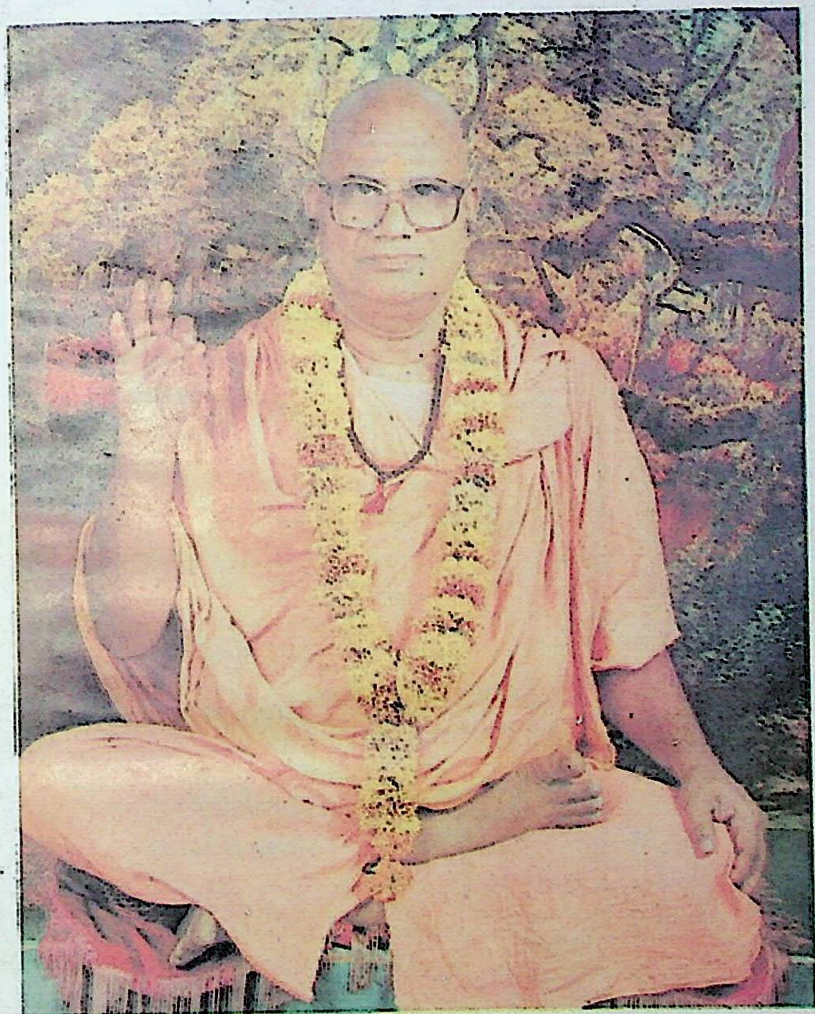
प्रकाशक :
आनन्दवन शोध संस्थान

मूल्य अजिल्द ३००.०० (सम्पूर्ण सेट-तीन भाग)
सजिल्द ४००.०० (सम्पूर्ण सेट-तीन भाग)

प्रथम आवृत्ति : ११०० प्रतियाँ
सन् : १९९४

प्राप्तिस्थान :
आनन्दवन शोध संस्थान
आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली (पश्चिम)
बम्बई-४०००६७

मुद्रक :
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा वाराणसी
फोन: 322820, 323896





● ॐ तत्सत् ●

कठोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ॥
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥
तँ ह कुमारँ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥
पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ॥
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥
स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति ॥
द्वितीयं तृतीयं तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥
बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ॥
किँ स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥
अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य यथा परे ॥
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥
वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ॥
तस्यैताँ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥
आशाप्रतीक्षे सङ्गतँ सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान् ॥
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥
तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ॥
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥
शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ॥
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ॥
सुखँ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥
स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ॥
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥
स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तँ श्रद्दधानाय मह्यम् ॥
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥
प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ॥
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ॥
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥
तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ॥
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृंकां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥
त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ॥
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥
त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम् ॥
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥
एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ॥
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥
येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ॥
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥
देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ॥
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥
देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ॥
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्योवरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥
शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ॥
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥
एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ॥
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वां कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व ॥
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥
श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ॥
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते ॥ २६ ॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ॥
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ॥
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ॥
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

॥ इति प्रथमेऽध्याये प्रथमा वल्ली ॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः ॥
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ॥
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥
स त्वं प्रियान्प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥
दूरमेते विपरीते विसूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ॥
विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्तः ॥ ४ ॥
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ॥
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥
न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ॥
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ॥
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥
न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ॥
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमनुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ॥
यां त्वमापः सत्यधृतिर्वतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥
जानाम्यहँ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ॥
ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥
कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् ॥
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्वा धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥ ११ ॥
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ॥
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥
एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ॥
स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥
अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ॥
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ॥
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् ॥
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥
एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ॥
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥
न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ॥
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥
आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ॥
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥
अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ॥
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ॥
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥ २३ ॥
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ॥
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥
यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ॥
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

॥ इति प्रथमेऽध्याये द्वितीया वल्ली ॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ॥
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥
यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ॥
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतँ शकेमहि ॥ २ ॥
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ॥
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ॥
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्युक्तेन मनसा सदा ॥
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ॥
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ॥
न स तत्पदमाप्नोति सँसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ॥
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ॥
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ॥
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥
एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ॥
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ॥
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ॥
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥
नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ॥
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥
य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ॥
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

॥ इति प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ॥
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥
पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ॥
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥
येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ॥
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यत एतद्वै तत् ॥ ३ ॥
स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ॥
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥
य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ॥
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत् ॥ ५ ॥
यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ॥
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी ॥
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत एतद्वै तत् ॥ ७ ॥
अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ॥
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत् ॥ ८ ॥
यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ॥
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥ ९ ॥
यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ॥
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ॥
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ॥
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत् ॥ १२ ॥
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ॥
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत् ॥ १३ ॥
यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ॥
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानविधावति ॥ १४ ॥
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ॥
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

॥ इति द्वितीयेऽध्याये चतुर्थी वल्ली ॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ॥
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यत एतद्वै तत् ॥ १ ॥
हँसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिपदतिथिर्दुरोणसत् ॥
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ॥
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥ ३ ॥
अस्य विस्रँसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ॥
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यत एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ॥
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ॥
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ॥
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥
य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ॥
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥ ८ ॥
अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ॥
एकस्तथासर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ॥
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषाँ सुखँ शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥
तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ॥
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ॥
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

॥ इति द्वितीयेऽध्याये पञ्चमी वल्ली ॥

ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ॥
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥ १ ॥

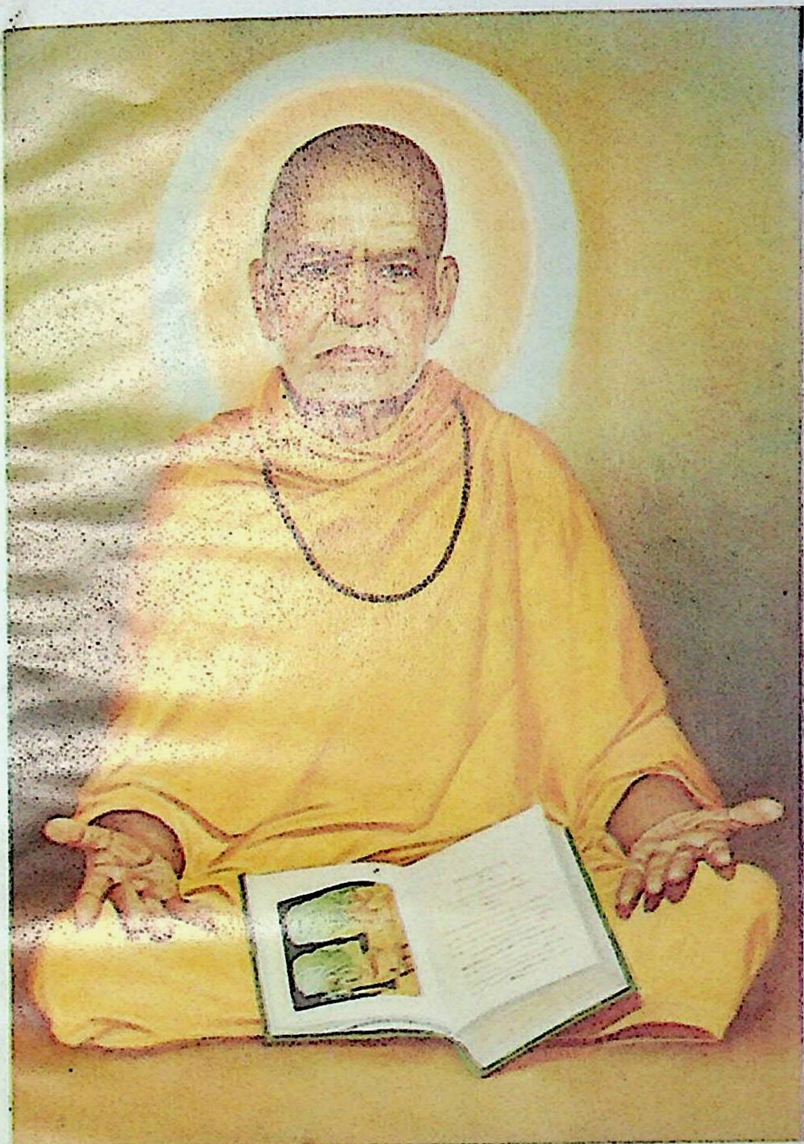
यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ॥
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ॥
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥
इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ॥
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥
यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ॥
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥
इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ॥
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥
इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ॥
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ॥
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥
अस्तीयेवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ॥
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ॥
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ॥
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ १५ ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ॥
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥
मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ॥
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥

इति द्वितीयेऽध्याये षष्ठी वल्ली

इति द्वितीयोऽध्यायः





शिष्यव्रातान प्रेमतो बोधयन्तं
बोधेनान्तर्ध्वान्तमुज्जासयन्तम्
वन्दे ब्रम्ह ध्वान्तहानान्नयन्तम्
ॐकारानन्दाह्वयं सद्गुरुंतम्



भूमिका

परा और अपरा ऐसी दो विद्यायें हैं। द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च' ऐसा उपनिषद्-वचन है। ऋग्वेद-यजुर्वेदादि में प्रतिपादित कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड जिस को प्रवृत्तिधर्म कहते हैं, अपरा विद्या है। यह शाश्वत फल तक नहीं पहुंचा सकते, अतः अपरा है। कुछ लोगों की मान्यता है कि अपरा विद्या के अन्तर्गत दो विद्यायें स्वीकार्य हैं। एक प्रवृत्तिधर्मज्ञान है तो दूसरा भौतिकविज्ञान भी है। उनका कहना है कि भौतिक विज्ञान त्याज्य नहीं, जैसे कि 'अर्थमनर्थं भावय' इत्यादि कुछ विरक्त सन्त कहते हैं। भौतिक विज्ञान भी परम उपयोगी है, वह आज बहुत आगे बढ़ चुका है। उसने आकाश में पक्षियों को परास्त कर लिया है जहाँ विचार करना केवल काक-हंस-गरुडादि के लिये ही संभव देखा जाता था। जल में तिमि-तिमिंगिल आदि को भी मात कर दिया। पहले समय में केवल वे ही समुद्र की गहराई नाप सकते थे। पृथिवी खोदने में अब वराहावतार की आवश्यकता नहीं रह गयी है इत्यादि। किन्तु यह सब अतिशयोक्ति मात्र है। अनन्त आकाश में अब तक एक अणु भी पार नहीं किया जा सका है। जितना आगे जायेंगे उतना ही आकाश भी आगे बढ़ता जायेगा। 'अणवः सर्वशक्ताः स्युः' के अनुसार पृथिवी के कण-कण में जो अनन्त शक्तियां भरी पड़ी हैं उसका अन्त पाना अनन्त काल में भी संभव नहीं है। यही बात जलादिकी भी है। इन सब का पार पाना संभव तो नहीं ही, किन्तु पार पाने पर भी कौन-सा शाश्वत तत्त्व हाथ लगेगा यह भी अभी तक सोचा नहीं जा सका है। और भविष्य में भी इसका निर्णय पाना संभव नहीं दीखता। वेदान्त के आचार्यों ने इस विषय में 'यावदर्थपरिग्रहः' कह कर समाप्त कर दिया है। जितने से अर्थ=अपना प्रयोजन सिद्ध होता है उतना परिग्रह कर लो। क्योंकि इसका अन्त होने वाला नहीं है, और होने पर भी उससे प्रयोजन पूर्ण होने की आशा नहीं रखी जा सकती। संत लोगों की बात अलग है। वे तो स्वर्गादि फल को भी तुच्छ मानते हैं।

अपरा विद्या का अर्थ है द्वितीय श्रेणी की प्रमाणभूत विद्या। परम प्रमाण यह है जो प्रमाणान्तर से अज्ञान एवं सप्रयोजन अर्थ का प्रतिपादन करें। भौतिक विज्ञान कल से ज्ञेय पदार्थों की अज्ञातार्थता नहीं है। वह प्रत्यक्षादि-प्रमाण-गम्य है। यह कहें कि पदार्थ अनन्त होने से उनमें अज्ञात अर्थ भी तो होंगे ही, नहीं। अनन्त पदार्थों को देखने-जानने के लिये प्राणी भी तो अनन्त हैं। भौतिक पदार्थ किसी न किसी व्यक्ति के लिये ज्ञात या ज्ञातव्य ही होगा। अतएव वेदों में भी इन भौतिक पदार्थों का जहां वर्णन है उसे अनुवाद मात्र कह कर दार्शनिक आगे बढ़ जाते हैं। इस भौतिक विज्ञान को एक विद्या अवश्य कह सकते हैं किन्तु अपरा विद्या नहीं कह सकते। अपरा विद्या तो प्रवृत्ति धर्म विज्ञान ही है। इसलिए वेद "तमापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादि कह कर अन्य की व्यावृत्ति करता है। शिक्षाकल्प आदि भी वेदाङ्ग होने से अपरा विद्या के अन्तर्गत माने जाते हैं। वेदों के पूर्वकाण्ड का प्रामाण्य इस प्रवृत्ति धर्म के प्रतिपादन को लेकर ही है।

प्रवृत्ति धर्म का ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं हो सकता। दूरबीन, खुरद्बीन आदि यन्त्रों से भी नहीं हो सकता। अनुमान उपमानादि से भी नहीं हो सकता। यज्ञ-यागादि से पुण्य होता है, स्वर्ग होता है। श्रेष्ठ जन्मान्तर प्राप्त होता है। इत्यादि का पता लगाना किसी यन्त्र-तन्त्र के वश की बात नहीं है। न तो किसी ने पुण्य की शक्ल देखी है और न पाप का आकार देखा है। जिस से लोककल्याण हो वह धर्म और लोक-अहित हो वह पाप इत्यादि कल्पना भी संभव नहीं है। मच्छर-मक्खी-तिलचट्टे आदि को मारने से लोगों को फायदा होता है, क्या इतने मात्र से इनको मारना पुण्य माना जायेगा? "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" यह श्रुति इन सब को पाप बतलाती है। तो क्या इन सबका पालन-पोषण करें? पालन-पोषण की बात नहीं है। कहीं इनका मारना अनिवार्य भी हो सकता है। किन्तु तदर्थ पञ्चयज्ञादि प्रायश्चित्त विधान भी है। अर्थात् अनिवार्यता पाप को पुण्य रूप में नहीं बदल सकती। पाप में पापत्व की निवृत्ति भी नहीं करा सकती। इसी प्रकार यज्ञ के नाम से अग्नि में घृत की आहुति डालने की अपेक्षा किसी गरीब के पेट में डालना उचित है, पुण्य है, इत्यादि कल्पना भी कल्पना मात्र है। सारांश यही है कि पुण्यपापादि अज्ञान अर्थ को वेद

ही बता सकते हैं अतएव इस अंश में वेद ही प्रमाण है इसीलिये वेद के कर्मकाण्ड की प्रमाणता भी है।

इसके बाद उपनिषदें प्रारंभ होती हैं जो पराविद्या कहलाती हैं। इनमें उस तत्त्व का वर्णन है जिसे न तो भौतिक विज्ञान दिखा सकता है और न प्रवृत्तिमार्ग विज्ञान ही। अतएव इसे "ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा" इस प्रकार सर्वविद्याप्रतिष्ठा के रूप में स्वीकार किया है। "अध्यात्मविद्या विद्यानां" ऐसा गीता ने भी जिसका समर्थन किया है। उपनिषदें बाह्य तत्त्वों के निरूपणार्थ आविर्भूत नहीं हैं। उपनिषदें आन्तर तत्त्व का अन्वेषण है, ज्ञान है और निर्णय है जिस का प्रयोजन भी क्षणिक नहीं किन्तु शाश्वत है। पूर्वकाण्ड उस तत्त्व को समझने में सहायता करते हैं। इसलिये वेदोंने प्रवृत्ति निवृत्ति का भी वर्णन किया। परमार्थ तत्त्व को समझने के लिये अन्तःकरण की शुद्धि अनिवार्य है और वह सत्कर्म संपादन एवं पापकर्मनिवृत्ति से ही संभव है। तदर्थ देवपूजनादि करना एवं हिंसादि से निवृत्त होना निश्चितरूप से कर्त्तव्य है।

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"

यह श्रुतिवचन इसी का प्रतिपादन करता है। स्वस्थ शरीर स्वस्थ वातावरण तथा अनुकूल परिस्थिति भी इसमें सहायक हैं। अतएव भौतिक विज्ञान के यावदर्थ-परिग्रह का निषेध नहीं है। शरीर असमर्थ है, रुग्ण है या भोजनादि की व्यवस्था नहीं है, गुरु सांनिध्य में पहुंचने का साधन नहीं है तो भी यह विद्या हासिल नहीं हो सकती। बात इतनी ही है कि इन बहिरंग साधनों को ही साध्य समझ कर उसके पीछे जीवन को समाप्त करना उपनिषदों को इष्ट नहीं है। ये सारी बातें लौकिक होने से उनका प्रतिपादन करने में अपना शक्तिक्षय करना भी उपनिषदों को या उन को द्रष्टा ऋषियों को पसंद नहीं आया अतएव उपनिषदें केवल परमार्थ तत्त्व बताते हुए ही पूर्ण हो जाती हैं।

इन उपनिषदों की निश्चित संख्या बताना कठिन है। किंवदन्ती इस प्रकार है कि वेदों में जितनी शाखायें हैं उन सबके पीछे न्यूनतम एक-एक उपनिषद् भी रही हैं, तदनुसार उपनिषदों की संख्या हजार से ऊपर

जाती है। किन्तु वर्तमान में एक सौ आठ उपनिषदें मुद्रित उपलब्ध हैं और साठ-सत्तर अन्य उपनिषदें भी उपलब्ध हुई हैं। इन सब की भी समान प्रामाणिकता सर्वस्वीकृत नहीं है। आचार्यों ने अपने भाष्यों में करीबन बीस उपनिषदों को प्रमाणतया उद्धृत किया है। अस्तु । इन उपनिषदों में, प्रस्तूयमान कठोपनिषत् का अपना विशिष्ट स्थान है। इसमें छः वल्लियां हैं।

प्रथमवल्ली

कठोपनिषत् में कई ऐसी विशेषतायें हैं जो अन्य उपनिषदों में दुर्लभ है। सरलता से गहन तत्त्व को समझाने की कला इस उपनिषत् की मुख्य विशेषता है। पहले समय में एक राजा था, मन्त्री था इत्यादि रीति से कथा प्रारंभ की जाती रही। आधुनिक लेखकों ने उस शैली को नकारते हुए किसी एक घटना से कथावस्तु प्रस्तुत करना शुरू किया और अधिक नवीनता आयी तो कहानियां शुरू हो गयी किसी वस्तु का प्रतिपादन करते हुए बीच में कथांश को जो अत्यन्त उपयोगी नहीं। या स्वयं समझा जा सकता है, छोड़कर उत्तरांश लिखने का आविष्कार किया। इस नूतनतम पद्धति को भी फीकी करती हुई कठोपनिषत् प्रस्तुत होती है। "उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ" से उपनिषत् शुरू होती है। फलकाम वाजश्रवस ने सर्वस्वदान यज्ञ प्रारंभ किया ऐसा प्रथम वाक्य है। ब्हुत सारे अर्थ को अन्तर्निहित कर यह वाक्य शुरु होता है जो आधुनिकतम शैली को सुदूर पीछे छोड़ देता है। उशन् से राग स्पष्ट कहा गया। सर्ववेदसं ददौ से त्याग बताया गया। राग और त्याग का विरोधाभास हो रहा है। ब्रह्मविद्याग्रन्थ के आदि में यह कहा गया ब्रह्मविद्या के लिये त्याग उपयोगी है, सहायक है, पर राग विरोधी है। बल्कि राग प्राथमिक स्थान पर आ जाने के कारण त्याग का कोई मूल्य ही न रहा। क्योंकि कि राग हमेशा ही त्याग को पंगु बना कर अन्त में स्वयं विजयी हो जाता है। इस दलदल से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति ही ब्रह्मविद्याधिकारी हो सकता है जैसे नचिकेता। अन्य भी अनेक रहस्य अंदर रखकर "उशन् ह वै" इत्यादि वाक्य आया है। क्या इतना सब रहस्य किसी आधुनिक लेख में पाया जा सकता है? फिर भी सरल का

सरल इसके बाद ध्वन्यार्थ के साथ उत्तर ग्रन्थ चलता है। इसके बाद 'सस्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजायते पुनः' तक कह कर मानो अंक पूरा किया। और वैश्वानरः प्रविशति आदि से द्वितीय अंक प्रारंभ किया।

उपोद्घात की ओर दृष्टि डालने पर बड़ी विचित्रता मालूम पड़ेगी। वैसे तो सनातन धर्म वालों के विश्वास के अनुसार नचिकेता यमराज के घर गये। तीन दिन उपवास कर वहां रहे इत्यादि यथाश्रुत ही अर्थ है। किन्तु यदि इस घटना को रूपक से देखा जाये तो बड़ी विलक्षणता मालूम पड़ेगी। यमराज का अर्थ है मृत्यु। मृत्यु देवता सबके पास स्वयं आता है। ऐसा नहीं कि आप तीन-चार दिन के लिये गायब रहें, और मृत्यु आपकी प्रतीक्षा करती रही। आप का स्थान निम्श्चित रहता है जहाँ मृत्यु को आना है। कथाकार लोग गरुड जी की माता की बात सुनाते हैं कि सह्याद्रि में उनकी माता बीमार पड़ी थीं मरण-शय्या पर थीं। लेकिन उनकी मृत्यु हिमालय की गुफा में निर्धारित थी। यमराज भी सोच में पड़ गये थे। नारदजी ने आकर गरुड जी को कहा अरे तुम्हारी माता को ले जाने अभी घड़ी भर में यमराज आयेंगे। गरुड जी घबराये और पूछने लगे तो मैं माँ को कहाँ ले जाऊं जहाँ यमराज न पहुंच पाये। नारदजी ने उसी हिमालय की गुफा को बताया और कहा आज तक वहाँ कभी यमराज नहीं गये हैं। घड़ी भर में माँ को उस गुफा में पहुँचाओ। गरुड जी अपनी माँ को लेकर उड़े और उस गुफा में ले जाकर लिटाया और स्वयं पहरेदार बनकर द्वार पर खड़े रहे। समय बीत गया। यमराज सामने से नहीं आये। आम्वस्त हो अंदर जा कर देखते हैं तो माता मृत हो चुकी थी। बाहर आकर देखा तो यमराज हंस रहे थे। गरुड जी ने पूछा चोर जैसे अंदर तुम कैसे गये? यमराज ने कहा यहीं उनकी मृत्यु लिखी थी। यहां तुम न लाते तो शायद वह न मरतीं। गरुड जी गुस्से होकर नारद जी के पास पहुंचे और कहा कि आपने मुझे क्यों ठगा? नारद जी ने कहा विधि के विधान को कौन टाल सकता है। कथा का तात्पर्य है कि मृत्यु का समय तथा स्थल निश्चित है। इच्छा-अनिच्छा जैसी भी हो आप को वहां उपस्थित रहना ही पड़ता है। मृत्यु वहां आती ही है। नचिकेता के पास मृत्यु नहीं आयी। वाजश्रवस ने मृत्यु को दे दिया था। फिर भी मृत्यु

नहीं आयी। तब स्वयं नचिकेता मृत्यु के पास पहुंचे। मृत्यु देव आता है तो मर्त्य की उपस्थिति अवश्यंभावी है किन्तु नचिकेता मृत्यु के घर पहुंचे तो मृत्यु वहां अनुपस्थित थी इसका अर्थ शायद यह होगा कि मृत्यु से डर कर जो भागता है उसे मृत्यु नहीं छोड़ती जैसे गरुड की माता को। किन्तु निडर हो कर स्वयं जो मृत्यु के पास जाता है उससे मृत्यु डरकर पहले ही गायब हो जाती है। क्या यमराज असर्वज्ञ थे कि नचिकेता के आने का उनको पूर्वाभास नहीं रहा। निर्भय यदि होते तो "स्वस्ति मेऽस्तु" यह प्रार्थना यमराज क्यों करने लगे जिसके लिये वरदान देने को जो उद्यत हुये–"तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व"। अतः रूपक अर्थ पूर्णतया संगत बैठता है।

नचिकेता ने यमराज से तीन वर मांगे। प्रथम वर से नचिकेता ने यही माँगा की मेरे पिता जी मुझ पर क्रुद्ध थे। आज भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ होगा। प्रथम आप उनका क्रोध शान्त करें उनको क्रोध इसलिये आया था कि उनके अंदर की कमजोरी मैंने खोद कर बाहर निकाली। मनुष्य चोरी को ज्यादा बुरा नहीं मानता जितना कि उसके अंदर की चोरी को बाहर प्रगट करते हुए कोई उसे चोर बोलने लगता है। चोर बोलते ही वह क्षुब्ध हो जाता है, चिढ़ जाता है, आगबबूला हो जाता है। वह चोरी छिपा कर रखना ही पसंद करता है। झूठ बोलते समय बुरा नहीं लगता। किन्तु कोई उसे झूठा कहे तो आसमान-पाताल एक हो जाता है। बुराई अंदर सड़ती है। और जहर पूरे शरीर में फैलता है। वह मन पर आक्रमण करता है और मनुष्य को बर्बाद करता है। पर उसे बाहर निकालने की कोई कोशिश करता है तो वह कितना ही प्रिय क्यों न हो तुरंत अप्रिय हो जाता है, उस पर क्रोध करता है। यही क्रोधाग्नि उद्दालक वाजश्रवस के हृदय में प्रथम जलने लगी। नचिकेता ने उन के अंदर की लोभ वासना को बाहर जाहिर किया तो वे आगबबूला हो गये। क्रोध में आकर बोल गये–"मृत्यवे त्वा ददामि" नचिकेता स्तब्ध होकर देख रहे थे। 'बहूनामेमि प्रथमः' इत्यादि सोच रहे थे। उस बालभाव को देख कर मोह उत्पन्न हो गया और बोल दिया बेटा घबराओ मत। मैं तुझे मृत्यु को नहीं सौपूंगा। इतने में नचिकेता ने देखा कि पिताश्री में अब

असत्य उभर रहा है। अब की बार बालभाव में नहीं प्रौढ़भाव में बोले– "अनुपश्य यथा पूर्वे" पिता जी आगे पीछे देखो अपने वचनोंको झूठा बनाओगे तो पूरा वंश कलंकित होगा। पूर्वजों का शिष्टाचार आप को ध्यान में रखना है। आगे आने वालों के लिये आप को स्वयं आदर्श बनना है। शरीर का मोह व्यर्थ है। यह सस्य के समान उत्पन्न एवं नष्ट होता है। मृत्यु को देने पर मेरा एक शरीर नष्ट होगा परंतु न देनेपर आप की दीर्घ शिष्ट परंपरा नष्ट होगी। वचन का पालन करो।

वाजश्रवस की अन्तर्व्यथा अब सौ गुनी हो गयी। हजारों संकल्प विकल्प होने लगे। पहले क्रोध को उन्होंने "मृत्यवे त्वा ददामि" कह कर दबाया पर अब बोलने के लिये भी कुछ नहीं रहा। मृत्यु से बढ़कर कौनसी सजा हो सकती थी। मनुष्य अपने क्रोध को तीखे शब्द बोलकर शान्त करते हैं। किन्तु शब्द नहीं रह जाता है तो वही क्रोध अंदर ही अंदर फैलकर मनुष्य को खोखला कर देता है। इन संकल्पविकल्पों से, दौर्मनस्य से और निरुपाय मन्यु (क्रोध) से मेरे पिता को आप मुक्त करें यह प्रथम वर नचिकेता मांगते हैं। पिता को पाप से बचाना पुत्र का कर्त्तव्य है तो पिता को सुख-शान्ति पहुंचाना भी उसका कर्तव्य ही है। इस बाह्य कर्तव्य की पूर्ति के बिना अंदर आगे बढ़ना बड़ा क़ठिन है। अतः प्रथम वरदान से सद्भावना के साथ कर्त्तव्यनिष्ठा की आवश्यकता व्यक्त की जा रही है।

द्वितीय वरदान से नचिकेता ने अग्निविद्या की प्रार्थना की। किन्तु अग्निविद्या का वर्णन यहाँ पर नहीं किया गया। "यावतीर्वा यथा वा" इत्यादि संकेतमात्र किया। किन वस्तुओं से कैसे अग्नि चयनादि करना चाहए सो यमराज ने बताया इस प्रकार भूतार्थ निर्देश मात्र किया। नाचिकेत ब्राह्मण तैत्तिरीय में एक अलग प्रकरण है कई अध्यायों का है, जिनमें तीन अध्याय की मुख्यता है। वहां अग्नि चयन का विस्तृत वर्णन है। उसका निर्देश मात्र यहां श्रुति ने किया। ऐसा क्यों किया? यहीं पर पूरा वर्णन क्यों नहीं किया? यह कहा जाये कि इस में पुनरुक्ति होगी। नहीं। पूर्वोक्त की पुनरुक्ति होती है। वेदों में पूर्वापर विभाग है ही नहीं। बृहदारण्यक में पूर्वापर रूप से प्रतीयमान होने पर भी मैत्रेयी ब्राह्मण दो

बार पढ़ा। दो एक शब्दों का फरक मात्र है। उतने से यदि पुनरुक्ति वारण होता है तो कठोपनिषद् में भी दस पांच शब्द ज्यादा पढ़ कर पुनरुक्ति वारण किया जा सकता था। किंतु वैसा नहीं किया। इससे यही ज्ञात होता है कि परा विद्या के प्रकरण में लौकिक व्यवहार निभाना तो आवश्यक है, किंतु अपरा विद्या का, जो स्वर्ग अदृष्टादि बोधक है, विशेष महत्व नहीं है। अतएव ज्ञान कर्म समुच्चयवादी यहां मार खा जाते हैं। यदि ज्ञान और कर्म का सम-समुच्चय होता तो यहां अग्निविद्या को विस्तारपूर्वक अवश्य कहना चाहिये था। अन्यथा यह अधूरा मोक्षशास्त्र माना जाता। कठोपनिषत् को अधूरा मोक्षशास्त्र मानना उपनिषत् के साथ अन्याय करना होगा। किन्तु लौकिक व्यवहार ज्ञानी एवं जिज्ञासु दोनों के लिये आवश्यक है, भले वह बहिरङ्ग साधन हो यह "यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत" इत्यादि वरदान से अवगत होता है।

यदि अग्निविद्या मोक्षसाधनों में अव्यभिचरित साधन नहीं हैं तो नचिकेता ने उसके बारे में पूछा क्यों? और यमराज ने उसका उत्तर दिया क्यों? भले वह नाचिकेत ब्राह्मणान्तर्गत चर्चा हो, पर यमराज ने तो कहा है यह निश्चित है, यह प्रश्न हो सकता है। इसके उत्तर में अनेक विध हेतु कहे जा सकते हैं। एक यह है कि अशुद्ध अंतःकरण वालों के लिये उसकी उपयोगिता है। अतः प्रश्न एवं उत्तर उपपन्न है। दूसरा यह है कि नचिकेता नें कर्म का उपयोग सामान्यतः सुन रखा है, और उनके पिता स्वयं ऐसे कर्मकाण्ड में पड़े हुए होने के कारण शिष्ट-परिगृहीत होने से मोक्षसाधन के रूप में कार्योपयोग की धारणा बनी हुई है। उसके स्पष्टीकरणार्थ प्रश्न है। यह प्रश्न के विवेचन से उजागर होता है। नचिकेता कहते हैं—"स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति, न तत्र त्वं" इत्यादि। इस मन्त्र पर ध्यान दें तो प्रतीत होता है कि इस कर्म का फल मोक्ष से कम नहीं है। मोक्ष को इन्हीं शब्दों से विवृत किया है—"अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" "स मृत्युं तरति" "विजरो विमृत्युर्विशोकः" इत्यादि मोक्षश्रुति में बतायी सारे बातें इस मृत्यु में कही गयी हैं। किन्तु इतने से पूर्वपक्ष समाप्त नहीं होता है। नचिकेता ने जिस आशय से प्रश्न किया उसका किसी भी अंश में खण्डन यमराज ने नहीं किया। बल्कि "स मृत्युपाशान्

पुरतः प्रणोद्य शोकातिगः' इत्यादि शब्दों में उसका समर्थन ही किया। तब इससे कृतार्थता होने से तृतीय वर प्रार्थना क्यों हुई? समुच्चय पक्ष में द्वितीय को विस्तारपूर्वक क्यों नहीं कहा? विकल्पपक्ष यदि रखते हैं, अर्थात् अग्निविद्या से मोक्ष होगा तृतीय प्रश्नार्थ से भी मोक्ष होगा, प्रकृत में अन्यत्र अनुक्त ब्रह्मविद्योपदेश किया ऐसा भी समाधान नहीं बनता क्योंकि विकल्प में दोनों समकक्ष होते हैं, तब 'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व' इत्यादि टालमटोल करने का कोई सार नहीं रह जायेगा क्योंकि उसके बिना ही अग्निविद्या से वही फल प्राप्त हो रहा है। इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है कि संसार में प्रसिद्ध यही स्वर्गलोक है। किन्तु नचिकेता स्वयं इन बातों का अंदाजा या अनुभव कर रहे हैं कि—

'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षियते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इहलोक में कर्म संपादित धन-धान्यादि सम्पन्न मनुष्यलोक जैसे क्षीण होता है वैसे अग्निचयनादि पुण्यकर्मसंपादित स्वर्गलोक भी कार्मत्वात् विनाशी है। स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति-जब तक कर्मी स्वर्ग में है तब तक वहाँ कोई भयादि नहीं है। किन्तु वहां से गिरने पर तो भयादि रहेगा ही। नचिकेता ने गूढरूप से संत-चर्चा सुनी होगी जिसमें 'प्रेते मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' के अनुसार निश्चित बुद्धि नहीं हुई होगी उस विषयमें जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं जिससे परमार्थ प्राप्त हो। जब यमराज ने 'दैवेरत्रापि विचिकित्सितं'—'नहि सुज्ञेयं' कह कर टालना चाहा, तब नचिकेता ने पूरी तरह से समझा कि यही ज्ञातव्य परमार्थ तत्त्व है। अतएव उसी का अनुवाद का 'देवैरत्रापि विचिकित्सितं' 'त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ' इत्यादि बोल उठे। कर्मकाण्डी शिष्टों के बीच में यह अप्रसिद्ध था। थोड़ा बहुत सत्संग में सुना था। रहस्य कुछ खुला नहीं था। यमराज के वाक्य से प्रथम यही रहस्य खुला कि यह तत्त्व परम रहस्य रूप है। यही परम पुरुषार्थ है। फिर क्या था? यमराज का सारा प्रलोभन व्यर्थ गया। इधर शिष्य परीक्षा भी सम्यक् सम्पन्न हुई।

नचिकेता का कहना था—'वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यः' मेरे इस प्रश्न के विषय में प्रवक्ता आप के बराबर कोई दूसरा नहीं मिल सकता। प्रश्न के लिये यमराज बोल रहे थे—'मरणं मानुप्राक्षीः' बात सही है। मरण

के बारे में मृत्यु देवता जितनी जानकारी रख सकता है उतना दूसरा कौन रखेगा? मृत्यु ही मरण को जान सकती है। अतएव पिताजी के यह कहने का कि 'मृत्यवे त्वा ददामीति' मैं बहुत बहुत प्रसन्न हो गया था मर कर ही मरण का रहस्य जाना जा सकता है। यहाँ भी विलक्षण रूपक है। मरण का अर्थ है कि शरीरादि से आत्मा का पृथक होना। मरणोत्तर आगे कुछ नहीं रहता तो "नहि सुविज्ञेयं" का कोई मतलब नहीं रहता। मरणोत्तर नास्ति 'असत्' कह कर समाप्त किया जा सकता है। अस्ति पक्ष में ही रहस्य भरा है। वह अस्ति कैसा है? घटादि के अस्ति के समान कोई है या और कुछ है। बल्कि घटादि—अस्ति भी सुविज्ञेय है। और कोई अस्ति है जो दुर्विज्ञेय है।

शरीरादि में आत्मतादात्म्य होने से वे चेतन प्रतीत होते हैं। उस तादात्म्य का नाश या बाध दोनों ही श्लेष से यहां मरण पद से विवक्षित हैं। उसका रहस्य मरण देवता ही सम्यक् ज्ञान पायेगा क्योंकि यमराज दोनों ही प्रकार के मरण के ज्ञाता हैं। शरीर पतन होने पर क्या अवशिष्ट रहता है यह प्रत्यक्ष चक्षुसे यमराज देखते हैं और तत्त्वज्ञानी होने से बाधात्मक शरीर तादात्म्यनिवृत्ति का भी अनुभव करते हैं। अतएव "वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यः" यह उक्ति नचिकेता की अत्यन्त मार्मिक है।

इस प्रकार तत्त्वज्ञान की पूर्व भूमिका तैयार करने के बाद प्रथम वल्ली में अधिकारी के निरूपणार्थ यमराज नचिकेता को वैराग्य की कसौटी पर कस कर देखना चाहते हैं। तदर्थ प्रथम अनेक प्रलोभन सामने उपस्थित किया। "शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व" इत्यादि उसी का नमूना है। मुख्यतः अधिकारी का विशेषण मुमुक्षुता-अर्थात् मोक्षेच्छा है। उसके विपरीत अनधिकारी का स्वरूप संसार राग है। अन्य सब इसी के आजू-बाजू के साधन हैं। "जीर्यन्मर्त्यःक्वधःस्थःप्रजानन्" इत्यादि विवेक का वर्णन है। "श्वोभावा मर्त्यस्य" इत्यादि भी विवेक प्रदर्शन है "को रमेत" यह कथन स्पष्ट वैराग्य कथन है "नान्यन्तस्मान्नचिकेता वृणीते" इत्यादि तो शमादि के उपलक्षक हैं।

द्वितीय वल्ली

कठोपनिषत् की द्वितीय वल्ली श्रेय और प्रेय के विवेचन से प्रारम्भ होती है। इन्हीं दोनों को आगे विद्या एवं अविद्या बताया जो इन्द्रियों का विषय है उसे प्रेय कहते हैं और जो निर्मल बुद्धि के पीछे भास रहा है उसे श्रेय कहते हैं। प्रेय मृगमरीचिका के समान दूर से दूरतर भागता रहता है। अभी हाथ में आया, अभी हाथ में आया इस प्रकार सुवर्णमृग के समान आशा की दौड़ में मनुष्य अपने स्थान से बहुत दूर जा कर अन्त में कुछ न दीखने से भटक जाता है। यही प्रेय का स्वरूप है। उसका परिणाम भय, अशान्ति एवं निराशा ही है। जैसे जंगल के मार्ग में चलते-चलते यह मालूम पड़ गया कि मैं गलत मार्ग पर चल गया हूं, भटक गया हूं तो वह इतना घबराता है कि वापिस चलते समय एक-एक पग सौ-सौ कोस के बराबर लगता है। निराश, भय आदि से वह घिर जाता है वैसे ही इस प्रेय के मार्ग में जाकर मनुष्य यहां संकट में पड़ जाता है। इसके विपरीत जो श्रेय मार्ग को पकड़ता है वह भीतर की ओर बढ़ता है ज्यों-ज्यों भीतर की ओर बढ़ता जाता है वह निर्भयता के साथ अपने स्वतन्त्र स्थान को देखने लगता है। धीरे-धीरे वह एक दहर-आकाश का अवलोकन करने लगता है। दहर दभ्र अल्प अणु आदि पर्यायवाची हैं। प्रथम ऐसा लगेगा कि हृदय के अंदर की ओर चलते हैं सिकुड़े से सिकुड़े स्थान की ओर बढ़ रहे हैं। किन्तु बात विपरीत होती है। अंदर की ओर आगे बढ़नेपर वह स्थान विशाल से विशालतर दीखने लगता है। अनन्तः ऋषि बोलने लगते हैं—'यावान् वा अममाकाशस्तावानयमन्तर्हृदय आकाशः यह बाह्य आकाश जितना बड़ा है उतना ही बड़ा यह अन्तर्हृदय आकाश है। बाहर चलते समय हम घर से बाहर निकलते हैं, अकेले पड़ जाते हैं, साथियों के अभाव में भयभीत होते हैं। इसके विपरीत भीतर चलते समय लगेगा कि हम घर में ही हैं। मेरा ही पूर्ण साम्राज्य है। निर्भयता निष्कम्पता एवं पूर्ण तृप्ति का अनुभव होने लगता है। मोक्ष में व्यापकतत्त्व में प्रवेश करने पर दूसरे लोग बाह्याकाश के सादृश्य की कल्पना कर एकाकीपना निर्भोग्यता आदि समझ कर भयभीत होते हैं। यही गौडपादाचार्य कहते हैं—'अभये भयदर्शिनः'। यह अत्यन्त अभयस्थान

है। बाह्य आकाश में स्वयं परिछिन्न हो कर अनन्त शून्य का दर्शन होता है तो भयभीत होना स्वाभाविक है। जैसे श्मशान में अर्ध रात्रि के समय होता है। वहां भूतप्रेतादि के आने और आक्रमण करने की संभावना से भय होता है। किन्तु भीतर इससे विपरीत है। यह आकाश अनन्त अवश्य है किन्तु वहाँ स्वयं परिछिन्न नहीं है जिससे कि भूत-प्रेत के आक्रमण का भय हो। स्वयं उसमें पूर्ण है। वह अपना धाम है घर है। वह शाश्वत शान्ति एवं आनन्द है। इसलिये बहिर्विषय को अविद्या एवं अन्तर्विषय को विद्या बताया। नचिकेता को बर्हिविषय त्यागी एवं अन्तर्विषयाभिलाषी कह कर यमराज ने प्रथम भूरि प्रंशसा की। 'विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये नत्वा कामाबहवोऽलोलुपन्त' मैं नचिकेता को विद्याभिलाषी समझता हूं, श्रेय-आकाङ्क्षी समझता हूं, प्रेयोऽभिलाषी नहीं, अविद्यानुरागी नहीं, क्योंकि अनेकविध काम्य विषयों को प्रस्तुत करने पर भी वे तुम्हें वश में नहीं कर सके।

यमराज के इतना कहने पर नचिकेता को आत्मविश्वास हो गया क्योंकि स्वर्ग के बारे मे चर्चा चलने पर ही उसमें पूरी आस्था न रख कर 'अस्तीत्येके' इत्यादि जिज्ञासा जो दिखायी उससे स्पष्ट हो रहा था कि कर्म-जन्य होने से स्वर्ग अनित्य है विश्वसनीय नहीं है। किन्तु उस समय स्पष्ट पूछने की हिम्मत इसलिये नहीं हो रही थी कि शायद मैं गलत भी हो सकता हूं, प्रश्न विसंगत भी हो सकता है। अब यमराज की की हुई स्वप्रशंसा सुनकर अभिमान नहीं, किन्तु आत्मविश्वास नचिकेता के मन में उत्पन्न हुआ। तब स्पष्ट प्रश्न किया—

"अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात
अत्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।"

धर्म एवं धर्मफल से, अधर्म एवं अधर्मफल से, कार्म से तथा कारण से भूत तथा भविष्य से जो अन्य तत्त्व आप देखते हैं उसे आप मुझे बतायें। धर्मफल स्वर्ग एवं सुखादि हैं। अधर्मफल नरक एवं दुःखादि हैं। मिश्रित, धर्म एवं अधर्म इन्हीं में गतार्थ हैं। कार्य यह संसार है। कारण माया आदि है। भूत वह है जिस का ध्वंस हो गया। भावी वह है जिस का अब प्रागभाव है आगे जिस की उत्पत्ति होने वाली है। ये पूरे के पूरे शून्यता

की ओर ही बढ़ रहे हैं। अन्ततः देशपरिच्छिन्न तथा कालपरिछिन्न का विनाश से शून्यवाद में पर्यवसान होगा। तब 'नायमस्तीति चैके' यही बात रह जायेगी "येयं प्रेते" से ये सभी विवक्षित हैं। अन्त में प्रमाणनाश होने से शून्य का ही परिशेष होगा। पर मुझे वह अभिमत नहीं। किन्तु मुझे उस के मूल विषय में अभिज्ञता भी नहीं हैं। हाँ आप ने मेरे विचार को सही बताया तो अब आत्मविश्वास के साथ मैं पूछना चाहता हूँ कि इन सबसे पृथक तत्त्व क्या है जिसे आप देखते हैं।

साधारण मनुष्य की भूल कहां होती है उसका यहां स्पष्ट सूचन है। इन छः विकल्पों के अंदर पूरे संसार को, जगत् को वह समझता है। फिर भी जगत् की सत्ता भी मानता है। इन छः ही विकल्पों में सब आ जाते हैं, अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं तो शून्यवाद अनिवार्य है। क्योंकि असत् सत् नहीं होता और सत् असत् नहीं होता। "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"। आदि में और अन्त में असत् माना गया तो वर्तमान में वह सत् हो ही नहीं सकता। यदि कहीं से सत्ता उसमें मध्यकाल में आयी तो वह सत्ता कहां से आयी, क्या है वह? वह भी उत्पन्न हो तो असत् पूर्व में रहा बाद में सत् हो गया कहना होगा। यह अनवस्था को आमन्त्रण देना है और अनवस्था तो वस्तु की असिद्धि को ही बतायेगी, यदि वह स्वतः सिद्ध है तो उसे ही यहाँ समझाने के लिये अनुरोध किया जा रहा है। और अन्तपर्यन्त यमराज ने उसे ही समझाया भी है। अतएव अन्त में उपसंहार होगा–'अस्तीत्येवोपब्धव्यः'।

ऐसा एक अस्ति तत्त्व है इतना कहने मात्र से वह समझ में नहीं आयेगा क्योंकि सुनने वाला घटादि वस्तु के अस्तित्व के समान किसी अस्तित्व की ही कल्पना करेगा जो व्यर्थ है। उससे शून्यवाद से ऊपर उठना संभव नहीं है। वह शून्य को ही अशून्य समझ रहा है। अस्ति समझ रहा है। उससे ऊपर उठने के लिये प्रथम चित्त को योग्य बनाना होगा यदर्थ ही ॐकारोपदेश यमराज ने प्रथम किया। "तज्जपस्तदर्थ-भावनं" के अनुसार जप एवं अर्थ भावना करने पर ही चित्त उसी ॐकार के अर्थ रूप परमार्थ अस्तित्व को समझने में समर्थ होगा।

इस ॐकारोपदेश के बाद उपासना के बीच में नचिकेता को समय दिया कि नहीं। जैसे प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन को उपदेश देकर मननार्थ समय दिया था वैसे उपासनार्थ समय दिया या नहीं यह यहाँ उपनिषद् में नहीं बताया है। शिष्य अधिकारी हो और गुरु सुसमर्थ हो तो उपदेश-समकाल में ही सब कुछ सुसिद्ध हो सकता है। अतएव उत्तमाधिकारी के लिये तत्त्वमसि उपदेश ही पर्याप्त है ऐसे वेदान्तियों में प्रसिद्धि है। प्रजापति सुसमर्थ थे। किंतु इन्द्र और विरोचन अनधिकारी थे। अतएव बार-बार ब्रह्मचर्य धारण का आदेश प्रजापति देते रहे। कठोपनिषत् में उस विलम्ब की कल्पना अनावश्यक ही लगती है।

ॐकार के उपदेश के बाद मुख्य तत्त्वोपदेश उस आदि अन्तरहित सत्ता को बताने के लिये ही शुरु होता है—"न जायते म्रियते वा" इत्यादि से। कठोपनिषत् के यहाँ के दो श्लोक अत्यन्त महत्त्व रखते हैं अतएव गीता में भगवान् श्रीकृष्ण "न त्वेवाहं जातु नासं" इत्यादि आत्मसत्ता का प्रथम वर्णन जो किया उसे प्रमाणित एवं दृढ़ करने के लिये इन्हीं दो मन्त्रों को वहां ले गये। इस रहस्य को भगवत्पाद शंकराचार्य ने अपने भाष्य में सुस्पष्ट किया। 'शोकमोहादि संसारकारणनिवृत्त्यर्थं गीताशास्त्रं न प्रवर्त्तकमित्यर्थस्य साक्षिभूते ऋचावानिनाय भगवान्......य एवमिति। शास्त्र निवर्तक है प्रवर्त्तक नहीं। प्रेय से निवृत्त होने पर श्रेय में स्वयं लग जायेगा यह कठोपनिषत् का मर्म है, उसे भगवान् ने भी गीता में लाकर रख दिया कि गीताशास्त्र भी निवर्त्तक है। प्रवृत्ति तो अर्जुन की प्रकृतिसिद्ध थी। उसमें आये हुए मोह हट गया तो प्रवृत्ति हुई। वस्तुतः प्रेयोनिवृत्त्यर्थ ही गीताशास्त्र भी है। "नाविरतो दुश्चीतात" इत्यादि अधिकार संपदनार्थ हैं।

एक-एक वल्ली पर दो-दो महीने हमने प्रवचन किये थे। तात्पर्य एक वर्ष का कठोपनिषत् प्रवचन ही यह पाठकों के हाथ में है। इसे छपाने की प्रेरणा मलबार हिल्स की निवासिनी स्वर्गीया कान्तादेवी कपूरने की थी। प्रवचनों को टेप करने की या लेखन की सुविधा अप्राप्त थी। अतः प्रवचनोत्तर जितना याद में रह गया उतने का संग्रह हमने स्वयमेव किया। प्रवचनों में बतायी हुई बहुत सारी बातें छूट भी गयी होगी। तथापि जहां तक संभव हुआ उतना याद कर लिखने का मैंने प्रयास किया।

इतनी बड़ी पुस्तक को "यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च" को सुधार कर प्रेसकॉपी तैयार करने की सेवा सुश्री दमयंती बेन महाणीने किया इस प्रकार तन-मन सेवा तथा श्रीमती कान्तादेवी और उनके पति श्रीमान् महेन्द्र कुमार कपूर की यथासंभव मुद्रणार्थ धनसेवा उल्लेखनीय है ये तीनों ही आशीर्वादार्ह हैं। ब्रह्मविद्या स्वरूपिणी उमा महेश्वरी देवी इन सबको सद्ज्ञान प्रदान करें यही हमारी मङ्गलमय प्रार्थना है।

अभी हाल में ही उल्लासनगर ॐकारानन्द आश्रम के महा-मण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी शिवेन्द्र पुरीजी ने भी मुद्रणार्थ उपयुक्त आर्थिक सहयोग दिया है। संतों की अपनी चीज है अतएव धन्यवादादि की आवश्यकता नहीं है ऐसा मेरा ख्याल है।





कठोपनिषत्

प्रथम वल्ली

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः ३ ॥

ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। वैसे तो सत्कार्यमात्रमें विघ्नोंका आना स्वाभाविक है। इसीलिये 'शुभस्य शीघ्रं' इत्यादि कहावत बन गयी। ब्रह्मविद्यामें तो विशेषरूपसे विघ्न होते हैं क्योंकि देवता भी इसमें विघ्न डालने लगते हैं। बृहदारण्यकमें "अहं ब्रह्मास्मि" इस बोधके प्रकरणमें बताया है कि "तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते"—देवता भी ब्रह्मवेत्ताका कुछ भी सुधार नहीं सकते, बिगाड़ नहीं सकते "तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः"—इसलिये देवातओंको यह अच्छा नहीं लगता कि मनुष्य इस ब्रह्मको जान ले। अप्रियमें विघ्न डालना स्वाभाविक है। यद्यपि देवता सत्त्वगुणी होते हैं किन्तु ब्रह्मप्राप्ति निर्गुणावस्था है। अतः सत्त्वगुणी भी निर्गुणविरोधी होते हैं। अतः विघ्न-निवारणार्थ शान्तिपाठ करना चाहिये यही संप्रदायपरम्परा है। शान्तिपाठसे विघ्नशान्ति होती है यही मान्यता है। कठोपनिषत्में 'सह नाववतु' इत्यादि शान्तिमन्त्र है। आदिमें तथा अन्तमें इसका पाठ किया जाता है।

सह नाववतु। कठोपनिषत् कृष्णयजुर्वेदीय कठ शाखा के अन्तर्गत है। वेदों को पढ़ते समय अर्थ भी ध्यानमें रखना चाहिये। अर्थ न जाननेवाले वेदपाठी को स्थाणु बताया है। "स्थाणुर्वा एषः"। स्थाणुका अर्थ है ठूंठ। जैसा पाठ होगा वैसा परिणाम भी होगा। अर्थात् मनुष्य ठूंठ समान हो जायेगा। अतः अर्थ जानना भी आवश्यक है। अर्थस्मरण करते हुए पाठ करो। अथवा यूं समझो कि वेदपाठ सुवर्ण है तो अर्थज्ञान सुगन्ध है। "सोनेमें सुगन्ध" यह कहावत प्रसिद्ध है। तात्पर्य यही कि वेदपाठ सफल है। तथापि पूर्ण सफलता अर्थज्ञान होनेपर ही होगी। अतः अर्थस्मरण करते हुए यह मन्त्रपाठ करो।

'स' और 'ह' ये दो पद हैं। 'सह' ऐसा एक पद भी है। प्रथम पाद तथा द्वितीय पाद दोनों में सह पद आया है। बल्कि तृतीयपादमें भी सह है। अतः एक 'सह' दो शब्द है। उसको दोनों पादोंमें अन्वितकर और द्वितीय सहको प्रथममें जोड़कर व्याख्या करनी चाहिये। 'स' का अर्थ है वह प्रसिद्ध परमेश्वर ।' 'ह' का इतिहासविदित अर्थ है। उसी अर्थमें आगे 'उशन ह वै', तस्य ह नचिकेता' इत्यादि प्रयोग मिलेगा। सः =वह ह=सकलविदित परमेश्वर नौ=हम दोनों (शिष्य तथा आचार्य दोनों) की सह=साथ-साथ अवतु=रक्षा करें इस प्रकार वाक्य योजना है। दूसरे पादमें 'अवतु' की जगह 'भुनक्तु' किया है। दोनोंका सामान्यतः अर्थ एक जैसा ही है। किन्तु सूक्ष्मभेद दोनों में है। ॐकारमें अ उ म ऐसी तीन मात्रायें होती हैं। उनकी सन्धिमें "ओं" होता है ऐसी एक शास्त्रीय मान्यता है। संस्कृत व्याकरण के रचयिता महर्षि पाणिनिके अनुसार 'अव' धातुसे ओं होता है। 'अव' से 'म' प्रत्यय होने पर 'व' के स्थान में 'ऊ' हो जाता है। अवतीति ॐ। ॐकार किसकी रक्षा करता है? कैसी रक्षा करता है? वह आत्मरक्षा करता है। ॐकार परमेश्वरका प्रिय नाम है। "तस्य वाचकः प्रणवः।" जैसे प्रियनामसे किसीको पुकारो तो वह शीघ्र संमुख होता है। वैसे अपना प्रिय नाम ॐ बोल कर परमात्मा को पुकारने पर परमात्मा शीघ्र प्रगट होता है। यही कारण है कि किसी भी भगवतमन्त्रके साथ ॐकार जुड़ता है। जैसे ॐ नमः शिवाय, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय इत्यादि। अतः महर्षि पतञ्जलिने कहा—तज्जपस्तदर्थभावनम्। ॐ का जप करो और उसका अर्थचिन्तन करो। उसका फल है—"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" प्रत्यक् चतेन आत्मा परमात्माका अवगम अर्थात् पूर्णज्ञान होता है और विघ्न बाधायें नष्ट होती हैं। प्रत्यगात्माके अज्ञानसे आत्मघात बताया है।

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्
यः स्वात्मुक्त्यै न यतेत विद्वान्
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥

जैसे तैसे अर्थात् मुश्किलसे दुर्लभ मानव जन्म, उसमें श्रुतिबोधकारक पुरुषजन्म पाकर जो आत्माके मोक्ष के लिये यत्न नहीं करता, वही

आत्मघाती है क्योंकि असत् के ग्रहण से वह अपने को ही लुप्त करता है। विद्यमान शुद्ध आत्माको अज्ञानके कारण अविद्यमान जैसे बनाया। यही आत्मघात है। यही असद्ग्रह है। शुद्ध आत्मको अशुद्ध शरीरादिरूप जाना। प्रत्यक्‌चेतनाधिगम से अज्ञाननिवृत्ति होनेपर आत्मरक्षा होती है। यही "अवतु" का अर्थ है। "अव" धातुसे सूचित ओंकारसे होनेवाली आत्मरक्षा अवधात्वर्थ है। शिष्य और आचार्य दोनोंकी प्रणवकृत आत्मरक्षा वह परमेश्वर अपनी कृपासे संपादित करे यह प्रथम पादका अर्थ है।

सह नौ भुनक्तु। भुज धातुके दो अर्थ हैं। पालन और अभ्यवहरण। अभ्यवहरण माने भोजन। राजाके लिये महीभुक् नाम आता है। उसका अर्थ पृथिवीको खानेवाला नहीं किन्तु रक्षा करनेवाला होता है। हाथको भुजा कहते हैं क्योंकि हाथ रक्षक है। क्षत्रिय है। विराट्शरीरकी तरह हमारे शरीरमें भी चार जातियां हैं। मन्त्रमें कहा है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत ॥

यह विराट का वर्णन है। हमारे शरीरमें मुख ज्ञानप्रधान होनेसे ब्राह्मण है। बाहु रक्षक होनेसे क्षत्रिय है। कोई मारने आवे तो आगे बाहु बढ़ते हैं बचानेके लिये। इसीलिये उसका नाम भुजा है। परन्तु भुज शब्दका प्रयोग करते ही प्रथम भोजन उपस्थित होता है। फलतः भोजनके द्वारा जो रक्षा है वह भुनक्तु का अर्थ होगा। भोजनके द्वारा शरीररक्षा होती है। शरीररक्षा हो तभी आत्मरक्षा संभव है।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'

ऐसा बताया है। परन्तु भोजनमात्रसे रक्षा नहीं होती। क्या भोजन करनेवाला मरता नहीं है? बिमार नहीं होता? स्वस्थ ही रहता है? नहीं। तात्पर्य आत्मरक्षा जितनेसे हो उतनी शरीररक्षा अपेक्षित है। सो भी भगवत्कृपासे ही संभव है। स्वास्थ्यके लिये भी तो परमेश्वरकी प्रार्थना करते ही हैं। वही प्रार्थना "सह नौ भुनक्तु" का भी अर्थ है। हे परमेश्वर हम दोनों (शिष्य एवं आचार्य) की साथ-साथ में बाह्य रक्षा भी करो।

सह वीर्यं करवावहै। वीर्य सामर्थ्यको कहते हैं। आत्मबल ही यहां सामर्थ्य है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—यह आत्मा बलहीनको प्राप्त

नहीं होता। यहां बलका अर्थ हाथी घोड़े आदि का बल नहीं है। आत्मबल ही अर्थ है। आत्मबल क्या है? सुदृढ़ आत्मनिश्चय । "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" इस श्रुतिमें "बलस्य भावः" बाल्यं ऐसा अर्थ किया है। श्रवणके बाद मननादिसे जो दृढ़ता होती है वही आत्मबल है। मननसे जब वह दृढ़ हो गया कि संसार स्वप्नतुल्य है, आत्मा ही परमार्थसत्य है तो उसमें क्या भय होगा? यही दृढ़ता आत्मप्राप्तिका साधन है। दूसरी बात, जो ब्रह्मवेत्ता होगा उसमें स्वभावतः परम सामर्थ्य आ जाता है। "न तस्य नाभूत्या देवा ईशते" ।

सामान्य सामर्थ्य होनेपर भी ब्रह्मवेत्तामें निग्रहानुग्रहशक्ति आती है। इसीलिये बताया "तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः"—अपना कल्याण ऐश्वर्यादि चाहनेवाला ब्रह्मज्ञानीकी अर्चना करे।

तेजस्वि नावधीतमस्तु। आत्मबल तभी होगा यदि अध्ययन तेजस्वी हो। तदर्थ अध्ययनकी तेजस्विताके लिये प्रार्थना है। न्यायसूत्रकारका कहना है "तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिभिः श्रेयोऽर्थिभिरुपेयात्।" प्रथम शिष्य, गुरु या सब्रह्मचारियोंके साथ शास्त्रविचार करें। गुरु शिष्यको ब्रह्मोपदेश करता है। उससे शिष्यको तो लाभ होता ही है गुरु को भी लाभ होता है। श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन्! आप जैसे-जैसे प्रश्न करते हैं वैसे-वैसे कथामें नवीनता आ जाती है, नयी स्फुरणा होती है।

"साधु पृष्टं महाभाग त्वया भागवतोत्तम ।
यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः ॥"

अतः कथाप्रवचनादिसे आचार्यकी विद्या भी तेजस्वी होती है। गुरु और शिष्य न हो तो सब्रह्मचारियोंके साथ विचारविमर्श करो। ब्रह्मचारीका अर्थ है—ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये योग्य व्रतको धारण करनेवाला। वेदश्रवण करनेवाला। सहध्यायी सब्रह्मचारी होता है। इस प्रकार विद्या तेजस्वी होती है। फिर सब मिलकर सिद्ध सन्तके पास जायें और उनसे पुनः श्रवण करें। जैसे जैविलिके पास आरुणि गौतम तथा श्वेतकेतु दोनों मिलकर गये। यह शिष्यगुरुउदाहरण है। अश्वपतिके पास प्राचीनशाल, सत्यप्रज्ञ, इन्द्रद्युम्न, बुडिल आदि सब्रह्मचारी गये यह द्वितीयोदाहरण है। परन्तु इतनेमात्रसे अध्ययन तेजस्वी हो ऐसी बात नहीं। यहां भी ईश्वरकृपा आवश्यक है।

अतः 'तेजस्वि नावधीतमस्तु' यह प्रार्थना है। अध्ययन अर्थात् श्रवणसे उत्पन्न ज्ञान तेजस्वी हो तब मननप्रयुक्त आत्मबल होगा। तब निदिध्यासनप्रयुक्त आनन्दभुक्त्व होगा। तब दर्शनात्मक अवन होगा। इस प्रकारसे भी व्याख्या संभव है। विशेष व्याख्या इस उपनिषत् के अन्तमें आयेगी।

मा विद्विषावहै। हम शिष्य एवं आचार्य परस्पर नानादोषनिमित्तक विद्वेष न करें। अध्यापन समयमें आचार्योंमें यह देखा जाता है कि कोई शिष्य अधिक प्रिय होता है। कोई अल्पप्रिय और कोई अप्रिय। मतलब आचार्यमें विषमता आ जाती है। जैसे द्रोणाचार्य ने अर्जुन और एकलव्य में विषमता की । छात्रोंमें बुद्धिवैषम्यके कारण किसीको सिद्धि मिलती है, किसीको नहीं, तो वह समझता है कि आचार्यने मेरे साथ अन्याय किया। तब आचार्यके प्रति द्वेषभाव होने लगता है। उसके निवारणार्थ यह प्रार्थना है।

आचार्यके कुछ कर्तव्य हैं, शिष्यके भी कुछ कर्तव्य हैं। सर्वप्रथम कुछ शास्त्रसिद्धान्तपर विचार करें। वेदोंमें दो वाक्य आते हैं। एक है "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" या "तस्मात्स्वाध्यायमधीयत"। दूसरा वाक्य है–"अष्टवर्षं ब्राह्मण-मुपनयीत तमध्यापयीत दशवर्षं राजन्यम्" इत्यादि। मीमांसाके दो धुरंधर विद्वान् हुए। एक कुमारिल भट्ट थे। दूसरे प्राभाकर मिश्र। कुमारिल भट्ट अध्ययनविधि मानते हैं। प्रभाकर अध्यापनविधि मानते हैं। उनके आपसी शास्त्रार्थ की हमें आवश्यकता नहीं। दोनोंके निष्कर्षकी आवश्यकता है। भट्टकुमारिल मतमें अध्ययन नित्यकर्म है। जैसे सन्ध्यावन्दन नित्यंकर्म है न करनेसे प्रत्यवाय लगता है वैसे अध्ययन भी नित्यकर्म है। स्वयं अध्ययन करो यदि गुरु मुखसे प्रथम श्रवण किया हो तो। नहीं तो-श्रवण नहीं किया हो तो भी और कृतश्रवण होने पर भी सत्संगादिमें बैठकर श्रवण करो। प्रभाकरका कहना है कि आचार्यत्वकी कामना होनेपर अध्यापन करो। अध्ययन कोई नहीं करेगा तो अध्यापन कैसे हो? अतः इसीसे अध्ययनकर्तव्यता भी सिद्ध है। आचार्यत्वकी कामनासे अध्यापन शुरू किया तो वह नित्य हो जायेगा। काम्यकर्म भी प्रारंभ होनेके बाद नित्य हो जाता है। जैसे गवर्नमेन्टकी नौकरी धनप्राप्तिके लिये प्रांरभ की।

किन्तु कुछ सालके बाद धनेच्छा न रही तो एका-एक नौकरी छोड़ नहीं सकते। इस्तीफा देना पड़ेगा। इस्तीफेकी मंजुरीकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अन्यथा वह दण्डनीय होगा। डाक्टरने पांच सौ रूपये फीसमें पेटका आपरेशन शुरु किया। पेट आधा फाड़कर कहे कि हमको पांच सौ नहीं चाहिये हम काम छोड़ते हैं तो? यह नहीं हो सकता। काम्य भी शुरू होनेपर नित्य हो जाता है। वैसे अध्यापन शुरू किया तो विद्या पूर्ण देनी ही होगी। न देने पर प्रत्यवाय लगता है।

कौत्स जंगलोंमें विचरण कर रहा था। वहीं एक पेड़ दिखाई पड़ा। ग्रीष्म ऋतु होनसे छायार्थ उसके नीचे जा बैठा। शीतल छाया थी। उस वृक्षपर बहुत सारे फल लगे हुए थे। लाल फल देखते ही लोगोके मुंहमें पानी आता था। राहगीर फल तोड़ते। किन्तु बादमें खाने लगते तो "छिः" कहकर फेंक देते और चले जाते। कौत्सको कुतूहलता हुई। कौत्सने भी एक फल उतारकर तोड़कर देखा। उसमें कीड़े कीड़े दिखाई दिये। इतने में उनके गुरु वहां पहुंचे। गुरुजीसे कौत्सने पूछा कि इन सभी फलोंमें कीड़े कैसे लग गये? गुरुजीने कहा ये पूर्वजन्ममें महान् विद्वान्, शास्त्ररहस्यवेत्ता थे। इनके कुल (गुरुकुल) में हजारों छात्र आश्रय पाते थे। किन्तु पढ़ाते हुए भी इन्होंने किसी को विद्यारहस्य नहीं दिया। आश्रयदानका परिणाम आज भी यह छाया देता है। विद्यादानका परिणाम खूब फल भी लगे हैं किन्तु अन्तःरहस्य न बतानेसे अंदरसे कीड़े लग गये हैं। "साङ्गं च सरहस्यं च" ऐसा बताया है। विद्यादान न करनेसे क्रमशः वह नष्ट होती है।

हमारे आयुर्वेदमें रहस्यमय औषधियां भी बतायी हैं। हमने गांवमें देखा—एक जबर्दस्त वैद्यजी थे। कोई भी किसी भी बिमारीसे पीड़ित हो, उनको बोल देवे तो वे बगीचोंमेंसे कोई बूटी मसलते-मसलते लाते। इसलिये कि दूसरोंको पता न लगे कि कौन-सी दवा है। एक ही खुराकसे लोग निरोग हो जाते थे। किन्तु दवा किसी-को नहीं बतायी। मरते समय विद्या को साथ ले गये। क्या इसमें कोई प्रत्यवाय नहीं लगा होगा ? "विद्या ह वै ब्राह्मणमेत्याब्रवीत्। शेवधिष्टेऽस्मि गोपायस्व मां" विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली—मैं तुम्हारी निधि हूँ, मेरी रक्षा करो। परन्तु क्या

मनुष्य के मरते समय विद्या भी मर जाये यही उसकी रक्षा है? अतः योग्य शिष्यमें रहस्यविद्याको रखना परम आवश्यक है। यह बल्कि काम्य ही नहीं, नित्य ही है। अत एव ऋषिऋणरूपसे उसका वर्णन है। पहले वाले लोग अपनी विद्या छिपाते रहते तो सभी मनुष्य पशु बन गये होते। हजारों लाखों पुस्तोंमें जाकर मनुष्यने इतनी प्रगति की है।

शिष्यका भी कुछ कर्तव्य है। विद्याध्ययन तो नित्य है ही। साथ हीमें नियम भी है। वही नियम गीतामें बताया—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥"

प्रणिपात नमस्कारको कहते हैं, विनम्रताको भी कहते हैं। वहां विद्वेषके लिये कहां अवसर संभव है? साथ परिप्रश्न करते हुए सेवाको भी जोड़ दिया। गुरुसे विद्या निकालनेका उपाय लड़ाई नहीं, प्रणिपात और सेवा है। इस प्रकार आचार्य तथा शिष्य स्व स्व कर्त्तव्य में रहते हुए विद्यासाधना करें। विद्वेष होने पर कर्त्तव्यपालन न होगा। तब प्रत्यवाय भागी होंगे। ऐसी स्थिति में सामान्यविद्या का भी रहस्य प्रगट नहीं होगा तो ब्रह्मविद्या का रहस्य कैसे प्रगट होगा? अतः विद्वेष को त्यागने के लिये यह वचन है। इस में भी परमात्मा की कृपा आवश्यक होने से प्रार्थना की जा रही है— मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। त्रिविध ताप, त्रिविध विघ्न आदि के लिये प्रणवार्थ परमात्मा के प्रति तीन बार यह शान्तिप्रार्थना है। ॐ=ॐकारार्थ हे परमात्मन् शान्तिर्भवतु=शान्ति हो, शान्ति हो, शान्ति हो ॥

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

वाजश्रवस ऋषिने सकाम भावसे सर्वमेध यज्ञ किया था। ऋषिका नचिकेता नामका पुत्र था। ॥ १ ॥

कठ नामके ऋषिके द्वारा प्रोक्त होनेसे इस उपनिषद्का नाम कठ या काठक उपनिषद् है। कठऋषि इसके रचयिता नहीं, केवल प्रवक्ता हैं। जैसे भारतवर्ष भरतनिर्मित नहीं केवल भरतशासित है। कुरुक्षेत्र कुरुनिर्मित नहीं, कुरु आवास है। पञ्चाल (पंजाब) देश पञ्चालनिर्मित नहीं पञ्चाल-

वासित है। अहमदाबाद अहमदनिर्मित नहीं किन्तु अहमदने आबाद किया। भागीरथी भगीरथ निर्मित नहीं भगीरथ-आनीत है। वैसे कठोपनिषद कठनिर्मित नहीं, कठप्रोक्त है। क्योंकि वेद अपौरुषेय है। अनादिसिद्ध है। अतएव सर्वदोषरहित है। किसी व्यक्तिके द्वारा निर्मित हुआ होता तो उस व्यक्तिमें जो भाव-कुभाव रहता है उसकी छाया, ग्रन्थमें आ जाती। यह अपौरुषेय है। इसलिये वेदोंका अध्ययन महान् पुण्यकार्य बताया।

ऋषिका नाम कठ कैसे पड़ा? क्योंकि ये ऋषि सतत हृदयकमलमें ब्रह्मचिन्तन किया करते थे।

'उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशो ।
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरे ॥'

कुछ कुशाग्रबुद्धि महर्षि उदर अर्थात् नाभिकमलस्थित परिच्छिन्न परमात्माकी उपासना करते हैं। किन्तु अन्य ऋषि हृदयमें दहरपुण्डरीकमें व्यापकरूपस्थित परमात्माकी उपासना करते हैं। वैसे तो छः चक्र या कमल हैं। मूलाधारमें चतुर्दल कमल है। स्वाधिष्ठानमें षड्दलकमल है। इन दोनोंको तामिस्रचक्र माना है। यहां उपासना नहीं होती है। होती है, किन्तु तामस। नाभिकमलमें दशदलकमल है। वहां उपासना होती है। जिसका निर्देश 'उदरमुपासते' इस भागवत श्लोकमें आया है। उसके बाद हृदय-कमल है जिसमें द्वादशदल हैं। पुनः कण्ठस्थान है। जहां षोडशदलकमल है। भ्रुकुटिमें द्विदलकमल है। ये षट्चक हैं। इसके ऊपर सहस्रार है। मूलाधार कमलमें 'व' से 'स' तक 'वं, शं, षं, सं ऐसे चार वर्ण हैं। स्वाधिष्ठानमें 'ब' से 'ल' तक अर्थात् बं, भं, मं, यं, रं, लं ऐसे छः वर्ण हैं। नाभि—मणिपूरमें 'ड' से 'फ' तक डं, ढं, णं इत्यादि दश वर्ण हैं। हृदय—अनाहतमें कं, खं, गं इत्यादि ठं तक द्वादश वर्ण हैं। विशुद्धि—कण्ठमें सोलह स्वर हैं। भ्रुकुटि—आज्ञामें हं, क्षं, दो वर्ण हैं। इसीको—

'वासान्ते बालमध्ये डफ-कठसहिते कण्ठदेशे स्वराणां ।'
हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि ॥

से बताया। इनमें हृदय में 'क' से 'ठ' तक बताया। इसीको लेकर कठ ऋषि नाम पड़ गया। वे हृदयमें कठध्यान करते थे। इस उपनिषदमें

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति'

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष हृदयमें रहता है। मध्य आत्माका अर्थ है हृदय। अतएव आगे इसी उपनिषदोंमें स्पष्ट हृदयका ही निर्देश किया है–

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।"

अन्तरात्मा अंगुष्ठपरिमाण पुरुष है। वह सदा ही लोगों के हृदय में स्थित है। कठ ऋषि हृदयमें ब्रह्मदर्शन करते थे। उनको इस उपनिषत्‌की स्फुरणा हुई। अतः यह कठोपनिषत् कहलायी। 'कठ कृच्छ्रजीवने', ऐसा धातुपाठ है। उसी का कठिनं, कठोरं इत्यादि रूप है। जो कठिन तप आदि करे वह कठ कहलाता है। यह भी व्याख्या संभव है।

यह उपनिषत् यमराज तथा नचिकेताके संवादात्मक है। विद्याकी महिमा बतानेके लिये आख्यायिका है। इस विद्याके लिये मृत्युका भी वरण करना पड़ता है जैसे नचिकेताने किया और नचिकेता सदृश परमपवित्र आत्मा ही यह विद्या पानेमें समर्थ होता है। प्रथम मन्त्रका अर्थ है–उशन् अर्थात् सकाम होकर वाजश्रवस ऋषिने सर्वस्व दान किया अर्थात् विश्वजित् नामका यज्ञ किया जिसमें सर्वस्व दान किया जाता है। उस ऋषि वाजश्रवसका नचिकेता नामका एक पुत्र था।

उशन् ह वै वाजश्रवसः । इस उपनिषद्‌में एक विशेषता यही है कि आवश्यक सूचनीय अर्थको ही कथाभागमें भी बताया है। अधिक कथाविस्तार नहीं करते। उसका प्रथम उदाहरण 'उशन्' यही शब्द है। 'वश कान्तौ' धातुसे उशन् होता है। इसका अर्थ है–कामयमानः। अर्थात् कामना रखते हुए। किस चीजकी कामना रखते हुए यह नहीं बताया। क्योंकि उसका यहां उपयोग नहीं है। इतना ही यहां कहना है कि ये ऋषि निष्काम नहीं थे। सकाम थे। सकामता जहां है वहां कर्ममें साद्गुण्य-वैगुण्यका विचार विशेषरूपसे चलता है। वहां अपराध क्षन्तव्य नहीं होता। अतएव आगेके प्रसंगकी भी संगति है। ऋषिका नाम आगे आया है। 'औद्दालकिरारुणिः' इस विशेषणसे ऋषिका नाम उद्दालक सिद्ध होता है। विशेष विचार उसी मन्त्र की व्याख्या में करेंगे।

वाजश्रवसः। क्या इन आरुणि की कुलपरम्परा ऐसे ही सकामोंकी रही? आगे मन्त्रमें 'पीतोदका' इत्यादि विशेषणपर ध्यान देनेसे मालूम होगा कि ये लोभी भी थे। ऐसी परम्परामें ब्रह्मज्ञानकी संभावना अत्यन्त क्षीण है।

अतः विशेषण जोड़ा—वाजश्रवसः। वाजश्रव नामके ऋषिका पुत्र वाजश्रवस कहलाता है। वाज अन्नको कहते हैं। उससे जिसका श्रव अर्थात् यश चारों ओर फैल गया वही 'वाजश्रव' है। वाजपेय, वाजपेयी आदिमें वाजका अन्न अर्थ है। पेय-पीने योग्य, वाज-अन्न दुग्धादि का जिसमें हवन हो वह वाजपेय है। उसे करनेवाला वाजपेयी है। वाज-अन्न से अर्थात् अन्नदान से जिसकी कीर्त्ति फैली हो वह वाजश्रव है।

अन्नदानकी महिमा अतिप्रसिद्ध है। सर्वोत्तम दान अन्नदान ही है। ऐसा बताया है।

'गजतुरगसहस्रं गोकुलं कोटि दद्यात्
कनकरचितपात्रं मेदिनीं सागरन्ताम् ।
उभयकुलपवित्राः कोटिकन्याः प्रदद्याद्
नहि नहि बहुदानं ह्यन्नदानं प्रधानम् ॥'

पहलेके जमानेमें मंदिरादि के लिये हाथी-घोड़ा दानमें देते थे। हमारे अखाड़ेके सन्तोंको राजओंने हाथी-घोड़ेका दान किया था जो हिन्दुधर्मकी रक्षाके लिये नंगे होकर लड़ाई करते रहे। गोकुलं। गजतुरगदानसे बढ़कर गोदान माना जाता है। आज भी प्रयाग, काशी, मथुरा आदिमें गोदानकी प्रथा है। गाय पवित्र होती है। माता मानी जाती है। उससे भी बढ़कर सुवर्णदान है—कनकरचितपात्रम्। गाय उत्तम है। किन्तु उसका पालनपोषण दुष्कर है। मरणधर्मा है। सुवर्णको कुछ खिलाना पिलाना नहीं पड़ता, वह मरता भी नहीं। और उत्तम है ही। उसकी आवश्यकता भी धनरूपेण सबको है। उससे बढ़कर भूमिदान है। रहेंगे आखिर पृथिवी पर ही। तब सर्वत्र प्रथम वही चाहिये। विदेशमें पासपोर्ट न हो तो घुसने नहीं देते। भूमि भी गो रूप ही है। अतः भूदान महादान ही है। इससे भी बढ़कर कन्यादान है। क्योंकि कन्यादान न होगा तो मानवजाति ही नहीं रहेगी। दम्पतिसे सन्तानपरम्परा है। वह मातृकुल-पितृकुल उभयसे पवित्र हो तो कहना ही क्या? परन्तु इन सब दानोंको पछाड़नेवाला दान अन्नदान है।

अन्नदान क्यों सर्वप्रधान है? इसमें प्रथम हेतु यह है कि अन्न हो तो जीवन है। जीवन हो तो दाम्पत्यका उपयोग होगा। घरजमीनका उपयोग होगा। सोना-चांदी काम आयेगी। हाथी घोड़ेकी जरूरत होगी। जीवनके

बिना ये सब व्यर्थ हैं। लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है—अन्नमय प्राण है। जीवनका भी अर्थ है प्राणधारण। अन्नमय, प्राणमय यह कोशोक्तिसे मिलाकर अपभ्रंश हुआ है। 'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' यह श्रुतिवचन तथा गीतावचन इसी अर्थकी पुष्टि करते हैं। इसीलिये अन्नदानके सभी अधिकारी हैं। जीनेका अधिकार सबको है। सुवर्णादि दानग्रहण करनेके सभी अधिकारी नहीं होते। क्योंकि उससे दुरुपयोग संभावित है। भिखारीको पैसा देते हैं। साधारणतया शिकायत आती है कि ये रातको सिनेमा देखने जाते हैं। कुछ तो मदिरामांसभक्षण भी करते हैं। कुछ लोग पूछते हैं कि सारी दुनिया सिनेमा देखती है तो भिखारी सिनेमा देखे तो कौनसा पाप हुआ? उत्तर यह है कि मोजशौ-ककी पूर्तिके लिये स्वयं कमाओ। भिक्षा तो प्राणधारणार्थ है। सिनेमा देखे बिना प्राण नहीं छूटते। अतएव भिखारी धनदानपात्र नहीं माना जाता।

अन्नदानकी दूसरी विशेषता यह है कि वह सीधे भगवानके पास ही जाता है। क्योंकि उदरमें वैश्वानररूपसे स्वयं परमात्मा विराजमान है।

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥"

यह गीता वचन है। मैं वैश्वानर (जठराग्नि रूप) होकर प्राणियों के शरीरमें स्थित हूँ और प्राण एवं अपान से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न पचाता हूँ।' अतएव अन्नदान करते समय भिखारीकी दृष्टि नहीं, वैश्वानर परमात्माकी दृष्टि रखी जाती है। इसीलिये भोजनके बाद ऊपरसे दक्षिणा देते हैं। होटलमें खानेवाला होटलमालिकको दक्षिणा देता है, न कि होटलमालिक खानेवालेको। अगर वह खानेवालेको दक्षिणा देने लगेगा तो फिर उसका दिवाला निकलेगा। यहां विपरीत इसलिये है कि भगवत्-दृष्टिसे भोजन देते हैं। भगवानने भोजन किया तो खाने-वाले भिक्षुककी कृपासे। अतः भिक्षुकको दक्षिणा दी जाती है। भिक्षुकको भोजन दिया तो हमने भिक्षुकका उपकार नहीं किया। भिक्षुकने भगवानको खिलानेका हमको मौका देकर हमारा उपकार किया यह सनातनधर्मका उच्च सिद्धान्त है।

किन्तु इसमें पात्र-सुपात्र भेद तो है ही। भावनावान् सुपात्र है। भावनारहित जो होगा वह केवल पात्र या अधमपात्र है। जैसे मुगलसराय होकर गाड़ी जा रही थी। किसी मनुष्यने दरवाजेपर खड़े होकर झांककर देखा तो जेबमेंसे एक रूपया गंगामें गिरा। दूसरा व्यक्ति था। उसने गंगाको देखते ही स्मरण किया—"पूर्णब्रह्मस्वरूपे" यह ब्रह्मवारि है, ब्रह्मद्रव है, साक्षात् भगवती है। अठन्नी निकालकर गंगामैयाकी जय बोलकर डाला। दोनोंका पैसा गंगामें गया। किन्तु क्या दोनों बराबर हैं? नहीं। कारण एकमें भावना है। दूसरे में नहीं। वैसा ही भेद एक भिखारी तथा एक संन्यासी में है। भिखारी तो वैश्वानर हिरण्यगर्भको नहीं जानता, पेट भरना जानता है। संन्यासी पेटमें वैश्वानर भावना करता है। अतः संन्यासी उत्तम पात्र हुआ। भिखारी अधम पात्र हुआ। दूसरा उदाहरण देखो। अग्निमें आधा किलो घी गिर गया और जल गया। दूसरे व्यक्तिने "अग्नये स्वाहा" आदि मन्त्र बोलकर घी डाला। क्या दोनों बराबर हैं? नहीं। भावना तथा मन्त्र दोनों एक जगह काम कर रहे थे। संत संन्यासी भोजन करते समय पंद्रहवाँ अध्याय बोलते हैं। उसमें "अहं वैश्वानरो भूत्वा" यह मन्त्र आता है। अतः वे सुपात्र हैं।

तीसरी बात यह है कि भोजन उत्तम हुआ तो घरमें और बाहर जाकर प्रशंसा करते हैं कि नहीं—खाना बड़ा बढ़िया था। संत संन्यासी जगह-जगह जाकर प्रशंसा करते हैं। वहां ऐसा सुन्दर भोजन खिलाया था। भगवान् श्रीकृष्ण किसी समय रुक्मिणीसे मजाकमें बोल गये कि हे रुक्मिणी! तुम तो सचमुचमें ठगी गयी। हम यदुवंशियोंको महान् मानना तुम्हारी भूल थी। हमारा न अच्छा कुल है, न हममें कोई गुण है। हमलोग केवल चालाक हैं। संतोंको बढ़िया भोजन खिला देते हैं। हमें मालूम है कि ये दूसरी जगह जाकर प्रशंसा करते हैं। और हुई भी वही बात।

"वैदर्भ्यैतदविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया ।
वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा ॥"

प्रथम तो रुक्मिणी घबरा गयी थी। किन्तु जब मालूम पड़ा कि ये मजाक कर रहे हैं, तब बोली आप ठीक ही कहते हैं। परमात्मा ब्रह्म कुलरहित ही है। "निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं" यह श्रुति भी आपको निर्गुण बताती है।

भिक्षु संन्यासी संत्रको कहते हैं। वे ही तो परमात्माकी श्लाघा कर सकते हैं। अस्तु, तात्पर्य यह कि अन्नदानसे यश बढ़ता है।

छान्दोग्य चतुर्थाध्यायमें कथा आती है वहां अन्नमहिमा बतायी है।

"जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस ।
स ह सर्वत आवसथान् मापयांचक्रे सर्वत मेऽत्स्यन्तीति ॥"

जानश्रुति श्रद्धासे देता था, बहुत देता था। बहुत भोजन तैयार करवाता था। हर जगह अन्नक्षेत्रगृह बनवाया। इसलिये कि सब जगहसे लोग आकर भोजन करें।

"अथ ह हंसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवं हंसो हंसमभ्युवाद ।
हो हो हि भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततम् ।
तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीदिति ॥"

सन्ध्या समयमें हंस ऊपरसे जा रहे थे। परस्पर बोलने लगे अरे! जानश्रुतिका उल्लंघन मत करो। इस जानश्रुतिका यशोरूपी तेज आकाश तक स्वर्गतक फैला है। उसका उल्लंघन न करो। कहीं तुम्हें वह जला न डाले। प्रसंग लंबा है। आगे रैक्वकी महिमाका वर्णन है। यहां तात्पर्य इतना ही लेना कि अन्नदानका तेज या यश स्वर्ग तक फैलता है। हंस का परमहंस अर्थ करो तो प्रसङ्गानुसार सुगम अर्थ होगा। ऐसा ही यश वाजश्रवाका हो गया था इसलिये उनका नाम वाजश्रवा पड़ा। इससे कुलकी महिमाका वर्णन हो जाता है जो ब्रह्मविद्यार्थ—ब्रह्मविद्याके लिये आवश्यक है।

यदि कुल उत्तम था तो वाजश्रवके पुत्र वाजश्रवस लोभी क्यों हुए? फिर नचिकेता महान् कैसे हुए? कारण यही कि कुछ कुलपरम्परागत गुण-दोष होते हैं और कुछ पूर्वजन्मगत गुणदोष होते हैं। महर्षि कश्यप महान् पुरुष हुए। प्रजापति कहलाये। उनका पुत्र हिरण्यकशिपु असुर हुआ। किंतु पौत्र प्रह्लाद आदि महान् भक्त हुए। ध्रुववंशीय अंग महान् राजा हुए। उनका पुत्र वेन बड़ा दुष्ट हुआ। किन्तु पौत्र राजा पृथु महान् अवतारी सिद्ध हुए। वैसे ही यहां भी है। वाजश्रव महान् हुए, उनके पुत्र वाजश्रवस लोभी हुए। किन्तु पौत्र नचिकेता अति महान् हुए।

सर्ववेदसं ददौ। सर्वस्वदक्षिणा दिया ऐसा अर्थ है। 'विश्वजिता यजेत' ऐसा वेदवाक्य आता है। उस यागमें सर्वस्वदक्षिणा दी जाती है। संन्यासी बनते समय सर्वस्वदक्षिणा दी जाती है। इसीलिये रामजी जंगल जाते समय सर्वस्वदक्षिणा देकर जाते हैं। कथा आती है कि सब कुछ देकर जानेकी तैयारी हुई तब एक ब्राह्मण आकर भिक्षा मांगने लगा। रामजी असमंजसमें पड़े। उन्हें स्मरण आया कि हमने और सब दिया किन्तु अभी गायें बची हुई हैं। अपार गोधन पड़ा है। ब्राह्मणको कहा कि इस लकड़ीको जोरसे फेंको। जिनती दूर जा गिरेगी उतनेमें आनेवाली गायें ले जाओ। ब्राह्मण दुबला-पतला था। लेकिन उसने जान लगाकर लकड़ी मारी तो सरयुपार जाकर गिरी। रामने उसे अपनी सारी गायें दीं। तात्पर्य यह है कि संन्यासमें सर्वस्वदक्षिणा होती है।

सर्वस्वदक्षिणा सबको ही देनी पड़ती है। कुछ लोग जीवित अवस्थामें देते हैं। दूसरे मरणोत्तर-मृत्युके बादमें। भर्तृहरिजी कहते हैं–

व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः।
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

ये (विषय) अपने आप चले जाते हैं तो महान् ताप होता है। यदि स्वयं त्यागो तो अनन्त सुख होगा। इसपर एक आदमी कहने लगा–महाराज, उलटा होता है। मनीपर्स गिर गया और हजार रूपया गुम हो गया तो अन्तमें 'जो गया सो गया' ऐसा समाधान कर लेते हैं। किन्तु हजार रूपया किसीको देनेको कहो तो असंभव है। हमारा परिचित एक आफिसर गांव जा रहा था। जौनपुर स्टेशनसे गाड़ी बदलना था। जिसको देखभाल करनेके लिये कहा वही उसके सूटकेसमें से दसहजार रूपया चुराकर लंबा हो गया। दुःख तो हुआ। किन्तु अन्ततः मनःसमाधान किया कि ऐसा होता ही रहता है। किन्तु उसने इतनी बड़ी रकम कभी दानमें नहीं दिया और न करेगा। सट्टेमें लाखों गँवाते हैं तो कुछ नहीं होता। लाखों देना कठिन है। तब भर्तृहरि ऐसा क्यों कहते हैं? सुनो। यह विवेकीकी बात है। सट्टेवाले आशामें हैं, गंवानेपर आगे मिलेगा। परन्तु विवेकीका एक पैसा भी गया तो वह दुःखी होगा कि किसी सदुपयोग में नहीं लगा। और जितना दिया उतना मनःसंतोष उसको होगा। मरणोत्तर सर्वस्व का त्याग बलात् करना

होगा। किन्तु फल कुछ भी नहीं। मरने से दस मिनिट पहले अगर सत्पात्रमें दिया तो उसका अपार फल होता है। यह कहो कि हम अपने बेटें-बेटीको दे देंगे तो? इसका उत्तर अगले मन्त्रमें मिलेगा।

तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस। वाजश्रवके पुत्र वाजश्रवस और उसके वंशज नचिकेता हुए। नचिकेता यह नाम यद्यपि रूढ़ है तथापि पहले समय में नाम प्रायः योगरूढ़ रखा जाता था। आज भी लगभग ऐसा ही रिवाज है। आशानुसार नाम रखते हैं। मिथुनराशिका नाम वैश्यलोग करोड़-मल रखते हैं। आशा यही कि यह करोड़का मालिक बनेगा। भले बाद में दरिद्र ही रहे। किशनदास, रामदास इत्यादि नाम भक्त लोग रखते हैं। देवीभक्त देवीदास, अम्बालाल आदि रखते हैं। नचिकेता नाम का यौगिक अर्थ है—न चिनोति न केतयति च। चिनोति का अर्थ है बाहर चयन करके अंदर लाना। केत धातु का अर्थ है—

'केत स्रावणे निमन्त्रणे च'

यहां न चिनोति के सहचार से स्रावण अर्थ ग्राह्य है। न स्रावयति। भीतर से बाहर की ओर गिराना स्रावण है। श्रुति में अक्षरवर्णन में यही बताया है।

'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति'

इत्यादि प्रारम्भ कर अन्त में बताया

'न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन'

वह अक्षर ब्रह्म किसी वस्तु को खाता नहीं—बाहर से अंदर लेता नहीं। और उसे कोई खाता नहीं—उससे निकाल कर दूसरा अपने में लेता नहीं। उपचय एवं अपचय से रहित ऐसा भी इसका अर्थ किया जा सकता है।

'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्'

कर्म से वह बढ़ता नहीं और घटता भी नहीं। ऐसी दूसरी श्रुति है। ऐसे अक्षर को आत्मरूप से जो समझता है वही नचिकेता है। सायणाचार्य ने

'देवासो अनु केतमायन्'

इस मन्त्र की व्याख्या में केत का संकल्प अर्थ किया है। देवता यजमान के संकल्प के साथ आ गये। चिनोति का निश्चिनोति भी अर्थ करते हैं। संसार विषयक निश्चय या संकल्प से रहित नचिकेता है ऐसा भी अर्थ

होता है। या संसारका जो चयन नहीं करता, संकल्प माने इच्छा भी नहीं करता वही नचिकेता है ऐसा भी अर्थ है।

'कित निवासे'

ऐसा भी धातु पाठ है। जिससे निकेतन आदि शब्द बनते हैं। न चिकेतयिषतीति नचिकेता। जो संसार बसाना नहीं चाहता। कुल मिलाकर अर्थ यही निकलता है जो संसार से उपरत हो, ब्रह्मनिष्ठ हो या होना चाहता हो वही नचिकेता है।

'केत' से संकेत शब्द बनता है। नैयायिका लोग संकेत का इच्छा अर्थ भी मानते हैं। जैसे ईश्वरसंकेतः शक्तिः यहां ईश्वरेच्छा शक्ति है यही अर्थ है। उसमें पूर्वोक्तरीत्या नचिकेता शब्द बनाने पर इच्छारहित-कामरहित अर्थ निकलता है। तब उशन् और नचिकेता इन दोनों में आसमान जमीन का अन्तर रहा यह ध्वनि भी होता है। वाजश्रवस का पूर्वोक्त गुणयुक्त अन्वर्थक पुत्र था ॥ १ ॥

तँ ह कुमारँ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु
श्रद्धाऽऽविवेश । सोऽमन्यत ॥ २ ॥

सर्वस्वदक्षिण यागकी समाप्तिमें दक्षिणा देनेकी बारी जब आयी तब कुमार नचिकेतामें श्रद्धाका आवेश हुआ। बालकने सोचा कि– ॥ २ ॥

ब्रह्मविद्याका श्रवण करना अलग बात है। अधिकारी बनना अलग बात है। श्रवणमात्र तो सब कर सकते हैं। किन्तु परिणामतक पहुंचाने वाला श्रवण कोई कोई ही कर पाता है। उसके लिये ही अधिकारी बनना आवश्यक है। उत्तम कुलमें जन्म भाग्यसे प्राप्त होता है। वाजश्रव ऋषि महान् थे। उनके पुत्र वाजश्रवसमें कुछ अवगुण अवश्य थे। किन्तु उतना मात्र बाधक नहीं है। कई पुस्तों तक खराबी हो तब वह वंश कलुषित होता है। इसीलिये "अनुपश्य यथा पूर्वे" इत्यादि आगे मन्त्र विशेष बात उठायेगा। योग्य अधिकारी वह है जो स्वयं सुधरा हो और दूसरेको भी सुधारता हो। इसी बातको बतानेके लिये अगला विचार है। एतदर्थ ही पूर्वमन्त्रमें "पुत्र आस" यह पुत्र शब्दाका प्रयोग है।

बालकके लिये शास्त्रोंने यह आदेश दिया है कि–

"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।"

माताको देव समझो, भगवान समझो, उनकी पूजा करो, सेवा करो। पिताको देव समझो, भगवान समझो, उनकी पूजा करो। सेवा करो। आचार्यको देव समझो, भगवान समझो, उनकी पूजा करो, सेवा करो। बड़ी अच्छी बात बतायी। इन सबकी आज्ञा मानो। इन सबकी सेवा करो। क्योंकि ये सब भगवानके रूप हैं। प्रश्न यह है कि कोई बाप चोर हो, डाकू हो, लड़के तो सबके होते हैं, और वह आदेश करे बेटेको, तुम भी चोरी करो तो उस पिताको भी भगवान मानें कि नहीं? उसके आदेशका भी पालन करें कि नहीं? भगवानके लिये कहा जाता है कि मैं उसीमें राजी जिसमें तेरी रजा। पिताकी रजा चोरी करनेमें है। ऐसी अवस्थामें पिताके आदेशका पालन करना चाहिये या नहीं? और आजकलके पिता पुत्रोंको असत्य बोलनेका आदेश देते ही हैं। चोरी शब्द कुछ कठोर है। करचोरी बोलें तो बात हल्की हो जाती है। इस सर्वसामान्य बातके लिये यहां प्रश्न नहीं है। हरिश्चन्द्र बननेका सवाल नहीं। सत्ययुगमें भी हरिश्चन्द्रपर मुसीबतें ऊमड़ पड़ीं तो कलियुगमें क्या कहना है? प्रश्न है घोर पापरूप डकैती, सेंधमारी आदिका। वहां पिताको भगवान मानकर आदेशका पालन करना चाहिये कि नहीं? इंग्लीश पुस्तकोंमें कहानी पढ़ते हैं कि कप्तानने अपने पुत्रको जहाजमें बैठे रहनेको कहा। वह स्वयं युद्ध के लिये गया। इधर जहाज में आग लगी। पिता का दूसरा आदेश न मिलने से वह वहाँ से भागा नहीं, स्वयं जल गया। इसप्रकार आदेशमें उचित-अनुचितका विचार किये बिना ही पालनार्थ तत्पर रहना चाहिये कि नहीं यह प्रश्न है। यदि आदेश माना जाता है तो चोर बनना होगा। नहीं माना जाता है तो ईश्वराज्ञाका उल्लंघन होता है। इस प्रश्नका उत्तर यह है, शास्त्रीय समाधान यह है कि 'पितृदेवो भव' का अर्थ यह नहीं है कि आँख मूँदकर ईश्वर मानकर उनका आदेशपालन करो। प्रथम माता, पिता आचार्यको देव बनाओ तब आदेशपालन करो। यदि पहले से देव हों तो कोई बात नहीं। अन्यथा उनको स्वसामर्थ्यानुसार देव बनाओ।

मंदिरोंमें मूर्तियां होती हैं। जयपुरमें दुकानोंमें भी मूर्तियां होती हैं। दोनों में क्या फरक? क्या दुकानोंमें मूर्तियोंकी कोई पूजा करता है? नहीं। क्यों नहीं? पहले उसको भगवान बनाओ। मूर्ति ही भगवान नहीं है।

प्राणप्रतिष्ठा, मन्त्रोच्चारणादिसे मूर्ति प्रथम भगवान बनती है। तब भगवानकी पूजा करो। भगवान स्वयं प्राणप्रतिष्ठासे बनाओ। या दूसरेने बनाया हो तो भी बात नहीं। स्वयंभूलिङ्ग हो तो भी चलेगा। वैसे पिता स्वयं देवरूप हो गये हों तो ठीक है। किसी अन्यने बनाया हो तो भी ठीक है। अन्यथा स्वयंको उन्हें भगवान बनाना होगा। इसीलिये वाल्मीकि रामायणमें आया—

"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥"

यहां गुरुपदसे गौरवशाली माता-पिता और आचार्य तीनों ग्राह्य हैं। वह भी यदि अवलिप्त हो—उन्मंत्त हो, मिथ्याभिमानी हो, तथा कर्तव्याकर्तव्य-विवेकशून्य हो, उन्मार्गगामी हो तो उनपर भी शासन करना होगा। यह बात रामको वनवासमें भेजनेवाले राजा दशरथको लक्ष्य करके लक्ष्मणने कही। लक्ष्मण आवेशमें ऐसा कह गया हो ऐसी बात नहीं है। स्मृतियोंमें भी ऐसा वचन आता है। अतएव रामजीने भी सीधा जवाब नहीं दिया। रामजीने कहा—अवलिप्त होकर नहीं। परवश (लाचार) होकर पिताजीने यह आदेश दिया है। पूर्वप्रतिज्ञा वरदान आदिके कारण पिताजी सत्यरक्षाके लिये यह कह रहे हैं। सर्वथापि यह बात साबित होती है कि पिताको देव बनाकर तदादेशपालनार्थ यत्न करो। यहांका प्रकरण इस सन्दर्भमें काफी समर्थन देता है।

वाजश्रवसने सर्वस्वदक्षिणायागका निर्णय किया। किन्तु कुछ लोभ होनेके कारण कुछ तर्क लगाया। दान शब्दका अर्थ तर्कशास्त्रमें बड़े सुन्दर ढंगसे किया है। "स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादनं दानम्।" ऐसी व्याख्या वहां की है। जैसे कोई गोदान करता है वहां गायपर प्रथम यजमानका स्वामित्व रहता है। उसकी निवृत्तिकर ब्राह्मणका उसपर स्वामित्व करना यह दान है। रास्तेमें पड़ा एकसौ रुपयेका नोट मिला। उसे उसने किसी दूसरे ब्राह्मणको दिया तो वह दान है या नहीं? नहीं। क्योंकि उस नोटका स्वामित्व प्रथम व्यक्तिमें है ही नहीं तो निवृत्ति किसकी हो? सौका नोट प्रथम किसका है यह पता लगाकर उसे सौंपो यह प्रथम कर्तव्य है। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो दूसरेको देना अच्छा है। वह एक परोपकार है,

किन्तु वह दान नहीं है। अपने पासमें रखना अर्धचोरी है। तात्पर्य यही है कि दान वही माना जायेगा जिसमें अपने स्वामित्वकी निवृत्ति हो। और स्वामित्व की निवृत्ति तभी होगी यदि स्वयं में स्वामित्व हो।

वाजश्रवस बड़े तार्किक थे और लोभी भी थे। उन्होंने पहले ही अपना सोना, चांदी, गाय आदि अपने पुत्रके नाम कर दिया। जैसे आजकलके मन्त्री, आफिसर आदि काले पैसोंको औरत और बच्चे आदिके नाम कर देते हैं। जांच करनेवाले उनके पास उतना ही पाते हैं जितना बिना इनकमटेक्स भरे रखा जा सके। सर्वस्वदक्षिणा देनेका जब समय आया तो 'पीतोदका जग्धतृणा' आदि कुछ गायें ही वाजश्रवसके भागमें थी। उसीपरसे स्वामित्वनिवृत्ति आदि संभव थी। अतएव उतना देने मात्रसे ही यज्ञपूर्ति हो सकती थी।

इस बातको नचिकेताने ताड़ लिया। नचिकेताने सोचा यह बड़ी बुरी बात होने जा रही है। यद्यपि क्रतुवैगुण्य तो नहीं आयेगा। क्योंकि जो अपनी वस्तु है वही तो देना है। किन्तु यज्ञपूर्ति होनेपर भी दानमें वैगुण्य आ जाता है। उसका परिणाम भी खराब है। वह बादके मन्त्रमें देखा जायेगा। नचिकेताने सोचा मैं पुत्र होकर पिताको इस पतनसे न बचाऊँ यह अयुक्त है। पुत्रका अर्थ ही 'पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते' ऐसा है। पुत् नरकको कहते हैं। पुनातीति पुत्—जहां पापोंकी धुलाई-सफाई की जाती है वही पुत् नरक है। उससे त्राण जो करे वही पुत्र है। 'न पतन्ति पितरो यतः' यह अपत्यकी व्युत्पत्ति है।' पितृदेवो भव' के अनुसार पिताको देव बनानेका काम भी पुत्रका है। इस स्थितिका वर्णन यहां किया जा रहा है।

तं ह कुमारं सन्तम् । यद्यपि नचिकेता कुमार था। पांच वर्षतक बाल्य होता है। उसके बाद पंद्रह वर्षतक कौमार होता है। उसके बाद यौवन। कुमारका विशेष कर्तव्य नहीं होता। कुमारका रक्षण करना मातापिताका कर्तव्य होता है। फिर भी यदि कुमार पिताका रक्षण करे तो बुरा नहीं, उत्तम ही है। यह यहां एक भाव है। दूसरा भाव यह है कि कुमारोंके मनमें सद्गति-दुर्गतिका चिन्तन नहीं होता। परिपक्वबुद्धिवालोंमें ही उक्त विचार होता है। तब नचिकेता शरीरसे कुमार भले हों बुद्धिसे बड़े-बड़े बूढ़ों को भी मात करनेवाले थे। तीसरी बात यह है कि 'कुमार क्रीडायां'

इस धातुपाठनुसार कुमारका अथ होता है—क्रीडापर। 'बालस्तावत्क्रीडासक्तः'। बुद्धिमान भी बालक क्रीडासक्त होनेसे कर्तव्यविवेकके पीछे लगे नहीं रहते। नचिकेता कुमार होते हुए क्रीडापरायण न होकर कर्तव्य-विचारादिपरायण हुए, यह नचिकेताकी लोकोत्तरता है। चौथी बात यह है कि कुमारावस्थामें कुत्सित मार=काम होता है। कु का कुत्सित या ईषत् अर्थ होता है। इसको अंग्रेजीमें कफ़ लव कहते हैं—बछड़ाप्यार। अतएव कुमारावस्थामें विवेक वैराग्यादि अति दुर्लभ है। नचिकेतामें विवेक-वैराग्यादि हुए यह एक आश्चर्य है। पांचवीं बात यह है कि कुमार कार्तिकस्वामी को भी कहते हैं। क्योंकि वे जीवनभर कुमार अर्थात् ब्रह्मचारी रहे। कुमारी बिना विवाहवालीको कहते ही हैं। वैसे आजीवन ब्रह्मचारी होनेसे नचिकेता कुमार थे और महान् थे अत एव श्रद्धावेश झटसे हुआ यह समर्थक हेतु है।

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।'

इस प्रकार सत्य, तप एवं सम्यग् ज्ञानके साथ ब्रह्मचर्यको भी ब्रह्मप्राप्तिका साधन बताया। नचिकेता नित्यब्रह्मचारी रहे। क्योंकि इसी उपनिषत्के अन्तमें बताया है—

'मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥'

यमराजकथित विद्या और योगविधिसे नचिकेता ब्रह्मको प्राप्त हो गये।

'सन्तं' यह विशेषणपद केवल अस्तित्वबोधक हो सकता है और साधु सन्त अर्थमें भी हो सकता है।

'सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।'

कुमार होते हुए भी उनमें श्रद्धा आविष्ट हुई यह सद्भावार्थ है। नचिकेता सन्त थे यह साधुभाव अर्थ है। वे परोपकारार्थ सतत यत्न करते हैं।

'परोपकाराय सतां विभूतयः ।'

यह प्रसिद्ध है। वे अपने स्वार्थकी ओर ध्यान नहीं देते।

'एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये'

इत्यादि रीति संतमहिमा बहुत कुछ बतायी गयी है।

दक्षिणासु नीयमानासु। यज्ञयागादि सत्कर्म करनेपर दक्षिणा देना परम आवश्यक है। गीतामें भगवान भी कहते हैं कि बिना दक्षिणा का याग फलदायी नहीं होता।

"विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥"

ब्राह्मण प्रथम यही देखते हैं कि दक्षिणा क्या दी। भोजन करना भी वैश्वानरयज्ञ है। उसमें भी दक्षिणा दी जाती है। अन्यथा उसको तामस बताया है। विश्वजित यागमें तो कहना ही क्या? वहां तो सबकुछ दक्षिणामें दिया जाता है। दक्षिणा एक होनेपर भी दक्षिणाद्रव्य सभी हैं इसलिये "दक्षिणासु" ऐसा बहुवचनप्रयोग किया।

श्रद्धाऽऽविवेश। दक्षिणामें सर्वस्व देना है। उसमें गड़बड़ी देखी तो मनमें श्रद्धाका आवेश हुआ। श्रद्धाका अर्थ लोकप्रसिद्ध है अस्तिक्यबुद्धि या महत्त्वबुद्धि। किन्तु महर्षियों ने कुछ विलक्षण अर्थ भी किया है। श्रत् सत्यको कहते हैं। उसको धारण करनेवाली श्रद्धा है। गुरुवचनमें श्रद्धाका अर्थ है कि यह सत्य ही है ऐसे विश्वासके साथ तत्परता। विश्वजितयागमें हीनदान (हीन वस्तुका दान करना) अयथार्थ है। पूर्णदान ही कर्तव्य है। ऐसा निश्चय ही यहां श्रद्धा है। आवेशसा हो गया। आवेशको छिपाया नहीं जा सकता। जैसे भूतावेश, कृपावेश आदि हैं।

सोऽमन्यत। मननके द्वारा निश्चित अर्थको जानना यह मन धातुका अर्थ है। एक मनन यह किया कि जो पिताजी अब करने जा रहे हैं वह उचित है क्या? दूसरा मनन यह हुआ ऐसी स्थितिमें मुझे क्या करना चाहिये? पिताके कार्यके बारेमें मनन करनेका निष्कर्ष अगले मन्त्रमें है। किन्तु स्वकर्तव्यके बारेमें निश्चयपर्यवसायी मनन नहीं हो पाया था। फिर भी आंशिक निश्चय किया ही गया था कि किसी न किसी प्रकार एक बात पिताजीके कानमें डालना है। अतएव अमन्यत यह भूतार्थ प्रयोग उपपन्न है। अथवा मन धातुका ज्ञान अर्थ भी होता है। "मनु अवधारणे"। श्रद्धा जहां होती है वहां ज्ञान भी होता है। "श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्" ऐसा भगवद्वचन है। जो हमेशा सत्यका ही धारण करता है, सत्यमें ही महत्त्वबुद्धि रखता है उसको सत्यका स्फुरण स्वयं होने लगता है। जैसे

श्रद्धालु तोटकाचार्यको आचार्यकृपासे वेदान्तसिद्धान्तोंका स्फुरण होने लगा था। पद्मपादाचार्य प्रातःकाल ध्यानसमाधिमें बैठे थे। आचार्यके प्रति उनकी अपार श्रद्धा प्रसिद्ध ही है। वे साक्षात् शंकरके रूपमें आचार्यको देखते थे। बल्कि अपूर्वशंकरके रूपमें। कैलासवासी शंकरसे कुछ विलक्षण-रूपमें।

'नमाम्यभोगिपरिवारसंपदं निरस्तभूतिमनुमार्धविग्रहम् ।
अनुग्रमुन्मृदितकाललाञ्छनं विनाविनायकमपूर्वशंकरम् ॥'

इस प्रकार उनकी स्तुति प्रसिद्ध है। ध्यानमें ही देखा कि कापालिक आचार्यका वध करने आया है। श्रद्धातिरेकसे इष्टानिष्ट ज्ञान होने लगता है। यथार्थवस्तु की स्फुरणा स्वयमेव होने लगती है। नचिकेता में अपार श्रद्धा थी। श्रद्धासे ही यह स्फुरण नचिकेताको हुआ था। अन्यथा उद्दालक स्वयं आचार्य होनेसे वे स्वयं शास्त्रोंमें इस बातको देख लेते और ऐसा काम न करते जैसे 'पीतोदका' इत्यादि आगे श्लोकमें बतायेंगे। अनन्द-लोककी प्राप्तिको देखते हुए समझते हुए ऐसा कार्य करें यह विचारके परेकी बात है। ऐसा यदि होता तो अनर्थ संपादनार्थ कर्म ही क्यों करते? उशन् से स्वर्गकामना बतायी गयी। और होने जा रही है नरकप्राप्ति। अतः यह निश्चित है कि नचिकेताको जो स्फुरण हुआ वह श्रद्धाप्रयुक्त है। क्योंकि अन्य गुरुकुलमें जाने आदिकी यहां न चर्चा है और न संभावना ही है ज़हां से अनन्दलोक प्राप्ति को नचिकेता सीखते।

ऋषिमहर्षियोंको जो मन्त्रस्फुरण होता था वह भी श्रद्धाका ही फल है। वे घोर तप करते थे. 'तपसा किल्विषं हन्ति' तपश्चर्यासे पापनाश होता था। जिससे चित्त शुद्ध होता था। उनको स्फुरण श्रद्धासे होता था। इसलिये ज्ञानप्राप्त्यर्थ छान्दोग्यमें 'श्रद्धत्स्व सोम्य' ऐसा कहा।

'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥'

ऐसा मन्त्रमें भी बताया है। ब्रह्मचर्यादि व्रत प्रथम रखा जाता है। उससे ज्ञानसद्भाव तथा पशुवासनाका हान-त्याग रूपी दीक्षा होगी। उससे कुशलतारूप दक्षिणा प्राप्त होगी। तब श्रद्धाकी प्राप्ति होगी। श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होगी। सत्यपरमात्मप्राप्ति तथा सत्यपरमार्थज्ञानप्राप्ति ही सत्यप्राप्ति है।

"श्रद्धाऽऽविवेश" इस कथनसे वेदान्तश्रवणोपयोगी श्रद्धका अस्तित्व स्पष्ट होता है। "श्रद्धत्स्व सोम्य" इसप्रकार श्रद्धा करने बताया है।

"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो
भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति।"

शम-दम-सम्पन्न एवं नानाकर्मविक्षेप से उपरत सहनशील श्रद्धालु होकर आत्मामें आत्मदर्शन कर सकते हैं। इस श्रुतिमें श्रद्धाको वित्तरूप बताया है। इसीलिये श्री मधुसूदन सरस्वती अद्वैतसिद्धिके आरंभमें कहते हैं—

श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन
संगृह्य शास्त्रनिचयं रचिताऽतियत्नात्।

मेरे पास श्रद्धा ही धन है। मननतत्पर हूं। सो मैं मधुसूदन शास्त्रार्थ संग्रहकर अद्वैतसिद्धि लिखता हूं। सत्यान्वेषिता, सत्यप्रियता ये सभी श्रद्धाके ही स्वरूप हैं, या परिणाम हैं—

अश्रद्धामनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः

ऐसा श्रुतिवचन है, अनृतमें अश्रद्धा हो और सत्य में श्रद्धा हो। अनृत को भी सत्य बनाकर श्रद्धा उस में प्रवृत्त होती है। वह गलत है। यथार्थ सत्य में श्रद्धा करने का अभ्यास करो। वह काम आयेगी, समयपर उद्भूत होगी। "श्रद्धा आविवेश" का बाहर से आकर भीतर प्रविष्ट हुई ऐसा अर्थ नहीं है। किन्तु विद्यमान श्रद्धा का उद्भव हुआ। उद्रेक हुआ। श्रद्धा को यथार्थ सत्य में विनियुक्त करना चाहिये। यही "श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः" का अर्थ है। इस प्रकार सत्य में लगाने पर सत्य की प्राप्ति होगी। यही "श्रद्धया सत्यमाप्यते" का मतलब है। अर्थात्—प्रथम अर्थानुसारी वाणी—सत्यवाणी बोलने का अभ्यास करनेसे सत्यप्रतिष्ठा हो जाती है तो बादमें जैसे वागनुसारी अर्थ होने लगता है वैसे सत्य में श्रद्धा करने का अभ्यास करनेसे श्रद्धाप्रतिष्ठा हो जाती है तो श्रद्धाके बल से सत्यकी प्राप्ति होगी।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः

सत्पुरुषों के अर्थात् सत्यार्थ में श्रद्धा रखने वाले सन्त पुरुषों के सामने किसी वस्तु में सन्देह उपस्थित हो तो वहाँ श्रद्धा काम करेगी। श्रद्धायुक्त

अन्तःकरण सत्य अर्थ को ही पकड़ेगा। इसलिये परमसत्य परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति के लिये श्रद्धा परम आवश्यक है। इसी श्रद्धा काही परिणाम है—सोऽमन्यत-नचिकेता ने माना जो अग्रिम मन्त्रमें बताया जायेगा अर्थात् अनन्द लोकप्राप्ति। यदि पीतोदका जग्धतृणा इत्यादि मन्त्रका विषय अन्यत्र आया हो तो यहां उसका अनुवाद मात्र होगा। अन्यथा श्रद्धा के आवेश से—उद्रेक से एवं पूर्व तप से नचिकेता ने ही इस मन्त्र का प्रातिभदर्शन किया। एतद्मन्त्रद्रष्टा ऋषि नचिकेता है यह मानना भी अनुचित नहीं होगा। 'सोऽमन्यत' इस वाक्य से यह द्वितीयपक्ष ही अधिक प्रबल दीखता है ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

जो जल पी चुकी, जो घास खा चुकी, जो दुही जा चुकी अर्थात् प्राणके सिवाय जिनमें कुछ शेष नहीं रहा, ऐसी निरिन्द्रिय गायोंको दानमें देनेवाला अनन्द नामका लोक पाता है॥ ३ ॥

कठोपनिषत् ब्रह्मविद्याका प्रकरण है। अतएव ब्रह्मविद्याके योग्य व्यक्तिको पात्र बनाना परम आवश्यक है। उसके साथ ही प्रतियोगी रूपसे अयोग्यका भी वर्णन आना अनिवार्य है। या योग्यताके स्पष्टीकरणके लिये उपयोगी है। एतदनुसार नचिकेता एवं उनके पिता वाजश्रवसको प्रथम प्रस्तुत किया जा रहा है। वैसे तो अधिकारी के रूपमें साधनचतुष्टसंपन्नको सर्वत्र बताया जाता है। विवेक, वैराग्य, शमादिषट्संपत्ति एवं मुमुक्षुत्व साधनचतुष्टय है। किन्तु उनमें भी मुख्यता दो की है। एक वैराग्य की मुख्यता है। दूसरी मुमुक्षुत्वकी।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्यैव ह्यर्थवन्तःस्युः फलवन्तः शमादयः ॥

वैराग्य तथा मुमुक्षुत्व हो तो ही शमादिकी सार्थकता एवं सफलता है। संसारकी ओर आकर्षणका अभाव वैराग्य है। परमात्माकी ओर आकर्षण मुमुक्षुत्व है। इनमें एक निषेधात्मक है। दूसरा विधि-आत्मक है। दोनों क्यों कहना चाहिये? परमात्माकी ओर आकर्षण एक ही कहना आवश्यक है। नहीं। संसारका ही उदाहरण लो। नवविवाहित दम्पति है। उनमें पति क्या

चाहता है? यह वधू मेरी ओर आकर्षित रहे। दूसरे व्यक्ति की ओर आकर्षित न रहे। वधू क्या चाहेगी? यह पति मेरी ओर आकर्षित रहे। दूसरी स्त्रीकी ओर आकर्षित न रहे। यहां निषेधरूप और विधिरूप दोनों क्यों? यह आगे बतायेंगे। प्रकृतमें तात्पर्य है—एकनिष्ठता चाहिये। गीतामें भी यही बात कही—

"तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥"

यहां चार चीजें बतायी। तदेकबुद्धिता, तदेकात्मता, तदेकनिष्ठता एवं तदेकपरायणता। ये चारों ही वैराग्य और मुमुक्षुत्वके खुले स्वरूप हैं। संसारमें रागका अभाव और परमात्मामें अनुराग होना चाहिये। यह सारांश हुआ। "तस्मिन्नेव बुद्धिर्येषां" इस एवकार से उक्त अर्थ सिद्ध होता है।

संसारमें राग दो प्रकारका होता है। एक ऐहिक राग है। दूसरा आमुष्मिक राग है। इन दोनोंका अभाव वैराग्य है। "इहामुत्रार्थफलभोग-विरागो वैराग्यम्" ऐसा प्रथम पाठमें ही पढ़ाया जाता है। यहां प्रथमाध्यायमें इनका सप्रतियोगिक वर्णन है। अर्थात् ऐहिक तथा आमुष्मिक अर्थोंमें राग किसमें है और किसमें नहीं, ये दोनों बातें यहां बतायीं। वाजश्रवस इन दोनों रागोंसे युक्तका उदाहरण और नचिकेता उभयरागरहितका उदाहरण है। "उशन् ह वै" यह मन्त्र स्पष्ट ही परलोकरागको बताता है। और प्रस्तूयमान "पीतोदका" यह मन्त्र इहलोकरागका सूचक है। नचिकेतामें उभयाभाव आगे स्पष्टतर बताया जायेगा।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः। पानी पीना बाकी नहीं रहा, घास खाना बचा नहीं, दूध दुहना शेष नहीं रह गया। यहांतक कि देखना-सुनना चलना-फिरना भी जिनके लिये कठिन हो गया है ऐसी गायें सर्वस्व दानमें देनेके लिये सुरक्षित रखी हैं। क्या ऐसी गायें दानमें दें तो लेनेवाला स्वीकार करेगा? उत्तर यही है जो लेनेवाले हो उन्हींको ऋत्विक्रूपमें वरण किया जायेगा। पारलेमें एक माई कहने लगी कि आजकल आश्रमके ब्राह्मण महंगे हो गये हैं। दूसरे ब्राह्मणों को बुलाओ। आश्रमके ब्राह्मण रोजके कर्मकाण्डके लिये पचास रुपये मांगते हैं। और ब्राह्मण पांच रूपयेमें भी मिलते हैं। मैंने कहा आजकल मजदूर सुतार

आदिका भाव साठ-सत्तर हो गया और बढ़ता ही जा रहा है तो क्या ब्राह्मण ही पुराने दरके रह गये? गरीब लोग जो मिला उसमें संतोष करते हैं। किन्तु उस गरीबी का लाभ लेना उचित नहीं है। किन्तु जो लोभी होंगे वे ऐसी गरीबीसे लाभ उठाने लगते हैं। लगता है कि उन्हींकी श्रेणीमें ये वाजश्रवस भी थे। यह ऐहिक रागको स्पष्ट बताता है।

अनन्दा नाम ते लोकाः। इस प्रकारकी निष्फल वस्तुओंको दान देनेका परिणाम अनन्दलोककी प्राप्ति है। यहां अनन्दका अनानन्द अर्थ है। पंजाबी भाषामें उत्तर गुरु हो तो पूर्व दीर्घको ह्रस्व करते हैं। नारायणको नरायन, पारायणको परायण, पातालको पताल, बादामको बदाम ऐसा कहते हैं। वैसे आनन्दको अनन्द कहते हैं। किन्तु संस्कृतमें पूरा उच्चारण आवश्यक है, अन्यथा अर्थ बदल जाता है। अनन्द कहनेपर अनानन्द अर्थ निकलेगा। इस अनन्दको समझनेके लिये दो अन्य मन्त्रोंको भी देखना होगा। बृहदारण्यकमें मन्त्र आया है–

"अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति येऽविद्वांसोऽबुधा जनाः॥"

अनन्द (आनन्दरहित) नाम के वे लोक हैं जो अज्ञानान्धकार रूपी तम से आच्छादित है (घिरा हुआ है) उन्हीं लोकों को मरणोत्तर वे प्राप्त होते हैं जो विद्यारहित अज्ञानीजन हैं।

ईशावास्यमें पढा है–

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥"

थोड़ा-थोड़ा फर्क करके क्यों बताया है जब कि सर्वत्र तात्पर्य एक ही हैं? इसलिये कि सर्वत्र अर्थानुगम हो। संशय न हो। जैसे "ईशावास्यमिदं सर्वं" इत्यादि उपक्रम किया। भागवतमें भी थोड़ा फर्क करके लिखा– "आत्मावास्यमिदं सर्वं" इत्यादि। एक ही पदमें फर्क है। ऐसा क्यों किया? पूरा ज्योंका त्यों लिखते तो क्या हर्जा था? बात यह है कि "ईशावास्यं?" इस उपक्रममें ईशपदका प्रयोग किया "ये के चात्महनो जनाः" "यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति," "यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्" इत्यादि उत्तरमन्त्रोंमें आत्मपदका प्रयोग किया। तो उपक्रमानुसार आत्म-

पदका ईश्वर अर्थ करें या उपसंहारानुसार ईशशब्दका आत्मा अर्थ करें यह संदेह हुआ। तब असंजातविरोधीन्यायसे उपक्रमानुसार उपसंहारका अर्थ प्राप्त हुआ। तब संशयनिवारणार्थ, सिद्धान्तार्थ भागवतने कहा– "आत्मावास्यमिदं सर्वम्"। किन्तु भागवतकारने यह निर्णय कैसे किया? क्या न्याय उनपर लागू नहीं है? लागू है। किन्तु "ये के चात्महनो जनाः" यहां आत्मपदका ईश अर्थ संभव न होनेसे ईशका ही आत्मा अर्थ करना होगा। भागवतने उसका समर्थन मात्र किया। अस्तु यह शास्त्रार्थविचार अतिगहन है।

प्रकृतमें "असूर्या नाम ते लोका" इत्यादिके अर्थपर हम प्रथम विचार करें। असुर्यलोकको ही श्रुत्यन्तरमें अनन्दलोक बताया है और वही प्रकृतमन्त्रमें भी है। असुरोंके लोकको असुर्य लोक कहते हैं। यह लोक कहां है? ऊपर, नीचे या भूर्भुवस्वः आदिमें कोई है? भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि असुर उन्हें कहते हैं जो असुओंमें रमण करते हैं। असु माने प्राण। प्राण क्या यही श्वासोच्छ्वास? इसमें रमण क्या होगा? इसके लिये छान्दोग्य पञ्चमाध्यायका अनुसन्धान आवश्यक है। वहां कथा आयी है– चक्षु, श्रोत्र, मन आदि जितने हैं उनमें एक बार विवाद हो गया था कि मैं श्रेष्ठ, मैं बड़ा। "अहं श्रेयसि व्यूदिरे-अहँ श्रेयानस्म्यहँ श्रेयानस्मीति।" चक्षु आदि का मतलब इनके अधिष्ठाता देवता। आंखके डाक्टर कहते हैं आंख सर्वश्रेष्ठ है। आंख नहीं तो जीवन क्या? कानके डाक्टर बोलते हैं कान ही तो सबकुछ है। वेद सुन सकते हो, शास्त्र सुन सकते हो। कानकी पीड़ा असह्य है। पेटके डाक्टर कहते हैं कि पेट सर्वश्रेष्ठ है, खाना-पीना न पचे तो रसरक्तादि कैसे बनेंगे? हार्टके डाक्टर कहते हैं हार्टकी बिमारी खतरनाक है। ये देवता भी एक प्रकारके डाक्टर हैं। ये सब इस प्रकार विवाद करते हुए अन्तमें निर्णयार्थ प्रजापतिके पास पहुंचे। प्रजापतिने सोचा एकको बड़ा कहूँ तो दूसरे नाराज होंगे। प्रजापति ने कहा–

"यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत"

जिसके निकलने पर शरीर निरर्थक हो वह श्रेष्ठ है। अब एक-एक कर उत्क्रमण करने लगे। चक्षुर्होच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकदर्त्ते

मज्जीवितुमिति। चक्षुने उत्क्रमण किया। एक साल के बाद वापस आकर देखने लगा कि यह जीवित है। मेरे बिना कैसे यह जी सका?

वागुच्चक्राम, श्रोत्रं होच्चक्राम, मनो होच्चक्राम। फिर वाणी ने उत्क्रमण किया, श्रोत्र ने उत्क्रमणं किया, मनने उत्क्रमण किया। सबने देखा हमारे बिना यह जीवित है, कैसे यह जीवित रह सका? आँखके बिना अंधा मनुष्य जीता है। कानके बिना बहरा मनुष्य जीता है। वाणीके बिना गूंगा जीता है। मनके बिना सुषुप्तिमें मनुष्य जीता है। अन्तमें मुख्य प्राण निकलने लगा—"अथाह प्राण उच्चक्रमिषन् स यथा सुहयः षड्वीशङ्कून संखिदेत्"। प्राण निकलते ही साथ चक्षु आदि सभी निकलने लगे। तब निर्णय हुआ, प्राण सर्वश्रेष्ठ है। उसकी उपासना करो। श्वासोच्छ्वासमें सोऽहं भावसे ब्रह्मोपासना करो। क्योंकि प्राण ही चक्षुरादिरूप है। प्राण की सत्ता से ही इन सब की सत्ता है।

"न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते ।
प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति ॥"

समस्त चक्षुः श्रोत्रादि को "वाणी" करके नहीं बोलते, "चक्षु" करके नहीं बोलते, "मन" करके नहीं बोलते। हाँ, प्राण करके बोलते हैं। ये सब प्राण ही हैं। इस छान्दोग्यनिर्णयसे सभी इन्द्रियां प्राणात्मक ही हैं। प्राणविशेष ही हैं। अतः असुर-असुरत-प्राणरतका अर्थ है—इन्द्रियरत। इसीको गीतामें

"अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति"।

इस प्रकार इन्द्रियाराम एवं अघायु और मोघजीवन—व्यर्थजीवन बताया। इन इन्द्रियारामोंका लोक ही असुर्यलोक है। लोक भी कोई भूलोक, भुवर्लोकादि नहीं। यहां लोकका जन्म अर्थ है। असुर्य जन्म ही असुर्यलोक है। वे कौन और कैसे हैं? "अन्धेन तमसावृताः" घोर अन्धकार-अज्ञानसे आवृत-स्थावरान्त जन्म ही असुर्य लोक हैं। इन्द्रियाराम मनुष्य भी घोर अन्धकारमें हैं। पशु, पक्षी, सरीसृप, कीटादिके बारे में कहना क्या? और वृक्षलतादि स्थावरोंकी बात ही क्या? वे सभी जन्म असुर्यलोक हैं।

इन्द्रियरामका प्रतीप (विरोधी) आत्माराम है। इन्द्रियाराम आत्मको नहीं देखते। आत्माराम इन्द्रिय एवं तद्विषयोंको नहीं देखते। इन्द्रियारामके लिये नित्यशुद्ध आत्मा असत् है। आत्मारामके लिंये इन्द्रियविषय असत्

है। इन्द्रियविषय तो असत् तुच्छ क्षणभंगुर होनेसे आत्माराम ठीक रास्तेपर है। किन्तु इन्द्रियारामने नित्यशुद्ध सद्रूप आत्माको असत् बनाया। यही आत्मघात "आत्महनः" से बताया। "अन्धेन तमसावृताः" से ज्ञानस्वरूप आत्माको अन्धतमस अचित् रूप बनाना बताया। अनन्दा शब्दसे आनन्द-रूप आत्माको अनानन्द बनाना बताया। 'नाहं शुद्धोऽस्मि' यह असद्रू पता का आपादन है। अहमज्ञः यह अचिद्रूपता का आपादन है। अहं दुःखी अनानन्दः यह अनानन्दरूपता का आपादन है। यही असुर्यजन्मका परिणाम दो मन्त्रोंके अर्थोपसंहारसे प्रकट होता है।

तीन प्रकारका आवरण प्रसिद्ध है। इनमें असत्त्वापादक आवरण तथा अभानापादक आवरण सर्वविदित है। ब्रह्म नास्ति-ब्रह्म नहीं है यह असत्त्वापादक आवरण है। यद्यपि अस्ति तथापि न भाति–हो भले, फिर भी नहीं भासता–यह अभानापादक आवरण है। तृतीय अनानन्दापादक आवरण है। इन तीनों आवरणोंसे आवृत होकर जो स्थिति है–ऐसा जो जन्म है वह अनन्दा नाम लोक है। इसीका यहां निर्देश है।

तान् स गच्छति ता ददत्। इस अनन्द लोकोंको, अज्ञानावृत जन्मोंको वह प्राप्त होता है जो निष्फल गायोंको दानमें देता है। अनन्दलोकप्राप्तिका निष्कृष्ट अर्थ संसरण है। ईशावास्यभाष्यमें वैसा वर्णन किया भी है। और वह सद्रूप आत्माको असद्रूप बनाना जैसे आत्मघात पापका फल कहा। यहां निष्फल गौओंके दानका वह फल बताया जा रहा है। निष्फल गौओंके दानेसे राग, लोभ आदि सूचत होते हैं। और "रागो लिङ्गम-बोधस्य" से अज्ञान भी सूचित होता है। तो यह आत्माके अज्ञानका दण्ड है कि निष्फल गौओंके दानका दण्ड है? निष्फल गौओंके दान न करने पर भी तो आत्माके अज्ञानमात्रसे अनन्दलोकगमन होता है। इस पूर्वपक्षका समाधान यह है कि आत्मज्ञान दो प्रकारका होता है। एक साक्षात्कारात्मक अपरोक्षज्ञान है। जिसको अपरोक्ष साक्षात्कार कहते हैं। दूसरा शास्त्रोत्पन्न परोक्षकल्पसाक्षात्कार या परोक्षज्ञान है। प्रथमका तो गमनादि नहीं होता। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते" "अत्र ब्रह्म समश्नुते"–उसके प्राणोत्क्रमणादि नहीं होते। वह यहीं पर ब्रह्मरूप हो जाता है। द्वितीयका प्राणोत्क्रमण एवं ब्रह्मलोकगमनादि होता है। इसीको उपनिषद् में–

"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥"

इसप्रकार बताया है। जिन्होंने वेदान्तविज्ञान से ज्ञेय अर्थका अच्छीतरह निश्चयकर लिया है। संन्यासयोग से शुद्ध चित्त ऐसे सभी यति ब्रह्मलोक में जाकर परान्तकाल में (प्राकृतप्रलयसमयमें) परम अमृतभावं प्राप्त हो सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। वाजश्रवस ऋषि थे। वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थ थे। अतएव वे संन्यासयोगके लिये सर्ववेदसदान दे रहे थे। उनको ब्रह्मलोककी कामना थी। क्योंकि अपरोक्षसाक्षात्कारका अभाव अनुभवगोचर हो रहा था। अतः कमसे कम ब्रह्मलोक जाकर मुक्त होऊं यह आशा थी। यही "उशन्" का भी अर्थ करना उचित है। इस प्रकार उन्हें "अविद्वांसोऽबुधाः" इस कोटिमें या "ये के चात्महनः" इस कोटिमें रखना उचित नहीं। "रागो लिङ्गमबोधस्य" का साक्षात्कारात्मक बोधका अभाव जिसमें होता है इतना ही अर्थ है और यह अनुभवसिद्ध भी है। शास्त्रनिश्चय होनेपर भी राग या रागाभास देखनेमें आता है। इसप्रकार असुर्य या अनन्दलोककी प्राप्तिकी गुंजाईश वाजश्रवसमें नहीं थी। परन्तु सर्वस्वमेधमें निष्फल निर्वीर्य गायोंको देना एक अपराध है एवं उसकाभी आत्मघातके समान असुर्यलोकगमन फल है यह इसी मन्त्रलिङ्गसे प्रतीत होता है। फलतः पुनरावृत्तिरहित ब्रह्मलोक नहीं, किन्तु पुनरावृत्तिमान् ब्रह्मलोक ही उसे प्राप्त होगा। दो प्रकारका ब्रह्मलोक है ही। एक तो "परान्तकाले परिमुच्यति" (प्राकृत प्रलय रूपी परान्तकाल में जहां गये यति मुक्त होते हैं) वाला। दूसरा आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः (ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्ति सहित हैं) वाला। अतएव देवा अप्यसुरा (देव होते हुए भी असुर हैं) इस भाष्यके अनुसार द्वितीयब्रह्मलोकगामी (द्वितीय ब्रह्मलोकमें जानेवाला) भी असुर्यलोकी ही है ॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति ।
द्वितीयं तृतीयं तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

नचिकेताने पिताको कहा—पिताजी! आप मुझे किसके लिये देंगे? ऐसे ही दूसरी बार और तीसरी बार पूछा तो पिताने नचिकेताको कहा तुझे मृत्यु (यमराज) के लिये देता हूं ॥ ४ ॥

ब्रह्मविद्यामें ऊमर साधक या बाधक नहीं है। अस्सी वर्षका बूढ़ा भी विद्यार्थी बन सकता है। पांच वर्षका बच्चा भी अध्यापक हो सकता है। अंग्रेजीमें विद्यार्थीको स्टूडंट कहते हैं। किन्त स्टूडंट कहते समय सात-आठ वर्षसे लेकर बीस-पचीस वर्ष तकके व्यक्ति ही दिमागमें आते हैं। परन्तु ब्रह्ममविद्याके विद्यार्थीमें यह बात नहीं है। प्रत्यक्ष उदाहरण प्रकृत कथामें वाजश्रवस और नचिकेता है। भगवान् गीतामें कहते हैं–"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" (साधक बहुत जन्मों के बाद ज्ञानवान होकर मुझे पाता है) "अनेकजन्मसंसिद्धः" (अनेक जन्मों की साधनासे ज्ञानसिद्धि होती है) तब अन्तिम जन्मसे पूर्व सभी जन्मोंमें बूढ़ापेतक विद्यार्थी ही तो रहा होगा। क्योंकि बूढ़ापेमें विद्यार्थीपना छोड़ने पर काम नहीं चलता। "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः" ऐसा महर्षि पतञ्जलिका कहना है दीर्घकालसे पूरा जन्म तथा अनेक जन्म दोनों विवक्षित हैं। नैरन्तर्यसे बुढ़ापे आदि व्यवधानका निराकरण है। दीर्घकाल तक निरन्तर जो अभ्यास करेगा उसका ही अन्तिम जन्ममें बचपनमें ही विद्वान् बनना संभव है। इसलिये वामदेवके बारेमें बताया–"गर्भ एव वामदेवः प्रतिपेदे"। माताके उदरमें ही वामदेवको ब्रह्मसाक्षात्कार हो गया था। शुकदेवादि भी इसी के उदाहरण हैं। अनादिकालमें सभी समवयस्क हैं। जिसने अधिक श्रमकर ब्रह्मविद्या हासिल की वही बड़ा। उसके अभाव में बूढ़ा भी छोटा ही है। इसीलिये आङ्गिरस नाम के बालक ऋषिने श्रोता बड़े ऋषियोंको पुत्रकाः कहकर पुकारा। बूढ़े लोग नाराज तो हुए किन्तु प्रजापति ने उन्हें समझाया तो समझ गये।

वाजश्रवस ऋषि काफी बूढ़े हो चुके थे। सर्वमेधयज्ञसे ही यह प्रतीत होता है। सर्वमेधयज्ञ तभी किया जाता है जब आगे वित्तसाध्य कोई कर्म नहीं किया जाता। अर्थात् संन्यास लेनेसे पूर्व प्रायः सर्वमेध यज्ञ करते हैं। मनु महाराज का कहना है कि–

"अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रानुत्पाद्य यत्नतः।
इष्ट्वा च देवता यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥"

प्रथम ब्रह्मचारी रहकर विधिवत् वेदाध्ययन करें। प्रायः पच्चीसवर्षतक ब्रह्मचारी रहनेका विधान है। यह न्यूनतम हिसाब है। इससे अधिकका भी

वर्णन आया है। उसके बाद गृहस्थाश्रममें प्रवेश कर दो कार्य करने हैं– पुत्रोत्पादन तथा देवतायजन। पचास-साठ वर्षतक गृहस्थाश्रम है। उसके बाद वानप्रस्थविधान है। 'वन' का संभजन और भज का सेवा अर्थ महर्षि पाणिनिने किया है।

"वन षण संभक्तौ, भज सेवायाम्।"

संभक्तौमें सं उपसर्ग होनेसे समन्तात्=चारों ओर सर्वभाव से सेवन ऐसा अर्थ निकलता है। सेवामय जीवन बिताना ही वानप्रस्थ है। वह विराट् जनताजनार्दनकी सेवा हो, चाहे भगवत्सेवा। उसके बाद संन्यास है। तदर्थ सर्वस्व दान दिया जाता है। इसके विपरीत–

"अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य सुतानपि।
अनिष्ट्वा देवता यज्ञैर्मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥"

ऐसा बताया है। ब्रह्मचर्याश्रममें रहकर वेदाध्ययन सम्पन्न किये बिना जो मोक्षमार्गमें चलता है उसके पतनकी भारी संभावना है।

वाजश्रवस ऋषिने वेदाध्ययन तो किया ही था। देवतायजनादि भी किया था। पर्याप्त शक्ति भी उनमें थी। तभी तो वे मृत्युदेवताके पास पुत्रको भेज सके। ऐसा लगता है कि ढ़लती ऊमरमें नचिकेता–पुत्रकी प्राप्ति हुई। किन्तु बुढ़ापेमें नवजात पुत्रका मोह होना अवश्यंभावी है। खैर, जीवनकी चरमदिशा देखकर, सर्वस्वदक्षिणा देकर संन्यास लेनेका मन हो रहा था यह कल्पना संभव है। इसप्रकार वे काफी ऊमरके होते हुए भी ब्रह्मविद्याके अधिकारी नहीं बन सके और नचिकेता कमसे कम आठ और अधिकसे अधिक पन्द्रह वर्षके रहे क्योंकि नचिकेता के लिये कुमार शब्द आया है। कुमार होनेसे पंद्रह वर्षसे आगे ले जाना संभव नहीं है। "बहूनामेमि प्रथमः" की व्याख्याके अनुसार वेदाध्ययन करनेवाला होनेसे आठ वर्षसे कम नहीं हो सकता।

"अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत"

से आठ वर्ष न्यूनतम सिद्ध होता है। और "मध्यमः" "प्रथमः" इन दो शब्दोंसे कुछ धोरण आगे निकल चुके होंगे यह भी ज्ञात होता है। ऐसा बालक उदारचित्त होकर ब्रह्मविद्याधिकारी बन गया है और ब्रह्मविद्या

थोड़े ही दिनमें पाकर आचार्य भी होनेवाला है। पुत्र शब्दका अर्थ पहले ही बाताया जा चुका है–

"पुन्नामनरकत्राणात् पुत्र इत्यभिधीयते"

वैसा ही अपत्यशब्दका भी अर्थ है। "न पतन्ति पितरो यस्मात्" पितरोंको पतनसे रोकनेवाला। यहां प्रथम मन्त्रमें "तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस" यह बताया ही गया है। यहां स्पष्टरूपसे अनन्दलोककी तैयारी करनेवाले पिताको देखकर नचिकेता जैसा पुत्र चुप कैसे बैठता? किन्तु उपदेश भी कैसे करे? बच्चे बापको कैसे उपदेश दे सकते हैं? देनेपर पिताको केवल हंसी आयेगी। नासमझ छोकरा है। इधर-उधरसे सुनकर आया होगा। या किसीने उकसाया होगा। किसी ऋत्विकने ही बच्चेको पढ़ाया होगा ऐसी भी धारंणा संभव है। सर्वथा प्रश्नका टाला जाना संभव है। नचिकेताने सोचा कि ऐसी ऐसी बात न हो, प्रश्नकी गंभीरता बनी रहे। प्रश्न टाला न जा सके इस ढंगसे प्रस्तुत करना चाहिये। और उपदेशात्मकता होनेपर भी प्रतीत न होना चाहिये। बुद्धिमान् होनेके कारण बालस्वभावका अतिक्रम किये बिना ही अपनी बात पिताके संमुख रखी।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। मैंने सुना है कि आप सर्वस्वदक्षिण याग कर रहे हैं। क्या आप इसमें अपनी सारी वस्तु देंगे? पिताने कहा, हां बेटा सारी चीजें हम देंगे। लेकिन घबराना नहीं। तेरे लिये मैंने इन्तजाम करके रखा है। पिताजी! मैं भी आपका हूँ। "तू भी क्या? तू ही मेरा है।" यदि मैं आपका हूं तो आपके सर्वस्वमें मैं भी आ गया। आप मुझे किसको देंगे? बिजलीके पड़नेके सदृश जटिलतर एक प्रश्न मानो सामने आ गिरा। वाजश्रवसका सिर चकराया। क्या उत्तर दें? पुत्रको यह कहना संभव नहीं था कि तू मेरा नहीं है। सर्वस्वमें उसका अन्तर्भाव हो सकता है। दोनों ही बात है। अन्य सबमें स्वत्व निश्चितरूपसे होता है जैसे गृह सुवर्णादि है। पशु आदि है। उन्हें हम खरीद सकते हैं, बेच सकते हैं। बकरेको खरीदा और मारा तो कोई अभियोग नहीं चलता। किन्तु आदमीके लिये दूसरी बात है। न तो आदमीको खरीदा जाता है, न बेचा जाता है। न आदमीको मारा जाता है यह वर्तमान कानून है। पुराने जमानेमें किसी किसी देशमें दासप्रथा थी। दासोंको बेचा खरीदा जाता था। मारा भी जाता था। किन्तु भारतमें ऐसी आम प्रथा नहीं थी। किन्तु यह

बात भी थी कि स्वयं कोई कहे कि मैं आपका धन हूं। आप मुझे बेचो, दूसरे खरीदें यह हो सकता था। उदाहरणार्थ, हरिश्चन्द्र पत्नी और पुत्रको बेच डालते हैं। स्वयंको भी चाण्डालको बेचते हैं। वाजश्रवसके लिये यही भारी समस्या सामने आयी है। यदि पुत्रको किसीको दिया तो उसके नामसे रखा धन भी उसीका होगा। तब "पीतोदका जग्धतृणा" वाला लोभ निरर्थक सिद्ध होगा। ऐसी स्थितिमें कुछ भी जवाब देना संभव नहीं था।

नचिकेताकी अतिशयित बुद्धिमत्ता इसीसे सिद्ध होती है। सीधे उपदेश दिये बिना ही उपदेशबिन्दुपर ला खड़ा कर दिया है। जैसे कुछ शताब्दीपूर्व एक हरिजन हुआ था। रैदास (या पाकनार) उसका नाम था। उस जमानेमें शूद्रसे दान लेना निकृष्ट माना जाता था। रैदासने सोचा दान जरूर करना है। मनुष्य मात्रको पुण्यकर्म करनेका अधिकार है। वे प्रतिदिन दस जोड़े जूते बनाते और नये-नये घरोंमें ले जाते और कहते "बढ़िया मजबूत मुलायम, सुन्दर जूते बने हैं। घरमें ले जाकर देखो।" घरके अंदर ले जानेपर सबके मनमें लोभसा होता। क्या दाम है पूछनेपर कहता– "एक-एक गिन्नी।" "भाई एक जोड़े जूतेका इतना कहीं दाम होता है?" "आप माल देखें"। "अरे माल देखा अच्छा है। इसका मतलब यह थोड़े ही है कि सोनेसे तौलो?" रैदास कहते–"तो मेरे नौ जोड़े जूते वापिस करो" चुपकेसे। उससे कम न करना। आदमी अंदर आकर देखता। लोभ क्या नहीं कराता? रास्तेमें पड़ी अठन्नी भी लोग नहीं छोड़ते। एक जोड़ा जूता घरमें रख लेते और मूर्ख बनाकर नौ जड़े जूते दे देते। फिर रैदास दूसरे घरमें भी वैसे ही ले जाते। वहां अन्तमें कहते हमारे आठ जोड़े वापिस करो, धोखा मत दो। ऐसा करते-करते एक जोड़ी बच जाती तो अन्तिम घरमें कहते इसका एक रूपया दाम है। बस एक रूपयेमें गुजारा कर लिया और नौ जोड़े जूतेका दान हो गया। क्या बुद्धिमत्ता हुई? बड़ोंके सामने शूद्रवत् नम्र रहना चाहिये। अतएव नचिकेताने भी ऐसा रास्ता अपनाया।

द्वितीयं तृतीयं। वाजश्रवससे कोई उत्तर नहीं हो पा रहा था। तब बालकपना जैसा दिखाते हुए नचिकेताने दूसरी बार पूछा–"पिताजी! बताओ ना, आप मुझे किसको देंगे?" वाजश्रवसने देखा यह बचपना करता है लेकिन मेरे सिरपर चोट मार रहा है। उत्तर नहीं बन पा रहा

था जिससे अंदरसे कुढ़ने लगे। किन्तु वाजश्रवस मौन रहे। नचिकेता रोनेकी आवाज बनाकर बोलने लगे "पिताजी! बताओ ना, क्यों नहीं आप बताते? आप मुझे किसे प्रदान करेंगे?"

मृत्यवे त्वा ददामीति। पहले बता चुके हैं कि वाजश्रवस भारी नैयायिक तार्किक थे। स्वस्वत्व ही न रहा तो स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादन क्या होगा यह उनका तर्क था। किन्तु उसी न्यायशास्त्रमें शास्त्रार्थ-व्यवस्थामें निग्रहस्थानके अन्तर्गत बताया है–त्रिरभिहितस्याप्यनुत्तरणम-प्रतिभा" तीन बार प्रश्न कहा जाता है। प्रथम प्रश्नमें संभव है मनका अवधान न हो अतः दुबारा बोलो। द्वितीय बार बोलनेपर भी इन्द्रियका (श्रोतका) अनवधान हो सकता है। अतः तीसरी बार कहो। तबतक मन एवं इन्द्रियका अवधान आवश्यक है। तीसरी बार पूछनेपर फिर जवाब न दिया तो अप्रतिभा से निगृहीत माना जाएगा और प्रश्नोत्तर समाप्त होगा। वाजश्रवस तार्किक होकर तृतीय बारके प्रश्नका उत्तर न दें यह संभव नहीं था। बराबर उत्तर नहीं सूझ रहा था। अतः गुस्सा भी चढ़ गया था। पढ़ानेवालोंके लिये कलिविडम्बनमें कहा है–शेषं कोपेन पूरयेत्। सचमुचमें क्रोधमें आकर वाजश्रवस बोल गये–"मृत्यवे त्वा ददामीति"। तुझे यमराजके हवाले कर देता हूँ।

यह मृत्यु या यमराज कौन था? आर्यसमाजियोंका इसपर कहना है कि जो यमलोक, नरकलोक आदि कहते हैं यह सब गप्प है। दक्षिण दिशाकी छोरमें यमलोक माना जाता है। अतएव दक्षिण दिशाको याम्यदिशा भी कहते हैं। किन्तु सारी पृथ्वी घूमकर लोग देख चुके। कोई यमलोक कहीं भी नहीं दिखाई पड़ा। वस्तुतः यम नामके कोई पण्डित थे। वहीं जंगलमें कहीं आसपास कुटिया बनाकर रहते थे। गुस्सेवाले थे। उस पण्डितको देनेकी बात वाजश्रवसने की। मृत्यु मरणको कहते हैं। मरण नामका कोई, आदमी थोड़ा ही है कि उससे वार्तालाप करें और वह ब्रह्मज्ञान बोले। यह उनका तर्क जरूर अच्छा है। किन्तु विचार करनेपर वह बतासेके समान टूट जाता है। यमराज या मृत्यु किसीका नाम नहीं रखा जाता। "एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्" ऐसा वेदवाक्य जाता है। माता-पिता बालकका ग्यारहवें दिन नामकरणसंस्कार करें। पण्डितोंसे

राशिके अनुसार अक्षर लेकर नाम रखते हैं। बालक वृश्चिक राशिका हो तो यकारादि और सिंहराशिका हो तो मकारादि नाम रखते हैं। नन्हासा बच्चा गोदमें अंगुलि चूस रहा है। उसको देखकर कोई मां या बाप उसको यमराज कहेंगे? मृत्यु कहेंगे? असंभावित बात है। अतः पण्डितका नाम यमराज था यह मिथ्या कल्पना है। यदि कहें कि बड़े गुस्सेबाज होनेसे उन्हें सबलोग यमराज कहते थे। ठीक है। किन्तु यह व्यंग्य शब्द हुआ। तब उनका असली नाम क्या था? कहीं न कहीं सुननेमें आना चाहिये। दूसरी बात यह है कि ये पण्डित धुरंधर रहे होंगे इसमें संदेह नहीं। क्योंकि कठोपनिषत् उन्हींका उपदेश है। उनके पास जानेके लिये नचिकेताको क्या अफसोस होना था? इतने बुद्धिमान् नचिकेता उनको शान्त नहीं कर सकते थे? जिसके लिये "बहूनामेमि प्रथमः" इत्यादिरीति अफसोस व्यक्त करना पड़ा। तीसरी बात—

"न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥"

बालबुद्धि वाले वित्तमोह से मूढ प्रमादी को मरणोत्तर होने वाला लोक भासित नहीं होता। जो कुछ है यही लोक है, परलोक कुछ नहीं है इस प्रकार माननेवाला वह बार-बार मेरे (मृत्युके) वशमें आ जाता है। इत्यादि कई मन्त्र आगे आयेंगे। क्या पंडितजी बोल रहे थे कि वित्तमोह-मूढ मेरे पास बार-बार आयेंगे? अतः मृत्युपदका पुराणप्रसिद्ध यमराज ही अर्थ है। हाथपांव आदिके जैसे इन्द्रविष्णु आदि देवता होते हैं वैसे मरणके अधिष्ठाता यमदेवता हैं। वह देवता चेतन है। बोल सकता है। उपदेश दे सकता है।

परन्तु इस अर्थमें एक प्रश्न यह उठता है कि दक्षिणा ऋत्विजोंको दिया जाता है। यमराज यदि पण्डित हों तो ऋत्विक् हो सकते हैं। तब दक्षिणा भी हो सकती है। किन्तु यमराज यदि यमदेवता हों तो उन्हें दक्षिणा देनेका सवाल कैसे उठ सकता है? सर्वस्वदानका यह प्रसङ्ग है। इसका समाधान एक यह है कि सर्वस्वदानका प्रथम संकल्प हो गया तो यज्ञ करेंगे किससे? उसके लिये भी तो अलग धन चाहिये। ब्राह्मणकी दक्षिणासे कुछ लेकर यज्ञ नहीं किया जाता। अतः सर्वस्वदान देवता और

ऋत्विक् दोनोंको मिलाकर है। अर्थात् देवताको देनेके बाद बचा हुआ सर्वस्व ब्राह्मणोंको दक्षिणामें दिया जाता है। उसमें ऋत्विक्को न देकर यमराज देवताको देनेके लिये वाजश्रवसने कहा। परन्तु देवताको दक्षिणा आहुति द्वारा दी जाती है। क्या नचिकेताकी आहुति देते? इतना सब सोचकर वाजश्रवसने नहीं कहा। वस्तुतः गुस्सेमें मनुष्य कुछ भी बोल जाता है ऐसा द्वितीय उत्तर ही ठीक है।

एक और प्रश्न यह है कि यमराजने भारी तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। किन्तु वे इतने भारी तत्त्वज्ञानी हुए कैसे? दुनियाको मारनेका पाप निरन्तर करनेवाले भी क्या तत्त्वज्ञानी बन सकते हैं? बल्कि एक ब्रह्महत्या मात्र करनेसे कई जन्म लेने पड़ते हैं। यहां तो सकल ब्रह्म, सकल क्षत्रियादिकी हत्या हो रही है। इसका उत्तर यह है कि यमराज आधिकारिक पुरुष हैं, जैसे वसिष्ठादि हैं। अधिकार उनका जबतक रहता है तबतक अधिकारानुरूप कार्य उन्हें करना पड़ता है। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेसे पहले ब्रह्महत्यादि ज्ञानके प्रतिबन्धक होते हैं, जन्महेतु होते हैं। ज्ञान हो जानेके बाद कर्तृभोक्तृभाव न होनेसे केवल अधिकारके अनुरूप क्रियामात्र उनमें होगी। तत्प्रयुक्त पुण्यपापादि उनको नहीं लगते। इसीलिये इन्द्रप्रतर्दनसंवादमें इन्द्रने कहा—'अरुं तुदान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छं तेन लोमापि मे न मीयते'। एक यतिकी हत्या कोटि ब्रह्महत्याके समान है। किन्तु यति दुःखदायी होने लगे तो इन्द्र कहता है मैंने उनको भेड़ियोंके सामने नोचनेके लिये फेंका किंतु उससे मेरा बाल भी बांका नहीं हुआ। यमराज भी पूर्ण तत्त्ववेत्ता थे। उपासनाके फलस्वरूप याम्यपदपर वे आ गये थे। उनको ज्ञान तो उपासनाजन्ममें ही हो गया था। किन्तु साक्षात्कारी ज्ञान न होनेसे वह उपासना अधिकाररूपी प्रारब्धमें परिणत हुआ किन्तु पूर्वाभ्यासबलसे वसिष्ठादिके समान तत्वसाक्षात्कारी होकर याम्यपद पर आ जाते हैं।

इस सन्दर्भमें वाजश्रवसकी काफी न्यूनता बतायी गयी है और नचिकेताकी विशिष्ट महत्ता भी। "उशन ह वै" यहां उशनका "कामयमानः" ऐसा अर्थ बताया। उससे काम बताया। "पीतोदका जग्धतृणा" इत्यादिमें मोहप्रयुक्त क्षोभ दिखाया और "मृत्यवे त्वा ददामीति" में क्रोध बताया। ये तीन ही तो पतनकारण हैं।

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥"

इस नरकपतनसे बचानेवाला पुत्र नचिकेता है। इनमें क्रोध तो नचिकेताके विलक्षण प्रश्नसे उभरा। तदर्थ स्वयं नचिकेता यमराजसे कहेंगे—"त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीतः"—आप मुझे जब वापस भेजेंगे तब पहचानकर मुझसे बात करें। "कस्मै मां दास्यसि"—आप मुझे किसको देंगे? यह लोभपर चोट है। कामके लिये "अनुपश्य यथा पूर्वे"—जैसे हमारे पूर्वज गौतमादि निष्काम थे, देखो। इत्यादि पर्याप्त है ॥ ४ ॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किँ स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

बहुतसे विद्यार्थियोंमें मैं प्रथम हूं। बहुतोंमें मैं मध्यम हूं। (पर अधम कहीं नहीं) यमराजका ऐसा कौनसा कार्य है जो मुझसे सिद्ध करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

नचिकेता बहुत भारी समझदार थे जितना कि बड़े-बूढ़े भी अनुभव नहीं रखते थे। जैसे राम-कृष्णादि लोकगतिके अनुसार बाललीला करते थे, वैसे नचिकेता भी थे। नचिकेताने सोचा था कि बालकस्वभावमें पिताजीको पूछेंगे तो वे विचारमें पड़ेंगे ही। और गहराई में उतरनेपर भूल भी निकाल लेंगे। इसी आशयसे "कस्मै मां दास्यसि" कहा। किन्तु गहराईमें पहुंचनेपर वाजश्रवस अपनी पराभूति देखकर क्रुद्ध हुए और अप्रत्याशित-रूपसे बोल गये—"मृत्यवे त्वा ददामि।" नचिकेताके लिये यह सर्वथा अप्रत्याशित था।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इस प्रकार वाणीके चार प्रकार हैं। जहां बोलनेकी इच्छा हुई कि परावाणी में स्पन्दन होने लगता है। इस इच्छाको विवेकसे रोको तो परावाणी निवृत्त होगी। पश्यन्तीतक आनेपर विपरीत इच्छासे उसे निवृत्त किया जा सकता है। मध्यमा तक आनेपर प्रयत्नसे निवृत्त करना होगा। किन्तु वैखरी होनेपर फिर वह निवृत्त नहीं होती। गलेसे जहां बाहर निकला वहां वज्रलेप हो गया। अतः सोच-विचार कर मुंहसे शब्द निकालो। आवेशमें कुछ मत बोलो। मुंहसे निकला हुआ शब्द छूटे बाण के समान वापिस नहीं आता। लोग ऊटपटांग कुछ बोल

जाते हैं। बाद में पछताना पड़ता है। आजकल तरीका निकाला है कि बादमें बोल जाते हैं कि मैं अपने शब्दोंको वापिस लेता हूँ। किन्तु यह एक औपचारिकतामात्र है। छूटा हुआ वाण वापिस नहीं होता। छूटी हुई बाणी भी वापिस नहीं होती। और पहलेके जमानेकी बात ही क्या? उस समय लिखा-पढ़ी नहीं होती थी। मुंह जबानी ही प्रमाण था "न भवति पुनरुक्तं भाषणं"। तात्पर्य यही कि परापश्यन्ती की बात अलग है। मुंहसे बात सोच-समझकर ही निकालना चाहिये। कहने के बाद बात बदलना महान् पाप है। झूठ बराबर पाप नहीं।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः। वजश्रवसके मुंहसे वाणी निकल चुकी—मृत्यवे त्वा ददामि। नचिकेताके सामने तीन विकल्प उपस्थित हुए क्योंकि वाणी अब सार्थक होकर रहेगी। यह बात जानते हुए यदि पिताजीने कहा है तो एक विकल्प यह है कि मैं निकम्मा हूँ। मेरे जीवनका कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु यह बात नहीं हो सकती। मैं निकम्मा कहलाने योग्य नहीं हूँ।

छात्रों के लिये उत्तरप्रदेशमें एक केन्द्रीयवृत्ति है, दूसरी प्रान्तीयवृत्ति है। केन्द्रीय वृत्तिमें बीस छात्रोंमें से प्रथम दस को तीन सौ रुपये और अन्य दसको दो सौ रुपये वृत्ति मिलती है। प्रान्तीय वृत्तिमें तीस छात्रोंको वृत्ति मिलती है। प्रथम पन्द्रहको डेढ़सौ, शेष पन्द्रहको सौ। इनमें प्रान्तीयमें प्रथम आते हैं। केन्द्रीयमें द्वितीय आ जाते हैं। कोई-कोई तो दोनोंमें प्रथम आते हैं। और कोई केन्द्रीयमें द्वितीयमें। पांचसे बादवाले दोनों द्वितीय होते हैं। नचिकेताका कहना है तीसके बादकी निकम्मी कोटिका तो मैं हूँ नहीं। प्रान्तीयमें मैं पन्द्रहके अंदर आ जाता हूँ। और केन्द्रीयमें भी मैं द्वितीय तो आ ही जाता हूँ। मतलब बारहवीं तेरहवीं नंबरका छात्र केन्द्रीयमें द्वितीय और प्रान्तीयमें प्रथम होते हैं। ऐसी व्याख्या यहां एक की जाती है।

दूसरे ढंगकी व्याख्या है कि वाजश्रवस गुरुकुल चलाते थे। वहां अष्टादश या चतुर्दश विद्यास्थानका अध्ययन होता था। उनमें वेद एवं वेदाङ्ग का अध्ययन करनेवाले छात्रोंमें मैं प्रथम हूं। उपवेद-धनुर्वेद आयुर्वेदादिके छात्रोंमें मैं मध्यम हूँ। मैं किसी भी विभाग में तृतीय श्रेणीका विद्यार्थी नहीं हूँ और अनुत्तीर्ण श्रेणीका तो नहीं ही हूं। ब्राह्मण

बालक होनेके नाते वेद एवं वेदाङ्गाध्ययनमें खूब मन लगाता हूँ तो प्रथम निकलता हूँ। धनुर्वेद, आयुर्वेदादि अपने लिये मुख्य न होनेसे ज्ञानवृद्धार्थ अध्ययन करता हूँ सामान्यरूपसे। फिर भी मैं उसमें द्वितीय या मध्यम तो आता ही हूँ। तो मैं निकम्मा किस प्रकार? अतः निकम्मा होनेसे मेरा जीवन निष्प्रयोजन समझकर पिताजी ने 'मृत्यवे त्वा ददामि' यह कहा हो ऐसा नहीं हो सकता।

भाष्यकारने यहां और ढंगसे व्याख्या की है। तीन प्रकारकी वृत्ति होती है। चाहे वह पुत्र हो चाहे शिष्य। श्रीमद्भागवतमें बताया है–

'उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः॥'

उत्तम शिष्य या पुत्र वह है जो पिता या गुरुके बोले बिना ही उनकी इच्छाको देखकर कार्य करे। कहनेके बाद करे तो वह मध्यम होता है। अश्रद्धासे करे तो वह अधम होता है। कहने पर भी जो न करे उसके लिये भागवतमें अतिकठोर शब्दप्रयोग किया है। वहां तक न जाकर इतना ही समझें कि वह अधमाधम होता है। यह वचन पूरुने अपने पिताके प्रति कहा है। वस्तुतः पिताको गुरु भी कहते हैं और गुरुको पिता भी। 'गुरोरप्यवलिप्तस्य' में पिताके लिये गुरुशब्दका प्रयोग है। और 'त्वं हि नः पिता' यहां गुरुके लिये पिता कहा है। 'वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च'। पिता स्थूल शरीर प्रदान करता है। गुरु विद्याशरीर प्रदान करता है। पिता लोकविद्या सिखाता है। गुरु वेदविद्या सिखाता है। अतएव दोनोंके प्रति कर्तव्य बराबर ही रहता है। 'उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता' ऐसा मनुवचन है। इसमें उत्पादक पिता और ब्रह्मदपिता ऐसे दो पिताओंको बताया। पिता गुरुः-पिता गुरु है। ब्रह्मदः गरीयान्-गुरुतर है यह भी बताया है। प्रकृतमें वाजश्रवस तो उत्पादक तथा ब्रह्मद उभयरूप पिता हैं। अतः उनके प्रति शिष्य या पुत्र का कर्त्तव्य महान् है।

उत्तम पुत्र या शिष्य वह है जो चिन्तित कार्यको भी करे। मध्यमको प्रोक्तकारी बताया (जोर देकर कहने पर करने वाला) केवल उक्तकारी नहीं। क्योंकि चिन्तित क्या है यह कैसे मालूम होगा। क्या पुत्र या शिष्य वही है जो ज्योतिषी हो? दूसरेके मनमें क्या है यह कहे बिना ही जान

लें? बात यह है कि सामान्य कार्य ऐसे हैं जिन्हें कहना नहीं पड़ता। आश्रमकी सफाई, पौधोंको जल सींचना, गायोंकी सेवा करना अदि कुछ कार्य ऐसे हैं जो दैनिक होनेसे कहे बिना ही समझमें आते हैं। हमने दक्षिणमें एक आश्रम देखा। बंग्लूरमें बड़ा आश्रम है। छोटे-बड़े सब प्रकारके बच्चे सुबह होते ही काममें जुट जाते हैं। कहना नहीं पड़ता। हां कुछ काम ऐसे हैं कि सामान्यतः कहना पड़ता है। किन्तु बोलते ही काम करने दौड़ पड़ते हैं। काममें परमुखनिरीक्षकता नहीं होती। दूसरा करे तो मैं करूँ, वह नहीं करता तो मैं क्यों करूँ? बल्कि यों समझो कि मुझे सेवा करनेको मिला, दूसरेको नहीं मिला, यह मेरा भाग्य है। सो भी ब्रह्मज्ञानकी सेवा मिले तो अहमहमिकया (मैं करूंगा, मैं करूंगा करके) करो। वेदान्तके प्रथम पाठ तत्त्वबोधमें भी यही बताया है—"ये ब्रह्मवेदिन सेवन्ते पूजयन्ति तान् प्रति तस्य पुण्यानि गच्छन्ति। ये तु तं द्वेष्टि दुःखीकरोति तान् प्रति तस्य पापानि गच्छन्ति।" जो ब्रह्मज्ञानी की सेवा करते हैं उनको उस ब्रह्मज्ञानीके पुण्य प्राप्त होते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी से द्वेष करते हैं उनको दुःख पहुंचाते हैं, उनको उनके पाप प्राप्त होते हैं। ब्रह्मवेत्ताके समान कोई पुण्यात्मा नहीं। निरन्तर पुण्यसे ही ब्रह्मदर्शन हुआ है। "अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनं" ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्यका कहना है। परन्तु ब्रह्मज्ञानके बाद उन पुण्योंका क्या करना है? क्या ब्रह्मज्ञानीको स्वर्ग जाना है? या श्रीमन्तोंके कुलमें जनमना है? दोनों नहीं है। उसे तो मुक्त होना है। तब वह पुण्य कहां जायेगा? जो सेवा करते हैं उनके पास। अतएव "सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" सेवा धर्म अति गहन है, वह योगियोंको भी दुर्लभ है। यह प्रसिद्धि हुई। दूसरी ओर ब्रह्मज्ञानीको भी पूर्वसंचित पाप रहते हैं। यह शरीर ही पुण्यपाप दोनोंसे उत्पन्न है। क्या ब्रह्मज्ञानीको बिमारी नहीं होती? पेटमें, पीठमें आदिमें दर्द नहीं होता? होता है, तो वह पापफल नहीं है? ब्रह्मज्ञानीको भी कभी एक्सिडंट होता है। पुण्यसे पाप नहीं कटता और पापसे पुण्य भी नहीं कटता। दोनों अपने-अपने स्थान में हैं। दोनों स्वतन्त्र हैं। बासमती सुगन्धिदार चावल खा रहे थे तो यह किसका फल है? पुण्यका फल है। उसमें एक कंकड़ आ गया और दांतमें लगा तो किसका फल? कहना होगा पापका। सौ बासमती चावलके दाने एक

कंकड़का दाना। तो सौमें से एक घटाकर निन्यानव्वे बासमती दाने खानेको मिले ऐसा क्यों नहीं होता? इससे यह निश्चित है कि यह घाटापूर्ति सब बनियोंके व्यापारमें है, पुण्यपापमें नहीं। अतः ब्रह्मज्ञानी सर्वाधिक पुण्यात्मा होनेपर भी उनमें पाप भी रहता है। वे पाप कहां जायेंगे यदि वे मुक्त होते हैं? जो उनकी निन्दा करें, उनको क्लेश दें ऐसोंके पास। अतः सेवा तो दुर्लभ समझंकर करो।

प्रोक्तकारी तु मध्यमः। जरा जोर देकर कहें तब मध्यम मनुष्य, शिष्य या पुत्र करता है। आज्ञा करो तो करेगा। आज्ञाकारी है। सामान्यकारी नहीं। यहां वाले कहते हैं—महाराज आज्ञा करो। हम सेवाके लिये तैयार हैं। किन्तु सन्त क्यों आज्ञा करने लगें? संत सोच लेते हैं अपना काम चल जाता है। कुछ बोलनेकी जरूरत नहीं। कुछ लोगतो शायद यही समझकर सेवा पूछते होंगे। महाराज कुछ बोलेंगे नहीं।

अधमोऽश्रद्धया कुर्यात्। अधम वह है कि जो सोचता है कि पिताजीने कह दिया, गुरुजीने कह दिया अब करना ही पड़ेगा। कुछ लड़के सोचते हैं कि ये दिनभर कुछ न कुछ हुकम करते ही रहते हैं। इनके सामने जाओ ही मत। काम करते हैं किन्तु मनमें श्रद्धा नहीं है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥"

अश्रद्धासे हवन करो तो वह व्यर्थ होगा। अश्रद्धासे जबर्दस्ती कुछ दान दो तो वह भी व्यर्थ होगा। इसीलिये "श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम्" इस श्रुति की व्याख्यामें श्रद्धासे, अश्रद्धासे, लज्जासे जैसे भी हो दान दो ऐसा सामान्य अर्थ प्रतीत होनेपर भी भाष्यकारने "अश्रद्धया अदेयं" पदच्छेद किया। जिसका अर्थ हुआ अश्रद्धासे मत दो। क्योंकि वह असत् है। तप करो तो श्रद्धासे करो। लोग कहते हैं व्यर्थमें बदरीनारायण क्यों जाओ क्या यहां भगवान नहीं हैं? खाली पीली धक्के खाओ। ऐसा यदि विचार हो तो सचमुच वहां जाना, तप करना व्यर्थ है। और जो भी कुछ किया वह यदि अश्रद्धासे किया तो भी असत् है। इस 'जो भी में गुरु-सेवा, सुश्रूषा आदि सब आ जाते हैं। अश्रद्धासे करनेपर भी उपकार होता है। तथापि

वह सेवा फलदायिनी नहीं होती। इसलिये करना अनिवार्य है तो रो-रोकर मत करो। एक जगह मैं गया तो एक माई सत्संगमें आती थी। ससुर-सासु बिमार होनेसे सेवा करनी पड़ती थी। रोज-रोज आकर रोवे, गाली देवे। क्या परेशानी हो गयी। मैंने कहा—छोड़कर दूसरी जगह जाओ। बोली दूसरी जगह लेना भी तो मुश्किल है। जगह महंगी है। तो यदि सेवा करना अनिवार्य है तो मनमेंसे ग्लानि निकालकर करो। कुछ फल तो मिले। वह बोली कि मुझे फल-उल कुछ नहीं चाहिये। मैंने कहा—फिर रो-रोकर करो और मन मलिन करो। सेवा करके नुकसान उठाओ। यह सब असत् है। नहीं करने के बराबर है ही। असाधु भी है।

चतुर्थ वह है जो कहनेपर भी नहीं करता। वह तो अधमाधम है। बड़ोंसे जो स्वार्थ लाभ प्राप्त करना था सो तो पाया किन्तु सेवाका मौका आया तो छँट गया। उलटा उन्हींको डाँटने फटकारने लगा।

ये तो चार शास्त्रकारोंकी दृष्टिसे हुए। पांचवाँ भी एक है जो पितासे या गुरुसे अपनी सेवा करावे। जो पितापर या गुरुपर अभियोग लगावे। उनको क्या कहना चाहिये? भर्तृहरि बड़े व्याकरणशास्त्रवेत्ता थे। उनके पास शब्दभंडार था। किन्तु वे कहने लगे—"ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।" ऐसोंके लिये मेरे शब्दकोशमें शब्द नहीं है। ढूंढनेपर भी नहीं मिलता। पहलेके समयमें ऐसा होता नहीं था। गाँवोंमें वृद्धोंकी और गुरुजनोंकी क़दर होती थी तो सहसा ऐसा कोई दुष्ट नहीं होता था जो अपने वड़ीलोंको तंग करें। आजके लोग कहते हैं कि हमने बड़ी प्रगति की। बाहर प्रगति अवश्य की किन्तु भीतर आत्महत्या हो रही है। चारित्र्य नहीं रहा। मानवता नहीं रही। एक दूसरेको काट खानेके फिकरमें है। यह नैतिकताका दिवालियापन है। विदेशका अनुकरण करते-करते भारत नरकके गड्ढेमें ढकेला गया। अपने-अपने अधिकारको बनाते, सोचते, करते सौमनस्य समाप्त हो गया। रास्तेमें कोई आदमी पड़ा कराह रहा है। उसे राहत पहुंचानेके लिये कोई कानून नहीं है। उसे देखकर अनदेखी करते हुए जानेका हमें अधिकार है। क्या इस अधिकारका उपयोग मानवता है? यहां कानून काम नहीं आ सकता। यहां मानवतावाद ही काम आ सकता है। आज अधिकारवादका बोलबाला हो गया है। अस्तु।

नचिकेताका कहना है कि मैं अमानवीय बात सोच ही नहीं सकता। अधमाधम और अधम भी नहीं। मैं प्रथम या मध्यम हूँ। यह अभिमानकी बात नहीं है। स्वयं आत्मनिरीक्षण है। ऐसे तो किसी न किसी दृष्टिसे उसे अधम सिद्ध किया जा सकता है किन्तु लोकव्यवहार पर चर्चा होती है। इसलिये 'बहूनामेमि प्रथमः' कहा। प्रथमरूपसे लोकमें प्रसिद्ध जो बहुतेरे व्यक्ति हैं उनमें मैं प्रथम हूँ। "मैं मूरख.खल कामी" इत्यादि वचन तो आत्मवंचनमात्र होगा। अपनेको अपनी योग्यताके अनुसार ही समझना है। वह भी अतिविशाल दृष्टिसे नहीं। क्योंकि अतिविशाल दृष्टि करेंगे तो संसारमें परिच्छिन्न किसी भी वस्तुका अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। अतिसूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तो कोई भी निर्दोष नहीं होगा। 'निर्दोषं हि परं ब्रह्म' के अनुसार एक ब्रह्म ही निर्दोष होगा। इसलिये यही समझना उचित है— 'बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः'। वह भी सचाईको संमुख रखकर। क्योंकि अन्तरात्मा एकबार सच अवश्य बोल देगा कि मैं सच बोल रहा हूँ या झूठ, गलत कर रहा हूँ या सही। अन्तरात्माको छिपाकर कुछ बोलना करना अनुचित है।

'किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति'। दूसरा विकल्प यह है कि यमराजके किसी कार्यके लिये मुझे यमराजको दे सकते हैं। पिताजी वैसे समर्थ हैं। यम देवताके यहां मुझे भेज सकते हैं। मारनेकी कल्पना नहीं हो सकती तो यही कल्पना संभव है। पुराणोंमें कथायें तो बहुत सारी प्रसिद्ध हैं। अर्जुन इन्द्रलोक गया था। (श्रीकृष्णके पिता) नन्दरायको वरुणलोक ले गये थे। श्रीकृष्ण तथा बलदेव गुरुपुत्रको लाने यमलोक भी गये थे। श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ वैकुण्ठलोक भी गये थे। लोकान्तरमें जाने या भेजनेकी विशेष शक्ति होनी चाहिये। तब जाया जा सकता है। भेजा जा सकता है। वैदिक पाठों में ऐसी कथायें बहुत कम मिलती हैं तथापि संभावनासे इनकार नहीं किया जा सकता है। 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुद-यच्छत्'—इन्द्र ने वृत्रको मारनेके लिये वज्र उठाया, इत्यादि भूतार्थवाद वाक्योंकी यथार्थतामें वह सब मान्य हो सकती है। कई विद्वान् वेदों में उन कथाओं का रूपक अर्थ मानते हैं। तथापि इस कठोपनिषत्में नचिकेताके यमलोक जानेकी बात आती ही है। अतः यमलोक भेजनेकी

कल्पना भी नचिकेतामें होना बड़ी बात नहीं है। किन्तु उसमें नचिकेताका प्रश्न है "किंस्विद् यमस्य कर्तव्यम्।" कोई वस्तु दी जाय तो वह दातव्यके उपयोगमें आना चाहिये। एक बूट-पेन्ट पहननेवालेको आप धोती देंगे तो उसके किस काममें आयोगी? एक करोड़पतिको दो चार रूमाल दें तो क्या उसका उपयोग होगा? यमराजके पास किस चीजकी कमी है? हिसाब-किताब रखनेवाला कोई लड़का उनको चाहिये क्या? वहां तो चित्रगुप्त बैठा है। वह काम नचिकेतासे होगा क्या? पापियोंको तपे हुए तेल, असिपत्रवनमें फेंकनेवाले यमदूत जल्लाद चाहिये। क्या यह काम नचिकेता कर सकते हैं? मनुष्य हो तो उसके पास वस्तुकी कमी होनेसे आवश्यकतायें होती हैं। देवताओंके पास संकल्पसे ही सब उपस्थित होती है तो नचिकेताका क्या प्रयोजन होगा? ब्राह्मणोंको गाय दो तो उनके काम आ सकती है। लड़का दो तो घरमें साफ-सफाई आदि करनेमें काम आ सकता है। किन्तु यमराजका कोई भी कार्य नचिकेताके द्वारा संपादित करना संभावित नहीं है।

या यह संभावना की जांय कि मेरे पिताकी यमराजसे कभी मुलकात हुई हो उस समय यमराजने कहा हो कि मुझे प्रतिदिन हजारों हिंसाएं करनी पड़ती हैं उस पापकी निवृत्तिके लिये आप उपाय करो और पिताजीने तदर्थ वचन दिया हो। किन्तु बात यह है कि मैं कुछ जानता नहीं हूँ तब उसके लिये क्या प्रायश्चित्त हो सकता है? मैं बालक हूँ। शास्त्रोंका पूर्ण अभिज्ञ हूँ नहीं।

इन दो विकल्पोंके बाद एक ही विकल्प अवशिष्ट रहता है कि सोचे बिना ही क्रोधमें यूं ही कह दिया हो कि मृत्यवे त्वा ददामीति। इसीको लेकर एकान्तमें बैठकर नचिकेता विचार करने लगते हैं। अर्थात् अयोग्यता के कारण मुझे यमराज के हवाले नहीं करते। यमराज का कोई मुझसे कार्य हो इसके लिये यमराज के पास मुझे भेज रहे हैं यह भी बात नहीं। किंस्वित् यह आक्षेप अर्थ में है। यमराज को मेरा क्या काम हो सकता है? कुछ नहीं। अतः तृतीयपक्ष ही संभव है। किन्तु वह पक्ष कहां तक संगत होगा? इतना प्यार करने वाले पिताजी एका-एक गुस्से में आकर मुझे यमराज को देने की बात सोच सकते हैं? इतना बड़ा भारी

अपराध भी तो मैं ने नहीं किया। क्रोध से कहा यह निश्चय हो रहा है। क्रोध अपराध प्रयुक्त भी होता है, मिथ्या आवेश प्रयुक्त भी हो सकता है। पिताजी को अनन्दलोक प्राप्तिसे बचाने का कार्य यदि मैं कर रहा था तो यह अपराध नहीं हो सकता है। क्योंकि पुत्रका तो यह कर्त्तव्य है कि वह पुन्नाम नरक से त्राण करे। हां, तरीके में गलती हो सकती है। वाणी में शुष्कता एवं स्निग्धता होती है। अप्रयोक्तव्य शब्दप्रयोग होता है। यदि मैं सीधा ही कहता कि पिताजी ऐसे गायों को देना अधर्म है ऐसा मत करो तो उद्धतता होती। वैसा मैं ने कहा नहीं। जैसा मैं ने कहा उस में भी क्या कोई अनौचित्य है जिससे पिताजी क्रुद्ध हुए। या किसी अभिमानिक आवेश से क्रोध हुआ। इतने विकल्प में आकर नचिकेता रुकते हैं। फिर भी क्रोध में भी यहां तक कैसे पहुंच गये यह भी एक संशयास्पद ही है। इसका निर्णय अग्रिममन्त्र में सूचित पिता के पश्चात्ताप को देखकर या पिताके वचनसे नचिकेता करेंगे ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजयते पुनः ॥ ६ ॥

पहलेवाले जैसे थे उन्हें देखो तथा आगे आनेवाले जैसे होंगे उन्हें भी देखो। मनुष्य सस्यके समान पक जाता है और सस्यके समान ही पुनः जन्म पाता है ॥ ६ ॥

नचिकेता समझ नहीं पा रहे थे कि पिताजीका क्या अभिप्राय है। क्या मेरा जीवन निष्प्रयोजन समझकर मरनेकी बात कर रहे हैं या मृत्यु देवताका मुझसे कोई कार्य होनेसे तदर्थ यमराजके पास मुझे भेजना चाहते हैं। या क्रोधमें यों ही बोल गये। यह तृतीय पक्ष सहसा उपस्थित नहीं हुआ क्योंकि उस समय लोग क्रोध या मजाकमें भी झूठ नहीं बोलते थे। चिन्तामग्न होकर मूड़ी नीची किये हुए नचिकेता खड़े थे। ऐसी अवस्था में खड़े नचिकेता को देखकर फिरसे वाजश्रवसके मनमें पुत्रमोह उमड़ पड़ा। गुस्समें जो बोल गये उसपर पश्चात्ताप हुआ। सान्त्वना देते हुए वाजश्रवसने कहा—बेटा घबराओ मत। मैं गुस्समें बोल गया—"मृत्यवे त्वा ददामि" उसपर गौर नहीं करना। मैं मृत्युके पास तुझे नहीं भेजूंगा। नचिकेताने देखा कि एक अपराध पहले हो गया था कि जिससे

अनन्दलोकको तैयारी हो रही थी। अब यह द्वितीय अपराध सामने आ गया है। 'नानृतं वदेत्' यह स्पष्ट निषेधवाक्य है। असत्य नहीं बोलना चाहिये। निषेधवाक्यसे निषेध्यकार्यमें नरकसाधनता बतायी जाती है। अब अनन्दलोक तो क्या, नरक की तैयारी हो रही है। बचाने के प्रयत्न में पतन आ गया।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे। नचिकेताका स्वर बदल गया। प्रथम बालभावमें पूछने लगे थे कि आप मुझे किसे देंगे—'कस्मै मां दास्यसि'? वहां परोक्षरूपसे निष्फलगोदाननिषेध हो रहा था। पंरन्तु अब प्रत्यक्ष विधिशब्दसे बोलने लगे—पिताजी आप अपने पीछेवालोंको देखिये और आगेवालोंको भी। आप अपने पूर्वजोंके गौरवको प्रथम देखिये। उसके बादका माने वर्तमान और भविष्य इन दोनोंको भी देखिये। क्या आपके वंशमें आजतक ऐसा कोई हुआ कि मुंहसे वचन निकालकर फिर उसे झुठलाया? मध्यमावाणीपर्यन्त विधिनिषेध काम नहीं करते। किन्तु वैखरीके होते ही विधिनिषेध दोनों काम करने लगते हैं। 'सत्यं ब्रूयात्' यह विधि है। 'नानृतं वदेत्' यह निषेध है। बोलनेकी इच्छा होते ही परा वाक्में स्पन्दन होगा। चाहे वह सत्यस्पन्दन हो चाहे अनृतस्पन्दन। पश्यन्तीमें विमर्शरूप होगा एवं मध्यमामें उच्छून होगा। फोड़ा निकला, थोड़ा ऊपर आया तो सेंककर उसे बैठा सकते हैं किन्तु उठ गया तो दवा ही उपाय है। सामान्यतः रोगाणु अंदर आते हैं, किन्तु स्वास्थ्याणु उन्हें वहीं समाप्त कर देते हैं। थोड़ा बढ़ने-पर भी पथ्य से उनको दबाया जा सकता है लेकिन प्रगट हो गया तो आपरेशन करना पड़ेगा। वैसे मध्यमातक वाणी दबायी जा सकती है। वैखरी होनेपर दवा-प्रायश्चित ही उपाय है। अन्यथा उठे रोग के सामन वह नाश का कारण होगा। अतः—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥'
'कस्यचित् किमपि नो वदनीयं मर्मवाक्यमपि नोच्चरणीयम् ॥'

—विचार किये बिना सहसा कोई कार्य न करो। अविवेक आपदाओं का परम मूल है। विचारपूर्वक कार्य करने वालों के पास गुणलोभी संपादयें

स्वयं आती हैं।—किसी को कुछ भी उलटा-पुलटा नहीं कहना चाहिये। और ऐसा वाक्य भी नहीं कहना चाहिये जो दिल को चोट पहुंचाता हो।

वाजश्रवसने सहसा कार्य किया। द्वितीय अपराध भी सामने आया तो नचिकेताने बालस्वभावसे ऊपर उठकर विधिवाक्य कहा। यद्यपि यह निषेध पर्यवसायी है। असत्य न बोलो परंतु वह अतिकठोर होता। अतः ऐसा कहा नहीं, "पूर्वे" कौन? आगे "गौतमो माभिमृत्यो" बतायेंगे। उससे लगता है कि ये गौतमवंशीय थे। गौतमकी कथा शिवपुराण आदिमें आयी है। वे त्र्यम्बकेश्वरमें रहते थे। वहां पर्वतपर उनका आश्रम था। गौतमी गङ्गा गोदावरीको कहते हैं। एक बार महाराष्ट्रमें बारह वर्षकी अनावृष्टि हुई। अनावृष्टि का अर्थ अपर्याप्त वृष्टि। गायें मरने लगीं। ऋषिमुनि जंगलमें रहते थे। वे निराहार हो गये। नासिक आदि उस समय जंगल ही था। तभी तो वनवासी राम पंचवटीमें रहे। यदि नगर होता तो वनवासकी प्रतिज्ञाका भंग हो गया होता। निराहार होनेसे ऋषि देश छोड़कर अन्यत्र जानेकी तैयारी करने लगे। कुछ लोगोंने गौतमका स्मरण किया। तब ऋषि लोग गौतमके पास आये। गौतमजीने आश्वासन दिया। अपनी तपश्चर्याकी शक्तिसे त्र्यम्बकमें उन्होंने वर्षाकी झड़ी लगवायी। आज भी चौमासे में त्र्यम्बकेश्वरमें बम्बईसे अधिक वर्षा होती है। चारों ओर सस्य-वनस्पति होने लगे। सर्वत्र पानी-पानी हो गया। सभी प्रसन्न थे। बादमें यद्यपि कुछ ईर्ष्याद्वेष भी गौतमके साथ दूसरोंने किया सो अलग बात है। बताना यही है कि गोतमकी सत्य वाणीका यह प्रभाव था कि सुवृष्टि एवं सुभिक्ष हुआ। गौतम ऋषिका आश्वासन का वचन मिथ्या नहीं हो सकता था। क्योंकि वे सत्यप्रतिष्ठ थे।

"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वं"

सत्यवचन और सत्याचरण बारह वर्षतक हो जाय तो सत्यप्रतिष्ठा हो जाती है। आजकी यह बात नहीं है। आज तो झूठके बिना एक दिन बिताना भी असंभव-सा हो गया है। यही कारण है आज श्राप-आशीर्वाद कुछ नहीं फलता। पहलेके समयमें गिन-गिन कर अक्षर बोलते थे। कहीं एक अक्षर भी झूठ न हो। उस समय—

"ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति"

—पहले जमाने के ऋषियों की वाणी के पीछे-पीछे अर्थ चलता था, अर्थ के पीछे वाणी नहीं वाली बात थी। गौतम ऋषि महान् सत्यनिष्ठ थे। नचिकेता कहते हैं उन पूर्वज ऋषियोंकी ओर देखो और अपना आचरण बनाओ।

अपर कौन? जौ पूर्वसे भिन्न। अर्थात् वर्तमानकालीन तथा भावी। नचिकेता कहते हैं कि वर्तमान कालमें जो महान् सन्त हैं उनको भी देखो, वे कैसे सत्यनिष्ठ हैं, तपस्वी हैं। नचिकेताके समयमें भी बड़े-बड़े महापुरुष थे। आपलोग शंका कर सकते हैं कि नचिकेताके समयके लिये यह उपदेश हो सकता है। यह त्रैकालिक उपदेश नहीं हो सकता। क्योंकि आज दुनियामें सत्यप्रतिष्ठ, तपोनिष्ठ कोई दिखाई नहीं देता। परन्तु ऐसा मत कहिये। आज भी ऐसे महान् पुरुष हैं। हां, प्रगटरूपसे दिखाई नहीं पड़ें यह अलग बात है। यदि प्रकट दिखाई नहीं देते तो उनके अस्तित्वमें क्या प्रमाण? यही प्रमाण कि यह पृथिवी टिकी हुई है। यदि ऐसे सन्त न होते तो पृथिवी कबकी डूब गयी होती। कबकी चूर-चूर होकर बिखर गयी होती।

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।"

उनके कर्ममें अकर्म है। और अकर्ममें अनन्त कर्म है। उनके नैष्कर्म्यरूपी अकर्म या संन्यास जिसको "ज्ञानं संन्यासलक्षणं" बताया है उसमें अनन्त कर्म है। जिसने पृथिवी को उठाया है। पुराणोंमें सुना है कि शेषके मस्तकपर पृथिवी है। शेषने पृथिवीको उठाया है। वह शेषनामका कोई सांप है। हो भी सकता है। पुराणोंमें वर्णन भी है। वस्तुतः शेषका अर्थ है— "बच रहनेवाला" "न भूमिर्न तोयं" इत्यादि सर्वनिषेध होनेपर सर्वबाध होनेपर जो बचा रहता है वह शेष है। क्या बच रहता है?

"तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्"

वही तुरीयतत्त्व। वह ज्ञानस्वरूप है। नैष्कर्म्यरूप है। किन्तु उसीमें अनन्त कर्म अध्यारोपित हैं। अतः सन्त हरहमेशा रहते हैं। नचिकेताके समयमें वे प्रकट थे इसलिये कहा—प्रतिपश्य।

अपरेका भविष्य (भावी) पीढ़ी भी अर्थ है। पूर्वजोंको देखकर चरित्र बनावो और भावी पीढ़ीको देखते हुए आदर्श बनो। प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि भावी पीढ़ी को शिक्षा देने के लिये आदर्श पुरुष बने।

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते' ॥

बड़े लोग जैसा-जैसा आचरण करते हैं दूसरे उसी प्रकार अपना आचरण बनाते हैं। वरिष्ठ व्यक्ति जिसे प्रमाणरूप मानते हैं उसका अनुकरण जनता किया करती है। अतः हम पर बड़ी जिम्मेदारी है। हम यहीं समाप्त नहीं होते। हमारी हज़ारों पीढ़ियां आगे होंगी। किन्तु बीजरूप हममें कीड़ा लगा हजारों पीढ़ियोंतक वही कीड़ा चलेगा। परदादाको डायबिटीस था, दादाको भी रहा, बापको खुदको भी है तो आगे पीढ़ीमें क्या नहीं होगा? इसलिये असगोत्रविवाहपद्धति है। एकका दोष दूसरेसे दब जाये। माताका दोष पितासे या पिताका दोष मातासे दब जाय। किन्तु कहीं नहीं भी दबता यह अलग बात है। शरीर रोगके समान वाचिक एवं मानसिक रोग भी हैं। अतः अपनेको रोगमुक्त रखो। आगेकी पीढ़ीको देखो। अपनेको असत्यादि दोषमुक्त रखो। कहीं आगेवाली पीढ़ी तुम्हारा अनुकरण न कर बैठे।

सस्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजायते पुनः। इसका यह अनुरूप दृष्टान्त है। सस्यका बीज बोया तो उससे पैदा हुआ सस्य पौधा वैसा ही होगा। अच्छा बीज हो तो अच्छा पौधा होगा और अच्छा पाक होगा। उससे होनेवाले बीजसे पुनः वैसा अच्छा ही पौधा होता रहेगा। यदि बीजदोष रहा तो पाक भी दोषयुक्त होगा। आगे वंश भी दोषयुक्त होगा। मनुष्य भी सस्यके समान है। जैसा बाप वैसा बेटा होगा। "आत्मा वै पुत्र नामासि" बाप ही पुत्ररूपसे अवतीर्ण होता है। यह विवेकपरक अर्थ हुआ। अब वैराग्यपरक अर्थ देखो।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे। पूर्वज हमारे असंख्य हुए। सृष्टि अनादि है। किन्तु पूर्वजोंका आज कोई अस्तित्व है?

यातो मे प्रपितामहः कुलवहः स्वप्नायितश्चाधुना
यातश्चापि पितामहोऽभिचक्रमे योऽसौ चिरं जीवितुम् ।
याता मे जननी तथैव जनको यान्त्येव चान्येऽप्यमी
कालेऽस्मिन् प्रसरत्करालवदने यातुं वयं च स्थिताः ॥

पिता याद है? हाँ है। दादा? कुछ कुछ। परदादा? थोड़ा थोड़ा उससे आगे? बिल्कुल नहीं। परदादाकी आज क्या स्थिति? कैसे वे लगते हैं? बीत गये सपनेसमान हो गये। तुम्हारे बेटोंके लिये नामावशेष, और आगे नाम भी मालूम नहीं होगा। भले पंडेतलोग वंशावली बता दें। परदादा तुम्हारे लिये स्वप्नवत्, तुम्हारे बेटोंके लिये शून्य। और दादा तुम्हारे बेटोंके लिये स्वप्न वत् और आगेवालोंके लिये शून्य। अपने परदादाकी ओर देखो कि वे कैसे स्वप्नवत्, शून्यवत् हो गये। एक भक्त मुझे पूछ रहा था कि कबतक यह श्राद्धतर्पण करते रहना पड़ता है? सालभरमें एकबार पितृपक्षमें श्राद्ध करनेमें उसे झंझट मालूम पड़ रही है। जिसने अपनी गोदमें तुम्हारे बापदादाको पालापोसा उसका ऋण अदा करना झंझट लगता है। याद रखो, वह दिन भी आयेगा जब तुम्हारे पोतों परपोतोंको वर्षमें एकबार तुम्हें पिण्डोदक देना भी क्लेशदायी होगा। नया फ्लेट लेनेके बाद दादा परदादाके फोटो जो पुराने पड़ गये हैं लोग उठाकर समुद्रमें फेंक देते हैं। याद रखो, तुम्हारा भी फोटो एक दिन समुद्रमें फेंका जायेगा। रूपस्मरण छूटनेपर नामावशेष और नामस्मरण भी जब छूटेगा तब? आजके नवयुवक पुरातनोंको कूपमण्डूक कहते हैं। परन्तु वे स्वयं गर्तमण्डूक हैं। तुम पूर्वजोंको फजूल समझते हो, एक दिन तुम्हें भी तुम्हारे परवर्ती फजूल समझेंगे। अतः मनुष्यको अपना जीवन पवित्र बनाना चाहये। यही असली स्वार्थ है। पर धनहरण नहीं। इस मानव तनमें रहते हुए परमोह, परममता आदिको छोड़कर स्वार्थ साधो सचाईके मार्गमें चलना ही परम स्वार्थ है। "स्वार्थान् संपादयन्तो वितरबहुतरारम्भयत्नाः परार्थे" सचाई और परोपकार ही असली स्वार्थ है।

सस्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजायते पुनः। संसार यह क्षणभंगुर है। बीज आज बोया। कलतक फूल जायेगा। परसों, अंकुर, फिर पत्ते। गेंहू, चना आदि महीने दो महीनेमें बड़े होकर फल देने लगेंगे। दूसरे बीजों को तैयार किया, स्वयं सूखकर समाप्त हो गया। फिर उन नये बीजोंसे नये अंकुर। ऐसे ही मनुष्य भी है। बीजरूपमें मातापिताके शरीरमें था। फिर बाहर अंकुररूपमें आया। देखते-देखते बड़ा हो जाता है। शरीरमें बाल, मस्तकमें लंबे-लंबे केश, डाढी-मूँछ ये सब पत्तेके समान हैं। शादी-विवाह हो गया। बीजान्तर तैयार हुआ। स्वयं पक गया। फिर समाप्त। क्या फरक है मनुष्य और पौधोंमें?

दृष्टा बालकचेष्टा यौवनदर्पोऽथ वृद्धवैराग्यम् ।
सापि गता सोऽपि गतस्तदपि गतं स्वप्नमायेयम् ॥

क्षण भर बालचेष्टायें होती रही। वह भी देखी। फिर कुछ देर जवानी का मद हुआ वह भी देखा अन्त। बुढ़ापेमें वैराग्य आ गया वह भी देखा। बालचेष्टा गयी, यौवनमद गया। वृद्ध-वैराग्य भी समाप्त, एक दिन सब सपना हो गया। दूसरोंका देख लेते हैं पर अपना नहीं दीखता। बच्चेको पांच-सात वर्ष बादमें डाढ़ीमूंछवाला देखकर आश्चर्य करते हैं अरे! कल यह बच्चा था। मैं एक फ्लेट (कपूरमहल) में जाता था वहां तेरह चौदह वर्षका बच्चा था। बादमें उसे विलायत भेजा। पांच-सात साल में आप जानते हैं कैसा संक्रमण होता है। विलायतमें जाकर उसने दाढ़ीमूंछ बढ़ायी। वापिस आया। रातको दस बजे घंटी बजायी। मांने दरवाजा खोला तो एकबार ऐसा डर गयी कि पसीना-पसीना हो गयी। उसने समझा कोई डाकू आया। जब पूछा तू कौन? तो हंस पड़ा। तब पहचाना। लेकिन वह लड़का थोड़े ही समझ रहा था कि मैं बदल गया हूँ? अपनेको अनन्त-पर्यन्त वहीका वही समझते हैं। जैसे बाल्य कौमारादिपरिवर्तनका होश नहीं रहता वैसे मरणका भी होश नहीं रहता, जो सुनियत आनेवाला है। ऐसा कोई देश नहीं, कोई स्थान नहीं, कोई घर नहीं जहां मरण नहीं हुआ यह तो स्वयंका पचन (मरण) और स्वजन्य बीजोंका जनन बताया। स्वयंका भी जन्ममरण होता है। जैसे गरमी में घास सूख जाती है किन्तु बारिषमें नयी घासके रूपमें सामने आती है वैसे मनुष्य भी इस शरीरको छोड़कर नयी कायाको लेकर आता है।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

महाभारतमें कर्णकी बात आती है। एक कथा ऐसी भी आयी है कि मरण समयमें कर्णकी दानवीरताकी परीक्षाकर अर्जुनको बतानेके लिये ब्राह्मणरूपमें भगवान् कर्णके पास गये थे। कर्णने अपने दांतमें से सोना निकालकर दिया। भगवान् स्वस्वरूप दिखाकर प्रसन्न होकर बोले कि क्या वरदान चाहते हो? कर्णने कहा कि जहां किसीको गाड़ा नहीं, जलाया नहीं, जहां कोई मरा नहीं उस स्थान पर मुझे शरीर छोड़ने दो। भगवानने गरुडपर कर्णको घुमाया। एक पहाड़ीकी चोटी दिखायी पड़ी। जहां किसी

भी प्राणीके जानेकी संभवना नहीं थी। कर्णने कहा यहां मुझे शरीर छोड़ने दो। वहां कर्णको उतारा तो आकाशवाणी हुई 'अरे कर्ण! यहां तू हजारोंबार मरकर जला दिये गये हो।" कर्णको आश्चर्य हुआ। "अच्छा तो अबकी बार भी यहीं होने दो" कहते कहते उसका शरीर छूटा। इस अवश्यंभावी मरणसे मत डरो। धर्मसे डरो-कहीं मेरे हाथसे यह न निकल जाये। अतः पिताजी अपने वचनको सत्य करो। किसी भी हालत में सत्य का त्याग न करो। सत्य धर्म है।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

कभी-भी काम से या भयसे धर्म न त्यागो। बल्कि जीवन के लिये भी धर्म को त्यागना नहीं चाहिये। जीवन भले छूट जाय। पर धर्म न छूटे यह ख्याल हमेशा रहना चाहिये।

सत्यान्नास्ति परो धर्मः

सत्य से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। अतः मुझे मृत्युको देकर सत्यकी रक्षा करो ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

अतिथि ब्राह्मण घरमें क्या आता है, वह तो वैश्वानर ही आता है। उसके लिये यह शान्ति करना आवश्यक है। वैवस्वत (यम)! यह जल लेजाकर अतिथिको दो ॥ ७ ॥

नचिकेताके अति दृढ़ आग्रहका परिणाम यह हुआ कि वे यमलोक पहुंच गये। यमराज प्रवासमें गये हुए थे। तीन दिनके बाद उनके वापिस आनेपर उनके सदनमें रहनेवाले सम्बन्धियोंका यह वचन है। वैश्वानरः प्रविशति। इसके बीचकी कथाको यहां छोड़ दिया है। बीचकी कथा तैत्तिरीय ब्राह्मणमें बतायी है-

तँ ह स्मोत्थितं वागभिवदति। गौतम कुमारमिति।
स होवाच परे हि मृत्योर्गृहान् मृत्यवे त्वाऽदामिति ॥
तं वै प्रवसन्तं गन्तासीति होवाच
तस्य स्म तिस्रो रात्रीरनाश्वान् गृहे वसतात्।
स यदि त्वा पृच्छेत् कुमार कति रात्रीरवात्सीदिति।

तिस्र इति प्रतिब्रूयतात् किं प्रथमां रात्रिमाश्ना इति ।
प्रजां त इति, किं द्वितीयामिति पशूंस्त इति, किं तृतीयामिति
साधुकृत्यां त इति ।"

व्याकुल होकर गले लगाने वाजश्रवस उठे तो आकाशवाणी बोलने लगी– हे गौतम ! कुमार को (नचिकेता को) जो तुम बोले उसे करो (अर्थात् वाणीको मिथ्याकर पूरा तप नष्ट मत करो) तब वाजश्रवसने कुमारको कहा–ठीक है। तुम मृत्युके घर चले जाओ क्योंकि मैंने तुझे मृत्युको दे दिया है। (इसके बाद वाजश्रवस अपने तपोबलसे सशरीर ही नचिकेताको यमलोक भेजते हैं) जब नचिकेता प्रवास करने लगे तो मनमें हुआ क्या सचमुच मैं यमलोक पहुचूंगा? आकाशवाणी बोली–तुम यमसदन पहुंचोगे। वहां पहुंचनेपर यमराज घरमें नहीं मिलेंगे। दूसरे लोग स्वागत करने आयेंगे तो उनसे कुछ ग्रहण नहीं करना, बिना भोजन किये तीन रात रह जाना। यमराज आकर यदि पूछें कितनी रात रहे तो बोलो तीन रात। प्रथम रात्रिमें क्या खाया पूंछें तो बोलना तुम्हारी प्रजाको वैश्वानरमें डाल दिया। द्वितीय रात्रिमें क्या खाया पूछनेपर बोलो तुम्हारे पशुओंको वैश्वानरमें डाला। तृतीय रातको क्या खाया पूछनेपर बोलो–तुम्हारे पुण्यकर्म। यह तैत्तिरीयोक्त कथा है। तदनुसार नचिकेता यमसदन पहुंचे तो सचमुच यमराज प्रवासमें गये हुए थे। यमराजको प्रवासमें जाना पड़ता है। साधारण लोगोंको लानेके लिये यमदूतोंको भेज देते हैं। जैसे अजामिलकी कथामें बात आती है। वहां यमराज नहीं गये थे। विशेष व्यक्तिको लानेके लिये स्वयं यमराजको जाना पड़ता है। जैसे मार्कण्डेयको लाने स्वयं यमराज गये थे। जैसे सत्यवान्को लाने स्वयं यमराज गये जहां सावित्रीसे बात हुई। तीन दिनके बाद यमराज वापिस आये। नचिकेता दरवाजेके पास अड्डा लगाये बैठे थे। वहां यमराजका ध्यान प्रथम गया नहीं। घरके अंदर जानेपर घरवालोंसे या अमात्यसे मालूम पड़ा। अतएव श्रुतिमें 'यदि' शब्दका प्रयोग है। अतएव शायद यमराजको यह पूछना नहीं पड़ा होगा कि पहली रात क्या खाय इत्यादि। क्योंकि घरवालोंने सीधे ही कह दिया कि बिना खाये ही बैठा है। श्रुति 'यदि' शब्द जोड़कर लोकबोधार्थ कह रही है। प्रथम दिवसके अनशनमें पुत्रपौत्रादि प्रजा नष्ट या निवीर्य होगी।

द्वितीय दिवसके अनशनमें पशु, धन-धान्यादि का नाश या क्षय होगा। तृतीय दिनके अनशनमें गृहस्वामीका इहलोकमें किया हुआ सकल पुण्य भस्म होगा। यह विशेष बतानेके लिये 'यदि' करके कहा। इधर यमराज पूछे बिना अंदर गये तो वहांके लोगोंने ही सब कुछ बताया। वही यह श्रुति है "वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिः" इत्यादि।

सर्वप्रथम 'अतिथि' शब्दका अर्थ देखें। 'अतिथि' का एक अर्थ है—न विद्यते निश्चिता आगमनस्य तिथिर्यस्य सः। जो पूर्वसमाचार दिये बिना, तिथिके बिना एकाएक आ पहुंचे वह अतिथि है। आजकल गेस्टको अतिथि समझते हैं। वे भी अतिथि हो सकते हैं। किन्तु अतिथि वह है जो कि यात्रा करते हुए सायंकाल होनेपर शरणार्थ किसीके घरमें पहुंच जाय जैसे पहले जमानेमें होता था। बिना मतलब परान्न खाने कोई जाता ही नहीं था। किन्तु यात्रामें वह अनिवार्य होता था। गाड़ी-विमान आदिके न होनेसे चार-छः महीने तकका भोजन ढोकर ले जाना संभव नहीं था। ऐसे सायंकाल आनेवाले अतिथि मानें जाते थे। जरूरी नहीं कि तीर्थयात्रा ही हो। किसी भी यात्रामें अचानक आनेवाला अतिथि माना जाता था। अतिथिके आनेपर लोग अपना महान् भाग्य समझते थे। "मातृदेवो भव" आदि में चतुर्थ "अतिथि देवो भव" बताया है। वस्तुदृष्टिसे भी ऐसे व्यक्तियोंको आश्रय देना मानवता है। गरीबसे गरीब भी अतिथिसत्कार अवश्य करते थे। मनुस्मृतिमें गरीबोंका भी आतिथ्यप्रकार बताया है कि वे अपनी शक्ति के अनुरूप सत्कार करें।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सुनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

'तृण'—घास। खानेके लिये नहीं बैठनेके लिये—कुशासन चटाई आदि। प्रयागराज कुंभमें जायेंगे तो वहां बैठनेको सचमुच पुवाल ही मिलता है। जो सोफा, गद्देसे भी अधिक मुलायम होता है। भूमि' से लेटने या पांव पसारनेकी जगह विवक्षित है। 'उदकं' का मतलब है पीनेका पानी। घरमें और कुछ नहीं हो तो सुनृता वाणी बोलिये। मीठी वाणीसे भी मनुष्य प्रसन्न होता है। आधी थकावट दूर होती है। घरमें कुछ नहीं है यह अतिथिके लिये प्रत्यक्ष है ही। सान्त्वनावचन बोलिये तो भी बड़ी बात होगी। अतिथिका अर्थ स्पष्ट करते हुए आगे मनुने बताया है—

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं सांगतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद् भार्या यत्राग्नयोऽपि वा॥

एक ही गांवका रहनेवाला हो, घरमें उपस्थित हुआ हो तो उसे अतिथि मत समझो। सांगतिकं अर्थात् सखा आदि विप्रको भी अतिथि मत समझो इत्यादि।

अतिथिका नञसमासयुक्तं अर्थ बताया। दूसरा अर्थ है—अततीत्यतिथिः। अत सातत्यगमनसे इथिन् प्रत्यय है। निरन्तर गतिवाला व्यापक आत्मा यह एक अर्थ है। अत धातुसे ही आत्मा शब्द भी है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' के अनुसार आत्मवेत्ता ही अतिथि है। नित्य परिव्रजनशील परिव्राजक भी अतिथि है और ये ही मुख्य अतिथि माने जाते हैं। "आचार्य देवो भव" के साथ इसका अधिक मेल है। जैसे 'देवद्विज-गुरुप्राज्ञपूजनं' यहां गुरुके साथ प्राज्ञको पढ़ा वैसे यहां आचार्यके साथ ब्रह्मवेत्तारूपी अतिथिको जोड़ा और तिथिके बिना आनेवाले पूजायोग्य ब्रह्मवेत्ता ही तो होते हैं।

'वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्' अतिथि ब्राह्मण घरमें आ गया तो समझो साक्षात् वैश्वानर ही आ गया। वैश्वानरके चार अर्थ हैं। एक अर्थ है सामान्य अग्नि। कोशमें लिखा है—'अग्निर्वैश्वानरो वह्निः' इत्यादि। मनुष्याकारमें साक्षात् अग्नि ही आया हुआ समझो। जैसे अग्नि सबको जला डालती है वैसे यह अतिथि वैश्वानर भी पुत्रपशु आदिको जला डालेगा। वैश्वानरका दूसरा अर्थ है जठरानल। जठरानल प्रज्वलित हो और कुछ अन्न उसमें न डालें तो वह पूरे शरीरको शोष लेगा। वैसे अतिथि वैश्वानरका भी सत्कार न करें तो पुण्यसंस्कारको शोषकर सूक्ष्मशरीरका नाश करेगा। स्थूल शरीर कर्मादि के योग्य नहीं रहता वैश्वानरके प्रकोपसे। वैसे अतिथि वैश्वानरके प्रकोपसे सूक्ष्मशरीर ध्यान, ज्ञान आदिके योग्य नहीं रहेगा। वैश्वानरका तीसरा अर्थ विराट् पुरुष है। साधारण अतिथि वैश्वानररूपसे—जठरानलरूपसे आता है। किन्तु विद्वान् ब्राह्मण अतिथि विराटरूपसे आता है।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामान् तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥"

—जिस-जिस लोक को मन से सोचता है और जिन काम्यविषयों को शुद्ध अन्तःकरण से चाहता है। उस-उस लोकों और उन विषयों को वह प्राप्त करता है। अतः ऐश्वर्य चाहने वाला आत्मवेत्ताकी पूजा करें। ऐसा उपनिषदोंमें बताया है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।' सभी ब्रह्मही है क्योंकि जगत् उसी से हुआ, उसीमें रहता और लीन होता है। इसके उपासक आत्मज्ञ विराट्रूप होते हैं। अतः उसकी प्रसन्नतासे सर्वकामसिद्धि होगी। गीतामें अर्जुनने—

"लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥"

—हे भगवन्! जलते हुए मुखों से समस्त लोकों को चारों ओर से ग्रसित करते हुए मानो चाट रहे हैं। ऐसा विराट्वर्णन किया है। अप्रसन्न विराट् सबको ग्रस लेता है। प्रसन्न विराट् सर्वसुखदाता है। चतुर्थ वैश्वानर नारायण है। "नराणां समुदायो नारं तस्याश्रयः नारायणः" नरोंका समुदाय नार है उसका अयन-आश्रय नारायण है। 'विश्वे नरा यत्र स वैश्वानरः'— सभी नर जहां हो वही वैश्वानर है। इसप्रकार व्युत्पत्तियोंमें समानार्थता है। वह पूर्ण ब्रह्मवेत्ता संत ही है। उसके लिये बताया—

यस्य गेहेऽतिथिर्भुङ्क्ते भुङ्क्ते तत्र हरिः स्वयम् ।
यस्य गेहे हरिर्भुङ्क्ते भुङ्क्ते तत्र जगत्त्रयम् ॥

यदि घरमें अतिथि भोजन करे तो वह स्वयं हरि ही भोजन करते हैं। जिस घर में हरि भोजन करे वहां तीनों जगत भोजन करता है। यह विराट्पक्षमें भी संभव है। अतएव विराट् तथा नारायण में उपाधिप्रयुक्त किंचिद्भेदमात्र हैं।

यहां मन्त्रमें "अतिथिर्ब्राह्मणः" ऐसा बताया। ब्राह्मण दो प्रकारका होता है। एक जातिब्राह्मण होता है और दूसरा मुख्य ब्राह्मण होता है। बृहदारण्यकमें यह बात स्पष्ट है।

"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् ।
बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः ।
मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः ।"

ब्राह्मण प्रथम विवेकरूपी पाण्डित्य प्राप्तकर श्रवणरूपी बाल्यमें स्थिर रहे। बलस्य भावः बाल्यम्। इस व्युत्पत्तिसे आत्मबलका हेतु श्रवण है ऐसा अर्थ होता है। बालस्य भावः बाल्यं अर्थ करनेपर सरलता अर्थ होगा। विवेक एवं श्रवणके बाद फिर मुनि अर्थात् मननकर्ता बनें। मौन तथा उससे अन्य (अमौन) पूर्वोक्त श्रवणादिसे वह मुख्य ब्राह्मण होता है। ब्राह्मण-जातीय (तिथिरहित ऐसा) अतिथि (१) अग्नि एवं (२) जठरानलरूप वैश्वानर है। तथा मुख्य ब्राह्मणरूप आत्मवित् अतिथि (३) विराट् एवं (४) नारायणरूप वैश्वानर है। यही बात आकाशवाणीने नचिकेताको समझायी। अग्निरूपी वैश्वानर तुम्हारे प्रथम दिवस प्रजाको, द्वितीय दिन पशुको तथा तृतीय दिन साधुकृत्योंको जलायेगा। द्वितीय और चतुर्थ वैश्वानर तो अप्रसन्नहोनेपर दाहहेतु होंगे।

तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्। यमपत्नी या अमात्यादि कहते हैं कि सर्वप्रथम आये हुए अतिथिके लिये प्रथम आसन तथा जल देना आवश्यक है। देवताओंके लिये आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय यह क्रम है। अतिथि भी देव है। उनको घरके बाहर देखकर आवाहन कीजिये। अंदर बुलाइये। बैठनेके लिये आसन दीजिये। देवताओंके लिये पाद्य अर्घ्य आवश्यक है। क्योंकि देवता जूता नहीं पहनते। नंगे पांव घूमते हैं। नंगे पांव आया ऐसा गीत गाते हैं। गोपीगीतमें आता है—

"चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥"

गोपिकायें कहती हैं कि जंगलमें गायोंको चराते हुए आप घूमते हैं तो हमारे हृदयमें दर्द होने लगता है। नुकीले कंकड़, कड़े कुश आदिसे कमलोपम चरण विंध गया तो? इसपर वल्लभाचार्य पूछते हैं कि भगवान् जूते क्यों नहीं पहनते? नहीं। वे पृथिवीको पवित्र करने आये। जूते पहनेंगे तो पृथिवीमें चरणस्पर्श नहीं होगा। वस्तुतः देवता पादत्राण नहीं पहनते। पहनना मानें तो भी पाद्य देना आवश्यक है। हाथ धोनेके लिये अर्घ्य देना चाहिये। आचमनीयका अर्थ है प्रथम पीनेके लिये थोड़ा पानी। ज्यादा पियेंगे-पिलायेंगे तो भोजन क्या होगा? अतिथिके लिये यह सब देना आवश्यक है।

इतना तो सामान्य पूजन है। विशेष व्यक्तियोंके लिये फिर विशेष पूजन होता है। ऐसा नहीं कि सब धान बाईस सेर पसेरी। मनुस्मृतिमें कहा है—

"आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥"

आसन, रहने का कमरा, बिस्तरा, अनुगमन तथा सेवा ये पांच अतिथियों-के लिये आवश्यक हैं। यदि अपने से श्रेष्ठ अतिथि आवे तो ये पांच उत्तम होना चाहिये। अपने से हीन अतिथि आवे तो साधारण आसनादि देना चाहियें। और यदि अतिथि अपने समान है तो समान आसनादि देना चाहिये। यह केवल आतिथ्यस्थल में ही नहीं, प्रायः सर्वत्र यही नियम है। घर में अतिथि रूप में या किसी भी रूप में कोई आता है तो उसकी योग्यता के अनुसार सम्मान होना चाहिये। अतिथि में यह विशेषता होगी कि उसकी पूजा भी की जाती है। संत अतिथि हो तो उसके लिये कोई सवाल ही नहीं उठता। हाँ, पूजामें फरक अवश्य होती है।

"समासमाभ्यां विषमसमौ पूजायाम्"

इत्यादि। अन्यत्र इस विषय में चर्चा की गयी है। प्रकृत में तो सामान्य पूजन मात्रकी चर्चा है कि अतिथिरूप से आये हुए वैश्वानर की शान्ति के लिये अर्घ्य पाद्यादिरूप यह उदक उपहृत करो। आगे नमस्तेऽस्तु इत्यादि कुछ विशिष्ट बातें आयेगी।

एक बड़ा प्रश्न यह होता है कि अग्रिम प्रसंग से यह निश्चित है कि यमराज पूर्ण ब्रह्मवेत्ता थे। क्या ब्रह्मवेत्ता के लिये कर्त्तव्य शेष रहता है? दूसरी बात यमराज आधिकारिक पुरुष है। देवता है। क्या देवताओं को पुण्य-पाप होता है? अच्छा, माना जाय पाप होता है तो उसका फल भोगने के लिये वे कहां जायेंगे? क्या नरक में? नरक तो यमराज के अधीन है तो नरकाधीन कैसे वे होंगे? कहें कि दूसरे जन्ममें, तो भी ठीक नहीं क्यों कि अधिकार समाप्त होने पर वे मुक्त होते हैं। ब्रह्मलोकादि-वासी कदाचित् वापिस आवे किन्तु स्वयं ब्रह्मआदि वापिस नहीं आते। इसीके उत्तर के लिये वैवस्वत यह विशेषण और कुर्वन्ति यह वर्त्तमान प्रयोग है। विवस्वान् सूर्य का पुत्र कहने से यह अवगत होता है—

न माता पिता वा न देवा न लोकाः

वाले तत्त्ववेत्ता के लिये यह नहीं कहा जा रहा है। 'विवस्वतोऽपत्यं पुमान्वैवस्वतः'। विवस्वान् सूर्यका पुत्र यमराज है। अभी पितृपुत्र भाव है। यदि भूतार्थ गति से कहते हैं तो भी कुवेन्ति का अर्थ है—किया करते हैं। तात्पर्य यही कि लोक संग्रहार्थ भी अन्ततः करो ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे संगतँ सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

आशासित, प्रतीक्षित, एवं प्राप्त जो वस्तुएं है, मधुर वाणी है, पुत्र पशु आदि हैं, अल्पबुद्धि मनुष्यके इन सबको अतिथि ब्राह्मण समाप्त करता है जिसके घरमें वह अनशन कर रहता है ॥ ८ ॥

अतिथि ब्राह्मण वैश्वानर होनेसे उसकी शान्ति करना चाहिये। तदर्थ अर्घ्यपाद्यादि दो तथा भोजन दो यह पूर्वमन्त्रमें कहा। ऐसा न करनेपर क्या परिणाम निकलता है यह बात इस मन्त्रमें कही जा रही है।

यह तो निश्चित है कि यह पूरा संसार कर्मका फल है। आढ्यता-दरिद्रता कर्मका फल है। इन सबको केवल आकस्मिक कहना संभव नहीं। एकको कष्ट होता है तो कष्टपर कष्ट चलता है। आखिर उसे फूटाभाग्य कहना पड़ता है। दूसरा ऐसा है जहां हाथ लगाये वहीं फायदा होता है। लोग उसे बरकतवाला, भाग्यवान् कहते हैं। कोई स्त्री ऐसी है जो जबतक बापके घरमें थी, बालिका थी वहां हराभरा रहा। फिर शादी कर पतिगृहमें आयी तो वहीं हरा-भरा हो गया। उसको लोग लक्ष्मी कहने लगते हैं। कर्मकी गति बड़ी विलक्षण है। किस कर्मका क्या फल यह तो पूर्णरूपेण कहीं नहीं बताया और न बताया जा सकता है। क्योंकि भोग अनन्त हैं अतः कर्म भी अनन्त हैं। अतः शास्त्रोंमें भी प्रसङ्गवश तत्तत्कर्मोंकि विषयमें ही कहा जाता है। वैसे ही यहां प्रसङ्गवश आतिथेय कर्मकि बारेमें थोड़ा-सा वर्णन करते हैं।

आशा। यहां आशाका आशासित—जिसकी आशा रखी गयी, वह वस्तु ऐसा अर्थ समझना चाहिये। अनिश्चित किन्तु अधिकतर संभावित हो तो वही यहां आशा है। आशापर ही मनुष्य जीवित है। 'आशामात्रेण तुष्टो विधरति जगति प्राणमाशावलम्बः' कुछ आशायें पूर्ण होती हैं और कुछ आशायें अधूरी रह जाती हैं। कुछ तो निराशामें परिणत होती हैं। तीन

आदमियोंने धंधा शुरू किया लाख रूपयेकी आशा रखकर। एकको लाख रूपये मिले। दूसरेको पचास हजार मिले। तीसरेको पचास हजारका घाटा हो गया। क्या कारण? यम बन्धु कहते हैं—कभी भी कोई अतिथिरूपमें संत ब्राह्मण आया चाहे इस जन्ममें चाहे पूर्वजन्ममें, वह आशा रखकर आया कि यहां कुछ भोजन-पानी मिलेगा। एकने आशा पूर्ण की। दूसरेने थोड़ा बहुत देकर टरकाया। तीसरेने फटकार कर निकाला। उसी कर्मका यह परिणाम है।

प्रतीक्षा। आशा संभावनाको कहते हैं। प्रतीक्षा निश्चयको कहते हैं। रेलवे स्टेशनमें प्रतीक्षा करते हैं क्योंकि गाड़ी आनेका निश्चय है। आनेवालोंका भी निश्चय है। जिसकी प्राप्तिका विश्वास है। संभावनामात्र नहीं, उसको प्रतीक्षा कहते हैं। आमका बगीचा लगा था या गेंहूकी खेत तैयार थी। लाख रूपयेकी फ़सलकी प्रतीक्षामें थे। एकाएक बारिश और ओला पड़ गया। सब खतम। केनेडासे विमान निकला। यहां लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। बीचमें बम फटा। विमानका अवशेष भी दुर्लभ हो गया। उनका अपना-अपना कर्म अलग है। प्रतीक्षा करनेवाले भी शोक-सागर में डूबे। जो मरे उनकी बात तो अलग ही है। क्यों प्रतीक्षाविधान हुआ? मरनेका कर्म पृथक् है। प्रतीक्षाविघातका कारण है अतिथि, संत, ब्राह्मणका अनादर । ये प्रतीक्षा कर रहे थे कि सेठजी आयेंगे तो मदद मिलेगी। सेठजी आये पर प्रतीक्षा ठुकराई। या तो 'यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।"

संगतम् । आशा संभावतिको कहते हैं। प्रतीक्षा विश्वस्तको कहते हैं। संगत प्राप्तको कहते हैं। दो हजार रूपये तनखाके प्राप्त हो गये जिसकी प्रतीक्षा हो रही थी। जेबमें रखकर लोकलमें चढ़े और आपके एक महीनेके परिश्रमको जेबकतरेने एक मिनटमें हड़प लिया। राजा चित्र-केतुको पुत्ररत्न प्राप्त हो गया था। अंगिरा ऋषिने त्वाष्ट्र यज्ञ कराकर अनाशासित अप्रतीक्षित पुत्रको प्राप्त कराया था। किन्तु प्राप्तका नाश हो गया। सपत्नीद्वेषमें वह मारा गया। हमारी एक भक्त बनी। उसका एक लड़का अमेरिका गया था। फिर अनाशासित अप्रत्याशित बहुत ही सुन्दर लड़का बीसवर्ष बाद प्राप्त हुआ था। पहला अमेरिकासे वापिस ही नहीं

आया। दूसरा खेल रहा था वहां ट्रक एकसिडेन्टमें मारा गया था। तब उसको वैराग्य हो गया था। यह संगतनाश है। एक जगह हम आमन्त्रणमें गये थे। हम तीन थे। तीनको आमन्त्रण था। एक चौथा भी आकर बैठ गया। रसूयेने भोजन चारको परोसा। वहांके लोग कहने लगे—अरे! यह चौथा कहांसे आ गया? उठो। उसे उठाने लगे तो हमने कहा—बैठ गया तो अब खा लेने दो। एक जगह हमको भी रामचरित कथाके समयमें उठाया था। इसप्रकार संत अतिथिका संगत प्रणाश करनेका परिणाम ही प्राप्त-नाश है। महामारीसे, चोरीसे एवं अनेकप्रकारसे प्राप्त नाश होता है। 'यस्यानश्नन्नवसति'।

सूनृताम्। मधुरवाणी सूनृत है। यह भी एक भगवानका उपहार है, गिफ्ट है। 'वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते'। मनुष्य को एक वाणी ही अलंकृत कर देती है जो संस्कारयुक्त होती है। यही सूनृता है। जन्मके साथ ही सूनृता होती है। बच्चेका प्राथमिक रुदन, तूतली बोली आदि माता-पिता के लिये आनन्ददायी होते हैं। किन्तु समयानुसार, संस्कारानुसार किसीकी मीठी वाणी रहती है, किसीकी नहीं। किसीकी वाणी कड़वी हो जाती है। किसीके पास बैठो तो उनकी मधुर वाणीसे वहांसे उठनेका दिल नहीं करेगा। किन्तु किसी-किसीकी वाणी ऐसी होती है कि ऊब जाते हैं। गायनमें किसीका गला मीठा होता है और किसी किसीका तो गर्दभस्वर या काकस्वर आदि होता है। आतिथ्यमें हम पूर्व भी कह चुके—

'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे न वियन्ति कदाचन ॥'

तृण (कुशासनादि) भूमि (लेटने की जगह) पानी ये तीन आतिथ्यार्थ आवश्यक हैं। चतुर्थ है सूनृता। इसके अभाव में तो जन्मान्तरमें स्वयं की वाणी रूखी होगी। संत अतिथिके आनेपर सूनृतवाणी बोलिये। भोजनादि हो न हो आसन दीजिये। पांव पसारने दीजिये। पानी दीजिये और न्यूनतम मीठी वाणी बोलिये।

'प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः ।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता ॥'

पैसेमें कंजूसी करो। भोजनमें कंजूसी करो। वस्त्रादिमें कंजूसी करो। क्योंकि इन सबमें खर्चा है। लेकिन वाणीमें क्या कंजूसी करते हो? उसमें क्या तुम्हारा खर्चा होता है? ये पशुपक्षी आदि नहीं बोल पाते। गूंगे नहीं बोल पाते। क्यों? इस सस्ती, बल्कि मुफ्तकी वाणीमें कंजूसी की। भगवानने पुष्कल वाणी आपको दी। उसमें कंजूसी करते हैं तो भगवान भी नाराज होते हैं।

भांगरूकी बात है। एक आदमीसे पूछा कि शंकरमंदिर जानेका कौनसा रास्ता है? उसने दांत पीसते हुए कहा—इधरसे क्यों नहीं चला जता। मैंने समझा कि पूछनेपर यह नाराज हो गया है। गुस्सा हो गया है। मैंने कहा क्यों गुस्से हो रहे हो? उसने कहा—तो क्या तेरे माथेपर मैंने लट्ठ मारा? मैंने सोचा यह कैसा आदमी है? आगे गया। जिससे बात करो वही स्वर सबका। तब समझा कि यहांके लोगोंकी भाषा ही ऐसी है। रूखी वाणी बोलना। सूनृतां.....वृङ्क्ते। अतिथि से मधुर वाणी न बोलने से अपनी वाणी रूखी हो जाती है।

सूनृतां वाणीका वेदवाणी भी अर्थ है। क्योंकि वही सर्वाधिक प्रिय मधुर वाणी है। वह अपौरुषेय होनेपर भी ईश्वरीय वाणी मानी जाती है। श्रुतिके लिये "मातेव हितैषिणी" इसप्रकार भाष्यादिमें आया है। "मातृ-सहस्रेभ्योऽप्यधिकहितैषिणी" हजारों माताओंसे भी अधिक हितैषिणी है ऐसा भी वर्णन आया है। उस वाणीको जिसने ग्रहण किया उसका ही जीवन सफल है। परन्तु प्राप्त हुई वह वाणी नष्ट हो जाय तो सबसे भारी नुकसान भी वही है। श्रुतियोंको भूलना सबसे बड़ी भूल है। परन्तु वह भी नष्ट हो जाती है जब हम अतिथियोंका सूनृतवाणी से सत्कार नहीं करते।

"सूनृतं प्रिय सत्य" इस कोशके अनुसार सत्यवाणी भी सूनृत है। बहुतसे लोग सामान्यतः बोल जाते हैं लेकिन बात सत्य हो जाती है। और अन्य कई ऐसे हैं कि सम्हलकर बोलनेपर भी अन्ततः असत्य हो जाता है। क्योंकि उनलोगों ने पूर्वमें अतिथि के प्रति सूनृत (सत्य) वाणी का प्रयोग नहीं किया, टालमटोल किया।

इष्ट। यह 'यज' धातुका रूप है। न कि 'इष-इच्छा' धातुका। उसके भी इष्ट-अभीष्ट आदि रूप हैं। किन्तु यहां 'यज' धातुका ही रूप है। इसका मुख्य अर्थ याग ही होता है। और 'यज' देवपूजा संगतिकरणदानेषु' के अनुसार देव-पूजा, सत्संग तथा दान भी अर्थ है। पशुना रुद्रं जयते-पशुं रुद्राय प्रयच्छतीत्यर्थः । ऐसा वैयाकरण कहते हैं अर्थात् यजति का दान अर्थ करते हैं। भूदान यज्ञ, चक्षुर्दानयज्ञ आदिमें दानको ही यज्ञ बताया है। संत, अतिथिके पेटमें वैश्वानर विराजमान है। उसमें दी जानेवाली आहुति भी यज्ञ है। उसके न करनेपर ब्रह्मयज्ञ निर्वीर्य हो जायेगा। द्रव्ययज्ञ में भी वैश्वानर में आहुति परम आवश्यक है। ब्रह्मभोजादि आवश्यक है।

"विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।"

इस गीताके श्लोकमें विधिहीन, असृष्टान्न, मन्त्रहीन और अदक्षिण यज्ञको तामस बताया है। असृष्टान्नका अर्थ है अदत्तान्न जिसमें संत अतिथियोंको भोजन न दिया गया हो।

वैष्णव लोग श्रद्धालु होते हैं, ठाकुरजीकी पूजा करते हैं। किन्तु आत्मवेत्ता संतसे द्वेष करते हैं। परिणामतः उनका देवपूजन नष्ट हो जाता है। निष्फल हो जाता है। उत्तरसंडामें एकबार मैं गया। वहां मुझे देखकर लोग दरवाजा बंद करने लगे थे। कारणका पता लगाया तो मालूम पड़ा कि वे संन्यासियोंका मुंह भी नहीं देखते। क्यों नहीं देखते? कहते हैं वल्लभाचार्यने ऐसा कहा है। किस ग्रन्थमें उन्होंने ऐसा लिखा है? बस लिखा है। लेकिन वल्लभाचार्य स्वयं अन्तमें संन्यासी हुए। नारायणेन्द्र-सरस्वतीसे दीक्षा ली सो? इसका आगे जवाब नहीं देते। रामायणमें आदिसे अन्तपर्यन्त संत महिमा गायी है। अतिथिका आत्मवेत्ता अर्थ हम पहले बता चुके हैं। जिस सत्संगमें सन्तकी पूजा नहीं वह भी वृथा है। दान भी अतिथिपूजनरहित होनेपर वृथा हो जाता है।

पूर्त—स्मार्त कर्म पूर्त कहलाता है। श्रौत कर्म इष्ट है। किन्तु स्मृति तो श्रुत्यर्थानुसारिणी है तो स्मार्त पृथक् किस प्रकार? "श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्व-गच्छत्' यह प्रसिद्ध है। ठीक है। किन्तु अनादि शाश्वत स्वरूप कर्मादिका वर्णन श्रुतिमें है। सामयिक वर्णन स्मृतिमें है। वापी, कूप, तडाग, आराम आदि कर्म स्मार्त कर्म हैं। किन्तु बंबई जैसे नगरीमें बने बनाये वापी,

कूपादि पूरे जाते हैं। पूरे गये भी। धोबी तलाबमें आज तालाब कहां है? समय पलट गया। अब वापीके बदले बाथरूम बनाओ। कूपके बदले नल लगाओ। अस्पताल, विद्यालयादि बनाओ। ये सब अब पूर्तकर्म हैं। अर्थात् सामाजिक सामान्यजनोपकारी सभी कार्य स्मार्तान्तर्गत हैं। जिसका स्वरूप समयानुसार परिवर्तित होता है। अतएव पूर्तको इष्टसे पृथक् किया। ये सभी कर्म निर्वीय हो जाएंगे। किसके? यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।

पुत्रपशूँश्च सर्वान्। लोग पुत्रके लिये लालायित होते हैं किन्तु पुत्र नहीं होते। जीवन ही उनका निरस हो जाता है। कांदीवलीमें प्रथम जब आश्रम लिया तो बड़े अच्छे-अच्छे सन्त पहुंचे। परन्तु द्वेषके कारण वहांके पूर्ववासियोंने कईयोंने उनका तिरस्कार किया। तिरस्कार करनेवाले सबका घर वन्ध्य हो गया। जो श्रद्धा करनेवाले थे उनके घरमें उत्सव रहा यह हमारी प्रत्यक्ष बात है। जो महान् संत कीर्तनाचार्य कृष्णानन्दजी महाराज आदि अतिथि हर प्रकारसे आत्मवेत्ता परिव्राजक ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता थे। उनके तपने सूक्ष्म अग्निरूप धारणकर शरीरकी प्रजननशक्तिको ही जला डाला। इसी प्रकार पशु आदि धन भी है।

एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसः। अतिथितिरस्कार करनेवाले अल्पमेधा अज्ञानी होते हैं। प्रथम तो उनको यह मालूम नहीं कि यह अतिथि वैश्वानररूप है। पुत्र, पशु, आशा, प्रतीक्षा आदिको जलानेवाला है। दूसरा उसे मालूम नहीं कि वह अपने पाप घरमें छोड़कर पुण्यमादाय गच्छति- पुण्य ले जाता है। पापवृद्धि तथा पुण्यक्षय दोनों होंगे। पुण्य जलके समान सींचकर तरल रखते हैं। पाप वायु आदिके समान सुखानेवाला है। पानीसे सींचा नहीं, वृष्टि हुई नहीं, ग्रीष्मकी भयंकर गरमीसे सूख गये। ऊपरसे दावानल लगा तो जीवनारण्य की क्या स्थिति होगी? यह स्वयं कल्पना कर सकते हैं। इसे न जाननेवालेको यहांपर अल्पमेधा कहा। भारतवासी इस आतिथ्यका माहात्म्य बहुत समझते थे। अतः मेधावी माने जाते थे। मेधावी स्वयं आतिथ्य करता है। उससे उसकी मेधाकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अल्पमेधसः अकृतातिथ्यत्वाद् एतद् वृङ्क्ते ऐसा एक अन्वय है। अल्पमेधा होनेसे आतिथ्य न करनेसे उस पापके परिणामसे वह अल्पमेधा बन जाता है और अन्ततः पुत्र-पशु आदिका नाश होता है। अकृतातिथ्यत्वेनाल्पमेधसः

एतद् वृङ्क्ते ऐसा दूसरा अन्वय है। आतिथ्य न करनेसे उस पापके परिणाम से वह अल्पमेधा बन जाता है और अन्ततः पुत्र-पशु आदिका नाश होता है।

यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे। जिसके घरमें ब्राह्मण अतिथि अनशन कर रहता है। अनशन बड़ा ही खतरनाक होता है। छान्दोग्यमें आया है कि अन्नके बिना मन क्षीण हो जाता है, ग्रहण शक्ति नष्ट होती है।

"अन्नमयँ हि सोम्य मनः"

मनन करनेवाला मन है। मनसे ही ज्ञान प्राप्त होता है। अनशनसे मननशक्ति क्षीण होती है। छान्दोग्यमें उद्दालक एवं श्वेतकेतुकी कथामें इस बातको स्पष्ट किया है। इस वाक्यका अर्थ समझानेके लिये श्वेतकेतु पंद्रह दिनतक भोजन छोड़ते हैं जिससे मनकी पंद्रह कलाएं नष्ट होती हैं। जैसे चन्द्रमाकी सोलह कलाएं हैं वैसे मनकी भी सोलह कलाएं हैं। "मनसो देवता चन्द्रमा"—मनका देवता चन्द्रमा है—यह तो प्रसिद्ध है। षोडशी कला नित्य है। पंद्रह कलाएं उत्पन्न होती हैं। नष्ट होती हैं। उन्हींका सर्जन "तन्मनोऽसृजत" उसने मनको बनाया—में बताया है। उन्हीं कलाओंसे मननादि होता है। पंद्रह दिनके अनशनके बाद वेदोच्चारण करनेपर श्वेतकेतुको यह समझमें ही नहीं आ रहा था कि क्या बोल रहे हैं। यहां "ब्राह्मणः" यह विशेषण साभिप्राय है। ब्रह्मजिज्ञासु ही यहां ब्राह्मण है। जैसे नचिकेता। उसके लिये युक्त आहार-विहार आदि परम आवश्यक है। ब्रह्मवेत्ताको ब्रह्मानुसन्धानार्थ मनको स्थिर रखना आवश्यक है। ऐसा ब्राह्मण भूखा रहे यह भारी पाप है। अन्नदानकी महिमा हम पहले कह चुके हैं। यह भी एक कारण उसकी महिमा का है। इसीलिये प्राचीन जमानेमें संतोंको जिमानेकी बड़ी प्रथा थी। लोग आमन्त्रण देकर घर ले जाते थे। अन्न सफल हो जाता था। दुष्टों के उदर में गया अन्नदेवता अप्रसन्न होता है।

गृहे इस विशेषण से प्रतीत होता है यह विशेषरूपेण गृहस्थ का धर्म है। वैसे तो वानप्रस्थ के लियें भी अतिथिसत्कार का विधान है। अपने पास जो भी कन्दमूल फलादिं हैं उनसे आये हुए अतिथि का सत्कार करना चाहिये।

अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितृन् देवातिथीनपि ।
भृत्यांश्च तर्पयेत् श्मश्रुजटालोममृदात्मवान् ॥

इस प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति में बताया है। हल चलाये बिना पैदा हुए अन्न-से अग्नि आदि का हवनादि द्वारा पूजन करे । मनु महाराज भी करते हैं–

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः ।

अपनी शक्ति के अनुसार प्राणियों को खाना दें अतिथियों को भिक्षा दें। इसी प्रकार संन्यासी के लिये विधि के न होने पर भी आगत अतिथि-सत्कार आवश्यक है। तथापि सभी आश्रमों के आधारभूत होनेसे गृहस्था-श्रमियों के लिये विशेष विधान हैं। अकरण में अन्यों को प्रत्यवाय नहीं लगेगा। गृहियों को प्रत्यवाय लगेगा। जिसका परिणाम यह बताया–उस अल्पमेधा के आशा, प्रतीक्षा, संगत, सूनृत, इष्टापूर्त्त आदि सभी नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

हे ब्रह्मन्! आप नमस्कार्य हैं, अतिथि हैं फिर भी तीन राततक भोजन किये बिना हमारे घर रहे। हे ब्रह्मन्! आपको प्रणाम करता हूँ। मेरा भला हो। तीन रातके अनशनके बदले तीन वरदान मुझसे मांग लो ॥ ९ ॥

जब नचिकेता यमलोकमें पहुंचे तब यमराज प्रवासमें गये हुए थे। किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियोंको लेने गये होंगे। सामान्य व्यक्ति होते तो दूतोंसे काम लेते। तीन दिनेके बाद वापिस आये तो अगल-बगलमें देखे बिना ही अंदर गये थे। क्योंकि यमसदनमें किसी अनिष्टकी या नवीनताकी संभावना नहीं थी। इसलोकमें तो घर वापिस आते आगे-पीछे देखना पड़ता हैं क्योंकि यहां हानि-लाभकी संभावना है। अंदरजानेपर घरके सदस्योंने नचिकेताकी बात बतायी तो तुरन्त उठकर पूजा सामग्री साथ लेकर आये। "नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरं" ऐसा यहां भाष्य है। अर्थात् आकर विधिवत् अतिथिके अनुरूप पूजा यमराजने की। आसन, अर्घ्य-पाद्यादि दिये। उसके बादकी यह बातचीत है।

तिस्रो रात्रीः। तीन रात आप हमारे घरमें अनशनव्रतसे रहे। रात्रि क्यों कहा? क्या दिनमें नचिकेता घूमने-फिरने निकलते थे? बाहर भोजन कर आते थे? नहीं, बाहर जाते तो कहां घूमने जाते? क्या नरकमें सैर करने जाते? दूसरी बात यह कि क्या नचिकेता दिनरात वहीं रहे। आगेके प्रसंगसे स्पष्ट होगा कि नचिकेता किसी चीजके शौकीन नहीं थे। तब "रात्रीः" क्यों कहा? दिल्ली जाकर हम तीन दिन रहे कहेंगे कि तीन रात रहे? बात यह है कि अतिथिके विषयमें रातकी महत्ता अधिक है। विष्णुपुराणमें यह वचन आया है—

"दिवाऽतिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं भवेत् ।
तदेवाष्टगुणं प्रोक्तं सूर्योढे विमुखे गते ॥"

इस का व्यावहारिक पहलू यह है कि दिन में कोई भी किसीभी प्रकार गुजारा कर लेते हैं। रात में प्रकाश न होने से कठिनाई होती है। मनु-महाराज आदेश देते हैं कि—

"अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना" ॥

दिनमें अतिथि विमुख जाय तो जितना पाप लगता है उससे आठगुना ज्यादा पाप रात्रिमें लगता है। वह सूर्योढ है। सूर्योढका अर्थ है-सूर्यनीत। अर्थात् सूर्यभगवान् कहते हैं दिनमें मैंने इसको रास्ता बताया। प्रकाश दिया। वनस्पति फलादि दिखाया। अब मैं अस्ताचल जा रहा हूँ। हे गृहमेधि! अब तुम इस अतिथिको मदद दो। मैं इसे तुम्हें सौंपता हूँ। सूर्योढ शब्द नवोढाके बराबर है। प्रथम—नवीनरूपमें पिता आदिके द्वारा पतिगृहमें जो प्रापित है वह नवोढा है। पिता कहता है अबतक इसका संरक्षण मैंने किया, अब तुम्हें सौंपता हूँ, तुम संरक्षण करो। वैसे सूर्य गृहमेधि को कहता है दिनमें मैंने इसका संरक्षण किया, अब रातको तुम करो। अतः मनुमहाराज कहते हैं रातको अतिथि अप्रणोद्य है। अनपनोदनीय है। उसे भोजनादि के बारे में शुष्क जवाब देकर भगाना नहीं चाहियें।

यद्यपि लोग कहेंगे कि आज संसारकी स्थिति विपरीत है। दिनमें तो जैसेतैसे घरमें भोजनादि दे सकते हैं। रातको बाहरी व्यक्तिको अंदर कैसे रहने देंगे या भोजनके लिये ही कैसे घुसने देंगे? खैर, शहरकी बात अलग है। गांवोंमें व्यक्ति तुरन्त पहचाने जाते हैं और अतिथिगृह पहले अलग ही

होता था। सबसे बड़ी बात यह कि अतिथि जैसे-तैसे व्यक्तिको नहीं करते। अतिथिकी व्याख्या हम कर चुके हैं। आत्मवेत्ता, ब्रह्मदर्शी अतएव मुख्य ब्राह्मण वास्तविक अतिथि है। उनकी पहचान करना तो जरूरी है। वे स्वयमेव आपके घरमें रहना पसंद नहीं करेंगे। अतिथिशाला हो तो अलग बात है। अन्यथा भोजन-पानीमात्रकी अपेक्षा करेंगे। अधिकतर एकान्तमें रहना ही पसंद करेंगे। अतएव अन्य मन्त्र हैं–

"अनर्चितोऽतिथिः सायं विधिवद् गृहमेधिना ।
पापं तत्रैव निक्षिप्य पुण्यमादाय गच्छति ॥"

यहां "अनर्चितः" से अर्चनाकी बात मुख्यरूपसे ली। "अनिवासितः" प्रयोग नहीं किया। "तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता" यही सर्वसामान्य मुख्य अर्चनासाधन है। ऐसी अर्चना न करनेपर अतिथि अपना पाप उस घरमें छोड़ देगा। पुण्य लेकर चला जायेगा। ऐसा मनुमहाराज कहते हैं। वह स्थूल वस्तुको न डालेगा और न ले जायेगा। परन्तु अदृश्य आन्तर सूक्ष्म तत्त्व पाप वहां छोड़ेगा और सूक्ष्म पुण्य साथमें ले जायेगा। "द्विषन्तः पापकृत्यां" इत्यादि श्रुतिमें ही लेनदेन पुण्यपापका बताया है। अतएव जैन मतमें पुण्यपापके पुद्गल माने गये हैं और रात्रिके पर्यायमें तमस्विनी, तमिनी आदि आते हैं जिसको लेकर हम आगे पुनः स्पष्टीकरण करेंगे। तात्पर्य यही कि समयानुसार अर्चन के स्वरूप में अन्तर आना संभव है। अंदर निवास देना ही अर्चन नहीं है।

यदवात्सीर्गृहे मे। 'गृहे मे' शब्द गृहस्थता सूचित करते हैं। गृहस्थको ही गृहमेधी कहते हैं। अश्वमेध, अजमेध, नरमेध आदि शब्द प्रसिद्ध हैं। लोग मेधपदका अर्थ केवल हत्या समझते हैं। नरमेधका नरबलि अर्थ समझते हैं। अजमेधका अजबलिदान अर्थ समझते हैं। परन्तु गृहमेधका क्या अर्थ होगा? गृहका बलिदान अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि घर अश्वादिके समान कोई जीव-जन्तु नहीं है। "मेधृ संगमे" धातु से मेध शब्द है। मेधते संगच्छतेऽस्मिन्। जिसमें अश्वादिसंगम हो वही अश्वमेधादि है। गृहसंगम होनेपर गृहमेध है। घरमें पञ्चयज्ञादि होते हैं। अतः गृहमेधके अन्तर्गत वे सभी हैं। गृहस्थ भी भोगरूप नहीं यज्ञरूप होना चाहिये। अतिथिपूजन भी

गृहमेधान्तर्गत ही है। उसके न करनेसे प्रत्यवाय माना गया है। जैसे सन्ध्यावन्दनादि न करनेसे होता है।

अनश्नन्। अनशन करते हुए। यहां केवल भोजनाभाव अर्थ नहीं है। किन्तु 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (जीवात्मा परमात्मा ये दो सयुज सखा हैं) में 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (इनमें एक बिना खायेही प्रसन्न एवं शोभायमान है) में जो अनश्नन् है वही अर्थ है। शब्दस्पर्शादिसकल-विषयग्रहणरहित होकर यह अर्थ है। अतिथि को केवल एक भिखारी मत समझो। धर्माविरुद्ध सभी शब्द स्पर्शादि उसको निवेदन करना चाहिये। आप जो वस्तु अपने लिये अच्छीसे अच्छी समझते हैं वही अतिथिको देना चाहिये। बल्कि टोकरीमें फल पड़े हैं कुछ खराब हैं, कुछ अच्छे हैं तो भले अपने लिये खराब रख लो किन्तु अतिथिके लिये तो अच्छी वस्तु ही देनी चाहिये। भगवद्भजन, गीत, संगीत आदि उपस्थित कीजिये। शीतल वायु आदि निवेदन कर सकंते हैं। यमराज कहते हैं कि हमारे रिश्तेदारोंके कथनानुसार आपने समग्र वस्तु ग्रहण करनेके लिये मना किया। किसी प्रकारका भी उपभोग ग्रहण नहीं किया। गीत-वाद्य- नृत्यादि से अपने को प्रसादित नहीं किया और भोजन भी नहीं किया।

ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। ब्रह्मन् से उत्तम वंश, उत्तम संस्कार एवं वेदाध्ययन आदि सूचित होता है। अतिथि होनेसे नमस्य है। नमस्करणीय है। केवल हाथ जोड़ना ही यहां नमन नहीं है। 'नम प्रह्वत्वे' झुकना—नीचे होना नमन है। जैसे अभी बताया—उत्तम विषयोंको निवेदन कर स्वयं अपकृष्ट विषयोंको ग्रहण करना भी नमन है। नमस्यको ऊपर बैठाया स्वयं नीचे बैठे यह भी नमन है। नम्रतां नमन है।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्। ब्रह्मन् की पुनरावृत्ति की है। प्रथम ब्रह्मन् शब्द ब्राह्मणवाचक है। द्वितीय बृहत्त्वद्योतनार्थ है। जो महान् होगा उसीको नमस्कार किया जायेगा। पूर्ववत् सकलोपभोगसमर्थके लिये नमस्ते कह रहे हैं। इधर एक मासूम बालकके समान नचिकेता है। दूसरी ओर सकलनियन्ताके रूपमें यमराज हैं। वे अपनेसे भी अधिक महत्त्व अतिथिको दे रहे हैं और नमोवचनसे सर्वभोग्यवस्तुसमर्पणात्मक नमस्कार कहते हैं।

यमलोक कहनेसे साधारणतया नरककी उपस्थिति होती है। किन्तु नरक अलग है। यमलोक अलग है। वस्तुतः यमलोक तो निर्णायक लोक है। चित्रगुप्त वहां केवल पापकी गिनती नहीं करते, पुण्यकी गिनती भी वहीं होती है। फिर वहां निर्णय होता है कि इसे नरक भेजना है कि स्वर्ग भेजना है। नृग, पाण्डव, कौरवादिसे यमराज पूछते हैं कि पहले पुण्यफल भोगोगे कि पापफल? नृगने और भीमादिने प्रथम पाप फल मांगा। कौरवोंने प्रथम पुण्यफल मांगा। तब युधिष्ठिर पाण्डवोंको नरक़में और कौरवों को स्वर्गमे देखकर असमंजसमें पड़ गये थे। कहनेका अभिप्राय यह है कि यमलोक भी इन्द्रलोकादिके समान एक दिव्यलोक है। जहां पर्याप्त भोगपदार्थ हैं। जिनको लेकर यमराजका नमनात्मक समर्पण उपपन्न है। "बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्" इत्यादि आगे बतायेंगे।

स्वस्ति मेऽस्तु। 'स्वस्ति'का मंगल-कल्याण अर्थ प्रसिद्ध है। "स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा" (बहुश्रुत इन्द्र हमारा मंगल करें) इत्यादि मन्त्र हम उसी अर्थको ध्यानमें रखकर पढ़ते हैं। वस्तुतः स्वस्तिका उतना ही अर्थ नहीं है। वह तो फलितार्थमात्र है। सु+अस्ति ये दो शब्द मिलकर स्वस्ति होता है। सुका श्रेष्ठ अर्थ है। अस्तिका सत्ता अर्थ है। श्रेष्ठ सत्ता माने अपरिच्छिन्न सत्ता। उससे विपरीत परिच्छिन्न सत्ता है। अल्प सत्ताकों दुरस्ति कह सकते हैं। सुका विपरीत दुर् होता है। परन्तु दुरस्ति प्रयोग नहीं होता। उसके लिये असत् पदका प्रयोग होता है। असत्का शशविषाण, गगनकुसुमादि अलीक अर्थ भी होता है और अल्पसत्ता-परिच्छिन्न सत्ता भी अर्थ होता है। नञ् का अत्यन्ताभाव भी अर्थ होता है। ईषदर्थ भी होता है। संस्कृतमें इसका उदाहरण अनुदराकन्या(अल्प उदरवाली कन्या)—दिया है। लोकमें कहते हैं—इसका पेट बहुत मोटा है। दूसरेको देखो इसका पेट बिल्कुल नहीं है। क्या पेटके बिना कोई जीयेगा? वहां अल्पोदर अर्थ है। टंकीमें पानी नहीं है कहते हैं। क्या बिल्कुल टंकी सूखी है? थोड़ा है। इसीप्रकार असत् का अल्पसत्ता भी अर्थ है। "असतो मा सद् गमय" यहां असत्का अत्यन्ताभाव अर्थ नहीं है, किन्तु अल्पसत्ता अर्थ है। आकाशपुष्प कभी भी सत् नहीं होगा। मुझे अल्पसत्तासे पूर्णसत्ताकी ओर ले चलो यही मन्त्रार्थ है। यहां 'स्वस्ति मेऽस्तु' का भी अर्थ पूर्णसत्ताऽस्तु ही है। "स्वस्ति न इन्द्रो

वृद्धश्रावा" इत्यादिका भी ऐसा अर्थ करो—मैं अल्पसत्तावाला हूँ। 'यदल्पं तन्मर्त्यं" जो अल्पसत्तावाला होता है वह मर्त्य होता है। अतः इन्द्र=परमेश्वर वृद्धश्रवा=पूर्णज्ञानवान् मुझे परिच्छिन्न सत्तासे उठाकर 'सु अस्ति' पूर्ण सत्ता प्राप्त करावे। 'स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदा" पोषणकर्ता विश्ववेदा विश्वमननजनित ज्ञानवान्-सूर्य भी तो नारायण ही है। अल्प- सत्तासे पूर्णसत्तापर पहुंचावे। 'स्वस्ति नस्ताक्ष्योऽरिष्टनेमिः।" अरिष्टनिवारक ताक्ष्य वृक्षपुत्र आवर्तनात्मक निदिध्यासनरूपी नेमि-चक्र होनेसे वही स्वस्ति करे और 'स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु" पूर्ण ज्ञान दर्शनकारी मेरी पूर्णसत्तां करे इत्यादि अर्थ समझना चाहिये।

"तिस्रो रात्रीः"। यहां रात्रि शब्दका प्रयोग करनेमें हेत्वन्तर भी 'स्वस्ति'से सूचित होता है। 'या निशा सर्वभूतानां" (जो भूत=जन्ममरण वाले के लिये रात है) यहां निशाका अज्ञान अर्थ है। रात्रिको तमी-तमस्विनी आदि कहते ही हैं। रात्रिका-निशाका अर्थ है—स्वसत्ताज्ञानशून्यतारूपी अज्ञानान्धकार । अतिथिको रात्रिमें सूर्याभाव होनेसे सूर्योढ बताया, अतिथि—अंधकारमें भटकानेवाला, उसको आश्रय न देने पर उसका फल गृही अज्ञानान्धकारमें भटकेगा। वह अपने सु-अस्ति पूर्णसत्ताको खो बैठता है। परिच्छिन्न सत्तावान् हो जाता है। ब्रह्मज्ञानीकी भी लेशाविद्या मानी जाती है। वह अविद्या असदाचरणसे भड़क सकती है। इसलिये ज्ञानीके लिये भी यथेष्टाचरणका निषेध किया है। लेशाविद्याप्रयुक्त लेशकर्तव्यभाव भी रहेगा ही। पूर्णज्ञानी होनेपर अलग बात है। उसको लेशाविद्या भी नहीं रहेगी। केवल संस्कार रहेगा। लेशाविद्या या अविद्या- संस्कारको मतभेद्र माननेकी अपेक्षा सोपानभेद मानना अधिक उत्तम होगा। प्राथमिक निदिध्यासनसे स्थूलतम अविद्या नष्ट होगी। फिर क्रमशः स्थूल अविद्या नष्ट होगी। सूक्ष्म अविद्या रहेगी। सूक्ष्म अविद्या नष्ट होने लगेगी तो आखिर लेशाविद्या रहेगी जिससे किंचित्कर्तृत्वभोक्तृत्व रहेगा। फिर उसका भी नाश होनेपर केवल संस्कार रहेगा। तीन रात्रि तीन अविद्याओंकी प्रयोजिका होगी। चाहे असत्त्वापादक, अभानापादक, अनान्दापादक आवरणत्रयरूप हों। स्थूलाविद्या, साधारणाविद्या, लेशाविद्या ऐसी तीन अविद्याएं हों; मूलाविद्या, लेशाविद्या ऐसी तीन अविद्याएं हो, अविद्या,

काम, कर्म रूपी दोषत्रयरूप हो (रात्रिको दोषा भी कहते हैं) सामान्य मनुष्य अतिथितिरस्कारसे इन अविद्याओंमें जकड़कर असद्रूप (अल्पसत्ता-निगडित) हो जाते हैं। मैं भी ऐसा न होऊं। मेरा स्वस्ति हो, पूर्णसत्ताबोध अबाधित रहे यह प्रार्थनाका अर्थ है। मंगल अर्थपक्षमें यही अर्थ है। "मङ्गलं भगवान् विष्णुः" इत्यादि प्रसिद्ध है। "अतिकल्याण- रूपत्वाद्....ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः" इत्यादि वचनोंसे भी स्वस्ति-मङ्गल-पूर्णसत्तात्मक परमात्मा ही है।

तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व। अतिथितिरस्कारसे अस्वस्ति-अज्ञानकृत-परिच्छिन्नसत्ताकत्व प्रायः निश्चित है। किन्तु उसका प्रायश्चित्त है। वह प्रायश्चित्त यही कि अतिथिका पुनः सत्कार कर प्रकरान्तरसे प्रसन्न करें। केवल सत्कार प्रायश्चित्त नहीं है। क्योंकि वह प्रथमतः कर्तव्यतया प्राप्त है। उसके करनेपर अतिथिको कष्ट नहीं होता, सुख भी होता है। किन्तु पश्चात् सत्कार करनेसे सुख तो हुआ किन्तु प्रथम कष्ट भी तो हुआ उसका क्या होगा? उसके लिये अतिरिक्त प्रसादन प्रायश्चित्त है। लोकमें तो कष्टके लिये माफी मांग लेते हैं। किन्तु उतना पर्याप्त नहीं है। अतएव बादमें सत्कारमात्र स्वस्तिमें कारण नहीं है। तदर्थ उपायान्तर संपादन करना ही होगा। 'तस्मात्' का यहां 'तदर्थ' यह अर्थ है। मेरा स्वस्ति हो तदर्थ आपको प्रसादित करनेके लिये मैं तीन वर देता हूँ। जिससे प्रसन्न होनेपर मेरा स्वस्ति कल्याण होगा। ऐसी यहां वाक्य योजना है। तीन रात अनशनपूर्वक रहनेसे एक अपराध नहीं, तीन अपराध हैं। उनसे जो अस्वस्ति-अज्ञानान्धकाररात्रिप्रयुक्त असद्भाव है उसके निवारणके लिये तीन प्रसादन आवश्यक हैं। एक-एक रात्रिके प्रति एक-एक प्रसादन चाहिये।

तीन दिन के अनशन के बदले एक ही बड़ा वरदान मांग लो ऐसा क्यों नहीं कहा? इस पर नैयायिकों का अपना कुछ विचार है। मंगलाचरण के प्रसंग में प्रश्नोत्तर हुआ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हैं तो क्यों? वैसे तो सभी सत्कार्य में प्रथम मंगलाचरण होता है। मकान बनानें के लिये प्रथम भूमिपूजन करते हैं। गृहप्रवेश के लिये वास्तुपूजन करते हैं इत्यादि। ग्रन्थनिर्माण में स्तुति आदि रूपमें मंगलाचरण करते हैं सो क्यों?

उत्तर है बाधा निवृत्ति के लिये, विघ्ननिवृत्ति के लिये। विघ्न एक प्रकारका पाप या पापफल है। बोले कि कादम्बरी लिखने वाले बाणभट्टने मंगलाचरण किया। किन्तु ग्रन्थ पूर्ण होने से पहले विघ्न आ गया—वे मर गये। ऐसा क्यों हुआ? एक जवाब यह दिया कि उनका विघ्न बलवत्तर था। पूछा तब उनका मंगलाचरण व्यर्थ क्यों गया ? वैदिक कर्मानुष्ठान व्यर्थ नहीं होता। इसका उत्तर नैयायिकों ने कहा कि जितने विघ्न हैं उतने मंगलाचरण हों तभी कामयाबी होगी। बाण भट्ट के बहुत सारे विघ्न थे। जितने मंगलाचरण किये उतने विघ्न (पाप) नष्ट हुए। आधा विघ्न नष्ट हुआ तो आधा ग्रन्थ पूरा हुआ। शेष रह गया। उसका सारांश यही कि जितने पाप हों उतने प्रायश्चित्त होने चाहिये। यह मत इस प्रसंग से जचता है। तीन दिन अनशन करने से तीन पातक बताये। तभी तो तैत्तिरीय ब्राह्मण में तीन परिणाम बताये। प्रजानाश, पशुनाश और पुण्य कर्मनाश। अतः प्रायश्चित्त भी तीन ही करने पड़ेंगे। इसी आशयसे यमराज कह रहे हैं—तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व। एक-एक रात के हिसाब से तीन वर मुझसे मांग लो।

प्रश्न एक ओर होता है—वाजश्रवस ने नचिकेता को दान में यमराज-को दिया था। यह अतिथि किस प्रकार? यहां मूल ही शिथिल है। उत्तर यह है सर्वस्वदान में पुत्रभार्यादिदान नहीं आता। आवें तो भी ऋत्विगों को दान दिया जाता है। यमराज कोई ऋत्विक् थे नहीं और नचिकेता का नियत मरणसमय भी नहीं था कि ये मरकर यहां आये। अतः यमराजकी दृष्टिमें नचिकेता अतिथि ही थे। कर्म में अपनी दृष्टिसे देखना जरूरी है। अतः यमराज के लिये अतथिरूप से व्यवहार ही उचित है ॥ ९ ॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

तीन वरदानोंमें प्रथम वरदान यह मांगता हूं जिससे हे यमराज मेरे पिता गौतम शान्तसंकल्प तथा प्रसन्नमन हों, मेरे प्रति क्रोधित न हों। आपके द्वारा विसृष्ट मुझे बराबर पहचानकर अभिवादन करें। आशीर्वाद प्रदान करें ॥ १० ॥

तीन रातके अनशनके बदलेमें तीन वरदान मुझसे मांग लो, और मुझपर प्रसन्न हो जिससे मैं भारी विनाश से बचूं इसप्रकार यमराजके कहनेपर नचिकेता मनमें विचार करते हैं क्या-क्या वरदान लेना है। तीन लोक माने गये हैं। इहलोक, परलोक तथा आत्मलोक। पितृलोक तथा देवलोक ये दो परलोकके भेदमात्र हैं।

"पुत्रेणैवायं जय्यो लोकः, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः।
किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः॥"

इसप्रकार श्रुतियोंमें इन लोकोंका वर्णन किया है। इहलोक पुत्रादिसे हासिल किया जा सकता है। कर्मोंसे पितृलोक हासिल किया जा सकता है। विद्या (उपासना) से देवलोक हासिल किया जा सकता है। प्रजा आदिसे हम क्या करेंगे जिन हमारे लिये यह आत्मलोक ही सब कुछ है।

इन तीनों लोकोंको यथायोग्य वितरण करनेके लिये नचिकेताका उपक्रम है। या श्रुति नचिकेताके माध्यमसे इन तीनों लोकोंका वर्णन कर रही है। प्रथम नचिकेता जैसे पुत्रसे इहलोककामी वाजश्रवसकी लक्ष्य-पूर्तिकी संभावना कहती है। फिर नाचिकेतअग्निप्रतिपादनद्वारा परलोक-प्राप्तिका उपाय बता रही है। और शेषसे आत्मज्ञानसे आत्मलोककी प्राप्ति बतायी जा रही है। इनमें पुत्रका कार्य यह है कि वह पिताके इहलोकको सम्पन्न कर उस पुण्यसे अपने लोकोंका संपादन करे। स्वयं की पुत्र-प्राप्तिका तो आगे निषेध करना है।

शान्तसंकल्पः। यथाश्रुत अर्थ तो इहलोक सुधारनेका है ही। किन्तु इहलोकको अन्यलोकका साधन बनानेपर ही इसकी 'लोकता' लोक-साधनता चरितार्थ होती है। अतः गहराईसे यहां विचार करना होगा। संकल्पशमनका क्या मतलब? क्या संकल्प बुरा है इसलिये त्यागना चाहिये ऐसा उपदेश है? यदि सर्वसंकल्पशमन विवक्षित है तो वह समाधिमें ही संभव होनेसे यह समाधिकी प्राप्तिके लिये वरदान मांगा है क्या? ये दो प्रश्न सामने आते हैं। इनमें समाधिप्रार्थना यद्यपि है उत्तम, किन्तु फिर सुमना इत्यादि विशेषणकी उपयोगिता नहीं रहेगी। संकल्प ही नहीं रहेगा तो सुमनस्त्व-दुर्मनस्त्वका क्या सवाल? "संकल्पात्मकं मनः" इस लक्षणके अनुसार संकल्प ही मन है। संकल्प नहीं तो मन ही नहीं रहा। फिर सुमन

कहांसे आयेगा? अतः यहां संकल्पका अर्थ है—सम्यक्त्वकल्पना। मंदिरमें जानेका संकल्प हुआ। क्या यह बुरा है? सत्संगमें जानेका संकल्प हुआ। क्या यह बुरा है? दानपूजादिका संकल्प करते हैं। क्या यह सब खराब है? गीतामें भगवान् कहते हैं—'संकल्पप्रभवान् कामान्' संकल्पसे काम-कामनाएं होती हैं। क्या पूर्वोक्त संकल्पोंमें कामोत्पत्तिकी संभावना है? अतः यहां तथा गीतामें संकल्पका अर्थ है सम्यक्तवकल्पना। विषयोंमें सम्यक्तव-कल्पना अर्थात् नैयायिकोंके शब्दोंमें इष्टसाधनताबुद्धि, कल्पना कहनेसे इष्टसाधनताभ्रम ऐसा अर्थ किया जा सकता है। यह मेरा इष्ट सिद्ध करेगा? मेरा स्वार्थ पूर्ण करेगा। इस प्रकार ज्ञान होनेपर चाहे वह प्रमा हो, चाहे भ्रम, उस विषयमें कामना होती है। वही बढ़कर मोहरूप धारण करती है। वही प्रकारान्तरसे लोभ बनता है। इनसबको न्यायभाष्यमें रागपक्षीय बताया है। तृष्णा काम लोभाभिलाषा रागपक्षीयाः। वाजश्रवसको बुढ़ापेमें पुत्र हुआ। उसमें इष्टसाधनताबुद्धि हुई। यह मेरी सेवा करेगा। मुझे सुख पहुंचायेगा, मेरा यश बढ़ायेगा इत्यादि। फलतः बालकके प्रति राग हुआ। मोह हुआ, कामना हुई और लोभ हुआ। लोभका स्वरूप 'पीतोदका जग्धतृणा' इत्यादिमें बताया। सर्वस्वदक्षिणयागकी तैयारी पता नहीं कितने वर्ष पूर्व ही हुई होगी। विशेष कार्य करनेकी तैयारी कई वर्षोंमें होती है। जैसे शादीकी तैयारी कई वर्षोंमें होती हैं। इसके बीचमें पुत्रमोह होनेसे लोभ सवार हुआ। किन्तु उसमें विघ्न हुआ—'कस्मै माम् दास्यसि'। काम विघ्नित होनेपर क्रोधरूपमें परिणत हुआ। 'कामात् क्रोधोऽभिजायते'। अतएव काम और क्रोधको एक ही बताया। 'काम एष क्रोध एषः'। उसका परिणाम है—क्रोधाद् भवति संमोहः—संमोहका परिणाम है—'मृत्यवे त्वा ददामि' तुझे मृत्युको देता हूँ। इनमेंसे मूल कारण संकल्पविषयेष्टसाधनताभ्रमका निराकरण करनेके लिये बताया—शान्त-संकल्पः। हाय! मैंने क्या कह दिया? मेरे पुत्रका आगे क्या होगा? इत्यादि चिन्तासे रहित हो यह भी अर्थ है।

सुमना यथा स्यात्। सौमनस्ययुक्त होनेकी यह प्रार्थना है। वैसे तो सौमनस्य वैमनस्यका प्रतियोगी है। वैमनस्य द्वेषको कहते हैं। उसका प्रतियोगी सौमनस्य, प्रसन्नता, प्रीति आदि स्वरूप है। तथापि उतना ही

अर्थ यहां विवक्षित नहीं है। शान्तसंकल्पताका प्रयोजक सुमनन तथा उसका प्रयोज्य निर्विकारता (लोभाद्यभाव) यहां अभिप्रेत है। सम्यक्त्व-कल्पनाका कारण परमार्थचिन्तन (तत्त्वचिन्तन) का अभाव है। तत्त्वचिन्तन करना ही यहां सुमनन और सौमनस्य है। परमार्थचिन्तनके न होनेसे इष्टसाधनताका भ्रम अर्थात् संकल्प होता है। परमार्थचिन्तनके विषयमें आचार्य कहते हैं–

"का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः ।
कस्य त्वं कः कुत आयातस्तत्त्वं चिन्तय तदितं भ्रातः ॥ भज गोविन्दम्....."

परमात्माकी सृष्टिमें कौन किसका होगा? अनादि कालसे हम चले आ रहे हैं। एक कीड़ा अपना प्राण बचाने भागने लगा तो इन्द्रने पूछा–अरे तू कीड़ा है, मर गये तो क्या हुआ? कीड़ा कहता है, जो महत्त्व तेरे अपने जीवनका है वही मेरा भी है। हजारों बार मैं इन्द्र बन गया, तू कीड़ा बन गया। हजारों बार तेरा बेटा मैं बना, मेरा बेटा तू बना। यही "संसारोऽयमतीव विचित्रः" का मतलब है। सबके सब सबसे हजारों रूपसे सम्बन्धित हुए हैं। असलमें कौन किसका?

"त्यक्तव्यो ममकारस्त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ ।
कर्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्तव्यः ॥"

सब सबके मा, बाप, भाई, बेटे, शत्रु, मित्रादि बने हैं। वर्तमानकालीन ममत्व भी थोड़े दिनमें समाप्त होगा। अतः या तो ममता त्यागो या फिर सर्वत्र ममता करो। ऐसा तत्त्वचिन्तन करो। यह सही है कि मनुष्यमात्रका अपना कुछ कर्तव्य रहता है। वह उसको निभाता है। रामका पार्ट लिया तो पूरा निभा लो। वहां सीता लक्ष्मण आदि वस्तुतः पत्नी और भाई न होनेपर भी नाटकमें व्यवहार वैसा ही करना पड़ेगा। जिसने रामायणमें रावणका पार्ट किया उसकी जो मन्दोदरी पत्नी बनी वह वास्तवमें उसकी कान्ता-पत्नी है? फिर भी तात्कालिक कर्तव्य निभाओ। फिर पार्ट समाप्त होनेपर स्वरूपस्थ बनो। वैसेमें संकल्पविकल्पादि नहीं होंगे।

वीतमन्युः। तत्त्वचिन्तनरूपी सुमनस्त्वके अभावसे विषयसम्यक्त्वकल्पना हुई। और पुत्रमोहसे लोभादि हुए। चित्त विकृत हो गया। मोहपर आघात होनेसे वाजश्रवसको क्रोध आया था, "मृत्यवे त्वा ददामि" कहा था। अब

सुमननसे संकल्परहित हो लोभादिराहित्यरूपी सुमनस्त्व पाकर फलरूपेण वीतमन्यु हो यह प्रार्थना है। सामान्यतः ऐसा अर्थ मालूम पड़ता है कि नचिकेता सोच रहे हैं कि अभी-भी पिताजीका गुस्सा नहीं उतरा होगा। सोच रहे होंगे इस छोकरेने ऐसा उटपटांग प्रश्न किया था। अतः अब क्रोध समाप्त हो किन्तु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि क्रोधसे जो "मृत्यवे त्वा ददामि" कहा था उसके लिये अफसोस होने लगा था। और मृत्युको न देनेका विचार होने लगा जिसके लिये "अनुपश्य यथा पूर्वे" इत्यादि कहना पड़ा था। "मन्यु शोकौ तु शुक्स्त्रियां" के अनुसार मन्युका शोक अर्थ भी हो सकता है। और सुमननका फल शोकात्मकसंसारकी निवृत्ति भी हो सकता है। परन्तु प्रसंगसंदर्भानुसार क्रोध ही अर्थ उचित है। वास्तविक बात यह है कि वाजश्रवस क्रोधी स्वभावके थे ऐसा प्रसङ्गसे लगता है। अन्यथा इकलौते पुत्रके लिये यह शब्दप्रयोग न करते। अन्य पुत्रोंका अस्तित्व माना भी जाय फिर भी श्रेष्ठ गौ आदि नचिकेताके लिये ही रख रहे थे यह प्रसङ्गसिद्ध है। अतः अतीव मोह-ममता थी यह निश्चित है। तब "मृत्यवे त्वा ददामि" यह वचन क्रोधी स्वभावका स्पष्ट परिणाम निश्चित होता है। उस स्वभावसे पुनः अविवेक मोहादि संभव है। इस छोकरेके कारण क्या-क्या गड़बड़ी होती रहती है। इत्यादि रोष हो सकता है। और वह एक पुत्रके लिये कल्याणकारी नहीं इतना ही नहीं श्रेयका प्रतिरोधी भी हो सकता है।

"हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।"

भगवान् रुष्ट हो जायें तो गुरु बचायेंगे परन्तु गरु रुष्ट हुए तो बचानेवाला कोई नहीं होगा। यहां पिता ही गुरु भी है। शंकर भगवान् कामदेवपर रुष्ट हो गये तो जलाकर भस्म किया। रति रोती रही। एक बार नारदजी मिले। पूछा क्यों रो रही हो? रतिने हेतु बताया। नारदजीने रास्ता बताया। शंकरका अब पार्वतीसे विवाह होगा। तदनन्तर यह शव उनके सामने रखकर रो लो। वैसा ही रतिने किया। विवहोत्तर सभी हर्षोल्लासमें थे। अचानक एक स्त्री आकर फूट-फूटकर रोने लगी। शंकरजीने पूछा तू कौन है? सभी हर्षमें हैं तू क्यों रो रही है? रतिने कहा मेरे लिये रोनेका विधान किया—यह मेरे पतिकी राख है। आपने मेरे

पतिको भस्म किया। शंकरजीने तुरन्त वरदान दिया—द्वापरमें श्रीकृष्णपुत्र होकर तुम्हारा पति शरीरधारी होगा। देखो गुरुओंकी करामात। किन्तु उन्हीं नारदने नलकूबर, मणिग्रीवको वृक्ष होनेका शाप दिया तो बचानेवाला कोई नहीं रहा। आखिर नारदजी ही भगवच्चरणस्पर्शसे उद्धारवचन कहते हैं। अतः गुरुको वीतमन्यु होनेके लिये प्रार्थना उचित ही है। वस्तुतः पुत्रत्वनिर्वाहार्थ "माऽभि" यह प्रथम उपस्थित होनेसे 'वीतमन्यु' इस कथनसे क्रोधसामान्याभाव ही यहां अभीष्ट है।

"क्रोधो वैवस्वतो राजा तृष्णा वैतरणी नदी ।
विद्या कामदुघा धेनुः संतोषो नन्दनं वनम् ॥"

साक्षात् प्रत्यक्ष वैवस्वत राजा संमुख है। क्रोधके अधिष्ठाता देवता वे ही हैं। अतः उनसे मौकेपर वरदानरूपमें वीतमन्युत्वकी प्रार्थना तो प्रतिभाका ही परिचय है।

गौतमो माऽभि मृत्यो। यहां गौतम शब्दका प्रयोग किया है। अतः ये गौतमवंशीय थे यह निश्चित होता है। आदि गौतमने बड़ा परोपकार किया। किन्तु ब्राह्मण एवं ऋषियोंने उनपर मिथ्या आरोप लगाया तो वे क्रुद्ध हो गये थे और उनको श्राप दिया था। यह शिवपुराणमें प्रसिद्ध है। उसका फल आज भी दृश्यमान है। वैसा शाप मुझे कदाचित् न दें।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीतः। नचिकेता अभी तक यही समझ रहे हैं कि मेरा अध्ययन अधूरा है। विद्या अधूरी है। अतः यहां से पुनः पिताके पास ही जाकर अध्ययन पूरा करना होगा। यमराजसे ही संपूर्ण विद्या प्राप्त होगी इतनी कल्पना इस समय नहीं थी। अतः गुरुकी प्रसन्नताके लिये प्रार्थना है। प्रथम वाजश्रवस ऋषि-पिता मुझे पहचानें और विश्वास करें कि यह मेरा ही पुत्र है। क्योंकि यमराजके पास जानेवाला कोई वापिस नहीं आता। अतः प्रथम यह प्रत्यय होगा ही नहीं कि यह मेरा पुत्र है। यही मालूम होगा कि प्रेत होकर नचिकेताका रूप धारण करके आया। किन्तु प्रश्न होगा कि यमराजके पास वाजश्रवसने अपने तपोबलसे सशरीर भेजा था नचिकेताको प्रेतत्वशंका किस प्रकार? उत्तर यह है कि भेजते समय भले ही सशरीर भेजे किन्तु यमसदनमें प्रवेश शरीरत्याग से ही संभव है। अतएव नचिकेता यमसदनके दरवाजेतक ही गये थे। अंदर

नहीं। यमराजको देनेपर यमसदनमें प्रवेश होना है। यह वाजश्रवसकी कल्पना है। वह कल्पना साकार क्यों नहीं हुई? कारण यही कि आकाशवाणीने बीचमें नचिकेताको तरीका बता दिया था। अतएव "त्वत्प्रसृष्टं" यह वरदानके अन्तर्गत आ जाता है। आप मुझे मारें मत। मुझे वापिस भेजें। ऐसा यहां अर्थ निकलता है। प्रकर्षेण सृष्टमुत्सृष्टम्। विशिष्ट प्रार्थनामें विशेषण प्रार्थना भी आ जाती है। जैसे सत्यवानके मुझमें सौ पुत्र हों ऐसा वरदान मांगा तो अर्थापत्तिसे विशेषणीभूत सत्यवानका जीवन भी आता है। यहां नचिकेता विशेषणसहित वरदान मांगकर ये सारी बातें एकमें अन्तर्युक्त कर रहे हैं कि आप मुझे यमसदनके अंदर न ले जांय—अर्थात् मुझे न मारें, मुझे वापिस भेजें। पिताके तपोबलसे यहां तक मैं आया किन्तु यहांसे वापिस जानेमें वह तपोबल काममें नहीं आयेगा और मुझमें इतना तपोबल नहीं है कि मैं वापिस जाऊं। अतः आपको स्वयं अपने प्रकर्षसे मुझे भेजना पड़ेगा। ऐसे प्रसृष्ट एवं गुरुचरणोंमें पहुंचे हुए मुझे "अभिवदेत्" इतनी भारी विशिष्टविधि यहां हो रही है। उसीमें प्रतीतत्व भी आ रहा है।

अभिवदेत्। प्रीतिपूर्वक संमुखकथन ऐसी व्याख्या प्रायः "अभिवदेत्" इस शब्दकी करते हैं। किन्तु उतना ही अर्थ नहीं है। अभिपूर्वक वद धातुका णिजन्तरूप अभिवादयति, अभिवादनं इत्यादि होता है। अभिवादनका सामान्य अर्थ प्रणाम होता है। वस्तुतः अर्थ है अभिवादन कराना। वह प्रणामसे संभव है अतः अभिवादन का प्रणाम अर्थ कर लेते हैं। जैसे निदिध्यासन का अर्थ ध्यान होता है। असली अर्थ है—निध्यातुं द्रष्टुमिच्छा। निर्वर्णयति निध्यायत्यालोकयति पश्यति। किन्तु दर्शन की सफल इच्छा ध्यान से ही संभव होने से ध्यान को निदिध्यासन कहा। वैसे अभिवादन प्रणामादिसे संभव है अतः प्रणामादिको अभिवादन बताया। अभिवदनको प्रत्यभिवाद भी कहते हैं। ऐसा आशीर्वचन तब निकलेगा जब प्रणामादि करेंगे। अब अभिवादन और अभिवदनके बारेमें देखिये।

"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥"

जो नियमित गुरुओंका अभिवादन करता है। ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध, वयोवृद्ध आदि वृद्धोंकी सेवा करता है उसके ये चार वृद्धिको प्राप्त होते हैं। कौन कौन? आयु, विद्या, यश एवं बल। ऋषियोंके आशीर्वादसे आठसे सोलह और व्यासजीके आशीर्वादसे सोलहसे बत्तीस वर्षतक आचार्यशंकरकी आयु बढ़ी। तोटकाचार्यकी विद्याभिवृद्धि ज्ञानवृद्ध आचार्यसेवासे हुई। कई मण्डलेश्वरोंको हम जानते हैं जिनका यश उनके पूर्वाचार्योंके आशीर्वादसे बढ़ा। मनोबल, आत्मबल आदि तो महापुरुषोंके आशीर्वादसे बढ़ता ही है। अभिवदन-प्रत्यभिवादके बारेमें—

'यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥'

ऐसा बताया है। नमस्कारसामान्यके लिये यह बात है। बड़ोंको छोटे प्रणाम करें तो आशीर्वाद देना यह प्रत्यभिवाद है। 'आयुष्मानेधि देवदत्त' आदि प्लुतान्त उच्चारण करें। 'खुश रहो बेटा.....।.....।........। ऐसा कहो। समानमें समान प्रणाम करो। जो अभिवादनके लिये प्रत्यभिवादन न करे उसे पुनः कभी प्रणाम न करो। वह शूद्र जैसा निन्द्य है। कुछ लोग अभिमानके कारण उत्तर नहीं देते। किन्तु यह भूल है। प्रणाम असलमें किसको किया जाता है? प्रणाम करके क्या बोलते हैं? जयश्रीकृष्ण, जय रामजीकी इत्यादि। श्रीकृष्ण गोलोकमें बैठे हैं उनकी जय होनेसे आपको क्या मतलब? वस्तुतः अन्तस्थित अन्तरात्मा, परमात्माको प्रणाम करते हैं। अतः आप किसीको भी प्रणाम कीजिये। "प्रणमेद्दण्डवद्भूमावश्वचाण्डाल-गोखरम्"। यहां तक बताया है। छोटेको भी प्रणाम करो। चाण्डालको भी करो, गायको भी करो। गधेको भी करो। यह थोड़ा जचा नहीं। गधेको क्या प्रणाम करना? यह बात जचनेवाली नहीं है यह भगवानको और ऋषियोंको मालूम था। तब शीतला भगवतीने अपना वाहन गधा बनाया। अब शीतलाकी पूजा करो तो गधेकी भी पूजा करोगे कि नहीं? एक जगह पूजा कर ली, हो गया। ऐसा नहीं कि रास्ते-रास्तेमें खड़े गधोंको प्रणाम करते फिरो। चूहेको भी प्रणाम किया जाता है। क्योंकि गणेशजीका वाहन चूहा है। इसका यह भी मतलब नहीं कि घरमें घुसे सभी चूहोंको प्रणाम करते रहो। प्रणाम भगवानको किया जाता है। अतः प्रतिप्रणाम भी करना

चाहिये। प्रत्यभिवादन करना चाहिये। गुरु आदिको जिस भावसे शिष्यादिने प्रणाम किया उस भावको रखकर गुरु आदि शिष्यको आशीर्वाद देते हैं ऐसा शास्त्रनियम है। संन्यासीको 'ॐ नमो नरायण' बोलते हैं और संन्यासी उत्तरमें 'नारायण' कहते हैं। एक जगह मैं बिहारमें वक्तियार पुर गया। वहां एक गृहस्थने 'नमो नारायणाय' कहा। मेरा ध्यान अन्यत्र था। मैंने भी 'नमो नारायणाय' कहा। भक्त पूछने लगा। आप उदासी, वैरागी कौन है? मैंने कहा-संन्यासी। उसने कहा संन्यासी तो केवल नारायण कहते हैं। मैंने कहा तुम सही हो। वैसे आचार्यादि महापुरुषोंको अन्तःस्थरूपेण तथा "आचार्यदेवो भव" के अनुसार साक्षात् भी भगवान् समझकर जो प्रणाम करे, अभिवादन करे तो आशीर्वाद दिया जाता है। अन्यथा परस्पर परमात्मा समझकर परस्पर प्रणाम करें। नचिकेता कहते हैं कि मैं अभिवादन करूं और क्रोधसे, प्रेतत्वभ्रमसे या किसी कारणसे अभिवदन ही न करे तो यह भी पिताके लिये हानिकारक होगा, अतः ऐसा भी न हो।

वाजश्रवसमें लोभ, असमीक्ष्यकारिता, क्रोध आदि दोषोंका भरमार देखते हुए भी नचिकेता पुत्र शब्दको सार्थक करते हुए "पितृदेवो भव" वचनपालनमें कटिबद्ध है। यही तो वास्तविक सनातन शिक्षा है। श्रीरामको मालूम था कि पिताने कैकयीवश होकर विना सोचे वरदान दिया। श्रीमद्भागवतमें रामकथामें स्पष्ट ही दशरथजीके लिये "स्त्रैणस्य" प्रयोग किया।

"यःसत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं
स्त्रैणस्य चापि जगृहे शिरसा सभार्यः।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं
त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्गः॥"

ऐसा वहां श्लोक है।

तथापि पुत्रका आदर्श संसारके सामने प्रस्तुत किया। (वहां संन्यासियोंकी उपमा दी)। वैसे नचिकेताने भी किया। पिताके आदेशानुसार यमलोक गये। ऊपरसे पिताके दोषोंको भी दूर करनेके लिये यमराज से वरदान मांगा।

एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे। पहले घर सुधारें तब दुनियाको सुधारेंगे। प्रथम हमारा घर स्वच्छ हो जाय। अथवा प्रथम इहलोक सुधारो तब परलोक की चर्चा करो। यहां रागद्वेषादिनरकपतित होकर क्या परलोकसिद्धि करेंगे? अतः इस प्रकार तीन वरदानोंमें से प्रथम इहलोकको सुधारनेका वरदान माँगा।

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखँ-रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

मुझ (मृत्यु) से प्रयोजित तुम्हारे पिता उद्दालक जिसप्रकार पहले थे वैसे फिर होंगे, तुम्हें पहचानेंगे। सुखपूर्वक रात्रिमें शयन करेंगे। मृत्युमुखसे छूटे तुम्हें देखकर नाराज नहीं होंगे ॥ ११ ।

यथा। तीन दिनके अनशनके बदले तीन वर देनेके लिये यमराजने कहा। नचिकेताने प्रथम वर इहलोकका सुधार मांगा। उसमें छः बातें आ गयीं थीं। पांच पिताके लिये और एक अपने लिये। (१) शान्तसंकल्प (२) सुमना (३) वीतमन्यु (४) माऽभिवदेत (५) प्रतीतः ये पांच पिताके लिये थे। अपने लिये था त्वत्प्रसृष्टम्। यह विशेषरूपसे चतुरतासे रखा गया था। जैसे सावित्रीने इन्हीं यमराजसे मित्रता करके वरदान मांगा कि मुझे सत्यवान्से सौ पुत्र हों। यमराज भोलेभाले मालूम पड़ते हैं। जितने कठोर हैं उतने भोले भी हैं। सावित्रीको हां कहा। तब सावित्रीने कहा यह वरदान तब पूर्ण होगा जब आप इसे छोड़ेंगे—सत्यवान्को वापिस करेंगे। यमराजके भोलेपनका फायदा नचिकेताने भी उठाया—त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत्-आपसे मुक्त होकर पिताके पास जाकर अभिवादन करनेपर मुझे आशीर्वचन कहें। यह तब होवे जब यमलोकसे वापिस जायें अर्थात् न मरें। यमसदनके अंदर अभी नचिकेताने प्रवेश नहीं किया है। उमरे पर ही हैं। उमरे तक तो तपोबलसे पहुंचे। आगे मरनेपर ही पहुंचना होगा। आगे गये बिना ही वापिस भेजनेपर अमृत्यु निश्चित है। इसके लिये यमराजने अन्तिम शब्द 'मृत्युमुखात्प्रमुक्तं' बोल गये। 'वीतमन्यु' और 'प्रतीत' इन दो याचनाओंमें जो आये, वे उत्तरमें भी शब्दतः आ गये। अतः उनपर भी विचार

करनेकी आवश्यकता नहीं है। विचार तीन अंशोंपर ही मुख्य है। शान्तसंकल्पः, सुमनाः, माऽभिवदेत् इनपर कुछ उत्तरवचन स्पष्ट नहीं दीखता। क्या अधूरा वरदान दिया? ऐसा हो तो क्या कारण? क्या भूल गये यमराज या उन वरदानांशोंको देनेके अयोग्य समझा? यदि ऐसी बात थी तो आगे तत्त्वज्ञानको टालमटोल करते समय नचिकेता जैसे आगे मुकाबिला करते हैं वैसे यहां भी क्यों नहीं किया? इत्यादि प्रश्न सामने आते हैं। इन सवालोंका जवाब यह है कि न तो यमराज भूल गये और न अयोग्य समझकर उन अंशोंको नहीं कहा। दूसरी बात यह कि पिताजी रातको सोया करें यह वरदानमें मांगा नहीं था उसे क्यों देने लगे? इससे याचित अप्रदान और अयाचितप्रदान दोष नहीं आयेगा? अतः अयाचित-रूपसे प्रतीत होनेवाले शब्द ही याचितपरक स्वीकार करना पड़ेगा। यही हम अब स्पष्ट करेंगे।

यथा पुरस्ताद् भविता। इसका अर्थ यह नहीं है कि जैसे पहले कामी, लोभी, क्रोधी थे वैसे फिरसे होंगे। यदि यह अर्थ हो तो वरदान न होकर श्राप हो जायेगा। अतः यह 'माऽभिवदेत्' इस याचना का ही यह उत्तर मानना होगा। 'माऽभिवदेत् प्रतीतः' के समान ही 'प्रतीतः' जोड़कर कहा 'यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीतः'। अप्रतीत हो, भूत-प्रेत समझकर कहीं अभिवादनके जवाबमें अभिवदन न करें, शूद्रोपम न हो जांय इस आंशङ्काके लिये कहा कि प्रतीत होंगे। और पूर्ववत् व्यवहार करेंगे। यह उदारताका स्वरूप है। केवल अभिवदन ही नहीं अपितु पूर्ववत् गले लगायेंगे। मस्तक सूंघेंगे, पढ़ायेंगे इत्यादि सारी बातोंको संगृहीत करके उदारताके साथ बोल दिया—'यथा पुरस्तात् तथा भविता'। 'प्रतीत' पदके समभिव्याहारसे अप्रतीत अवस्थामें संभावित दोषोंका परिहार ही विवक्षित है। न कि पूर्वस्थित काम, लोभ, क्रोधादिका पुनरुत्थान। ऐसा होता तो वरदान न होकर श्राप होता कि नचिकेता के गमनसे दबे कामलोभादि फिर उठ खड़े हों। अतः एक अंशका सुसंगत समाधान हो जाता है। शेष दो अंश रह जाते हैं।

सुखं शयिता रात्रीः। ये ही दो अंशोंके पूरक हैं। 'सुमना' को 'सुखं' से कहा। 'शान्तसंकल्पः' को शयितासे कहा। 'शेते' के दो अर्थ हैं। लेटना और

सोना। यहां केवल लेटना अर्थ नहीं। सोना अर्थ है। सुखके समभिव्याहारसे सुषुप्ति अर्थतक पहुंचेगा। यह प्रसिद्ध है कि सुषुप्तिमें सर्वसंकल्पशमन होता है।

"यत्र न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ।
सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् ॥"

ऐसा माण्डुक्यमें बताया है।

पहले हम व्याख्या कर चुके हैं कि संकल्पका अर्थ सम्यक्त्व कल्पना, इष्टसाधनताभ्रम एवं तत्प्रयुक्त काम-लोभ है। ये सुषुप्तिमें नहीं होते। इनके होनेपर सुषुप्ति ही नहीं हो सकती। नींद आनेपर भी ऊटपटांग सपना मात्र आता रहेगा। अतः इस कथनसे शांतसंकल्पता आ जाती है। सुखंसे सुमनस्त्व भी प्रायः आ जाता है। 'शोभनं मनो यस्य' (सुन्दर है मन जिसका) इस विग्रहमें सुमना शब्द है। 'शोभनं खं यत्र' (सुन्दर हैं इन्द्रियां जिसकी) इस विग्रहमें सुखं शब्द है। 'ख' इन्द्रियोंको ही कहते हैं। इन्द्रियोंमें मन भी आ जाता है।

"मनः षष्ठानीन्द्रियाणि"

यहां इन्द्रियोंमें छठा मनको बताया है। यदि कहें कि सुमननप्रयुक्त आत्मानन्दात्मक सुमनस्त्व पूर्वमें विवक्षित है तो वह भी सुषुप्तिमें सिद्ध है। सुषुप्तिके बाद उठनेपर बोलते हैं—"सुखमहमस्वाप्सं"—मैं सुखपूर्वक सोया। कौनसा सुख उस समय मिला था? क्या लता मंगेशकर या सुब्बालक्ष्मीके स्वरसंचारात्मक शब्दविषयका आनन्द था? नहीं। रेडियो बंद करके सोया था। बल्कि दो तीन दिन जगनेके बाद नींद आवे तो गीत चलता हो तो भी बंद कराकर सोयेंगे। क्या पुत्रालिंगनसे, पुत्रके शरीरपर चढ़ने उतरने आदि स्पर्शसे होनेवाला सुख था? 'अरे! नींद आनेपर उसको भगा देते हैं। क्या टी. वी. के रात्रिदर्शनरूपी रूपसे होनेवाला आनन्द था? आंख ही बंद थी तो रूपदर्शनका क्या सवाल? क्या जलेबी, रसगुल्ला खानेसे होनेवाला रसानन्द या इत्तर सूंघनेका गन्धानन्द था? कुछ भी नहीं था। तब कौनसा आनन्द सुषुप्तिमें था? इन सबको त्यागनेसे होनेवाला संन्यासानन्दरूपी आत्मानन्द था। अल्पकालके संन्याससे यह आत्मानन्द प्राप्त हुआ तो आजीवन संन्यास लेनेसे होनेवाला आनन्द कैसा होगा

इसकी कल्पना करो। इसीलिये तो संन्यासियोंका महत्त्व है। कोई सोया हो तो कहते हैं उठावो मत। क्यों? "सता सोम्य तदा संपन्नो भवति"। वह सत परमात्मामें लीन होकर ब्रह्मानन्द पा रहा है। जैसे संन्यासी ध्यानमें बैठा हो तो नहीं उठाते वैसे सोये हुएको भी नहीं उठाते। अतः दोनोंका– "शान्तसंकल्प" और "सुमना" का उत्तर यहां है।

प्रश्न तब यह उठता है किं फिर शब्द बदलनेकी क्या आवश्यकता थी? "प्रतीतः" वीतमन्यु" जैसे "शान्तसंकल्प" और "सुमना" भी बोल जाते। इसका कारण यही है कि याचनानुसार वरदान देना था। याचनामें सर्वसंकल्पशमनरूपी मोक्ष या जीवन्मुक्ति अर्थ विवक्षित नहीं है और न ब्रह्मानन्दरूपी सुमनस्त्व विवक्षित है। कारण नचिकेताको अभी ब्रह्मज्ञानादिका पता ही नहीं है तो उसके विषयमें वरदान कैसे मांगते? किन्तु यमराज उसी शब्दसे जवाब देवे तो अर्थ बदल जायेगा। व्यक्तिभेदसे अर्थभेद होता है। एक बच्चा हाथमें बन्दूक खिलौनेकी लेकर बोलने लगे कि मैं तुमको मार डालूंगा तो अर्थ इतना ही है कि एक गोटिया उस पर लगायगा। किन्तु एक डाकू या सिपाही राईफल लेकर कहे कि तुमको मार डालूंगा तो वहां अर्थ दूसरा होता है। एक किसान बेटेको कहता है, काम शुरुकर, मैं पैसा दूंगा। एक सेठ अपने बेटेको कहता है तू काम शुरु कर, पैसा मैं दूंगा। और एक बच्चेको स्कूल जानेके लिये पैसा मैं दूंगा। तो क्या सब जगह एक ही अर्थ है? वैसे ही नचिकेताके शान्तसंकल्प सुमना शब्दका अर्थ और होता और यमराजका और होता। इसलिये यमराजने शब्द बदलकर कहा।

इसपर भी दूसरा प्रश्न उठ सकता है कि माना यमराज इस शब्दका प्रयोग करते तो जीवन्मुक्ति, मोक्ष आदि अर्थ होता। भले हो, वह वरदान देनेमें क्या हर्जा था? यमराजके वरदानसे यदि वाजश्रवस मुक्त होते तो क्या नुकसान था? जैसे "अभिवदेत्" को बढ़ाकर "यथा पुरस्ताद्भविता" कहते हुए यमराजने उदारता प्रगट की वैसे कुछ उदारता यहां भी दिखाते तो क्या हानि थी? समाधान इसका यह है कि जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, तत्त्वज्ञान आदि वरदानलभ्य है ही नहीं। यदि ऐसा होता तो नचिकेताको इतना लम्बा उपदेश देनेकी क्या जरूरत थी? वरदानके बलसे सीधे ज्ञान

क्यों नहीं प्राप्त कराया? अर्थ और काम भले वरदान आदिसे प्राप्त हो। किन्तु धर्म और मोक्ष वरदानप्राप्य नहीं हैं। इसके लिये पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। धन तो छप्पर फाड़कर गिरावे, दानसे प्राप्त करावे, काम भी अर्थात् विषय भी दानादिसे प्राप्त करावे। किन्तु धर्मके लिये यत्न करना होगा। जैसे करनी वैसे भरनी यह प्रसिद्ध है। कथंचित् धर्मके लिये भी शायद हो सकता है। विश्वामित्रने दसहजार वर्षकी तपश्चर्याका फल वसिष्ठको दिया। राजाने नरकवासियोंको अपना पुण्य बांट दिया इत्यादि कथा प्रसिद्ध है। केवल कथा ही प्रसिद्ध है। प्रत्यक्षरूपसे बापके रोग को बेटेने लिया इत्यादि देखा नहीं गया। फिर भी शास्त्र प्रमाण होनेसे कथंचित् मान सकते हैं। किन्तु मोक्षके लिये यह बात है ही नहीं। उसके लिये स्वयमेव अधिकार संपादन कर श्रवणमनन, निदिध्यासन करो तो ही मोक्ष संभव है। उसके लियें दूसरे पर आधार रखनेके विषयमें सांख्य-वालोंने स्पष्ट निषेध किया है। तुष्टि दोष बताया गया है।

"आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभागाख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च, नव तुष्टयोऽभिमताः॥"

प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक चार आध्यात्मिक तुष्टियां हैं। पांच विषयोंसे उपरम ये पांच तुष्टियां हैं। इस प्रकार नव तुष्टियां हैं। पांच विषयोंसे उपरमसे जो पांच बाह्य तुष्टियां हैं वे तो गुण हैं। किन्तु आध्यात्मिक चार तुष्टियां दोष हैं। तुष्टि-तुष्टिमें क्या भेद? एक गुण, दूसरा दोष क्यों? उत्तर है विषयभेद इसमें कारण है। जैसे नीतिकार कहते हैं—

"संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयोः॥"

तीनमें संतोष करना चाहिये अपनी पत्नीमें, भोजनमें, धनमें। तीनमें संतोष नहीं करना चाहिये अध्ययनमें, जपमें और दानमें। वैसे यहांपर भी है। आध्यात्मिक चार तुष्टियां क्या हैं? एक प्रकृतितुष्टि है। लोग कहते हैं कि अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार मनुष्य रहते हैं। एक मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको आरामसे रोक लेता है। दूसरा नहीं रोक सकता। कारण? प्रकृति वैसी है। किसीको बात-बात पर क्रोध आता है। दूसरा शान्त रहता है,

कितनी ही गाली दो, हंसता रहेगा। तीसरा हूँ कह दिया तो मारने उठेगा। क्यों? अपनी-अपनी प्रकृति है। कोई मांगनेमें शरम नहीं करता। दूसरा ऐसा है कि मरना बेहतर समझेगा, मांगना नहीं। क्यों? प्रकृति।

'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति'

यह भगवानका भी वचन है। इस प्रकार मोक्ष भी अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार प्राप्त होगा ऐसा सोचकर निश्चिंत रहना यह प्रकृति-तुष्टि नामका दोष है। कोई क्रोधको आसानीसे जीतता है कोई क्रोध नहीं करता यह भी प्रकृति नहीं है। यह भी पूर्वाभ्यास है और पूर्वपुण्य है। पूर्वाभ्यासका अर्थ है पूर्वकृतदृढ़ संस्कार और पूर्व पुण्यका अर्थ है पूर्वकृत सत्कर्म। दोनों पुरुषार्थ है। वह इस जन्ममें भी काम आया। पुण्य समाप्त होनेपर वृद्धावस्थामें चिड़चिड़ा स्वभाव होने लगता है। कहीं वृद्धावस्थामें पुण्य प्रारंभ हुआ तो अभ्यास सफल होता है।

दूसरी उपादानतुष्टि है। वैष्णवाचार्य कहते हैं कण्ठीं बांध लो तो मोक्ष मिलेगा। कंठी न बांधो तो नरकमें गिरेगा। यही उपादान है। कंठीका उपादान। कहीं बताया कि लाल कषाय वस्त्र पहन लो तो मोक्ष मिलेगा। यह सब अयथार्थ है। यह सब साधन करनेके उपकरण मात्र हैं। साधना स्वयं करनी पड़ेगी। उसके बिना कोई कंठीमात्रसे नहीं तर सकता। गुरुकृपा भी सहायकमात्र हैं। गुरु हाथ पकड़कर मोक्षसिंहासनपर नहीं बैठायेगा। भोजन स्वयं करो तो ही भूख मिटेगी। गुरुके करनेसे नहीं मिटेगी वही बात यहां भी है। जो उपादानमात्रसे कृतकृत्य समझते हैं उनकी उपादान नामकी तुष्टि है।

तीसरी काल तुष्टि है। समयपर सब कुछ होता है। जब तक समय नहीं आता तबतक हजार कोशिश करो कुछ नहीं होगा। समयके आनेपर एक तिनका भी वज्र बन जाता है। गोप भी अर्जुनके सामने महारथी बने जब द्वारिकासे लौट रहे थे।

'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
शरदि हंसरवाः पुरुषीकृत-स्वरमयूरमयूरमणीयताम् ॥'

कहते हैं समय आनेपर कीड़ा भी राजा परीक्षितके सामने तक्षक हो गया था। लड़का प्रथम ऊधम मचाता है। समय आ गया, शादी हो गयी। शान्त

हो गया। वैसे समय आनेपर मोक्ष भी मिलेगा। किन्तु यह भी गलत है। तुष्टिमात्र है। कालको साधारण कारण माना है। असाधारण कारण नहीं। चैत्र-वैशाखमें आमपर बौर आती है। आगेपीछे नहीं। समयने जरूर कराया। किन्तु आमका बीज ही नहीं बोया, वृक्ष ही नहीं तो क्या समय फल दे देगा? समय साधारण कारण है। बीज असाधारण कारण है। अतः केवल समयकी प्रतीक्षा करते रहना समयतुष्टि मात्र है।

चौथी भागतुष्टि है। भागका भाग्य अर्थ है। बहुतसे लोग भाग्यपर निर्भर रहते हैं। किसीसे हम पूछते हैं सत्संगमें क्यों नहीं आते हो तो लोग कहते हैं—हमारे भाग्यमें नहीं है क्या करें? परन्तु यह कहीं आत्मवञ्चना न हो। क्या पैसा कमानेकी बातको भी भाग्यपर छोड़ते हो? भाग्य वहां काम करता है जहां अन्य साधनोंका भाव .या अभाव है। लंडन जाना पड़ा, अमेरिका जाना पड़ा, दिल्ली, कलकत्ता आदि जाना पड़ा तो कह सकते हैं सत्संग हमारे भाग्यमें नहीं था। सत्संगके लिये निकल रहे थे इतनेमें अचानक कोई मेहमान आ गया, कोई तकलीफ हुई तो कह सकते हैं भाग्यमें नहीं था। स्वस्थ हैं। समय निकाला जा सकता है किन्तु किसी साधारण हेतुको लेकर भाग्यकी बात कहें तो यह आत्मवञ्चना होगी। भाग्यमें हो तो ज्ञान होगा, मोक्ष होगा इस प्रकारकी तुष्टिको भागतुष्टि कहते हैं।

तात्पर्य यही है कि शान्तसंकल्पता, सुमनस्ता आदि वरदानसे या किसीकी कृपासे प्राप्य नहीं हैं। स्वीय पुरुषार्थसे प्राप्य हैं। अतएव यमराजने सामान्यरूपसे शान्तसंकल्प आदि वरदान नहीं दिया किन्तु जो संभव है वह दिया। क्या संभव है? यही कि .सुखँ-रात्रीः शयिता.........।

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२

स्वर्गलोकमें किसी प्रकारका भय नहीं है। मृत्युरूप आप वहां नहीं जाते। वहां बुढ़ापेसे डर नहीं है। भूखप्याससे उठकर एवं शोकरहित होकर स्वर्गगामी स्वर्गलोकमें आनन्द पाता है॥ १२ ॥

तीन वरदानोंमें प्रथम ऐहिक है। दूसरा परलोकार्थ है। तीसरा आत्मार्थ है। प्रथम स्थूल, द्वितीय सूक्ष्म एवं तृतीय परमसूक्ष्मविषयक है ऐसा भी

कह सकते हैं। 'अणुरेष धर्म'.....ऐसा आगे बताना है। या यों कह सकते हैं तीन वरदान—पितृकल्याणार्थ, लोककल्याणार्थ तथा आत्मकल्याणार्थ हैं। यद्यपि मरणोत्तर पितृपुत्रभाव समाप्त हो जाता है क्योंकि जन्मान्तरमें उसी जन्मके पिता वन्द्य होते हैं, पूर्वजन्मके नहीं। तथापि मृत्युलोकमें जानेपर भी अभी नचिकेताकी मृत्यु नहीं हुई है। मरते दम तक भी पितृसेवाके लिये सोचना आवश्यक है, उचित है ।क्योंकि पिताका उपकार महान् है। मानवशरीरप्रदाता पिता है। इसी मानवशरीरसे सर्वार्थसिद्धि होती है।

स्वर्गे लोके। आजके युगमें जवान लड़के सर्वप्रथम एक प्रश्न सामने रखते हैं वह यही है कि यह जो स्वर्गनरककी बात करते हैं यह गले नहीं उतरती। स्वर्गनरककी बातको आजके लोग निरी गप्प मानते हैं। कहां है वह स्वर्ग और कहां है यह नरक? पुराणवाले कहते हैं ऊपर आसमानमें या सातवें आसमानमें स्वर्गलोक है। नीचे या दक्षिणकी छोरपर नरक है। आसमानका अर्थ यही समझते हैं कि नीले रंगका जो छत दीखता है वही या उससे ऊपर है। ईसाई, मुस्लिम आदि ऐसी सात छत् मानते हैं। उसके ऊपर खुदा, परमात्मा है। वहां तक स्वर्गादिलोक है। यह सात छतकी उनकी जो कल्पना है वह भी मौलिकरूपसे उनकी अपनी नहीं है। हमारे हिन्दूशास्त्रोंमें भूः, भुवः स्वः जनः तपः सत्यं ऐसे सात लोकोंका जो वर्णन है उसका अनुकरणमात्र है। अर्थात् पुराणोंमें जो सात लोकोंका वर्णन है उसे कर्णाकर्णिकया सुन लिया और अनन्त छतोंके रूपमें उनकी कल्पना की। और सातवें आसमानमें खुदाका स्थान माना गया। आज विज्ञानने इस सारी बातोंको चूर करके रख दिया। चन्द्रलोक, मंगललोक आदितक राकेट पहुंच गये। वहांके चित्र भेज रहे हैं। ऐसा कोई फोटो आजतक नहीं आया है जहां स्वर्गमें वर्णित कल्पतरु, कामधेनु, नन्दनवन, अप्सरा आदिका अस्तित्व माननेका कोई आधार हो। पृथिवीकी परिक्रमा तो साधारण लोग भी कर चुके हैं विमानसे, जहाजसे। न दक्षिणमें कोई नरक मिला और न उत्तरमें । दक्षिणमें दक्षिण ध्रुव है। वहाँ बर्फीले द्वीप हैं। क्या मरनेपर वहां पहुंचते हैं? जिंदा व्यक्ति वहां जहाज लेकर पहुंच गये। वापिस भी आये।

यद्यपि श्रद्धालुजनोंके लिये इस तर्कका कोई मूल्य नहीं है। किन्तु आजके युगमें जनमतानुसार इनकी संख्या नगण्य हो चुकी है। इन्हें अन्धविश्वासी टाइटल दिया जा चुका है। नवीन युवकोंके इन तर्कोंका उत्तर यदि तर्कसे नहीं देते तबतक आपकी मान्यताका कोई मूल्य नहीं हो सकता। माता-पिता, गुरुका कर्तव्य है बालकको यथार्थ बात समझावें। ऐसा नहीं हुआ तो बालकोंके नास्तिक बननेका प्रत्यवाय लगेगा। शास्त्रकार कहते हैं–

'माता शत्रुः पिता वैरी याभ्यां बालो न शिक्षितः'

वे मातापिता शत्रु हैं, वैरी हैं जो स्वयं या आचार्योंके द्वारा बालकको सत्‌शिक्षा नहीं देते। अतः आजकलके बच्चे नहीं मानते इतना कहकर छुटकारा पाना उचित नहीं है। प्रथम हम एक नमूनेके तौरपर थोड़ा विचार प्रस्तुत करेंगे। उसके बाद स्वर्गादिका स्पष्ट रूप सामने रखेंगे।

'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निर्वतते ॥'

इसी गीतावचनमें और–

'मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाश
माकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा ॥'

इत्यादि श्रुतिवचनमें–चन्द्रलोकको भी स्वर्गलोक बताया है जो कर्मप्राप्य है। और यह आज निश्चित हो चुका है कि चन्द्रमामें न कामधेनु है, न नन्दवन है, न वहां आदमी, पशु, पक्षी, आदि हैं यहांतक कि वहां पानी और हवा भी नहीं है। आगे मंगल आदि लोकोंमें भी जानेकी तैयारी कर रहे हैं। सर्वप्रथम हम इसका एक उत्तर यह दे देते हैं कि मानवका जाना न जाना यह देवत्वमें बाधक या साधक नहीं है। चन्द्रमा तक जानेकी जरूरत? इस पृथिवीको हम देवी मानते हैं और इसपर हम रहते हैं। भूमिपूजन हम करते हैं। 'पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता'

कहते हैं।

'समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥'

कहकर प्रणाम करते हैं और पृथिवीपर चलते फिरते भी हैं, रहते भी हैं। फिर भी देवत्वपर कोई आंच नहीं आयी तो चन्द्रमाको भी देवता माननेमें मानवका वहां उतरना बाधक किस प्रकार? अतः यह एक कुतर्कमात्र हुआ। पीपल देवता है। गङ्गा देवी है। क्या कोई पीपलपर नहीं चढ़ता? गंगामें नहीं नहाता? क्या इससे देवत्व इनका चला गया? अस्तु। अब हम कुछ विशेष गहराईकी ओर बढ़ेंगे।

हम कैलासमानसरोवरकी यात्रामें गये थे। गर्ब्यांगसे ३० माईल पर तकलाकोट है। वहाँसे तीस माईलपर राक्षसताल और वहाँ से तीस माईल पर कैलास है। उसकी बत्तीस माईल की परिक्रमा है। वहाँ से तीस माईल पर मानससरोवर (वापिसीमें) है। उसकी सत्तर माईलकी परिक्रमा है। कैलासका वर्णन प्रतिदिन हम आरति में बोला करते हैं–

कैलासे गिरिशिखरे कल्पद्रुमविपिने
गुञ्जति मधुकरपुञ्जे कुञ्जवने गहने
कोकिल कूजति खेलति हंसावलि ललिता
रचयति कलाकलापं नृत्यति मुदसहिता
तस्मिन् ललितसुदेशे............ इत्यादि ।

कैलासपर्वतपर कल्पवृक्षका जंगल है। भ्रमर वहां गुंजार करते रहते हैं। गहन कुञ्ज वहां है। कोयल पंचस्वरसे गाती है। हंस वहां खेलते हैं। मोर नाचते हैं। वहां किन्नरो, गन्धर्वों, अप्सराओंकि नृत्यादि होते रहते हैं। पचासवर्ष पूर्व वहां जाना बड़ा कठिन था। महामण्डलेश्वर जयेन्द्रपुरीजी महाराज मण्डलीसहित वहां गये थे। हमारे साथ और भी कई महात्मा थे। राक्षसताल पहले आया। कहते हैं वह रावणका बनाया हुआ है। वहांसे कैलासमें पहुंचे जिसकी परिक्रमा बत्तीस माईल है। मध्यमें शिवलिंगके आकारका विशाल पर्वत है। उसीको शिव मानते हैं। पचास माईल दूरसे वह दीखता है। बरफसे ढँका है। उसके चारों ओर बारह पहाड़ियां हैं। जिनको कमलदलाकार बताते हैं। इनको पारकर शंकरतक जानेका कोई अन्य रास्ता नहीं है। उस समय प्रणवानन्दजी नामके एक महात्मा वहांका पूरा रास्ता जाननेवाले थे, जो अलमोड़ामें मिले थे। उन्होंने एक रास्ता बताया था। एक जगह इन पहाड़ियोंकि अंदर की ओर घुसनेका मार्ग है।

सबको वह मालूम नहीं है। हम लोगोंने अंदाजा लगाया यही होना चाहिये। किन्तु गाईड और सामानके घोड़ेवाले न वहां जानेको तैयार हुए, न रुकनेको ही। फिर भी हम जैसे-तैसे उन्हें रुकवाकर वहांसे ऊपर चढ़े। एक छोटी नदी आ रही थी उसीके किनारे से चढ़े खड़ी चढ़ाई थी। ग्लेसियर पर्वत। ऊपरसे कंकड़। गिरते पड़ते वहां पहुंचे। भगवान् शंकरका स्पर्श किया। कुछ दूर तक शंकरपर भी चढ़ गये। सारा जगत शंकररूप है तो उस पर्वताकार शंकरपर भी चढ़नेमें क्या अपराध था? क्या बालक गणेश शंकरकी गोदमें पांव रखकर नहीं बैठते थे? बादमें एक दो पत्थर बिना बरफके पड़े मिले। उसपर बैठकर सोचने लगे कि "कैलासे गिरिशिखरे कल्पद्रुमविपिने" सुना है। यहां एक घास भी नहीं है। कोयल, हंस तो दूर, मच्छर, मक्खी, कीड़े भी नहीं हैं। चारों ओर बर्फ ही बर्फ। पहाड़ सफेद, सफेद ऐसा चमक रहा है कि यही शायद रजतगिरिका भी अर्थ होगा। फिर वहीं बैठकर भगवानका ध्यान करनेको सोचा। नीचे से छः बजेसे चलकर पांच घंटेमें वहां पहुंचे थे। ध्यानमें बैठे तो पता नहीं कितना समय बीता। ऐसी समाधि जिंदगीमें पहली बार लगी। दो-तीन बजे तक बैठे ही रहे। प्रथम ध्यानमें सामान्यरूपसे शंकरका स्वरूप दीखा। फिर वही "कल्पद्रुमविपिने" आदि दिव्यरूप! देखते-देखते फिर केवल एक ज्योतिमात्र रह गयी। इतनेमें एक महात्मा जोरसे बोले उठो, उठो, बादल आ गया। ध्यान टूटा। दो-तीन बज रहे थे। बस बादल आ गया तो बरफ अवश्य गिरेगी। उतरनेमें सिर्फ आधा घंटा लगा। बच गये।

प्रश्न सामने यह आया कि ध्यानके समयमें जो स्वर्गीय दृश्य सामने आया यह क्या था? केवल एक कल्पनामात्र या वास्तविक? वास्तविक माननेमें कठिनाई यह थी कि उस पहाड़पर वस्तुतः कुछ नहीं था बर्फके सिवाय। इस संशयमें अंदरसे एक आवाज आयी। कौनसी आवाज? गीताका श्लोक—"दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।" अर्जुनको थोड़ी देरके लिये दिव्यचक्षु मिली और विश्वरूपदर्शन हुआ। स्थानका प्रभाव। वहां ध्यान करनेसे एक छोटीसी दिव्यचक्षु मिली। नारदजी गौरीशिखरपर बैठे तो कामविजयी तृतीयचक्षु आयी। स्थानका प्रभाव है। हमने निष्कर्ष निकाला कि दो महीने तक चढ़ते-चढ़ते जो चरम लक्ष्यपर

पहुंचे उसकी खुशीमें दिव्यभावना मनमें आयी जिससे कैलासका दिव्यदर्शन हुआ। वह सूक्ष्म तत्त्व था। स्थूल नहीं। सारांश यह है कि बाह्य कैलास प्रतीक है। दिव्य कैलास भावगम्य है। बाह्य चन्द्रमा प्रतीक है। ज्योतिष्टोमादिकर्मप्रयुक्त अम्मय शरीर, दिव्यदृष्टिसे अनुभाव्य चन्द्र दिव्य स्वर्गरूप है।

और थोड़ा हम आगे बढ़े। सोनेके बाद सपना देखते हैं। अनेक प्रकारके सपने देखते हैं। "जाग्रदवस्थायां यद्दृष्टं यच्छ्रुतं तज्जनितवासनया" केवल इतना ही नहीं कभी दृष्टमदृष्टं, श्रुतमश्रुतं, मतममतं च पश्यति।

यह सब दृश्य सत्य है या मिथ्या? स्पष्ट है मिथ्या है। बल्कि जाग्रज्जगतको मिथ्या सिद्ध करनके लिये स्वप्नदृष्टान्त ही देते हैं। यथा स्वप्नस्तथैव सः। सपनेमें लाख रूपयेके नोटका बंडल हाथ लगा। वह सत्य है या मिथ्या? इस विषयमें संशय है ही नहीं। सत्य होता तो ऐसे दो-चार बार सपनेसे ही लखपति, करोड़पति बन जाते। अच्छा। आगे प्रश्न है कि सपनेमें भगवान् दिखाई पड़े। "स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा" सूत्रके भाष्यपर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं "रजतगिरिमध्यमध्यासीनां मृणालधवलो माहेश्वरीं तनुं" इत्यादि।

या किसी वैष्णवको दर्शन हुआ "कदम्बतरुलग्नां वंशीवादनपरां कैशवीं शैशवीं तनुम्"

यह भगवत्दर्शन मिथ्या है कि सत्य? यह सत्य है। नोटोंका बंडल मिथ्या और भगवन्मूर्ति सत्य ऐसा क्यों? नोट वहां नहीं थे। भगवान् व्यापक होनेसे वहां हैं। कहीं-कहीं बीच की भी स्थिति है।

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥"

काम्यकर्मके बाद स्वप्नमें स्त्रीदर्शन हो तो समझना बड़ी समृद्धि होगी। परन्तु सपनेमें सचमुच स्त्री कहां है ? यह सूचक है। अर्थात् सपना त्रिविध हुआ। मिथ्या, अर्धसत्य और सत्य। नोटका बंडल मिथ्या था। काम्यकर्मके बाद होनेवाला स्त्रीदर्शन सूचकांशमें सत्य, अन्यांशमें मिथ्या होनेसे अर्ध-सत्य और भगवद्दर्शन सत्य। सत्य माने व्यावहारिक सत्य। पारमार्थिक सत्य तो "अविकल्पविषय एकः" वाला ही तत्त्व है। परन्तु यह दृश्य

इसप्रकार क्यों दीखता है? वह स्मरण नहीं है। दर्शन है। कारण यही कि जब तक शरीरतादात्म्याध्यास रहेगा तबतक स्मरण होगा। उसके छूटते ही दर्शन होगा। स्मरण तो अपने अधीन है। स्वप्नदर्शन कर्माधीन है। स्वर्गका स्मरण करनेमें आप स्वतन्त्र हैं। किन्तु सपना आपकी इच्छासे नहीं आयेगा। भूत पकड़ने आया या बाघ खाने आया, मैं भाग रहा हूं ऐसा सपना आप चाहते हैं क्या? फिर भी आता है कि नहीं? आता है। दिव्य स्वर्ग, अप्सरा आदिका दर्शन या ईश्वरादिका दर्शन सपनेमें चाहते हैं कि नहीं? किन्तु ऐसा दर्शन नहीं होता। कारण? वही कर्मपरम्परा। शरीर-तादात्म्यनिवृत्तिके बाद कर्मानुसार वासनासे वस्तुदर्शन होता है वह मिथ्या, अर्धसत्य और सत्य ऐसा त्रिविध है यह निष्कर्ष हुआ।

अब मरणको लीजिये। मरणमें भी शरीरतादात्म्याध्यास सर्वथा मिट जाता है। अब कर्म एवं वासनानुसार कुछ दीखेगा जरूर। विशेषता इतनी है कि स्वप्न दो चार घंटे का था। यह वर्षोंतकका है। इसमें ज्योतिष्टोमादि कर्मसे प्रयुक्त जो दर्शन है वह स्वर्ग है। हिंसादिकर्मप्रयुक्त जो दर्शन है वह नरक है। सिर्फ प्रश्न इतना ही है कि वह मिथ्या है या सत्य? इतनेके लिये शास्त्र है। शास्त्र कहता है जैसे सपनेमें भी सत्यार्थ दीखता है वैसे मरणोत्तर भी सत्यार्थ दीखता है। सत्य माने व्यावहारिक सत्य। फलतः स्वर्गनरक सत्य है। वह दिव्य है। सूक्ष्म है। उसका फोटो नहीं आयेगा। आपने सपनेमें श्रीकृष्णदर्शन किया तो क्या फोटो लेनेपर श्रीकृष्ण फोटोमें आयेगा? सोनेका कमरा आदि फोटोमें आयेंगे, श्रीकृष्ण नहीं। वैसे चन्द्र, मंगल आदि फोटोमें आयेंगे स्वर्गादि नहीं।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति। पुण्यसंपादित जो स्वर्गलोक है उसमें किसी प्रकारका भय नहीं होता। यह सामान्यतः सर्वभयनिरासार्थ बताया। चौरभय, शत्रुभय आदि वहां नहीं है। परन्तु स्वर्गलोकपर हिरण्यकशिपुने चढ़ाई की। देवताओंको भगाया। वे हिमालयमें भटकने लगे इत्यादि कथा आती है। अतः सर्वथा निर्भयता किस प्रकार? ऐसा प्रश्न उठता है। इसका समाधान कुछ विद्वान् यह देते हैं कि देव दो प्रकारके होते हैं। एक कर्मज देव हैं। दूसरे आजानज देव हैं। कर्मफलरूप जो देव हैं उनका शरीर सूक्ष्म होता है। वे स्वेच्छासे स्थूलाकार धारण कर सकते हैं यह अलग बात है।

जैसे ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं कि अमुकने अपने मृत पिताको देखा। भाईको देखा इत्यादि। प्रेतात्मादर्शन प्रसिद्ध है। हमारा एक भक्त था। उसका लड़का मर गया तो कई दिन तक रातको खटियाके पास खड़े उसको देखते रहे। फिर चण्डीपाठ आदि करने-करानेसे गायब हो गया। प्रकृत ग्रन्थमें भी नचिकेताको यही तो भय था कि मैं वापिस जाऊंगा तो मुझे प्रेत न समझ लें। पहाड़की कथा है कि महामारीसे पूरा गांव समाप्त हो गया। उसका रिश्तेदार पता लगाने वहां पहुंचा तो सूर्यास्त हो गया था। और ज्योंका त्यों गांव दिखाई पड़ा था। अपने रिश्तेदारोंसे भी वह मिला था। तात्पर्य यह कि मरणके बाद स्वेच्छासे प्रकटरूप दिखा सकते हैं। किन्तु वह दिखानेमात्रके लिये होता है। उससे खाना-पीना संभव नहीं है। हां, किसीको मारना हो तो संभव है।

आजानज देवोंका स्थूल शरीर होता है। जन्मतः वे देव हैं। उनके मातापिता कौन? क्या स्वर्गमें शादी-विवाह होता है? पुत्रोत्पादन होता है? होता है। वस्तुतः देवता कश्यपसे अदिति पैदा हुए थे। जन्मसे वे देव थे। इन्द्रकी पत्नी शची प्रसिद्ध है। पुत्र जयन्त भी प्रसिद्ध है। बृहस्पति भी देवगुरु देवता ही थे। उनका पुत्र कच प्रसिद्ध है। देवयानीने जिसको श्राप दिया था। वे भी अपने स्वेच्छारूपको धारण कर सकते थे यह अलग बात है। ये देव कर्माधिकारी भी प्रतीत होते हैं। तभी तो ब्रह्महत्या की निवृत्ति के लिये ऋषियोंने इन्द्रसे अश्वमेध कराया था। अतएव इनको शत्रुभयादि भी उचित है। हिरण्याक्ष आदिने इन्हीं आजानज देवोंपर आक्रमण किया था और स्वर्गच्युत किया था। किन्तु प्रश्न होगा कि ऐसी स्थितिमें ये मनुष्यविशेष ही हुए। देवता क्यों? कारण यही है कि यद्यपि मनुष्यसमान हैं किन्तु आभूतसंप्लवस्थायी हैं। इनके जरा-मरण नहीं होते। इनका नाम त्रिदश है। इनकी तीन ही दशाएं होती हैं। कौन-कौन-सी? बाल्य, कौमार और यौवन। इनको वार्धक्य नहीं होता। इसके विपरीत कर्मज देवोंको कोई दशा नहीं होती। न जन्म होता है। वे अपने कर्मानुसार तथा संकल्पानुसार संपरिष्वञ्जकभूतजनित शरीरसे भोग प्राप्त करते हैं। रहते हैं उन्हीं देवलोकोंमें किन्तु उनके ऊपर असुरादिका आक्रमण नहीं होता। किन्तु वे इसी देवलोकमें जाते हैं इसमें क्या प्रमाण? यही प्रमाण कि त्रिशंकुको

कर्मके फलरूपमें स्वर्ग भेजा तो इन्द्रने वहांसे उसे ढकेला था। मर्त्य मानव शतक्रतु सौ यज्ञ करके स्वर्गको अपनेसे छीन लेगा ऐसा भय इन्द्रको रहता है और वह यज्ञमें बाधा पहुंचाता है। जैसे राजा सगरने राजा पृथुआदिके यज्ञमें बाधा पहुंचाई थी। अतः यही निष्कर्ष है कि सत्कर्मपूर्वक मरण पानेवाला प्रसिद्ध स्वर्गमें जाता है। वहां कर्मीय श्रद्धारूप अप्से निर्मल शरीर पाता है और स्वर्गलोगमें अन्य देववत् भोग पाता है। किन्तु असुर राक्षसादिसे अनभिभूत रहता है। अतएव "स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति" यह वचन कर्मज देवों पर पूर्णतया लागू होता है।

न तत्र त्वं। यह विशेष भयाभावका निर्देश है। यह सर्वसामान्यरूपेण कथन हैं। 'वहां आप नहीं' अर्थात् मृत्यु नहीं होती। आजानज देव तथा कर्मज देव दोनोंकी मृत्यु नहीं होती। क्योंकि इन्द्रादिदेव यावन्मन्वन्तर-स्थायी हैं—मन्वन्तरतक रहनेवाले हैं। उसके बाद इन्द्रादि देव बदल जाते हैं। इन्द्रादि आधिकारिक माने जाते हैं। अपने अधिकारकालपर्यन्त वे स्वर्गमें रहते हैं। अधिकारानुरूप उनका कर्तव्य होता है। किन्तु कर्मज देव आधिकारिक नहीं होते। उनका कोई कर्तव्य नहीं रहता और ये देव आभूतसंप्लवस्थायी भी हो सकते हैं। इन्द्रके बदलनेपर भी वहां ये रह सकते हैं। इन्द्रादि यदि तत्त्वज्ञानी हो गये तो मुक्त होंगे। अन्यथा भूपतन-पृथिवीपर पतन होगा। उनको तत्त्वज्ञान पानेका अवसर है। जैसे वर्तमान इन्द्रने प्रजापतिके पास जाकर तत्त्वज्ञान पाया था। कर्मजदेवोंके लिये इस स्वर्गलोकमें तत्त्वज्ञानके लिये कोई गुंजाइश नहीं है। वे तो "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति"। के विषय होते हैं। अतएव पुण्यके अनुसार अधिककाल स्थायी या अल्पकालस्थायी भी हो सकते हैं। केवल ब्रह्मलोक जानेवालोंको ज्ञानोत्पत्तिकी संभावना है। सो भी पूर्वकृत वेदान्तश्रवणोत्पन्न ज्ञानसे प्रतिबन्धककी निवृत्ति होनेपर साक्षात्कारात्मक होगा।

न जरया बिभेति। जराभयका अभाव भी सर्वदेव साधारण है। स्वर्गमें ऐसा नहीं है जैसे भूलोकमें धीरे-धीरे बुढ़ापा आता है तो सूचना मिलती है कि जानेका समय आ रहा है।

'कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले समागत्य वक्तीति लोकाः शृणुध्वम् ।'

वहां वृतान्त नहीं और कृतान्तदूती भी नहीं। बड़ा धोखा है। पुण्यकर्म समाप्त होते ही एकाएक ढकेल दिया जाता है। तभी पता लगता है कि गया मैं। मनुष्यके लिये कई घंटियां बजतीं हैं चेतनेके लिये। पहले बाल सफेद होने लगे तो यह प्रथम घंटी है। फिर दांत चलने लगे तो तीसरी घंटी हुई। झुर्रियां पड़ने लगीं यह चौथी घंटी हुई। रोग का आक्रमण होने लगा, उठ बैठ नहीं सकते इत्यादि घंटी पर घंटी बजने लगी है। फिर भी न चेते यह अलग बात है। यहां धोखा नहीं है। स्वर्गमें धोखा। हां, ब्रह्मलोक गये हुए के लिये बात थोड़ी अलग होगी।

उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे। स्थूल शरीरके दोष जरामरण वहां नहीं हैं। सूक्ष्मप्राणगत भूख प्यासकी परेशानी भी वहां नहीं है। भूखप्यास न लगती हो तो वह बिमारी मानी जायगी कि नहीं? भूलोकमें भूखप्यास न लगे तो दवा खाते हैं। लवणभास्कर चूर्ण खाते हैं। बिना भूखप्यास भोगसुख क्या होगा? उत्तर है भूखप्याससे परेशानी नहीं होती इतनेमें तात्पर्य है। वहां पीनेके लिये अमृत प्राप्त होता है। वह तृष्णा तो है ही। कल्पवृक्षका फल खानेको मिलता है। या फिर यज्ञादिमें दिये हुए या श्राद्धमें दिये हुए भोग उन्हें प्राप्त होते हैं। "न तत्राशनायापिपासे" ऐसा न कहकर "उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे कहा। भोग लगानेपर भगवान् स्वयं खाते हैं तो देवताओंको भी खानेपीनेमें क्या आपत्ति है? तात्पर्य यही कि खानेपीनेका आनन्द उनको रहेगा। उसके अभावको लेकर क्लेश नहीं होगा।

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके। जरामरण स्थूल शरीरके हैं। भूखप्यास सूक्ष्म प्राणके हैं। शोकादि सूक्ष्मतम अन्तःकरणके धर्म हैं। शोकपदसे मोह भी ग्राह्य है। तब षडूर्मिवर्जित छः ऊर्मियोंसे रहित ऐसा सीधा अर्थ निकल आता है। शोक तो दूसरेके मरण या वियोग आदिसे होता है। स्वर्गमें ये बातें नहीं हैं।

"संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति"

संकल्प जिस किसीका करो वही तुरत उपस्थित होता है तो वियोग क्या हो? मरणकी तो बात ही नहीं है। इच्छित वस्तुकी अप्राप्तिसे भी शोक हो सकता है। किन्तु—

"अभिलाषोपनीतं च"

ऐसा स्वर्गका लक्षण है। जो चाहा, तुरत उपस्थित होगा। इसीलिये तो स्वर्गमें कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि आदि हैं। कल्पित विषयोंको देनेवाला कल्पवृक्ष है। कामित-इच्छित विषयको देनेवाली कामधेनु है। चिन्तित अर्थ को उपस्थित करनेवाला चिन्तामणि है। अतः वहां शोक नहीं होता।

शोकका साथी मोह है। उसका यहां निराकरण नहीं किया। क्यों नहीं किया? कुछ लोग उपलक्षणसे उसका भी निराकरण मानते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि एक ब्रह्मलोकको छोड़कर अन्यत्र मोहका अतिक्रमण हो यह बात नहीं घटती। अहं मम भावरूपी या अज्ञानरूपी मोह स्वर्गादिलोकमें है। इसीलिये तो बादमें पतन होता है। फलतः संसारबीज नष्ट नहीं हो पाता। कुछ द्वैतवादी व्याख्याता इस स्वर्गको मोक्षरूप मानते हैं। परन्तु वे भूलमें हैं। ऐसा हो तो तृतीय वरदानकी आवश्यकता नहीं थी। यहां अनुक्त मोहनिवृत्तिके लिये ही तृतीय वरदानकी प्राप्ति है। उन द्वैतवादियोंका कहना है—'य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः इत्यादि पूर्ण आत्मस्वरूपका यहां वर्णन है। है ठीक। किन्तु 'सोषन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' से बोधित ज्ञान एवं अज्ञाननिवृत्ति यहां कथित नहीं है। 'प्रब्रूहि' से उस आत्माकी जिज्ञासा मानते हैं और अग्निविद्याकथनमात्रसे अज्ञाननिवृत्ति मानेंगे तो यही आत्मा तथा आत्मज्ञान हुआ—य आत्मा अपहतपाप्मा। तब उत्तर आत्मोपदेश सर्वथा निरर्थक होगा। अतः यहां का स्वर्ग, अमृतत्व आदि प्रसिद्ध स्वर्ग एवं आभूतसंप्लवस्थायी अमृतत्व ही है इसमें संशयका लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। अतः 'शोकातिगः' का श्रुतार्थमात्र (अन्तःकरणके धर्म) परिग्राह्य है।

मोदते स्वर्गलोके। क्या बला है यह स्वर्गलोक? स्वर्ग्य अग्नि बताया। वहां जरा-मरण भयादिराहित्य बताया। किन्तु शून्यावस्था ही स्वर्ग है क्या? यद्यपि स्वर्गको सबलोग भावरूप ही समझते हैं किन्तु उसका स्पष्ट रूप श्रुतिमें उक्त हो तभी माना जाएगा। अतः यह उसका वर्णन है—

'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥'

जैसे कंटकयुक्त पुष्प, कंकड़युक्त भात आदि होते हैं वैसे स्वर्गसुख दुःखमिश्रित नहीं होता। न दुःखेन संभिन्नम्। अन्य भोगोंकि बाद रोगादिसे ग्रस्त होते हैं।

'श्मशाने मैथुनान्ते च या मतिर्जायते नृणाम्।
सा सदा यदि वर्तेत को न मुच्येत संकटात्॥'

श्मशानमें चिरपरिचितका दाह देखते हैं तो सारा जगत् क्षणभंगुर दीखने लगता है। स्त्रीपुरुष भोगोत्तर जो विलक्षण ग्लानि कुछ क्षणोंके लिये होती है वह सर्वदा रहे तो कौन संकटमुक्त नहीं होगा? ये समस्त भोग अनन्तरदुःखग्रस्त-बादमें दुःखसे ग्रस्त होनेवाले हैं। स्वर्गमें ये दोनों बातें नहीं हैं। और वह सुख अभिलाषोपनीत है। अतएव स्वर्ग जानेवाला 'मोदते' मौज करता है। मुदित रहता है। उसे निरन्तर आनन्दभाव होता है।

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वँ-श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण॥ १३॥

स्वर्गसाधन अग्निकी याद आपको है सो श्रद्धालु मुझे बताने की कृपा करें। क्योंकि स्वर्ग लोक जाने वाले अमृतत्व प्राप्त करेंगे। यही दूसरे वरसे मैं चाहता हूँ॥ १३॥

स त्वमिग्नं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो।

पूर्वमन्त्र में स्वर्गलोक का स्वरूपवर्णन किया। यह हम बता चुके कि नचिकेता प्रथम पितृकल्याणार्थ वरदान मांगने के बाद यह लोक-कल्याणार्थ वरदान मांग रहे हैं। 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त' इस बहुवचनप्रयोगसे भी यही बात साबित होती है। यहां 'सः' से पितृ-कल्याणार्थ वरदान देनेवाले परोपकारी यह अर्थ समझना चाहिये। पूर्व मन्त्रमें 'न तत्र त्वं' से स्वर्ग में आप-मृत्यु नहीं रहते यह बताया। तब कैसे स्वर्गसाधन अग्निका ज्ञान होगा इस शंका के समाधान रूप भी यह श्लोक हो सकता है। तथाभूतोऽपि स त्वं स्वर्ग्यमग्निमध्येष्येति न तत्कथने काठिन्यम्—स्वर्ग में न रहते हुये भी आपको स्वर्ग साधन अग्नि की याद है, अतः उसको बताने में कठिनाई नहीं होगी, ऐसी योजना होगी। सः सर्वज्ञत्वेन प्रसिद्धः, आप सर्वज्ञ हैं यह प्रसिद्ध है, यह भी अर्थ हो

सकता है। अध्येषिका स्मरण अर्थ होता है। इक् स्मरणे । यमराज यद्यपि इस समय यज्ञादि कर्म नहीं करते। क्योंकि यमलोक·कर्मलोक नहीं। दूसरी बात आधिकारिक पुरुषों को अधिकारातिरिक्त कर्म की आवश्यकता नहीं होती। और वस्तुतः यमराज तत्त्ववेत्ता होने से उनको कर्म की आवश्यकता वैसी भी नहीं है। फिर भी पूर्व में कर्म उपासना आदि जो किया है उसीका फल याम्यपद है। उसका स्मरण तो संप्रति भी होना चाहिये । 'ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निः' इस अग्रिम प्रसंगसे भी यह बात सिद्ध होती है। अतः स्मरसि कहना समुचित है। तथापि 'जानासि' मात्रसे गतार्थ होनेसे भाष्य में तात्पर्यार्थ वही बताया।

अग्निं स्वर्ग्यम्। अग्निको बताना है कि अग्निमें जो यज्ञादि किया जाता है उसे बताना है? या दोनों बताना है? यद्यपि चूल्हे में जो अग्नि जलती है, जंगलमें जो अग्नि जलती है वह प्रत्यक्षसिद्ध है। उसे बताने की कोई जरूरत नहीं है। तथापि अग्निचयनविधि से सिद्ध अग्निको बताना आवश्यक है। और वही यहाँ अग्नि शब्दका अर्थ है। अग्निसाध्य यज्ञादि भी नहीं, अन्य अग्नि भी नहीं।

वेदों में अग्निकी बड़ी महिमा गायी है। ऋग्वेद सबमें प्राचीन है। यद्यपि सभी वेद अनादि हैं तथापि जैसे मन्त्रक्रम है वैसे वेदक्रम भी है। प्रथम ऋग्वेदका ही नाम लिया जाता है। ऋग्वेद में प्रथम मन्त्र है–

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम्" ॥

अग्निका अर्थ महर्षि यास्कने किया है–अग्रणीत्वादङ्गनीत्वाद्वा अग्निः। आगे ले जानेवाला है इसलिये अग्नि है और अंगों को प्राप्त करानेवाला है। आगे प्रकाश होना चाहिये तभी तो मनुष्य आगे जायेगा, आगे बढ़ेगा। इसीलिये विशेषण है–पुरोहितम्। इसका अर्थ पौरोहित्य नहीं, किन्तु पुरः=आगे हितं=धारित है। वह यज्ञस्य देवं यज्ञस्य ऋत्विजम्=यज्ञका वही देव, प्रकाशक है। देवपूजा आदिमें भी वह देव है। क्योंकि पूजाके लिये सर्वप्रथम बत्ती चाहिये। बत्तीके अभावमें देवावास नहीं, भूतावास हो जाता है। मंदिरमें बत्ती सर्वप्रथम आवश्यक है। अतः यज्ञका मुख्यदेव अग्नि है। ऋत्विक् यज्ञकर्ताको कहते हैं। मनुष्य तो अग्निमें हविष्य डालेगा और अग्नि

देवताओं में। जैसे भोजन प्रथम मुंहमें डालते है। मुंह पेटमें डालता है। इसीलियें 'अग्निमुखा हि देवा' बताया। होतार-हवन करनेवाला जो भी हो वह अग्नि है। रत्नधातमम्-रत्न रति आनन्दको कहते हैं। उसे सम्पन्न करनेवाला भी अग्नि ही है।

'एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति' ।

अग्नि द्वारा आहुत आहुति ही सूर्य की रश्मियोंके द्वारा यजमानको स्वर्ग पहुँचाती है। इस प्रकार वह अग्रणी है और अङ्गप्रापक भी है। देवताओं को सर्वाङ्ग प्राप्त करनेवाला अग्नि है।

स्वर्ग्यः। यह अग्नि स्वर्ग्य अर्थात् स्वर्गसाधक है। स्वर्गः प्रयोजनं यस्य=स्वर्ग है प्रयोजन जिसका इस अर्थमें "स्वार्गादिभ्यो यद्वक्तव्यः" स्वर्ग पदसे यत् प्रत्यय होता है। स्वर्गे साधुः स्वर्ग्यः इत्यादि विग्रह है। कैसे स्वर्ग्य है? कर्मद्वारा और उपासनाद्वारा। केवल कर्मसे पितृलोकरूपी स्वर्ग मिलेगा। केवल उपासनासे देवलोकरूपी स्वर्ग मिलेगा। और उभयसमुच्चयसे ब्रह्मलोकरूपी स्वर्ग मिलेगा। अर्थात् तीन प्रकारका स्वर्ग हुआ। पितृलोक, देवलोक तथा ब्रह्मलोक । मानवमात्रको इसकेलिये प्रयत्न करते रहना चाहिये। जीवनभर कर्म करो, जीवनभर उपासना करो। संभव हो तो दोनों करो। अन्यथा जीवन ही व्यर्थ है। प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः। इस कर्मभूमि मानवशरीर में आकर तप न करना यह मन्दभाग्य ही कहा जायेगा। विषयोंके पीछे पड़े रहनेवालोंके लिये बताया है–

"स्थाल्यां वैडूर्यमय्यां पचति तिलकणांश्चन्दनैरिन्धनाद्यैः
सौवर्णर्लाङ्गलाद्यैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः।
कृत्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः॥

सुवर्णपात्र जिसपर पन्ना-वैदूर्य आदि रत्न जड़े हुए थे, छोकरेने सोचा बापदादाओंने यह व्यर्थ रख छोड़ा है इसका उपयोग करना चाहिये तो उसमें तिल भूनकर लड्डू बनांनें लगा। किसी भले आदमीने कहा यह मूर्खता करते हो। उसने कहा यही इसका सदुपयोग है। वैसे ही मानवशरीररूपी यह सुवर्णपात्र है जिसमें श्रोत्रादि रत्न जड़े हैं। उसका

विषयोपभोग मात्रके लिये उपयोग करते हैं। वैद्यजी राजमहलमें जाते थे। वहां एक हल सुवर्णका पड़ा था। राजवैद्यजीने सोचा कि आकड़के पेड़की जड़ निकालने के काम में यह आयेगा। वह असल में अश्वमेध यज्ञ में भूमिको खोदने के लिये बनाया गया था। जैसे राजा जनकने जमीन खोदी तो सीता निकल आयी थी। किन्तु वैद्यराजकी दृष्टि तो आकड़के मूलतक ही जा सकती थी। एक किसान था, कोदो बोया था। अंकुर आया तो पशु उसे खाने लगे तो उसने उसे बचानेका उपाय सोचा। कपूरके पेड़ उसके पास थे। उसने उन्हें काटकर वाड लगाया। वैदूर्यमणि जिसमें जड़े हुए हैं ऐसे सुवर्णपात्र में तिल भूननेवालेको, चन्दनको उसे भूननेका इन्धन बनानेवालोको, सुवर्णके हलसे आकड़की जड़ खोदनेवालेको, कपूरका पेड़ काटकर कोदोंकी वाड़ बनानेवालेको क्या कहा जायेगा? मूढ ही नहीं, विमूढ। यदि यह बात सत्य है तो ये जितने भी अपनेको बुद्धिमान समझनेवाले विषयानुरागी हैं ये वैसे विमूढ ही हैं। इन्होंने वैडूर्यजड़ित सुवर्णपात्र रूपी मानवशरीरसे तिल भूना। दूर्लभ आयुरूपी चन्दन लकड़ी को जलाकर खतम किया। सुवर्णके हलके समान बुद्धिको चिरजीवन-औषधि ढूंढनेमें लगाया। कपूर की उपमावाली इन्द्रियोंको विषयरक्षणकें लिये लगाया। यह मानवशरीर कर्मभूमि है। अग्निचयनादि सत्कर्मके लिये हैं।

अग्नि वैश्वानरको भी कहते हैं। वैश्वानरसे जठरानल ही मत समझो। यहां वैश्वानरसे विराट् विवक्षित है। आगे भाष्यकारने इसका स्पष्ट निर्देश किया है। चिताग्निमें वैश्वानरभावना कर उपासना करो या स्वतन्त्र वैश्वानर उपासना करो। विराट् कौन है इष्टदेव ही है। उसी परमात्मा के रामकृष्णादि सभी विविध राजमान प्रकाशमान रूप हैं। यह जगत् भी परमात्माका ही स्वरूप है।

"अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।"

कर्मरहित उपासनासे देवलोक प्राप्त होगा। कर्मसहित होने पर ब्रह्म-लोक। ब्रह्मलोकका अर्थ इष्टदेवका लोक ही है। उसमें जानेवाले भी दो प्रकारके हैं। कर्म एवं उपासना ही किये हों तो वे वापिस आयेंगे।

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन "।

किन्तु कर्म एवं उपासना करते हुए वेदान्तश्रवण भी करते हों तो ब्रह्मलोकसे ही वे मुक्त होंगे। उनका पुनरावर्तन नहीं होगा।

"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥"

वेदान्तश्रवण पूरे जीवनभर किया किन्तु प्रतिबन्धके कारण साक्षात्कार न हुआ तो ब्रह्मलोक में जाकर साक्षात्कार करेंगे। किन्तु कर्म, उपासना दोनों हो और वेदान्तश्रवण न किया तो वह वापिस आयेगा। अतः तीनों तब तक करते रहना चाहिये जब तक साक्षात्कार न हो। जीवनभर कर्म करो, उपासना करो और वेदान्त श्रवण भी करो। तत्त्वसाक्षात्कार होनेपर कर्मत्याग हो सकता है। किन्तु लोकसंग्रहार्थ फिर भी करते रहना उत्तम है। कर्तृत्वभोक्तृत्वभावका बाध ही वस्तुतः कर्मत्याग है।

प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्। प्रब्रूहिका अर्थ है प्रवचन करो। "ब्रुवो वाचिः"। प्रवचनका अर्थ है बातको विस्तारकर समझाकर करना। उसके लिये आवश्यक जो योग्यता है उसे आधिकारिकविशेषणरूप से कहते हैं-श्रद्दधानाय। श्रद्धाके विना कर्म, उपासना एवं ब्रह्मका श्रवण वृथा है। जैसे गुरुमुखसे अधीत विद्या ही कर्मादिका अंग है वैसे श्रद्धासे अधीत विद्या कर्मका अंग है।

"श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसावेदयामसि ॥"

अग्निका प्रदीपन श्रद्धासे होता है।

"यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाऽऽज्यभागावन्तरेण आहुतीः प्रतिपादयेत् ॥"

ऐसा मुण्डकमें बताया। इद्ध हुए विना, जले विना ज्वालायें निकलेंगी कैसे? अतः श्रद्धापूर्वक प्रदीपन ही समिन्धन है। अग्नि जलाते समय उसे परमात्मा या देवमुख समझिये। मंदिरमें बत्ती जलाते समय उसे भगवानूका मस्तक समझिये।

"अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ"

अग्नि मूर्धा है और सूर्य और चन्द्र आंखें हैं ऐसा बताया है। श्रद्धा होनेपर संभव है। हविका आह्वान श्रद्धा से होगा। जब श्रद्धापूर्ण नहीं होगी

तब हविका क्षेपणमात्र होगा। पूजाकालमें भोग लगाते समय समझना चाहिये भगवान् ग्रहण करते हैं। क्या ग्रहण करते हैं? प्रत्यक्षतः तो कुछ ग्रहण नहीं करते तो लोग जैसी-तैसी वस्तु भोग लगाते हैं। इलायचीदाना या और कुछ। भगवान् भोग का सूक्ष्मांश ग्रहण करते हैं। सूक्ष्मांश वैसे भी निकलता रहता है। भगवत्समर्पणसे वह भगवानके द्वारा गृहीत होता है। और उससे भी अधिक सूक्ष्मांशको भगवान् आधान करते हैं। परंतु यह सब श्रद्धा हो तभी संभव है। भगस्य-भगवानके, मूर्धनि-मस्तकमें श्रद्धाको सुंमनरूपमें, वचसा-वचनके साथ, आवेदयामसि-हम आवदेन करते हैं। श्रद्धयाऽर्पयामि, श्रद्दधानाय मह्यं ब्रूहि इत्यादि वचनोंके साथ श्रद्धा- सुमन समर्पण करो। इसलिये यहां श्रद्दधानाय यह शब्दप्रयोग है। दूसरी बात यह वचन लोकसंग्रहके लिये भी है। श्रद्धाका अंगत्वबोधक भी है।

"श्रद्धावॉंल्लभते ज्ञानं"

"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते"

श्रद्धावान्को ही ज्ञान प्राप्त होता है। श्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ किया है वह सब असत कहा जाता है इत्यादि अनेक वचनोंमें श्रद्धाकी परम आवश्यकता बतायी गयी है। श्रद्धासे बैठो, श्रवण करो। श्रद्धालु हो तभी आचार्यको बोलना चाहिये।

'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते'। स्वर्गो लोको येषां ते, स्वर्गं लोकन्ते ये तो वा। जो स्वर्गलोकमें पहुंच गये हैं वे अमृतत्वके भागी होते हैं। इसमें थोड़ा फर्क यह होगा कि केवल कर्मसे पितृलोकरूपी स्वर्गमें और उपासनासे देवलोकरूपी स्वर्गमें जो जाते हैं उनका अमृतत्व आपेक्षिक है।

'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते'

भूतप्रलयतक रहना ही अमृतत्व है। समुच्चयकारी ब्रह्मलोकमें जाते हैं। उनका भी प्रायः आपेक्षिक अमृतत्व है।

'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'

इस मन्त्रमें बताया है कि वे इस मानवसंसारमें नहीं आते। कल्पान्तरमें तो मानवसंसारमें आयेंगे। परन्तु वेदान्तश्रवण भी साथ-साथ अप्रमादपूर्वक करते रहें तो वास्तविक अमृतत्वकी ही प्राप्ति हो जायेगी ॥ १३ ॥

प्र तें ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

हे नचिकेता! स्वर्ग्य अग्निको सम्यक् जानता हुआ मैं तुम्हें बताता हूँ, उसे तुम ठीक तरहसे समझो। यह अनन्तलोककी प्राप्तिका साधन है। स्थिर रूप है। तुम इसे अत्यन्त गुह्य समझ लो॥

सभी लोकोंके कल्याणके लिये नचिकेताने स्वर्गसाधन अग्निके बारेमें यमराजसे पूछा था। उसका उत्तर देनेके लिये जोरदार उपक्रम यहां किया जा रहा है। विशिष्ट विवरण यहां नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें एक पूरे प्रपाठकमें उसका विवरण है। तब यहां इतना जोरदार उपक्रम क्यों किया जा रहा है? इसलिये कि यह अग्रिम ब्रह्मविद्याके लिये उपयोगी कुछ तत्त्वोंके लिये समान है। अतः यहां उपक्रमकी विशेषता नहीं है। उसमें आये हुए कुछ नियमोंकी विशेषता बतानेके लिये वैसा उपक्रम मात्र है।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्। प्रब्रवीमि का अर्थ पूर्ववत् ही-'प्रवचनात्मक उत्तर देता हूँ'-है। तदु मे निबोध का अर्थ है मुझसे अच्छी तरह समझो। स्वयंके लिये यमराज विशेषण देते हैं– स्वर्ग्यमग्निं प्रजानन्। पूर्वोक्त अग्निकी प्रज्ञा–प्रकृष्ट ज्ञान मैं रखता हूँ। यमराज बोल ही रहे थे। तब पुनः 'प्रब्रवीमि' कहनेकी क्या जरूरत? संवाद चल ही रहा था। समझनेके लिये नचिकेता बैठे ही थे। तब 'तदु मे निबोध' कहने की क्या आवश्यकता थी? स्वर्ग्य अग्निको मैं जानता हूँ यह बोलनेकी क्या जरूरत थी? क्या नचिकेताको संशय था कि ये जानते हैं कि नहीं या विपर्यास था कि ये जानते नहीं हैं जिसकी निवृत्तिके लिये यह कहना पड़ा। बल्कि नचिकेताने स्वयमेव कहा था-'स त्वमग्निं स्वर्ग्य-मध्येषि'। ऐसी स्थितिमें पूर्वार्ध निष्प्रयोजनसा निरर्थक लगता है। परंतु सनातन सिद्धान्त यह है कि पूर्वार्ध क्या, वाक्य या पद ही क्या, एक अक्षर भी वेदोंमें व्यर्थ नहीं है। अतः पूरा पूर्वार्ध किसी विधि या किसी निषेधको बतलानेके लिये है।

प्रजानन् प्रब्रवीमि ऐसा प्रथम अन्वय है। उसका तात्पर्य है–प्रजानतैव प्रवक्तव्यम् । प्रवचन उसीको करना चाहिये जो उस विषयमें प्रकृष्ट ज्ञान रखता हो। यह प्रवक्ताके लिये परिसंख्याविधि है या नियमविधि है। ऐसे

कोई पूछे कोई उत्तर दे यह अलग बात है। किन्तु विधिवत् प्रवचन करते हैं तो प्रज्ञा रखनी ही होगी। तदु मे निबोध ऐसा द्वितीय अन्वय है। तत्= प्रोच्यमानं मे प्रजानतो मत्तः निबोध ऐसी योजना है। अर्थात् उस प्रज्ञावान् मुझ यमसे सम्यक् जानो। यह शिष्यके लिये परिसंख्या या नियमविधि है। प्रज्ञावानसे ही श्रवण कर जानो। मैं अगर गलत करता हूं तो यह बतलानेवाली की गलती है कहकर छुटकारा पानेकी कोशिश मत करो। यहांकि इन दोनों विधियोंके अनुरूप अन्य श्रुति-स्मृतियां प्रवृत्त है। गीतामें भगवान् कहते हैं।

'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'

वह ज्ञान तुम्हें ज्ञानी तत्त्वदर्शी महात्मा उपदेशसे बतायेंगे। ज्ञानी तत्त्वदर्शी महात्मा बतायेंगे इस भविष्यप्रयोगमें शंका होगी कि आप स्वयं क्या कर रहे हैं? उपदेश नहीं कर रहे हैं? यदि कर रहे हैं तो करेंगे सो भी प्रथम पुरुष-अन्य पुरुष ज्ञानी कोई इसका तात्पर्य क्या? तात्पर्य यही कि ज्ञानी तत्त्वदर्शी ही उपदेश करनेके अधिकारी हैं। अन्य नहीं। मुण्डकमें कहा—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। श्रोत्रियं ब्रह्म-निष्ठं गुरुमेवाभिगच्छेत्। यह शिष्यके लिये स्पष्ट नियम कहा जा रहा है। श्रोत्रियका अर्थ श्रुतिका अध्ययन कर जो श्रौत ज्ञान प्राप्त कर चुका है। उसीको गीतामें 'ज्ञानिनः' से कहा। ब्रह्मनिष्ठका अर्थ है ब्रह्ममें नितरां निरन्तर स्थिति जिसकी हो। ष्ठ-स्थ एक ही हैं। ब्रह्मस्थ न कहकर ब्रह्मनिस्थ-निष्ठ कहा। जो जनक आदिके समान व्यवहारकालमें भी ब्रह्मस्थित हो, या सर्व त्यागकर ब्रह्ममें ही स्थिति बनानेवाले संन्यासी संत हों। संसारनिष्ठ-धननिष्ठ-विषय-निष्ठके पास नहीं जाना है। स्वामी शिवानन्दजीके शताब्दी महोत्सवमें भारतीय विद्याभवनमें नानी पालखी-वालेका प्रवचन रखा था। सुनते हैं कि वे एक प्रवचनका एक लाख रूपये लेते हैं। कुछ रामायणी लोग एक दिनके प्रवचनका दस पंद्रह हजार रुपये लेते हैं। सेठोंके लिये यह अच्छी बात है। 'यादृशी शीतला देवी तादृशः' वाली उक्ति चरितार्थ है। ये धननिष्ठ हैं इतनी बात तो असंदिग्ध है। ब्रह्मनिष्ठ नहीं है। क्या ये गरीबोंके गांवमें प्रवचन कर पायेंगे? वह दस-पंद्रह हजार तो उनके पूरे जीवनकी कमाई है। यह बात सही है—

समित्पाणि होकर जाना चाहिये। और यह भी सही है कि सेठ लोग एक-एक दातुन-समिधा लेकर कथा श्रवण करनेके लिये पहुंचे यह एक मखौल मात्र है। अतः कुछ अंश में ये ठीक हैं और श्रौत अंशमें शून्य हैं। वस्तुतः यह सब कलाप्रदर्शन है। कलाका परिणाम क्षणिक होता है। किन्तु ब्रह्मनिष्ठा या श्रद्धाका परिणाम स्थायी होता है।

उपदेष्टा प्रजानन् हो। प्रकृष्ट ज्ञानी ही ब्रह्मनिष्ठ होता है। वही तत्त्वदर्शी कहलाता है। एक वैरागी बाबाकी कथा प्रसिद्ध है। कोई उसका चेला बनने आया तो उसने मन्त्र बताया—सीतारामाभ्यां नमः। भगतने कहा, सीता समझमें आयी, वह जनकनन्दिनी है। राम भी समझमें आया, वह दशरथनन्दन है। नमः—नमस्कारको कहते हैं। लेकिन यह "भ्यां" क्या है? समझमें नहीं आया। गुरु भला अल्पज्ञ क्यों बनने लगे? प्रतिभासम्पन्न गुरुने कहा—सीता और रामके साथ सेवामें रहनेवाले हनुमानजी "भ्यां" हैं। जब वे छलांग मारते तो भाँ करके पड़ जाते थे। यह तो कहानी हुई। हमारे साथ एक सत्यघटना हुई। मैं एक बार नागपुर चौमासा करने गया था। वहां एक भगत आया। वह पूछने लगा-"तेषामेवैता ब्रह्मविद्यां वदेद् शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्" का अर्थ क्या है? हमने कहा अङ्गार-पात्रधारण, मुण्डन आदि इसका अर्थ है। उसने कहा हमको संतोष नहीं हुआ। वहांके कोठारीने कहा मैं समझाता हूं। ले जाकर कहा सिर नीचे कर पैर ऊपर करना शिरोव्रत है। शीर्षासनके बिना विद्या नहीं आती। बस वह संतुष्ट होकर चला गया। तात्पर्य यही कि प्राज्ञ गुरु बोले उसीसे श्रवण करे तो ही विद्या प्राप्त होती है। प्राप्त भी सफल होती है।

'स्वर्ग्यमग्निं' की व्याख्या पहले आ चुकी है। "अग्रणीत्वादङ्गनीत्वाद्वा अग्निः" यह व्याख्या पूर्वमें बतायी। महर्षि यास्कने शाकपूणि मत दिखाया है—एतेरक्तेर्नयतेरिति शकपूणिः। अयन, अञ्जन और नयन तीनोंका अक्षरानुगमन और अर्थानुगमन अग्निशब्दमें है। अग्नि वैश्वानरको कहते हैं। वैश्वानर माने विराट्। विराट् ही नारायण है। नराणां समूहस्य अयनः नारायणः। नरोंके समूहका आश्रयस्थान नारायण है। मनुस्मृतिमें "विराजं समजीनत्" विराट्को उत्पन्न किया कहकर उसीको नारायण बताया है। वह विराट् पुरुष समस्त प्राणियोंका अयन-आश्रय है। "यस्मिन्निदं स च वि चैति मर्त्यः।"

अञ्जनादङ्गनादङ्गत्वेन स्वीकरणात् । विराट् परमात्मारूप अग्निने सबको अङ्ग बनाया है। गीतामें बताया है—

'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥'

इस पर भाष्यकार कहते हैं—सर्वेषां पाणिपादमस्यैव पाणिपादमिति सर्वतः पाणिपादम्। सबके हाथपैर ईश्वरके ही हाथ-पैर हैं इसीको चारों ओर सर्वतः हाथपैर कहते हैं। अर्थात् परमात्माके हाथ-पांव, आंख-नाक चारो ओर है ऐसा एक विलक्षण प्राणी परमात्मा है ऐसा अर्थ नहीं है। किन्तु सबका हाथपैर परमात्मा विराटका हाथपैर है। सबके आंख, मुख आदि विराट् के आंख मुख आदि हैं। अर्थात् सारा जगत् परमात्माके अङ्ग हैं। अङ्ग अङ्गीसे भिन्न नहीं होता। हाथ, पांव आपके शरीरसे भिन्न नहीं है। एकादशाध्यायमें और भी स्पष्ट है—

'पश्यामि देवांस्तव देव देहे
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वान्' इत्यादि ।

इष्टदेव ही विराटपुरुष है। चाहे वह शिव हो। चाहे रामकृष्ण आदि। उसीके अंग अन्य सभी देव हैं, सभी मनुष्य, पन्नग आदि हैं। श्रीमद्भागवतमें कथा आती है कि भगवान् श्रीकृष्णने मिट्टी खायी। मैयाने पूछा क्यों रे! मिट्टी खायी? कन्हैयाने कहा-मैंने नहीं खायी। मैयाने कहा मुंह खोलके दिखाओ। दिखाया तो सारा विश्व-सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, मनुष्य, पशु आदि दिखाई पड़े। बस इतनी बात कवियोंके हाथ लगी। वे कल्पना करने लगे कि कृष्णने मिट्टी क्यों खायी? इसलिये कि गोपिकाओंकी चरणरज वहां थी। भक्तोंकी चरणरज बड़ी पवित्र होती है। भगवानने सोचा इससे मैं अपने उदरस्थित विश्वको पवित्र करूं। कल्पना अच्छी है। भाव उत्तम है। परंतु वहां विश्वदर्शनका तात्पर्य है। पूरा विश्व परमात्माका अंग है। इस रहस्य को जाने बिना ही द्वैतवादी शिवविष्णुमें भेद करते हैं। वस्तुतः एक ही परमात्मा है। उसके अंग यह विश्व, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि भी हैं। वही यह विराट् अग्नि है।

नयनात्। प्राप्त करानेसे। नयनं प्रापणम्। नयनका अर्थ प्राप्त कराना होता है। यही अग्नि विराट् रूपसे उपस्थित होनेपर परमात्माको प्राप्त कराती है। कैसे? आहुतियोंके द्वारा।

'एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥'

आओ आओ कहती हुई तेजस्वी आहुतियां सूर्यरश्मियोंके द्वारा यजमानको ले जाती हैं। प्रियवाणी बोलती हैं। सन्मान करती हैं। इस प्रकार वे यजमानको ले जाकर अन्तमें कहती हैं कि तुम्हारे पुण्य से संपादित ब्रह्मलोक यही है। इस प्रकार उपासित अग्नि इष्ट देवलोकमें पहुंचाती है। अतः प्राप्त करानेवाली होनेसे अग्नि है। इस प्रकार अयनात्-आश्रय होनेसे, अङ्गनात्-अङ्गरूपसे स्वीकार करनेसे और नयनात्-प्राप्त करानेवाली होनेसे अग्नि है। वह विराट् रूपमें उपास्य है।

नाचिकेत अग्निका चयन कर जो हवन करे वह ब्रह्मलोकमें पहुंचेगा। जो यह न कर सके वे उपासनासे पहुंच सकते हैं। इसमें वैराजभावना करो। देवपूजनके लिये दीपक जलाओ। उसमें वैराजभावना करो।

अनन्तलोकाप्तिम्। अनन्तलोककी प्राप्तिका साधन है यह अग्नि। जो इसका चयन, हवन करता है और जो उपासना करता है वह—

"अनन्तं ह वा अपारमक्षय्यं लोकं जयति ।
योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते । य उ चैनमेवं वेद ॥"

इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मणमें लिखा है। विराट् पुरुषका अन्त नहीं है। क्योंकि पूरा स्थूल जगत् विराट् पुरुषका शरीर है। आकाश भी तदन्तर्गत है। आकाश तथा तदन्तर्गत ग्रह नक्षत्रादि अनन्त हैं। अतः तदाश्रय विराट् भी अनन्त ही है। जैसा देव वैसा फल होता है। वह विराट् अनन्त-ध्वंसरहित है। उसकी उपासनासे अविनाशी लोक की प्राप्ति होगी। वह अपार है। देशाऽपरिच्छिन्न है। उसको पाकर अन्यत्र कोई नहीं जा सकता। उसकी पूजा का फल भी अपार है। सर्वदेशव्यापी सुख फल है। वह अक्षय्य है। क्षयवृद्धि रहित है। उसकी पूजाका फल भी एकरस अक्षय्यरूप है। क्षयवृद्धिरहित होगा।

अथो प्रतिष्ठाम्। विराड्रूपेण प्रतिष्ठां ऐसा भाष्य है। विराट् रूपसे स्वर्ग्य अग्नि सकल् जगत्की प्रतिष्ठा है। सभी उसमें प्रतिष्ठित हैं। वह अविचल है। जैसे चल-अचल दो मूर्तियां होती हैं। अचल, प्रतिष्ठित कहलाती हैं। वैसे विराट् प्रतिष्ठित है। अचल है। उसकी पूजाका फल भी प्रतिष्ठारूप है। अचल है। कभी समाप्त नहीं होगा।

विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्। इस अग्निको तुम गुहानिहित समझो। गुहा का अर्थ विद्वानोंकी बुद्धिरूपी गुहा करते हैं। परंतु यह अग्नि बुद्धिस्थित किस प्रकार? अग्नि तो बाहर रहती है। अतः इसका अर्थ "यउ चैनमेव वेद" इस पूर्वोक्त ब्राह्मणवचनके साथ एकवाक्यता करके करनी पड़ेगी। अर्थात् गुहानिहित परमात्मा ही इसे समझो। परमात्माके लिये प्रायः यह विशेषण आता है।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्"

विद्धिका उपास्स्व अर्थ हो जायेगा।

नाचिकेत अग्निचयन करनेसे अनन्त लोक की प्राप्ति आदि फल होता है। किंतु जो नाचिकेत चयन किसी कारणसे नहीं कर सकता, चाहे धन आदिके अभावसे या अधिकारके अभावसे उसको फल कैसे प्राप्त होगा? उत्तर है अनन्तयोगे। अर्थात् उपासनासे। जैसे अश्वमेधका अधिकार क्षत्रियको ही है तो दूसरोंको वह फल कैसे मिलेगा? अश्वमेधीय अश्वकी उपासनासे। जैसे "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य" इत्यादि। वैसे यहां भी मानस अग्नि चयन आदिसे फल प्राप्त होगा। जैसे बाह्य शंकर पूजन आदि संभव नहीं तो क्या करना? मानस पूजा करना।

रत्नैः कल्पितमासनं हिमजलैः स्नानं च दिव्याम्बरं
नानारत्नविभूषितं मृगमदाऽऽमोदाङ्कितं चन्दनम् ।
जातीचम्पकबिल्वपत्रसहितं पुष्पं च धूपं तथा ।
दीपं देव दयानिधे पशुपते हृत्कल्पितं गृह्यताम् ॥

मानसपूजन बड़ी उदारताके साथ कर सकते हैं। लकड़ी या पत्थरका सिंहासन नहीं-रत्नोंसे निर्मित सिंहासन। स्नान नलके पानीसे या सामान्य गंगाजलसे नहीं, गंगोत्रीके गङ्गाजलसे। वैसे वस्त्रादि दिव्य है। नानारत्न निर्मित हार है। कस्तूरीयुक्त चन्दन मस्तकमें। इसी प्रकार नाचिकेत अग्नि

को हृदय में ही भावित करो। अरणिमन्थनसे उत्पन्न अग्निका चयन किया। उस प्रज्ज्वलित अग्निमें विराट् की भावना की।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

इत्यादि मन्त्र में बताये अनुसार अग्नि भुवनाकारमें स्थित है।

विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायां का दूसरा अभिप्राय यह है कि यह अग्नि सर्वसाधारण मनुष्यकी समझमें आनेयोग्य नहीं है। रहस्यमय है। गुहायां निहितं का गुह्य अर्थ है। गुह्यका अर्थ है रहस्य । 'गुह्यात् गुह्यतरं मया', 'इति गुह्यतमं शास्त्रम्' इत्यादि प्रयोग मिलते हैं। ज्योतिष्टोमादिके लिये जो अग्निचयन आदि होता है वह सर्व वैदिकोंके लिये साधारण है। अतएव गुहानिहित नहीं है। किन्तु नाचिकेत अग्निचयन आदि 'गुहानिहित' है। अन्य अग्निसे सान्त लोककी प्राप्ति होती है। और पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं है। नाचिकेत अग्निसे अनन्तलोककी प्राप्ति होती है तथा प्रतिष्ठा- स्थिरता रहेगी। अत एव यह गुहानिहित है। गुह्य है। यद्यपि तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसका पूर्ण वर्णन है। ऐसी स्थिति में वह भी अन्यसाधारण ही है। फल में भले ही कुछ फरक हो। तथापि ऐसा लगता है कि इस प्रपाठकके मूल द्रष्टा यमराज स्वयं थे और उन्होंने नाचिकेता को उपदेश दिया। उससे पहले यह विद्या प्रगट नहीं थी॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद् यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

यमराजने लोकोंकी उत्पत्तिमें प्रथम उत्पन्न उस अग्निके विषयमें नचिकेताको बताया। उस अग्नि चयनमें जो और जितनी ईंटे आवश्यक हैं और जिसप्रकार मन्त्रादिसे अग्निचयन करना है यह सब बताया। नचिकेताने भी सुनते ही तुरंत यादकर दुहराते हुए सबकुछ कहा। जैसे यमराजने बताया था। इससे प्रसन्न हुए यमराजने फिरसे कहा ॥ १५ ॥

यम नचिकेताके संवादका प्रसंग है। बात हमें यमराजसे ही करना है क्योंकि अन्तिम साथी ये ही हैं। स्वर्ग्य अग्निके बारेमें नचिकेताने पूछा था। उत्तर देनेके लिये यमराजने जोरदार उपक्रम भी किया था 'प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध' इत्यादि। किन्तु श्रुतिने उपक्रमानुसार आगे नहीं बढ़ाया। अग्निचयनका पूरा विवरण तो तैत्तिरीय ब्राह्मणमें छः अध्यायोमें है। उसे

'यमराजने यहां कह सुनाया' इतना कहकर श्रुति संतोष कर लेती है। ऐसा क्यों किया? यह कहें कि तैत्तिरीयके साथ पुनरुक्ति होगी इस भयसे यहां फिर नहीं कहा। किन्तु श्रुतिको पुनरुक्तिका भय नहीं है। वृहदारण्यकमें मैत्रेयीब्राह्मणकी पुनरुक्ति की है। प्रायः उपनिषदोंमें समान उपासना, समान ब्रह्मज्ञान आदिका बार-बार वर्णन आया है वैसे यहां भी नाचिकेताग्निके वर्णनमें कोई तकलीफ नहीं थी। तब उपक्रमके अनुसार वर्णन क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि कठोपनिषत् मुख्यतया ब्रह्मविद्याके वर्णनके लिये प्रवृत्त है। प्रसङ्गमात्र प्राप्त होने पर यहां अन्यका निर्देश है। और नाचिकेताग्निके लिये आवश्यक कुछ अंशमात्र यहां दिखाना पर्याप्त है। बहुतसे लोग ज्ञानकर्मसमुच्चय मानते हैं। यदि ज्ञानकर्मसमुच्चय इष्ट होता तो यहां कर्मका वर्णन प्रसङ्गानुसार अवश्य करना चाहिये था। अतएव नाचिकेत अग्निके चयनका फल "अमृतत्त्वं भजन्ते" यह मुख्य अमृतत्व होता तो तदर्थ भी अग्निचयनवर्णन अवश्य कर्तव्य होता। वस्तुतः मानवजीवनमें स्वर्गसाधन कर्म अवश्य करना चाहिये एतदर्थ प्रासङ्गिक कर्मका उत्थापन है और चित्तशुद्ध्यर्थ कर्म करना चाहिये इतना ही यहां विवक्षित है।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। इस पूर्वार्धमें "लोकादि" यह उपास्यके गुणका वर्णन है। क्योंकि अग्नि समग्र लोकोंके "आदिम्"-आदिमें नहीं है। विशेषतः चीयमान अग्नितो आदिमें नहीं ही है। अतः उपासनाके लिये गुणकथन है। "या इष्टका" आदि कर्मोपयोगी हैं। अतः पाठक्रम से अर्थक्रम प्रबल होनसे प्रथम कर्मांशकी व्याख्या करके फिर "लोकादि" की व्याख्या की जायेगी।

"या इष्टकाः" । इष्टक खास प्रकारकी बनी हुई पितृदेवताके कुण्डके निर्माणमें उपयोगी ईंटको कहते हैं। जैसा उनका स्वरूप है यह प्रथम बताया। क्या स्वरूप है "तस्मादग्निना इष्टकाः पचन्ति" इस मन्त्रमें बताये हुए नियमके अनुसार अग्निपक्व ईंट हो और पकते समय यह मन्त्र बोले गये हों—

"इन्द्राग्नी अव्ययमानामिष्टकां दृंहतां युवम् ।"

हे इन्द्र और अग्नि देवता! आप दोनों इस ईंटको दृढ करो। ये ईंटें टूटी-फूटी नहीं, अव्यथमान हैं। अच्छी वस्तुओंका यज्ञ में उपयोग करना चाहिये।

यावतीर्वा। कितनी ईंटे हों। सातसौ बीस ईंटोंका विधान है। सातसौ बीस ही क्यों? सातसौ पचास करते, पौना हजार हो जाता। या पांचसौ करते तो आधा हजार होता। यहां हजार भी पूरा कर देते। नहीं। एक वर्षमें ३६० दिन होते हैं। उतनी ही रातें होती हैं। मिलानेपर सातसौ बीस होते हैं। सातसौ बीस पापराशियोंके नाश एवं पुण्यराशिके उपजननके लिये यह संख्या है। जैसे सूर्योपस्थानमें हम पढ़ते हैं–

'सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च
मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्
यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण
शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु
यत्किंच दुरितं मयि सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा।'

यह प्रातः सन्ध्यासमयका मन्त्र है। सूर्य मुझे पापसे बचावे। मन्यु अर्थात् शंकरभगवान् का कोप मुझे पापसे बचावे। "नमस्ते रुद्रमन्यवे" ऐसा मन्युको शंकरका कोप बताया। कोप अलग है। क्रोध अलग है। दुश्मन पर क्रोध करते हैं। बच्चेपर भी क्रोध करते हैं। दुश्मनको पीटते हैं। कभी बच्चेको भी पीटते हैं। किन्तु दोनोंमें फरक है। क्रोध बिगाड़नेके लिये है। कोप सुधारनेके लिये। शंकरका मन्यु सुधारनेके लिये है। मन्युपतयः-रुद्रः। असंख्य रुद्र हैं। 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यः' इत्यादिमें प्रसिद्ध है। "मन्युकृतेभ्यः" यहां क्रोधकृत या शोककृत पाप अर्थ समझना चाहिये। पापके बारेमें कहते हैं जो रात्रिमें पाप किये। कौन-कौन? मनसे, वाणीसे, हाथसे, पैरसे, उदरसे और शिश्नसे जो पाप किये। मनसे ईर्ष्या आदि करना, परहानिके बारेमें चिन्तन आदि करना पाप है। हाथसे मारना, छीनना आदि पाप होते हैं। पांवसे लात मारना, अगम्य स्थानमें जाना इत्यादि। उदरसे एवं शिश्नसे जो पाप करते हैं उन्हें रात्रिदेवता नष्ट करें। जो दुरित बचे हैं उन्हें सूर्यज्योतिमें आहुति देकर भस्म करता हूं। यह प्रातः सन्ध्यामन्त्र है। सायं सन्ध्यामें–

"अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां
यदह्ना पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना
अहस्तदवलुम्पतु यत्किंच दुरितं मयि अग्नौ ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ॥"

ऐसा मन्त्र है। अर्थ समान है। इस प्रकार दिवसमें किये हुए पापके निवारणके लिये अग्निकी प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार एक वर्ष में ७२० का हिसाब बैठता है। उसी हिसाबसे इष्टकाकी संख्या है। उस संख्याको भी यमराजने सम्यक् समझाया।

यथा वा। जिस प्रकार अग्निचयन किया जाता है यह भी बताया। अग्निचयन मन्त्रोच्चारणपूर्वक होता है। व्रत, नियम आदिके साथ होता है। उन सबको भी बताया।

लोकादिमग्निम् इसके साथ ही लोकादित्वेन भी अग्निका वर्णन कर सुनाया। यह उपासनाके लिये है। क्योंकि प्रत्यक्ष अग्नि लोकोंमें आदि नहीं है। लोकानाम् आदिः लोकादिः। लोकोंमें जो आदि हो उसे लोकादि कहा जाता है। मनुस्मृतिमें बताया है–

"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥"

लोकादि कौन है? ब्रह्मा। यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वही प्रथम शरीर धारी है। कैसा शरीर धारण किया? प्रथम मायाशक्तिसे विशिष्ट कारणशरीरसे युक्त हुआ। फिर सूक्ष्म समष्टिशरीरयुक्त हिरण्यगर्भ हुआ। फिर स्थूल समष्टि शरीरविशिष्ट विराट् हुआ। स्थूल शरीर- विशिष्टको लेकर शरीरी कहा। सूक्ष्मसमष्टिमें स्थित होनेसे पुरुष कहा। पुरि शयनात् पुरुषः। स्थूलमें सूक्ष्मविशिष्ट शयन करता है। और कारण शरीरविशिष्ट वह आदिकर्ता है। ऐसा न समझना कि व्यष्टिसे समष्टि उत्पन्न हुआ, जैसे अनेक मनुष्य मिलकर सेना बनी। अनेक वृक्ष मिलकर वन बना। यहां समष्टिसे व्यष्टि होता है। जैसे वृक्षसे पत्ता पैदा हुआ। फल पैदा हुआ। पूर्व जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके अनुसार समष्टि अन्तःकरणमें एक एक देश के अभिमान को लेकर पृथक्-पृथक् हुआ। और नाना संकल्पादि करने वाला हुआ तथा समष्टिस्थूलसे अभिमानको लेकर व्यष्टि स्थूल शरीर पृथक्-पृथक् हुआ और उसमें सुख, दुःख, रोगादि होने लगे। बाल्य, कौमार, वार्धक्य आदि

विकारयुक्त हुए। अर्थात् तन्मात्राओंके पैदा होते ही समष्टि तन्मात्रा शरीरविशिष्ट हिरण्यगर्भ हुआ और आकाशादि स्थूल भूतोंके उत्पन्न होते ही तद्विशिष्ट विराट् हुआ। परिष्कार तो बादमें हुआ। इसी ब्रह्माको आगे जाकर मनुस्मृतिमें नारायण बताया। अत एव यही विराट् हिरण्यगर्भ आदि नामवाला इष्टदेव नारायण है। शिव, गणेश आदिका भी इसी प्रकार समान वर्णन होनेसे नामभेद और रूपभेद मात्र है। विराट् तत्त्व एक ही है यह निश्चित होता है।

उपास्यतया अग्निमें विराट् दृष्टिकी जाती है। जैसे शालग्राममें विष्णुदृष्टि। उपासनाके लिये ही यहां पर "लोकादिमग्निं" बताया। प्रतीको-पासनामें यह उत्तम मानी जाती है। क्योंकि प्रतीक स्वयं उत्तम है। उसमें ईश्वरदृष्टि करना श्रेष्ठ होता है। पहले तो पूजन शालग्राम, शिवलिंग आदिका होता था। परंतु उसमें दृष्टि बराबर नहीं जमी तो विष्णुकी मूर्ति तथा शिवकी मूर्तिको उपास्यत्वेन स्वीकार किया। उसमें मन टिकाना आसान है। क्योंकि वह उपासकके स्वसजातीयसमानाकार है। उपास्यकी ही जातिके आकारवाला है। "त्वमेव माता च पिता त्वमेव।" मैं अपने मातापिताके संमुख, उनकी गोदमें बैठा हूँ यह भावना करना सजातीय आकारमें सुगम है। देवी आदिकी उपासना अधिक फलप्रद होने लगी। संनिकटता, समानता आदि दृष्टिसे यह उत्तम है। किन्तु अग्नि, दीपक, सूर्य आदिमें की गई ईश्वरोपासना अधिक तेजस्वी होती है। "आदित्यो ब्रह्मेत्युपास्ते"। सूर्य ब्रह्म है ऐसी उपासना करते हैं। "रुद्रो वा एष यदग्निः" यह जो अग्नि है वही शंकर है। "अग्निमीडे"। अग्निकी स्तुति करता हूं। ध्येयः सदा सवितृमण्डलवर्ती सूर्यमण्डलके मध्यमें रहनेवाले उपास्य हैं। इत्यादि जो उपासनायें हैं इनमें तैजस तत्त्व प्रतीक है। और तैजस तत्त्व हमेशा ही मनोनिरोधमें सहायक होता है। क्योंकि भगवदुपासना प्रकाशमयरूपसे ही होना चाहिये। इसलिये विष्णु, शिव आदिके आकारोंके चिन्तनमें पीछे प्रकाशपुञ्ज दिखाया जाता है। प्रकाशपुञ्जमें मुख या संपूर्ण शरीर स्थित देखा जाता है। अतएव नाचिकेत अग्निमें वैराजभावना करना हर दृष्टिसे श्रेष्ठ होता है। यदि नाचिकेत अग्नि न हो, उसका ज्ञान

भी सम्यक् न हो तो भी दीपक जलाकर उसकी ज्वालाका चिन्तन करते हुए उसी प्रकाशमें परमात्मस्मरण करना बड़ा श्रेष्ठ माना गया है।

नचिकेताको यमराजने सम्यक् प्रकारसे लोकादि अग्निका वर्णन करके सुनाया इतना ही यहां श्रुति कहती है। क्या-क्या वर्णन किया यह नहीं बताया। क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासुके लिये जितना यहां बताया वही पर्याप्त है। नित्यनैमित्तिकादि कर्म करते हुए वैराजोपासना करते हैं तो इतनेसे ही मलविक्षेप की निवृत्ति होगी। अधिक कर्मकाण्डमें पड़ना बल्कि विक्षेपको ही बढ़ावा देता है।

स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तम्। यमराजने पूछा—क्या समझमें बराबर आया? नचिकेताने छहों अध्यायोंमें वर्णित पूरी बातको ज्योंकी त्यों सुना दिया। इससे नचिकेताकी ग्रहणशक्ति, बुद्धिकी सूक्ष्मता आदि सूचित होते हैं। साथ ही यह बात भी सिद्ध होती है कि बीचमें जानकारी के लिये उसका प्रतिवदन करना अनुचित नहीं है।

अथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः । अध्येता या श्रोता वक्ताके भावको समझने लगते हैं तो स्वाभाविक है कि वक्ता प्रसन्न होता है। एक सेठके यहां मैं गया। वहां भागवत सप्ताहका आयोजन था। सेठजी तकियेके सहारे आधे लेटे हुए सुन रहे थे। इतनेमें आमन्त्रित दूसरे सेठ आये तो उनको मिलने और उनका स्वागत करने सेठ उठे। पण्डितजी नये थे। उन्होंने सोचा मुख्य श्रोता ही न रहा तो कैसे बोलें? कुछ रुके तो सेठने कहा—पण्डितजी, आप बोलते जाईये, आप अपना काम कीजिये। वक्ताका काम बोलनेका है। श्रोता चाहे इधर कुछ भी करे। दूसरी बात यह है कि भागवत कई बार सुन चुके। मालूम है कि व्यासजी सरस्वती नदीके किनारे अफसोसमें बैठे है तो नारदजी आते हैं, अपनी कथा सुनाते हैं, फिर पाण्डवोंकी कथा आयेगी, फिर भीष्मस्तुति, फिर शुकदेवजी आते हैं और विदुरकी कथा आती और कर्दम-देवहुतिका विवाह होता है। वक्ताको भी वही दुहराना है। श्रोताको वही सुनना है। कुछ रिवाज पूरा करनेका और सगासम्बन्धियोंसे मिलने-बात करनेका अवसर मिलता है। इस सर्वाङ्गीण भागवतमें आमन्त्रित सेठ आवें और उनसे भूतभविष्यकी बात न करें तो भागवत अङ्गविगुण हो जायेगा। वक्ता श्रोता एक बराबर हो

तो फिर कोई सवाल ही नहीं है। मैंने सेठसे पूछा-आप बीचमें चले जाते हैं तो यह कैसा श्रवण है? सेठ बोले, मैं कई बार सुन चुका हूँ। मुझे पता है पण्डित आगे क्या बोलेगे। आप भी कभी हमारे यहां भागवत रखिये। मैंने कहा—अच्छा, सोचेंगे। क्योंकि उसी पंडितकी कोटिमें अपनी गिनती करवानी हो तो उनके यहां भागवत कर सकते थे। यमराज जैसे प्रवक्ताके रहस्यार्थको यथोक्त-जैसे सुना है वैसे फिरसे सुनाना यही वास्तविक श्रवणका परिणाम है। अतएव इसको लेकर यमराजकी तुष्टतां युक्त है। "अथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः।" यहां यमराजकी तुष्टता बतायी गयी है। यमराज प्रसन्न हुए ऐसा दूसरा उदाहरण एक मात्र उपलब्ध है। सावित्रीपर यमराज प्रसन्न हुए थे जिससे सत्यवान्को जीवन मिला था। यहां भी यमराजकी प्रसन्नताकी बात बतायी है। इसका भी फल आगे बतायेंगे— "जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वम्"। तुम जितना लंबा चाहोगे उतना जीओगे। परंतु इस तुष्टताका फल बीचमें एक चतुर्थ वरदान है।

शास्त्रों में बताया है कि "ज्ञात्वोपासितव्यम्" सम्यक् प्रकारसे जानकर तब कर्मादि करना चाहिये। अन्यथा बड़ी हानि होती है।

"अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत—
मा सप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति।"

अज्ञानके कारण अहुतं-अल्पहुतं-न्यून हवन हुआ। वैश्वदेवपूजन नहीं किया। समग्र देव पूजन न किया। अविधिपूर्वक यजन किया इत्यादि अपराधके साथ जो कर्म करते हैं वहां लेनेके बदले देना पड़ जाता है। डाक्टरने गलत इंजंकशन दिया, मरीज मर गया। क्या परिणाम होगा? डाक्टर पर मुकद्दमा होगा। यहां "आ सप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति" बताया है। प्रजापतिने इन्द्र और विरोचनको उपदेश किया। विरोचनने विपरीत ग्रहण किया और दानवोंको गलत मार्ग में लगाया तो क्या इससे प्रजापति प्रसन्न हुए होंगे? शिष्य ठीक प्रकारसे ग्रहण करता है और सकल कार्य करने लगता है तब गुरुकी प्रसन्नता होती है। गुरुके लिये बताया है—

"अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्।"

पूरे जगतके प्रति सन्त पुरुषोंकी दयामयी दृष्टि रहती है। वे चाहते हैं सभी सुखी हों, निरामय हों, सबका भद्र हो–

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।"

इत्यादि उदात्तभावना उनमें रहती है। उसकी पूर्ति शिष्यके द्वारा होनेवाली देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है। अतएव योग्य शिष्योंके प्रति उनका पक्षपात रहता है–

"भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः"

यह पक्षपात वास्तविक पक्षपात अर्थात् मोहप्रयुक्त पक्षपात नहीं है। उस पक्षपातका परिणाम निष्पक्षपात सर्वसुख है। फलमुखेन निष्पक्षपात है। कारणमुखेन पक्षपातके समान प्रतीत होगा। आद्य शंकराचार्यने पद्मपादको दो बार भाष्य पढाया। यह देखकर दूसरोंको आचार्यपर पक्षपात का सन्देह होने लगा। किन्तु बाद में गंगाजीके पार दौड़ते समय पद्मोंको पांवमें लाकर डूबनेसे बचानेका दृश्य देखकर सभी आश्चर्यचकित हुए। वहां लोग आचार्यभक्तिको इसका कारण मानते हैं। आचार्यभक्ति तो थी ही। उसका फल जनोद्धार था। अतएव गंगाने पद्मपाद का उद्धार किया। पद्म-पादाचार्यने पञ्चपादिका लिखकर महान् जनकल्याण किया। उसे नजर-अंदाज कर ही आचार्यने दो बार भाष्य पढ़ाया। प्रकृतमें यमराजको यह आशा बंध गयी कि यह बालक होनहार है। यह विश्वकल्याण करनेमें समर्थ होगा। अतएव यमराज नचिकेतापर प्रसन्न हुए और इस कठोपनिषत् द्वारा विश्वकल्याण हो ही रहा है। उसमें नचिकेताकी विवेक-वैराग्यकी भूमिका भी कम महत्त्व की नहीं है।

इस मन्त्रसे अध्येताओंके लिये आवश्यक बात भी बतायी गयी है। नचिकेताके समान ध्यानसे सुनो। पूरा बोध प्राप्त करनेका प्रयास करो। सुनी हुई बातको स्थिर रखनेका प्रयास करो। पल्लड़झाड़ वाली बात न हो। लोग वेदवेदान्तका श्रवण करते हैं किन्तु उसे धारण करने की तकलीफ नहीं उठाते। हमारे परिचित एक कथाकार हैं, बल्कि कथाकार नहीं कथाकारिणी है। उसका कहना है कि मेरे पास तीस दिनके प्रवचन हैं। कहीं भी जाय। पंद्रह दिनसे अधिक कथा न करने का नियम है। फिर उस जगह कथा करने दो साल तक नहीं जाना है। ऐसे तो आजकी कथा

लोग कल भूल जाते हैं फिर भी उतना किया जाता है। दो साल बाद द्वितीय पंद्रह दिनकी कथा उस जगह की जाती है। फिर दो साल बाद प्रथम पंद्रह दिनकी कथा। इतनेमें लोग पूर्णरूपसे भूल जाते हैं और हमारी कथा एकदम नयी हो जाती है। ऐसे श्रोताओंके प्रति श्रुतिकी यह चेतावनी कहो, उपदेश कहो, है। "स चापि तत्प्रत्यवदत्।" वक्ताओंके लिये उपदेश यह है कि ऐसे ग्रहणशील पर प्रसन्न रहना चाहिये। यह न देखो कि यह बालक है या युवा या वृद्ध। यह भी न देखो कि यह कुछ गुरुदक्षिणा देगा कि नहीं। बालक नचिकेतासे गुरुदक्षिणाकी आशा असंभावित ही थी। वरतन्तु ने जब कौत्ससे कहा—गुरुजी अब मैं समग्र विद्या आपसे ग्रहण कर चुका हूं, समावर्तन करना है। आप गुरुदक्षिणाका आदेश करें। वरतन्तुने कहा बेटा तूने मुझसे पूर्ण विद्या ग्रहण किया। अब इसका प्रचार करो यही गुरुदक्षिणा है।

"अधीतिबोधाचरणप्रचारैः

अध्ययन तुमने तन्मयतासे किया। मननसे बोध प्राप्त किया। काफी अंशमें अभीसे अध्ययनानुसार आचरण हो रहा है। उसे पूर्ण करो और प्रचार करो। इसीमें मेरी प्रसन्नता है। कथा लम्बी है। तात्पर्य यही है कि गुरुकी प्रसन्नता शिष्यकी ग्रहणपटुतामें और भावि प्रचारमें ही होना चाहिये। प्रत्येक श्रोताका कर्तव्य है वह स्वयं सुने, मनन करे, आचरणमें लावे और दूसरों को भी बतावे।

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

प्रसन्न हुए यमराजने नचिकेताको कहा तुम्हें और भी वर आज यहां देता हूँ। तुम्हारे नामसे ही यह अग्नि रहेगी और इस रत्नमालाको भी वरदानरूपमें ले लो॥

यम नचिकेताके संवादरूप इस उपनिषदके उपक्रममें साधारण चर्चा जैसी लगनेवाली कई बातें हैं। किन्तु इसमें भी अनेक रहस्य निहित हैं। यहां पर कई विधि एवं निषेध इंगित हुए हैं जो सर्वत्र लागू होते हैं। पूर्वमन्त्रमें बताया था कि यमराजने अग्निचयनकी सारी प्रक्रियायें बतायी थीं। श्रवण करानेके बाद यमराज ने पूछा-समझमें आया? तो नचिकेताने

आनुपूर्वीपूर्वक पूरी बातोंको बता दिया। इससे यमराज अत्यन्त प्रसन्न हुए। उसी प्रसङ्गको लेकर अब दूसरा मन्त्र प्रस्तुत हो रहा है।

तमब्रवीत् प्रीयमाणः। प्रीयमाणका स्वयं प्रसन्न भी अर्थ है। प्रसादित भी अर्थ है। नचिकेताने प्रतिवदन से यमराजको प्रसन्न किया था। शिष्योंका यह कर्तव्य है कि किसी भी प्रकार आचार्यको प्रसन्न रखें। विद्या जबर्दस्ती प्राप्त नहीं की जाती। जैसे कि आजकल कालेजयुनिवर्सिटीके अध्यापक को जबर्दस्ती पढ़ाना पड़ता है। यहां तो ठीक है क्योंकि अध्यापक नौकरी करता है। वह नौकर है। किन्तु वेदशास्त्रके अध्यापक नौकर नहीं होते. वे आचार्य होते हैं। जबर्दस्ती नहीं किन्तु प्रसन्नतासे पढ़ाते हैं। प्रसन्नता के लिये गीतामें तीन रास्ते बताये।

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।"

इनका समुच्चय या विकल्प दोनों यथायोग्य संभव है। कोई आचार्य प्रणिपात-नमस्कार पूजा आदिसे ही प्रसन्न हो जाते हैं। कोई समुचित प्रश्न से। नये-नये आजु-बाजुके प्रश्न उठानेपर विचारका नया अवसर आता है तो आचार्य प्रसन्न होते हैं। स्वामी शरणानन्दजी महात्मा हुए। वे प्रश्नोंका उत्तर देते थे। प्रवचन बहुत कम करते थे। प्रश्नोंसे परिप्रश्नों से वे प्रसन्न रहते थे। अन्य आचार्य सेवासे प्रसन्न होते हैं। तनसे मनसे या धनसे सेवा करो। इसमें समुच्चय या विकल्प यथासंभव यथाशक्ति है। यमराजके यहां इन तीनोंमें से किसीको विशेष स्थान प्राप्त नहीं है। क्योंकि सारी दुनिया मृत्युसे भयभीत होकर यमराजके सामने नतमस्तक है। यमराज सर्वज्ञ होने से परिप्रश्नसे उनको कोई नवीनविचारधारा के लिये स्थान मिल जाय ऐसी बात नहीं और ऐसा प्रसङ्ग अभीतक उपस्थित भी नहीं हुआ। यही बात सेवाके विषयमें भी है। यहां तो प्रतिवदनसे जो ग्रहणपटुता सिद्ध होती है उससे प्रसन्न हैं। हम पहले भी कह चुके कि वरतन्तु कौत्सपर इतने मात्रसे प्रसन्न थे कि मुझसे इसने चतुर्दश विद्या प्राप्त की। अब अवशिष्ट इतना ही था कि द्वितीय चतुर्दशत्व प्राप्त करायें-दूसरी चौदह विद्यायें प्राप्त करावे। "अधीति बोधाचरणप्रचारैश्चतुर्दशत्वं" यहां विधि यही है कि "विद्याकामः शिष्य आचार्यं प्रसादयेत्"। वह जिस किसी

भी प्रकारसे हो। आचार्य की प्रसन्नतासे उत्पन्न अदृष्ट भी विद्यामें प्रयोजक है। क्योंकि यह साधारण विद्या नहीं ब्रह्मविद्या है।

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'

की यह भी व्याख्या है कि ज्ञानकी उत्पत्ति में समस्त कर्मोंका विनियोग है। उसीमें सभी कर्मादृष्ट उपक्षीण हैं। वैसे गुरुकी प्रसन्नतासे उत्पन्न अदृष्ट भी ज्ञानका प्रयोजक है।

यद्यपि यह बात ब्रह्मविद्याके लिये लागू होती है। नाचिकेताग्निविद्याका प्रकरण है। उससे सभी कर्मोंके अदृष्टका उपक्षय संभव नहीं है क्योंकि आत्माश्रय दोष आयेगा। अग्निचयन हो तो सर्वकर्म हो। सर्वकर्म हो तो अग्निचयन हो। सर्वकर्ममें अग्निचयन भी तो आ गया। तथापि उस वाक्य (सर्वं कर्माखिल) की यहां संगति न हो तो भी अग्निरहस्यविद्याकी प्राप्तिके लिये भी आचार्यका प्रसादन आवश्यक है। और इस विद्याका फल यदि ब्रह्मलोककी प्राप्तिके बाद मोक्ष(क्रममुक्ति) हो तो गीतावाक्यका भी यहां विनियोग संभव है। "सर्व कर्म" का नाचिकेताग्निके चयनके अतिरिक्त सर्वकर्म अर्थ कर लेना चाहिये।

महात्मा। यह विशेषण यमराजके लिये दिया है और यह विलक्षण है। महात्माका सामान्य अर्थ संत-संन्यासी होता है। किन्तु यमराज संन्यासी कहां हैं?

'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा नैष्कर्म्यमाचरते'।

नैष्कर्म्य संन्यास तब होता है जब सर्व भूतोंको अभय दिया जाय। किन्तु यमराज ऐसे हैं जो सबके लिये भयरूप हैं। "अहिंसन्" यह विशेषण इनमें घटता ही नहीं है। फिर घर, घरमें पत्नी आदि अतिथिसत्कार यह सब गृहस्थों के लिये होता है। तब यहां महात्मा विशेषणका क्या अभिप्राय होगा? इसका उत्तर है कि यहां यौगिक अर्थ लेना चाहिये। महान् आत्मा यस्य–जिसका आत्मा महान् है वह। किन्तु इतने से उत्तर नहीं होगा। आत्मा कोई छोटा कोई महान् ऐसा विभाग है? न्याय-सांख्य आदिमें सभी आत्माओंको व्यापक माना है। वेदान्तमें तो एक ही आत्मा है। उसमें महान् छोटेका सवाल ही कहाँ? अतः यहां जो आत्माको महान्, व्यापक, अपरिच्छिन्न समझता है वह महात्मा है ऐसा अर्थ है। खाली सुनी सुनायी

बातसे समझना नहीं, किन्तु जिसने आत्माको महत् रूपसे साक्षात्कार किया वह महात्मा है। महात्माके विपरीत अनात्मा कहा जाता है। अल्पात्मा या दुरात्मा नहीं। अनुदरा कन्याके समान नञ् का अल्प अर्थ होगा। अतएव गीतामें प्रयोग किया–

"अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।"

स्वयं अनात्मा है। शत्रुवत् वर्तमान आत्मा कौन होगा? अल्पात्मा या अनात्मा कौन होता है? जो शरीरादिअध्याससे आत्माको परिच्छिन्न समझता है। इसका स्पष्टीकरण वाचस्पति मिश्रने इस प्रकार किया है–

"अहमिहास्मि सदने जानानः" ।

इस घरमें मैं जानता हुआ बैठा हूँ। कौन बैठा है? आत्मा बैठा है कि शरीर? आत्मा व्यापक है तो सदनमें बैठेगा कैसे? शरीर बैठा हुआ है। लेकिन जानानः। जानता हुआ। जाननेवाल कौन? शरीर तो जड़ है। जाननेवाला प्रकाशस्वरूप आत्मा है। तब जानान्स्तिष्ठामि-जानता हुआ खड़ा हूँ यह दोनों साथ-साथ कैसे? अन्योन्याध्याससे। शरीर और आत्माका अन्योन्याध्यास-तादात्म्याध्यास हुआ। अन्योन्याध्यास होते ही अन्योन्य धर्माध्यास हुआ। जैसे "अयों दहतिं में होता है। लोहेका गोला तप जाता है तो देखनेवाले कहते हैं आगका गोला पड़ा है। दोनोंका परस्पर तादात्म्या-ध्यास प्रथम हुआ। उसके बाद परस्पर धर्माध्यास हुआ। यहां शरीर धर्मका आत्मामें अध्यास होनेसे आत्मा परिच्छिन्न हो गया और आत्माध्यास शरीरमें होनेसे शरीर चेतन हो गया और 'अहमिहास्मि सदने जानानः' ऐसा ज्ञान और व्यवहार होने लगा। ऐसा शरीरमें अध्यास रखनेवाला उपदेश करनेका अधिकारी नहीं है। यही बतानेके लिये यमराजके लिये महात्मा यह विशेषण श्रुतिने दिया। तात्पर्य यहीं कि या तो महात्मा-संत बनकर उपदेश दो या फिर अपरिच्छिन्न आत्मसाक्षात्कार करके उपदेश दो।

वरं तवेहाद्य ददामि भूयः । 'इह' का अर्थ है यहीं पर। पृथिवीमें जानेके बाद वरदान कार्यकारी हो ऐसी बात नहीं। यहींसे वरदान चालू हो जायगा। 'अद्य' का अर्थ है-आज अभी। कुछ कालके बाद यह वरदान काम करने लग जायगा ऐसी भी बात नहीं। किन्तु अभीसे कार्य करने

लगेगा। 'भूयः' का अर्थ है अधिक। न कि पूर्वनिर्देशके अनुसार 'तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व' जो नियत वरदानके लिये कहा था उसीके अन्तर्गत होकर। किन्तु यह अधिक है। अतिरिक्त है। 'तव' यह प्रयोग ही कुछ गड़बड़ जैसा है। 'ते' या 'तुभ्यं' कहना चाहिये था। महाभाष्यकार कहते हैं 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' में वास्तविक दान नहीं होता। यहां छौन्दस विभक्तिव्यत्यय कुछ लोग मानते हैं। दूसरोंका कहना है कि इस वरदानको पूर्णतया नचिकेताने अंगीकार नहीं किया। इस भविष्यदर्थको लेकर तव कहा।

तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः। यह नाचिकेत अग्नि नचिकेताके नामसे ही प्रसिद्ध होगा। चित अग्निमात्रको नाचिकेत अग्नि कहते हैं। वैसी सर्व अग्नि नाचिकेत हैं ऐसी मान्यता आचार्योंकी है। यमराजने अग्निको नचिकेताके नामसे कर दिया जिससे नचिकेताका नाम अमर हो गया। जैसे भरतके नामसे भारत हुआ और भरत अमर हो गया। कुरुके नामसे कुरुक्षेत्र हुआ। लक्ष्मणपुर (लखनऊ), रामपुर, भरतपुर, किशनगढ़ इत्यादि सभी किसीके नामसे ही जुड़े हैं। शरीर शाश्वत नहीं है। नाम ही स्थायी है। संसारी मनुष्योंके लिये यह आवश्यक है कि कुछ नाम करके जाओ। मनुष्य तब तक जीवित माना जायेगा जबतक उसका नाम है। यश ही स्थायी शरीर है। व्यास भी आज हों या न हों किन्तु उनका नाम आज है। हमारे लिये वे आज भी जीवित हैं। आद्य शंकराचार्य आज नहीं हैं किन्तु अपने नामसे आज भी जीवित हैं। मधुसूदन सरस्वतीका आज भी नाम है। तुलसीदासजीका नाम है। आज भी महान् ग्रन्थलेखक हैं जिनका नाम अमर है। यह विद्यासे है। धनसे अनेक राजाओंके नाम आज भी है। बिरला सेठ बोलनेसे पूरा भारतवर्ष जानता है। हर मुख्य जगह उनके बनाये हुए बड़े-बड़े मंदिर आदि हैं। मृतः—एवास्ति यशो न यस्य। अतः कुछ ऐसे कर्म करके जाओ जिससे नाम अमर रहे। संसारी जीवोंके लिये यह परम आवश्यक है। मृत्युके बाद भी वह व्यापक आकार बनकर अपना नाम सुनता रहेगा। तो आनन्दित होगा। हां, ब्रह्मज्ञानीके लिये नामरूपसे कोई मतलब नहीं है। फिर भी लोकसंग्रहके लिये नामको अमर करना अच्छा है। शंकराचार्यके नामसे आज भी कितने तर रहे हैं। प्रेमपुरीजीके नाम आज भी उज्ज्वल जसलोक, नामसे भी उज्जवल है।

केवल पेट भरना, कमाना मात्र लक्ष मत रखो। वाचस्पतिमिश्रने संसार-सुख प्राप्त न होनेसे-अर्थात् पुत्रपौत्रादि संतति न होनेसे दुःखी अपनी पत्नी भामतीको कहा–खिन्न मत हो। तुम्हारे नामसे यह व्याख्या होगी। इसको पढ़नेवाले सभी तुम्हारे ही पुत्र होंगे।

सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण। केवल नामसे क्या होगा यह नामियोंके रिश्तेदारोंका सामयिक कहना होता है। सुदामाजीका नाम बड़ा था। उनकी पत्नी सुशीलाका कहना था कि नामसे बच्चोंका पेट कैसे भरेगा? कुछ धन लाओ। आखिर भक्तशिरोमणिको भी धन लाकर देना ही पड़ा था। यमराजने इस बातको पहले ही नजरअंदाज कर लिया था। वामाचरण भट्टाचार्य द्वितीयका अच्छा नाम चल रहा था। उन्होंने देखा नाम मात्रसे क्या होगा। लोग भी कहते हैं–यह नाम मात्रका है अर्थात् तुच्छ है। उन्होंने न्यायग्रन्थपर लिखी एक टीका को बेच दिया। लिखा स्वयंने और दूसरेके नामसे छपा। क्योंकि उन्हें धनकी जरूरत थी। अतः यमराजने कहा कि यह सृङ्का भी तुम्हें देता हूँ। सृङ्काका अर्थ क्या है यह किसी कोशमें (डिक्शनरीमें) प्राप्त नहीं। भाष्यकार शंकराचार्यने इसका जो अर्थ लिखा हैं कोशकार इसीका उद्धरणमात्र देते हैं। "शब्दवतीं रत्नमयीं मालाम्" ऐसा अर्थ वहां लिखा है। एकसौ आठमणकावाला रत्नमय हार है। जिसमें से मधुर-मधुर आवाज निकलती है पहनते समय। जैसे करक किंकिणी आदिसे। ऐसे हारसे क्या होगा? यह फिर प्रश्न होगा। हारसे कोई पेट भरेगा? हार चाटते रहनेसे तृप्ति होगी? अवश्य पेट भरेगा। यह साधारण हार नहीं था। सत्राजितने तपस्या की थी तो सूर्य भगवानने स्यमन्तक मणि दी। वह प्रतिदिन आठ भार सुवर्ण देता था। उगलता था। अट्ठाईस मणका एक भार माना जाता था। ऐसे आठ भार। एकमण माने चालीस किलो लगभग होते हैं। लगभग एक हजार किलो सोना प्रतिदिन देता था। यहां तोले, रत्ती, छटांगका हिसाब नहीं है। तोला बोलना हो तो लगभग एक लाख तोला होगा। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने सत्राजितको सलाह दी थी कि इसे राजा उग्रसेनको दे दो जिससे राष्ट्र समृद्ध हो। यदुवंशियोंका यश हो। धन आनेसे सभी उसके दास बन जाते हैं। अर्थस्य पुरुषो दासः। सत्राजितने नहीं माना यह बात अलग है।

एक प्रश्न उठता है कि मणिको गलेमें 'डालकर सत्राजित आ रहे थे। क्या आठ भार वजन गलेमें डालकर कोई चल सकता है? यदि उसमें वजन नहीं तो आठ भार सुवर्ण निकलता किस प्रकार था? क्या केवल असंभावितकी दिव्य कथा मानें? नहीं। आज भी यह सिद्धान्त वैद्य लोग स्वीकार करते हैं। फिर जो सिद्ध पारा होगा उसके पास सुवर्ण रखो तो रातभरमें पारा उसे खा जायेगा। किन्तु पारेका वजन नहीं बढ़ेगा। तब फजूल खिलाना मूर्खता है। कुएँ में सुवर्ण क्यों न फेंक दें? बात यह है जो खाता है वह उगलता भी है। आवश्यकतानुसार उगलवा सकते हैं। स्यमन्तकमणिने इस प्रकार अपार सुवर्ण खाया जिसको वह प्रतिदिन उगलने लगा। सूर्य भगवानने अपना तप करनेवाले सत्राजितको ऐसी मणि दी थी। यमराज तो वैवस्वत थे ही। उनके पास ऐसे स्यमन्तोंका हार ही रहा तो कौनसा आश्चर्य है? उसमेंसे प्रतिदिन अपार सुवर्ण निकलता रहा होगा। वह भी 'अनेकरूपा'-नीला, पीला, लाल इस प्रकार रंगबिरंगे रत्नोंका हार था। अतः इसका प्रदान महत्त्वपूर्ण है। इस बातके समर्थनमें उत्तरवल्लीका मन्त्र भी देख सकते हैं।

"नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तः"

इसे वित्तमयी बताया। 'सृङ्' यह शब्दानुकरण है। सृङ् इति कायति शब्दायते। हिलते समयमें सृङ्-ऐसी आवाज होती है इसलिये 'शब्दवती' अर्थ किया। 'वित्तमयी' इस अग्रिम विशेषणानुसार रत्नमयी कहा।

सृङ्का का दूसरा अर्थ भी भाष्यमें बताया है। सृङ्कामकुत्सितां गतिं कर्ममयीं'। कर्ममयी अनिन्दिता गति। स्रकि गतौ धातुसे सृङ्का शब्द है। अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलम्-अनेक फल वाला कर्म का विज्ञान ऐसा तात्पर्यार्थ भी दिखाया है। महाभारतमें नाचिकेतोपाख्यान आया है। वहां बताया है कि यमराज ने नचिकेताको अनेक दिव्य लोकोंका दर्शन कराया जो पुण्यवानोंके हैं। ऐसे दिव्यलोक दीख रहे थे जैसे पिरोया हार हो। कर्मानुसार नाना स्वर्गलोक प्राप्त होते हैं। एक ही स्वर्ग नहीं पूर्वमीमांसामें विचार किया है—ज्योतिष्टोम करो तो स्वर्ग, अग्निहोत्र करो तो भी स्वर्ग। 'स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशेषात्' में बताया है कि जहां भी फल नहीं लिखा वहीं स्वर्गफल समझना। तो अल्पयत्नसाध्य हो तो अधिक यत्न कौन

करेगा? इसके उत्तरमें बताया है कि स्वर्ग भी अनेक प्रकारके हैं। चित्रविचित्र हैं। इन्हीं लोकोंको पंक्तिबद्धरूपसे यमराजने दिखाया। किन्तु कर्म किये बिना वरदानमात्रसे ये सब लोक प्राप्त कैसे होंगे? उत्तर है केवल मोक्षको छोड़कर अन्य सभी लोक वरदान आदिसे प्राप्य हैं। या फिर ऐसा अर्थ कर लो कि केवल अग्निविद्या ही नहीं अनन्त लोकोंके साधन कर्म एवं विज्ञानको यमराजने दिखाया। भाष्यमें उतना ही बताया है। अग्रिम वल्लीमें "नेतां सृङ्कां वित्तमयीं" का अर्थ वित्तप्रचुरसाध्य बताया। क्योंकि वित्तके बिना कर्म संभव नहीं है। "अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय" ऐसा बृहदारण्यकमें भी बताया है॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

तीन रूपसे नाचिकेत अग्निको समझनेवाला, तीनसे संधिकर, तीन कर्मोंको करता हुआ जन्ममरणको पार कर जाता है। ब्रह्मोत्पन्न सर्वज्ञ स्तुत्य इस देवकी उपासना कर और दर्शन कर मनुष्य इस परम शान्तिको प्राप्त होता है॥

अग्निचयनके विषयमें कुछ विशिष्ट सहकारी साधनोंका यहां पर निर्देश है। यह केवल चयनके लिये ही नहीं बल्कि समस्त विद्याओंका सहकारी है। किन्तु श्रुति अग्निचयन प्रकरण होनेसे तन्मात्रके (अग्नि चयनमात्रके) सहकारीरूपमें कहती है। साथ ही नचिकेताने जो स्वयं आदर्श प्रस्तुत किया उसे शास्त्रीय ओढनी ओढ़ायी जा रही है।

त्रिणाचिकेतः। त्रिविषयीकृतो नाचिकेतो येन। नाचिकेत अग्निको जिसने तीनका विषय बनाया वही त्रिणाचिकेत है। तीन कौन? अध्ययन, विज्ञान और अनुष्ठान। (त्रिसुपर्णं पठन्ति के समान नाचिकेताग्निके तीन अध्याय पढ़नेवाला ऐसा अर्थ इसलिये संभव नहीं है कि पठन्ति के समान अधीते ऐसा क्रियापद यहां नहीं है। लक्षणासे त्रिनाचिकेताध्ययनकर्ता अर्थ करना अनुचित है।) अध्ययन गुरुमुखसे विद्याग्रहणको कहते हैं। वेदविद्यामें यह परम आवश्यक है। यहां पुस्तकप्रत्ययाधीतका कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि वेदरहस्यका ज्ञान पुण्यविना संभव नहीं। अध्ययनादृष्ट भी ज्ञानोत्पत्तिमें हेतु है। उपनिषदोंको गुरुमुखसे सुनो। मन्त्रोंको गुरुमुखसे सुनो। पुस्तकमें

लिखे हुए मन्त्र पढ़कर अनुष्ठानमें मत लगो। अर्थज्ञान भी गुरुमुखसे सुनो। नहीं तो अर्थका अनर्थ भी हो सकता है। 'अणोरणीयान्' इतना सुनकर द्वैतवादियोंने अर्थ किया आत्मा अणुसे अणुतर है। यह उसी प्रकार है कि मुहम्मदने कहा मदिरा पियो, व्यभिचार करो तो दोजखमें जाओगे। इसमें तो दोजखमें जाओगे को छोड़ दो तो मदिरा पान आदिके लिये छूट अर्थ निकलेगा। 'अणोरणीयान्' के बाद 'महतो महीयान्' भी पढ़ा है उसे क्यों नहीं देखते अतः गुरुमुखसे अर्थज्ञान प्राप्त करो। 'अणोरणीयान्' का सूक्ष्मात् सुसूक्ष्मं-सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म इस प्रकार अन्य श्रुतिमें अर्थ विवक्षित है। 'बालाग्रशतभागस्य' इत्यादि श्रुतिका भी वही अर्थ है। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' का हजार सिरवाला एक विलक्षण मानव अर्थ नहीं है। किन्तु अनन्तशीर्षा अर्थ है। सर्वेषां शिरांस्यस्यैव शिरांसीति सहस्रशीर्षा।

अध्ययनविषय। करनेके बाद विज्ञानविषय करो। अध्ययनसे भी ज्ञान होता है। अर्थज्ञानपर्यन्त अध्ययन ही अध्ययन है। विज्ञानमें 'वि' उपसर्ग जो जुड़ा है वही विशेषता है। विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। वह क्या है यहां? तर्कसहित मननसे जनित ज्ञान। 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः'। ऐसा मनुने बताया है। तर्क का कुतर्क अर्थ मत समझो। क्योंकि आजकल तर्कका नाम बिगड़ गया है। लोग तर्कके नामसे कुतर्क ही करते हैं। अतः कुतर्कको तर्क समझने लगे हैं। जैसे महत्तर शब्दका अर्थ कुतर्कसे खराब कर दिया। महान्, महत्तर महत्तम। इस महत्तरको बोल आदर करना चाह रहे थे। किन्तु उलटा हुआ। जैसे महाब्राह्मण। पहले पतितोंका उद्धार ब्राह्मण नहीं करते थे। कुछ उदारवादी आगे आये तो उनको धैर्यशाली होनेसे महाब्राह्मण कहने लगे। किन्तु आजकल मुर्देका कपड़ा आदि लेनेवालेको महाब्राह्मण समझा जाने लगा। सुतर्क अवश्यमेव करना चाहिये। तर्कका नाम बिगाड़कर तर्क से ही दूर रहनेके लिये गुरुलोग उपदेश देने लगे। प्रतिदिन नहाओ और सन्ध्यावन्दन करो ऐसी विधि है। किन्तु किसीको संनिपात ज्वर चढ़ा हो तो? अतः वहां तर्क करना पड़ेगा, 'अनापदि' विशेषण जोड़ना होगा। 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी' गङ्गामुत्सृज्य कूपजले स्नाति। 'अनापदि' यदि कोई आपत्ति न हो तो यह अर्थ तर्कसे निकाला। उस पर कुतर्क चला। बम्बईवालोंको

हरिद्वारमें गङ्गाका जल ऐसा लगता है मानो डुबकी लगाने पर बिछू काटते हैं। यह भी तो आपत्ति ही है। परंतु यह आपत्ति नहीं है। यह तो कुतर्क है तकलीफसे बचनेके लिये। थोड़ी तकलीफ भी अवश्य उठाओ, एक दो बार तो स्नान तो कर ही लो। पूर्वमीमांसा लौकिक युक्तिरूप तर्क ही है। उससे वेदार्थका निर्णय होता है। ऐसा जो निर्णय है उसीको यहां विज्ञानसे बताया है। अध्ययनकालमें सामान्य ज्ञान होता है। मीमांसासे विज्ञान होता है। या और भी आगे बढ़कर अतिविशिष्ट तर्क एवं मननसे विशेष ज्ञान जो होगा वह विज्ञान है।

अनुष्ठान तीसरा है। अध्ययन किया, श्रवण किया। आगे मनन भी किया। परंतु जीवनमें नहीं उतारा, उसका अनुष्ठान नहीं किया तो धीरे-धीरे स्मृत सभी विस्मृत हो जायेगा और ज्ञान-विज्ञान दोनों ही व्यर्थ चले जायेंगे। कई ब्राह्मणोंको हमने देखा है वेदोंको पढ़ा। अच्छा कर्म करने कराने भी लगे। बादमें बी. ए., एम. ए. कर कोई बैंकमें लगा, कोई सरकारी नौकरीमें लगा। उतना नहीं बढ़ा तो कोई चपरासी बना, कोई टेक्सी ड्रायवर बना। दो चारसे मैंने पूछा तो वे बोलने लगे कर्मकांडसे गुजारा नहीं होता। इसमें यजमानोंका अपराध भी कम नहीं। मजदूरको आठ घंटेके चालीस से सौ रूपये तक मजदूरी देनी पड़ती है। किन्तु ब्राह्मण आदिको दो रूपये देकर ही टरकाना चाहते हैं। ज्यादा दिया तो ग्यारह। इक्यावनकी कल्पना तो काफी दूर है। उन नौकरीवालोंकी विद्या बेकार गयी और जो सेठ साहुकार श्रवण करते हैं उन्होंने भी कारखाना, मील चलानेमें से बड़ी मुश्किलसे थोड़ा समय निकाला है सुननेके लिये। मनन, अनुष्ठान क्या हो? अतः उनका प्रतिदिनका श्रवण भूलने मात्रके लिये हुआ। श्रवण करो थोड़ा मनन अवश्य करो। थोड़ा जीवनमें भी रोज उतारो। ब्रह्मचिन्तन प्रतिदिन करना ही चाहिए। सत्कर्म अवश्य करना ही चाहिए। अन्यथा विद्या बेचारी हर जगहसे निराश होगी।

त्रिभिरेय सन्धिम्। तीनसे सन्धि करनेके लिये यहां बताया है। तीन कौन यह नहीं बताया। अतः सन्धेय-सन्धिके विषय तीनको अनुमानके द्वारा समझना होगा। सन्धेय तो अनेक हैं। माता, पिता, आचार्य ये तीन सन्धेय हैं। प्रत्यक्ष अनुमान, आगम ये तीन संधेय हैं। श्रुति, स्मृति, सदाचार ये

तीन सन्धेय हैं। श्रेयकी इच्छा रखनेवाले विद्यार्थीके लिये तीनोंसे या तीनमेंसे किसीसे गांठ जोड़ना चाहिये।

माता, पिता, गुरु इन तीनोंको गुरु शब्दसे कहा जाता है। प्रथम गुरु माता है। द्वितीय गुरु पिता है। तृतीय गुरु आचार्य है। बचपनमें जो संस्कार पड़ता है वह आखिरतक रहता है। पंजाबी, सिन्धी किसी सन्तको माथा टेकने चरणस्पर्श करनेमें संकोच नहीं करते। किन्तु आजकलके नवयुवकोंको प्रणाम करनेमें शरम आती है। सैलूट कर सकते हैं या शैक हेण्ड कर सकते हैं। क्योंकि मातापिताने संस्कार डाला नहीं। अंग्रेजी स्कूलोंका संस्कार पड़ गया।

"उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥"

इस मनुवचनकी व्याख्या अन्यत्र की गई है। प्रकृतोपयोगी अर्थ यह है कि गौरवका अर्थ है गुरुभाव या गुरुकर्म। दस उपाध्याय संस्कार डाले उतना एक आचार्य डालता है। क्योंकि उपाध्याय केवल पोथी पढ़ाता है। आचार्य अपने आचरण में लाता है। शिष्यके आचरणके लिये प्रेरणा भी करता है। सौ आचार्य जितने संस्कार डाल सके उतना एक पिता संस्कार डाल सकता है क्योंकि बचपनमें पिता ही तो मुख्य है। परंतु हजार पिताकृत या यूं कहो कि पिताकी अपेक्षा हजार गुना अधिक संस्कार माता डाल सकती है। क्योंकि कोमलतम बालक हृदयपर सर्वाधिक प्रभाव माताका ही पड़ता है। इसीलिये मातृभाषा, मातृभूमि कहा जाता है, पितृभाषा और पितृभूमि नहीं। प्रथम गोदमें माता रखती है। दूध पिलाती है। मम्मी-पप्पा कहना सिखाती है। आजकल इसमें काफी कलुषता आ गयी है। बड़े घरोंमें धाईयां.... मांका स्थान ग्रहण करती जा रही है और कुछ कुसंस्कार भी बालकोंके हृदयमें पड़ते जा रहे हैं। प्राचीन समयमें ऐसी भी मातायें हुईं कि बच्चेको ही तत्त्वज्ञानी बना दिया। उदाहरणार्थ—

"शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम् ॥"

यह कहनेवाली मदालसा है। वह संसारको स्वप्न कहती है। मोहनिद्रा छोड़नेको कहती है। और उसका स्पष्ट प्रभाव उसके अनेक पुत्रोंपर पड़

गये जो संसार छोड़कर जंगल गये। आखिर राजाके आग्रहसे राजकार्यके लिये अन्तिम पुत्रको वैसा उपदेश नहीं किया। इस प्रकार संस्काराधानरूपी गौरव-गुरु कर्मकी दृष्टिसे माता का स्थान प्रथम है। पिताका स्थान द्वितीय है। आचार्यका स्थान तृतीय है। हां, ब्रह्मज्ञानकी दृष्टिसे आचार्यका स्थान प्रथम आया करता है।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।

ऐसा मनुवचन है। इस प्रकार विभाजन कर लो—भावनाका आधान करनेवाली माता है। सद्गुणोंका आधान करनेवाला पिता है और ज्ञानविज्ञानका आधान करनेवाला आचार्य है। अतः इन तीनसे संधि करो।

दूसरा अर्थ है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोंसे सन्धान करो। तीनोंकी सहायता धर्मनिर्णयके लिये आवश्यक है।

"प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥"

धर्मशुद्धिकी इच्छा रखनेवालेको प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध आगम-रूपी शास्त्रको ठीक तरहसे समझना चाहिये। ऐसा मनुवचन है। गर्मीमें प्याऊ लगाओ। ठंढीमें धूनी लगाओ, कंबल दो तो पुण्य होगा यह निर्णय आप प्रत्यक्षको सहारा रखकर करेंगे। औषध-दवाई देना पुण्य है। क्या प्रमाण? प्रत्यक्ष। ब्राह्मण को श्राद्धपक्षमें जिमाना पुण्य है। किन्तु ब्राह्मणको पेट भरा हो तो? अंधविश्वासमें उनको भी जबर्दस्ती खिलावें और ब्राह्मण बिमार हो जाय तो भी पुण्य है क्या? नहीं। क्या प्रमाण? प्रत्यक्ष। प्रत्यक्षको संमुख रखो। दूसरा प्रमाण अनुमान है। पुण्यके लिये यज्ञादि कर्म करो। हिंसा आदिसे पाप होगा। क्या प्रमाण? प्रत्यक्ष नहीं है। शास्त्र भी नहीं है। शास्त्रने यही बताया यज्ञसे स्वर्ग मिलेगा। हिंसासे नरक मिलेगा। वहां पुण्यपापका नाम कहां आया है? प्रमाण वहां अनुमान है। यज्ञादि अभी समाप्त हो गये, कालान्तरमें स्वर्ग कैसे होगा? मां बाप मर गये और फिर लड़का जनमा ऐसा कहीं होता है? उत्तर है—यज्ञसे प्रथम पुण्य उत्पन्न होगा। हिंसासे प्रथम पाप उत्पन्न होगा। उस पुण्यपापसे स्वर्गनरक होगा। इस अनुमानसे पुण्यपाप सिद्ध हुआ तो प्राप्तपुण्य क्षरित न हो जाय इसके लिये सजग रहना होगा।

'कर्मनाशाजलस्पर्शात् पुण्यः क्षरति कीर्तनात् ।'

कर्मनाशा नदीके जलके स्पर्शसे और अपने किये पुण्यकी स्वयं प्रशंसा करो तो पुण्य क्षरित होंगे। प्रायश्चित्त करो तो पाप नष्ट होंगे। 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजेत' 'सेतुं दृष्ट्वा ब्रह्महत्यां व्यपोहति' अश्वमेधसे ब्रह्महत्यापाप नष्ट होता है। सेतुदर्शनसे ब्रह्महत्या पापका नाश होता है। इन सब वचनोंकी सार्थकता तभी है जब अनुमानसे पुण्यपाप सिद्ध हों। शास्त्र तो प्रमाण है ही।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥'

यही भगवानका भीं कहना है। हे अर्जुन! कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। अतः शास्त्रमें उक्त कर्म करना चाहिये। इन तीनोंको सुविदित बनाओ ऐसा मनु कहते हैं। अर्थात् करणदोष रहित, हेत्वाभासरहित, बलाबलविचार से युक्त प्रमाणज्ञान होना ही सुविदित करना है। इसीलिये पञ्चतन्त्रमें कहा—

'कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम् ।
तन्नरेण न कर्तव्यम्'

अच्छी तरह नहीं देखा हुआ, अच्छी तरह नहीं जाना हुआ, अच्छी तरह नहीं सुना हुआ, अच्छी तरह परीक्षण नहीं किया हुआ हो उसको नहीं करना चाहिये। सुविदित न करने के अनेकानेक अनर्थफल भी प्रसिद्ध हैं।

तीसरा अर्थ है—श्रुतिस्मृतिसदाचारैस्त्रिभिः सन्धिः। श्रुति वेदोंको कहते हैं। स्मृति माने मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि एकसौ. अट्ठाईस स्मृति हैं। गीता, रामायण आदि भी स्मृतिके अन्तर्गत हैं। और शिष्टाचार ही सदाचार है। सदाचारका अर्थ है—श्रुति, स्मृतिके अनुरूप आचरण।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।'

ऐसा मनुवचन है। वेद तो धर्मका परम मूल है ही। उसमें तो किसी प्रकारका साधक बाधक नहीं। वह स्वतः प्रमाण है। स्मृति भी प्रमाण है किन्तु वेदविरुद्ध न हो। अत एव जैमिनिऋषिने कहा—

'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् ।'

श्रुतिविरोध आनेपर स्मृति अनपेक्षणीय होगी। विरोध न हो तभी स्मृति प्रमाण है। अतएव "तद्विदाम् स्मृतिशीले" कहा। वेदविदुक्त स्मृति धर्ममूल है। तथा वेदविदके द्वारा आचरित सदाचार प्रमाण है। वेद अनन्त होनेके कारण स्मृतिकारने मानव जितना कर सकते हैं और उनको जितना करना चाहिये उतनेका संग्रह किया। श्रुति और स्मृति पढ़नेमें जो असमर्थ हैं वे अपने बुजुर्गोंके आचरणोंका अनुकरण करें बशर्ते कि बुजुर्ग या उनके मार्ग प्रदर्शक वेदवित् रहे। अन्यथा–

"गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः"

यही उक्ति चरितार्थ होगी। अर्थात् लोग केवल देखादेखी करते हैं। परमार्थ वे नहीं जानते। इन तीनोंसे भी संधि करो।

त्रिकर्मकृत्। तीन कर्म करनेवाला। तीन कर्म कौन? यह भी यहां गूढ ही रखा। व्याख्याओंमें इसका वर्णन किया है। इज्या (यज्ञ), अध्ययन, दान त्रिकर्म हैं। "यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं" ऐसा गीतावचन है। इज्या यज्ञ को ही कहते हैं। अग्निहोत्रादि भी इज्या है। भगवत्पूजन भी इज्या है। यह यज्ञ कब तक करना है? यह प्रश्न है। एक भक्तने मुझसे पूछा–महाराज अब मैं ज्ञानी हो चुका हूं। अब अग्निहोत्रादि या पूजनादि कर्म मुझे करना चाहिये क्या? मैंने कहा तुम ज्ञानी कैसे बने? भक्तने कहा–मैंने विचारसागर पढ़ा जिसमें षट्दर्शनों का सार आ जाता है। वृत्तिप्रभाकर पढ़ा। पंचदशी पिताम्बरी पढ़ी। मैंने पूछा इन सबको पढ़नेपर क्या हुआ? भक्त ने कहा–आत्मज्ञान हो गया। अब मुझे कर्म करना चाहिये कि नहीं? मैंने कहा, आपको आत्मज्ञान हुआ तो अवश्यमेव कर्म करना चाहिये। भक्त आश्चर्यमें पड़ गया। उसने तो सुना था–

कर्मके ढगले आग लगा लो

आतमको पहचान लो

भक्तने पूछा–यदि आत्मज्ञान न हुआ तो? मैंने कहा, तब तो कर्म करना ही है। 'यह कैसी बात है महाराज? आत्मज्ञान नहीं हुआ तो भी कर्म करो, हुआ तो भी कर्म करो, तब 'कर्मके ढगले आग लो' इस संतवाणी का क्या होगा? मैंने कहा-आत्मज्ञान न हुआ तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करो। आत्मज्ञान हो गया तो लोकसंग्रह के लिये कर्म

करो। सन्तलोग कहते हैं-अग्नि पावकको कहते हैं। पवित्र करनेवाला पावक है। आत्मामें कर्मसे कर्तृत्व-भोक्तृत्व दो कचड़े आ गये हैं। आग लगाओ तो कचड़ा जल जाएगा। सोना जलाओ तो शुद्ध होगा। अखिल कर्मके ढंगले आग लगालो यह बोलना भी तो कर्म है।

'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥'

भगवान् कहते हैं कि मैं ज्ञानी होनेपर भी कर्म करता हूँ। यदि न करता तो ये सारे लोग नष्ट भ्रष्ट होंगे और मैं संकरदोषका कर्ता बनूंगा। जनताका नाश करनेवाला सिद्ध हो जाऊंगा। दूसरा कर्म अध्ययन है। इसमें भी वही बात है। यदि ज्ञान पाया नहीं तो ज्ञान प्राप्तिके लिये सत्संगमें आकर बैठो सुनो। अध्ययन करो। यदि ज्ञान प्राप्त किया तो भी आकर बैठो। सुनो। दूसरोंको प्रेरणा मिलेगी। बड़े-बड़े बैठते हैं तो छोटोंको बैठनेमें संकोच नहीं रहेगा। लोकसंग्रह मात्र नहीं, ज्ञानकी परिपक्वता भी पुनः श्रवणका फल है। अत एव 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।' बताया। तीसरा कर्म दान है। ज्ञानीमें ममत्व नहीं है। स्वस्वत्वभावना नहीं है। तब स्वत्वभावना निवृत्तिपूर्वक परस्वत्वापादन रूप दान क्या हो? फिर भी व्यावहारिक दृष्टिसे सब कुछ है। उससे दूसरोंको भी प्रोत्साहन मिलता है। बाजारमें एक सेठने सौ रुपया चंदा दिया तो उस सेठकी योग्यताके अनुपातसे पचास, दो सौ ऐसा सब निकालते हैं। भगवानके शब्दोंमें भी यही तीन प्रायः उक्त है। 'यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं' में यज्ञ, दान ये दो तो पूर्वोक्त ही हैं। एक तप विशेषरूपेण कहा। किन्तु—

'स्वाध्यायाध्ययनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।'

ऐसा स्वाध्यायको भगवानने ही तप बताया। तप शब्द व्यापक अर्थ रखता है इतना ही फरक है।

तरति जन्ममृत्यू। नाचिकेत अग्निविद्या दूरगामी फल देनेवाली है। अत एव अगला ज्ञानप्रकरण आवश्यक होनेपरभी यहीं पर जन्ममृत्युका तरण बताया। नाचिकेत प्रकरणमें भी "अप पुनर्मृत्युं जयति" बताया। पुनर्मृत्युका अर्थ जन्मोत्तर मृत्यु होनेसे दोनोंको यहां बताया।

ब्रह्मजज्ञं। कर्मनिरूपणके साथ उपासना भी कहते हैं। यहां 'विदित्वा' का 'उपास्य'-उपासना करके ऐसा अर्थ है। किस रूपमें उपासना करना यह बताते हैं—ब्रह्मजज्ञं। ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्च। ब्रह्मजका अर्थ है ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ। ब्रह्मासे उत्पन्न हुआ ऐसा अर्थ नहीं है क्योंकि "लोकादिमग्निं" ऐसा पहले आ चुका है। प्रथमशरीरी विविक्षित है। और प्रथम शरीरी ब्रह्मा है—"ब्रह्माग्रे समवर्तत" यह हम पहले कह चुके हैं। शरीरीके साथ शरीर भी तो हुआ। विराट्का शरीर जड़ पृथिवी आदि है। उसके वारण के लिये "ज्ञ" यह विशेषण है। "ज्ञाऽज्ञौ द्वावजौ" इत्यादि श्रुतिमें चेतनके लिये ज्ञ शब्दका प्रयोग है और जड़ प्रकृति आदिके लिये अज्ञ शब्दका प्रयोग है।

देवम्। ज्ञ कहनेसे जीवात्मत्वविशिष्ट भी ब्रह्मज होनेसे आएगा। अतः उसकी व्यावृत्तिके लिए विशेषण है "देवम्"। देव कहनेसे दिव्यतायुक्त अर्थ होता है। जीवमें और देवमें क्या फरक है जब कि दोनों एक ही आत्मतत्त्व हैं? उत्तर यह है कि जीव प्रकृतिप्रधान होता है, देव चेतनप्रधान होता है। प्रकृतिके आक्रमणसे देवत्व दब जाता है। देव कहनेपर प्रकृति दब जाती है। उपासना हमेशा दिव्यकी करो, प्राकृतकी नहीं। मूर्तिध्यान भी करो तो भूलना नहीं कि उसको चैतन्यप्रधानतया चिन्तन करना चाहिये।

ईड्यम्। स्तुत्य इस अर्थमें यह शब्द है। हरिमीडे स्तोत्र प्रसिद्ध है। ईड का स्तुति करता हूँ अर्थ होता है। वेदोंमें "अग्निमीले" बताया। ड, लके अभेदसे ले कह दिया। असलमें अग्निमीडे है। अतएव अग्नि ईड्य है। "ईड्य" विशेषणसे स्तुतिपूर्वक उपासना सूचित होती है। उपासना करते हुए कुछ स्तुति भी बोलो। अच्युताष्टक, गोविन्दाष्टक, शिवनामावलि, विष्णु- सहस्रनाम आदि स्तुतियां हैं। भाषामें भी स्तुति बोल सकते हैं। जैसे हनुमान चालीसा, गुरुचालीसा आदि। किन्तु विराटपुरुषरूपसे स्तुति चाहिये।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यमनाकाशं परमाकाशं
गोष्ठप्राङ्गणरिङ्गणलोलमनायासं परमायासं
मायाकल्पितनानाकारमनाकारं भुवनाकारं
क्ष्मा मा नाथमनाथं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ।"

यह विराटपना परमाकाश-नानाकारं-भुवनाकारं इत्यादि पदोंमें स्पष्ट है। प्रणमत ये इन्द्रिय मन आदिको बोलते हुए स्वयं प्रणाम करनेके लिये है। इसके अनन्तरके श्लोकमें विश्वरूपदर्शन प्रकरण ही है।

"मृत्सामत्सीहेति यशोदा ताडनशैशवसन्त्रासं
व्यादितवक्त्रालोकितलोकालोकचतुर्दशलोकालिम्
लोकत्रयपुरमूलस्तम्भं लोकालोकमनालोकं
लोकेशं परमेशं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ।"

श्रीकृष्णने मिट्टी खायी। यशोदामाताके ताडनके डरसे मुहं खोलकर दिखाना पड़ा। वहां समस्त लोक दिखाई दे रहे थे। स्वयं त्रिलोकपुरके मूलस्तम्भरूप थे। आचार्यशंकरकृत स्तुतियोंमें यही तो विशेषता है कि वहां पूर्णात्मरूपेण स्तवन मिलेगा।

विदित्वा निचाय्य। "विदित्वा" का उपासना करके ऐसा अर्थ है। "निचाय्य" का दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य ऐसा अर्थ भाष्यमें दिखाया है। उपासना कब तक करना ऐसा प्रश्न लोग करते हैं। सवा लाख जप करें कि सवा करोड़ या जीवनभर या थोड़ा बहुत इसका उत्तर है तब तक उपासना करो जब तक उपास्यदेवका साक्षात्कार न हो। उपास्यकी उपासना करते रहे, नाम लेते रहे, पुकारते रहे और वह आया नहीं तो उपासना पूर्ण किस प्रकार मानी जायेगी? चाहे इस जन्ममें दर्शन मिले चाहे अगले जन्ममें किन्तु दर्शनपर्यन्त उपासना करनी चाहिये। इसीलिये श्रुतियोंमें सर्वत्र ज्ञानार्थक विद् धातुका प्रयोग है जिसका फलपर्यन्त अर्थ होता है। उसको यहां स्पष्ट कर दिया "निचाय्य" कहकर, इतना ही फरक है। तो निष्कर्ष यह निकला कि भगवानके दर्शन तक उपासना करो बांदमें छोड़ो। नहीं। बादमें छोड़नेका सवाल ही कहां उठता है? अपार आनन्दरूप दर्शन होनेपर उपासना छोड़ेगा कौन?

"विक्रीडितोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ।

तब दर्शनतक ऐसा क्यों कहा? इसलिये कहा कि तबतक विधिप्रयुक्त उपासना करो बादमें स्वाभाविक उपासना शुरु होगी। विधिकी जरूरत नहीं होगी। प्रश्न भी तब उठेगा नहीं कि कब तक उपासना करें हां, अन्य देवादिकी सकाम उपासनाके लिये पूर्वोक्त अवधि है।

इमां शान्तिमत्यन्तमेति। यमराज साक्षात्कार करते हुए इमां शान्तिं कहते हैं। उग्र कर्म मैं कर रहा हूँ फिर भी शान्ति करस्थ है। यह शान्ति मिलेगी। यह शाश्वत शान्ति है। अन्य शान्ति कादाचित्क है। कभी-कभी होती है। उसीकी व्यावृत्तिके लिये "अत्यन्त" विशेषण है। ऐसी शान्ति मिलती है जो शाश्वत है, आत्यन्तिक है।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

अध्ययन आदि तीन विषयोंके रूपवाले नाचिकेत अग्नि का जो चयन करता है या इष्टका इत्यादि तीनको जानकर उसकी उपासना करता है, नाचिकेताग्नि चयन भी करता है वह मृत्युपाशोंको पहले काटकर शोकसंसारका अतिक्रमणकर स्वर्गलोकमें अनिन्दित होता है ॥ १८ ॥

नचिकेताने प्रश्न किया था—"स्वर्गलोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं जरया बिभेति उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके। स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि" वह जिज्ञासित अग्नि ही बताया या कोई अन्य इस शंकाका निवारण करते हुए यह मन्त्र है। क्योंकि बहुत जगहोंमें ब्रह्मज्ञानोपयोगी कर्म भी बताते हैं। किन्तु यहां जिज्ञासित अग्नि स्वर्ग-साधन है। अतः तदनुरूप उत्तर हुआ या नहीं ऐसा कोई सन्देह न हो उसके लिये प्रश्नके साथ मिलाकर उत्तरको प्रस्तुत करते हैं।

त्रिणाचिकेतः। इसका अर्थ पहले बताया जा चुका है। अध्ययन, विज्ञान एवं अनुष्ठान इन तीनोंको विषय बनी नाचिकेत अग्नि-उसको जानने-वाला त्रिणाचिकेता है। भाष्यमें तीन मरतबा अग्निचयन करनेवाला त्रिणाचिकेता ऐसा भी अर्थ किया है। याज्ञिक विधिमें तीन मरतबा अग्निचयन होता भी है। जैसे मंदिरोंमें तीन मरतबा पूजा होती है। जैसे जयजयकारको जोर देनेके लिये तीन बार जय बोलते हैं। वैसे त्रिनयन भी है। किन्तु उसपर प्रश्न होगा-त्रिचयन जो कर चुका है उसके लिये "य एवं विद्वांश्चिनुते" ऐसे द्वितीयपादकी संगति कैसे होगी? उत्तर है 'त्रिणाचिकेता भवन् चिनुते' ऐसा अध्याहार करना चाहिये। त्रिणाचिकेता होनेके लिये या होता हुआ अग्निचयन करता है यह अर्थ है। त्रिणाचिकेता तो बनना ही है। त्रिणाचिकेता न कहते तो एकबार चयन करके ही यहां कृतार्थताकी

शंका हो सकती है। स्पष्टीकरण तो आवश्यक ही है। भविष्यद्वृत्तिसे प्रयोग होता ही है।

त्रयंमेतद् विदित्वा। यह भी पूर्वोक्तका अनुवादमात्र है। "या इष्टका यावतीर्वा यथा वा" इन तीनोंको जानकर। इन्द्राग्निनिर्मित अग्निपक्व सातसौ बीस ईंटें होती हैं। उनसे कुण्ड बनाते हैं और उसमें सातसौबीस आहुतियाँ देते हैं। एक वर्षके सातसौ बीस दिन तथा रात मिलकर अवयव होते हैं। मानों कि सातसौ बीस दिनरातरूपी ईंटोंसे संवत्सर प्रजापति बने। प्रजापति शरीर बने। उसमें सातसौ सूर्यदर्शन चन्द्रदर्शनरूपी आहुतियां हुईं। अमावस्याको भी चन्द्र रहता ही है। ऐसा जो संवत्सर प्रजापति है वही यह अग्नि है। इस प्रकार समझनेका मूल हैं ये इष्टिकायें-उनकी संख्या एवं प्रकार।

य एवं विद्वान्। यही उपासनानुवाद है। पूर्वोक्त सातसौ ईंट एंव सातसौ आहुतिवाली अग्नि संवत्सरप्रजापति है। वहीं विराट् पुरुष है। वही मैं हूं इस प्रकारकी भावना यहां उपासना है। "य उ चैनमेवं वेद" का भी यही अर्थ है। मानसयज्ञ इससे पृथक् है। उसमें पूरे यज्ञक्रमका चिन्तनमात्र है। वैसा मानसयज्ञ करनेके बाद फिर उसमें संवत्सर प्रजापतिका चिन्तन करे तो वह भी उपासना मानी जाएगी। बाह्ययज्ञको सम्यक् देखकर उसीमें संवत्सर प्रजापतिकी भावना सुगम है। मानसयज्ञमें यद्यपि सामग्री नहीं लगती तथापि अत्यन्त कठिन है। क्योंकि विचारपरिवर्तनसे निषिद्ध अर्थका आना संभव है। घीका चिन्तन करते-करते तेलका चिन्तन आ गया तो तेलकी आहुति पड़ जायेगी। बाह्ययागमें चिन्तन कुछ भी करो परन्तु तेल तो वहां है ही नहीं जो कुंडमें गिर पड़े। मानसपूजामें भी यही तकलीफ है। फूल चढ़ाते समय कांटेका स्मरण आ गया तो भगवानपर कांटा चढ़ जायेगा। इस मनका ठिकाना थोड़े ही है। कुछ भी सोच सकता है। गंगाका चिन्तन करते-करते गटरका स्मरण आया तो क्या होगा? अतः मानस पूजन आदिमें काफी सावधानी बरतनी पड़ती है।

चिनुते नाचिकेतम्। 'विदित्वा' के साहचर्यसे त्रिणाचिकेतो भूत्वा, विद्वान् भूत्वा इत्यादि क्त्वान्त सामान्य पद अध्याहार होगा। और वह 'मुखं व्यादाय स्वपिति' के समान भविष्यदर्थमें होगा। क्योंकि उपासना अग्नि-

चयनके बाद होती है। 'या लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' के अनुसार हेत्वर्थमें विद्वान् शब्द होगा, तदनुसार पूर्वमें त्रिणाचिकेतः होकर अर्थ हो जायेगा। अग्निचयनके बाद त्रिणाचिकेतत्व और विद्वत्त्व दोनों होते हैं।

स मृत्युपाशान्.... प्रणोद्य। अग्निचयन और उपासनाका फल है– मृत्युपाशसे छुटकारा। मृत्युपाश मुख्यतया तीन है। अधर्म, अज्ञान एवं अवैराग्य। अधर्मका धर्माभाव अर्थ नहीं है। कुछ भी धर्म न करे तो कोई अधर्म नहीं हुआ। यज्ञादि धर्म है तो हिंसादि अधर्म है। वह भी भावपदार्थ है। जैन धर्मवाले धर्मपुद्गल तथा अधर्मपुद्गल भावतत्त्व मानते हैं। अपने यहां भी लगभग वैसा ही है। अज्ञान से यहां अविवेक समझना चाहिये। नित्य-अनित्य विवेकका अभाव। दोनोंको एकरूप समझना, शुचि अशुचिको एक समझना, दुख-सुखको एक समझना इत्यादि अविवेक है, अज्ञान है। इसके परिणामस्वरूप कभी विपरीत प्रत्यय भी होता है। अनित्यको नित्य समझना इत्यादि। तीसरा अवैराग्य है। वैराग्य एक प्रकारकी दृढ़ता है। अवैराग्य माने रागद्वेषादि। रागद्वेष या कामक्रोध समकोटिके हैं। राग होनेपर उसकी प्राप्तिमें जो विघ्न डालेगा उसपर द्वेष होता है। इसलिये गीतामें "काम एष, क्रोध एष" इस प्रकार दोनोंको एक बताया।

प्रणोद्य। इन मृत्युपाशोंका प्रणोदन अर्थात् भेदन किस प्रकार? इनमें अधर्म प्रत्यवाय भी है। उसे मल भी कहते हैं। मलकी निवृत्ति नाचिकेत-कर्मसे होगी। कैसे होगी? यह नाचिकेतचयन प्रत्यवायोंको उठने नहीं देगा। जैसे नित्यनैमित्तिक कर्म है। नित्यादिकर्म से क्या होगा? कुछ करना चाहिये। न करनेसे प्रत्यवाय लगेगा। कुछ किया ही नहीं तो प्रत्यवाय क्यों लगेगा? कोई चोरी नहीं की, हत्या नहीं की, झूठ बोले नहीं, क्यों पाप लगेगा सन्ध्या न करने मात्रसे? पाप नया नहीं लगेगा। किन्तु पूर्वकृत पापकर्मका बीजं पगट होगा, अंकुरित होगा, हजारों बीजोंका निदान बनेगा। जैसे जमीनमें न धान बोया, न बीज बोया फिर भी घास पैदा होती है। उसे उखाड़कर फेंकना ही होगा। नहीं तो जंगल होगा। नया झाड़ लगानेके समान हिंसादि कर्म है। घासफूसके समान प्रत्यवाय हैं। प्रत्यवायका परिहार नित्यादि कर्मसे होगा और नाचिकेताग्नि चयनसे भी

होगा। थोड़ा फरक है। नाचिकेताग्निचयन मलनाशक है। जैसे दर्पण पर बिना कुछ किये ही मलिनता जम जाती है वैसे ज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्धक पाप अन्तःकरणमें अंकुरित होते हैं। उसके निवारणके लिये नाचिकेताग्नि चयन है। उससे अधर्मरूपी मुत्युपाशका भेदन होता है। 'य एवं विद्वान्' इस उपासनासे विक्षेपनिवृत्ति प्रसिद्ध है। यहां रागद्वेष ही विक्षेप है। उसकी निवृत्ति उपासनासे होगी। उपासनोपहित कर्म वीर्यवत्तर होनेसे सम्यक् मलनिवर्तक होगा। और कर्मोपहितोपासना भी वीर्यवत्तर होनेसे सम्यक् विक्षेपनिवृत्ति होगी। तीसरा अज्ञान अर्थात् अविवेक। उसमें मूलाविद्यारूपी अज्ञानकी निवृत्तिके लिये अग्रिम ज्ञान प्रकरण है ही। उसकी निवृत्तिका यहां सवाल ही नहीं उठता। यहां अविवेकनिवृत्तिमात्र विवक्षित है। आत्मा तथा शरीरको सामान्यजन एक ही समझते हैं। 'स्वर्गकामो यजेत' सुननेके बाद भी यह विवेक नहीं कर सक पाते कि शरीर और आत्मा अलग है। एक बच्चा देरसे पतंग उड़ा रहा था। उसकी मां कई दिन पहले मर गयी थी। रोता रहता था। आज वह किसी खुशीमें पतंग उड़ा रहा था। बापने दो-चार बार कहा। माना नहीं। गुस्सेमें बापने उसको खूब पीटा। वह रोता हुआ नीचे आया। बापने बड़े लड़के के हाथमें पतंगका डोर सम्हला दिया था। उसने धीरे से पतंग को नीचे उतारा तो पतंगपर कुछ लिखा हुआ था। उसका हाथ थम गया। बापको लाकर दिखाया। क्या लिखा था—मां तुम कबकी स्वर्ग चली गयी। वापिस नहीं आ रही। जल्दी आओ। तेरे बिना मैं जिंदा नहीं रहूँगा। बच्चेकी भावनासे तो बाप भी रोने लगा कि वह स्वर्गमें पतंगसे समाचार पहुंचाना चाहता था। बच्चेकी भावना सराहने योग्य थी। किन्तु भावनासे आगे जानेवाले वेदान्तपर आनेपर वह आत्मा और शरीर का ऐक्याध्यास सिद्ध होता है। और सबको इस वेदान्तपर आना ही पड़ता है। क्या जीवनभर उस बच्चेकी वह भावना रहेगी? वह क्षणिक भावना थी खेल, जो हो, वेदान्त कहेगा वह बच्चा उसी मांके आकारके उसी शरीरको सूक्ष्मतापन्न समझकर ऐक्याध्यास कर रहा था। उस बच्चेके समान ही अविवेकी प्रायः सभी मनुष्य हैं। भले उन्होंने श्रुतिश्रवण भी किया हो। विवेंक तब होगा जब मलविक्षेपनिवृत्तिके साथ पूर्वकृत सामान्य श्रवण हो या सत्संग हुआ हो। पहले ही बालक

विद्याध्ययन करता है, उसके बाद कर्मोपासना होती है उसीसे विवेक हुआ–

'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ।'

वर्णाश्रम धर्मोंके अनुष्ठान तथा तपसे हरितोषण होता है। उसीसे विवेक आदि साधनसम्पादन होता है। यही मृत्युपाशप्रणोदन है।

पुरतः। यह मृत्युपाशभेदन–मरणके बाद यमराज बांधेंगे, उसके बाद तोड़ना है–ऐसी बात नहीं है। किन्तु मरणसे पूर्व ही सम्पादित करना है। तोड़ना है। मृत्युका पाश पहले आता है। मृत्यु बादमें। तोड़ना भी पहले है।

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।'

यहीं जानो, यहीं मृत्युपाशको काटो यही सच्चाई है। यहां ही सबकुछ नहीं किया तो उसका परिणाम महान् विनाश है। उसके बाद मृत्युका प्रणोदन आदि संभव नहीं है। मरनेके बाद मोक्ष मिलेगा इस बातको भूल जाओ। द्वैतवादी मरनेके बाद मोक्षकी कल्पना करते हैं। 'जक्षत् क्रीडत् रममाणः स्त्रीभिः'। इत्यादि वचन उपस्थित करते हैं। किन्तु हम पहले कह चुके हैं यह स्वर्गादि सभी स्वप्नकालीन कल्पनाके समान कल्पना है। हां, व्यावहारिकत्व उसमें है। किन्तु व्यावहारिक सत्य हम उसीको कहते हैं जो क्षणपरिणामी है। अतएव मिथ्या भी कहते हैं। क्षणपरिणामी कथमपि शाश्वत नहीं हो सकता। परमार्थसत्तामें पहुंचनेपर व्यवहार भी आभास-मात्र प्रतीत होगा।

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके। जबतक स्वर्गमें होंगे तबतक शोकादिका अतिक्रमण होगा। क्योंकि हम पहले ही बता चुके हैं कि वहां मरण, वियोग आदि दुःख नहीं होते। 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति'। बीतेका हम संकल्प करते हैं किन्तु उनकी उपस्थिति नहीं होती तो मन शोकमग्न होता है। प्रश्न यह होगा कि पिता दूसरा जन्म ले चुके हों या मुक्त हो गये हों तो संकल्पसे समुत्थित पिता कल्पनामात्र होगा। निश्चित होगा। किन्तु कल्पितसे भी संतुष्टि होती ही है। जैसे सपनेमें मृत व्यक्ति जीवित दीखता है तो अपार हर्ष होता है। अतः कल्पितत्व अकल्पितत्व आदिसे

कोई मतलब नहीं। जगनेके बाद अवश्य अफसोस होगा, दुःख होगा। उस समय संकल्पसे प्रिय व्यक्ति दीखता नहीं है। तब पूर्वस्वप्नमें दृष्टको सोचकर भी अफसोस होता है। यह बात स्वर्गसे गिरनेके बाद जिसने पुनर्जन्म लिया है उसके स्मरणकालमें भी तुल्य है। तब आसरः प्रभृति सत्यस्मृति भले लगे किंतु मुक्त, पुनर्जातादिकी स्मृति मिथ्या निश्चित लगेगी। तब तुल्ययोगक्षेम होनेसे "स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" इत्यादि भी मिथ्या ही निश्चित होंगे। अतः मरणोत्तर मोक्षरूपी "जक्षत् क्रीडत्" आदि परम-पुरुषार्थ कथमपि नहीं हो सकते। इसी जीवनकालमें असङ्गभावसे रहनेवाले आत्मदर्शीका जो अनुभव है वही यथार्थ है। शरीरसम्बन्ध-निमित्तक किंचित् क्लेश भले प्रतीत हो, परंतु उसको स्वरूपज्ञान होगा ही। जैसे बादलके मध्यमें कदा कदाचित् चन्द्रदर्शनसे भी निरावरण चन्द्र-दर्शनका अंदाजा लगेगा ही।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

हे नचिकेता! यह स्वर्ग्य अग्नि मैंने तुम्हें बताया जिसे तुमने द्वितीय वरसे मांगा था। इस अग्निको तुम्हारी (नचिकेताकी-नाचिकेत) अग्नि करके लोग बोलेंगे। अब तुम तृतीय वर मुझसे मांगो ॥

इस मन्त्रमें कोई नवीन चर्चा नहीं है। कोई भी अपूर्व अर्थ बताने वाला पद नहीं है। तब इस मन्त्रकी आवश्यकता थी? क्या व्यर्थ एक मन्त्रपाठ है? यहां पाठ करनेसे पुण्य मिलेगा इतनेके लिये यह है? नहीं। पदार्थमें अपूर्वता न होनेपर भी वाक्यार्थमें कुछ अपूर्वता है। नचिकेताको तीन वर मांगनेको कहा था। दो को तो नचिकेताने मांगा। संभव है नचिकेता नामसे अग्निका होना और सृङ्काप्रदान मिलाकर तृतीय वरदान स्वयं दिया हो। अथवा "भूयः" इस शब्दके अनुसार अतिरिक्त वरदानकी प्रतीति हो, फिर भी "तवैव नाम्ना भवितायमग्निः" इतनेमें वह गतार्थ हो जायेगा। "सृङ्कां चेमां" इत्यादि प्रार्थित तृतीय वर हो। फलतः नचिकेता असमंजसमें पड़ जाय कि वरदान स्वयमेव दे दिया तो फिर अपने मन

मुताबिक वर मांगनेका अब अवसर रह गया कि नहीं? अतः सन्देहनिवृत्ति करते हुए यमराज कहते हैं कि 'एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यः'।

'प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं' ऐसा उपक्रम किया। फिर यहां आकर 'एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यः' उपसंहार हुआ। तब संदंशन्यायसे मध्यपतित उसीका अंग होगा। समानप्रकरणपठित होनेसे अंग होगा।

'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते'

ऐसा न्याय है। मकान बेचा तो बेचनेके बाद जो भी उसके अंदर है वे भी बिक ही गये ऐसा समझा जाता है। दूध पिया तो दूधके अंदर जो माखन है वह भी पिया, दूधके दाममें माखनका भी दाम आ गया। इसी न्यायसे सिद्ध अर्थका अनुवाद अर्थात् स्पष्टोक्ति है—'यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।'

किन्तु इसमें एक संशय होगा। अत्यन्त असम्बद्ध हो तो मीमांसामें बताया है कि उसका उत्कर्षण होगा। जैसे ईशावास्य के द्वितीय कर्ममन्त्रका उत्कर्षण होकर 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' के साथ जुड़ेगा। प्रथम सात मन्त्रका ज्ञानप्रकरण होगा। उत्तर यह है कि यह अत्यन्त असम्बद्ध नहीं है। प्रथम है इस अग्निको 'तवैव नाम्ना भवितायमग्निः' नचिकेता नामसे ज़ाना जायेगा। तब यह अग्नि सम्बद्ध हो ही गया। अत एव त्रिनाचिकेत इत्यादि प्रयोगकी उपपत्ति है। इसी आशयको सूचित करनेके लिये तृतीय पाद है-एतमग्निम्—यही अग्नि, अन्य नहीं। तुम्हारे नामसे लोग कहेंगे।

खैर, नाम तो जुड़ गया अर्थसे। किन्तु सृङ्काका क्या होगा? उसका अग्निसे क्या सम्बन्ध? इसका एक उत्तर यह है कि महाभारतीय कथाके अनुसार पुण्यलोकहारका वह दर्शन था। पुण्यलोक अनेक हैं। 'प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकान्' इस प्रकार बहुवचनप्रयोगसे अनेक पुण्यलोक प्रतीत होते हैं। उन्हींकी यह माला है। ये सभी पुण्यलोक अग्निसाध्य हैं। हम पहले कह चुके हैं कि चीयमान सभी अग्नि नाचिकेत अग्नि नही है उसीमें यज्ञादि एवं तत्फल पुण्यलोकपरम्परा है। यमराज कहते हैं कि इस उपदेशद्वारा जो तुम्हें उपासनात्मक कर्मविज्ञान हो गया उसीसे हम सर्वलोक प्रदान कर सकते हैं। अतः वह सृङ्का भी अग्निसम्बद्ध ही है। सृङ्काका यदि स्यमन्तकसदृशमणिमाला अर्थ है तो वह भी उपासनाफल है।

सूर्योपासनासे सत्राजितको स्यमन्तक मिला। सूर्यमें ही हिरण्यगर्भ है। उसकी उपासना यहां बता दी गयी है। अतः उच्चतर उपासना होनेसे स्यमन्तकमाला ही मिल जाय तो कौनसी बड़ी बात है? यमराज भी तो आखिर वैवस्वत ही हैं। उन्हें स्यमन्तकमणिमाला सूर्य (हिरण्यगर्भ) से लेकर देनेमें कोई तकलीफ नहीं है।

यदि इतनेमें भी समाधान न होता हो तो अन्तिम समाधान यह है कि नचिकेताने सृङ्काका ग्रहण किया ही नहीं था। "नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तः" यह आगे बताना है। अतः सर्वथा तृतीय वर नहीं हुआ इसी आशयसे चतुर्थपाद है—तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

मनुष्यके मरनेके बाद जो यह संशय होता है कि कोई कहता है कि 'अस्ति', दूसरे कहते हैं कि 'नास्ति' तो वस्तुतः अस्ति ठीक है या नास्ति ठीक है। मैं आपके उपदेशसे इसका रहस्य समझ लूं यही वरोंमें तृतीय हो ॥ २० ॥

स्थूल सेवा प्रथम वरसे मांगा जिससे घर सुधरे। पिता शान्त हो। द्वितीय वर से सूक्ष्म सेवा कर्म एवं उपासना मांगी। अब तृतीय वरसे सुसूक्ष्म आत्मतत्त्वज्ञान मांगने जा रहे हैं। मनुष्यसेवा, देवसेवा, ब्रह्मसेवा इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कर्ष भी है। तीसरी बात—तृतीयवर प्राप्य ब्रह्मविद्याके साधन होनेसे पितृसेवा एवं अग्निसेवा प्रथम मांगी। साध्य ब्रह्मबोधको आखिरके लिये रखा। अधिकारी होकर ब्रह्मविद्या ग्रहण करना चाहिये।

पूर्वपक्ष यहाँ यह उठता है कि पितृसेवाके लिये सिर्फ अभी वरदान मांगा है। "अभिवदेत् प्रतीत" इत्यादि। सेवा हुई कहाँ? क्या उपदेश लेने मात्रसे सेवा मानी जायेगी तथा अग्निविद्याके लिये भी अभी उपदेशमात्र प्राप्त है। नचिकेताने अग्निचयन अभी किया कहां है? एकाकारवृत्तिप्रवाहात्मक उपासना अभी हुई कहां? केवल कर्म-उपासनाके उपदेशमात्रसे मल विक्षेपकी निवृत्ति नहीं होती। ब्रह्मविद्या उपदेशमात्रसे गृहीत पुरुषार्थसाधक है किंतु कर्मोपासनाविद्या अनुष्ठानसापेक्ष होकर पुरुषार्थसाधक होता है। इस पूर्वपक्षका समाधान काफी सावधानी एवं

धैर्यसे जानना होगा। नचिकेताने वर मांगा-'शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्यात्' इत्यादि। यमराजने वरदान दिया 'यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीतः' इत्यादि। बस वरदानमात्रसे ही पिता शान्तसंकल्प हो गये थे। यमराजके वरदानमें क्या वह शक्ति नहीं कि वाजश्रवस शान्तसंकल्प हो। सिर्फ-'माऽभिवदेत्' इतना बाकी था। परंतु पितृसेवा हो गयी। अभिवदन तो होता रहेगा।

दूसरा प्रश्न अवश्य जटिल है कि इस समय अग्निविद्याका उपदेश-मात्र हुआ, अनुष्ठान नहीं हुआ और धर्मोपदेश हमेशा अनुष्ठानसापेक्ष होता है। किन्तु पूर्वमें जो हम व्याख्या कर चुके हैं उस दृष्टिसे वह जटिल नहीं है। अग्निचयन या यज्ञ-भगवत्पूजादि दो प्रकारसे होता है। एक बाह्य होता है। दूसरा मानस होता है। बाह्य याग की अपेक्षा अन्तर्याग महत्तर होता है। क्योंकि मानसिक सुधार मानसिक सत्कार्यसे शीघ्र होता है। यद्यपि मानसिक पूजन आदिके लिये अत्यधिक सावधानीकी जरूरत है यह पूर्वमें बताया गया है किन्तु नचिकेता जैसे कुशलतम बालकके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है। तभी तो यमराज स्वयं नचिकेतापर प्रसन्न होकर अनेक वर देने लगे थे। केवल प्रत्युच्चारणसे यमराज तुष्ट नहीं थे। क्योंकि ऐसे बुद्धिमान् बहुतसे हो सकते हैं। भोजकी सभामें तीन ऐसे व्यक्ति थे जिनमें एक तो एकबार श्रवण करते ही याद कर लेता था, दूसरा दो बार सुननेपर। तीसरा तीन बार सुनने पर। इन तीनोंको मिलाकर मन्त्रियोंने षडयन्त्र भी रचा था। क्योंकि भोजराजने विद्वानोंको खजाना लुटाना शुरु कर दिया था। कोई नयी रचना लेकर कवि आवे तो वे उसे पुराना सिद्ध करते थे। कविने एक बार सुनाया तो पहला याद करके कहता कि यह मुझे भी याद है और बोल जाता। तब कवि और प्रथम व्यक्ति दोनोंसे दो बार सुननेसे दूसरेको यांद रह जाता था तो कहता था मुझे भी याद है। वह भी बोल जाता तो तीसरेको भी याद हो जाता था। कवि निराश हो लौटता था। अन्तमें कालिदासने भंडाफोड़ किया इत्यादि प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि ऐसी बुद्धिशक्ति. वाले आज भी संसारमें हैं। यमराज नचिकेतापर इसलिये प्रसन्न हुए थे कि नचिकेताने एकबारके उपदेशसे ग्रहण भी कर लिया और अप्रमादपूर्वक मानसपूजन एवं यज्ञ भी सम्पन्न

किया था। उपासनामें भी यही बात थी। पूछेंगे कि उपासनामें प्रत्ययकी आवृत्ति करनी चाहिये। उसके लिये वहां फुर्सत कहां थी? इसके उत्तरमें यह प्रश्न पहले होगा कि कितनी आवृत्ति करनी चाहिए? इसकी अवधि क्या है ? उपासनाकी अवधि यही है कि तब तक उपासना करते रहो जबतक उपास्यका साक्षात्कार न हो। उपास्यसाक्षात्कार ही उपासनाकी अवधि है। चाहे वह पांच महीनेमें हो, पांच सालमें हो, चाहे पांच जन्मोंमें हो या पांच मिनिटमें। हिरण्यकशिपुने सौ वर्ष तप किया। ब्रह्मका साक्षात्कार हुआ तब तप छोड़ा। ध्रुवको पांच महीनेमें भगवान् नारायणका साक्षात्कर हुआ तब तप छोड़ा। कई तपस्वी हजारों वर्ष तक भी तपस्या करते रहे हैं। नचिकेता सर्वोर्ध्व थे। इधर उपदेश सुनते ही उपासना और वैराजसाक्षात्कार कर लिया था। बल्कि यमराजकी अतिप्रसन्नताका कारण यही था। तभी अतिरिक्त दो-दो वरदान देने लगे थे। कर्मफल सैंकड़ों लोकोंकी माला तभी तो संभव हुई। उपासनासिद्धिके बाद भी मरण के बाद या कालान्तरमें फलसिद्धि होती है। यमराजने तत्काल ही फलोंको उपस्थित किया। फलतः पितृसेवा, मानसकर्म तथा उपासना ये सभी सम्पन्न हो चुके थे। मृत्युपाशरूपी रागद्वेषादिको भी काट चुके थे। जिसका स्पष्टीकरण अगले मन्त्रोंमें होगा। अतः अधिकारसंपत्ति हो चुकी थी। तब यह ब्रह्मजिज्ञासा हुई-'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। अथ शब्दका अर्थ है कर्मोपास्तिसे मलविक्षेप की निवृत्ति होकर जो साधन चतुष्टयसंपत्ति हो गयी तदनन्तर।

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।' मरणके बाद कोई रहता है ऐसी कुछ लोगोंकी मान्यता है। कोई नहीं रहता है ऐसी कुछ लोगोंकी मान्यता है। इस पर यह संशय है कि कौनसा मत यथार्थ है। मरने के बाद कोई रहता है कि नहीं? परंतु नचिकेताको यह संशय हुआ ही कैसे? वे तो यमलोकमें बैठे हैं जहां मृत्युके बाद लोग पहुंचते हैं। जितने समयसे नचिकेता वहाँ बैठे हैं उतनेमें हजारों वहां मरकर आये होंगे। एक सालमें तीनसौ साठ दिन और सौ सालमें छत्तीस हजार दिन। इतनेमें उसकी मृत्यु होगी। छत्तीस हजार आदमी किसी गांवमें हों वहाँ एवरेज एक आदमी रोज मरेगा। बल्कि पचासवर्ष उमरका एवरेज

लगाया जाय तो रोज दो आदमी मरने चाहिये। छत्तीस लाख हो तो दोसौ मरना चाहिये। छत्तीस करोड़ हो तो बीस हजार रोज मरना चाहिये। भारतमें अस्सी करोड़ हैं तो चालीस हजार रोज मरते होंगे। यह केवल भारतकी बात है। पूरी पृथिवीपर इसी अनुपातसे सोच लो। यह तो मनुष्यों की बात हुई। जानवर, कीड़े, मकोड़े आदि भी हैं। फिर लोक- लोकान्तर भी अनन्त होंगे। खैर, वहां तक न पहुंचे तो भी तीन दिन यमसदनमें नचिकेता रहे तो कमसे कम दसपांच लाख मृतात्मा वहां पहुंचे ही होंगे। ऐसी स्थितिमें नचिकेताको यह संशय कैसे हो गया– अस्ति वा नास्ति वा। दूसरी बात-"स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं" इत्यादि बोलनेवाले नचिकेताको स्वर्गादिका निश्चय रहा। वहां मरकर ही जाते हैं यह भी मालूम है। तब मरणके बाद कोई जीवित रहता है कि नहीं यह संशय कैसा? फिर यमराजसे "शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके" इस प्रकार निर्णय सुना तो इस संशयका उत्तर "अस्ति" से ही आना निश्चित है। ऐसी स्थिति में संशय खड़ा करना भी तो व्यर्थ है। व्यर्थ आयासमात्र है। इस जटिलतम पूर्वपक्षका समाधान तो ढूंढना ही होगा। आर्यसमाजी कहते हैं कि इसीलिये तो हम कहते हैं कि यमराज नामका वह कोई तपस्वी पण्डित था। भारी गुस्सेबाज होनेसे उनको लोग यमराज कहते रहे होंगे, नाम कुछ और रहा होगा। इसका उत्तर हम पहले दे ही चुके हैं। फिर भी द्वितीय पूर्वपक्षका क्या समाधान? स्वर्गास्तित्वको और उसके भोक्ताको माननेवाले पण्डितसे नास्ति पक्षके उपपादनकी अपेक्षा हो सकती है क्या?

इसका समाधान अनेक प्रकासे हो सकता है। यहां का मन्त्र छान्दोग्य के मन्त्र से काफी मिलता-जुलता है। छान्दोग्यमें बात इस प्रकार उठाई है–

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्
तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।
कुतस्तु खलु सोम्यैवं-स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति
सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।"

हे सोम्य! सृष्टिसे पूर्व एकमेवाद्वितीय सत् ही था। कुछ लोक कहते हैं सृष्टिसे पूर्व एकमेवाद्वितीय असत् ही था। आस्तिकोंका कहना है पहले

सत् था। उस सत् परमात्मासे जगत् उत्पन्न हुआ। नास्तिकोंका कहना है पहले असत् था। असत् से जगत् पैदा हुआ। नास्तिकोंमें बौद्ध बड़े जबर्दस्त थे। यद्यपि इतिहासके अनुसार पचीससौ वर्ष पूर्व में बुद्ध हुए। किन्तु उपनिषत् उससे बहुत पहलेसे ही थी। अतः बौद्धमतका यह उल्लेख नहीं किन्तु बौद्धोंने उपनिषत् के पूर्वपक्षको ही अपना सिद्धान्त रख दिया। अत एव उनका मतविश्लेषण यहांके अर्थ को जाननेके लिये उपयोगी है। बौद्ध कहते हैं—

'अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्'

अभावसे ही भाव जगत् हुआ। यहां मिट्टी पड़ी है। यहां घट है क्या? नहीं। किन्तु इस मिट्टीको पीसकर अच्छा बनाकर उससे घट उत्पन्न किया जा सकता है कि नहीं? क्यों नहीं? तब पहले घटका अभाव था। उस अभावसे घटभाव हो गया। वैसे पहले कुछ नहीं था फिर जगत् हुआ। दूसरा उदाहरण सुनो। चना, मूंग भिगोते हैं या बोते हैं तो उसमें अंकुर आता है। किन्तु अंकुर तब आवेगा जब बीज नष्ट होकर अंकुर आया। तब बीजध्वंस अंकुरोत्पत्तिमें कारण हुआ कि नहीं? बीजध्वंस ही तो बीजाभाव है। यही शून्यवाद। आस्तिकोंने जवाब दिया—भाई, माना पहले घटका अभाव था बादमें घट हुआ। किन्तु घटके अभावसे घट नहीं हुआ। वहां जो भावपदार्थ मिट्टी है उससे घट हुआ। अन्यथा घटाभाव आसमानमें है वहीं घट क्यों नहीं उत्पन्न हुआ? बीजध्वंससे अंकुर नहीं हुआ। बीजध्वंस तो बीज जलानेसे भी हो जायेगा। वहां अंकुर होता है क्या? नहीं अतः पानी आदिसे, बीजके अवयवोंसे अंकुर निकला तब बीज टूटा। न कि बीज टूटने के बाद अंकुर हुआ। वस्तुतः सत् से सत् होता है। असत्से सत् नहीं। उसके समान यहां भी कथन है। छान्दोग्यमें जन्मके पूर्व असत् था असत् से सत् पैदा हुआ ऐसा मत दिखाया। यहां विपरीत है। मरणके बाद असत् हो जाता है। सत् से असत् हो जायेगा। वहां जन्मके पूर्व माने सृष्टिके पूर्व यह अर्थ है। वैसे यहां मरणोत्तरं का प्रलयोत्तरं अर्थ भी अपने आप समझ लेना चहिये। अर्थात् मोक्षकालमें असत् होता है। केवल आत्माके विषय में ही यहां विचार है।

इसे भी हम थोड़ा अधिक स्पष्टतासे समझें। हमलोग मोक्ष कहते हैं बौद्ध उसको निर्वाण कहते हैं। मोक्ष शब्द और निर्वाण शब्दका समान अर्थ है या कुछ फरक है? देखिये—शब्दार्थ देखिये। मुच् धातुसे मोक्ष,. मुक्त, मुक्ति आदि शब्द होते हैं। मुक्तिका अर्थ है छुटकारा। जेलसे मुक्ति मिली माने छुटकारा मिला। स्त्रियां कहती हैं कि हम घरकी चहार-दिवारीमें कैद हैं। हम वहांसे मुक्त होना चाहती हैं। इसका अर्थ स्वर्गवासी होना तो नहीं है। छुटकारा अर्थ है। संसारबन्धनसे जो छुटकारा है वही मोक्ष है। अब निर्वाण शब्दका अर्थ देखिये। असलमें संस्कृतमें निर्वाण शब्दका बुझना अर्थ होता है। दीपो निर्वाति का अर्थ है दीपक बुझ रहा है। तेजकी विरति निर्वाण है। आख्यातकोशमें कहा है—

"निर्वाति निर्वायति विध्यायत्युद्वायतीति च ।
उद्वाति शाम्यतीत्येते तेजसो विरतौ तु षट् ॥"

निर्वाति निर्वायति शाम्यति इत्यादि छः शब्द तेजके शमन अर्थमें है। यह जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है—तेज़ः स्वरूप है। उस तेजका बुझना निर्वाण है। अब दोनोंका तुलनात्मक विचार करो। कैदी मुक्त हो गया कहनेपर कैदी मरता नहीं। वह छुटकारा पाकर स्वयं रहता है। दीपक बुझ गया कहनेपर ज्वाला समाप्त हो गयी। वैसे मोक्षमें आत्मा मुक्त हो गया। आत्मा रह गया, संसार बन्धन कटा। किन्तु आत्मनिर्वाण नास्तिक मतमें शून्य होगा। इस निर्वाण शब्दका प्रयोग बादमें हम आस्तिक भी मोक्ष अर्थमें करने लगे। फलाने संतका निर्वाण महोत्सव मना रहे हैं। बल्कि गीतामें भी आ गया-'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति' इत्यादि। अस्तु कहनेका तात्पर्य यही है कि आस्तिक मोक्षरूपी महाप्रयाणमें भी 'अस्ति' सत् अवशेष मानते हैं। नास्तिक मोक्षमें असत् शून्य मानते हैं।

नचिकेताने स्वर्गसाधन पूछा, स्वयं यमसदनमें हैं। ये सब भले हो फिर भी यह प्रश्न उठता है। बौद्ध भी स्वर्गनरक मानते हैं। परियोंको और देवियोंको मानते हैं। जन्मान्तर भी मानते हैं। बुद्धके कई जन्मोंका वर्णन जातकमालामें आया है। बुद्धभगवान् प्राणियोंके हितार्थ पशुपक्षी, मनुष्य आदि सबमें अवतार लेते हैं, किन्तु सर्वत्र शान्तिका ही प्रसार करते हैं। सर्वत्र परार्थ आत्मसमर्पण करते हैं। बड़ी-बड़ी रोचक कथायें आयी हैं।

उदाहरणार्थ एक कथा हम बताते हैं–एक बार बुद्ध भगवान् जंगलमें भैंसे बने थे। जंगली भैंसे बड़े बलशाली होते हैं। प्राणियोंको मार गिराते हैं। किन्तु बुद्ध भगवान् शान्त रहते थे। एक बन्दर उन्हें शान्त देखकर उन पर कूदा। किन्तु भैंसेने कुछ नहीं किया। फिर बंदर तो बंदर ही ठहरा। उनकी पूँछ खींचने लगा। कभी कान खींचता। पहले-पहले थोड़ा डरता था तो भैंसे के हिलते ही कूदकर भागता और फिर वापिस आता। धीरे-धीरे वह निडर और ढीठ हो गया। वह बहुत तंग करने लगा। आंखों में अंगुली डालकर जखम करने लगा। कान काटने लगा। पूंछके बाल नोचने लगा। इसे देखकर देवताओंसे सहन नहीं हुआ। देवताओंने आकर कहा। इसका प्रतिकार करो। नहीं तो जीवन दूभर होगा। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' यह नीति है। भगवान् बुद्धने कहा शठके बदले शठ बनना यह नीति हो सकती है किन्तु आध्यात्मिक मार्ग नहीं हो सकता। निर्वाणमार्ग नहीं हो सकता। देवताओंने कहा आप स्वयं प्रतिकार मत करो। हम इसको दण्ड देते हैं। हमें आज्ञा दो। बुद्धने कहा हे देवताओं आप समर्थ हैं तो आप अपने सामर्थ्यका सदुपयोग करो। इसे मारना नहीं,इसकी दुर्बुद्धिको मारो, इसको सुधारो। देवताओंने तथास्तु कहा। बंदर शान्त हो गया। वह दूसरे जन्ममें बुद्धके महान् शिष्योंमें एक हुआ। इस प्रकार मनुष्य पशु आदि योनियों में बुद्ध ने अनेकानेक जन्म लिये।

इस कथासे स्पष्ट है कि बौद्ध नास्तिक होनेपर भी पूर्वजन्म परजन्म मानते हैं। 'देवता आये' इस कथनसे देवलोक वे मानते हैं यह भी बात आ गयी। इन सब बातोंके बावजूद वे आत्माको शून्य मानते हैं। मोक्षोत्तर असत् स्वीकार करते हैं। उसी सिद्धान्तके अनुरूप यहां नचिकेताका प्रश्न है। स्वर्गसाधन अग्निको मानता हूं, उससे स्वर्ग भी मानता हूं-न तत्र त्वं-स्वर्गमें यम नहीं हैं यह भी मानता हूँ किन्तु महा प्रयाणरूप मृत्युके बाद आत्मा रहता है कि नहीं? अन्तमें सत् अवशिष्ट रहेगा या शून्य होगा? यह संशयापन्न है। उस समय सारा जगत् शून्य हो जाता है तो एक आत्मा अकेला क्या करेगा? क्या उसका उपयोग? यह तर्क है।

इस प्रकार एक ढंगसे आशय वर्णनके बाद यहां पर अन्य जो उत्तर दिये जा सकते हैं उसपर भी सामान्यतः नजर डाला जाय। यद्यपि स्वर्ग्य

अग्निको पूछनेवाले यमसदनमें बैठे हुए अथवा "श्रद्धानाय मह्यं" कहते हुए श्रद्धालुत्व स्वीकार करने वाले नचिकेताको यह निश्चय ही था कि मरणोत्तर आत्मा रहता है। फिर भी दूसरोंको इस विषयमें संशय रहता है। अतएव प्रसिद्धवत् निर्देश है—"ये यं" "जो यह" ऐसा प्रत्यक्षनिर्देश अर्थात् प्रसिद्ध निर्देश है। अतः लोगोंकी शंकाका निवारण करनेके लिये ठोस प्रमाणोंको प्रस्तुत करनेके लिये नचिकेताका यह प्रश्न है। यमराज उसका अस्तित्व तथा उसके अस्तित्वको प्राप्त करनेका उपाय-योगादि सभी बतायेंगे। इससे जगत् का कल्याण होगा।

तीसरा रहस्य यह है कि यद्यपि वेदाध्ययनकालमें ही अस्तित्वके बारेमें सामान्यज्ञान हो गाया। और उसमें संशय स्वयंकों नहीं है। हां, लोग संशय जरूर करते हैं। किन्तु उस आत्मास्तित्वको मैं साबित नहीं कर सकता। क्योंकि मैंने उसका साक्षात्कार नहीं किया है। अतः उसका अस्तित्व है तो किस रूपसे अस्तित्व है? उसको पानेका (देखनेका) उपाय क्या है? जिससें मैं दर्शन करूं और दूसरोंके संशयको भी मिटा सकूं?

चौथा रहस्य तो उत्तरार्धके अवलोकनसे सामने आता है। यद्यपि मुझे संशय नहीं है। निश्चय ही है। फिर लोकसंशय प्रसिद्ध है। फिर भी मेरा ज्ञान अधूरा है। शास्त्रोंमें मैंने यह बांचा है कि "आचार्यवान् पुरुषो वेद" आचार्यसे ही ज्ञान प्राप्त होता है-प्राप्त करना चाहिये। या अन्यसे प्राप्त कर भी लिया हो तो वह उत्तम नहीं होगा। " आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्।" पुस्तक प्रत्ययाधीत विद्या साधिष्ठ नहीं होती। वह फलपर्यवसायिनी होती है। किन्तु आचार्यसे प्राप्त विद्या ही साधिष्ठ होती है। साधयति सिद्धं करोतीति साधः साधुर्वा। साधानां साधूनां वा अतिशयितः स साधिष्ठः। आचार्यसे प्राप्त विद्या ही फलसिद्धिकारिणी विशेषरूपसे होती है।

वस्तुतः उपनिषदों में पूर्ण रहस्य के बारे में यही प्रश्न है। जिस ब्रह्म के बारे में यहां चर्चा होती है उसे अस्ति के रूप में समझना है या नास्ति के रूपमें? इस उपनिषत् के अन्त में स्वयं भाष्यकार परिभाषा करके बतायेंगे—"यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके, विपरीतं चासदिति"

जो चक्षु, मन, बुद्धि आदि कारण के विषय है उसी को लोग अस्ति कहते हैं। जो चक्षु आदि का अविषय है उसे नास्ति या असत् कहते हैं। स्वर्ग आदि चक्षुका विषय भले न हो किन्तु बुद्धिका शाब्दप्रतीति का विषय होता है अतः उसे भी अस्ति ही कहेंगे। शशविषाणादि केवल शब्द मात्र है, उस का कारणगोचर कोई तत्व नहीं है अतः उसे नास्ति या असत् कहते हैं। इस विषय में कुछ लोगों का कहना है कि परमतत्त्व करणगोचर है और अस्तिपदसे व्यवहार्य है। दूसरे कहते हैं कि वह करणगोचर नहीं है, अस्तिपद से व्यवहार्य भी नहीं है। इसका ही उत्तर इस उपनिषत् के अन्त में दो मन्त्रों में दिया है। वहां बताया कि यद्यपि यह आत्मा करणगोचर नहीं है—"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा" मन वाणी या चक्षुका वह विषय नहीं है। फिर भी 'नास्ति' न कहना। अस्ति से ही चलना क्यों कि प्रथम ही अस्तिको छोड़ेंगे तो कुछ हाथ नहीं लगेगा। मनुष्य पुरुषार्थहीन हों जायेगा अतः उपाधि को जोड़कर भी प्रथम अस्ति में ही रहना चाहिये। इसके बाद साधना की पूर्ति होने पर अस्ति को भी छोड़ दिया जाता है। उसका अर्थ नास्ति नहीं। किन्तु तत्त्वभाव है। इसीलिये प्रथमतः ही अस्ति को छोड़ने के लिये मना करते हैं। यदि प्रथमतः अस्ति को छोड़ते हैं तो सीधे नास्ति में पहुंचेंगे। वही शून्य है। वह आसुर है। अतः बुद्ध्यादि उपाधि को रखकर तत्त्व को अस्ति से प्रथम देखो। फिर उपाधि को छोड़ कर उसी तत्त्व को देखो। फिर वापिस सोपाधिक में आ जाओ। ऐसा करते-करते अन्त में अस्ति छूट जायेगा। तत्त्वभाव रहेगा, नास्ति में गिरेंगे नहीं। यही उस मन्त्र में "अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति" इस अर्थ में कहा। गीता में इसी बात को—"न सत्तन्नासदुच्यते" ऐसा बताया। वह सत् नहीं है। क्योंकि निरुपाधिक स्वरूप करणगोचर नहीं है। और असत् भी नहीं है। क्यों कि असत् शशविषाणादिको कहते है। वह सर्वथा शून्यरूप है जिससे कुछ भी संभव नहीं है। तत्त्वभाव में बुद्धि आदि उपाधियों के जुड़ने पर समस्त जगत् का वह कारण बनता है—"जन्माद्यस्य यतः"। यद्यपि शून्य भी अस्तिपद बोध्य नहीं, ब्रह्म भी अस्तिपद बोध्य नहीं। किन्तु निरुपाधिक हो या सोपाधिक, शून्य से एक अणु भी पैदा नहीं होगा। एक तिनका भी पैद नहीं होगा।

ब्रह्म सोपाधिक होने पर अनन्तानन्त जगत् उससे उत्पन्न होंगे। अब समझ लो ब्रह्म क्या कैसा है यह सूत्रार्थ है। इसे तटस्थ लक्षण कहते हैं, ऐसे ब्रह्मतत्व को प्रथम सोपाधिकतया अस्तिरूप से समझ कर फिर निरुपाधिकको समझो यह तटस्थलक्षण का तात्पर्य है। यही प्रश्न यहां नचिकेता प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि प्रेते कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है। क्यों कि शून्यवादी तो इस सयम भी शून्य ही मानते हैं, नास्ति मानते हैं और अस्तिवादी अभी भी अस्ति कहते हैं, किन्तु कुछ लोग वर्तमान में अस्तित्व और मरणादि के बाद नास्ति मानते हैं। जैसे विज्ञानवादी योगाचारादि। अतः जहां विवाद स्पष्ट है उसे बताने के लिये "प्रेते" शब्द जोड़ दिया। इन का गत अर्थ है। प्र+इत यह मरणवाची है। क्योंकि वह अन्तिम गमन है। किन्तु उसमें भी प्रकृष्ट यहां विवक्षित है। चार्वाकादि के लिये एक ही प्रकर्ष प्रर्याप्त है। योगाचारादि के प्रकर्ष में भी प्रकर्ष अर्थात् जिस गमन के बाद फिर गमन नहीं वही प्रायण है। शून्यवादियों के लिये प्रेते की जरुरत नहीं है। फिर भी प्रत्यक्षसिद्ध अस्तित्ववारण का पृथक् प्रयत्न करना अनुपयोगी होने से 'प्रेते' पद रखा। वेदान्त मत में भी प्रेते की विशेष आवश्यकता नहीं है। तथापि 'अहमस्मि' इस प्रत्यक्षसिद्ध अस्तित्व के वारणार्थ यहां प्रयत्न नहीं, जिज्ञासा भी नहीं, अतः 'प्रेते' आवश्यक है। इन सब उपाधियों के मिटने पर अस्ति रहेगा या नास्ति होगा। यह प्रश्न है। नास्ति तो नहीं ही। अस्ति भी किंचिदुपाधि से है अन्यथा नहीं यह अन्त में उत्तर आयेगा। अतएव अन्त में—

"अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति" ॥

ऐसा मन्त्र है। वहां 'प्रेते' इत्यादि पद नहीं है। अतः यहां स्पष्टतार्थ ही प्रेते शब्द है।

"एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहम्"। "प्रब्रूहि त्वं" "शिष्यस्तेऽहं शाधिमां" इत्यादि वत् 'अनुशाधि' इतना ही कहना पर्याप्त था। त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विद्यां (आप के उपदेश से मैं जानू) यहां तक कहने का क्या मतलब? मतलब यही है कि यह आत्मतत्त्व ऐसा है कि उपदेश से ही यथावत् जाना जा सकता है। और यहां विद्या से साक्षात्कार पर्यन्त अर्थ समझना चाहिये।

क्योंकि मृत्युप्रोक्तां नचिकतोऽथ लब्ध्वा विद्याम्.......ब्रह्मप्राप्तः' इस प्रकार अन्तमें ब्रह्म प्राप्ति ही साक्षात् बतायी है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि श्रुतियों में भी यही अर्थ है।

वर।~।.नेष वरस्तृतीयः। कहीं पूर्वोक्त सृङ्का या अग्नि का नाचिकेत नाम ही तृतीय वर के रूप में मानकर इस वर को ही अतिरिक्तकृपाप्राप्य वर न माना जाय इस शंका का वारण करने के लिये यह चतुर्थ पाद है। यद्यपि तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व से स्वयं यमराज ने पूर्वोक्त. सृङ्कादि को अतिरिक्त वर कहा था। तथापि द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति इस न्याय से उसे सुबद्ध करना था। क्योंकि यही वर मुख्य वर है। कहीं यह गौण कोटि में न चला जाय-इसके लिये यह दृढताकरण है।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

इस विषयमें पहले देवताओंने भी संशय किया था यह आसानीसे समझमें नहीं आता। यह धर्म अतिसूक्ष्म है। हे नचिकेता! तुम दूसरा कोई वरदान मांग लो। इस वरदानेके लिये तुम मुझे मझबूर मत करो। मुझे इस विषयमें छोड़ दो ॥ २१ ॥

यमराजने प्रथम मल और विक्षेपके निवारणके लिये उपयोगी कर्म एवं उपासनाका वर्णन कर लिया था। इतनेसे भी श्रवणाधिकार नहीं होता। तदर्थ विवेकादिसाधनचतुष्टय भी चाहिये। नचिकेताने कर्म एवं उपासनामें अच्छी प्रगति उस समय कर ली थी यह प्रतिवदनमात्रसे सिद्ध हो गया था। अब अन्तरङ्ग साधन साधनचतुष्टय है या नहीं इसकी परीक्षा यमराज करने जा रहे हैं।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा। दैवैरपि अत्र विचिकित्सितं इस प्रकार "अपि" को पहले ले लेना चाहिये । देवता भी पहेल इस विषयमें संशयापन्न हो गये थे। "येयं प्रेते मनुष्ये" इस पूर्वमन्त्रांशमें स्पष्टतया शरीरकी अनित्यताके दर्शनकी झलक है। प्रायः लोगोंको अपनी मृत्युका ही पता नहीं रहता। तभी तो पाप कर्म करते हैं। भले ही दूसरोंकी मृत्यु देखी हो और जान लिया हो कि हमेशाके लिये वह गया। किन्तु अपने बारेमें कोई नहीं सोचता कि मैं भी हमेशाके लिये कभी न कभी जाऊंगा।

"श्मशाने मैथुनान्ते च या बुद्धिरुपजायते ।
सा सर्वदैव तिष्ठेच्चेत् को न मुच्येत संकटात् ॥"

साथमें रहे व्यक्तिको श्मशानमें जलते हुए देखते हैं तो लगता है, हाय! एक दिन ऐसा ही जाना है क्या? वैसे ही भोगोत्तर थोड़ीदेरके लिये संसार नीरस दीखने लगता है। ये दोनों बुद्धि हमेशाके लिये टिकी रहती तो कौन संसारसंकटसे मुक्त नहीं होता? मरणके बाद 'किंचिदस्ति न वा' कुछ रहता है या नहीं यह नित्यवस्तुकी खोज है। फलतः नित्यानित्यवस्तुविवेक भासित होता है। परन्तु यह क्षणिक हैं या स्थायी है यह जानना आवश्यक है। श्मशानवैराग्यकी पूर्वभूमिकामात्र तो नहीं है? संसारकी अनित्यता ज्यों ज्यों प्रत्यक्ष होती जायगी त्यों-त्यों नित्यकी खोज उग्र होती जायगी। जैसे धूप कड़ी होती जाती है तो छायाकी खोज तेज होती है। जैसे रोग बढ़ता जाता है तो उपायकी, दवाकी जिज्ञासा बढ़ती है। इस दर्दकी कोई दवा है कि नहीं? है तो जल्दी बताओ। बुद्धने जब पूरे संसारमें जरा, रोग, मरण दुःख देखा तो शान्तिकी जिज्ञासा उनमें उग्र होती थी। हम कैलासयात्रामें जा रहे थे तो रास्तमें एकको प्यास लगी तो मैंने अपने कमण्डलमें पानी था सो दे दिया। थोड़ी देर बाद मुझे प्यास लगी तो मैंने एक पहाड़ी आदमी से पूछा यहां पानी कहां मिलेगा? उसने एक पहाड़ दिखाकर कहा उसपर चढ़ो तो वहां एक कुंड है। पानी मिलेगा। मैंने कहा कौन चढ़ेगा अब उसपर? आगे देखा जायेगा अगर शरीर सुखानेवाली प्यास होती तो वहां भी चढ़ जाता। यह मामूली प्यास थी इसलिये नहीं चढ़ा। यमराजने यही देखना चाहा कि इसकी प्यास मामूली है कि उग्र है। इसके लिये कहा कि यह तो पहाड़ चढ़ना है। 'देवैरत्रापि विचिकित्सितं' बहुत कठिन है। देवता भी इसमें मात खा गये थे।

केनोपनिषद्में 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' इत्यादि प्रसंगमें बताया है कि विजयका अभिमान देवताओंको हुआ तो यक्षरूपमें वहां ब्रह्म प्रकट हो गया। 'तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति'।

'अग्न एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति' 'कौन है यह यक्ष'? असुरपक्षके निग्रहके लिये आया या हमारे अनुग्रहके लिये आया। विचिकित्सा हुई।

अग्नि, वायु आदिको पता लगाने भेजा किन्तु पता नहीं लगा। अन्तमें इन्द्रको भेजा। तब ब्रह्म गायब ही हो गया। तब इन्द्रने घोर तप किया।

"स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियामाजगाम"

बड़ी तपस्या आकाशमें रहकर इन्द्रने किया। हे नचिकेता! इतना कठिन है जानना। तपके बिना जानना शक्य नहीं है। वरुणने भृगुको कहा—"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति।" तप ही ब्रह्म है। जैसे बोलते हैं श्रम ही जीवन है, प्रमाद ही मृत्यु है, वैसे तप ही ब्रह्म है। तप अनिवार्य है। तप बिना ब्रह्मप्राप्ति नहीं हो सकती। देवता भी आसानीसे ब्रह्मको नहीं जान सकते। इन्द्रको भी बड़ा तप करना पड़ा था। अग्नि और वायु एकबार विफल ही हो गये थे।

गीतामें भगवान कहते हैं—

"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः"

इसका क्या मतलब? सूर्य ब्रह्मको भासित नहीं करता, चन्द्रमा भी नहीं, अग्नि भी नहीं। इतना ही? यह तो एक साधारण बात है। समुद्रकिनारे हवा चलती है। अंधेरी रातमें जाओ तो भी हवा मिलेगी। क्या सूर्य इसे दिखा सकता है? चन्द्रमा दिखा सकता है? अग्नि दिखा सकती है? यदि नहीं तो हवा ब्रह्म है? दूसरोंके मनमें क्या बात है यह सूर्योदयसे, चन्द्रोदयसे या बत्ती जलानेसे मालूम पड़ेगा? अभिमान, राग, द्वेष आदि बहुत ऐसी चीजें हैं जो सूर्यादिसे प्रकाशित नहीं होते। तो यह कौनसी अपूर्व बात हुई "न तद्भासयते सूर्यः" इत्यादि? इसका उत्तर यहांके मन्त्रके साथ जोड़कर कहो—"देवैरत्रापि विचिकित्सितं"। यथार्थ बात यह है कि सूर्यादिमंडल प्रकाशित करता नहीं यह अर्थ नहीं किन्तु सूर्यादि देवता ब्रह्मको पहचान नहीं सके यह अर्थ है। श्रुति देखिये—

"य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः
शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः ॥
योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं
योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥"

'यश्चन्द्रतारके तिष्ठंश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकं शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥'

आदित्यमें रहता है आदित्य उसे नहीं जानता। कौनसा आदित्य नहीं जानता? यह मण्डल तो जड़ है। सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल, यह अग्नि ये सब भौतिक हैं। इनके जानने न जाननेका क्या सवाल? यदि आदित्यगत चैतन्य कहो तो वह स्वयं ब्रह्म है। वह ब्रह्मको नहीं जानता कहना निरर्थक है। वस्तुतः बात यह है जैसे हमारे शरीरमें भी दो आत्मा हैं। एक जीवात्मा है और दूसरा परमात्मा है। उस जीवात्मामें फरक यही है कि वह पूर्वकल्पमें उपासनाकर देवत्वको प्राप्त हो गया है और सूर्यमण्डलका अधिष्ठाता बन गया है। ऐसे ही चन्द्रदेवता एवं अग्निदेवता है। ये देवता भी परमात्माको नहीं जानते यही गीतावाक्यका अर्थ है। अध्यात्ममें—सूर्य यह चक्षु हैं। चन्द्र यह मन है। अग्नि यह वाणी है। सूर्यदेवसे अनुगृहीत चक्षुश्चैतन्य सूर्यमण्डलसे अनुगृहीत चक्षु गोलकके द्वारा ब्रह्मको प्रकाशित नहीं कर पाता। इसीप्रकार चन्द्रदेवतासे अनुगृहीत मनश्चैतन्य चन्द्र-मण्डलसे अनुगृहीत मनके द्वारा ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करता। इसप्रकार अर्थ होगा। सर्वथापि "देवैरत्रापि विचिकित्सितं" यह बात सही-सही है।

न हि सुज्ञेयम् । प्रश्न हुआ कि देवताओंको विचिकित्सा अवश्य हुई। लेकिन प्रयत्न करके अन्तमें इन्द्रादिने उमाको देखा और ब्रह्मको जाना। सूर्यादिदेव भी भगवत् प्रसादसे ज्ञानवान् हो गये—"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययं"—इन सांख्ययोग तथा कर्मयोगको जो दो अध्यायोंमें बताये—मैंने सूर्यको बताया। तब सूर्यने जाना भी होगा। तभी तो 'विवस्वान् मनवे प्राह' यह संभव हुआ। अग्नि, वायु आदि देवताओंके जाननेकी बात तो आ ही गयी केनोपनिषत् में—'ते ह्येनन्निदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदोचकार ब्रह्मेति।'

इसपर यमराज कहते हैं कि जाना जरूर, परन्तु जानना आसान नहीं है यह कह रहा हूँ। 'न हि सुविज्ञेयम्'। देवताओंके लिये जानना बल्कि उतना कठिन नहीं है क्योंकि उनको शरीराध्यास विशेषरूपसे नहीं होता। हमारी चक्षुके अधिष्ठाता सूर्यदेव हैं तो क्या हमें चक्षुपीड़ा हुई तो

सूर्यदेवको भी पीड़ा होगी? नहीं। फिर भी उनको समझनेमें काफी तप करना पड़ा। मनुष्य तो अध्यासोंके ढेरमें रहता है। शरीराध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरणाध्यास एवं अज्ञानाध्यास-ये सब बड़े प्रबल हैं। शरीर और इन्द्रियके अध्याससे चार्वाकोंने शरीरादिको आत्मा माना। प्राणाध्याससे हैरण्यगर्भोंने प्राणको आत्मा माना। मनोऽध्याससे नैयायिकोंने आत्मामें ज्ञानोत्पत्ति और ज्ञानविनाश आदि माना। बुद्धिके अध्याससे सांख्योंने भोंक्तृत्व माना।

थोड़ा आगे बढ़ो। वेदान्तश्रवण निरन्तर करते हैं। यह सुनते हैं–अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय ऐसे पांच कोश हैं। उसके अंदर ब्रह्म है। आनन्दमय कोशमें कहां पर ब्रह्म है? और यह आनन्दमय कोश ही कहां पर है? किस जगह शरीरमें आनन्दमयकोश रहता है? कुछ लोग कह रहे हैं हृदयस्थानमें आनन्दमय कोश है। लेकिन पांवमें तेल मला तो वहां सुख कैसे हुआ? मुलायम चप्पल पहना तो सुख कैसे मिला? टी. वी. देखा तो आंखोंमें आनन्द कैसे आया? गीत सुना तो कानमें आनन्द कैसे आया? एयरकंडिशनमें बैठे तो पूरे शरीरमें आनन्द कैसे आया? अतः बोलो पूरे शरीरमें ही आनन्दमयकोश है। केवल आनन्दमय ही क्या सभी कोश पूरे शरीरमें है। क्या पांव हिलाते हैं कि नहीं, माथा हिलाते हैं कि नहीं? क्या प्राणके बिना ये सब हिलाये जा रहे हैं? मनोमय भी है। तभी तो पांवमें एक कांटा लगा तो पता लगा। चोट लगी तो पता लगा। सिरमें कुछ लगा तो पता लगा। विज्ञानमय कोश भी पूरे शरीरमें है। तभी तो सबमें कर्तृत्व है। अस्तु, उस आनन्दमयमें या हृदयस्थानमें? जटिल प्रश्न है। 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्।

इस उक्तिसे हृदयस्थानावच्छेदेन ब्रह्म प्रतीत होता है। दूसरा प्रश्न यह है कि जैसे लोटेमें दूध है वैसे आनन्दमय कोशके अंदर ब्रह्म है क्या? जैसे अन्नमयके अंदर प्राणमय है? उत्तर है ऐसा नहीं। समुद्रमें तरंग उठी। उस तरंगमें पानी है कि नहीं? है किस कोनेमें? पूरी तरंगमें, पूरे बुद्बुदमें। क्या उसके अंदर पानी घुसेड़कर रखा? नहीं। कार्यमें कारण व्याप्त होकर रहता है। कुण्डलमें सोना, घटमें मिट्टी व्याप्त होकर रहती है किसी कोनेमें

नहीं। केवल अंदर नहीं, व्याप्त होकर रहता है। वैसे तरंगमें पानी व्याप्त है और समुद्रसे, तरंगसे पृथक् भी है। वैसे ब्रह्म आनन्दमयमें व्याप्त है। बाहर भी है। किन्तु दहराकाशमें रहनेकी बात कैसे कही? वहां ढूंढनेके लिये श्रुतिने क्यों आदेश दिया? इसलिये कि वहीं उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः कहना पड़ता है कि पुराः—पहले पहले देवताओंको भी संशय रहा ही। अतिपरिश्रमसे उन्होंने ब्रह्म जाना। मनुष्योंमें तो कहना ही क्या? अभीतक संशयविर्पयासमें लोग पड़े हैं। "विद्वांसो वै देवाः" देवता ये विद्वान् भी तो हैं। इनके लिये भी सुविज्ञेय नहीं तो हे नचिकेता! तुम बच्चे हो। क्या जानोगे? समय आनेपर परिश्रम करोगे। ब्रह्म जानोगे। जैसे लोग आज भी यही समझते हैं—बच्चे क्या समझ सकते हैं सत्संग कैसा है, क्या है?

अणुरेष धर्मः। "धारणाद्धर्मः" के अनुसार जगतका धारण करनेवाला ब्रह्म परमात्मा ही धर्म है। वह अणु है। वह अति सूक्ष्म है। अथवा—

"अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।"

के अनुसार ब्रह्मज्ञान परम धर्म है। वह बड़ा सूक्ष्म है, दुष्प्राप है। अतएव ब्रह्म सुविज्ञेय नहीं है।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व। बच्चोंका समय खेलनेका होता है। न कष्ट तपका और न ब्रह्मविचारका। बल्कि बड़े लोग भी अन्य वर ही पसंद करते हैं। वेदान्तका प्रवचन जहां शुरू होता है वहां श्रोता आधे हो जाते हैं। प्रेमकुटीरमें एकबार योगवासिष्ठ प्रारंभ किया। बड़ा गूढ वेदान्त। लोगों को समझमें नहीं आ रहा था। लोगोंने कहा—"अन्यं वरं नचिकेतसो वयं वृणीमः"। थोड़ा शब्द बदलकर। क्योंकि यहां "श्रोताही बोलने लगे थे। वेदान्तश्रवणमात्रसे आनन्द नहीं आता। उसे चबाना पड़ता है। अपनेको चाहिये बिना गुठलीके उगला जा सके ऐसा फल। महेनत न करना पड़े। उस समय प्रवक्ताने योगवासिष्ठ छोड़कर भागवतलीला सुनाना शुरु किया।

"एकमापादमधुरम् अन्यदालोचनामृतम् ।"

संगीतके साथ हरिकथा-कहानी सुनावे तो आपादमधुर लगेगा। किन्तु वेदान्त आलोचनामृत है। सुनते समय सूखासा लगेगा। लोग भी कहते हैं— वेदान्त शुष्क ज्ञान है। महाराज जरा रस पिलाईये और वेदान्त बाहरसे

सूखा है लेकिन ज्यों-ज्यों चबाओ अमृत झरेगा। गला बाहरसे सूखा। चबानेपर माधुर्य प्रगट होता है। यहां आलोचन है मनननिदिध्यासन। श्री हर्षजी कहते हैं—

'यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।'

अन्य तो श्रवणकालमें रसप्रद हैं। किन्तु बादमें तो पुनर्मूषको भव वाली बात है। किन्तु लोग इस गहराई में कहां उतरते हैं? वे तो अन्य वर ही चाहते हैं। नचिकेता भी शायद ऐसा ही हो। इसलिये कहा 'अन्यं वरं वृणीष्व'।

'मा मोपरोत्सीः' मेरा उपरोध मत करो। अर्थात् मुझे मजबूर मत करो। क्योंकि तुम्हें समझानेके लिये मुझे भी ज्यादा तकलीफ उठानी पड़ेगी। फिर भी पल्ले पड़नेवाला नहीं है। तब आधा कुआँ खोदकर छोड़नेके बराबर होगा। आधा कुआँ खोदनेसे आधा जल मिल जायेगा ऐसी बात नहीं होती। परिश्रम ही निरर्थक जायेगा। योगवासिष्ठमें चूड़ालोपाख्यान आता है। चूडालाने शिखिध्वजराजा—अपने पतिको असमयपर उपदेश दिया। किन्तु वह व्यर्थ गया। बादमें शिखिध्वजने प्रव्रज्या ग्रहण किया तब भेष बदलकर चूडाला गयी और उपदेश दिया तो समझमें आ गया। बचपनमें केवल कुतूहलता होती है। समझमें नहीं आया तो उपेक्षित करते हैं। परन्तु यह एक सामान्य नियम मात्र है। विपरीत भी होता है। बचपनमें पड़ा हुआ संस्कार दृढ़ होता है। बादमें संस्कार पड़नेपर भी शिथिल होता है। किन्तु प्रथम सामान्य नियमको लेकर यमराज कहते हैं—बड़े-बड़े देवता नहीं समझ पा रहे हैं। मनुष्योंकी बात क्या? उसमें भी बच्चोंकी बात क्या हैं? अतः इस विषयमें ज्यादा आग्रह न करो।

अति मा सृजैनम्। 'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व' कहा। यदि नचिकेता यह कहने लग जाय कि जैसे द्वितीय वरके साथ अन्य वर भी आपने दे दिया वैसे तृतीय वरके साथ अन्य भी वर मैं मांग लूंगा। किन्तु तृतीयतो दीजिये ही। तब क्या होगा? अतः पहले ही यमराज बचाव करते हैं—'एनं वरमति सृज मां प्रति' इस वरको छोड़ो जो मुझसे लेना चाह रहे हो। एनं मामतिसृज—मुझे छोड़ो इतना अर्थ यदि इसका करें तो मुझे उपरुद्ध न करो इस पूर्वोक्तिसे गतार्थ हो जायेगा। अतः भाष्यमें पूर्वोक्त व्याख्याको ही लिया है।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

देवताओंको भी जब इस बारेमें संशय एवं जिज्ञासा हुई और आप स्वयं इसे सुज्ञेय नहीं ऐसा बताते हैं और आपके समान अन्य वक्ता प्राप्य नहीं है तो मैं यही समझता हूँ कि इसके बराबरका मेरे लिये कोई अन्य वर नहीं है॥

ब्रह्मविद्या सर्वविद्याओंमें श्रेष्ठ है। "अध्यात्मविद्या विद्यानां" ऐसा गीतावचन है। "ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठां" ऐसी मुण्डकश्रुति है। उसके लिये पात्र भी सुपात्र होना चाहिये। शेरनीका दूध सोनेके बरतनमें ही टिकता है यह कहावत प्रसिद्ध है। मनु महाराज कहते हैं—

"विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां माऽदास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥"

इसकी मूलभूत श्रुति भी लगभग ऐसी ही है। उसमें विशेषता है—

"अनर्हते मानिने नैव मा दाः"

इन श्रुति-स्मृतियोंमें मुख्य तीन विशेषण हैं। असूयकाय, अनर्हते, मानिने। विद्या अर्थात् विद्याकी अधिष्ठात्री देवी, ब्राह्मणके पास अर्थात् विधिवद् ब्रह्मका अध्ययन करनेवालेके पास—अतएव ब्रह्मविद्या मुख्यतया विवक्षित है—आकर बोली कि मैं तुम्हारे शेवधि हूँ। निधि हूँ, मेरी रक्षा करो। अनधिकारियोंको मुझे मत सौंपो। तब मैं शक्तिशालिनी रहूंगी। असूयक, अनर्ह तथा मानी अनधिकारी हैं।

असूया किसको कहते हैं? ईर्ष्या असूया ऐसी प्रसिद्धि है। वस्तुतः उसका अर्थ है 'परगुणेषु दोषाविष्करणम्' दूसरे के गुणमें दोषारोप करना। कोई दान करता है तो दूसरा कहता है कि यह अपनेको उदार दिखानेके लिये दिखावा करता है। नेता लोग दिखावा करते हैं। किन्तु कोई सच्चा होकर जनसेवा करे तो उसको भी कहेंगे कि यह राजनीतिका खेल है। माता पूजा कर रही थी तो आधुनिक शिक्षावाला बेटा कहता था काहेको पाखंड करती है? सत्संगको बहुतसे लोग पाखंड समझते हैं तो इससे

बढ़कर क्या उदाहरण देना चाहिये। इसको असूया कहते हैं। दूसरोंके गुणोंका उत्कर्ष सहन न होनेसे दोषारोप करना असूंया है। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मविद्याका अनधिकारी है। द्वैताभिनिवेशवाले असूयालु होत. हैं। दिल्लीमें एक आर्यसमाजी भक्त रोज नियमसे आता था और अद्वैतमें दोष बोलना ही उसका काम था। ऐसे लोग इस विद्याको कभी पा नहीं सकेंगे।

अर्हता दूसरी बात है। अर्हताका योग्यता अर्थ है। अर्ह समर्थको भी कहते हैं। साधनसम्पन्न ही अर्ह हैं, योग्य है। सामान्यतः वेदविद्याके लिये ही शुचिता, पवित्रता आदि चाहिये। कायिक पवित्रता हो, वाचिक पवित्रता हो और मानसिक पवित्रता हो। स्नान, उपनयन आदि कायिक पवित्रता है। अपशब्दादिका अप्रयोग वाचिक पवित्रता है। शिवोऽहं सागरके संप्रदायमें एक बलदेव है जो आजकल आकाशवाणीमें संस्कृत बुलेटिन सुनाता है उसने काशीमें मुझे शिकायत की कि संस्कृतमें एक बड़ी कमी है। भाषा बड़ी सशक्त है। अभिव्यञ्जना शक्ति आदि इसमें है किन्तु गाली देनेके लिये शब्द नहीं है। मैंने कहा—मूर्खः, मूढः, देवानां प्रियः आदि गाली शब्द है। उसने कहा बस इतना ही है। जब मनुष्यको गुस्सा आता है तब वे बहुत सारी गालियां निकालते हैं, मां बापकी गाली निकालते हैं। किन्तु गुस्सा आनेपर संस्कृतमें ढूंढनेपर भी ऐसी गाली नहीं मिलती। और जब तक ज्यादा ढूंढने लगते हैं तबतक क्रोध ही नहीं रह जाता। मैंने कहा यही इसमें विशेषता है कि इसमें वाणीको अपवित्र करनेवाला शब्द मिलता नहीं है। और संस्कृतमें श्यालाकः बोलनेसे कोई फायदा भी नहीं होता। मानसिक पवित्रता मनमें अस्वच्छ विचारोंको आने न देना आदि है। विवेकवैराग्य आदि तो अर्हत्वके प्रयोजक वेदान्तमें प्रसिद्ध हैं। अनर्हको विद्या न दो। मानीके विपरीत अमानित्व भी विद्याहेतु है। मानीको विद्या न दो।

'विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।'

विद्या स्वयं विनयको लाती है। तब पूछेंगे ऐसा हो तो विद्याका कार्य विनय हुआ। विद्याका कारण कहां है? अवश्य है। नम्रता न हो तो विद्याका आगमन नहीं होगा। आनेपर भी विद्याका वास्तविक स्वरूप नहीं रहेगा।

"विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥"

खल यदि विद्वान् हो गया हो तो उसका उपयोग वह विवादमें करेगा। काशीमें बहुत सारे ऐसे पण्डित हैं जो हर हमेशा शास्त्रार्थके लिये कमर कसे रहते हैं। सन् १९७६ के प्रायगराजके कुंभमें जब मैं पहुंचा तो सब संत मुझसे पूछने लगे कि आप करपात्रीजी और शंकराचार्यजीसे शास्त्रार्थ करेंगे? मैंने पूछा क्या आपने ऐसा स्वप्न देखा? कहने लगे कि यहां ऐसी चर्चा है। मैंने कहा ऐसा ही किसीको भ्रम हो गया होगा। लेकिन बादमें जब देखा कि मेरे नामराशिवाले कोई संतने चेलेंज दिया है और लोगोंने मेरे ऊपर उसे लगाया तब मैंने प्रथम उनकी इस भ्रान्तिको दूर करनेका भारी प्रयास किया। जब उस ओरसे अड़ गये तब हमने भी कहा फिर कर लो शास्त्रार्थ। पम्फलेटमें ही शास्त्रार्थ शुरू हो गया तो अन्तमें 'सर्वं चतुरस्रं' कहकर उस ओरसे समाप्त किया। विद्याका प्रयोजन विवाद नहीं। ज्ञान प्रयोजन है। बोध प्रयोजन है। विवाद अभिमानवर्धन है। "धनं मदाय"। धन पासमें आता है तो नशा चढ़ता है और वह दुनियाको तुच्छ समझता है। रामकृष्ण परमहंसजी एक कथा बोलते थे। एक मेढकको एक रूपया मिल गया। उधरसे हाथी आ रहा था। तो मुंहमें पैसा लेकर कहने लगा हे हाथी, भाग जाओ, मेरे सामने मत आओ। हाथीने नहीं सुना, सामने आया तो एक लात हाथीपर जमा दी। हाथी अपनी चालसे चला गया। मेढक कहने लगा—आखिर मेरी लात खानी पड़ी ना! पहले ही मैंने कहा था कि मैं पैसेवाला हूँ। इधरसे मत्त जाओ। बात यह है कि धनरूपी लक्ष्मी और विद्यारूपी सरस्वतीके आनेपर स्वभावतः अभिमान बढ़ता है। हां, सरस्वती समझदार होनेसे बादमें विनयकी ओर ले चल सकती है। किन्तु उलूकवाहिनी जिसका वाहन उल्लू है ऐसी लक्ष्मी तो रात्रिकी मदान्धतामें प्रायः पटकती हैं। हां, पहलेसे अमानित्व हो तो विद्या ज्ञानमें पहुंचायेगी। धन दानमें प्रेरित करेगा। "शक्तिः परेषां परिपीडनाय"। शक्ति शरीर-शक्तिको कहते हैं। पहलवान हमेशा दूसरेको पटकनेकी सोचते हैं। समुद्रकिनारे अकेला बिचारा कोई खड़ा है। एक उन्मत्त पहलवान आया। उसे दो-चार

तमाचा लगाया। समुद्रमें पटक दिया। यह खलकी शक्तिका उपयोग है। लेकिन सज्जन हो तो समुद्रमें डूबते हुएको बचानेमें अपनी शक्तिका उपयोग करेगा। खलकी विद्या विवादके लिये, धन मदके लिये और शक्ति परपीडनके लिये होती है। साधु अर्थात् सज्जनकी विद्या आदि विपरीत-फलदायी है। विद्या बोधके लिये, धन दानके लिये और शक्ति पररक्षणके लिये होती है। खलमें इन तीनोंसे अभिमान होता है। साधुमें उदारता आ जाती है। । अतएव मानी खलको विद्या नहीं देनी चाहिये। विद्याके लिये अत्यधिक आवश्यक योग्यता है तीव्र जिज्ञासा। पूर्वतर मन्त्रमें विवेक दिखाया था। 'अनुशिष्टस्त्वयाऽहं' यहां नम्रता सूचित होती है। तीव्र जिज्ञासा प्रस्तुत मन्त्रमें प्रकट करते हैं और अगले मन्त्रमें वैराग्य आदि।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल। यमराजने बाधक रूपमें जो हेतु दिया उसीको नचिकेता साधकके रूपमें प्रस्तुत करते हैं। भगवन्, बड़े-बड़े देवता भी इस विषयमें संशयापन्न हैं। संशय करते हैं. अतः कठिन विषय होनेसे इसे छोड़ो यह आपका कहना है। लेकिन देवता इसमें क्यों संशय करने लगे? उनको अपने प्राप्त भोगमें लगे रहना चाहिये था। घासफूस, कंकड़, पत्थर, पेड़ है इसमें संशय क्यों नहीं करते? इस घासके अंदर सीमित परमाणु हैं कि असंख्य परमाणु हैं इत्यादि। काकदन्तपरीक्षा-कौएके दन्त कितने हैं यह परीक्षण क्यों नहीं करते? हैं तो वे सफेद हैं कि काले? शरीरमें त्वचा है। उसपर बाल हैं। सारे शरीरमें त्वचा है तो बालके ऊपर भी खाल है कि नहीं? ऐसा ऐसा संशय देवता क्यों नहीं करते? बात यह है कि संशय विचारका अङ्ग है। विचार सप्रयोजन विषयपर होता है। बालकी खाल निकालकर आखिर करना क्या है? संशय विचारका अङ्ग है।

"विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
संगतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम् ॥"

पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा दोनोंमें अधिकरण ही अधिकरण हैं। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह जिज्ञासाधिकरण है। ब्रह्मविषय है। वह विचार-योग्य है या नहीं यह संशय है। विचारयोग्य नहीं है क्योंकि उसके विचारसे कुछ लाभ नहीं है यह पूर्वपक्ष है। विचार करना चाहिये यह

सिद्धान्त उत्तर है। शास्त्रसंगति आदिके साथ फलसंगति भी समझना उचित है।

देवतारूपी देव समझो या विद्वान्‌रूपी देव समझो दोनोंही चलते-फिरते रास्ते में आये एक-एक कंकड़को लेकर उसमें संशय नहीं करते। भले उसमें कितने परमाणु हैं इत्यादिका ज्ञान न हुआ हो। विशिष्ट सप्रयोजन विषयपर ही संशय करते हैं और निर्णयार्थ प्रयत्न करते हैं। ब्रह्मविषयमें देवताओंने भी संशय पहलेसे किया है, करते आ रहे हैं इसका मतलब है कि विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बालकोंका संशय होता तो अलग बात थी। देवताओंने संशय किया तो महान् विषय होना ही चाहिये। अतएव मेरे संशय तथा जिज्ञासा ब्रह्मविषयमें समुचित हैं।

त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ। आपने बताया "न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः" आपके कहनेका मतलब यह अति कठिन विषय है अतः छोड़ो। यह रहस्यमय विषय है अतः छोड़ो। नचिकेता कहता है मैंने इसका मतलब दूसरा ही समझा। यदि साधारण बात होती तो तर्कसे या अनुमानसे मैं ही स्वयं समझनेका प्रयत्न करता किसीको कष्ट न देता। लेकिन यह सुज्ञेय नहीं है। गुरुमुखसे सुननेपर ही ज्ञेय है। अतः असुज्ञेय होने ही से प्राप्त गुरुसे उसे समझनेका अवसर न खोना चाहिये।

ब्रह्म प्रमाणान्तरगम्य नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाणका विषय नहीं है। ज्ञेय जरूर हैं, सुज्ञेय नहीं। ब्रह्मका असली स्वरूप है सत् चित् आनन्द। इसीको अस्ति, भाति, प्रियं बोलते हैं। गृहमस्ति, गृहं भाति; गृहं प्रियम्। यहां अस्तिसे सत् बताया। भातिसे चित् बताया। प्रियंसे आनन्द बताया। ये तीनों घटमें एकलोलीभूत होकर भासते हैं। तब ये तीनों ज्ञेय हो गये। किन्तु सुज्ञेय नहीं है। गृहमस्ति। उपाधिको लेकर उपहित-विशेषित अतएव व्यावृत्त परिच्छिन्न सत् चित् आनन्द भास रहा है। गृहमस्ति। परमाणुरस्ति न वा। गृहं भाति। तन्मात्रादिर्न भाति। गृहं सुखं कण्टकादिर्दुःखम्। इस प्रकार गृह यह विशेषण व्यावर्तक होकर परिच्छिन्न सत्ता आदिको उपस्थित कराता है। अतः प्रत्यक्ष शुद्ध सच्चिदानन्दतक नहीं पहुंचता। तो अनुमान क्या पहुंचेगा? 'यतो वाचो निवर्तन्ते' से वाणीकी भी अप्राप्यता बतायी। अतः सुज्ञेय नहीं। प्रमाणान्तरगम्य नहीं। उपदेशमात्रगम्य है। अतः सुज्ञेय न होनेसे यही वर लेना चाहिये।

वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यः। माना कि यह महत्त्वपूर्ण विषय है क्योंकि देवोंने भी इसपर संशय जिज्ञासा आदि किया और यह भी माना कि यह गुरुके बिना सुविज्ञेय नहीं है। फिर भी वरदानके रूपमें इसे मुझसे मांगनेकी जरुरत नहीं है। क्योंकि यह तो गुरुसंप्रदायदीक्षित साधारण मनुष्य भी बता सकता है और बताया भी जाता है आज भी। तब देवताओंसे वरदान उसीका लेना चाहिये जो चामत्कारिक हो, जो साधारण मनुष्य के द्वारा संपादनीय न हो। इसकी चर्चा आगे करनी भी है। ऐसा सामान्यतः पूर्वपक्ष उपस्थित हुआ। आगे विशेष पूर्वपक्ष है। इसपर नचिकेता कहते हैं कि इस ब्रह्मविद्याके उपदेष्टा भी आप (यमराज) के समान कोई दूसरा नहीं है। जैसे कि सोचते हैं कि कोई भी संप्रदाय-दीक्षित बोल सकता है वह ठीक नहीं।

यह ब्रह्मतत्त्व अनेकविध दृष्टान्तोंसे समझाया जाता है। वस्तुतः इसके लिये कोई दृष्टान्त नहीं है। फिर भी दृष्टान्तोंसे इतर व्यावृत्तिकर समझाया जाता है। इसके अभावसे ही द्वैतवादी आचार्य दिग्भ्रमित हो गये थे। मिथ्याशब्दार्थ और परमार्थसत्य शब्दका अर्थ वे समझ नहीं सके तो अद्वैतका ही खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" यह न्याय है। सबकी समझ अलग-अलग है। सबने अपने अपने एक-एक ढंगसे वस्तुओंको समझा है। उनकी उन समझोंको लेकर आगे उनको समझाना है। अन्यथा विपरीतज्ञान हो जाता है। मिथ्या शब्दका अर्थ बहुतोंने असत् समझा है। "मिथ्या शब्दोऽपह्नववचनः"। आसमानमें एक महल खड़ा है बोले तो तुरत कहेंगे मिथ्या बोलते हो। आसमानमें महल असत् है शून्य है। उसीको मिथ्या कह दिया। यह जिसके दिमागमें बैठा है उसको कहें कि जगत् मिथ्या है तो वह असत् समझेगा और पूछेगा कि क्या जो खाते पीते हैं वह सब मिथ्या हैं? यह मक़ान मिथ्या है जिसमें आप रहे हैं? तो जंगल भी मिथ्या है वहां क्यों नहीं रहते? यह विमान राकेट आदिका आविष्कार मिथ्या है? ऐसा हो तो भारत सैकड़ों वर्ष क्या हजारों वर्ष पिछड़ जायगा इत्यादि। अतः व्यक्तिभेदसे शब्दभेद, दृष्टान्तभेद, शैलीभेद आदि सभी आवश्यक हैं। और वह वही कर सकता है जो परचित्तज्ञ-दूसरेके मनको जानता हो।

एक गुरुके पास एक जिज्ञासु शिष्य आया। धोती पहने हुआ था। लम्बी मोटी चोटी थी। भस्म कपालमें शोभा पा रहा था। तेजस्वी चेहरा था। नम्रतासे उसने गुरुको निवेदन किया—गुरुजी, हमें कुछ ब्रह्मके विषयमें समझाइये। गुरुजीने कहा कि देखो—ब्रह्म एक है, अद्वितीय है। उसमें नानात्व एवं नानाकार उपाधिकल्पित है। जैसे अग्नि एक है। सर्वत्र व्यापक है। पत्थर रगड़ो तो अग्नि प्रगट होती है। लोहा रगड़ो तो रेल्वे पटरीमें गाड़ी जाते समय अग्नि प्रगट होती है। जंगलोंमें बांसकी रगड़से अग्नि प्रगट होती है। दो हाथ आपसमें रगड़ो तो गरम हो जाते हैं। मतलब अग्नि सर्वत्र व्यापक है। कोई उसका आकारप्रकार नहीं है। किन्तु उपाधिके कारण आकार प्रकार आ जाते हैं। लम्बी लकड़ीमें अग्नि लम्बी होती है। गोल अयोगोलकमें अग्नि गोल हो जाती है। दावानल लगनेपर लाल मेरुपर्वतके आकारवाली होती है। सूर्यमण्डल भी तो अग्नि है। बिजली भी अबिन्धन अग्नि है। बिजलीकी लाईट ट्यूब जैसी होती है। उससे ए-बी-सी-डी आदि अक्षर भी होते हैं। गैसमें नीली अग्नि होती है। ग्येसलाईटमें सफेद। ये सब उपाधिप्रयुक्त हैं। इसी प्रकार ब्रह्म भी आकार प्रकार वर्जित है। उपाधिसे नानाकार प्रकार बनता है। हाथीमें आत्मा बड़ा दीखता है। चींटीमें छोटा। सांपमें लम्बा। वह जगदाकार होता है। उपाधिवर्जित एकरस ब्रह्म परमात्मा है।

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥"

जैसे अग्नि एक है। भुवनमें प्रविष्ट होकर उपाधिरूपके अनुविधायी (सदृश आकारप्रकारवाली) हो गयी। वैसे एक ही आत्मा सर्वभूतोंमें प्रविष्ट होकर नानारूप हो गया और सबसे अलग भी रहा। ऐसा श्रुतिवचन है। शिष्य समझ गया, प्रसन्न होकर चला गया।

कुछ समय बाद एक दूसरा शिष्य आया। मुकुट पहना था। लंबी मूंछें थीं। कवच पाजामा पहने हुए था। वह आकर बैठ गया। गुरुजीसे नम्र निवेदन किया कि ब्रह्म समझाईये। गुरुजीने कहा-ब्रह्म सत्तारूप है। एकमेव अद्वितीय है। एक राजा है, एक मन्त्री है और एक पुलिस है। राजामें भी सत्ता है, मन्त्रीमें भी सत्ता है, पुलिसमें भी सत्ता है। भले करोड़पतिकी

मोटर जा रही हो। एक सामान्य पांच सातसौ रूपयेकी नौकरीवाली,– पुराने जमानेकी पचीस रूपया तनखावाली–पुलिस उसे खड़ा करवा सकती है। पुलिसमें सत्ता है। करोड़पतिमें भी वह सत्ता नहीं है। हजारों पुलिसोंको निकालने और रखनेकी सत्ता मन्त्रीमें है। उसकी सत्ता बड़ी है। राज्य चला सकता है। किन्तु राजाकी सत्ता सर्वोर्ध्व है। वह मन्त्रीको भी हटा सकता है। रख सकता है, फांसीपर लटका सकता है। पुलिसकी सत्ता छोटी है। मन्त्रीकी सत्ता मध्यम है। सर्वोर्ध्व सत्ता राजाकी है। क्या ये तीनों सत्तायें अलग-अलग हैं? नहीं। वस्तुतः एक हैं। राजाने अपनी थोड़ी सत्ता मन्त्रीको दी। मन्त्रीने थोड़ी सत्ता पुलिसको दी। मूल सत्ता तो राजाकी है। इसी प्रकार ब्रह्मकी बड़ी सत्ता पारमार्थिक सत्ता है। जगत्‌की व्यावहारिक सत्ता है। रज्जुसर्पादिकी प्रातिभासिक सत्ता है। हमलोग शशविषाणके समान सत्ताशून्य हैं। सत्तामें छोटापन और बड़ापन उपाधिभेदसे आया। मन्त्री उपाधि मध्यम हैं। अतः उसमें मध्यम सत्ता है। पुलिस उपाधि छोटी है अतः छोटी सत्ता है। वस्तुतः सत्ता एक है। एकरूप है। श्रुति कहती है– 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'। प्रथम केवल सत्ता ही थी।

'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥'

आद्यं अर्थात् अग्रे भवमादौ भवम्–सबसे पहले रहनेवाला। वह अव्यक्त, निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष, निरीह, ब्रह्मज्योति सत्तामात्र है। वही अध्यात्मदीपरूपी विष्णु हैं। शिष्य समझ गया। प्रसन्न होकर चला गया।

इसके बाद एक और शिष्य आया। उसने भी प्रार्थना की गुरुजी ब्रह्म समझाईये। वह लाल पगड़ी पहने हुए था। कुरता पहना था। लंबी एक लाठी हाथमें थी। गुरुजीने कहा बैठो, सुनो। जगत्‌का सार ब्रह्म है। वह सर्वत्र एकरूप हैं, व्यापक है। सिर्फ उपाधि ही नाना है। जैसे कोई गाय ऊंची है। दूसरी ठिंगनी। कोई सफेद है। कोई भूरी, कोई लाल। कोई सींगवाली और कोई बिना सींगकी। गायें जितनी हों उतनी ही प्रकारकी होती हैं। किन्तु दूध सबका एक ही प्रकारका है। वह गौका सार है। सभी गौओंका दूध सफेद है। वास्तविक उसकी हल्की मिठास है। ऐसा ही यह आत्मा हजारों शरीरोंमें है। सबका यह सार भी है और आनन्दरूप भी है।

'एकाकारं यथा दुग्धं नानाकारासु धेनुषु ।
एकाकारं तथा ब्रह्म नानाकारासु मूर्तिषु ॥'

दोहनेसे दूध प्रकट होता है। स्तन काटो तो दूध नहीं निकलेगा। वैसे श्रवणमननिदिध्यानसे ब्रह्म प्रगट होगा। मस्तक काटकर अग्निमें हवन करनेसे नहीं। तदर्थ ब्रह्मविचार करो। शिष्य समझ गया। प्रसन्न होकर चला गया।

इसके अनन्तर एक शिष्य और भी आ गया। कानमें कुण्डल था। आभूषण धारण किये हुए था। उसने भी आकर गुरुजीसे कहा गुरुजी कुछ ब्रह्मोपदेश कीजिये। गुरुजीने कहा-कटक, कुण्डल, नाथुल, चेन आदि जितने भी तुमने धारण किया है इनमें असली चीज क्या है? सोना। कीमत सोनेकी है आकारप्रकारकी नहीं। आकारकी कीमत नहीं मिलेगी। सोनेकी मिलेगी। अतएव आकार नकली है। मिथ्या है। सर्वत्र परिपूर्ण सोना सत्य है। इसीप्रकार समस्त जगतमें ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। अविनाशी है। उसकी कीमत है। सत्ता है। नाम रूपात्मक जगत् उसमें निमित्त है। आज है। कल नहीं। श्रुति कहती है—

'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातँ-स्याद्
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥'

यहां मिट्टीका दृष्टान्त दिया है। बात एक ही है। मिट्टीसे खिलौने बने। हाथी, घोड़ा पुरवा, कुत्ता, गधा। बच्चेको हाथी प्यारा था। और खिलौनेके टूटनेपर रोया नहीं। हाथी टूटा तो रोने लगा। मेरा हाथी मर गया। क्या सचमुचमें कोई हाथीघोड़ा वहां है? नहीं। वस्तुतः मिट्टी ही मिट्टी सब है। वैसे पूरा जगत् ब्रह्म ही ब्रह्म है। सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करो जैसे कटक-कुण्डलादिमें सुवर्णदर्शन। सुनकर वह प्रसन्न हो गया। गुरुजीको बार-बार प्रणामकर चला गया।

गुरुजीके आश्रममें एक चेलाराम बैठा था। उसने गुरुजीसे पूछा कि यहां चार व्यक्ति आये। आपने भिन्न-भिन्न दृष्टान्तोंसे समझाया। किसीको आगसे समझाया। किसीको सत्तासे किसीको दूधसे। और किसीको सोनेसे। एक ही दृष्टान्तसे आप क्यों नहीं समझाते? गुरुजीने कहा—अरे! श्रोता

जिससे समझें वही बोलना चाहिये। प्रथम जो आया वह अग्निहोत्री था। उसको मैंने अग्निके उदाहरणसे समझाया। चोटी, भस्म आदिसे मैंने समझ लिया वह ब्राह्मण अग्निहोत्री है। दूसरा जो था वह राजा था। उसके मुकुट कवच आदिसे मैंने उसको जान लिया। उसको मैंने राजसत्तासे समझाया। तीसरा लाल पगड़ीवाला अहीर था (ग्वाला था) उसको मैंने गायके दूधसे समझाया। चौथा आभूषणवाला सोनार था। उसको मैंने सोनेके दृष्टान्तसे समझाया। तात्पर्य यही कि श्रोता जिस बातसे, जिस प्रकारसे, जिस उदाहरणसे समझ सकता है वही बोलना चाहिये। इसके लिये आदमीकी परख चाहिये। नचिकेता कहते हैं कि आप यमराजके समान प्राणियोंके चित्तोंको परखनेवाला कोई दूसरा नहीं। अतएव—"वक्ता चास्य त्वदृगन्यो न लभ्यः"।

नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्। यह फलितार्थकथन है। उपनिषत्के प्राकट्यमें कालकी कल्पना की जाये तो उपनिषदें प्रकट पूर्णरूपेण नहीं थीं। अतः यमराजके समान वक्ता दुर्लभ था। और अब चूक जाता हूं तो दुबारा ऐसा मौका दुष्प्राप्य है। क्योंकि इस समय मजबूर होकर भी यमराजको कहना पड़ेगा। अन्य समयमें एक तो यहां आनेका मौका नहीं मिलेगा। मरकर आवें तो भी प्रेतको जिज्ञासा नहीं होगी। जिज्ञासा होनेपर यमराज टालनेमें स्वतन्त्र होंगे। अतः यह स्वर्ण अवसर है। विषय सर्वोत्तम है। अन्यत्र जाकर पता करना दुर्विज्ञेय होनेसे मुश्किल है। अतः इसके समान दूसरा कोई वरदान नहीं। और विशेषतः उत्तर मन्त्रमें बताना है।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

हे नचिकेता! तुम शतायु पुत्रपौत्रोंको वररूपमें मांग लो। गाय, हाथी, घोड़ा एवं सुवर्ण आदि भी बहुत सारे मांग लो। भूमिमें विशाल राज्य या मण्डल मांग लो और स्वयं भी जितने चाहो उतने वर्ष जीवित रहो॥

मृत्युसे डरना नहीं है बल्कि मृत्युसे उपदेश प्राप्त करना है। वरदान प्राप्त करना है। नचिकेता बालक हैं। स्वयं मृत्युके पास जानेको तैयार हुए। गये। और वरदान लिया। उस मृत्युसे आजभी परोक्षरूपसे हम उपदेश ले सकते हैं। सत्कर्म करो। सदुपासना करो। मृत्यु संमुखमें स्थित है। यही साथी है। अन्य सब यहीं छूट जायेंगे। यही अग्निविद्या है। अग्निकर्म तथा अग्नि उपासनारूपी नाचिकेत अग्नि है। और मरणोत्तर जो अवशिष्ट तत्त्व है वही परमार्थ तत्त्व है। मुख्य उस ब्रह्मविद्याके प्रतिपादनके लिये इस उपनिषत्का प्रारंभ हुआ। किन्तु तदर्थ अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। कर्म एवं उपासनासे मल एवं विक्षेपकी निवृत्ति जिसकी हुई हो, जो साधनचतुष्टय संपन्न हो वही अधिकारी है।

मलविच्छेप जाके नहीं किन्तु एक अज्ञान

अग्निविद्यासे मलविक्षेपकी निवृत्तिके बाद अब विवेकवैराग्यादिको प्रतिपादित करने के लिये तृतीय वरोपक्रम है। इनमें प्रथम विवेकनिरूपण "देवैरत्रापि" इन दो मन्त्रोंके सन्दर्भसे हो गया। "येऽयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके" इस संशयमें "नायमस्तीति चैके यही पक्ष वास्तविक होता तो "न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः" इत्यादि वचन व्यर्थ हो जाता है। अभाव तो अभाव ही है। उसका प्रतिपादन आसान है। "नहीं है" तो नहीं है इसमें अब क्या चर्चा है? "है" इस पक्षमें ही चर्चा है। है तो क्यों नहीं दीखता? कैसा है? वह सावयव है कि निरवयव है? साकार है कि निराकार? सशक्त है या अशक्त? हजारों प्रश्न उपस्थित होते हैं। रूपया है—पूछा। उत्तर मिला-नहीं। खतम प्रश्न समाप्त है। 'है' कहा तो पूछेंगे कितना है, क्या खरीदेंगे, कितना खरीदेंगे? हजार प्रश्न होंगे। अतः "न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः" से अस्तिपक्ष आ गया। वह सुज्ञेय न होनेसे इस प्रश्नको छोड़नेके लिये कहा। अन्य वर मांगनेके लिये कहा। किन्तु मृत्युके बाद अस्तित्व रखनेवाला निषेधावधिभूत पदार्थ होगा। उसको छोड़कर सभी विनाशी सिद्ध होंगे। तब अन्य वरको-विनाशीको छोड़कर अनिषेध्य नित्यकी उत्कट जिज्ञासा हो गयी। यही नित्यानित्यवस्तुविवेक है। केवल यह नित्य और यह अनित्य ऐसा साधारण ज्ञान विवेक नहीं है। अनित्यको छोड़कर नित्यको पानेकी इच्छा फलपर्यवसायी नित्य-अनित्य-

विषयक विविक्त स्फुरण बोध ही नित्यानित्यवस्तुविवेक हैं। "नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्" "एतस्य" से नित्य वस्तुका वर तथा "नान्यः"से अन्यकी अवरणीयता दोनों स्पष्ट हैं। इसके बाद अब वैराग्यपरीक्षा होगी।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्ति हिरण्यमश्वान्। बृहदारण्यकमें तीन एषणायें और उनसे व्युत्थान करनेका निर्देश किया है।

"ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च
लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति ॥"

एक पुत्रैषणा दूसरी वित्तैषणा है। इन दोनोंके परिणामरूप तृतीय लोकैषणा है। लोक तो वैसे चार हैं। किन्तु एषणाविषय लोक तीन ही हैं। बल्कि दो कहना चाहिये। अयं लोक (इह लोक) एक है। दूसरा परलोक है। परलोकके दो विभाग हैं पितृलोक और देवलोक। पुत्रसे इहलोकजय होता है और धनसे परलोकजय। धनके दो विभाग किये हैं। मानुषं दैवं च वित्तम्। मानुष वित्तसे पितृलोक तथा दैववित्तसे देवलोककी प्राप्ति होती है।

"पुत्रेणैवायं जय्यो लोकः कर्मणा
पितृलोको विद्यया देवलोकः ॥"

ऐसा श्रुतिवचन है। अतएव पुत्र एवं वित्तके कहनेसे लोक स्वयं आ जाते हैं। उनमेंसे प्रथम पादसे पुत्रैषणाको जगा रहे हैं और द्वितीयपादसे वित्तैषणाको। दोनोंसे लोकैषणाको भी। स्वभावतः प्रथम दो हैं। फलतः उत्तर।

सौ सौ वर्षकी आयुवाले पुत्रपौत्रोंको मांग लो। यह पुत्रैषणाका उद्भावन है। साक्षात् पुत्रैषणा स्वभावतः सबको होती है। और विचारशील उसको लोकेषणा (इहलोककी एषणा) तक पहुंचाते हैं।

"सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय"।

इतनी इच्छा सर्वसाधारण है। इसका पूर्वार्ध है—"आत्मैवेदमग्र आसीदेकमेव।" ब्रह्मचर्याश्रमतक ब्रह्मचारी अकेला था। युवावस्थाके आनेपर उसको अकेलापन महसूस होने लगा। उसने चाहा कि मेरी जाया हो, पत्नी हो। पत्नी प्राप्त होनेपर प्रथम तो तुष्टि हो गयी। तृप्ति हो गयी। कृतार्थता प्रतीत हुई। किन्तु वह संतुष्टि अधिक दिन तक नहीं टिकी। दो साल या चार साल बीतनेपर चिन्ता होने लगती है कि शादी हुयी इतने दिन बीत

गये अभी तक कोई बच्चा नहीं हुआ। ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों चिन्ता बढ़ती जाती है। तब "अथ प्रजायेय" यह जो प्रजा अर्थात् संतान उसकी कामना उत्कट होती है यह पुत्रैषणा है। लेकिन यह यहीं तक सीमित नहीं है। यदि इतनी ही एषणा थी तो दैवकृपासे पुत्र प्राप्त हो गया तो एषणानिवृत्ति होनेसे इतनी गम्भीरताके साथ इसको उपनिषदोंमें एषणाके रूपमें वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं थी। पुत्र बड़ा हो गया तो उसकी शादी करानेकी और फिर उसमें पौत्रकी इच्छा होने लगती है। एक बार मैं डलहौजीमें गया था। नीचे डलहौजीमें। वहां एक मंदिरमें गया तो एक माताने भोजनके लिये निमन्त्रण दिया। भोजन करानेके बाद फिर वह रोने लगी जोरसे। हमने कहा—मायी! रोती क्यों हैं? महाराज! यह मेरा लड़का है। शादी हुए दस साल हो गये। यह बहू है। हमने कहा इसके लिये क्यों रोती हैं? मैंने सोचा बहू सेवा करती नहीं होगी। झगड़ती होगी। उसने कहा—दस साल बीत गये, अभीतक इसको कोई बच्चा नहीं हुआ। मैं बूढ़ी हो गयी। पता नहीं कब मरूंगी। हमने कहा—तेरा बच्चा हो गया। अब बच्चेका बच्चा हो न हो इसके लिये बच्चा चिन्ता करे, तू क्यों चिन्ता करती है? मरते तक यह सेवा करेंगे तेरी। वह कहने लगी—सेवा ये करेंगे। ये अच्छे हैं। पर आपको क्या मालूम क्या गिरस्थी है। आप सन्त जो ठहरे। आप आशीर्वाद तो दे दो। मैंने कहा लो आशीर्वाद किन्तु गेरंटी नहीं है। वह भी हंसने लगी। ऐसी एषणा घरघरमें होती होगी। किन्तु मेरा वह प्रथम अनुभव था। बात यह है कि पुत्रका भी पुत्र हुआ। वह भी बड़ा होगा और उसकी शादी होगी तो वहां भी समस्या वही की वही होगी। इसका कोई पार नहीं। यह पुत्रैषणाका स्वरूप है।

पुत्रैषणाकी फलात्मक है—इहलोकेषणा। पुत्रेणैवायं जय्यो लोकः। पुत्र अनके प्रकारसे इहलोकसाधक है। पुत्र कमाने लगता है तो पिताको सुख मिलता है। पिता वृद्ध हो जाय तो पुत्र सेवा करता है। इन दोनोंसे बढ़कर है वह जो पिताका नाम रखता है—यदि वह योग्य निकलता है। पिता स्वयं सेठ हो और बुढ़ापे के दुःख भोगनेका अवसर नहीं आया तो पिताका नाम रोशन करके इहलोकसाधक होता है। परन्तु पुत्रमें यह बात निश्चित होती तो वैराग्योपदेश आंशिक कमजोर पड़ जाता। बात यह है कि सृष्टि

विलक्षण है। किसी नियमको टिकने नहीं देती। सुपुत्र होते हैं तो कुपुत्र भी होते हैं। सुपुत्रके लिये बताया है–

'एकेनैव सुवृक्षेण चन्दनेन सुगन्धिना ।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं तथा ॥'

मलयाचलका घोर जंगल है। हजारों प्रकारके वृक्षके हैं। कांटे हैं। भयंकर हैं। कोई वहां ठहर नहीं सकता। किन्तु एक चन्दनका पेड़ वहां हो गया। असल चंदन। उसकी सुगन्धि चारों ओर फैलने लगी। राहगीर उस बीहड़ जंगलमें खड़े होकर सुगन्धिका आस्वादन करने लगा और कहने लगा क्या सुंदर सुगन्धि जंगल। ऐसा ही एक सुपुत्र होता है तो पूरा कुल उज्ज्वल हो जाता है। 'गांधीजी' कह दिया तो बस जान गये। श्रद्धासे नतमस्तक हो गये। गांधीजी कोई नाम थोड़ा ही है? वह कुलोपाधि है। तिलकजी कोई नाम नहीं है। नाम तो बालगंगाधर है। नामको शायद बहुत थोड़ेसे लोग याद रखते हैं। इसके विपरीत–

'एकेन शुष्कवृक्षेण दह्यमानेन वह्निना ।
दह्यते तद्वनं सर्वं कुपुत्रेण कुलं तथा ॥'

बड़ा विशाल जंगल है। पनस, सागवान आदिके अच्छे अच्छे वृक्ष हैं। चन्दनके वृक्ष भी हैं समझ लो। किन्तु एक सूखा पेड़ था। वंश घर्षणसे उसपर आग लगी। फिर क्या? पूरा जंगल ही जलकर खाक हो गया। बर्मा टीक वूड प्रसिद्ध है। वहां जंगलमें हजार-हजार वर्ष पुराने सागवानके पेड़ थे। एकबार उसमें आग लगी। जंगलमें कौन बुझावे? छह महीनेतक जलता रहा। तबसे बर्माटीक दुर्लभ हो गया। वंशघर्षणसे आग लगती है। पहाड़ी लोग रास्ता बनानेके लिये आग लगाते हैं। झाड झंकारको कहांतक काटते फिरें? आग लगायी तो सब भस्म। यही दृष्टान्त कुलके लिये भी है। एक नालायक पुत्र निकलता है तो पूरे कुलको बदनाम करता है। वंशघर्षणका दूसरा अर्थ लगा लो। वंश कुलको भी कहते हैं। बांसको भी कहते हैं। कुलमें आपसमें कभी झगड़ा होता है। किन्तु कोई बेवकूफ ऐसा निकलता है जो घरका झगड़ा बाजारके लोगोंका विषय बना देता है। दूसरा जंगली मनुष्य आग लगाते हैं। जंगली मनुष्यके भी दो अर्थ हैं। एक जंगलमें रहनेवाला। दूसरा आप जानते हैं–मूर्ख। असभ्य। ये भी आग

लगाते हैं। लेकिन प्रथम आग तो सूखी लकड़ीको पकड़ेगी। फिर तो सूखी, गिली, हरी सब उसमें आ जाते हैं। पुलस्त्य कोई हुए थे। नाम सुनते ही पौलस्त्य रावणकी याद आती है। और उपेक्षाबुद्धि होती है। रावण पुलत्स्यवंशीय है। लोगोंके दिमागमें आ जाता है कि पुलस्त्य भी राक्षस जैसा कोई होगा। अरे! पुलस्त्य तो अतिमहान् ऋषि थे। सप्त ऋषियोंमें उनका नाम है।

'मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्चेति सप्तैते ज्ञेयाश्चित्रशिखण्डिनः ॥'

पुलस्त्यका साक्षात् पुत्र भी रावण नहीं है। पुलस्त्यका पुत्र विश्वश्रवस हुए। उनका पुत्र रावण हुआ। जो भी हो। पुरुवंश कलङ्कित हुआ विश्वश्रवसका दूसरा पुत्र कुबेर हैं जो धनपति है। जो भी हो, कुबेर हो चाहे इन्द्र। किन्तु रावणने कुलको घसीट ही लिया। भारतकी स्वतन्त्रतासे पहले जापानमें एक लाईब्रेरीके आगे लिखा था 'नो एडमिशन फार डाग्स एन्ड इण्डियन्स'। हेतु पूछा तो बताते थे कि एक भारतमाताके सपूत लाइब्रेरीमेंसे एक दुर्लभ पुस्तकके पन्ने फाड़कर चोरीसे ले गया था। कुत्तेका प्रवेश इसलिये नहीं कि वह जहां-तहां पेशाब करता है। एकने कीचड़में पत्थर फेंका तो छींटे सबपर पड़ीवाली बात है। अस्तु। यहां कपूतकी बात नहीं। सुपुत्रकी ही बात है कि पुत्रेणैवायं जय्यो लोकः।' पुत्रसे इहलोकजय तो साधारणरूपसे कहा जाता है। क्वचित् परलोकजय भी होती है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया ।'

इससे निश्चित है कि पिण्डादि देनेवाले पुत्र नरकपतनसे भी बचाते हैं। श्रीमद्भागवतमें, प्रह्लादकी कथामें बात आयी है कि नरसिंह भगवान् प्रसन्न होकर प्रह्लादजीको कहते हैं—इच्छित वरदान मांग लो। इसके जवाबमें प्रह्लादजी ने प्रथम यही कहा कि मैं भक्ति करूं और उसके बदलेमें वरदान लूं यह लेनदेनकी बात हो जायगी। यह तो व्यापारियोंका काम है।

'नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्त आशिष आशास्ते न स भक्तः स वै वणिक् ॥'

वणिक्का अर्थ है व्यापारी बनिया। भगवान् कहते हैं वणिक्की बात नहीं। देवताओंका यह नियम है वे दर्शन देते हैं तो कुछ वरदान अवश्य देते हैं। जैसे पिता यदि लड़कीके पास पहुँचा तो नियम है लड़कीको कुछ देना। भले लड़की करोड़पति हो। तब प्रह्लादजीने कहा यदि ऐसा है तो मैं वरदान मांगता हूं। क्या?

"यदि दासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभः।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥"

मेरे मनमें किसी भी वस्तुकी कामना उत्पन्न ही न हो यह वरदान दीजिये। भगवानने कहा यह भी शिरोवेष्टनेन नासिकास्पर्श के समान वरदान न लेना ही हुआ। ऐसा नहीं। कुछ भावात्मक वरदान लो। तब प्रह्लादजी बोले कि हे भगवन्! मेरे पिताजीने आपके प्रति बड़ा अपराध किया। देवताओंके प्रति अपराध किया। आप मेरे पिताजीको क्षमा कर दें। उनको पापसे मुक्त कर पवित्र कर दें। वे नरकगामी न हों। आखिर ये मेरे पिता ही थे। परम्परया मेरे कारण उनकी मृत्यु भी हुई। तो उनका उद्धार होना चाहिये। भगवानने कहा वैसा ही होगा। किन्तु बात यह है कि इसप्रकार तुम वरदान न मांगते तो भी उनका उद्धार होता। क्योंकि तुम जैसा पुत्र इस वंशमें हुआ।

"त्रिसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।
यत्साधोऽस्य गृहे जातो भवान् वै कुलपावनः॥"

पिता और उनकी ऊपरकी इक्कीस पीढ़ीतक सबका उद्धार तुम जैसे कुलपावनके जन्मसे ही हो गया है। इस प्रसङ्गसे स्पष्ट है कि पुत्रसे इहलोकजयमात्र नहीं बल्कि परलोकजय भी होता है।

कर्मकाण्डमें पितृमरणके बादमें वृषोत्सर्ग आदि कर्मका भी विधान है। उससे पितरोंको पितृलोकमें परमसुखकी प्राप्ति बतायी है। तथापि श्रुति इस आशयसे परलोककी बातका स्पर्श नहीं करती क्यों कि परलोकके लिये स्वयंका यत्न ही विशेष काम आयेगा। क्योंकि "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" के अनुसार स्वयं किये हुए कर्मोंका फल स्वयंको भोगना पड़ेगा यह औत्सर्गिक नियम है। इसी नियमको सुनकर वाल्मीकि चिन्तित होकर तप

करनेमें लगे थे। इस प्रकार पुत्रैषणा तथा पुत्रप्रयुक्त इहलोकैषणाको "पुत्रपौत्रान् वृणीष्व" कहकर यमराजने भड़काया।

बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। यह वित्तैषणाको भड़कानेके लिये कहा। पशुका यहाँ गाय अर्थ है। क्योंकि हस्ति अश्वको पृथक् कहा है। पहले समयमें बहुत बड़ा धन गोधन था। जितनी अधिक गायें जिसके पास हो वह उतना ही भारी सेठ माना जाता था। व्रजवासियोंका धन तो गायें ही तो थी जिनका राजा नन्दराय थे। राजाओंका धन मुख्यतया हाथी और घोड़े थे। गायें राजाओंके पास भी थीं। गायें विशेषरूपसे वैश्योंका धन था। हिरण्य तो सर्वसाधारण धन था। हिरण्य माने सोना। आज तो नोटोंका बोलबाला है। फिर भी नोटोंकी कीमत हिरण्यपर आधारित है। अंग्रेजोंके समयमें उनके शासनमें नियम था कि जितनी नोटें छापें उतनी कीमतका सोना या चांदी जमा करना पड़ता था। नोटें कभी-भी केन्सल हो सकती हैं। सोना-चाँदी केन्सल नहीं होते।

वित्तैषणा यद्यपि विषयोपभोगके लिये होती है तथापि उसका मुख्य लक्ष्य लोक माने जाते थे। "अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय।" वित्तसे कर्म करना चाहिये। बल्कि प्राचीन समयमें यह नियम था कि यदि अधिक धन एकत्रित हुआ तो यज्ञ दानमें उसका व्यय कर डालना चाहिये। ऐसा नहीं कि पीढ़ियोंतक का फिकर करते रहें। तुम्हारे पुत्रपौत्रादिको भगवानने हाथपांव दिये हैं। वे भी परिश्रम कर सकते हैं। इस असंग्रहवृत्तिका परिणाम था कि उस समय कोई गरीब नहीं था। भूखा नहीं रहता था। वर्तमान समय ऐसा है कि गरीबोंपर धनीवर्ग कृपा करते हैं। प्राचीन समय ऐसा था कि गरीबोंको देनेके लिये सैकड़ों लोग तैयार थे जिससे वह गरीब ग्रहण करे, दाता समझता था मुझपर इसने कृपा की। मेरे धनका सदुपयोग हो गया। उस कर्मका और कर्मसहित उपासनाका फल परलोक है। दोनों संगृहीत होनेसे तीन एषणाओंका यहां भड़का दिया है।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व। पुत्रैषणा और वित्तैषणाका फल शास्त्रीय लोकैषणा हुई। विषयैषणाको भी सामान्यरूपसे उपस्थित करते हैं। "भूमेर्महदायतनं" से भारी मण्डल या राज्यके आधिपत्यकी ओर इशारा है।-

स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि। भोग्य वस्तु है किन्तु जीवन ही नहीं तो ये सब किस कामकी होगी। अतः दीर्घायु होनेका यह वरदान है।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

इसके समान कोई और वरदान तुम्हारे स्मरणमें आ रहा हो तो उसे भी मांग लो। धन एवं चिरजीवन तो मांग ही लो। विशालभूमिके तुम अधिपति बनो। समस्त विषयोंके उपभोगकारी तुम्हें मैं बना देता हूं॥ २४ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व। वरदानके लिये मजबूर नहीं किया जाता कि तुम यह वर लो। भक्तके द्वारा व्रियमाण ही वर है। "शतायुषः" आदि मैं तुमपर थोप नहीं रहा हूँ। इनके सदृश और कोई हो तो इनके साथ उसे भी मांग लो ये दोनों अर्थ यहां हैं। अर्थात् ये पसंद नहीं तो दूसरा मांग लो, या ये भी मांग लो, दूसरा भी मांग लो। "एतत्सदृशं" यह विशेषण इसलिये है कि कहीं तुम ब्रह्मलोक मांगोगे तो मुश्किल हो जायेगा। यद्यपि "पुत्रपौत्रान्" आदि उपलक्षण होकर मित्रबन्धु आदिका भी बोधक होगा और "बहून् पशून्" इत्यादि उपलक्षण होकर अन्य समस्त लौकिक विषयोंका ग्राहक होगा। इसप्रकार संसारके समस्त विषयोंका यही वरदान है तो "एतत्तुल्य" इत्यादिका खास अभिप्राय नहीं रह जायेगा। उपलक्षण तो मानना ही पड़ेगा। अन्यथा एक चीज मांग लिये किन्तु कालान्तरमें दूसरी वस्तु यदि याद आयी और न मिली तो दुःख होगा। और कामनाका स्वभाव है नित्य ही नूतन-नूतन रूपसे उपस्थित होना। तथापि यमराज शब्दतः कहना नहीं चाहते—तुम यदि शत्रुनाश चाहते हो तो वह भी कर सकता हूं। प्रार्थना तो उसकी भी होती है। ते तं द्विष्यो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भं दध्मः"।

"सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रिया-
स्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥"

हमारे लिये अन्नजल सुमित्ररूपमें हों और उसके लिये अन्नजल कुमित्ररूपमें हों जो हमसे द्वेष रखते हैं और जिससे हम द्वेष रखते हैं। "एतत्तुल्यं" कहकर यमराजने इनका संग्रह इसलिये किया कि कहीं यह सुनकर नचिकेता भड़क न जाय। क्योंकि नचिकेता इतने कोमल थे कि वे परहानिके बारेमें नहीं सोच सकते थे। सीधे ही बोलते कि ऐसा वरदान हमको नहीं चाहिये। अपने लिये काम्यविषयोंका निषेध जो कर सकता है वह परहानिकर विषयोंका निषेध नितरां करेगा ही। "एतत्तुल्यत्वेन" रूपेण गेहूँके साथ घुनके समान यह भी समा जाता है। "नृत्यगीते" यह वक्ष्यमाण भी एतत्तुल्य है।

वित्तं चिरजीविकां च। पशु, हस्ति, हिरण्य आदिको पहले ही कह दिया था। यह पुनरुक्तिके समान है। पहले व्यस्तरूपसे कहा, यहां समस्तरूपसे कह दिया। किन्तु इतनेसे कोई खास फरक नहीं आता है। असल बात यह है कि वित्तमोह आबालवृद्ध सर्वमें समान है। बच्चा भी जरा-जरा समझने लगता है तो पैसेपर उसकी दृष्टि पड़ती है। वृद्धावस्थामें कामादि विकार भले समाप्त हो किन्तु लोभ तब भी खतम नहीं होता। अतः वित्तकी याद पुनः पुनः कराकर उस ओर आकर्षित करनेके लिये यमराज यत्न कर रहे हैं। जैसे एकाध बार बोलनेपर ख्यालसे निकल भी सकता है। बार-बार बोलनेपर मिठाईकी इच्छा होने लगती है। बार-बार शत्रुका नाम लेते हैं तो क्रोध बढ़ता जाता है। वैसे वित्तका पुनः-पुनः कथन आकर्षणार्थ है।

चिरजीविकां च। यह भी "स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि" से गतार्थ है किन्तु पुनःकथन इसलिये है कि चेतावनी देना चाहते हैं। देखो, इससमय क्षणिक वैराग्यसे कहोगे कि वित्त नहीं चाहिये, लंबा जीवन नहीं चाहिये किन्तु समय आने पर पछतावा होगा, अरे, उसी समय मांग लिया होता तो अच्छा था। जहां जहां पछतावेकी संभावना है उसको बार-बार याद दिला रहे हैं। देखो मरनेके नामसे कितना डरते हैं लोग। धनके लिये क्या-क्या नहीं कर बैठते हैं? अतः पुनः पुनः विचार कर जवाब देना।

महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि। पहले "भूमेर्महदायतनं वृणीष्व" जो कहा उसीका यह परिष्कृत रूपान्तर है। दोनोंमें फरक यह है कि प्रथमका अर्थ है भूमिमें एक विस्तृत राज्यमण्डल प्राप्त करो। और मण्डलोंकी अपेक्षा

वह बड़ा रहेगा। 'महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि' का अर्थ है कि परिच्छेदके बिना पूरी पृथिवीपर राज्य करो। दोनों ही दृष्टिकोणके भेदसे अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। समजातियोंमें उत्कर्ष विलक्षण आनन्ददायी होता है। असमोत्कर्ष या ऊर्ध्वोत्कर्षको सब पसंद नहीं करते। रामावतारमें हर क्षण लक्ष्मण हाथ जोड़े खड़े रहते थे। भगवानने कहा—यह क्या, न हंस सकते न खेल सकते, हर समय आज्ञा, आज्ञा कहकर सेवक खड़ा रहता है। समानतावाले हों तो खुलकर हंस-खेल सकते हैं। अतएव दूसरे अवतारमें कृष्ण छोटे हुए और शेषावतार बलराम बड़े भाई होकर आये। अतएव भगवान् भी 'समं पश्यन् हि' कहते हुए समताको अधिक पसंद करते हैं। द्वितीयपक्षमें प्रकृतिके अनुसार उसे पसंद करनेवाले भी होते हैं कि सब हाथ जोड़कर खड़े रहें। परमात्मा स्वयं असमोर्ध्व है। यमराज कहते हैं इन दोमें जो भी पसंद हो तो—यह भी पक्ष है। वस्तुतः नचिकेता अपने स्वभावके अनुसार प्रथम पक्षको ही अधिक पसंद करते। क्योंकि सर्वोर्ध्व होनेपर कई दिक्कतें आती हैं। सर्वोर्ध्वसे रोटी-बेटीका व्यवहार कैसे करेंगे? नेपालके राजाके लिये यह समस्या है कि अपनी बेटी किसकों दे? पहले भारतमें राजा बहुत थे तो किसी अन्य राजकुमारको देते। परन्तु आज समस्या बन गयी है। दग्धरज्जुन्यायसे भूतपूर्व राजवंशको लेकर काम चलाया जा रहा है। वल्लभकुलियोंके सामने भी यही समस्या है। गुरुपुत्रीसे व्याहने कोई तैयार नहीं होता तो बेटी कुंआरी रह जाती है। 'एधि' यह एध् वृद्धौ धातुका या इण् गतौ धातुका छान्दस रूप नहीं है। अस् धातुका रूप है। अस् का सत्ता अर्थ है। महाभूमिमें सत्तावान् हो यहां तक विवक्षितार्थ है।

कामानां त्वा कामभाजं करोमि। यहां प्रथम काम पदका विषय अर्थ है। द्वितीय कामपदका कामनापूर्वक उपभोग अर्थ है। 'कामानां त्वा भोगभाजं करोमि' न कहकर कामभाजं इसलिये कहा कि कामनापूर्वक भोग अधिक सुखदायी होता है। भूखपूर्वक भोजन परम आनन्दमय होता है।

'भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वराङ्गना।
विभवो दानशक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फलम्॥'

ऐसा नीतिकारोंका. वचन है। किसीके पास भोजन है। किन्तु भूख नहीं है। किसीको भूख लगती है। पर भोजन नहीं। दोनों तड़पते रहते हैं। किसीमें रतिशक्ति है किन्तु वराङ्गना नहीं। किसीके पास वराङ्गना है किन्तु रतिशक्ति नहीं। वे भी तड़पते रहते हैं। इसी आधारपर बताया—वृद्धस्य तरुणी विषम्। भोजन, भूख, रतिशक्ति, वाराङ्गना, वैभव और दानशक्ति ये अल्पतपके फल नहीं है—बहुत भारी तप करनेपर प्राप्त होते हैं। भोगेच्छा एवं भोगशक्तिपूर्वक भोग्यविषयकी प्राप्तिके लिये यमराजका यह वरदान है।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

जो-जो काम (विषय) मनुष्यलोकमें दुर्लभ हैं उन सबको यथेच्छ मांग लो। ये रमणियां हैं, रथ एवं गाजे-बाजेके साथ तुम्हारे साथ चलनेके लिये तैयार हैं। मनुष्योंको ऐसे विषय एवं ऐसी रमणियां प्राप्त नहीं हो सकती हैं। मैं ये सब तुमको दे रहा हूं। इनसे सेवा करवाओ। मरणोत्तर आत्माके विषयमें प्रश्न मत करो।

यमराजने 'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व' इत्यादि वरदान लेनेके लिये कहनेके बाद नचिकेताके चेहरेपर दृष्टिपात किया। यमराजको लगा कि ये सब नचिकेताको सामान्यसे लग रहे हैं। आश्चर्यकी कोई मुद्रा नहीं दीख रही है। शतायु पुत्रपौत्र कोई विशिष्ट बात नहीं है। शतायू अनेक मनुष्य होते हैं। आखिर वे किसी के पुत्र-पौत्र तो हैं ही। सौ वर्ष ऊमर जिसकी हो गयी उसको देखकर क्या कोई बोलता है—धन्य है इसके मातापिता जिनको शतायु पुत्र मिल गये। एक तो उनको देखनेके लिये कौनसे डेढ़सौ वर्षके मातापिता बैठे हैं। कम ऊमरके लोग उनको देखकर दादाजी कहने लगते हैं। उनके मातापिताकी ओर किसकी दृष्टि जाती है?

बहु पशु, हस्ति, हिरण्य, अश्व ये भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं। जंगल उस समय थे ही। पशुओंको पालना, उनकी संख्या बढ़ाना कौनसी बड़ी बात है। हाथी-घोड़ोंको रखकर ब्राह्मण क्या करता? हाथी घोड़ेवाले हजारों राजा लोग पड़े हैं। हमारे पिताजीके पास भी हाथी-घोड़ें आते थे। यह भी कोई नवीन बात नहीं। सोनेकी बात कुछ वजनदार है। फिर भी कोई अलौकिकता उसमें नहीं है। सुवर्णवाले संसारमें बहुत हैं। उनके जीवनमें कोई अतिशयता नहीं। आगे बताना भी है चाहे जितना भीं सुवर्ण मिले तृप्ति होनेवाली भी नहीं। भूमिका महदायतन महान् विस्तार प्राप्त होना भी कोई चामत्कारिक नहीं है। कई मण्डलाधिपति पड़े हैं। दीर्घजीवि अश्वत्थामा, बलि आदि हैं। दीर्घजवित्वसे क्या होगा? महाभूमिके अधिपति प्रियव्रत आदि हुए। वे भी तो नामावशेष ही हैं। और प्रियव्रत आदि भी महाभूमिसे ऊबकर नारदजीकी शरणमें अन्तमें गये थे। इन सब बातोंपर विचारकर यमराज अब अपूर्ववस्तुओंको-अलौकिक वस्तुओंको उपस्थित करते हैं। अर्थात् इह वस्तुसे अतिरिक्त अमुत्र वस्तु उपस्थित करते हैं।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व। यद्यपि 'स्वर्गलोकं प्रार्थयस्व' कहते तो मर्त्यलोक में दुर्लभ सभी काम उसीमें अन्तर्गत हो जाते किन्तु कर्म एवं उपासनाके बिना स्वर्गादि वरदान-मात्रसे प्राप्य नहीं यह पहले कह आये उसका समर्थन इससे मिलता है। विषयोंकी बात यह है कि तत् सदृश विषय दिये जा सकते हैं। इतने मात्रसे मर्त्यलोकमें दुर्लभ कामकी चरितार्थता है। विशेषता यह है कि उदाहरणोंसे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि प्रियव्रत आदि जैसोंको ये विषय प्राप्त थे।

इमा रामाः सरथाः सतूर्याः। इत्यादिसे कुछ दुर्लभ कामोंका दिग्दर्शन है। अथवा 'ये ये कामाः' से मनुष्यदुर्लभवस्तु मात्र बतायी। यह स्वर्गीयसदृश होनेमात्रसे गतार्थ है। यह तो अप्सराओंको प्रत्यक्ष दिखाकर कहते हैं। अतः ये स्वर्गसदृश नहीं, स्वर्गीय ही विषय हैं। कारण यमराजकी संनिधिमें स्वर्गसदृश भी मर्त्यलोकीय रामा नहीं हो सकती। मरकर ही वहां रामाओंको जाना पड़ेगा। रामाका अर्थ यहां रमणी है। रामाका कहीं-कहीं

वारांगना अर्थमें भी प्रयोग आया है। किन्तु परम धर्मनिष्ठ नचिकेताके प्रति उनका निर्देश समुचित नहीं इसलिये रमणीमात्र अर्थ है। साथ ही घूमने फिरनेके लिये रथ और आनन्दार्थ गाजे-बाजे भी साथमें रहेंगे।

न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। स्वर्गीयवस्तुसदृश वस्तु मनुष्यलोकमें प्राप्त होना संभव बताया। परन्तु इन रामाओंकि सदृश रमणियां प्राप्त होना भी मनुष्यके लिये संभव नहीं यह 'ईदृश' शब्दसे सूचित करते हैं। "लब्धव्या" की जगह लम्भनीयाः कहा। मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकते यह कर्तृतृतीया होगी। मनुष्योंसे प्राप्त कराया भी नहीं जा सकता यह करणतृतीया होगी। दोनों यहां विवक्षित हैं।

आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व। यमराजके सामने प्रश्न आया—मैं इन रमणियोंसे क्या करूँगा? नचिकेता कुमार थे। इसकी व्याख्या "अप्राप्त-प्रजननशक्ति" से भाष्यकारने किया है। यह कहें कि युवा होनेपर तुम्हारे काममें आ जायेगीं। लेकिन जबतक नचिकेता प्रौढ़ युवा बनेंगे तबतक ये बूढ़ी हो जायेंगी। इनकी भी तो ऊमर बढ़ेगी। यह कहें कि ऊमर बढ़नेपर भी ये दिव्य युवतियां जवान दीखेंगी। भले दीखें। किन्तु एकबार बड़ी होनेके कारण मातृदृष्टि या सहोदरी दृष्टि आदि हो गयी उसके बाद वह दृष्टि परिवर्तित नहीं होगी, विशेषतः नचिकेताके लिये। अतः यमराज कहते हैं—ये सेविकायें रहेंगी। इनसे सेवा करावो। सेवक-सेविकायें जितने अधिक हों उतना ही अच्छा है। यह प्रश्न जरूर सामने आयेगा कि यदि परिचर्या-सेवा मात्र विवक्षित है तो रामा-अरामासे क्या मतलब होगा? अतः रामाः का अर्थ करना होगा रमयन्तीति रामाः। जैसे बंदीजन राजाओंको प्रसन्न करते हैं वैसे ये भी हरप्रकारसे आनन्द पहुंचायेंगी। नृत्यगीत आदि कलाओंसे ये आनन्दित करेंगी। अतएव "सतूर्या" यह विशेषण सार्थक है। अतएव आगे नचिकेता भी पूर्वमें वरदानमें जिसका नाम नहीं लिया उसको कहेंगे—"तवैव वाहास्तव नृत्यगीते"। "नृत्यगीत" का नाम पहले नहीं लिया था। सतूर्यासे वादित्रवादनमात्र आता है। अतः "रामाः" पदसे ही नृत्यगीतादि अर्थ निकालना होगा।

नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः। मरणके बारेमें अनुप्रश्न मत करो। अनुप्रश्न क्या है? तैत्तिरीयमें आनन्दमय कोशका वर्णन कर "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"

इसप्रकार ब्रह्मको आधारात्मक पुच्छ कहा। फिर 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' इस प्रकार ब्रह्मके विषयमें बताया। उसके बाद--

अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती (३)।
आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुता (३)॥

इसप्रकार अनुप्रश्नोल्लेख किया है॥ 'अनुप्रश्न क्या है' का उत्तर नहीं हुआ।

श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

हे यमराज! कलतक रहे न रहे ऐसे ये विषय समस्त इन्द्रियोंका तेज जर्जरित करते हैं। सभी जीवन अल्प ही हैं अतः ये वाहन नृत्यगीतादि आपके पास ही रहें॥

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

कवियोंकी ऐसी उक्ति प्रसिद्ध है। कोई भिखारी मरीनड्राईवसे जा रहा था। वह दूसरेको कहने लगा-बड़ी-बड़ी बिल्डींगों को दिखाते हुए-देखो इन सबको मैंने त्याग दिया। मेरा अब किसीमें स्वत्व नहीं, मोह नहीं। दूसरा भिखारी कहने लगा कि तू तो इस मरीनड्राईवकी बात करता है। मैंने तो मुसकराती हुई ललचाती हुई उर्वशी, मेनका आदि अप्सराओंको त्याग दिया। किन्तु इतनेमें एक सेठ दूरमें दिखायी दिया तो दोनों दौड़े। एक तेज दौड़ने लगा तो दूसरने उसे खींचकर पीछे किया और आगे जाकर वह सेठ जो कपड़ा बांट रहा था उसे खुद ले लिया। दूसरा कहता है—तू कह रहा था कि मैंने बड़ी-बड़ी बिल्डींगें त्यागी। पहला कहता है—अरे! कपड़ा तो पहननेके लिये चाहिये। क्या इसको आप त्याग कहेंगे—वैराग्य कहेंगे कि और कुछ संज्ञा देंगे? यह त्याग नहीं, वैराग्य नहीं, निराशा है। फ्लेट, बिल्डिंगके जो मालिक हों वे ऐसा कहें और छोड़ें तब बात है। विषय संमुख उपस्थित हो और त्यागें तब की बात है। अप्सरा आदि उपस्थित नहीं और त्यागनेकी बात करो यह सब प्रवञ्चना और आत्मवञ्चना है। नचिकेताका वैराग्य ऐसा नहीं था। "इमा रामाः सरथाः सतूर्याः"—इदमस्तु सन्निकृष्टे" "इमाः" तब कहा जाता है जब एकदम वे सन्निकृष्ट हों। उस समय चित्तमें विकार न हो, रामाः स्वाधीन हो रही है तब विकार न हो

यही तो धीर का लक्षण है। वही वैराग्यका स्वरूप है। उसको अब प्रकटरूपसे दिखा रहे हैं।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्। "श्वो भावा" की सन्धिमें भाव, अभाव दोनों पदच्छेद हैं। अतः यह अर्थ है—कलतक रहेंगे कि नहीं रहेंगे ऐसे सन्देहके विषय हैं ये सभी हस्ति, हिरण्य, रामा प्रभृति विषय। कई उदाहरण ऐसे मिलते रहते हैं कि फलाना आदमी कल चंगा था, आज सुना मर गया। आज चंगा है, कल सुनेंगे मर गया। दक्षिणमें एक गाड़ी पुलपरसे छटककर सरोवरमें जा गिरी। पूरेके पूरे लोग जलसमाधिमग्न हो गये। बिहारमें एक भूकंप आया। पहाड़ सरोवर हो गया। परशुराम सरोवर गायब हो गया। यह तो आकस्मिकका उदाहरण है।

"प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावा ऋते चितिशक्तेः"

चितिशक्तिके अतिरिक्त सभी भाव पदार्थ क्षण-क्षणमें परिवर्तित हो रहे हैं। स्वयं नचिकेताने पहले ही कहा—

"सस्यमिव मर्त्त्यः पच्यते"

पौधा पैदा हो गया, पकना शुरु हो गया। उसका बढ़ना भी पकना ही है। लोग समझते हैं बालक बढ़ रहा है। उसकी शक्ति बढ़ रही है पर जनमते समय सौ वर्ष जीनेकी जीवनशक्ति थी। पचीस वर्षमें उसने अपनी बॉडी बनायी। तो क्या वह अब दो सौ वर्ष जीनेकी जीवनशक्ति प्राप्त कर गया? विपरीत है। पचीस वर्षकी जीवनशक्ति उसकी घट गयी। अब उसके पास पचहत्तर वर्ष जीनेकी ही जीवनशक्ति रह गयी है। अतएव कहा— "सस्यमिव मर्त्यः पच्यते"। बालक अवस्थामें ही ऐसा विवेकवैराग्य कैसे हुआ यह शंका न कीजिये। कोई बालक नहीं, कोई वृद्ध नहीं। यह वर्तमान व्यवहारमात्र है। आज वृद्ध सत्तर वर्षका है। लड़का पचीसवर्षका। वृद्ध मरकर पांच वर्षमें जन्म लेकर आया। पहले जो बालक था वह तीस वर्षका हो गया। और वृद्ध नवजात शिशु। शिशु पचीस सालका हो गया तो पहले वाला बालक पचासका हो गया। कौन बड़ा कौन छोटा? फिर वह पचास सालवाला बोलेगा मैं बड़ा तो काल उसे फिर छोटा बना देता है। अनादिकालसे चले सभी समवयस्क हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं। यह केवल वर्तमानव्यवहारमात्र है। संस्कार जिसका उत्तम हो वह बड़ा, दूसरे छोटे।

'कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
काल जरयते सर्वं कालो हि दुरतिक्रमः॥'

कालका पकाना, जर्जरित करना और संहार करना है। जनमाना भी कालका काम है कि नहीं? जनमना तो कालके साथ संयोगमात्र है। अर्थात् कालसे भेंट होना जन्मना। फिर काल क्या करता है यही देखना है। अगर जन्मानेका भी काम काल करता है तो फिर जो अभी लीला बतायी वही कालका काम है। बड़ेको बच्चा बनाया, बच्चेको बड़ा बनाया।

'कालः काल्या सह बहुकालः क्रीडति प्राणिशारैः।'

जो दिखाया यही तो कालकी क्रीड़ा है। अन्य भी क्रीडा बतायी—

'यत्रानेको निवसति गृहे तत्र तिष्ठत्यथैकः
यत्राप्येकस्तदनुबहवस्तत्र चान्ते न चैकः।
इत्थं चेमौ रजनिदिवसौ दोलयान् वापि चाक्षौ
कालः काल्या सह बहुकलः क्रीडति प्राणिशारैः॥'

यह काल कालीके साथ जुआ खेल रहा है। दूसरेको काट गिराया तो अपना एक रखा जो पूर्व कटा था। दो गोटियां हैं। दिन और रात। इन्हींको घुमाकर यह खेल चल रहा है। यह तो पूर्वापर विचारसे मालूम पड़ता है। प्रत्यक्षतः तो जरण और संहरण ही उसका काम है। एक सन्त कालको संबोधित कर कहने लगे—

'हे काल निर्दय विमर्दयितुं कथं त्वं
चेतः प्रवर्तयसि मूर्तमनोज्ञभावम्।
अद्यानवद्यतरमैक्षिषि यत्प्रसूनं
श्वस्तन्निरस्तसुषमं ननु नेत्रपांसुः॥'

हे काल! तुम बड़े निर्दयी हो। कोमल मनोहर दिव्य कान्तियुक्त वस्तुओंको मसल डालनेमें तुम्हें संकोच नहीं होता। आज जो फूल अतिमनोहर है उसे मसलकर कलतक धूल बना देते हो। अन्योक्तिमें—आज जो सुकुमार युवायुवती आदि हैं उनको देखते-देखते जराजर्जरितरूपमें परिणत करते हो।

मर्त्यस्य। मनुष्यके पर्यायमें मर्त्यशब्द आया है। मर्त्यका अर्थ है जो मृत्युसे ग्रस्त है। मरणशील है। प्रथम मर्त शब्द है। मृ-तन्। फिर स्वार्थमें या

साधु अर्थमें य प्रत्यय है। मरनेवाला या मरनेवालोंमें नम्बर एक। पशुपक्षी आदि भी मरते हैं। किन्तु एक पशु मर रहा है तो दूसरा पशु घास खा रहा है। मरण संस्कार भले उनमें हों और डरते हों अपने मरणसे किन्तु मरणका अनुभव करनेवाला मनुष्य ही है। स्वयं मर्त्य है और श्वोभाव मरणधर्मा विषयोंके पीछे पड़ते हैं। यही तो माया है। भागवतमें हिरण्यकशिपुके प्रसंगमें यह यमोक्ति है–

"अहो अमीषां वयसाधिकानां
विपश्यतां लोकविधिं विमोहः
यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं
स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् ॥"

सुयज्ञ नामका शूरवीर राजा दुर्भाग्यवश शत्रुओंके धोखेमें आ गया और मारा गया था तो उनकी पत्नियां तथा बन्धुबान्धव आदि रोते-बिलखते रणभूमिमें ही कई दिन पड़े रहे तब बटुकवेषधारी होकर यमराज कहते हैं–आश्चर्य है ये ऊपरवाले-मुझ बटुकसे अधिक अनुभवी-संसारकी विधि नियतिको देखते हुए भी कैसे मोहमें पड़े हैं? जो मर गया वह जहांसे आया वहां गया, स्वयं हम सब भी ऐसे ही हैं। जहांसे आये वहीं जायेंगे। यह संघातात्मक शरीर आदि जिस अदर्शनसे आया उसी अदर्शनमें पुनः वापिस जायेगा। अर्थात् मध्यमें भी वही अदर्शन ही है। तब शोक कैसा?

"अदर्शनादापितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
त्वं चाहं चापि राजेन्द्र ततः किमनुशोचसि ॥"

अन्तक। यह सम्बोधन भी इसीके अनुकूल है। अन्तयतीत्यन्तकः। यमराज सबका अन्त करनेवाला है। जो अन्त करनेवाला है उसको बतानेकी आवश्यकता नहीं है। स्वयं देखनेवालेको भी बतानेकी जरूरत नहीं तो स्वयं करनेवालोंको कहनेकी क्या जरूरत? यमराज अधिकारस्थ आधिकारिक देव हैं। वे भी अत्यन्त स्वाधीन नहीं है। अधिकारानुरूप उनको कार्य करना पड़ता है। थोड़ी बहुत रियायत वे दे सकते हैं। थोड़ी बहुत सहायता मन्त्री सचिवादि दें सकते हैं। अतिसीमित। आपका रसोइया–महाराज यदि किसीको दो-एक रोटी दें तो आप नाराज नहीं

होंगे। किन्तु बाहर दस आदमीको रोज-रोज भोजन खिलावे यह संभव नहीं है। यमराजके भी नियन्ता ऊपर हैं।

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥"

उसी परमात्माके भयसे अर्थात् नियन्त्रणसे सभी अपने-अपने कार्यमें संलग्न हैं। अन्तकने ही सबको श्वोभाव बनाया। अन्तकने ही मनुष्यको मर्त्य बनाया। अन्तकाधिकारमें वह स्थित है। अपराधीको हथकड़ी लगाते हुए जिसने देखा उसको कहनेकी जरूरत नहीं है कि अपराधीको दण्ड मिलता है। और अपराधीको जो स्वयं हथकड़ी लगता है उसको क्या कहनेकी जरूरत है?

सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। यत् तेजः तद् जरयन्ति एते श्वोभावा विषयाः ऐसा अन्वय है। विषय इन्द्रियोंके तेजको जर्जरित करते हैं। दो प्रकारसे। एक बाह्यरूपसे इन्द्रियोंको शिथिल बनाकर और दूसरा विषया-सक्त बंनाकर परमात्मदर्शनके लिये असमर्थ बनाकर। इसमें प्रथमपर विचार करें। यह तो सर्वविदित है कि विषयसेवनसे इन्द्रियशक्ति क्षीण होती है। सामान्यरूपसे आदमी, सड़क, पशुपक्षी, समुद्र, आदिको देखिये तो कोई फरक मालूम नहीं पड़ेगा। किन्तु सेनेमा, टी. वी. आदि विशेषरूपसे आंख लगाकर देखते हैं तो बचपनमें ही चश्मा आने लगता है। गुजराती बेताला बचपनसे ही शुरू हो जाता है। महाभारतमें गांधारीकी कथा आती है। धृतराष्ट्र के अन्धे होनेसे पतिव्रता गांधारींने सोचा कि फिर मैं क्यों रूपदर्शनका आनन्द लूं? उसने आंखोंपर जीवनभरके लिये पट्टी बांध दिया था। उसका परिणाम यह हुआ कि आंखोंमें इतनी शक्ति आयी कि दुर्योधनको युधिष्ठिरके कथनानुसार देखनेसे उसका (दुर्योधनका) शरीर वज्रसार हो गया था। इसका अर्थ यह नहीं कि हम प्रेरणा लें कि आंखोंपर हम भी पट्टी बांधकर रखें। शरीर ही स्थायी नहीं मरनेवाला है तो आंखोंको पट्टी बांधकर तेज बनानेका अर्थ ही नहीं रहेगा। किन्तु व्यर्थ विषयसेवनसे नेत्रशक्तिको नष्ट करना अनुचित है। ईसीप्रकार श्रोत्रेन्द्रियसे अधिक विषयग्रहण करनेसे उसकी शक्ति नष्ट होती है। हमने देखा है लोहेके कारखाने में काम करनेवाले बहुतसे लोग आधे बहरे होते हैं। बड़ी

आवाज वहाँ होती है। यहां भी पूर्वोक्त न्याय ही समझना चाहिये। अर्थात् व्यर्थ विषयोपभोगसे श्रोत्रशक्ति नष्ट न करना चाहिये। गुजराती एक बड़े संत हुए। हरिद्वारमें रहते थे। बुढ़ापेमें भड़ौचमें आये तो पापड़ी (वाल) खानेकी इच्छा प्रगट की। खानेके बाद कहने लगे कि आबहवा बदल गयी, पहलेवाला स्वाद नहीं रहा। उनके शिष्य मण्डलेश्वरोंने कहा-महाराज! आबहवा नहीं बदली, जीभ बदल गयी। बोले—हाँ भाई! यही बात है। यह स्थिति जवानीमें दूसरोंकी होती है। मोटे सेठोंके लड़कोंको मिठाई भी पसंद नहीं होती। एयरकंडिशनमें ही रहनेवाले अन्यत्र रह ही नहीं पाते। इत्यादि सभी उदाहरणोंसे प्रत्यक्ष है कि विषयसेवनसे इन्द्रियतेज नष्ट होता है। इन्द्रियतेज तो बुढ़ापेमें जीर्ण होगा ही किन्तु कहनेका तात्पर्य है कि अकालमें उसे बर्बाद न कर हरिकथाश्रवण, भगवद्विग्रहदर्शन आदिमें इन इन्द्रियोंका विनियोग करना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रियाँ विषयासक्त होती हैं तो मन उनका अनुविधान करता है। फलतः प्रज्ञानाश होता है।

"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥"

विषयों में चरनेसे इन्द्रियां उनपर आसक्त होकर निर्बल हो जाती हैं। जैसे कामी पुरुष कामिनीके सामने सारा धैर्य खो बैठता है। पुरुरवा जैसा महामानव, शूरवीर, वेदवेत्ता उर्वशीके सामने गिड़गिड़ाने लगा था।

"रमन्ति काका इव पण्डिता गृहे।"

ऐसा आर्षवचन है। इन्द्रिय जहां शिथिल हुई, निस्तेज हुई, विषयासक्तिसे अपने अस्तित्वको खोने लगी, उसके पीछे मन दौड़ने लगा। तब बुद्धिका भी हरण हो जाता है। इसीका वर्णन मन्त्रमें किया—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ॥"

इन्द्रियहिंसामात्र नहीं मन, बुद्धि और आत्माकी भी हिंसा की। यह है "सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः" का मतलब। इन विषयोंसे इन्द्रियोंको दूर रखते हैं तो प्रथम आसक्ति शिथिल पड़ती है। साथ-साथ अभ्यासके द्वारा प्रत्याहार करने लगते हैं तो इन्द्रियां तेजस्वी होकर प्रत्यगात्माके अभिमुख होती हैं।

'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ।'

कोई धीर ऐसा है जो विषयोंसे इन्द्रियोंको वापिस लाता है और प्रत्यगात्मदर्शन करता है। तब इन्द्रियोंकी इन्द्रलिङ्गता चरितार्थ होती है।

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्
न गन्धं विजिज्ञासीत घ्रातारं विद्यात्
न रूपं विजिज्ञासीत रूपविद्यं विद्यात्
न शब्दं विजिज्ञासीत श्रोतारं विद्यात्
नान्नरसं विजिज्ञासीतान्नरसस्य विज्ञातारं विद्यात्
न कर्म विजिज्ञासीत कर्तारं विद्यात्

वाणीको क्या देखते हो? वक्ताको देखो। गन्धको क्या जानना चाहते हो घ्राताको जानो। रूपको क्या देखना है, द्रष्टाको देखो। शब्दको क्या जानना है, श्रोताको जानो इत्यादि श्रुति कह रही है। बहिर्दृष्टि न होकर एवं बहिःप्रवृत्ति न होकर अन्तर्दृष्टि एवं अन्तःप्रवृत्ति होनी चाहिये।

वस्तुतः जरण यहांपर बरबादी है। गङ्गाजलको समुद्र अपनी ओर खींचकर बरबाद कर रहा है। उसे मोड़कर खेतोंका सिंचन उसका उपयोग है। सूर्यरोशनी जमीनमें पड़कर बरबाद हो रही है। उसे संगृहीतकर सूर्योर्जासे काम लेना उसका सदुपयोग है। वैसे इन्द्रियोंका विषयपतन बरबादी है। प्रत्यगुन्मुखीकरण सदुपयोग है।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव। 'वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च' बताया। यमराज संहर्ता है तो नचिकेताको न मारकर अमर बनानेका ही वरदान क्यों नहीं दे रहे? इसलिये कि एक तो अधिकारका अतिक्रमण होगा। दूसरा यमराज स्वयं अपने अधिकारके समाप्त होते ही समाप्त होंगे—मुक्त होंगे। बादमें उस पदपर दूसरा आयेगा। वह भी नचिकेताको न मारे यह संभव नहीं है। कांग्रेसके बाद जनतापार्टी आयी तो कांग्रेसने जिनजिनको संरक्षण दिया सबको पकड़ा। ऐसी ईर्ष्या यहां भले न हो फिर भी संरक्षणप्रदान स्थायी नहीं है। यदि जीवन परिच्छिन्न हुआ तो अल्प होगा। जो अल्प होगा वह मर्त्य होगा।

'यदल्पं तन्मर्त्यम्'

ऐसी श्रुति है। परिच्छिन्न अवश्यमेव विनाशी होगा और वह अनन्तकालमें तुच्छ, मिथ्या होगा। भर्तृहरिजी कहते हैं—

"यदा मेरुश्श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निदलितः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रखरमकरग्राहनिलयाः ।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥"

मेरु सुवर्णमय माना जाता है। अतएव उसे श्रीमान् कहते हैं। उसीपर ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, कैलास एवं अन्य दिक्पालादिका आवास माना जाता है। अतएव उसका अत्यन्त महत्त्व है। किन्तु युगान्तमें संकर्षणके मुखसे निकलनेवाली अग्निज्वाला से दग्ध होकर वह भी गिर जाता है। अति तापसे पृथिवी पिघलती है। मेरु पिघलता है। जल बन जाता है, पुनः अग्निमय हो जाता है। बादमें बाष्पमात्र वायुरूपसे, गैसरूपसे रहेगा। उसके बाद वह भी शान्त होकर आकाशरूप रहेगा। युगान्ताग्निदलित होनेपर सब जगत् जलमय हो जायेगा। इतना ही नहीं वह पानी भी सूख जायेगा। जैसे अभी बताया कि यह पृथिवी पिघलकर नष्ट होगी जिसको धरणिधर-पर्वतोंने धारण किया है। ऐसी स्थितिमें इस शरीरकी क्या वार्ता है? क्षणभरमें बाल, फिर युवा, फिर वृद्ध ऐसे विकार जिसमें प्रत्यक्ष दीखते हैं? अतः यह बात यथार्थ है कि 'अपि सर्वं जीवितमल्पमेव'।

'तवैव वाहास्तव नृत्यगीते' जब शरीर नहीं रहेगा तो वाहन किस काम आयेगा? क्या मुर्देको गीत सुनायेंगी और नाच दिखायेंगी ये रामायें? ये सब आपके पास रहें तो आप आधिकारिक पुरुष होनेसे आपको कोई नुकसान नहीं होगा। हमारा तो सभी इन्द्रियोंके तेजका विनाश होने से हमें मोक्षसे हाथ धोना पड़ेगा। अतएव ये सब हमारे लिये महंगे पड़ेंगे। आप हीके पास इन्हें रहने दीजिये।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

वित्तसे मनुष्य तृप्त नहीं हो पाता और आप (यमराज) का दर्शन हुआ तो यूँ भी हम धन पा सकेंगे। तथा जब तक आपका शासन रहेगा तबतक हम जीते भी रह सकते हैं। वर तो जो पहले बताया वही वरणीय है।

यम-नचिकेता-संवाद चल रहा है। नचिकेताने कहा—'अपि सर्वं जीवितमल्पमेव'। 'वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च' का उत्तर था। पर यह जँचनेवाली बात नहीं है। जीवित अल्प है तो क्या आज ही मरें? मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी आयु बढ़ानेका प्रयास करे। योगी प्राणायामसे आयु बढ़ाते हैं। मार्कण्डेयादिने तपसे आयुको बढ़ाया। आयुको बढ़ानेका सिद्धान्त इसलिये है कि—

'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति'—

जीवन हो तो केवल विषयभोग ही नहीं, साधना भी तो कर सकते हैं तथा 'शरीराणि विहाय' 'शरीरोंको छोड़कर' बात सही है पर इस जन्मका श्रवण किया हुआ दूसरे जन्ममें कहां याद आता है। अतः अमर जीवन ही वरणीय हो, दीर्घजीवन अल्प होनेसे वरणीय नहीं ऐसी कोई बात नहीं। अतएव—

'जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं'

इत्यादि श्रुतियोंकी सार्थकता है। जब दीर्घकाल जीना अभीष्ट है तब तदर्थ वित्त भी चाहिये। उसके बिना न जीवननिर्वाह होगा और न सत्कर्म हो पायेंगे। इस पूर्वपक्षपर आगे नचिकेताका वक्तव्य है।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। अभ्युपगमवादसे कहा जा रहा है कि माना कि जीनेके लिये धन चाहिये तो क्या सभी जीनेवाले वरदानसे प्राप्त धनसे जी रहे हैं? जीवन जहां मिला वहां तदर्थ आवश्यक धन कमानेकी भी शक्ति भगवानने दी है। कोई भूखा मरता नहीं। और यदि मरता है तो वह शासक-राजा आदिका दोष माना है। यह कहें कि दीर्घ जीवन है और बिमारी ऐसी लगी कि कमा नहीं सकते। ऐसे रुग्ण जीवनकी अपेक्षा मरण ही अच्छा होगा अतः अधिक वित्तको लेकर ही प्रश्न प्रतिवचन दोनों हैं। उसपर यह निश्चित कहा जायेगा कि अधिक वित्त-कितना अधिक वित्त इसका जवाब मुश्किल है। क्योंकि अधिक वित्त चाहनेवालेकी कभी तृप्ति नहीं होती।

"निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्री जनः ।
कोटिं सोऽपि स चापि राजपदवीमैन्द्रं पदं सोऽपि च ॥"

इत्यादि प्रसिद्ध है। जब धनका सर्वथा अदर्शन हो रहा था तब सौ रूपयेकी इच्छा हुई। सौ मिलने लगा तो सोचने लगे कि इससे केवल प्राणको लटका रखना ही है। हजार मिलना चाहिये। फिर दैवकृपासे हजार मिलने लगे तो कहने लगे आजकल महंगाईमें हजार क्या चीज है? लाख मिलना चाहिये। लाख मिला तो कहने लगे लखपति कंगाल जैसे कितने फिरते हैं? करोड़ मिले तो कुछ बात है। करोड़पति जो हैं आज, क्या वे सुखी हैं? तृप्त हैं? उनकी दृष्टि अरबपतियोंकी ओर है। उत्तरोत्तर मनुष्य गरीब होता जाता है। प्रथम सौ रूपयेका अभाव था। सौ मिला तो नौसौका अभाव हो गया। हजार मिला तो निन्यानवे हजारका अभाव हो गया। तभी तो लाख की इच्छा हुई। वित्तसे तृप्ति किसीको आजतक नहीं हुई। हुई तो किसी संतको। एक संत बैठे थे मस्त होकर। उससे एक भक्तने पूछा महाराज! आपको क्या चाहिये? संतका पेट भरा था। संतने कहा-मुझे तू बोलता है महाराज! फिर पूछता है क्या चाहिये। महाराज कोई मंगता होता है?

वित्त शब्दका व्यकरणानुसार विलक्षण अर्थ है। "आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या"। विद् धातुका प्राप्त होना अर्थ है। पाना प्रारंभ हुआ यही वित्तका अर्थ है। अन्ततक पाना प्रारम्भ है। पाया नहीं। कितना भी मिल जाय किन्तु "अलंबुद्धि" नहीं यही वित्त है। "अर्थ" शब्द भी विलक्षण है। 'ई' किसी शब्दकें अन्तमें हो तो वाला अर्थ होता है। गृही-गृहवाला, सुखी-सुखवाला दुःखी-दुःखवाला, धनी-धनवाला, संसारी-संसारवाला। किन्तु अर्थीका क्या अर्थ है? अर्थवाला नहीं। अर्थरहित, अर्थ चाहनेवाला। विद्यार्थीका अर्थ है विद्यारूप अर्थ चाहनेवाला। अर्थ चाहनेवाला अर्थ आ गया तो भी नहीं है तब वह अर्थी हो गया। महाभारतमें, भागवतमें एवं मनुस्मृति आदिमें समान श्लोक आता है—

"यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥"

इस पृथिवीमें जो भी धान्य, धन, सोना, गोधन, स्त्री आदि हैं। पूरेका पूरा एक मनुष्यके लिये भी पर्याप्त नहीं है। पूरा भी मिल जाये तो तृप्ति नहीं होगी। वह स्वर्गकी ओर निगाह डालेगा। आचार्य भी कहते हैं—

"मूढ जहीहि धनागमतृष्णां कुरु सद्बुद्धिं मनसि वितृष्णाम् ।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम्—
भज गोविन्दम् ॥"

धनागमकी तृष्णा न करो। कर्म तुम अपनी ओरसे जो करना है सो करो। जो निजकर्मानुसार प्राप्त होता है उस वित्तसे मनको प्रसन्न रखो। दूसरोंके वैभवकी ओर देखोगे तो अपनेमें न्यूनता ही न्यूनता दीखेगी। क्योंकि तुमसे आगे कोई न कोई होगा ही। सेर के ऊपर सवासेर निश्चित है। अमेरिका का कोई एक धनमें आगे होगा तो हिरण्य, स्त्री, भोगशक्ति आदिमें न्यून होगा। एक सेठ कहता था कि हमसे घी खाया नहीं जाता। उसे नौकरोंको देखकर ईर्ष्या होती थी। सब घी खा जाते हैं। इसके लिये क्या दवा है? इसलिये जो प्राप्त है उससे चित्तको संतुष्ट रखो।

महाभारतमें कुण्डधरोपाख्यान आता है। कुण्डधर बड़ा विद्वान् था, ज्ञानी था। किन्तु समाजमें उसको कोई पूछता नहीं था। उसका कोई वर्चस्व नहीं था। कारण वह दरिद्र था। वह बोलने लगा—

"भो दारिद्य नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादतः ।
अहं पश्यामि सकलं न मां पश्यति कश्चन ॥"

मैं दुनियाको देखता हूं। किन्तु दुनिया मुझे नहीं देखती। यह अदृश्यसिद्धि दरिद्रतादेवीकी कृपासे मिली। अहा—मैं व्याख्यान करता हूँ तो कोई सुनने नहीं आता। और कोई सेठ-भले वह मूर्ख हो, व्याख्यान करने लगता है तो कितने लोग लिखने बैठते हैं।

"स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ।"

कुण्डधरने अन्तमें निश्चय किया कि मैं तप करके धन प्राप्त करूंगा। पढ़ा लिखा तो था ही। उसने यक्षोपासना शुरु की। कुबेर यक्षपति हैं। यक्षपूजासे धनप्राप्ति होती है। उपासनासे प्रसन्न होकर, यक्ष प्रकट होकर सामने आया। वह बोलने लगा—'वर मांगो'। कुण्डधरने धनके लिये वरदान मांगा। यक्षने कहा आप मेरे भक्त हैं। ब्राह्मण हैं। यह अनर्थकारी वरदान मैं

आपको नहीं देना चाहता। इससे आपका तप, ब्रह्मवर्चस् आदि सब समाप्त होंगे। वित्तसे कभी तृप्ति नहीं होगी। इसके पीछे पकड़कर मनुष्य धर्म कर्मादिसे उपरत हो जाता है। निन्यानव्वैके चक्करमें डालकर जिंदगी बर्बाद करनेवाला अर्थ है। इतना कहकर यक्ष अदृश्यं हो गया। ब्राह्मण एकबार निराश हुआ फिर धैर्य धारण किया। सोचा जो तपसे एक बार आया वह दूसरी तीसरी बार भी आयेगा। कबतक छिपा रहेगा? अन्ततः वरदान देना ही पड़ेगा। ब्राह्मण फिरसे तप करने लगा। यक्षने विचार किया कि इसे गिरने नहीं देना चाहिये और यह मानेगा भी नहीं। रातको सोते समय उसके सूक्ष्मशरीर को यक्षने खींचा। उसे लेकर वह यमलोक पहुंचा। वहांसे वह नरककी ओर ले चला। एक जगह क्या देखा? एक आदमी खड़ा है। हाथ-पांव बंधे हैं। सिर ऊंचा किये हुए है। पीछे एक यमदूतने माथेके पिछले भागपर घड़ामसे सोंटा मारा। तब सिर आगे झुका। किन्तु फिरसे उसका सिर सीधा ऊंचा हो गया। तब फिरसे सोटा मारा। पीछे की हड्डियां टूटी, माथा फूटा। आगेकी ओर झुका। लेकिन फिर सीधा हुआ। ऐसा ही बार-बार हो रहा था। ब्राह्मणने यक्षसे कहा—यह आप मुझे कहां लाये? यहाँसे दूसरी ओर चलो। दूसरी ओर दोनों गये। तो वहां दो भयंकर आदमियोंने एक आदमीको लिटाके रखा था। सणसीसे उसका मुंह खोला। इधर कढ़ाईमें तेल खौल रहा था। उसके मुंहमें वही तेल डाला। वह चिल्लाने लगा। सारा मुंह जल गया। फफोले पड़ गये। हाय! यहां कहां हमको लाये? यहां से दूसरी ओर चलो, ब्राह्मणने कहा। वहांसे उसे अन्यत्र ले गया। वहां देखा एक आदमीको ठूंठसे बांध रखा है। इधरसे गिद्ध नोच रहे हैं। उधरसे पहाड़ी कौए नोच रहे हैं। तीसरी ओरसे कुत्ते काट रहे हैं। ब्राह्मणने कहा अरे यह तो और भी भयानक स्थान आ गया। हमको और जगह ले चलो। यक्ष चौथी जगह ले गया। वहां एक लोहेका खंभा खड़ा था। चारों ओर आग जलनेसे लाल-लाल हो गया था। एक नंगे आदमीको दो यमदूत वहां पकड़ लाये। खंभेसे चिनगारियां छिट रही थीं। दोनों ने कहा-पकड़ो इसको। वह पकड़ नहीं रहा था। त्रिशूल मारा। मार पर मार। आखिर उसने पकड़ा। सारा शरीर चट-चट करने लगा। ब्राह्मणने कहा हे यक्ष! दया करो, मुझे इस देशसे दूर ले चलो।

यक्षने पूछा क्या ये दृश्य आपको पसंद नहीं हैं? ब्राह्मणने कहा नहीं। यक्षने कहा—दृश्य तो क्या इस स्थितिमें आपको आना पड़ सकता है। क्यों? धन आनेपर यदि अविवेक हो तो यही तो परिणाम होगा।

धन जब प्रथम आता है तो अभिमानको साथमें लेकर आता है। उसका सर किसीके सामने झुकता नहीं। यमदूत सोटा मार-मारकर सर झुकवा रहे थे।

"उत्तुङ्गीकुरुते शिरोऽरुणयते नेत्रे।"

जहां अभिमान है वहां भगवान् नहीं। अपनेको ही लक्ष्मीपति भगवान् जो समझने लगे फिर अलग भगवान् कहां से आवे? पैसा जब पासमें आता है तब अनेकविध व्यसन आने लगते हैं। मदिरापान करने लगते हैं। उसका परिणाम यमदूत मुंहमें पिघले सीसे, तपे तेल आदि डालते हैं। यही दूसरे दृश्यका रहस्य था। जहां मद्य शुरु हुआ वहां मांसभक्षण भी अवश्यंभावी है। प्राणियोंकी हत्याकर, उसे शरीरके मांसको नोच-नोचकर मांसभक्षी खाते हैं। हड्डी चूसते हैं। एक बार यात्राके समय बहुत भूख लगी तो एक भगत मुझे ट्रेनमें डायनिंग कारमें ले गया। वहां देखा, पुलाव बना है ऊपरसे हड्डीके टुकड़े। कुछ लोक चुस रहे थे।

"जीव मार भोजन करत खाते करत बखान।
पीपा प्रत्यक्ष देख ले थाली मां हि मसान॥"

मैं वहींसे लौटा। भगत बोलने लगा—आपके लिये वेजिटेरियन मंगाते हैं। मैंने कहां-मेरी भूख खतम हो गयी। खाऊंगा तो उलटी आयेगी। इस मांसभक्षणका फल है कौए कुत्ते नरकमें जिंदेको नोच-नोचकर खायेंगे। चौथी बात है—मद्यमांस जहां प्रारंभ हुआ वहां वारांगना भी पहुंचेगी।

"मद्यं चापि तव प्रियं कथमहो वाराङ्गनाभिर्विना।"

उसीका फल है तप्त लोहेके स्तम्भसे आलिङ्गन। ब्राह्मणने यक्षको कहा—यही यदि धनका परिणाम है तो ऐसा धन मुझे नहीं चाहिये। किन्तु धनसे धर्मकर्म करूं तो? यक्षने कहा—उसके लिये धनकी मात्राका नियम नहीं है। करोड़पति दसलाख खर्च करे तो जो मिलेगा वही सौ रूपयेवाला दस-दस खर्च करे तो उसको मिलता है। बल्कि सौ वाला दस रूपया आरामसे

खर्च कर सकता है। एक करोड़पति दस लाख खर्च करें तो जो मिलेगा वही सौ रूपयेवाला दस खर्च करे तो उसको मिलता है। बल्कि सौ वाला दस रूपया आरामसे खर्च कर सकता है। एक करोड़पति दस लाख कभी-भी दान नहीं दे सकता। इतना कहते-कहते ब्राह्मणकी नींद खुली! ब्राह्मण विचारमें पड़ गया। उसी समय उसने धनकी आशा छोड़ दी और "यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तं" इस उपदेशको अपनाकर कृतार्थता प्राप्त की।

लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा। बोले कि वित्त अनर्थका कारण हो सकता है अविवेकीके लिये। और धर्म-कर्म यथाशक्ति करनेपर भी फल मिलता है। तथापि प्राप्त लक्ष्मीका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। विष्णु भगवान् पालक हैं लक्ष्मी के द्वारा। वह प्राप्त हो रही है तो परोपकार तो होगा ही। निर्धन परोपकार नहीं कर सकता। इसपर नचिकेताका कहना है कि वैसे आप धन देते हैं तो मैं कहां तिरस्कार करता हूँ? बल्कि आप जैसोंके दर्शनसे वित्त प्राप्त होगा ही। किन्तु तदर्थ वरदानका उपयोग क्यों करूं?

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वम्। आपका मैं भक्त हूं। तब आप मुझे मारेंगे नहीं। दूसरा कोई मारता नहीं। तब आपके अधिकार पर्यन्त मुझे फिकर करने की जरूरत नहीं। बादमें दूसरेका अधिकार होगा तो वरदानसे भी आप मुझे जिलायेंगे नहीं। इसप्रकार "वृणीष्व वित्तं चिर-जीविकां च" यह विना वरदान ही सुलभ हो रहे हैं।

वरस्तु मे वरणीयः स एव। वरदानके रूपमें वही तत्त्वज्ञान ही वरने योग्य है।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

अजर अमर देवोंके पास आकर जरामरणयुक्त पृथिवीस्थ मनुष्य जानता हुआ, विषय भोगानन्दका पूर्णतया अनुसन्धान करता हुँ कौन ऐसा होगा जो अतिदीर्घ जीवितमें भी रमण (पसंद) करेगा॥ २८ ॥

प्रथम वल्ली ब्रह्मविद्याके अधिकारीका स्वरूपवर्णन करती है। सत्पात्रमें ही यह विद्या सफल होती है। काश्मीरमें केसरकी खेती होती है। बंबई, कलकत्तामें नहीं। भले ये बड़े-बड़े औद्योगिक नगर हों। लौकिक

सम्पदा भले हो, पर साधनसम्पदा न हो तो ब्रह्मविद्याका पौधा भले लगा लो परन्तु सूख जायेगा। पत्थरपर बीज डालो, पानी सींच लो। अंकुरभले फूटे पर आगे नहीं बढ़ेगा। वैसे कठोर हृदयके व्यक्तिमें, ब्रह्मविद्याका बीज डालकर प्रज्ञाजलसे भले सींचो, उससे अर्थ, व्याख्यान, प्रवचन आदि अंकुर फूट सकता है पर आगे बढ़ेगा नहीं। साधनचतुष्टय मुख्य है। उनमें श्वोभावसे विरुद्धको वरणयोग्य कहकर नित्य बताया। यह प्रथम साधन नित्यानित्यवस्तुविवेक है। "तवैव वाहास्तव नृत्यगीते" इसमें वैराग्य स्पष्ट है। "सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः" से शमदमादिकी महत्ता स्पष्ट होती है। "नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते" से मुमुक्षुता स्पष्ट झलकती है। प्रयाणोत्तर अस्तित्ववान् आत्मा ही ज्ञानोपलक्षित होनेपर मोक्षरूप होता है। उसीका वरण ही मुमुक्षुता है।

चार साधनोंमें वैराग्य और मुमुक्षुत्वकी ही प्रधानता है। विषयविरक्ति और आत्मासक्ति दोनों प्रायः समानरूप ही हैं। अतः आचार्य भी कहते हैं—

"वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्यैव ह्यर्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥"

इन दोनोंको परस्पर लक्षण भी कह सकते हैं। लक्षण अर्थात् निशानी। वही असली वैराग्य है जिसमें आत्मासक्ति है और वही मुमुक्षुता जिसमें विषयासक्ति नहीं। यही तीव्रताका भी मतलब है। विषयासक्ति समाप्त है तो आत्मविरक्ति होगी। आत्मासक्ति समाप्त हो तो विषयविरक्ति निश्चित रहेगी।

काशीमें एक बड़े संत कुछ दिन पहले हो गये थे। शंकरचैतन्य-भारतीजी उनका नाम था। एकबार कई संत बैठे थे। उनमेंसे एक संतने भारतीजी से कहा—महाराज! शास्त्र पुराणोंमें वर्णन आया है कि विश्वा-मित्रजीने मेनकाको देखा तो तप छोड़कर उसके पीछे गये। उससे शकुंतला उत्पन्न हुई। कण्डु ऋषि प्रम्लोचाके वशमें आ गये, उससे वार्क्षी कन्या हुई। नारदजी सागरकन्याको देखकर तप भूल गये इत्यादि हजारों उदाहरण भरे पड़े हैं। हमलोग तो इतने गये बीते नहीं हैं। मजाकमें संतने ऐसा पूछा। भारतीजीने उत्तर दिया यह सब देवस्त्री अप्सराओंकी बात है। ये

ऋषि तप-पूजा आदि भूल गये। तुम्हारे सामने ये आ जायें तो तुम श्वास लेना भूल जाओगे और मर जाओगे। विषयोंकी अनुपस्थितिमें एक वैराग्य होता है। वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता। उसमें वैराग्यकी परीक्षा नहीं होती। वैराग्यकी कसौटी विषयके उपस्थितिकालमें होती है। यहां नचिकेताके प्रसंगमें "इमा रामाः सरथाः सतूर्याः नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः" यहां विषयोंका प्रत्यक्षनिर्देश है—"इमाः"। दिव्यताका निर्देश है—"न हीदृशाः"। काशीमें कुछ गृहस्थ भी पढ़ते थे। परीक्षा देते थे। एक साधारण व्यापारी था। वह बोलने लगा। ये करोड़पति हृदयहीन होते हैं। मेरे पास करोड़ होता तो मैं हजारों का उद्धार करता। संयोगवश वह करोड़पति तो नहीं। किनारे तो पहुंच ही गया। पहले तो वह अन्य विद्यार्थियोंको रूपया, आठ आना सहायता करता था। लेकिन अब उसका वह भी बंद हो गया। क्योंकि करोड़ पूरा करनेकी धुनमें उसको एक-एक पैसेका मूल्य दीखने लगा था। "न वित्तेन तर्पणीयः" से नचिकेता यह भी बोल चुके। इन सब बातोंको संग्रहीत करके दो श्लोकोंमें यहां उपसंहार करते हैं।

आजीर्यताममृतानामुपेत्य। "अजीर्यता" से अजर और "अमृतानां" से अमर कहा गया। आगे "जीर्यन् मर्त्यः" से जरामरणवालेका निर्देश है।

"अमरा निर्जरा देवाः"

इत्यादि कोशोंमें अजर-अमर आदि देवके पर्याय शब्द हैं। मनुष्योंकी चार अवस्थायें होती हैं। बाल्य, कौमार, यौवन और जरा। इनमें चौथी दशा देवताओंकी नहीं होती। अतः उन्हें त्रिदश एवं अजर कहते हैं। कर्मदेवोंकी तीन दशायें भी नहीं होती। उनका शरीर सांकल्पिक होता है। किन्तु आजानज देवोंकी तीन दशायें होती हैं। कश्यपसे इन्द्रादिका जन्म हुआ। तब बाल्य, कौमार भी हुए होंगे। विवस्वानसे यमराजका जन्म हुआ इत्यादि।

जीर्यन् मर्त्यः। जरायुक्तको "जीर्यन्" और मरणयुक्तको "मर्त्य" कहते हैं। ये दो मुख्य क्लेश हैं। जन्म समयमें भी दुःख होता है किन्तु वह याद नहीं रहता। कौमार और यौवनमें दुःख प्रतीत नहीं होता। बुढ़ापा आनेपर, "जरा" आनेपर क्लेश प्रारम्भ होता है।

'गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता नष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते॥'

शरीर सिकुड़ने लगा। चलते समय इधर गिरा, अभी गिरा ऐसी स्थिति आ जाती है। दांत निकल गये। दृष्टि क्षीण हो रही है। बहरापन आने लगा। मुंहसे लार गिरती रहती है। जिनपर पहले शासन करते थे आज वे हुकम माननेको तैयार नहीं। बोलने लगे कि यह बूढ़ा बहुत हैरान करता है। पत्नी खुद भी बूढ़ी हो रही है, वह क्या सेवा करेगी? बेटा भी उत्तराधिकारके फिकरमें अमित्र हो रहा है—इस बूढ़ेके जानेपर ही अब काम ठीक चलेगा ऐसा कहने लग गया। यह जरा की बात है। मरणसे तो सभी प्राणी भयग्रस्त हैं।

'क्व तदास्थः' ऐसा एक पाठ यहां भाष्यकारने दिखाया है। उसका अर्थ है शतायु पुत्र, पौत्र आदि, वित्त, रामा, रथ, तूर्यादिमें आस्था रखनेवाला वह कैसे बनेगा? परंन्तु इसपर एक प्रश्न होगा कि स्वयं इन्द्रादि देवोंकी भोग्य विषयोंमें आस्था होती है। तभी तो असुरोंको वे मार भगाते हैं। तब उनके पास जानेपर मनुष्योंको विषयोंमें आस्था नहीं होगी यह कैसी बात है? बल्कि विषयियोंके पास जानेपर विषयास्था ज्यादा बढ़ती है। जैसे अजामिलको हुई। एक बच्चेको चाट खाते देखकर दूसरेको भी इच्छा होती है। अतः यहां पर शब्दोंकी व्याख्या दूसरे ढंगसे करनी पड़ेगी। दूसरी बात यह भी है कि सर्वसामान्य लोग तो देवताओंके पास जाते ही नहीं हैं तो यह सामान्योक्ति 'क्व तदास्थः' यह दृष्टान्तहीन तथा अर्थहीन होगी। इसलिये भी व्याख्या बदलनी होगी।

अजीर्यताममृतानां का अर्थ होगा अजरत्वेन, अमरत्वेन आत्मदर्शन करने वाले सिद्ध संत महाज्ञानी, जो दूसरेको भी अपने समान अजर-अमर बनानेमें समर्थ हैं। 'जीर्यन्मर्त्यः' का अर्थ होगा—संसारमें सर्वत्र जरामरणक्लेशको देखने वाला। यही अर्थ गीताके श्लोकसे निकलता है—

'जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥'

जरा औंर मरणके महान् क्लेशसे व्याकुल इनसे मोक्ष पानेके लिये भगवदाश्रित होकर यत्न करते हैं तो तत्साधन वेदन पाते हैं। ब्रह्मज्ञान ही जरामरणसे मोक्ष पानेका साधन है। वह ब्रह्मवेत्तासे प्राप्त होगा यह निश्चित है। तब ऐसे ब्रह्मवेत्ताके पास जानेपर जरामरणसे व्याकुल हुआ व्यक्ति विषयास्थ क्यों होगा?

क्वधःस्थः ऐसा भी पाठ है। पृथिवीरूप अधोदेशमें स्थित या कुत्सित अधः स्थानमें स्थित ये दोनों अर्थ उसके होते हैं। ऊपर देवलोक, नीचे पृथिवीलोक इस प्रकार देशकृत अधःस्थापना यहां विवक्षित नहीं है। राष्ट्रपति सबके ऊपर, उनसे नीचे अन्य सब इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य सबको खड़ाकर उनपर एक पाटा बिछाकर उसपर राष्ट्रपति बैठा है। यहां उत्कर्ष एवं अपकर्ष ही ऊपर नीचेका अर्थ है। ज्ञानवैराग्य- पूर्णता उत्कर्ष है। वह गुरुमें है। न्यूनता अपकर्ष है जो शिष्यत्वकालमें प्रायः होता है।

प्रजानन्। इसका प्रज्ञावाला अर्थ है। "प्रज्ञावान् पण्डितः" ऐसा कोश है। विवेकबुद्धिवाला ही प्रज्ञावान है। अविवेकी तो तत्त्वज्ञानीके और देवताके भी पास जाकर विषयरतकी ही बात सोचेगा। एक भक्तने पूछा कि महाराज! भागवत पूरी नहीं सुन सका हूँ। कभी-कभी सुनता रहा तो भी पुण्य मिलेगा कि नहीं? मैंने पूछा—किस बातके लिये पुण्य? उसने कहा—व्यापरधंधेमें जिससे बर्कत हो। मैंने कहा—अवश्य होगा। क्योंकि कहा है—

"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषोत्तमम्॥"

कामना रखो तो काम्य विषय अवश्य प्राप्त होगा। अविवेकी तो इसप्रकार विषयरतिवाला होगा। जबकि भागवतमें ही कहा—

"विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतिर्न तु पारमार्थ्यम्।"

अतः यह विशेषण है प्रजानन्। प्रकृष्ट ज्ञानवालेकी यह बात है। इसी प्रकार ऊर्ध्वस्थ भगवानके पास जानेवाला भी अविवेकी हो तो 'को रमेत' का विषय नहीं होगा। मंदिरोंमें जाकर विषय ही तो भोगते हैं अधिकतर लोग।

अभिध्यायन्। 'प्रजानन्' के बाद विशेषण है 'अभितो ध्यायन्'। इसका अर्थ है वर्तमानके साथ पूर्वापरका भी चिन्तन करनेवाला। योगसूत्रमें कहा है—

'परिणामतापसंस्कारदुःखाद् गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।'

परिणाम भविष्यका। ताप वर्तमानका। संस्कार भूतका। 'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः' यह भोग्यविषयोंसे होनेवाला परिणाम है। 'भोगे रोगभयं' यह परिणाम है। यही परिणाम दुःख है। मीठा खानेकी इच्छा है पर डायाबिटीस है, खाया नहीं जाता। घी खाया नहीं जाता। दूसरेकी थाली देखकर ताप हो रहा है। शत्रुभय हो रहा है। धन छिन जायगा यह भय हो रहा है। संस्कारदुःख पूर्वानुभूतका है। चाय पी चुका। वह व्यसन हो गया। संस्कार पड़ गया। न पीनेसे सिरदर्द होता है। अनुभूतकी पुनः प्राप्तिकी अभिलाषा सताती है। बीड़ीपीनेकी आदत पड़ी तो छोड़ते भी नहीं छूटती। यही अन्यविषयोंकी भी हालत है। इस परिणाम, ताप और संस्कारका अनुचिन्तन ही अभिध्यान है।

वर्णरतिप्रमोदान्। 'वर्णो पृणोतेः' ऐसी महर्षि यास्कने निरुक्ति की है। वरणीयत्वेन यमराजने जिनको कहा—हस्ति, हिरण्यादि तथा रामा आदि। उनकी रति अर्थात् उपभोग तथा तज्जन्य प्रमोद। इन तीनका अभिध्यान करना चाहिये। पुरूरवाकी कथा भागवतमें दो जगह आयी। एक पंचम अध्यायमें और दूसरी एकादश अध्यायमें। पुरूरवाने उर्वशीका वरण किया। रक्षा में असमर्थता आदिके कारण वह पुरूरवाको छोड़कर चली गयी। पुरूरवा पागल हो गया। एक जगह सोनेका थाल देखकर यही उर्वशी है कहकर छाती से लगाने लगे। वरणीयका अभिध्यान ऐसे सर्व विषयों में है। रति में अभिध्यान है क्षणभंगुरताका। भोगा भङ्गुरवृत्तयः। भोग क्षणिक होते हैं। गले तक स्वाद उसके बाद सब एक समान। भोगके बाद सभी फीके कैलासके मार्गमें हम जा रहे थे। दूसरोंके पास कई प्रकारके अचार-मसाला आदि थे। मुझे रोटी आदि फीके लगने लगे। मैंने समझा कि ये अचारपापड़वाले मोज कर रहे हैं। काफी धैर्य रखा। क्योंकि मांगना अच्छा नहीं था। एक रोज वे कहने लगे कि यहां मार्गमें पता नहीं क्या है।

एक आचार एक दिन अच्छा लगा, दूसरे दिन फीका। पापड़ एक दिन अच्छा लगा, दूसरे दिन वह भी फीका। सब चीज अब फीकी हो गयी। इतना सुनते ही मुझे संतोष हो गया। यहां तो प्राण रक्षणके लिये पेट भरनेमात्रका कार्य ठीक है। अभिध्यान किया तो संतोष हुआ। तरस समाप्त हो गयी। प्रमोद तो नाममात्रका ही होता है। 'यह संसार भूसेका लड्डू है। जो खाये सो पछताये, जो न खाये सो भी पछताये" वाली बात है। सौभरिऋषि पछता रहे थे। ये संसारी कितने अच्छे। बल्कि ये मछलियां भी कितनी अच्छी रहीं। मैं यू ही कोरा तपस्वी रहा। बाद पचास राजकन्याओंसे विवाह किया तो कहने लगे—

"अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ।"

अति दीर्घे जीविते को रमेत। यमराजनें 'वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च' ऐसा कहा। चिरजीविका बतायी। ध्रुवजीविका, शाश्वतजीविका नहीं। क्योंकि यमराजका अधिकारकाल समाप्त होनेपर दूसरे सभी यम जीवन बचायेंगे इसमें ग्यारंटी नहीं दे सकते थे। तब आज नहीं तो सौ सालके बाद, हजार साल बाद जाना ही है। तो अति दीर्घ भी जीवनमें क्या रति हो सकती है। फांसीकी सजा पानेके बाद तीन दिन हो चाहे दो साल हो क्या फरक पड़ता है। ।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्सांपराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

जिस महान् संपरायके विषयमें यह संशय होता है उसे आप हमें बतायें। जो यह गहराईमें प्रविष्ट वर है उससे अन्यको नचिकेता नहीं चाहते॥

सुदृढ़ मुमुक्षुत्व एवं मोक्षोपयोगी तत्त्वज्ञानकी अर्थिताको प्रकट करनेके लिये यह उपसंहार मन्त्र है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' यहां स्वर्गकाम अधिकारी है वैसे 'मोक्षकामः शृणुयात्' यहां मोक्षकाम अधिकारी है। अतः अन्तमें उतनेको ही उपसंहारमें रखते हैं।

यस्मिन्निदं............महति। यमलोकमें पहुंचे हुए एवं 'अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्' इस प्रकार मरणके बाद अनन्दलोककी

प्राप्तिको बोलनेवाले नचिकेताको 'प्रेते मनुष्येऽस्ति नास्ति' यह विचिकित्सा संभव नहीं है। अतः संपरायका विशेषण 'महति' दिया। महासंपराय महानिर्वाणको कहते हैं। उसके बाद विज्ञानधारासंततिरूप जीवदीपक बुझ जाता है या नित्यदीप जला ही रहता है यह यहां विचिकित्सा है। परन्तु इतना अर्थ 'सं' उपसर्गसे ही हो जाता है। अतः महतिप्रयोजने-निमित्ते ऐसी भाष्यकारकी व्याख्या है।

वस्तुतः अस्ति नास्ति इतना ही प्रश्न नहीं है। क्योंकि उत्तरग्रन्थमें इससें अतिरिक्त बहुत सारी बातें बतायी गयी हैं और यहां—'योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टः' यह अंश भी केवल अस्ति नास्तिके लिये नहीं है। इसके लिये 'अस्ति' इतना उत्तर कोई अतिगहन नहीं है। किन्तु स्वरूपके विषयमें यहां प्रश्न है। परमपुरुषार्थविधया स्वरूपजिज्ञासा होनेसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' के समान तत्स्वरूप, तज्ज्ञान, तदुपाय आदि सर्वजिज्ञासा आ जाती है।

दूसरी बात यह है कि काल आदि उपाधिको लेकर अस्ति कहा जाता है। उपाधि छोड़नेपर फिर क्या नास्ति कहा जाय? कुछ प्रौढ़ लोग नास्ति कहनेका साहस करते हैं। नामवादी अस्ति कंहते हैं। दोनों बातोंको सुननेसे विचिकित्सा हुई है। अतएव यह आस्तिक नास्तिक विवाद न होकर सैद्धान्तिक विषयसंशय मानना उचित है और समग्र स्वरूपवर्णनके बादमें अन्तमें 'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' इत्यादिसे सिद्धान्त बतायेंगे। वहां अति-गहनता स्वयमेव स्पष्ट होगी।

●

कठोपनिषत्

द्वितीय वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ-सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

श्रेयोमार्ग अन्य है। प्रेयोमार्ग अन्य है। नाना प्रयोजनवाले ये दोनों मनुष्यको बांध लेते हैं। इनमें जो श्रेयको अपनाता है उसका भला होता है और जो प्रेयको वरण करता है वह पुरुषार्थसे च्युत हो जाता है।

प्रथम वल्लीमें ब्रह्मविद्याका अधिकारी कौन होता है और किस प्रकार अधिकारी बन सकते हैं इस बातका निरूपण हो गया। अधिकार के विना किये श्रवणादि का फल केवल कुतूहलता की निवृत्ति हो सकती है। ब्रह्मविद्या प्राप्ति नहीं।

मलविच्छेप जाके नहीं किन्तु एक अज्ञान ।

मलकी निवृत्ति कर्मसे और विक्षेपकी निवृत्ति उपासनासे होती है। अग्निविद्यामें इन दोनोंका समावेश है। "य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्" इस मन्त्रमें "एवं विद्वान्" से उपासना एवं "चिनुते नाचिकेतं" से कर्म बताया। अग्निचनयसे यज्ञादि भी सूचित है और अग्न्युपासनासे अन्य उपासना भी विवक्षित है। अग्न्युपासना विराटकी उपासना होनेसे अन्य भी सभी स्थूल विषयोपासना तदन्तःपाती हैं। अग्निचयनके बादमें अग्निमें ही अग्निहोत्र, वाजपेय आदि यज्ञ होते हैं। अतः प्रायः वे सब अग्निचयनसे स्मृत गृहीत हैं। ये दो बहिरङ्ग साधन हैं। अन्तरङ्गसाधन तो साधनचतुष्टय है। विवेक, वैराग्य, शमादि और मुमुक्षुत्व ये चार साधनचतुष्टय बताये। अन्तरङ्ग होनेसे इनका प्रत्यक्ष निरूपण किया। विवेक-"श्वो भावा मर्त्यस्य" "वरस्तु मे वरणीयः स एव" इन वाक्योंमें स्पष्ट है। सांसारिक विषय कल तक रहेंगे कि नहीं इसका ठिकाना नहीं है। इसका मतलब है वे अनित्य हैं। अतएव अवरणीय हैं। तब वरणीय इससे विपरीत निश्चित होता है। अर्थात् शाश्वत नित्य ही वरणीय है। नित्य और अनित्यको तिल तण्डुलवत् विविक्तकर इसमें दिखाया। "तवैव

वाह्यास्तव नृत्यगीते' यह स्पष्ट वैराग्य है। 'शान्तसंकल्पः' कहकर अपनी शान्तिप्रियता सूचित की और शम बताया। 'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः' से उससे अपनेको बचानेवाले ने दमरूपी ज्ञानेन्द्रियनिग्रह एवं उपरतिरूपी कर्मेन्द्रियनिग्रह बताया। शीतोष्णादि क्लेशसहिष्णुता तितिक्षा है। शीतोष्ण तो क्या सीमोल्लङ्घी क्लेशरूपी मृत्युके सामने नचिकेता खड़े होकर धैर्यके साथ जिज्ञासा कर रहे हैं। इससे बढ़कर तितिक्षा क्या होगी? जिसने मुझे मृत्युको दे दो ऐसा आग्रह किया उससे बढ़कर सहिष्णु कौन होगा? 'प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्' इस मन्त्रमें श्रद्धा शब्दतः स्पष्टोक्त है। 'स चापि तत्प्रत्यवदत्' इस एकाग्रताको देखकर यमराज भी प्रसन्न हो गये थे और अतिरिक्त वरदान देने लगे थे। श्रवणोपयोगी इसी एकाग्रताको ही तो समाधान कहते हैं। 'नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते' यह मुमुक्षुत्व है। 'वरस्तु मे वरणीयः' यहाँ वरनेयोग्य कहनेसे विवेकका स्वरूप है। 'नान्यं वृणीते' यह मुमुक्षुत्व है। वरणीयमें और वृणीते में फरक है। वरने योग्य इतना अर्थ वरणीयका है। वरण करता है इतना अर्थ वृणीते का है। मृत्युकेबाद का अस्तित्व प्रायः निश्चितकर यह वर मांगा जा रहा है। वह अस्तित्व सच्चिदानन्द ही है। वही ज्ञानोपलक्षित होनेपर मोक्ष है। इन साधनोंको देखकर स्वयं यमराज भी अति प्रसन्न हुए जिसको 'स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्या–न्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः' इत्यादि शब्दोंमें स्वयमेव आगे व्यक्त करेंगे। अतएव अब दिल खोलकर उस परमार्थतत्त्वका ज्ञान प्रदान करते हैं। अधिकारी सामने आता है तो वक्ता का हृदय खुल जाता है प्रसन्न होता है।

अन्यच्छ्रेयः। एक है श्रेय और दूसरा है प्रेय। श्रेय किसको कहते हैं? भाषामें श्रेयका यश, कीर्ति आदि अर्थ होता है। भारतको स्वतंत्र बनानेका श्रेय गांधीजीको मिला इत्यादि व्यवहारमें कहते हैं। किन्तु यहां श्रेयका अर्थ कुछ अतिरिक्त है। श्रेय शब्दका ही प्रत्यय बदलनेसे श्रेष्ठ शब्द बनता है। श्रेयके लिये निःश्रेयस पद भी लगभग समान अर्थ में आता है। निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम् और निःश्रेयसका मोक्ष अर्थ प्रसिद्ध है। यहां पर निःश्रेयससाधनको श्रेयपदसे बताया गया है। 'तयोः श्रेय आददानस्य'

साधुभवति" में श्रेयका साधन अर्थ प्रतीत होता है। मुख्य श्रेय तो मोक्ष ही है। उसका साधन साक्षात् ब्रह्मविद्या है—ब्रह्मसाक्षात्कार है। वह भी श्रेय कहलाता है। 'तत्त्वज्ञज्ञानान्निःश्रेयसम्' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादि शास्त्रवचन इसका समर्थक है।

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥'

जैसे नदियां बहती हुई समुद्रमें पहुंती हैं तो नामरूपको छोड़कर समुद्ररूप हो जाती हैं वहां गंगा श्वेत, यमुना श्याम आदि नामरूप नहीं रहते। वैसे जीवात्मा परमात्मामें मिलकर नामरूपात्मक संसारसे विमुक्त हो जाता है। कब? विद्वान्-ब्रह्मवेत्ता होनेपर। यह ब्रह्मविद्या श्रेय है। क्योंकि वह श्रेयसाधन है। ब्रह्मविद्याका साधन भी श्रेय है। ब्रह्मविद्याका साधन क्या है? श्रवणमनननिदिध्यासन। 'द्रष्टव्यः' ऐसा साध्य कहकर 'श्रोतव्यः, मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' इस प्रकार साधनरूपेण श्रवणादिका उपदेश किया है। मनननिदिध्यासनसहितश्रवणसे आत्मसाक्षात्कार होता है। जैसे कोई ब्राह्मण खड़ा है तो आप उसको देखते हैं किन्तु उसके ब्राह्मणत्वको नहीं पहचानते। जब कोई बोल देता है तब ब्राह्मणत्वका साक्षात्कार होता है। वैसे स्वयंप्रकाश ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है, किन्तु पहचानते नहीं उसको। 'तत्त्वमसि' कहनेपर ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। उसमें संशयादि प्रतिबन्धक होनेसे उसकी निवृत्तिके लिये मनन निदिध्यासन चाहिये। इस प्रकार श्रवण आदि श्रेयके परम्परया कारण होनेसे श्रेय हुए। श्रवण आदिका साधन गुरूपसदन है। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' यहां एवकारसे विज्ञानके प्रयोजक श्रवणमें साधन गुरूपसदन बताया। अतः वह भी श्रेय है। गुरूपसदन कब होगा? जब साधन चतुष्टय हो। साधन नहीं हो तो गुरुत्वका बोध ही नहीं होगा। और तब गुरुके पास जाना किसी व्यक्तिके पास जानेके बराबर ही होगा। उपसदन नहीं होगा। साधनयुक्त होनेपर गुरुमें गुरुत्वसाक्षात्कार होगा। गुरुमें आत्मभावना होगी 'ईश्वरो गुरुरात्मेति' 'उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता' बताया। यह पितृत्व-साक्षात्कार ही गुरुत्वबोध है। इस प्रकार साधनचतुष्टय भी श्रेय हुआ। साधनचतुष्टय किससे होगा? कर्म और उपासनासे।

"स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् "॥

वर्णाश्रमधर्मानुष्ठान ही कर्म है। और तपका उपासना अर्थ है। इनसे भगवान् प्रथम प्रसन्न हों तब साधनों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कर्म एवं उपासना भी श्रेय है। यही श्रेयोमार्ग है। मुख्यश्रेय मोक्ष है। उसका साधन ज्ञान, तत्साधन श्रवणादि, तत्साधन गुरूपसदन, तत्साधन विवेक आदि एवं तत्साधन कर्म-उपासना यह श्रेयोमार्गपरम्परा है। इन सब को लेकर यहां पर 'अन्यच्छ्रेयः' ऐसा बताया।

अन्यदुतैव प्रेयः। अब प्रेय क्या है ? देखो। विषयसुख प्रेय है। प्रियतर है। इसकी प्राप्तिके लिये सारा संसार उलटपुलट हो रहा है। इसे सांसारिक सुख कहते हैं। इसके साधन हैं विषय। विषय हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। ये मूलतत्त्व हैं। शब्दस्पर्शादि जो अनुकूल हैं वे विषय हैं। प्रेय हैं। शब्द स्पर्श आदि के साधन गीतवाद्यादि, पुत्रदारादि, सिनेमा, नाटक आदि अन्न पान आदि एवं स्रक् चन्दनादि भी विषय कहलाते हैं। प्रेय कहलाते हैं। अनुकूल सांसारिक पदार्थ विषय हैं। इन सबका साधन मुख्यरूप से अर्थ है। धन हो तो ये सब मिलते हैं। कहावत प्रसिद्ध है कि एक मां-बापको छोड़कर बाकी सब पैसेसे मिलता है। अर्थके साधन हैं सकाम कर्म और सकाम चिन्तन। प्रत्यक्षरूपसे वञ्चनादिसे धनप्राप्ति भले हो किन्तु उसका मूल तो सकामकर्म है। अत एव सभी वञ्चकोंको धनप्राप्ति नहीं होती। वञ्चना तो वर्तमान पाप मात्र है। वह निमित्तमात्र लगती है। इसमें मुख्य संसारसुख भी प्रेयके अन्तर्गत है। संसारसुख; तत्साधन शब्दादिविषय; तत्साधन गीत, दारा, सुत आदि पदार्थ; तत्साधन सकाम कर्म और सकाम उपासना ये सभी प्रेय या प्रेयोमार्ग हैं। इन दोनोंको ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग भी कहते हैं।

ये दोनों अत्यन्त भिन्न मार्गद्वय है, परस्पर विरुद्ध हैं। श्रेय और प्रेय ऐसे भिन्न-दो नामोंसे ही भिन्नता प्रतीत हो रही है। तब "अन्य" शब्दका खास प्रयोग दोनोंका कभी मेल नहीं होगा इस बातको सूचित करनेके लिये है। जैसे दिन और रात साथमें नहीं होते। यदि कहें कि संध्यासमयमें दिन और रातका मिलन होता है तो उत्तर है कि वह मिलन मिलन नहीं

है। दोनों मिलकर एक कार्य नहीं करते। वह मिलन एक दूसरेको खत्म करनेके लिये होता है। जैसे राम और रावणका मिलन रणांगणमें हुआ तो क्या यह कोई मेलमिलाप हुआ? वह तो वध्यघातकभावात्मक मिलन है। अतएव प्रथम श्रेयमार्गमें निष्काम कर्म और निष्काम उपासनाके आनेपर भी उसका अस्तित्व श्रवणपर्यन्त ही रहेगा। उसके बाद वध्यघातकभावसे वह भी निवृत्त होगा। बल्कि साधनचतुष्टय कालमें ही उनकी निवृत्ति मानी जाती है। अतएव वे बहिरंग हैं। "स्वर्णाश्रमधर्मेण.......साधनं" के अनुसार साधनचतुष्टयको उत्पन्नकर वे चरितार्थ हो जाते हैं। आगे उनका काम नहीं है। क्योंकि निष्काम कर्मादि भी आंशिक सकाम होते हैं। अन्तःकरणशुद्धि ही सही, वही भी तो कामनाविषय है और जहां कामना है वहां कर्तृत्व भोक्तृत्व अनिवार्य है। वहां अधिकारनिरीक्षण भी निश्चित है। क्या निष्कामभावसे अन्तःकरणशुद्ध्यर्थ कोई शूद्र वाजपेय यज्ञ कर सकेगा? उसी प्रकार कोई ब्राह्मण राजसूययज्ञ कर सकेगा? और ज्ञान है सभी अधिकारोंका विच्छेद करनेवाला। कर्तृत्वभोक्तृत्वभावका उपमर्दक। अतः इन दोनोंका मेलन, मेलमिलाप संभव नहीं है। निष्काम कर्मके बाद यदि ज्ञान नहीं हुआ तो उसका भी फल—

"कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः" ।

इत्यादि श्रुत्युक्त होगा ही। यह तो ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तोंके अनुसार बताया। साधारण विवेचनामें सीधी बात यह है कि विषयसुखका रास्ता और मोक्षसुखका रास्ता विरुद्ध है। भजन ध्यान करतें समय पूरे संन्यासी बनकर भजन करो। व्यवहारमें व्यवहारमार्ग अपनाओ। दुकानमें बैठकर "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" बोलते हुए सब चीजें विना मूल्य बाटेंगे तो स्पष्ट है पागल ही माने जायेंगे। और इधर भजनार्थ माला फिरा रहे हैं और साथ-साथ ग्राहकोंसे बातचीत भी कर रहे हैं तो ढोंगी माने जायेंगे। एक सेठको मैंने देखा हाथमें माला फिर रही है और बातचीत भी चल रही है। एकने कहा—काम करते जाओ, नाम रटते जाओ, क्या हर्जा? यही कि दोनों बराबर नहीं होंगे। नामरटन मिकानिकली हो जायेगा। यान्त्रिक हो जायेगा। इधर ध्यान देनेपर उधर काम बिगड़ेगा। "शं नो मित्रः"। रोज बोलनेकी आदत हुई तो अर्थानुसंधान करते हैं कि इधर-उधरकी बात

सोचते हैं? अनुसन्धान करनेवाला कोई विरला ही होगा। वैसे नामकी दृष्टिसे ठीक है किन्तु कर्मदृष्टिसे नहीं।

ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। श्रेय तथा प्रेय दोनों भिन्न प्रयोजनवाले हैं। श्रेयका प्रयोजन आत्मानन्द हैं। और प्रेयका प्रयोजन विषयसुख एवं तदुत्पन्न प्रहर्ष है। कर्म एवं ज्ञान दोनों मिलकर मोक्षरूपी एक प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसा समुच्चयवाद यमराजको अभिप्रेत नहीं है। कुछ लोग व्याख्या करतें हैं-मोक्षमार्ग अलग है, भोगमार्ग अलग है। दोनोंका प्रयोजन भिन्न है। ऐसी व्याख्या यहां इसलिये निरर्थक है कि इन दोनोंका प्रयोजन स्पष्ट ही भिन्न है। कहनेकी जरूरत क्या है? "प्राप्तौ सत्यां निषेधः" ऐसा नियम है। एकार्थता प्राप्त हो तब उसका निषेधात्मक नानार्थत्व कहना चाहिये। या अज्ञात फल हो तो कहना चाहिये। भोगमार्गका फल मोक्ष है ऐसा कहनेवाला पागल होगा। सब जानते हैं भोगमार्गका भोग ही फल है। वैसे ही मोक्षमार्ग का फल मोक्ष ही होगा। यह विना कहे ही समझा जा सकता है।

ये दोनों अपनी-अपनी ओर पुरुषको सम्बन्धित कहते हैं। बड़ी खींचातानी है। देवर्षि नारदने प्रियव्रतको निवृत्तिमार्ग बताया। मनु-महाराजने प्रवृत्तिमार्गकी ओर खींचना चाहा। खींचातानी काफी हुई। मनुमहाराजने कहा भगवन्! शिष्यको, शिक्षा दीजिये, बालकको । नारद-जीने हां कहा और शिक्षा दी, भूलकर भी भोगमार्गमें नहीं जाना। आखिर ब्रह्माके आदेशसेही घर जाना स्वीकार किया। किन्तु प्रथम जो निवृत्ति-मार्गने अपनी ओर बांधा वही सही निकला-"नारदस्यैव पदवीमनुससार।" अर्थात् अन्त में प्रियव्रत ने नारद जी के रास्ते को अपनाया।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस प्रकार श्रुति आदेश देती है।" अर्थात् ज्योतिष्टोमादि यागकर स्वर्ग प्राप्त करो। ये यज्ञयागादि स्वर्ग का साधन है। स्वर्ग अर्थात् दुःख रहित अक्षय सुख। "व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति" "आत्मा द्रष्टव्यः" इत्याद भी श्रुतियोंका आदेश है। अर्थात् पुत्रवित्तैषणा एवं स्वर्गलोकादिलोकैषणा से ऊपर उठकर यागादि त्यागकर संन्यासी हो, आत्मदर्शन करो। अपने-अपने मार्ग की प्रशंसा सभी करते हैं। "त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः" इत्यादि

गीतावचनमें कर्मवचनकी प्रशस्ति कही है। विजरो विमृत्युविशोकः इत्यादि में मोक्षकी महिमा बहुधा गायी है। ऐसी स्थितिमें अन्यतर निर्णय देना आवश्यक हुआ। तदर्थ श्रुति कहती है—श्रेयका ग्रहण करनेवाले का कल्याण होता है।

हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते। इहलोकसे लेकर देवादिलोकके साथ ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी भोग क्षणिक हैं, विनाशी हैं। श्रुति ही कहती है—

"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते ।
एतमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते ॥"

जैसे कृषि आदिसे प्राप्त धनादि सुख नष्ट होता है। वैसे यज्ञादि पुण्य से संपादित स्वर्गादि सुख भी नष्ट होता है। मतलब प्रत्यक्ष है ऐहिक सुखोंका अन्त, वैसे ही परलोक सुख भी सान्त है।

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं ।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥"

वे विशाल स्वर्गसुख को भोगने के बाद जब पुण्यका क्षय होता है तब वापिस इस मर्त्यलोक में ही आजाते हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्ति वाले हैं वहां से इसी मर्त्त्यलोक में पुनः वापिस आ जाते हैं। इत्यादि वचनोंसे स्वर्गलोककी भी अनित्यता मान्य है। तब अर्थसे=अर्थ्यमान विषयभोगसे च्युति स्पष्ट है। और अर्थ्यमान नित्यसुखका स्पर्श भी प्राप्त नहीं होता तो हीयतेऽर्थात्-अर्थ्यमान-नित्यसुखहीन हो जाता है। कौन? जो प्रेयका वरण करता है। भोगमार्ग का वरण करने वाला मोक्षरूपी परम अर्थसे च्युत अर्थात् अस्पृष्ट होता ही है। स्वमार्ग का अर्थ-स्वर्गादि से भी कालान्तर में च्युत होता है। वह उभयतो भ्रष्ट होता है। इससे विपरीत जो श्रेयमार्ग को अपनाता है उसे अविनासी पुनरावृत्तिरहित मोक्षफल तो प्राप्त होता ही है, उसी मोक्षसुख में सर्व-सुखान्तर्भाव होने से स्वर्गादि सुख स्वतः सिद्ध है—

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके"

कुंआ, बावडी आदि में जितने कार्य सिद्ध होते हैं सभी एक साथ सागर सरोवर में प्राप्त होते हैं। वैसे ही वेदोक्त कर्मधर्मादि से जो भी सुख होते हैं ब्रह्मवेत्ता के लिये मोक्षमें सभी प्राप्त होते हैं इस प्रकार यह बात गीता में स्पष्ट बनायी है।

जक्षत् क्रीडन् रममाणः

इत्यादि श्रुतिका भी यही तात्पर्यार्थ है। इसी आशय से 'साधुभवति' ऐसा बताया ।

यहां अर्थ शब्दका अर्थित प्रयोजन अर्थ है। अनर्थ का विपरीत अर्थ है। अतएव जगह-जगह "अनर्थ चोपेयात्" इत्यादि प्रयोग किया गया है। प्रेय को वरण करने वाला अर्थ च्युत होगा और अनर्थ को प्राप्त होगा।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥२॥

श्रेय तथा प्रेय दोनों मनुष्यके सामने आते हैं। धीर पुरुष उन दोनोंको अच्छी तरह देखकर विवेक करता है। धीर प्रेयसे अलग कर श्रेयका अभिवरण करता है। मन्दभाग्य योग क्षेमको लेकर प्रेयको ग्रहण करता है। ॥ २ ॥

नचिकेताने जिसकी जिज्ञासा की उसको श्रेय शब्दसे और यमराजने जिसको प्रस्तुत किया उसको प्रेयशब्द से पूर्वमन्त्र में अभिहित किया। इन दोनोंको साधारण लोग पृथक्-पृथक् नहीं समझते। उदाहरणार्थ व्यापार धंधा और भिक्षावृत्ति दोनोंमें क्या फरक है? व्यापारी भी पैसा कमाते हैं। भिखारी भी पैसा कमाते हैं। दोनों समान हो गये। फरक इतना ही है कि व्यापारी भीखको निकृष्ट मानता है, हीनवृत्ति मानता है। भिखारी भी व्यापारको श्रेष्ठ मानते हुए अर्थतः भिक्षावृत्तिको निकृष्ट मानता है। उदरपूर्त्ति लक्ष्य हुआ तो अविवेक ही नहीं दुर्विवेक हुआ । वस्तुतः होना चाहिये विपरीत। अतः श्रुतिको कहना पड़ा–

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च
व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति ।"

तीन एषणाओंसे ऊपर उठकर भिक्षावृत्तिको अपनाते हैं। पहले समयमें ब्रह्मवेत्ता संन्यासीके सिवाय दूसरा कोई भिक्षा नहीं लेता था। भिक्षा लेनेमें अपनेको अनधिकारी समझता था।

"को देहीति वदेत् स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः ॥"

संन्यासके विना कोई भी स्वाभिमानी "देहि" नहीं बोलते। किसीके सामने हाथ नहीं पसारते। संन्यासी भिक्षा मांगते इसका अर्थ यही कि अब देहाभिमान नहीं रहा। देहको लेकर जो मैं कमाता हूं, खाता हूँ यह अभिमान आत्मामें होता था वह अब नहीं रहा। ऐतरेय भाष्यमें भाष्यकार स्वयं कहते हैं कि अभिमानका त्याग करनेमें असमर्थ संन्यास नहीं ले पाते। क्योंकि यहां भिक्षावृत्ति है। परंतु बादमें यह भिक्षावृत्ति कमानेमें असमर्थोंका एक धंधा हो गया।

"जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः काषायाम्बरबहुकृतवेषः ।
पश्यन्नपि न च पश्यति लोकः उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः ॥

जटिल मुण्डी आदि जब उदरनिमित्त बहुकृतवेष हुआ-नाना वेशधारी हुआ, 'तब देखते हुए भी नहीं देखता' वाली बात हो गयी ऐसा इसका अर्थ है। पहले दोनों श्रेय एवं प्रेयके रूपमें भिक्षावृत्ति और व्यापारवृत्ति समझी जाती थी। किन्तु दोनोंका लक्ष्य उदरपूर्ति हो गयी तब विविक्तता कहाँ रही? धंधेवाले भी कहते हैं, पेटके लिये करते हैं। ब्राह्मण भी शूकंपनी खोलते हैं। ड्राईवर बनते हैं। क्यों ब्राह्मण होकर यह करते हो पूछनेपर उत्तर देते हैं पेटके लिये सब कुछ करना पड़ता है। एक व्यापारीकी स्त्री (दिल्लीवाली) बोलती थी महाराज दो फुलके गरम मिले इसके लिये ही हम ये सब धंधे करते हैं। इतना ही हमको चाहिये भिखारी भी कहते हैं पेट के लिये करते हैं। अब क्या दोनोंमें विशेषता रही। भेद नगण्य है। यह एक छोटा उदाहरण हुआ। बड़े उदाहरणोंमें भी यह बात है। कर्मका स्वर्गादि फल है। ज्ञान लक्षण संन्यासका भी वही फल है। क्योंकि समुच्चयके बादमें स्वर्ग और मोक्ष एक ही है। कर्मसमुच्चित-ज्ञानसे यहाँ स्वर्गरूपी मोक्ष मिलता है। उस मोक्षमें भी जक्षत् क्रीडन् आदि विषय है। स्वर्गमोक्ष दोनों में दिव्य विषय होते हैं, दोनों में भेद नगण्य है। अतः पूर्वमन्त्रमें यमराजने दोनोंको प्रथम अलग कर प्रस्तुत

किया स्पष्ट भेद बताया। अब इन दोनोंको ग्रहण करनेवालोंका स्वरूप-वर्णन करने जा रहे हैं।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः। श्रेय और प्रेय ये दोनों मनुष्यके पास आते हैं। कैसे आते हैं? ये कोई जानकार हैं कि कहां आना, कहां नहीं आना? इस पर सांख्यवाले कहते हैं कि प्रकृति स्वयमेव नानारूप धारण कर आती है।

"नानाविधैरुपायै रूपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सततस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥"

नाना रूप धारणकर नाना उपायोंसे अनुपकारी, अगुण पुरुषके लिये स्वतः स्वार्थरहिता गुणवती उपकारिणी प्रकृति उपकार करती रहती है। भोग और अपवर्गके रूपमें भी वही आती है। संघातात्मक जगतरूपसे भी वही आती है। कैवल्यरूप से भी वही आती है। कैवल्य कां अर्थ है-असंहतता। वह संघातप्रतियोगी होनेसे ज्ञान द्वारा प्रकृति ही कर सकती है। केवल=अकेला=असंहत। वेदान्तवाले संघातको परार्थ मानते हैं फिर भी सभी प्रकृति ही करती है इस अंशको नहीं मानते। वे यों कहते हैं कि वेदध्ययन करते समये ये दोनों मनुष्यके सामने आते हैं। "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" इस प्रकार प्रेय सामने आता है। "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इत्यादि रीति श्रेय भी सामने आता है। इन में प्रेय तो कार्य है। श्रेय स्वतः सिद्ध है अकार्य है।

मनुष्यमेतः। श्रेयश्च प्रेयश्च प्राणिनमेतः ऐसा नहीं, मनुष्यमेतः ऐसा है। कारण यथाकथंचित् फलविघया कुछ प्रेय पशु आदिके पास भले पहुंचे किन्तु श्रेय तो मनुष्यके पास ही आयेगा। विशेष रूपसे तो प्रेय भी मनुष्यके पास ही आता है। वेदकी व्याख्या करते समय निरुक्तपर ध्यान देना भी आवश्यक है। मनुष्यपद की वहां निरुक्ति इस प्रकार की है-

"मत्वा कर्माणि सीव्यतीति मनुष्यः"

मननकर जो कार्य करता है वह मनुष्य है। पशुपक्षियोंमें कोई मनन और योजना नहीं होती है। घास चरने लगेगी मैदानमें गायतो आगे-आगे बढ़ती जायेगी, चरती जायेगी। घास समाप्त हो गया तो खड़ी होकर देखगी और जहां घास हो उस ओर बढ़ेगी। पक्षी घोंसलेसे बाहर आकर

उड़ते जायेंगे। जहां कुछ खाना दीखा वहीं उतरेंगे। इनकी कोई योजना नहीं होती कि एक महीनेका राशन है, प्रतिदिन इतना खर्च करना है। मनुष्य काफी लम्बी योजना बनाकर कार्य करता है। पूर्वके अनुभवोंसे शिक्षा लेता है, मनन करता है। भावि योजनाओंको सोचता है। कार्यान्वित करता है। मनुष्योंका कार्यक्रम-क्रमिक कार्य होता है। स्नान करो, पूजादि करो, नास्ता करो। उलटा नहीं होता। पशुओंका कोई क्रम नहीं है। यज्ञादिमें क्रमका बड़ा महत्त्व है। क्रमको एक प्रमाण ही माना है। सन्ध्या कर, वाजपेयादि करो। उसके बाद बृहस्पतिसव करो। वेदान्तमें श्रवण मनन आदिका क्रम है। सीव्यति का अर्थ है-संतनन करना। क्रमिकरूपसे संपादन करना। जैसे कपड़ा सीते हैं तो क्रमिक संतनन होता है। एक किनारेसे दूसरे किनारेतक क्रमशः जाते हैं। स्वेटर बनाते समय एक छोर से दूसरे छोर क्रमशः बढ़ते जाते हैं। पशु हगते भी जायेंगे खाते भी जायेंगे। ऐसा मनुष्य नहीं करता। अतः "मत्वा कर्माणि सीव्यतीति मनुष्यः" यह अर्थ हुआ। फलतः प्रेय विशेषरूपसे मनुष्य को ही प्राप्त होगा। यह स्पष्ट है।

दूसरा अर्थ निरुक्तमें दिखाया है–

"मनस्यमानेन सृष्टः, मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे"

मनस्यसे सृष्ट अर्थ में मनुष्य हुआ। मनस्वी होकर परमेश्वरने मनुष्यको बनाया। सहृदय होकर मनुष्यको बनाया या मनुष्यको बनाकर मनस्वी हो गया। तृप्त हो गया। ये दोनों बातें भागवतके इस श्लोकमें झलकती हैं–

"सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपमुखान् खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥"

परमेश्वरने अनादि मायाशक्ति से नानाप्रकारके पुर बनाये। पुर-नगर। कौनसे नगर? यही शरीर। नवद्वारे पुरे। किसका नगर? देवताओंका। "चक्षुषोः सूर्यः श्रोत्रयोर्दिग्देवता रसनाया वरुणः" चक्षुमें सूर्य, श्रोत्रमें दिग्देवता रसनामें वागृदेवता इत्यादि रीति कितने देवता इस शरीरपुरमें निवास करते हैं। कौन-कौनसे पुर? अचर और चर स्थावरजंगम। स्थावर

वृक्षलतादि। जंगम तीन हैं-स्थलचर, नभचर और जलचर। सरीसृप, कीट, अश्व, गर्दभ आदि स्थलचर हैं। खग, दंश आदि नभचर हैं। मत्स्यादि जलचर हैं। किन्तु इन सबको बनानेपर भी परमेश्वर संतुष्ट नहीं हुए। तब उन्होंने खूब दिल लगाकर एक नया पुर बनाया। कौनसा? यही मनुष्य शरीर। मनस्वी होकर सहृदय होकर बनाया। उदारताके साथ बनाया। मन लगाकर और बनानेके बाद प्रशस्त मनवाले हुए अर्थात् प्रमुदित हुए। मनस्वीका अर्थ गुजराती लोग अभिमानी करते हैं। किन्तु संस्कृतमें पूर्वोक्त अर्थ प्रसिद्ध है। क्या इस पुरमें विशेषता थी कि परमेश्वरने दिल लगाकर बनाया और अन्तमें दिलदार हुए?—ब्रह्मावलोकधिषणम्। आहार निद्रादि को लेकर विशेषता नहीं है। किन्तु ब्रह्मके अवलोकन करने योग्य धिषणा-बुद्धि इसमें है। इस प्रकार मनका मोद प्राप्त होनेसे प्रशस्त हो गया। ऐसे मनवाला मनस्वी है। हेत्वर्थमें शानच् होनेसे मनस्यमानतामें हेतुरूपसे सृष्ट मनुष्य कहलाया। इस अर्थ में श्रेय मनुष्यके पास ही आ पाता है। यह स्पष्ट है। क्योंकि ब्रह्मावलोकधिषणा अन्यत्र नहीं है।

तीसरा अर्थ भी निरुक्तमें दिखाया है—मनोरपत्यं मनुषो वा। यह मनुका अपत्य है। मनुकी संतान है। अपत्यका अर्थ है-न पतन्ति पितरो येन-जिससे पिता आदिका पतन न हो। मनुका मनन करनेवाला अर्थ होता है। उसका पतन न होना तब संभव है जब पुत्र भी मननशील हो। व्यापारीका पतन तब नहीं होता जब उसका बेटा व्यापार करनेमें कुशल होता है। राजाओंका पतन क्यों हुआ? उनके पुत्रोंको बराबर शासन करने नहीं आया। वे प्रजारञ्जनके बदले स्वरञ्जन मात्र करने लगे। अस्तु ऐसे मनुष्यके पास श्रेय और प्रेय आते हैं। मनन करने वाले को ही श्रेय या प्रेय प्राप्त होगा।

'तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः' परीत्यका अर्थ है यथावत् समझना। परीतमें 'वि' जोड़ते हैं तो विपरीत-उलटा ऐसा अर्थ होता है। उसका प्रतियोगी सुलटा-सीधा समझना 'परीतः' का अर्थ है। गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थ होता है। पर्यय विपर्यय यहां विपर्ययका विपरीत ज्ञान अर्थ है ही। 'सं' उपसर्गका समन्तात् अर्थ है। पूर्णरूपसे यथावत् जानकर अर्थात् दोनों का

सम्यक् स्वरूपज्ञान पाकर ऐसा संपरीत्यका अर्थ है। फिर वह दोनोंका विवेक करता है। तिलतण्डुलवत् पृथक् करता है। भाष्यकारने यहां "हंस इव" ऐसा दृष्टान्त दिया है। नीर और क्षीर दोनों का यथावत् शास्त्रादिसे ज्ञान हो सकता है। क्षीरमें विशिष्ट माधुर्य है, शक्तिदायकता है, तृप्तिकारिता है, श्वेतवर्ण है। नीरमें ये बातें नहीं है। किन्तु प्राणरक्षकता है। पिपासाशामकता है इत्यादि। किन्तु मिले हुए दोनों का पृथक्करण तो हंस ही कर सकता है। वैसे यहां पर श्रेय और प्रेयका संपरिगमन होनेपर विवेक सब नहीं कर पाते। विवेक तो धीर ही करेगा।

धीरका धैर्यवाला इतना अर्थ यहां नहीं है। महर्षि यास्क कहते हैं–

"धीरो धीमान् प्रज्ञावान् ध्यानवान्"

धीरका एक अर्थ है बुद्धिमान्। अर्थात् मेधाशक्ति वाला। जिसमें समझशक्ति है। "दृश्यते त्वग्र्याया बुद्ध्या" इस प्रकार आगे कहना है। विवेक वही कर सकता है जिसमें उत्तम ग्रहणशक्ति हो। दूसरा अर्थ है-प्रज्ञावाला। प्रकृष्ट ज्ञान ही प्रज्ञा है। बार-बार श्रवणादि करनेसे प्रकृष्ट ज्ञान होता है। संशय, विपर्यासरहित ज्ञान ही प्रकृष्ट ज्ञान है। धीरका तीसरा अर्थ है ध्यानवान्। । "ध्यै चिन्तायां" के अनुसार चिन्तकको भी ध्यानवान् कहते हैं। और "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानं" के अनुसार एकाग्रतावाले को भी ध्यानवान् कहते हैं। पूरा मिलाने पर अर्थ होता है-एकाग्रताके साथ चिन्तन करनेवाला। मेधावी संशयविपर्यासरहित ज्ञानवाला धीर है। ऐसा धीर श्रेय और प्रेयका ठीक-ठीक विवेक कर सकता है। "योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टः" ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। अतः पूर्वोक्त गुण विवेकार्थ आवश्यक हैं।

श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते। प्रेयो विहाय धीरः श्रेयः अभिवृणीते ऐसा ल्यब्लोप पञ्चमी है। अर्थात् प्रेयको त्यागकर धीर श्रेयका वरण करता है। यहां "धीरः" का पुनः प्रयोग किया है। इस बार "धीरः" का धैर्यवान् अर्थ होगा। क्योंकि प्रेय सामने आता है तो उसे त्यागना साधारण व्यक्तिका काम नहीं है। एक ओर सोनेके पात्रमें हीरा, पन्ना, माणिक्य रखकर, या लाख रूपये लेकर कोई देने आया है। दूसरी ओर तांबेके बरतनमें भगवानके चरणामृत तुलसी लेकर कोई आया है। कहते हैं–

दोनोंमें से एक लो। विवेक है। पर किसका वरण होगा? सोचेंगे चरणामृत देने तो थोड़ी दक्षिणा देने पर ब्राह्मण दस बार आयेगा। वहां विवेक समाप्त हो जायेगा। अजामिल कोई कम विवेकी था? इधर घरमें भगवत्पूजन था। तदर्थ सामग्री ले जा रहा था। दूसरी ओर वाराङ्गनाका कटाक्षविक्षेप था। वहां विवेक काम नहीं आ सका। साधारण धैर्यका बांध बालूके सेतुके समान बाढ़में बह गया। ऐसे अवसरपर द्विगुणित धैर्य ही काम आयेगा। अतः दो बार धीर पदका उच्चारण सार्थक है। गौणरूपसे श्रेयका का वरण कदाचित् संभव है। अतः अभिवरण कहा। अभिवृणीते ऐसा अन्वय है। धुंधुकारी के वेश्याकुसंगी होनेपर भी महाधीर गोकर्ण ने सर्वस्व त्यागकर भगवद्वरण किया यही उदाहरण है।

"रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकं प्रीतये।
किन्तूद्भ्रान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोलदीपाङ्कुर-
च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गताः ॥"

यह भर्तृहरिका वचन है। केवल वचन ही नहीं किन्तु स्वयंका उदाहरण है। भर्तृहरि विक्रमादित्यके ज्येष्ठ भ्राता माने जाते हैं। क्या उनके पास रमणीय हर्म्य अर्थात् प्रासाद की कमी थी? गीत, नृत्य, वाद्यादि का अभाव था? एक पिंगलाको लेकर वैराग्य जरूर हुआ किन्तु अन्य भी प्रियाएं क्या दुर्लभ थीं? किन्तु सबको चंचल दीपाङ्कुरकी छाया समान देखकर सर्वसंगपरित्याग किया और श्रेयका वरण किया-अभिवरण-पूर्णवरण किया। और वनमध्यमें गये। पूर्णविवेकी वैराग्यवान् धीरके लिये प्रेयका त्याग कोई बड़ी बात नहीं है। यहां पर धीर ही यथावत् विवेक करेगा। तथा धीर ही श्रेयमात्रका अभिवरण भी करेगा ऐसी पृथक् व्याख्या भी करते हैं। अर्थात् विवेक पूर्णतया न होनेपर भी धीर श्रेयका वरण करेगा विषयसुखवैराग्य होनेपर उस ओर उसकी दृष्टि नहीं जायेगी और अभिवरण न होने पर भी धीर सम्यक् विवेक कर लेगा। ऐसी व्याख्या उनकी है।

प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते। मन्दमति योगक्षेम के लिये प्रेयका वरण करता है। भाष्यमें 'मन्द' का मन्दबुद्धि अर्थ किया है। धीरो, धीमानका

विपरीत अर्थात् अधीर "मन्द" शब्द का अर्थ है। मन्दभाग्य भी अर्थ किया जा सकता है। क्योंकि कभी-कभी तीव्रबुद्धिवाले भी अवसर प्राप्त न होनेके कारण प्रेयमें पड़ जाते हैं।

"प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः।"

ऐसा भर्तृहरिमहाराज भी कहते हैं। मानव शरीर कर्मभूमि है। तपोभूमि है फिर भी तप नहीं कर पाते। आखिर यही कहना होगा कि उनका भाग्य फूटा है। बड़े-बड़े बुद्धिमान्, बड़े-बड़े वैज्ञानिक संसारमें पड़े हैं। राजदरबार लगा हुआ था। हीरेकी परीक्षा चल रही थी। एक वृद्ध जौहरीने एक हीरे का दाम निन्यानवे हजार नौसो निन्यानवे बताया। राजाने पूछा-एक रूपया कम क्यों? उसने विशाल कांच (सूक्ष्मदर्शी) लाकर दिखाया कि इसकी किरणें देखो। एक जगह थोड़ा-सा जल रह गया। किरण बंद थी। इसके लिये एक रूपया कम बताया। एक संत वहां बैठे थे। राजाने संतसे पूछा इसको क्या इनाम देना चाहिये? संत ने कहा इसको इनाम क्या, दंड देना चाहिये। सब आश्चर्य में पड़े। कारण पूछा। तो संतने कहा कि इतनी तीक्ष्ण बुद्धि इसे भगवानने दी। इसने जड़रत्न की परख की। चैतन्यरत्नको नहीं पहचाना। यह वृद्ध हो गया। मरने पर क्या यह रत्नपरख काम आयेगी? आप लोगोंकी यह वाहवाही काम आयेगी? यह मन्दबुद्धि नहीं, मन्दभाग्य है। क्यों प्रेयका वरण करता है? "योगक्षेमात्"। अप्राप्त की प्राप्ति योग है। प्राप्त का परिरक्षण क्षेम है। धनादि एवं तत्कार्य विषयसुख अप्राप्त है। उसकी प्राप्ति योग है। प्राप्त धन, शरीर सौन्दर्य, सामर्थ्य आदिका परिरक्षण क्षेम हैं। परंतु योग वियोगान्त है। पुष्टि क्षयान्त है। जीवन मरणान्त है।

"संयोगो विप्रयोगान्तः दुःखान्तं सुखमेव च।
पोषणं क्षयपर्यन्तं मरणान्तं च जीवनम्॥"

धनादि संयोगका विप्रयोग निश्चित है। शायद यहां न हुआ तो भी परलोक जाते समय धन काम नहीं आयेगा। सुख क्षणिक है। उसके बाद दुःख निश्चित है। बड़े-बड़े पहलवान् मिले। उनकी अन्तिम दशा बड़ी बुरी हुई। जीवन तो मरणान्त है ही। किन्तु इसपर किसीका ध्यान नहीं जाता। बड़े-बड़े बुद्धिमान् का भी ध्यान नहीं जा रहा है। तो क्या कहा जाय?

यही-वे मन्दभाग्य रहे। "न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः।" कात्यायनी मन्द मति थी। अतः याज्ञवल्क्य की संनिधि में रह कर भी उसने प्रेय का वरण किया। मैत्रेयी धीर थी उसने प्रेयको ठुकराया और श्रेय का वरण किया। विमान राकेट आदि के निर्माता मन्दमति नहीं किन्तु मन्दभाग्य हैं। क्यों कि इन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का अवसर ही नहीं मिलता। ब्रह्मज्ञान के लिये कदाचित् मौका मिल जाय तो भी उसे ठुकराकर ये भौतिक में ही लगे रहते हैं।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँ-श्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

हे नचिकेता! सो तुमने प्रिय एवं प्रियरूप समस्त विषयोंको सोचविचारकर त्याग दिया। इस वित्तमय सृङ्काको भी तुमने ग्रहण नहीं किया जिसमें बहुतसे मनुष्य निमग्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

श्रेय और प्रेय अत्यन्त भिन्न हैं। दोनोंका प्रयोजन-फल भिन्न है। दोनों संमुख उपस्थित हैं। हमें यह तय करना है कि किसको ग्रहण करना है। जवाब किसको देना है। मोक्षसाधन विद्या श्रेय है। भोगसाधन अविद्या, कर्म आदि प्रेय हैं। इन दोनोंमें से जिस किसीको भी ग्रहण करनेमें और रिजेक्ट करनेमें-त्याग करने में सभी स्वतन्त्र हैं। और सभी कार्य प्रारब्धाधीन हैं किन्तु यह पुरुषार्थाधीन है। इसे तय करनेमें आप स्वतन्त्र हैं। त्याग करने योग्य कौन? ग्रहण करने में योग्य कौन? इस विषयमें तो नचिकेता भी बोल चुके-"वरस्तु मे वरणीयः स एव।" यह नचिकेताका वचन है। "तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते" यह यमराज का वचन है। यह तो शिष्य एवं आचार्य का फैसला है। किन्तु हमें तो अपने लिये स्वतन्त्र फैसला करना पड़ेगा। क्योंकि आचार्यों के फैसले के अनुसार चलना बड़ा कठिन है। ऐसी दुविधाको देखकर ही तो गीताकारको नया रास्ता निकालना पड़ा। कर्म एवं फल प्रेय के अन्तर्गत है। भगवानने मध्यम मार्गसे कहा-निष्काम करो। वह प्रेय

होता हुआ भी श्रेयकी ओर ले चलेगा। कठोपनिषदमें भी इसकी झलक प्रथम आ गयी थी। नचिकेता ने पिताको दक्षिणादानमें लोभ त्यागनेका जो इशारा किया सो तो है ही स्वयंने कर्तव्यसिद्धिके लिये पिताजीको शान्तसंकल्प, वीतमन्यु आदि होनेका वरदान यमराजसे मांगा। पिता को सुखी करना, प्रसन्न करना पुत्रका कर्तव्य है। उस वरदान प्रार्थनासे कर्तव्यपालन का इशारा मिलता है। अग्निविद्याके वरदान में सकामताकी झलक अवश्य है। वहां स्वर्गलोककी इच्छा स्पष्ट दीखती है। किन्तु अन्तःप्रवेश करने पर वहां भी बात दूसरी निकलती है। स्वर्ग वैसे तो मीमांसक मतमें साध्य है। "स्वर्गकामो यजेत" यहां स्वर्गको काम्य बताया। स्वर्गसे आगे क्या? यह वहां पर नहीं है। क्योंकि परमसाध्यका साध्यान्तर नहीं होता। किन्तु नचिकेता स्वर्गको दूसरे प्रकारसे प्रस्तुत करते हैं। उसे साधनरूपमें दिखाते हैं-"स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते।" स्वर्गलोक साधन है और अमृतत्व साध्य है। प्रथम तो "मोदते स्वर्गलोके" इस प्रकार साध्यरूपसे भी कहा था। किन्तु अन्तमें उसे साधनकोटिमें रखा। वहां स्वर्गका ब्रह्मलोक अर्थ है। क्रममुक्ति अभिप्रेत है। फलतः मध्यममार्ग का ही वह निर्देश है। निष्काम कर्म करते हुए उपासक यदि साक्षात्कार नहीं पा सका है तो उसकी भी ब्रह्मलोकप्राप्ति निश्चित है। यह मध्यमाधिकारीका निरूपणमात्र है। मध्यममार्गका उल्लेखनमात्र है। नचिकेता तो उत्तमाधिकारी तथा उत्तममार्गगामी ही थे। इस बातको अब प्रस्तुत मन्त्रमें बतलाने जा रहे हैं।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामान्। "अजीर्यताममृतानाम्" इत्यादि मन्त्रमें "क्व तदास्थः प्रजानन् अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान्" "को रमेत" जो बताया उसीमेंका "अभिध्यायन्" शब्द यहां भी आया है। "को रमेत," "तवैव वाहा" इत्यादिको "प्रियान् प्रियरूपांश्च कामान् अत्यस्राक्षीत्" से अनूदित किया। "सः" का अर्थ है-"श्वोभावा" इत्यादि एवं "अजीर्यतां" इत्यादि कहनेवाले। केवल कहा इतना नहीं, किन्तु आचरणमें भी तुमने उतारा इस अभिप्रायसे "प्रियान्" इत्यादिसे "अत्यस्राक्षीत्" तक का कथन है। "शतायुषः पुत्रपौत्रान्" इत्यादि "प्रिय" शब्दका अर्थ है। "इमा रामा सरथा" इत्यादि प्रियरूप हैं। आन्तरसौन्दर्यसे प्रिय और बाह्यसौन्दर्यसे प्रियरूप होते हैं।

पुत्रपौत्रादि बाहरसे काला-गोरा जो भी, जैसा भी होता है, प्रिय होता है। रामा आदि ब्राह्मसौन्दर्यसे प्रिय हैं।

एक आस्था होती है। दूसरी मजबूरी होती है। तीसरा संयोग होता है। चाहे प्रिय विषय हो चाहे श्रेय। साधारणतया मन्दजनों की विषयोंमें आस्था होती है। धन, जन, भोग्यपदार्थों में आस्था रहती है कि मेरे लिये ये अनिवार्य हैं। कल्याणकारी हैं। धन हो तो ही मेरा अस्तित्व है। यही प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। गृहादिमें भी उसी प्रकार आस्था रहती है। नारदजी के पूर्वजन्मकी बात आती है। वे दासीपुत्र थे। बाल्यावस्थामें उस गांवमें बड़े बड़े सन्त आये। उनकी सेवामें गांववालोंने उन्हें नियुक्त किया। चार महीनेतक सेवा करते रहें। कथाश्रवण करते रहे। फलतः उसी समय ज्ञान एवं वैराग्य उन्हें प्राप्त हुआ। चातुर्मास्यके बाद संत जाने लगे तो नारदजी बोले मुझे साथ में ले चलो। मैं भी भजन करूँगा। संतोंने कहा, समय आयेगा तब भजन करोगे। अभी तो माँकी सेवा करो। उन्हें मांके घरमें रहना पड़ा। माता पुत्रका योगक्षेम वहन कर रही थी। "सा स्वतन्त्रा न कल्पासीद् योगक्षेमं ममेच्छती"। योगक्षेमका फल तो "प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते" ऐसा पूर्वमन्त्रमें बताया। एक दिन रातको माताको सांपने काटा। उससे उसकी मृत्यु हुई। बालकने संभव सेवा की। फिर वहांसे जंगलकी ओर निकला और ध्यानतप करते हुए एक बार भगवत्दर्शन भी किया। बालकके लिये माताकी मृत्यु अत्यधिक क्लेशप्रद होती है। परंतु "अनुग्रहं मन्यमानः" ऐसा भागवतमें प्रयोग आया है। यह भी प्रभुका अनुग्रह ही है ऐसा समझा और जंगलकी ओर चला। तब घरमें वे उतने दिन कैसे रहे होंगे? योगक्षेमार्थ माताका दिया विषय कैसे ग्रहण करते रहे होंगे? मजबूरीसे। ऋषियोंने कहा मातृसेवा करो तो वह अनिवार्य हो गया था। वहां योगक्षेमके लिये प्रेयोवरण मजबूरीसे था। सुदामाजी भगवद्दर्शनके लिये द्वारिका गये। वापिस चलते समय भगवानने कुछ नहीं दिया। स्वयं सोचने लगे–

"अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात् ॥"

यह निर्धन ब्राह्मण धन पाकर कहीं प्रमादी न हो जाय इसके लिये भगवानने मुझे दया करके धन नहीं दिया। किन्तु जब अपने गाँव वापस आये तब क्या स्थिति थी? वहां अपार वैभव पहुंच चुका था। तो क्या वहां रहते समय प्रमाद हुआ? तब किस प्रकार रहे? आस्थासे नहीं। कुछ मजबूरी रही हो, क्योंकि अत्यन्त बालक अवस्थामें थे। अथवा कहो– संयोगमात्र समझकर रहे। वहां इस प्रकार बताया है–

"विषयान् जायया त्यक्ष्यन् बुभुजे नातिलम्पटः।"

जायया सह स्वयं विषयान् त्यक्ष्यन् या जायया सह विषयान्त्यक्ष्यन् ऐसा वहां अन्वय है। पत्नी और स्वयं दोनों विषयत्याग आगे करने के निश्चयमें थे। अथवा पत्नीके साथ विषयोंको सुदामाजी छोड़ने जा रहे थे। यह एक संयोग मात्र था। इस वैभवको प्राप्त होनेसे पहले भी सुदामाजी प्रसन्न ही थे। वैभवमें उनकी आस्था नहीं थी। काशीमें एक व्यापारी सेठ दक्षिणामूर्ति मठमें आया। बोलने लगा मुझे संन्यास दे दो। हमलोगोंने कहा–बड़े गुरुमहाराज आयेंगे तब विचार होगा। सेठने कहा मुझे अभी संन्यासी बनना है। वह सत्याग्रह कर बैठा दो घंटे तक। इतनेमें उसके घरसे पत्नी, बेटे, पोते सब आकर रोने लगे। हम लोगों को कहा–महाराज इनको समझाओ। हम लोगों को मालूम हुआ कि एक झगड़े के कारण ये विरक्त हुए हैं। हमने कहा–तुमलोग समझा लो। आखिर सेठने कहा-तो महाराज हम चले जाँय? हमने कहा–काहेको तुम घर जायेगा? संन्यासी बनने आया है। बैठो संन्यासी बना देते हैं। सभी हंसे। सेठ आखिर दो घंटे का संन्यास पूरा करके घर गया। यहां क्या था? आस्था कि मजबूरी कि संयोग अथवा तीनों? जो भी हो। यह प्रेय ही है। साधारणोंकी प्रेयमें आस्था, श्रेयमें संयोगमात्र, यदि श्रेयको जानता हो तो। अन्यथा श्रेयमें शून्य ही है। नारदजीकी प्रेयमें मजबूरी और श्रेयमें आस्था। सुदामाजी का प्रेयमें मजबूरी और श्रेय में आस्था। ऋषियोंमें श्रेयमें आस्था, प्रेयमें शून्य।

अभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। केवल आवेशमें आकर नहीं छोड़ा। जैसे उस सेठने आवेशमें दो घंटे के लिये छोड़ा था। किन्तु अभिध्यान् करके अत्यस्राक्षीः-त्याग किया। अभिध्यान्-अभितः उभयतः ध्यान। उभयतः मतलब पूर्वमें और परमें। इस बातको "अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा

परे' से नचिकेताने प्रथम ही सूचित किया। 'श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्त-कैतत्' इस प्रकार स्पष्ट वर्णन किया। गीतामें कहा—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'

एक तो ये सभी विषय अनित्य हैं। वियोगकालमें दुःखमयी होते ही हैं। किसी ब्राह्मणको तपश्चर्यासे अमरफल मिला। उसने सोचा कि मैं अमर बन जाऊं तो लाभ क्या? गरीबीमें लोग आत्महत्या कर छुटकारा पाते हैं। मैं वह भी नहीं कर पाऊंगा। इसे राजाको दूं तो अच्छा रहेगा। उनके पास अपार वैभव है। ब्राह्मणने उसे राजाको दिया। राजाने सोचा मैं अमर बनूंगा और बीचमें मेरी पत्नी मरेगी, बन्धु-बान्धव मरेंगे। हर समय वियोगदुःखसे व्यथित रहना पड़ेगा। उन्होंने सोचा कि मेरी प्रिय पत्नीको यह मैं दूं। जब तक मैं रहूंगा तब तक वह तो नहीं मरेगी। कथा लम्बी है। भर्तृहरि महाराज की यह कथा है। विक्रमादित्यके बड़े भाई भर्तृहरि थे। विषयोंकी अनित्यताका परिणाम वे सोच रहे थे। अतंमें पिंगलाको क्या, सबको एक साथ यह कहना पड़ा—

'धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च।'

अनित्यता तो है ही, असुखता-असारता भी साथ ही है। क्या एक ही संगीत सालभर सुनते रहेंगे तो आनन्द आता रहेगा? एक ही पिक्चर सालभर देखेंगे? खीर ही खीर छः महीने खाते रहेंगे? हिमालयमें प्रथम जायेंगे तो वहां का सुहावना दृश्य, शुद्ध, वांयु, झरनों का जल, सभी आनन्ददायी दीखेंगे। किन्तु दो एक महीने रहकर देखिये। कंटाला होगा। कब घर पहुंचे, कब घर पहुँचे, यह देखने लगेंगे। अतएव असार भी है। इस प्रकार अमितः सर्वतः चिन्तन करनेवाला विषयों का अतिसर्जन-प्रेयका त्याग कर सकता है।

नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तः। नचिकेताने द्वितीय वरके रूपमें अग्निविद्या मांगी थी। तैत्तिरीयमें छः अध्यायों में अग्निविद्याका वर्णन है। यमराजने पूछा, क्या समझमें आया? नचिकेता—जी, समझमें आया। यमराज—क्या समझे सुनाओ। नचिकेताने छः अध्यायों को पूरा ही सुनाया। 'स चापि तत्प्रत्यवदद् यथोक्तम्'। यमराज प्रसन्न हुए और बोले 'वरं तवेहाद्य ददामि भूयः'-तीनसे अतिरिक्त और भी वर बोलो। तुम्हारे नामसे आगे वह अग्नि

रहेगी और सृङ्का देंता हूं, इसे ग्रहण करो। अग्निका नाम यमराजने नाचिकेत अग्नि रखा सो तो ठीक ही हुआ। उसमें नचिकेताका विरोध, अनुरोध कुछ नहीं था। सृङ्का जो दिया उसे नचिकेताने लिया कि नहीं? इसका वर्णन वहां नहीं है। यहां के प्रसंगसे लगता है कि यमराजके गौरव से कुछ कहा नहीं किन्तु ग्रहण भी नहीं किया। सृङ्का क्या है? अमूल्य रत्न हार। वहां पर "सृङ्का चेमामनेकरूपां" ऐसा विशेषण दिया था। यहां पर "सृङ्कां वित्तमयीं" ऐसा विशेषण है। पूर्वोक्त सृङ्का और यहां की सृङ्का दोनों एक ही हैं या अलग-अलग? कुछ लोग दोनों को अलग मानते हैं। किन्तु अप्रसिद्ध दो सृङ्का मानना अनुचित है। फिर यह नयी सृङ्का दी कहां थी जिसके अस्वीकारका प्रश्न उठे। सृङ्का एक ही है। वह प्रतीकरूप रत्नमाला थी। किसका प्रतीक? नाना पुण्योंसे प्राप्य नाना लोगोंके सुखों का। पुण्य प्राप्य लोक नाना हैं। "प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्" इस प्रकार गीतामें बहुवचनका प्रयोग है। मीमांसक कर्मानुसार स्वर्गभेद मानते ही हैं। समग्रपुण्यलोकोंका विषयसुख रत्नहार रूपमें यमराज दिखा रहे थे।

वित्तमयीं। यह सृङ्का वित्तसाध्य होनेसे वित्तमयी है। तीन प्रकारके कर्म प्रसिद्ध हैं जो नानालोकमें गति देनेवाले हैं। वे हैं यज्ञ, दान और तप। "यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं" यज्ञ, दान और तपका त्याग नहीं करना चाहिये ऐसी भगवदुक्ति है। ये तीनों वित्तप्राप्य है। यज्ञ करना हो तो वित्त चाहिये ही। यज्ञसामग्री, ऋत्विकोंको दक्षिणा और अन्नदान ये तीन उसमें आवश्यक हैं। "विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणं"। ये सब तामस माने जाते हैं। चाहे वे चण्डीयज्ञ, रुद्रयागादि हों, चाहे भागवत-पारायण आदि ज्ञानयज्ञ हों। ज्ञानयज्ञमें केवल व्याख्या करना वैसा ही है जैसे विना मन्त्र आहुति देते हैं। अतः भागवतका श्लोक बोलकर व्याख्या करनी चाहिये। दक्षिणा तो है ही। अन्तमें ब्रह्मभोज भी होना चाहिये। दूसरा कर्म दान तो वित्तसाध्य है ही। वित्तहीका तो दान होता है। चाहे वह हस्ति-हिरण्यादिका हो या जो भी हो। तपमें वित्तकी आवश्यकता शायद न हो। किन्तु ऐसी बात नहीं है। दशांश होमादि वहां भी वित्तसाध्य

हैं। अतएव सृङ्का को वित्तमयी बताया। वित्तसाध्य कर्मफलका प्रतीक होनेसे इसे भी वित्तमय बताया।

यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः। कर्म की गतिरूप नाना लोकों के प्रतीक मालारूपी सृङ्कामें संपन्न मनुष्यलोकरूपी दान (मोती) भी आता है। प्रत्यक्षतः मनुष्य उसमें मग्न होते हैं। शब्दतः स्वर्गादिलोक भी अवगम्य है। उसमें भी मनुष्य डूबते हैं। इन सबको मिलाकर संसार कहा जाता है। वह वस्तुतः सागररूप है। यह मानवजीवन नाव है। नदी सागर-सरोवर आदिमें नावमें बैठकर सैर करनेमें अच्छा लगता है। पर नाव तो पार करनेका साधन है। सागरमें ही वह रहेगा आसमानमें नहीं। किन्तु नावमें पानी न भरे। नावमें पानी भरा तो नाव डूब जायेगी। मनुष्य रहेगा तो संसारमें ही रहेगा। किन्तु संसार मानव हृदयमें न रहे। ऐसा तो वह संसारमें डूब जायेगा। बहुत से मनुष्य डूब गये हैं। डूब रहे हैं। यस्मां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥

यह सामान्य अर्थ है। वस्तुतः मनुष्य पद की व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। मत्वा सीव्यति कर्माणि, मनस्यमानने सृष्टः, मनोः पुत्रो मनुषो वा। मनुष्या अपि बहवो मज्जन्ति-मनुष्य होते हुए भी बहुत से इस सृङ्का में निमग्न होते हैं। मर्त्यलोक में तो पशु आदि भी मग्न हैं। उसमें कोई खास विशेषता नहीं है। साधारण मनुष्य भी मग्न हो सकते हैं। किन्तु मनन-शील भी बहुत से मग्न होते हैं पर नचिकेता मग्न नहीं हुए यह विशेषता है। मननशील योगी आदि भी मग्न होते हैं। गीता में दो प्रकार के योगभ्रष्ट बताये हैं। एक योगभ्रष्ट वह है जो–

"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते"

में बताया, जो पवित्र श्रीमन्त कुल में जन्म लेता है। दूसरा वह है जो–

"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमतां"

में कहा गया जो योगिकुल में जन्म लेता है। क्यों दो बताये? क्या दोनों में फरक? जो 'यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः' सृङ्का में मग्न हैं वे श्रीमन्तों के कुल में जन्म लेंगे। किन्तु जो उस में निमग्न नहीं है वह योगिकुल में जन्म लेगा। अधिकतर योगभ्रष्ट सम्पन्नकुल में ही पैदा होते हैं कोई एकाध योगिकुल में पैदा होता है–'एतद्धि दुर्लभतरं'। इस प्रकार

मनुष्य का मननादिशील। योगी अर्थ करते हैं तो योगियों में भी श्रेष्ठ नचिकेता है ऐसा अर्थ निकलता है। पशुतुल्यनरापेक्षया। श्रेष्ठ इतना मात्र अर्थ करने पर पूर्ण उत्कर्ष प्रतीत नहीं होगा। अतएव सृङ्का में मनुष्यलोक का प्रतीक दान मानना भी जरूरी नहीं है। "पुण्यकृतां लोकाम्" इस बहुवचन से अवगत पुण्यलोकात्मक; दोनों में बड़े-बड़े योगी मग्न होते हैं। परंतु सामने उपस्थित-यमराज के द्वारा उपस्थापित उन दोनों में नचिकेता मग्न नहीं हुए। क्यों? अभिध्यायन्। और योगी तो केवल ध्यायन्-ध्यानमात्र करते हैं। नचिकेताने अभिध्यान किया। अभितो ध्यायन् अभिध्यायन्। अभितः का अर्थ है—उभयतः। वर्तमान का उभय है पूर्व और पश्चात्। वस्तु का स्वरूप, पूर्वभाव तथा पश्चाद्भाव तीनों का चिन्तन अभिध्यान है। सृङ्का का पूर्वभाव क्या है? कारण क्या है? वित्तमयीं। अर्थात् वित्त जो अनित्य है। वर्त्तमान स्वरूप है-अनेकरूपाम्। शब्दस्पर्शादि दिव्य विषयरूप। पश्चात् स्वरूप क्या? विनाश। यत् कार्यं तदनित्यं यह व्याप्ति है जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है। विनाशी वस्तु का स्वीकार दुःख का कारण है। इस अभिध्यान से वित्तमयी सृङ्का को भी स्वीकार नहीं किया।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥

अविद्या एवं विद्यारूपसे विदित ये दो (श्रेय और प्रेय) अत्यन्त विपरीत हैं। विरुद्ध गतिवाले हैं। मैं (यमराज) नचिकेताको विद्याभिलाषी मानता हूं। तुम्हें बहुत सारे भी काम्य विषय अपनी ओर आकर्षित कर लोलुप नहीं बना सके॥

"अन्यच्छ्रेयः अन्यदुतैव प्रेयः" इस मन्त्रमें अपर्याय शब्दभेदसे ही अर्थभेद प्रतीत होने के बावजूद दोनोंको पृथक् बतानेका प्रयास हुआ। वह इसलिये कि यह बताना था कि दोनों का मेल नहीं हो सकता? क्यों नहीं हो सकता? क्या भोग और मोक्ष साथमें नहीं हो सकते? प्रायः सब जगह दोनों को साथमें ही बोलते हैं। "भुक्तिं च मुक्तिं च ददाति नित्यं" "भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव" इत्यादि हजारों वचन हैं जिनमें एक ही साधनके फलरूपसे उभयका वर्णन किया है। क्या विषय समझकर खाना-पीना, सुनना-देखना बन्द किया जा सकता है? इसका उत्तर "यस्यां मज्जन्ति

बहवो मनुष्याः' से पूर्वमें बता दिया। नावको पानीमें रहना है किन्तु पानी नावमें न भरे। वह डूब न जाय। शब्दस्पर्शादि विषयोंसे प्रद्वेष नहीं, मज्जनरूपी भोगसे विद्वेष है। और उस अंशमें यमराज अतिस्पष्ट वक्ता हैं। उसका स्पष्टीकरण पुनः यहां अपर मन्त्रसे करने जा रहे हैं।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। श्रेय प्रेय बोलनेपर स्पष्ट विरोध नहीं। स्पष्ट सुनो। एक अविद्या है। दूसरी विद्या है। इन शब्दों में दोनोंकी पहचान 'अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यां' इत्यादि मन्त्रोंसे ज्ञात है। यथा नाम तथा गुण है। ये दोनों अत्यन्त विपरीत हैं। शीतउष्णके समान विपरीत है। विपरीतसे स्वरूपतः वैपरीत्य बताया। विषूचीसे फलतः वैपरीत्य बताया। एक पूरब की ओर जाय तो दूसरा पश्चिम की ओर।

अविद्याको पञ्चपर्वा बताया है। इसका वर्णन भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न रूपसे आया है। योगशास्त्रमें-'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः' इस प्रकार क्लेशपञ्चकरूपसे पांच पर्वोंका वर्णन आया है। 'तमो मोह महामोह तामिस्रान्धतामिस्राः' इस प्रकार सांख्यवाले तथा पौराणिक नाम बदलकर इन्हीं पांचोंको एवं अन्य कुछ लोग रूपमें कुछ फरक कर वर्णन करते हैं। आगमशास्त्रवालों ने और ढंगसे बताया है।

'कालो विद्या च रागश्च कला च नियतिश्च ये ।
तैः पञ्चकञ्चुकाऽविद्या पञ्चपर्वा निगद्यते ॥'

अविद्या के पांच कंचुक हैं। ये आवरणरूप हैं। इनसे अविद्या पञ्चपर्वा होती है। नित्यता, ज्ञानरूपता, आनन्दात्मकता, व्यापकता एवं स्वतन्त्रता इनको इन कञ्चुकोंसे वह ढ़ँकती है।

काल-आत्मा नित्य है, किन्तु आत्मा के साथ काल कञ्चुक ने अन्नमय-स्थूल शरीरका तादात्म्याध्यास कराकर जन्म-मरण वाला बनाया। उसने सत्को असत् बनाया। आत्माको असत् बनाया। असत् कैसे बनाया, मैं हूं इतनी प्रतीति जब सबको है? सुनो! सत् किसको कहते हैं। कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्। जो तीनों कालों में रहे वही सत् है। तो क्या शरीरादिको त्रिकालवर्ती मानते हैं? तब सत् नहीं हुआ। सत् नहीं तो उसको क्या कहेंगे? असत्। निषेध और प्रतियोगी दो ही पदार्थ संसारमें होते हैं। एक जड़ दूसरा अजड़। एक चेतन दूसरा अचेतन। एक मनुष्य दूसरा अमनुष्य। असत् का अर्थ शशविषाण नहीं। सत्भिन्न ही असत् है।

फिर शरीरादि पहले नहीं था। बादमें नहीं रहेगा। "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।" जो आदिमें नहीं, अन्तमें भी नहीं, वह वर्तमानमें भी वैसा ही है। इसप्रकार कालने शरीरादि अध्याससे जो असलमें सत् था उसको असत् बनाया। फिर सत् होनेकी अभिलाषा पैदा की। मैं जीता रहूं। मैं मरूं नहीं। जैसे व्रजमें बालकोंने अघासुर को देखा। प्रथम उसे पर्वत समझा। फिर विपरीत सर्परूप बोलने लगे। था वह सर्प। उसे पर्वत समझकर बोलने लगे—देखो, ऊपर दो चट्टानें हैं वे अजगरके दो कान जैसे दीख रहे हैं यह गुफा मुंह जैसी दीख रही है। सड़क जिह्वा जैसी। मुँह को गुफा समझकर मुँहकी उपमा उससे देने लगे। वैसे यहां नित्यको अनित्य समझकर नित्य-शाश्वत होनेकी कामना करने लगे। इस कालरूपी कञ्चुकके कारण कहा—"वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च"-"स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि"। साधारण जनके कामका विषय यह दीर्घ जीवन प्रेय है।

विद्या। विद्यासे ब्रह्मविद्या न समझना। किन्तु लोकज्ञान ही यहां विद्या है। यह भी एक कञ्चुक है। आत्माके बारेमें बताया है-"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" यह सर्वज्ञ एवं सर्ववित् है। सामान्यरूपेण सर्वं जानातीति सर्वज्ञः। विशेषरूपेण सर्वं वेत्तीति सर्ववित् ऐसी उसकी व्याख्या है। अर्थात् सामान्यरूपसे जो सबको जानता है वह सर्वज्ञ है। विशेषरूपसे सबको जो जानता है वह सर्ववित् है। सामान्यरूप और विशेषरूपका क्या मतलब? अधिष्ठानरूप और तत्तद्व्यक्तिरूप। श्रुतिमें लिखा है-"यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" ब्रह्मके-सत् के ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है। कैसे? दृष्टान्तसे समझाया—

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् ।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥"

एक मिट्टीको जाना तो उससे बने घट, पुड़वा, ईंट, खिलौने के हाथ-घोड़ा आदि सबका तत्त्वज्ञान हो जाता है कि यह सब मिट्टी ही है। घड़ेके ऊपरसे, नीचेसे, अगलबगलसे, अंदर, बाहर कहीं से भी खोदो तो क्या निकल आयेगा? मिट्टी ही। अतः वह वस्तुतः मिट्टी ही है। घट कोई अलग तत्त्व नहीं है। मृत्तिका अधिष्ठान है, घटादि आरोप्य है। इसी प्रकार

ब्रह्मज्ञान हुआ तो ब्रह्ममें आरोपित समस्त जगत् ब्रह्म ही है, सत् ही है। अतिरिक्त नहीं ऐसा बोध होता है। यही सामान्य सर्वज्ञता है। विशेष सर्ववित्ता क्या है? प्रत्येक वस्तु अणु-अणुका ज्ञान। यह तो सबको नहीं होता। ईश्वरको होता है। या योगियोंको। योगियोंका सिद्धान्त ऐसा है कि योगसे चित्त व्यापक बनता है। योग माने धारणा, ध्यान, समाधि। न कि शीर्षासन, मयूर-कुक्कुटासन। ये तो शरीरशोधन। करने के लिये आसन हैं जो योग में किसी अंशमें कदाचित् अपेक्षित हैं। वैसे तो सिद्ध एक ही आसन मुख्ययोगके लिये आवश्यक है। धारणा ध्यान समाधि मुख्य योग है।

'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।'

ये तीन आसन प्राणायाम आदिकी अपेक्षा अन्तरङ्ग हैं।

'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।'

निर्बीज समाधि तो अन्तरङ्गतर है। उसकी दृष्टिसे धारणा आदि भी बहिरङ्ग बन जायेंगे। इस समाधिसे चित्त व्यापक हो जाता है। चित्त तो वैसे भी व्यापक ही माना जाता है। किन्तु कर्मवश :शरीरावच्छिन्नमात्रांशमें ज्ञानयोग्य रहता है। योगपुण्यसे पूरा चित्त काम करने लगता है तो सर्वसम्बद्ध होकर सर्वविशेषज्ञान कराता है तो वह सर्ववित् होता है। इस व्यापक चित्तका बुद्धिवृत्तिरूपी एकदेश विज्ञानमयकोश कहलाता है। उसके साथ तादात्म्याध्यास कराकर यह विद्यारूपी कञ्चुक मनुष्यको अल्पज्ञ, अल्पवित् बनाता है और ज्ञानेच्छा पैदा कराता है।

प्रातःकाल उठते ही जिज्ञासा हुई आज कहां क्या हुआ? अखबार चाहिये। कौन मन्त्री बना, किसको बरखास्त किया? कहां एक्सिडण्ट हुआ, कहां बलात्कार हुआ? पहलेके जमानेमें सुबह पढ़ने के लिये चार वेद थे। अब 'अखबारः पञ्चमो वेदः' हो गया। इनको पढ़नेसे क्या और न पढ़नेसे क्या? लोग कहते हैं कि जमानेके प्रवाहके साथ स्वयंको बहना चाहिये। खैर, वह जो भी हो। किन्तु इस ज्ञानकी अभिलाषा कैसे हुई? आत्माकी एकताके सिद्धान्तमें हमारा ही ज्ञान पुस्तकमें, अखबारमें है। फिर उसीकी हम वापिस चाह कर रहे हैं। कारण विद्या (लोकविद्या) रूपी कञ्चुक।

विज्ञानमयकोशसे तादात्म्यापन्न होकर अल्पज्ञता आ गयी और अधिक जानकारीकी तलाश करने लगे जब कि हम स्वयं सर्वज्ञ थे।

राग। राग हमेशा सुखके और सुखसाधनके लिये होता है। कोई भी दुःख नहीं चाहता और न दुःखसाधन ही चाहता है। इस प्रकार सुख एवं सुखसाधन की ओर चित्त का जो लगाव है वह राग है।

"सुखानुशायी रागः"

सुखके साथ अनुशयन करनेवाला राग है। विषयोंसे सुख होता है। सुखसाधन विषय हैं इसलिये विषयोंको भी चाहते हैं। क्या सचमुच विषयोंमें सुख है? शब्दस्पर्शादि विषय हैं। भैरव, भैरवी, मालकोस आदि रागोंमें संगीत सुनते हैं तो बड़ा आनन्द आता है। किसको? जिसने संगीतका थोड़ा बहुत अभ्यास किया हो। गांवमें कोई उस्ताद गया। भैरवी आलापना शुरु किया। हाथ सिर हिलाहिलाकर घरमें गा रहा था। घरवाले आपसमें फुस-फुस करने लगे कि यह हाथपांव क्यों पटकता है? कोई बिमारी लगी है क्या इसको? उस्तादने सोचा ये मेरे गीतकी प्रशंसा कर रहे हैं। तो और ज्यादा हाथसिर हिलाकर बोलने लगा। इधर लोगोंने कहा कि इसको मिरगी हो गयी लगता है। कुछ दिन पहले हमारे बैलको भी यही बिमारी लगी थी। कहने लगे कि बिमारी बढ़े नहीं, पहलेसे ही इलाज करो। बैलका क्या इलाज किया था? चिमटा गरम कर गलेमें लगाया था। फिर चिमटा गरम करके लानेके बाद की बात छोड़ो। तात्पर्य यह कि गीतमें आनन्द हो तो किसी को आनन्द आया किसीको नहीं ऐसा क्यों? एक संगीतमें शिक्षित है और दूसरा अशिक्षित है। तब यही कहो कि अपने अंदर जो कल्पना है उसको संगीतमें डालकर वह सुख पाने लगा। अपना ही सुख उस संगीतमें डाला। फिर उस संगीतसे सुख मांगने लगा। आजकलके बच्चे दिनभर रेडियो चलाते हैं। दूसरोंको वह केवल हो-हल्ला प्रतीत होता है। यही बात समस्त विषयोंकी है। एक जगह मैंने देखा। तीन साल बाद बाप घरमें आया। एक बच्चा खेल रहा था। उसने समझा यह मेरा ही बेटा है। गोदमें उठाकर मुंह चूमा। इतनेमें अंदरसे मां-बेटा दोनोंबाहर आये। यह तीन सालका था। उसका बेटा पांच सालका हो गया था। पूछा-यह लड़का किसका? बदनी (नौकरानी) का। उसी समय

उसने बच्चेको नीचे फेंका। मुंह धोया। और अपने बेटेको गोदमें बैठाया। प्रथम नौकरानीके छोकरे को उठाते समय उसे स्वर्गसुख मिला और नौकरानी का बेटा है सुना तो नरककी घृणा हो गयी। क्लेश हो गया। क्या कोई यह सिद्ध कर सकता है कि अपनी कल्पनासे ढाले गये सुखसे अतिरिक्त कोई सुख वहां था? वस्तुतः आनंद अन्दर है। आत्मामें है। उसकी छाया है विषयोंमें। स्वयं छाया डालकर स्वयं उसीके लिये भिखारी बने। कभी शब्दके पास जाकर सुखकी भीख मांगते हैं। कभी स्पर्शके पास, कभी रूपके पास। इसको रागकञ्चुक कहते हैं। रागकञ्चुकसे आत्मानन्द आच्छादित हुआ, विषयानन्दके भिखारी हुए। आनन्दमयकोशके तादात्म्याध्यासका यह परिणाम है। "शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व" इत्यादि सभी इसके उदाहरण हैं।

कला। कला स्यात् षोडशोभागः। सोलहवें भागको कला कहते हैं। जैसे चन्द्रमाका सोलहवां भाग एक कला है। दो भाग, दो कला इत्यादि कहते हैं। वस्तुतः अंशको कला कहते हैं। कला भी अविद्याका एक कवच है जिससे जीवात्माकी व्यापकता नहीं रही। "ममैवांशो जीवलोके" "ईश्वर अंश जीव अविनाशी"। सचमुचमें अंश नहीं है। जीव कोई परमात्माका टुकड़ा नहीं है। अंश इव अंशः। अंशवत् है। एक हजार घड़े हैं, उनमें पानी है। सबमें सूर्यका प्रतिबिम्ब है। हजार प्रतिबिम्ब हैं। उनको क्या सूर्यसे अलग कहा जायेगा? नहीं। जलमें सूर्यको देखा ऐसा लोग बोलते हैं। तो क्या आकाशस्थ सूर्य उसमें उतर आया? नहीं। क्या सूर्यका टुकड़ा उसमें गिरा? नहीं। तब क्या? अंश इवांशः। इसी प्रकार जीवात्मा है। ये हजारों शरीर हैं। उनमें अन्तःकरणरूपी जल भरा है। उसमें परमात्माका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। परमात्मासे वह भिन्न नहीं, अभिन्न नहीं, परमात्माका टुकड़ा नहीं। किन्तु अंश इवांशः। अंशके समान है। उपाधिप्रयुक्त अविद्यागत कलाशक्तिने जीवको परिच्छिन्न बनाया। दृष्टान्तमें तो सूर्य दूर है। जल दूर है। किन्तु दार्ष्टान्तिकमें व्यापक होनेसे परमात्मा तो दूर नजदीक सब जगह है। "तद्दूरे तद्वन्तिके"। जीव भी व्यापक है। पर कलासे परिच्छिन्न हुआ। अल्पशक्तिमान अल्पकर्ता हुआ। अन्तःकरण

जलात्मक मनोमयकोशतादात्म्यापन्न होकर अल्प हुआ। फिर महान् बननेकी इच्छा होने लगी।

नियति। नियमान ही नियति है। भाग्यात्मक नहीं। 'नियन्त्रितता' ऐसी व्याख्या कर सकते हैं। इस कञ्चुकसे आत्मा की स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी। प्रशासकता समाप्त हो गयी और प्रशासनीय हो गया। नियन्त्रित हो गया।

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'

इस आत्माके प्रशासनमें सूर्यचन्द्रादि समस्त जगत् विधृत होकर रहता है। प्रशासित होनेपर फिर प्रशासिता बननेकी इच्छा होती है। प्रथम बहू होकर घरमें आयी तो प्रशासित होकर। सासू शासन करे। ससुर शासन करे। पति शासन करे। प्रशासितृत्व दबा रहा। बाहर निकलनेकी राह देखने लगा। समय बीता। पूर्वकी बहू अब सासू बन गयी। क्योंकि उसका लड़का आ गया। उसकी शादी हो गयी। अब उसका प्रशासितृत्व प्रकट हो गया। श्वश्रूवधून्याय प्रसिद्ध हो गया। बड़ा छोटेपर प्रशासन करता है। किन्तु यह प्रशासकता अपनेमें थी। नियतिने उसे घेर लिया और शासित बनाया। अब प्रार्थना होने लगी कि मैं शासक बनूं। इसीको लेकर पूर्वमें कहा— "महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि"। 'अस भुवि'। 'भूमें' प्र जोड़नेपर प्रभु प्रशास्ता अर्थ होता है। प्रभुर्भव इस अर्थमें' "एधि" का प्रयोग है। इसप्रकार प्रायः सभी कोशोंके अध्याससे विषयोंकी उत्पत्ति हुई। यही अविद्या है।

या च विद्येति ज्ञाता। अविद्याके विपरीत विद्या है। इस श्रेयोमार्गमें प्रथम परोक्षज्ञान, संशयनिवृत्ति, अपरोक्षज्ञान, परिच्छेदनिवृत्ति और स्व-प्रकाश ब्रह्मरूपसे स्थिति ये पांच पर्व हैं। श्रवणसे परोक्षज्ञान। मननसे संशयनिवृत्ति। निदिध्यासनसे अपरोक्ष आनन्दका अनुभव। तब द्वैतसंसारकी निवृत्तिपूर्वक परिच्छेदनिवृत्ति और तब स्वरूपस्थिति होती है। ये पांच पर्व पांच कंचुकोंकी निवृत्तिके साथ होते हैं। अतएव ये दोनों अत्यन्त विपरीत हैं। स्वरूपतः ये दोनों परस्पर विपरीत हैं। काल के भय से विपरीत यहां अभय है। अभयं वै जनक प्राप्तोसि। ऐसा ब्रह्मविद्याप्राप्त जनक को याज्ञवल्क्य ने कहा। ब्रह्मसाक्षात्कार होने से जिज्ञासानिवृत्ति होती है अल्पज्ञतारूपी विद्या समाप्त होती है। परमानन्द की अनुभूति होने से

रागविपरीत निरंकुश तृप्ति होती है। मैं छोटा हूँ तुच्छ हूं इत्यादि कलाभावना के विपरीत व्यापक अखण्डभाव आता है। सर्वजगत् के अधिष्ठान के रूप में अपने को देखने से मैं नियन्त्रित हूं, मेरी इतने पर हुकूमत चलती है इत्यादि नियन्त्रितत्व एवं अल्पनियन्तृत्व के विपरीत सर्वाधिष्ठातृत्व आ जाता है। इस प्रकार अविद्या एवं विद्या स्वरूपतः परस्पर विपरीत है। योगशास्त्रादि के अनुसार पञ्चपर्वा अविद्या में प्रथम मोहात्मक अविद्या है। अनित्य को नित्य देखना अशुचि को शुचि समझना इत्यादि। शरीरादि में आत्माध्यास से अनित्य असत् शरीरादि को सत् समझने लगे तथा पवित्र समझने लगे। दुःख संसारमें आनन्दात्माध्यास से सुख का मोह हुआ। शरीरादि को अहंरूप में देखने लगे। विद्या में तिलतण्डुलवत् नित्यानित्य विवेक हो जाता है। शरीरादि को अशुचि रूपमें तथा दुःखरूपमें देखने लगते हैं तथा अनात्मा जड़ समझने लगते हैं। यही दूर विपरीतता है।

विषूची। नाना गति है। नाना फल है। अविद्याका परिणाम बन्धनप्राप्ति है। विद्याका परिणाम बन्धननिवृत्ति है। मोक्ष है। अविद्या का फल है घोर संसारदावानलदाह और विद्याका फल है परमानन्दशान्ति प्राप्ति।

विद्याभिप्सीनं नचिकेतसं मन्ये। "येयं प्रेते" इत्यादि प्रथम प्रश्नमें कुतूहलता मात्र भी अर्थ निकाला जासकता है। किन्तु सच्चे विद्यार्थी हो यह बात इन विषयोंके त्यागसे स्पष्ट होती है। साधारणरूपसे वैराग्य तब तक ठहरता देखा जाता है जब तक विषय उपस्थित नहीं होते। डायबिटीसवाले मीठेसे परहेजकर वैराग्य करते हैं। लेकिन बढ़िया मिठाई सामने आती है तो 'जरा सा खा लेते हैं' कहकर बहुत सारा खा जाते हैं।

न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त। यह तो एक दो काम क्या "शतायुषः" से लेकर हजारों काम्योंको प्रत्यक्ष उपस्थित किया था। फिर भी नचिकेता लोलुप नहीं हुए। विचलित नहीं हुए।।

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

अविद्याके अंदर डूबे हुए और स्वयंको धीर और पण्डित माननेवाले मूढ नाना क्लेशों को पाते हुए जन्ममरणात्मक संसारभ्रमण करते हैं। जैसे अन्धेके नेतृत्वमें चलनेवाले दूसरे अन्धे भटकते रह जाते हैं ॥ ५ ॥

'येयं प्रेते' इत्यादिसे परमार्थतत्त्वकी जिज्ञासा नचिकेताने की। यमराजने 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्' इत्यादिसे सांसारिक विषयोंको प्रस्तुत किया। प्रथमका नाम श्रेय दिया। द्वितीयका नाम प्रेय दिया। फिर इन्हीं दो को बादमें विद्या और अविद्या शब्दसे बताया। अतः यहां अविद्या शब्दसे 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्' इत्यादि मन्त्रोंसे यमराजके द्वारा प्रस्तुत सभी प्रेय ग्राह्य हैं और विद्या शब्दसे परमार्थतत्त्वसम्बन्धी सभी ग्राह्य हैं। इनमें श्रेयरूपी विद्या का आश्रयण जो करता है उसके लिये 'साधु भवति'-कल्याण होता है, बताया। दूसरोंको 'मन्द' बताया। इतनेसे स्पष्टीकरण नहीं हुआ। अतः अब यमराज लिहाज रखे विना कठोर शब्दमें स्पष्टीकरण करने जा रहे हैं। प्रेयः समर्थकोंकी कड़े शब्दोंमें टिप्पणी करते हैं। 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'। 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे-पदे' (अंधे के पीछे लगे हुए (चलते हुए अंधेके समान पग पग पर ठोकर खाते हैं) इस उक्तिकी चरितार्थता यहां स्पष्ट की जा रही है।

'शतायुषः पुत्रपौत्रान्' इत्यादि प्रसङ्गमें प्रेयके रूपमें तीन विषय आते हैं। एक ऐहिक विषय है जो 'शतायुषः' इसी मन्त्रमें है। दूसरा स्वर्ग लोकविषय है। वह 'ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके' इत्यादिमन्त्रोक्त है। तीसरा देवलोक विषय 'एतत्सदृश यदि मन्यसे वरं' इत्यादिमें संगृहीत है। इनमें फंसे हुए सबकी आंखें खोलते हुए ऐसे गुरुचेलोंको भी 'अन्धेनैव' दृष्टान्तसे आड़े ले लिया है।

एक जगह मैं पहुंचा तो वहां बड़ा उत्सव हो रहा था। अबीर-गुलाल उड़ाये जा रहे थे। माताओं की संख्या अधिक थी। वे नृत्य कर रही थीं। गीत गा रही थीं। मैंने सोचा इस समय न जन्माष्टमी है, न रामनवमी है और न शिवरात्रि या नवरात्र। कोई भागवतसप्ताहका मण्डप भी नहीं दीख रहा। मैंने एक आदमीसे पूछा—किस बातका उत्सव है? उसने कहा गुरुजीके घर लाल आया। मैं समझा नहीं। पुनः पूछा तो बताया गुरुजीको पुत्ररत्न प्राप्त हुआ है। मैंने समझ लिया कि यह कोई विरक्त गुरुकी बात नहीं है। दूसरेकी है। मैंने कहा गुरुजीको पुत्ररत्न प्राप्त हुआ तो गुरुजी

खुशी मनावें तुम क्यों मनाते हो? बोले-गुरुजीकी खुशी हमारी खुशी। मुझे उस समय यही मन्त्र याद आया-"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"। यमराजाने नचिकेताको कहा-"शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व।" और उसके शिष्योंके लिये ही दृष्टान्त है—"नीयमाना यथान्धाः"। वहां तो मैंने कुछ कहा नहीं। आगे पूछा—लेकिन तुमको इससे लाभ क्या है? गुरुको पुत्र हो, न हो, भगवानको लेकर गुरुशिष्यसम्बन्ध होता है। वे बोलने लगे कि गुरुका तेज उसके पुत्रमें उतर आता है। मैंने कहा—नारायणसे ब्रह्मा पैदा हुआ तो नारायणका तेज ब्रह्मा में उतर आया। ब्रह्मासे मरीचि आदि ऋषि पैदा हुए तो वही तेज उनमें उतर आया। उन ऋषियोंसे हम आप सब पैदा हुए तो हम, आप सबमें वह तेज क्यों नहीं उतर आया? यदि उतर आया है तो हम अपने जन्मके लिये और सबके जन्मके लिये खुशी क्यों न मनावें? गुरुजीके तेज का अर्थ उनका रक्त, शक्ति आदि हो तो उसमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु अध्यात्मज्ञान कोई कहींसे उतर आता नहीं। वह तो स्वपुरुषार्थसे संपाद्य है। वह भी "अनेकजन्मसंसिद्धः" के अनुसार अनेक जन्मकी तपस्या एवं साधनाका फल है। जन्मसे पिताका आकार, रूप, रंग, मेधाशक्ति आदि सब उतर आते हैं। किन्तु योग, ज्ञान, ब्रह्मविद्या अपने पूर्वजन्मीय साधनाका ही फल है। वाजश्रवस और नचिकेता इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। फिर नचिकेताने ही अपने तेज को उतारनेके लिये पुत्रपौत्रवरण क्यों नहीं किया? पिताने वरण किया है वैसे उनका पुत्र भी प्रेयका वरण करेगा इतना यदि तात्पर्य है तो खास आपत्ति नहीं है। क्योंकि प्रेयोवरण प्रकृतितः प्राप्त है। जल नीचेकी ओर बहता है यह उसका स्वभाव है। रेशमी वस्त्र, हीरेका कुण्डल, सोनेकी चेन आदि पहनकर ठाठबाटसे गुरु आते हैं तो चेले लोग भी समझते हैं ये बड़े गुरु हैं, महान् हैं। पंरतु यह सब "हस्तिहिरण्यमश्वान्" "सृङ्कां चेमां" का ही दृष्टान्त होकर, प्रेय बनकर उसके महत्त्वको मानने वाले "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" का उदाहरण नहीं है तो क्या है? हमलोग बोलते समय इन बातोंके लिये भले संकोच करें, डरें, पर यमराज किससे डरेंगे, किससे संकोच करेंगे? उनसे सारी दुनिया भयभीत है। अतएव मन्त्रमें स्पष्ट उक्ति है-"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"। यह ऐहिक प्रेयरूपी अविद्याका उदाहरण है।

दूसरा प्रेय परलोक प्रेय है। यह मीमांसकोंकी स्थिति है। मीमांसक-लोग मानते हैं 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत।' स्वर्गकी कामना रखने-वाला ज्योतिष्टम याग करे। पुराणोंमें फिर स्वर्गका वर्णन किया। वहां अप्सरायें होती है, वहां गन्धर्व नृत्य करते हैं इत्यादि। कामधेनु, कल्पवृक्ष जैसे कुछ ऐसे तत्त्वोंका भी वर्णन किया है जो लोभमें डाले। गीतामें भी आया—

"त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥"

त्रैविद्यका अर्थ है—कर्मकाण्डी। वे सोमपानकर अर्थात् सोमयागादि संपन्न कर पापमुक्त होते हैं। अनेकविध यज्ञोंसे स्वर्गफल की प्रार्थना करते हैं। केवल प्रार्थना ही नहीं, उनको पुण्य देवलोकादि प्राप्त भी होता है और दिव्य भोगोंको भोगते भी हैं। यह सब शास्त्रोक्त है। सही है। किन्तु प्रेयके ही अन्तर्गत है। उसीको तो यमराजने कहा—"ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके", "इमा रामाः" "न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः" इत्यादि।

शास्त्रीय कर्म करनेवाले इनमें क्या दोष? दोष यही कि उनमें अभिमान विशेषरूपसे रहता है। मीमांसक कर्मके पीछे ऐसे डूब गये कि ईश्वरको ही भूल गये। जो भी कुछ फल मिलता है, कर्मके अनुसार ही तो मिलता है। उनका कहना है कि इसमें ईश्वरको लानेकी क्या जरूरत है? शुभ कर्मका फल मिलता है। शुभजन्म, संपत्ति, पुत्रपौत्रादि सुख मिलते हैं। दुष्कर्मसे नीच जन्म, दुःख, क्लेश आदि मिलते हैं। और यह नियम है, ईश्वर बीचमें आवे या न आवे, "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" फल भोगे बिना कर्मनाश नहीं होता। कर्माधिकार केवल मनुष्यको है। पशुपक्षी आदिको पुण्यपाप नहीं लगते। मनुष्यने किसीको पीटा मारा तो उसे पाप लगेगा। कुत्तेने किसी को काटा तो क्या उसको पाप लगेगा? नहीं लगेगा। एक मनुष्यजन्ममें किये हुए पुण्यपाप का फल है चौरासी लाख योनियां। सौ वर्ष आयुष्य मनुष्यकी है तो छत्तीस हजार दिन होते हैं। उसमें चौरासीलाख योनियोंके लिये कर्म करते हैं इसका अर्थ है एक दिनमें दो ढाईसौ जन्मकी तैयारी कर रहे हैं। हम चलते फिरते हैं, देखते हैं, सुनते हैं, सबके साथ पुण्यपाप लगे हुए हैं। क्योंकि केवल जन्ममात्र कर्मफल

नहीं, उसमें जितने सुख, दुःख, संयोग, वियोगादि हैं वे सब भी तो कर्मके ही फल हैं। अतः क्षण-क्षणमें हमारे कर्म बनते रहते हैं। उन्हीं कर्मोंको सुधारो। पापोंसे बचो। पुण्यकर्मोंमें लगो। यही कर्मसिद्धान्त है। ईश्वरको वे नहीं मानते ऐसी बात नहीं। कुमारिल भट्टने स्वयं श्लोकवार्तिकमें भगवान् शंकरकीं स्तुति की—

"विशुद्धज्ञानदेहाय । त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥"

ज्ञान ही भगवानका शरीर है। तीन वेद ही तीन नेत्र हैं। अर्धचन्द्रमाधारी श्रेयः प्रदायी भगवानको हम प्रणाम करते हैं। इतना भगवानको माना। किन्तु भरोसा उन्होंने कर्म पर ही रखा। सबको रखना ही पड़ता है। नहीं तो भगवान् भरोसे तो भगवान् भरोसे ही है। भगवान् भरोसे का अर्थ ही अनिश्चितता मानते हैं। अनाथ होकर कार्य हो रहा हो तो भगवानभरोसे कहते हैं। मीमांसक कहते हैं कि इस अनिश्चिततामें मत पड़े रहो। कर्म करो। इस प्रकार वे अभिमानी भी हो गये। श्रीमद्भागवतमें यज्ञपत्नियोंका प्रसङ्ग आता है। ग्रीष्ममें सब बालकोंको भूखप्यास लगी थी। श्रीकृष्णसे कहने लगे थे भोजन पानीकी व्यवस्था करो। भगवाननें कहा देखो, वह दूर जो धुंआ निकल रहा है वहां यज्ञ हो रहा है। वहां जाकर अन्न मांग लो। बालक दौड़ते-दौड़ते वहां गये। ब्राह्मणोंसे कहा भगवान् आये हैं, भूखे हैं। ब्राह्मणोंने उनको वहांसे भगाया। हमें अपने कर्मसे मतलब है, भगवानसे क्या लेना देना? और क्या मालूम यह कौन भगवान् आया है? ग्वाले लोग हैं। खाली हाथ वे लौटे तो भगवानने यज्ञपत्नियोंके पास भेजा। उन्होंने भगवानकी बड़ी सेवा की। क्योंकि वे कर्माभिमानी नहीं थी। बादमें ब्राह्मणोंको सद्बुद्धि आयी यह अलग बात है।

तीसरा प्रेय देवलोक है जो उपासनासे प्राप्य है। कर्मकी अपेक्षा उपासना गुरुतर है। इसमें कुछ नम्रता आती है। इसमें ईश्वरकी सत्ता तो है ही। उसके सामने अपनी सत्ता न्योछावर कर देते हैं जिसको शरणागति कहते हैं। अकिंचन त्वां शरणं प्रपद्ये, मैं सेवक तुम स्वामी इत्यादि उदात्त भावना इसमें रहती है। किन्तु उसमें भी हृदय साफ नहीं होता। अभिमान निकलता नहीं। शैव वैष्णवोंकी बात प्रसिद्ध है। विलेपारलेमें लक्ष्मी-

नारायणका, कृष्णका एवं शंकरका, देवीका मंदिर है। बहुतसे वैष्णव लोग वहां जाते ही नहीं है क्योंकि शैवोंका कृष्ण है वहां। कुछ लोग जाते हैं तो लक्ष्मीनारायण और कृष्ण बोलते हैं क्योंकि भागवतमें लिखा है–वैष्णवानां यथा शम्भुः। वैष्णवोंमें शंकर अग्रगण्य हैं। इसप्रकार हम भी वैष्णव, शंकर भी वैष्णव। तब वैष्णव-वैष्णव मिले तो जयश्रीकृष्ण बोलना ही चाहिये। अर्थात् शंकरके हम बराबर हैं। यह सब मिथ्याज्ञान एवं तत्प्रयुक्त अभिमानका फल है। एक ही परमेश्वर कार्यभेदसे नानारूपसे अवस्थित है। इस बातको ये नहीं समझते। यही स्थिति कट्टर शैवोंमें भी है। उडप्पी आदि स्थानोंमें शैवोंका बोलबाला है। ये सभी भिन्नदृकूट हैं। भेदबुद्धिवाले हैं। इनको भी प्रेय ही मिलता है। ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, कैलासलोक ये सब प्रायः बराबर ही हैं। नीलकण्ठाचार्य इन सबको एक ही मानते हैं। भक्तिभेदसे भिन्नतया मानते हैं। जैसे परमेश्वर एक होनेपर भी भक्तिभेदसे शिव, विष्णु आदि पृथक् प्रतीत होते हैं वैसे लोक एक होनेपर भी भक्तिभेदसे नानारूप प्रतीत होते हैं। "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः" यह स्वीकार किया ही है। सब जगहोंसे पुनरावृत्ति होती है। विष्णुलोक, वैकुण्ठके पार्षद जय और विजयका पतन हुआ-पुनरावृत्ति हुई। कहेंगे सनकादिके श्रापसे। भले। किन्तु शापमें कारण क्या था? भेददृष्टि, अभिमान। सनकादि ऋषि क्या कह रहे थे–

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-
वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं
व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य॥

समस्त जगत् को पेट में धारण करने वाले भगवान् में जगत् से कोई भेद नहीं है। महाकाश में घटाकाश के समान ज्ञानी आत्माको परमात्मा में अभिन्नरूपसे देखते हैं। "देववेषधारी" तुम दोनों उस परमात्मा में कौन-सा भेद निरूपित करते हो। जिस भेदसे भगवान् को उदरभेदनकारी भय हो, जिस भय से तुम हमको रोक रहे हो। भगवान् में भेददृष्टि नहीं, तुम पार्षद भेद का आरोप करते हो। यह अर्थ यहां निकलता है। इसी प्रकार शिवपार्षदोंका पतन तत्र तत्र बताया है। किसी कल्पमें जय-विजय रावण

कुम्भकर्ण बने तो किसी कल्पमें श्रृङ्गी-भृङ्गी दो गण बनते हैं। गोलोक-वासिनियां तो गोपी बनकर आती ही हैं। यमराजने 'एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण' इत्यादिसे इन लोकोंके विषयोंकी ओर भी इशारा किया था। इन विषयोंकी अभिलाषा रखनेवालोंको ही यहांपर कहा—'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः'। ये अविद्यामें ही पड़े हैं। अंदर डूबे हैं।

स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। 'स्वयं धीराः' यह एक समस्त पद है। 'पण्डितं मन्यमानाः' यह दूसरा पद है। दूसरे लोग धीर अर्थात् प्रज्ञावान् बुद्धिमान् माने या न माने, कहे या न कहे, स्वयं अपने आपको धीर मानते हैं। ऐसोंको स्वयन्धीर कहते हैं। जैसे स्वयंभू राष्ट्रपति, स्वयंभू जनरल आदि होते हैं खालिस्तान आदिके, वैसे ये स्वयंभू धीर हैं। दूसरा अर्थ है-स्वयं धीयमीरयन्ति न तु श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठगुरोः। अर्थात् पुस्तक पढ़पढ़ कर या स्वयमेव सोचकर जो ज्ञानी बने, गुरुसे विद्या प्राप्त नहीं की इनको भाषामें मनमुखी पण्डित बोलते हैं। 'पण्डितं मन्यमानाः' में विग्रहमें ही आत्मानं या स्वयं आ जाता है। 'पण्डितंमन्य' इतना ही व्याकरणानुसार शब्द है। 'मन्यमान' इतनातक छान्दस होनेसे हुआ। पण्डितंमन्यानां मानो येषां ते-पण्डितंमन्यों का(अपनेको झूठा ही पंडित माननेवालोंका) मान जिसमें हो, ऐसा विग्रह माननेपर कोई बात नहीं है। शतायुपुत्रपौत्रादि सम्पन्न हो तो क्या कहना, इसके विना भी हस्ति, हिरण्य, अश्व, भूपतित्वादि हो तो वह अपने आपको महाप्रज्ञासम्पन्न ही मानता है। उनको जरासा इधर-उधर करनेवाला मिल जाय तो फिर क्या कहना? एकने मुझसे पूछा—कौसल्याकी मांका नाम क्या है महाराज? मैंने कहा—महिषी। उसने कहा—यह आप झूठ बोलते हैं। मैंने कहा—तो तुम ही कहो। कहां लिखा है महिषी नाम नहीं है। उसने कईयोंको हराया था। मैंने पूछा अब तुम कहो कि तुम्हारी परदादी की मांका नाम क्या था? उत्तर—मालूम नहीं। प्रश्न—क्यों नहीं? उत्तर—काम नहीं पड़ता। प्रश्न—तब विना काम, विना मतलब प्रश्न क्यों पूछते हो? उत्तर—इसलिये कि अपनेको पण्डित दिखाना चाहते हैं। असांप्रदायिक ज्ञान खतरनाक होता है। धनिक सेठ कोई गरीब ब्राह्मण साधु दीखे तो मूर्ख समझते हैं। अगर बुद्धि होती तो ये भी कमाते। किन्तु भगवान् कृष्णने अस्थिपिंजरमात्ररूप महादरिद्र

सुदामाको देखा तो दौड़कर उनके पास गये और गले लगाया। यही कहने लगे कि हम गृहादि झंझटमें पड़ जानेसे यों ही रह गये। धनादि तो भाग्यसे प्राप्त होता है। उसके लिये कोई भारी बुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। अनुभव चाहिये यह बात अलग है। वह तो सभी कार्यके लिये चाहिये। प्रज्ञा इससे अलग है। इसीप्रकार बड़े-बड़े कर्मकांडी दूसरोंको अज्ञानी समझते हैं। काशीमें बहुत सारे पंडित हैं। वे परस्पर यही कहते हैं, वह कुछ नहीं जानता, मूर्ख है। एक वैष्णवके घरमें किसी कामसे जाना पड़ा था। उसने सत्कारके लिये केला काटकर सामने रखा। मैंने उसमेंसे दो टुकड़े लिये। उसने कहा—आप पूरा लीजिये। यह अब हमारे कामका नहीं है। क्यों? संन्यासी आपने इसका स्पर्श किया। मैंने कहा वल्लभाचार्यने अन्तमें संन्यास लिया था तो उनके वंशज भी फिर भ्रष्ट हुए होंगे। इसीको "पण्डितं मन्यमाना" कहते हैं। यह प्रायः सबकी बात है।

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

जरा-जरा इधर-उधरसे सीख लेते हैं। तो मनुष्य अपनेको सर्वज्ञ समझने लगता है। हाथीके समान मदोन्मत्त हो जाता है। किन्तु सन्तोंके चरणोंमें बैठकर थोड़ा-थोड़ा सीखा तो मालूम पड़ा पहला तो खाली ज्वर था, मदका बुखार था। मैं तो मूर्ख था और अब भी हूं। गरमी उतर गयी। ज्ञान सूर्य तो बहुत दूर है यह समझमें आगया और मद निकल गया।

दन्द्रम्यमाणाः। द्रमका गति अर्थ है। "नित्यं कौटिल्ये गतौ" इस पाणिनीय सूत्रानुसार कुटिल गतिवालेको दन्द्रम्यमाण कहते हैं। जरा, मरण, रोग, आधि, व्याधि आदि दुर्गति ही कुटिल गति है। मुण्डकमें "जङ्घन्य- माना" बताया है। मन्त्र ऐसा ही वहां है। "जङ्घन्यमानाः" का अर्थ है हजारों ठोकरें खाते रहनेवाले। यद्यपि आधि-व्याधि जराप्रभृति सबके होते हैं। चाहे वह श्रेयोमार्गी हो चाहे प्रेयोमार्गी। फरक इतना ही है कि जङ्घनन अज्ञानियोंका अनन्त है। ज्ञानियोंका यहीं तक सीमित है। यहां पर भी अज्ञानी थोड़े-थोड़े क्लेशके लिये बहुत घबराता है और जितना ज्यादा घबराता है उतना

अधिक जंघनन करते हैं। श्वानका स्वभाव है कि वह आदमीको देखकर भोंकता है। किन्तु गंभीर होकर चलेंगे तो वह शान्त होगा। कहीं घबराकर भागने लगे तो पीछे दौड़कर वह काट ही डालेगा। रोगादि दुःख भी ऐसे ही हैं। जो नहीं घबराते उनको कम तंग करेंगे। किन्तु घबरानेवालोंको अधिक सतायेंगे।

परियन्ति। यहांपर परिगमन-परिभ्रमणसे जन्ममरणरूपी अनन्त परिभ्रमण बताया जा रहा है। "पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्" इतना ही अगर हो तो बात है। "दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति।" पशु, पक्षी, कीटादि कुत्सित योनियोंमें भ्रमण करते हैं। इसीको कष्ट संसारगति कहते हैं। इससें छुटकारा प्रेयोमार्गियोंका कभी नहीं होता।

मूढाः अपनेको वे धीर कहें, पण्डित कहें, पर वे हैं मूढ ही। एक व्यक्ति ने दूसरेको ठगकर लाख रूपया हथियाया। मुकदमेमें उसको हराया। उसीको डांट दिलवायी। यह सब करते समय वह व्यक्ति अपनेको क्या समझता है? मूढ कि बुद्धिमान्? अपनेको अति होशियार, देशकालवित् कानूनवित्, सबकुछ समझता है। किन्तु क्या वह होशियार है? बुद्धिमान् है? यहां पर भले वह सबकी आंखोंपर धूल डाले किन्तु कियेका फल उसको निश्चित मिलेगा। इतनी जानकारी न होने से वह मूढ ही है। इसी प्रकार प्रेयमें पड़े हुए लोग पुत्र, पौत्र, धन, धान्य, समृद्धि की प्राप्ति में सफलता के कारण अपनेको भले धीर पण्डित समझ लें। किन्तु उनको यह नहीं मालूम कि यह रेशम का धागा मुझ रेशमी कीड़ेको ही फंसाकर समाप्त करने वाला है। वह अनन्तकालतक भटकानेवाला है, ठोकर खिलानेवाला है। तो वह किस प्रकार पण्डित? वह मूढ ही है।

अन्धनैव नीयमाना यथान्धाः। एक गोल-गोल चहारदिवारीसे घिरे बगीचेमें एक अंधा आ गया। दो सौ बासठ फुट अर्थात् चौरासी गज विस्तृत दिवार थी। किनारे सड़क थी। बाहर निकलनेके लिये एक ही रास्ता था। उस रास्ते में फूलोंकी खुशबू, मीठे-मीठे फल, ठंढी हवा, पक्षियों की चहक अति सुहावने थे। कभी वह दिवार पकड़-पकड़कर चलता था। कभी लाठीके सहारे। खुशबू जहां शुरु हुई वहीं वह दीवारको छोड़कर लाठी के सहारे खुशबू की ओर बढ़ता, फल खाता, आगे बढ़ता। मतलब

बाहर निकलनेके मार्गसे आगे बढ़ जाता। वैसे वह घूमता ही रहा। चक्कर काटता ही रहा। बाहर नहीं निकल सका। उसके पीछे-पीछे और भी कई अंधे थे। उनकी क्या दशा थी यह कहनेकी जरूरत नहीं। यह अंधन्याय है। बगीचा यह संसार है। दो सौ बासठ फुट चौरासी गज यह चौरासी लाख योनि त्रिगुणात्मक है। मनुष्ययोनि यह बाहर निकलनेका द्वारा है। वहां आते ही शब्दस्पर्शादि प्रेयमें पड़ जाता है और आगे निकलता है तो दरवाजा छूट जाता है। यह मोक्षद्वार है। यह हाथसे निकल गया तो फल क्या होगा यह अगले मन्त्रमें सुनेंगे॥

स्वयं धीराः इस विशेषण के अनुसार 'अन्धाः' इतना ही कहना था। अन्धेनैव नीयमानाः इतना विशेषण कैसे दिया? दृष्टान्त के अनुसार स्वयंधीर नहीं किन्तु मूर्खसे उपदेश प्राप्त होकर धीर एवं पण्डित अपने को समझने वाला ऐसा अर्थ निकलता है। इस शंका का समाधान यह है कि यहां मूढता के साथ कृतघ्नता या नीचता भा दिखाना अभिप्रेत है। गुरुके बिना किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। गवेषकों ने परीक्षण करके भी देखा है कि बच्चे को जंगल जैसे स्थान में छोड़ा जाय तो वह पशुसमान ही रह जाता है। प्रेयोमार्गी को भी जैसा जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ वह दूसरे से ही प्राप्त हुआ। किन्तु कृतघ्न व्यक्ति उस ज्ञानदाता को गौरव न देकर स्वयं धीर अपने आप को मानते हैं। वह ज्ञान दाता स्वयं प्रेयोमार्गी होनेसे अन्धसदृश है ही उससे नीयमान अन्धा भी और कृतघ्न भी यह विशेषता हुई। इस विरुद्ध विशेषण से अर्थात् अन्धेन नीयमान होने पर भी स्वयं धीर अपने को मानने वाले इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि चक्षुवाले से नीयमान होने पर भी स्वयं धीरता का मिथ्या दम्भ न करना चाहिये। तीन सरकार ने सोचा कि मैं स्वयं कर्त्ता धर्त्ता हूं और पांच सरकार को ही कैद में रखने लगा। किन्तु उसका परिणाम पांच सरकार ने उसकी सत्ता को समाप्त किया। फलतः वह अतिसाधारण व्यक्ति हुआ। परमात्मा से सत्ता स्फुरण प्राप्त कर परमात्मा की सत्ता का ही अपलाप करने वालों की भी वही दशा होती है। अध्यात्म में भी–

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

बताया है। गुरु कथन करते हैं। किन्तु गुरुभक्ति न हो तो कथित अर्थका भी प्रकाशन नहीं होगा। अतः स्वयंधीरता और पण्डितमानिता दोनों परित्याज्य है। गुरु गौरव का अदृष्ट भी प्रकाशन में सहकारी है। प्रेयोमार्ग-स्वर्गादिहेतु यज्ञादि कार्य करने वालों को भी गुरु श्रद्धा आवश्यक है। अन्यथा चहार दिवारी के अंदर भी कांटे पर चलना पड़ेगा। चक्करतो है ही। गुरूपदेश बिना किया हुआ यज्ञादि भी व्यर्थ हो जाते हैं। यज्ञप्रयत्न का कष्टमात्र अतिरिक्त होगा।

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

वित्तमोहसे मूढ प्रमादी अज्ञानीको परलोक दीखता नहीं है। यही लोक है जो कुछ है। कोई परलोक नहीं ऐसा माननेवाले वे बार-बार मेरे (मृत्युके) वशमें आते हैं ॥ ६ ॥

मूढ अविद्यारूपी प्रेयके मध्यमें रहते हुए द्रन्द्रमण करते हैं-भटकते रहते हैं ऐसा पूर्वमन्त्रमें बताया। प्रेयमें जैसे-जैसे घुसते हैं वैसे-वैसे उनकी स्थिति भी शोचनीय बनती जाती है। इस बातको अब बताना है।

न सांपरायः प्रतिभाति बालम्। बालका अर्थ है छोटी बुद्धिवाला। उसको सांपराय नहीं दीखता। पराय कहते हैं मरणके बाद प्राप्तव्य स्थानादिको। परेयते परिगम्यत इति परायः। मरणोत्तर प्राप्तव्य चार स्थान हैं—स्वर्गलोक, देवलोक, आत्मलोक और मृत्युलोक। 'सं' उपसर्गका सम्यक् अर्थ परिगमनका विषय संपराय है। इनमें सम्यक् परिगमनके विषय सामान्यतया तीन हैं-देवलोक, स्वर्गलोक और आत्मलोक। और कुत्सित गमनका विषय मृत्युलोक है। विशेष चिन्तन करनेपर सम्यक् परिगमनका विषय एक ही आत्मलोक निकलेगा और बाकी सब कुत्सित गमनविषय ही निकलेगा यह अलग बात है। वह तो अन्तमें विचारणीय विषय है। प्रथम तो सामान्य विचार ही कर्तव्य है। पुराणोंमें इसे सरलरूपसे समझानेके लिये विमानादिकी कल्पना की गई है। स्वर्गादि लोक

जानेवालोंके लिये विमान आता है। उसमें देवदूत विष्णुदूत आदि होते हैं। वे बड़े आदरके साथ उन्हें स्वर्गादि लोक ले जाते हैं। यही सम्यक् परिगमन है और यमलोक जानेवालोंको यमदूत रस्सी बांधकर खींचकर ले जाते हैं यही कुत्सित परिगमन है।

सत्कर्म करने का फल स्वर्गलोक है। उपासना करनेका फल देवलोक है और आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञानका फल आत्मलोक है। सत्कर्म क्या है? नित्य-नैमित्तिक-काम्यादि। सन्ध्यावन्दन, सूर्यार्घ्य आदि सत्कर्म हैं। "देवपितृ-कार्याभ्यां न प्रमदितव्यं" यह श्रुतिका आदेश है। किन्तु प्रमादी कुतार्किक तर्क करते हैं कि क्या यहां से पानी ऊपर फेंका तो सूर्यको मिल जाता है? किसलिये अर्घ्य देना? और मिल भी गया सूर्यको तो उससे उसको क्या लाभ? नौ करोड़ माईल दूर स्थित सूर्यतक अर्घ्यका पहुंचना और आगे गोलेको लाभ होना इत्यादि सभी केवल कल्पनामात्र है। इसी प्रकार हम श्राद्ध करें तो क्या मृतात्माको यह मिलेगा? इन सबका वैज्ञानिक पक्ष हम यहाँ प्रस्तुत नहीं करते। केवल इतना ही कहेंगे कि श्रद्धाके विषयको तर्कसे जोड़ना बहुत भारी भूल है। "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः"-कहीं न कहीं आपकी श्रद्धा जुड़ी है। उसको कोई मिटा नहीं सकता। भगवत्-मूर्तिको नहीं मानते किन्तु राष्ट्रीय झंडा मानते हैं कि नहीं? क्या उसको फाड़कर पैरोंतले कुचलना कोई मानेगा? आखिर वह भी कपड़ेका एक टुकड़ा ही तो है? क्या रूस-चीन वाले इसमें अंधश्रद्धा नहीं रखते? लेनिन, महात्मागांधी आदिकी समाधिपर फूल पुष्पहार नहीं चढ़ाते? क्या वे इस समय समाधिके अदंर जिंदा होकर फूलको ग्रहण करते हैं? श्रद्धाका प्रकारान्तर हुआ। श्रद्धा कहीं नहीं गयी। सत्कर्म करो तो स्वर्गप्राप्ति होगी। उपासना करो तो देवलोककी प्राप्ति होगी। कौनसे देवलोककी प्राप्ति? इष्टदेवके लोककी प्राप्ति। चाहे वह कृष्ण हो, चाहे राम हो, चाहे शंकर या शक्ति हो। देव है। इनकी उपासना करनेसे देवलोककी प्राप्ति है। श्रौतशब्दमें ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। यद्यपि ये दोनों प्रेयके अन्तर्गत हैं तथापि प्रेयरूप परलोकका ही जहां भान नहीं है वहां श्रेयरूपी आत्मलोक का क्या पता लग सकता है। इस कैमुतिकन्यायको सूचित करनेके लिये त्रिलोकसाधारण सांपराय शब्द पूर्वार्धमें और उत्तरार्धमें परलोक शब्द का

प्रयोग किया। दूसरी बात यह है कि सांपराय शब्द का यहां इन लोकों का साधनं अर्थ है। वे कर्म और उपासना यदि कामनाके बिना करे तो अन्तःकरणशुद्धि आदिके द्वारा आत्मज्ञानरूपी तृतीय सांपरायका कारण बनेगा। अतः सर्वसाधारण सांपरायका उपादान किया।

सांपरायका अर्थ है संपरायका साधन। संपरायः प्रयोजनमस्य। नित्यादि कर्म जीवनका अंग बनना चाहिये। फल कामना हो या न हो। प्रातः कुल्ला करना, स्नान करना, वस्त्र पहनना आदि जीवनका अङ्ग है। अनिवार्य है। वैसे सन्ध्या सूर्यार्घ्य आदि जीवनका अङ्ग बनना चाहिये। ध्यान, समाधि जीवनका अङ्ग होना चाहिये। "देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यं" देवकार्य और पितृकार्यसे कभी प्रमाद न करो। ये नित्य भी हैं, काम्य भी हैं। इसके वाद तीसरा लोक आत्मलोक है। उसका भी साधन रोज करना चाहिये। वह साधन क्या? आत्मानात्मविवेक—

"मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योमभूमी न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥"

इस स्तोत्रको बोलकर करो या बिना बोलकर। विवेक करना यह मुख्य है। यह स्वयं न हो सके तो स्वाध्याय एवं प्रवचनसे संपादन करना चाहिये। एतदर्थ ही "स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं" बताया। इन तीन सांपरायके अनादरका परिणाम चतुर्थ पराय है जिसका वर्णन चतुर्थपादमें करेंगे। "पुनः पुनर्वशमापद्यते मे"-बार-बार मुझे यमराजके पास आना पड़ेगा। अतः तीनों करो। तीनों न हो सके तो यथासंभव एक या दो करो जिससे चतुर्थ परायसे तो बचें। परंतु सांपराय तो क्या मूढ को परायसामान्यका भी भान नहीं। क्या वह बचनेका उपाय करेगा।

प्रमाद्यन्तम्। प्रमादका ही फल चतुर्थ पादार्थ है। "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि"। प्रमाद ही एक प्रकार से मृत्यु है।

"आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मुत्तभूतं जगत् ॥"

इस श्लोकमें प्रमादको मदिरा का रूपक दिया है। सूर्योदय हो रहा है। सूर्योस्त हो रहा है। वही दूसरे दिन सूर्योदय, वही सूर्यास्त। चातुर्मास्य परसाल आया, वही इस साल भी आया। लेकिन वही, वही, यह भ्रान्ति है। पहला चातुर्मास्य आया और गया, वह फिर कभी-भी आनेवाला नहीं है। कलका दिन वही आज नहीं है। आजकी तारीख आज बीतनेके बाद कभी-भी नहीं आयेगी। मास बदलेगा, साल बदलेगा, युग बदलेगा, कल्प बदलेगा। जो गया वह वापिस नहीं आता.। एक-एक दिन क्या बीत रहा है हमारा जीवन काट-काटकर कोई ले जा रहा है। किन्तु अनेकविध व्यापार धंघोंका बोझ माथेपर इस प्रकार आ गया है कि उसके तले बुद्धि दब गयी। ज्ञानशक्ति दब गयी। कालका पता नहीं चलता। प्रतिदिन हम देख रहे हैं कोई जनम रहा है, कोई मर रहा है। फलां घरमें बालक आया-सुना। आया होगा, खुशीकी बात। फलां आदमी मर गया। मर गया होगा, खेद की बात। हम अपने आपको समझते हैं कि यह सब सुनने देखनेवाला मैं स्थिर हूं। किन्तु अपने लिये भी दूसरे ने सुना होगा, यह लड़का पैदा हुआ, यह लड़की पैदा हुई। दूसरोंने भी कहा होगा खुशीकी बात। और जब चल बसेंगे तब दूसरे बोलेंगे-चले गये होंगे, अफसोस! वह अपनेको स्थायी समझता है। सब अपने-अपने उदर परिपूरणमें लगे हैं। अपने-अपने योगक्षेम में लगे हैं। फिर भी अपने स्वयं का भी पता नहीं रखते।

"भेको धावति तं च धावति फणी सर्पं शिखी धावति
व्याघ्रो धावति केकिनं विधिवशाद् व्याधोऽपि तं धावति।
स्व-स्वाहारविहारसेवनविधौ सर्वोऽप्यहो व्याकुलाः
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो वीक्ष्यते ॥"

भेक मेंढकको कहते हैं। वह मक्खी के कीड़ेके पीछे दौड़ रहा है खानेके के लिये। मेंढकके पीछे सांप दौड़ रहा है पकड़के खानेके लिये। सांपको दूरसे मोरने देखा। मोर उसे पकड़ने दौर रहा है। मोरको दूरसे बाघने देखा वह दौड़ रहा है उसे पकड़ने। वृक्षके ऊपर व्याध बैठा है। वह बाघकी गति देखते हुए बैठा है। मौका मिलते ही बाण मारनेके लिये। लेकिन उस व्याधके पीछे भी तो काल लगा है-महाकाल। किन्तु पीछेकी ओर कोई

नहीं देख रहा है। सबके पीछे काल लगा है। कीड़ेका काल मेंढक है। मेंढक का काल सर्प है। सर्पका काल मोर है। मोरका काल बाघ है। बाघका काल व्याध है। व्याधका काल महाकाल है। पीछेसे चोटी पकड़कर काल खड़ा है तलवार चलाने। किन्तु कोई इसे नहीं देखता। दूसरों की जन्ममृत्यु देखते हैं। अपनी नहीं। इसीको प्रमाद कहते हैं।

श्रुतियोंमें आठप्रकारके प्रमादसे बचनेका आदेश दिया है।

'सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यम्
कुशलान्न प्रमदितव्यं भूत्यै न प्रमदितव्यम्
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्
देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितंव्यम् ॥'

सत्य से प्रमाद न करो। धर्मसे प्रमाद न करो। इन दोनोंका सम्बन्ध देवपितृकार्य में है। देवकार्य उपासना है। पितृकार्य नित्यनैमित्तिक यज्ञादि कर्म हैं। पितृशब्द स्वर्गोपलक्षक है। पितृलोक स्वर्गलोक दोनों एक ही हैं। उपासनामें सच्चाईकी प्रधानता है। स्वर्गसाधनामें धर्मकी प्रधानता है। कुशलसे अर्थात् आत्मकल्याणकार्यसे प्रमाद न करो और भूतिसत्ता 'अस्तीत्येके' इससे प्रमाद न करो। इन दोनों का सम्बन्ध मुख्यरूपसे स्वाध्याय प्रवचनसे है। आत्मकल्याण आत्मज्ञानसे ही होता है। और भूति-भूसत्तायां, आत्मस्तित्व भी आत्मज्ञानसे ही होता है। आत्मज्ञान न होनेपर विद्यमान भी आत्मा अविद्यमानवत् होता है। क्योंकि वह 'स्व' का अध्याय अध्ययन है। और प्रवचन दूसरे-गुरुओं से सुनो तो अनेक ग्रन्थिभेदन होते हैं और आत्मास्तित्व प्रत्यक्ष भासित होगा। स्वयं करो प्रवचन तो भी प्रवचनमें अनेक नूतन तत्त्वोंका प्रतिभास होगा।

वित्तमोहेन मूढम्। सांपराय के अप्रतिभानमें कारण प्रमाद है। प्रमादमें मुख्यकारण वित्तमोह और वित्तमोह प्रयुक्त मूढता है। वित्तकी प्राप्तिमें लोभ और वित्त प्राप्त होनेपर अंहकार-गर्व रहता है। दोनों ही प्रमादके कारण हैं। वित्तका लोभ होनेसे बहुतसे लोग सत्यको छोड़ देते हैं। अधिकतर झूठ लोभके कारण ही होता है। धन, गृह, उपकरण आदि सभी का लोभ होता है। और कभी-कभी भयादिसे भी होता है। परंतु स्वतंत्ररूपसे वह नगण्य है। इसी प्रकार अधर्म भी लोभ से अधिकतर

होता है। कहावत प्रसिद्ध है–पापका बाप लोभ है। और जब लोभ सवार होता है तो आत्मकल्याण, आत्म सत्ता आदि किनारे रह जाते हैं। इसी धनादिमें वे अपना अस्तित्व और कल्याण समझते हैं। उस अस्तित्वका और उस कल्याण का पर्याय जो भी हो वित्तवाले यही कहते हैं कि पैसा नहीं तो उसका क्या दुनियामें अस्तित्व है? जो अपना पेट नहीं भर सकता वह अपना या पराया क्या कल्याण करेगा? यह वित्तके पूर्वरूप लोभका परिणाम प्रमाद है। वित्तके उत्तर रूप गर्वसे भी प्रमाद होता है। कोई खेडूत-किसान नहीं कहेगा कि भगवान् नहीं है। बारिशमें विलम्ब होते देखकर वह भगवानको पुकारता है। हे! भगवान् जल्दी बारिश करो। गांव गांवमें मंदिर इसीलिये तो बने जहां लोग प्रार्थना कर शान्ति प्राप्त करें। परंतु धनी एरियामें मंदिरको निरर्थक समझते हैं। पाखण्ड समझते हैं। कई वर्ष पूर्व एक बार बम्बईमें बारिश नियत समयसे लगभग महीने सवा महीने तक नहीं आयी तो हाहाकार मच गया। उस समय धनिकवर्ग भी कुछ घबराये। किन्तु थोड़ा। उन्होंने सोचा समुद्रका पानी मीठा बना लेंगे। भले कुछ खर्चा हो। इसीको वित्तगर्व कहते हैं। उससे वे सबका तिरस्कार तो करते ही हैं, भगवानका भी तिरस्कार करते हैं। कई वर्ष पहलेकी बात है। बिकानेरमें एक बड़ा भारी मठ था। करोड़ों रुपयोंकी संपित्त उस समय उसकी थी। वहांके महंत एक बार काशीमें आये। वे लोगोंसे पूछने लगे कि यह लघुकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी आदि पढ़नेसे क्या होता है? मजाकमें कहने लगे पढ़तव्यं तो भी मरतव्यं, न पढ़तव्यं तो भी मरतव्यं, दांत खटाकर किं कर्तव्यं। हमने कहा, मंहतजी आप बड़े महंत हैं, आपको भले इसका उपयोग न हो किन्तु हमको इसका उपयोग है। जीवनका लक्ष्य यदि केवल मरना हो तो पठनका कोई मूल्य नहीं और यदि पैसा ही हो तो भी पठन उपयोगी नहीं है। क्योंकि कौमुदी पढ़े बिना ही सभी सेठ लोग कमाते हैं। हमारा कुछ और भी लक्ष्य है और आप महंत हैं, महान् हैं, आपके मुंहसे ऐसा शब्द शोभा नहीं पाता। समय बीत गया। किसी ऐसे भयंकर आरोमें वे फंस गये कि बिकानेरनरेश। के लिये लोगोंकी शिकायतपर विकल्पान्तर-अन्य विकल्प नहीं रहा। महंतको अपने विशेषाधिकारसे निकालना पड़ा। फिर वे काशीमें आये और लघुकौमुदी

शुरु किया। तब हमको मौका मिला। हमने पूछा-क्यों पंडितजी। 'पढतव्यं तो भी मरतव्यं' भूल गये? शर्मिंदा होनेके सिवाय और कोई रास्ता नहीं था। संन्यास आश्रमका एक कोठारी भी इसी टाईप का था। जिसने बादमें काशीमें आकर तर्कसंग्रह पढ़ना शुरु किया था। इसलिये कि काशीमें विद्यार्थीकि नामसे रोटी मिल सकती थी। परंतु ये दोनों ही अधिक दिन काशी नहीं रह सके। क्योंकि उनको अपने आपसे भी ग्लानि होने लगी थी।

वित्त प्रयुक्त मोह-वैचित्य—वैचित्यका अर्थ है परमार्थविचार की शक्ति न होना। विचितस्य भावो वैचित्यम्। वित्तसे लोभ होनेपर भी विचार नहीं होता। वित्तसे गर्व होनेपर भी विचारशक्ति नहीं रहती। उसका फल है मूढता बेवकूफी। ऐसे मूढ अपने कुतर्कजालसे दूसरे को भी व्यामोहित करते हैं। 'किमीहः किं कायः' इत्यादि सभी कुतर्क इन वित्तमोहवालोंका ही है।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी। सांपराय का अर्थ बताया सम्यक् परिगमन, प्रयोजनका साधन, देवपितृकार्यादि तथा आत्मविचार आदि। वह उनको प्रतिभासित नहीं होता, जँचता नहीं। क्यों? वित्तमोह ही कारण है या कोई और परम मूल है? क्योंकि वित्तरहित भी उद्दण्ड सांपराय कार्य नहीं करते। और वित्तवाले भी बहुत से आस्तिक परलोककार्य करते हैं। अतः उसमें ऐकान्तिक कारण कहते हैं—अयं लोकः। यह लोक है। नास्ति परः। कोई परलोक नहीं है। यह परलोकमात्रका ग्रहण है। परलोक चार हैं। स्वर्गलोक, देवलोक, आत्मलोक और मृत्युलोक। जिसको यमलोक भी कहते हैं। यमलोक कई वर्षोंतक अर्थात् लाखों वर्षोंतक रहनेका स्थान नहीं वहां से फिर नाना योनियोंमें भेजकर बार-बार मृत्यु करायी जाती है। इसलिये उसका नाम मृत्यु है। चतुर्थपादमें इसका स्पष्टीकरण है। नरकलोक भी मृत्युके अन्तर्गत है। जहां हमेशा मरणक्लेश रहता है। मरणमें जैसा क्लेश होता है, वैसा क्लेश वहां रहता है। उदाहरणार्थ-तप्त तेल के कुण्डमें पतन। तप्त तेलमें गिरनेसे निश्चित मरण है। वह क्लेश वहां होगा। गृध्रादिलुञ्चन। उससे मृत्यु होती है। वह क्लेश वहां होता है। इत्यादि।

नास्तिकोंका कहना है कि कोई स्वर्गनरकलोक नहीं है। राकेटमें घूमकर वैज्ञानिकोंने देखा। किन्तु कहीं भी कोई स्वर्गनरक नहीं मिला। किन्तु उनको यह मालूम नहीं है कि ये सब लोक राकेटमें देखने के नहीं हैं। सोनेके बाद स्वप्नलोक दिखाई पड़ता है। क्या राकेटसे उसे देख सकते हैं? मरणोत्तर सूक्ष्म वैसा लोक दिखाई पड़ता है। उन्हें अतीन्द्रिय बताया है। ईश्वरपर विश्वास रखनेवाले भी बहुतसे लोग स्वर्गनरकपर विश्वास नहीं रखते। उसका कारण पुराणोंमें ऐसा वर्णन मिलता है जैसे हम आपको दीखता है वैसे स्वर्गादि दीखता है। वस्तुतः ये सब कर्मवासना-निर्मित हैं। स्थूलदृष्टिग्राह्य नहीं है। परलोकसे यहां आत्मलोक भी विवक्षित है। पर शब्दका श्रेष्ठ अर्थ भी होता है। परमात्माको परात्माभी कहते हैं। परमप्रेमास्पदको परप्रेमास्पद भी कहते हैं। अतः इन चारों लोकोंको पर शब्दसे कहा। अथवा इह लोकमें इह शब्द जो है उसका प्रतियोगी पर शब्द है। परलोक अर्थात् अतीन्द्रियलोक। आत्मा भी अतीन्द्रिय है।

"तमक्षरं ब्रह्मपरं परेशमव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूरमन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥"

इस प्रकार उसका स्पष्टीकरण हैं।

चार्वाकोंका ही यह सिद्धान्त है। दूसरे लोग तो अपनी स्वच्छन्दताके कारण इस बातको स्वीकार करते हैं।

पुनः पुनर्वशमाद्यते मे। जो सांपरायसाधन नहीं करते वे जिस किसी कारणसे हो परिणामतः पुनः पुनर्वशमापद्यते मे। क्या सांपरायसाधन करनेवाले नहीं मरते? मरते अवश्य हैं। किन्तु उपासक आदि यमके पराधीन नहीं होते। यमकी पराधीनताका अर्थ है बारबार यमसदनमें आनेकी नौबत आना॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

यह सांपराय (आत्मा) बहुतसे लोगोंको सुननेको भी नहीं मिलता। बहुतसे लोग सुनते हुए भी जान नहीं पाते। इसका वक्ता आश्चर्यसे मिलता है। कुशल ही इसे पानेवाला होता है। बल्कि कुशलगुरुसे उपदेश पाकर जाननेवाला भी आश्चर्यसे मिलता है ॥ ७ ॥

'अयं लोको नास्ति पर इति मानी' इस पूर्वमन्त्रमें सामान्यरूपसे परलोकमात्रको नास्ति कहनेवाले मूढों की बात बतायी। इसे कैमुतिक न्याय कहते हैं। सांपराय या परलोक चार हैं-स्वर्गलोक, देवलोक, आत्म-लोक और मृत्युलोक। इन चारोंको जो नहीं मानता उसको आत्मलोक का जानना, वरण करना आदि असंभव ही है। और बार-बार मत्युग्रस्त होना ही पड़ेगा। इस प्रकार सामान्यरूपसे कहकर अब विशेषरूपसे आत्म-लोकको ही लेकर आगे वक्तव्य दे रहे हैं यमराज।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः। इस भारत भूमिको छोड़कर कौनसा ऐसा देश है जहां आत्मकी कथा होती है। भौतिक दृष्टिसे सम्पन्न अनेक देश हैं। वहां रहनेवालोंकी संख्या भी बहुत बड़ी है। पांच-सात अरब आदमी आज पृथ्वीपर हैं। भारतमें करोड़ोंकी संख्यामें जनता है। विश्वमें अरबोंकी तादातमें। किन्तु विश्वमें कहीं भी आत्मकथा नहीं होती। वहां अधिकसे अधिक क्राईस्टकी कथा होगी या मुहम्मदकी कथा होगी। जो जनतासे अत्यन्त पृथक् है, जो सातवें आसमानमें रहते हैं उनके दूत या पुत्रकी वहां बात है। भारतवर्ष ही एक ऐसा है जहां आत्मकथा होती है।

"न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवा सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥"

विगता कुण्ठा यस्मात् स विकुण्ठः। विकुण्ठ एव वैकुण्ठः। आत्मा ही विकुण्ठ या वैकुण्ठ है। 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः' ऐसी छान्दोग्यश्रुति है। जरामरण एवं शोकसे रहित पापरहित आत्मलोक ही हैं। उसकी कथा सुधानदी जहाँ नहीं बहती, अमेरिका क्या सुरेन्द्रलोक हो तो भी उसे त्यागो। यह कथा सुधानदीको कौन बहावे? साधवो भागवता-स्तदाश्रयाः। जहां वे न हों वहां मत रहो।

यह तो विदेशकी बात हुई। भारतमें भी आत्मलोककथा दुर्लभ हो गयी है। कुछ गाया कुछ बजाया और एकाध आख्यान सुनाया। इतनेमें

एक घंटा बिता लो, चाहे दो घंटा। यही सुनाते हैं। जनताकी नब्ज जान लिया। लोगोंको थोड़ा मनोरञ्जन चाहिये। यह भी आवश्यक है। अच्छा है। अच्छी शिक्षायें मिले तो उत्तम है। किन्तु परम लक्ष्य छूटना नहीं चाहिये। श्रीकृष्णके लिए औत्थानिक उत्सव मनाया जा रहा था परंतु उनको तो बाहर कर दिया और भुला भी दिया। यही हालत यहां भी है। आत्म-लोकके लिये सभी कथायें किन्तु उसे बाहर छोड़ दिया, भुला दिया और शाखा-प्रशाखा पर पहुंच गये।

इससे भी बढ़कर बात यह है कि आत्माके बारेमें कुछ बोलना ही आत्मकथा नहीं है। "षड्भिर्लिङ्गैर्वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणं श्रवणं" यह श्रवणकी व्याख्या है। उपनिषदोंको सुनो। उसका उपक्रम उपसंहार क्या है ऐसे देखो। अभ्यास आदि पर ध्यान दो। फिर तात्पर्याव-धारण करो। प्रायः करके कथा इससे अलग ही होती है। कथाकारकी अपनी कथा अलग होती है। चाहे उपनिषत् पर बोले, चाहे गीतापर, चाहे भागवतपर। ग्रन्थ साथमें लेकर श्रवण कीजिये। उपनिषत् वेद हैं। इनको अपने पास हमेशा रखना चाहिये। इनमें उपक्रम उपसंहार देखिये। जैसे गीतामें "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" से उपक्रम है। "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" यह उपसंहार है। इससे शोककी निवृत्ति तात्पर्य है यह स्पष्ट झलकता है। इसी प्रकार उपनिषदोंका श्रवण करो। उपक्रम कहांसे है, उपसंहार कहां है यह देखना है। कथा जैसी-जैसी आगे बढ़ेगी आप उसे देखेंगे।

शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। एंक तो आत्मकथा सुनने को नहीं मिलती। और कहीं-कहीं मिलती भी है तो अपनी आदतके कारण वे समझ नहीं पाते। इसके समझने के लिये बड़ी एकाग्र बुद्धि की आवश्यकता है। आगे यमराज स्वयं कहेंगे—"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" इत्यादि। एकाग्रका अर्थ है दो अग्र न हो। एक बार मैं अहमदाबादमें कथाके लिये गया। एक दिन देखा माईयोंकी ओर ढेर मटर पड़ा था। मातायें उसे छील रही थीं। हमने सोचा शान्ति पाठ मंगलाचरण होते या तो समाप्त होगा छीलना या समेट लेंगे। लेकिन तब तक एक बोरा मटर और डाल दिया। इधर कथा भी सुन रही हैं, उधर मटर भी छील रही हैं।

बीच-बीचमें बातें भी कर रही हैं। यह एकाग्र नहीं त्व्यग्र हो गया। वे लोग समझ रहे थे फालतू बैठे-बैठे सुननेकी अपेक्षा कुछ काम साथमें हो तो अच्छा है। परंतु इस प्रकार श्रवण करते रहो, आत्मज्ञान नहीं होगा। गीतामें कहा है–

"क्वचिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥"

पृथा अति श्रद्धावाली थी। "पार्थ" से विशाल हृदयता एवं श्रद्धा सूचित की। धनंजयसे पुरुषार्थी सूचित किया। इसके साथ एकाग्रता भी होनी चाहिये। प्रत्युदाहरणके रूपमें छान्दोग्यमें उक्त इन्द्र और विरोचन हैं। प्रथम पर्याय में दोनोंने नहीं समझा। श्रवण अच्छी तरह दोनों कर रहे थे। छत्तीस साल ब्रह्मचारी रहकर श्रवण करना कोई मामूली बात नहीं। प्रजापतिने कहा–

"य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच
एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति ।"

"अक्षणि पुरुषः" कहनेसे अर्थ निकाला आंखमें जो पुरुष दीखता है। चाहे वह छाया पुरुष हो, चाहे बिम्ब पुरुष हो। विरोचनने स्थूल बिम्बपुरुषको आत्मा समझा। और इन्द्रने छायापुरुषको। किन्तु प्रजापतिने क्या बताया था?

"दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः
आकाशे च हृदि प्राज्ञः" ।

अन्तिम पर्यायमें तुरीय को समझाया। विरोचनने तो नहीं ही समझा। इन्द्रको समझनेमें काफी देर लगी। यही "श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः" का अर्थ है।

आश्चर्यो वक्ता। "यतो वाचो निवर्तन्ते" इस श्रुतिके अनुसार वाणीकी प्रवृत्ति ब्रह्ममें नहीं है। ब्रह्म तक वाणीकी पहुंच नहीं है। आप कहेंगे ब्रह्म शब्दसे कहा ही रहे हैं तब वाणी क्यों नहीं पहुँचेगी? किन्तु बताईये ब्रह्मका मतलब क्या है? जो वृहत् है वह ब्रह्म है। जैसे वृहत् मुंबई कहने से पहले जो छोटी मुंबई थी उससे बड़ी अर्थ निकलता है। क्या ब्रह्ममें

बड़प्पन नामका कोई धर्म है। जैसे मुंबईमें है? ब्रह्मको निर्धर्मक बताया। अच्छा, हम परमात्मा कहेंगे। ठीक है। परमात्माका अर्थ क्या है? परम-श्रेष्ठ आत्मा। क्या परमात्मामें श्रेष्ठता नामका कोई गुण है? आत्मा मात्र कहें तो जीवात्मा ही आ जायेगा। अच्छा, हम ईश्वर कहेंगे। जी। ईश्वरका अर्थ क्या? सृष्टि स्थिति संहार करनेमें समर्थ। तो क्या परमात्मामें सृष्टि आदि करनेकी क्रिया होती है? वह तो निष्क्रिय है। हम जगत्पिता कहेंगे। ठीक आप बेटे हैं और परमात्मा बाप है। तो क्या परमात्मामें कोई बाप-बेटा सम्बन्ध है? "असङ्गो ह्ययं पुरुषः"। वह तो अंसग है। जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्धरहित ब्रह्म है। अब आपके पास कौनसा शब्द है जिससे शुद्ध ब्रह्मका बोध करना है? कहेंगे-"निर्गुणं, निष्क्रियं, शान्तं, निरवद्यं, निरञ्जनं" व्याख्या कीजिये। गुणके अभाववाला, क्रियारहित, तरङ्गरहित, पापके अभाववाला, दोषके अभाववाला। क्या ब्रह्ममें अभाव हैं? कि ब्रह्म ही अभाव है? गुणाभाव ही ब्रह्म है कि गुणाभाववाला ब्रह्म है। क्रियाभाव ही ब्रह्म है या क्रियाभाववाला। ब्रह्म अभावरूप नहीं हो सकता। "असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। गुणाभाववाला कहने पर दो अलग हो गये। ब्रह्म अधिकरण है। गुणाभाव आधेय है। ब्रह्ममें गुणाभाव। क्या यह सही है? न तो ब्रह्मपर कोई भावपदार्थ है और न अभाव पदार्थ है। अब बोलो आगे। बस समझ लो केवल। बोलो मत। बोलनेपर गड़बड़ी होगी। न ब्रह्मपर गुण क्रियादि है और न इनका अभाव है। बोलेंगे तो शब्दसे भाव या अभाव कोई तो आयेगा। इसलिये भाव-अभाव सबको हटाकर निर्विकल्पक वृत्तिसे उसे समझो। उसके लिये भाग त्याग लक्षणा ही एक मात्र उपाय है। तत्त्वमसिमें तत्पदार्थ सर्वज्ञ परमात्मासे सर्वज्ञताको छोड़ो। त्वंपदार्थ जीवात्मासे अल्पज्ञता छोड़ो। जो चेतन-चेतन बचेगा उसे ब्रह्म समझो। हां, हम चेतन कहें तो चलेगा कि नहीं? चेतन बोलते ही जड़ता नहीं, चेतनता नामका धर्म आयेगा। उसे भी छोड़कर समझनेका तरीका भागत्याग है। अतः सीधा शब्द वहां तक जायेगा नहीं। भागत्याग लक्षणासे अपने आप उसे समझना होगा। ऐसा समझानेवाला वक्ता दुर्लभ है। आश्चर्यसे मिलता है।

'मौनव्याख्या प्रकटित परब्रह्मतत्त्वं युवानं
वर्षिष्ठान्तेवसदृषिगणैरावृत्तं ब्रह्मनिष्ठैः
आचार्येन्द्रं करकलितचिन्मुद्रया भद्रया तं
स्वात्मारामं मुदितवदनं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥'

सनकादि ऋषियोंने दक्षिणामूर्ति भगवान् शंकरसे ब्रह्मके बारेमें पूछा। तब भगवान् मौन होकर बैठे और मुदितवदन दीखने लगे। मौनका अर्थ है 'यतो वाचो निवर्तन्ते'। और मुदितवदन का अर्थ है-'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'।

एक ऋषिने शुक पाल रखा था। भरतके समान मोह होनेसे वे जन्मान्तरमें तोता बने। बढ़िया बोलता है देख कर राजपुरुषोंने उसे जालमें फंसाया और वह पिंजरेमें पड़ गया। एक बार मन्त्रीमहोदय राजाके बहुत सारे प्रश्न लेकर एक सिद्ध संतके पास जा रहे थे तो तोतेने कहा—मेरा भी एक प्रश्न पूछो। मुक्ति किस प्रकार हो यह मेरा प्रश्न है। मन्त्री ने अपने और राजा के भूत-भविष्यसम्बन्धी अनेक प्रश्न पूछे। सबका जवाब मिला तो अन्तमें पोपटका प्रश्न रखा। यह सुनते ही महात्माजीको मिर्गी चढ़ गयी और हाथ-पांव फैलाकर पड़ गये। मन्त्रीको आश्चर्य हुआ ऐसा क्यों हुआ? राजधानीमें आकर राजाको सब बताया और पोपटके प्रश्नपर महात्माजीके हाथ पांव फैलानेकी बात कही। मन्त्री ने यही बात तोते को कही तो वह भी हाथपांव पंख फैलाकर पड़ गया। देखा तो मर गया था। कैसा विलक्षण प्रश्न? सबको आश्चर्य हुआ। उस तोतेको बाहर निकाला। उसपर पानी डालने लगे। जीने की आशा होने लगी। लोग इधर-उधर देख रहे थे कि फुरर् करके तोता उड़कर चला गया। इसी को कहते हैं-अवचनेनैव प्रोवाच। बिना बोले बताया। क्योंकि बोलनेपर गड़बड़ी होती।

कुशलोऽस्य लब्धा। उस आत्मतत्त्वको पानेवाला सर्वाधिक कुशल होता है। 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' यह श्रवणका अभाव बतानेके लिये कहा। 'श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः' यह मननका अभाव सूचित करता है। 'कुशलोऽस्य लब्धा' यहां निदिध्यासनकी परम आवश्यकता सूचित करते हैं। यही तो कुशलता है। आपस्तम्बजी कहते हैं-

"आत्मलाभान्न परं विद्यते"

गीता में भगवानका कहना है—

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः"

सबसे बड़ी हानि आत्महानि है। अपने आप नहीं रहा तो फिर दुनियासे क्या मतलब? महर्षि वाल्मीकि जब दृढधन्वाके पास आये तो पूर्ववृतान्त सुनाया। पूर्वजन्ममें ये पतिपत्नी ब्राह्मण थे। उनका पुत्र सर्वगुणसम्पन्न था। परंतु ये सारे गुण ऐसे हैं जैसे सूखते सरोवरमें हजारों रंगविरंगे सुन्दर प्राणी। क्योंकि इसकी आयु ही नहीं है। अब आत्महानि सबसे बड़ी हानि है और आत्मलाभ सबसे बड़ा लाभ है। महान् कुशल-प्रवीण ही इसे पा सकता है।

आश्चर्यो ज्ञाता। अपने आपको कौन पाता है? जो स्वयंको जानता है। परंतु स्वयंको जाननेंवाला आश्चर्यसे ही मिल सकता है। नारदजी कहते हैं—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाङ्गिरस-
मितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं
सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् ।"

नारदजी कहते हैं मैं सम्पूर्ण वेदोंको, इतिहासपुराणोंको, अन्य भी समस्त विद्याओंको जानता हूं। पर मैं सिर्फ मन्त्रवित् हूं, शब्दवित् हूं। आत्मवेत्ता नहीं हूं। विधिवदधीत सर्वशास्त्रवित्। नारदजीको जब आत्माके बारेमें पता नहीं है तो आधुनिक लोगोंको आत्मज्ञान होनेकी क्या प्रत्याशा है? किन्तु निराश भी होनेकी बात नहीं है। सनत्कुमार जैसे कोई सद्गुरु प्राप्त होते हैं तो उसको आत्मज्ञान प्राप्त होता है। इसी बात को "कुशलानुशिष्टः" से बताया है। रामकृष्ण परमहंसजीको तोतापुरी योग सिखा रहे थे। उनका मन स्थिर नहीं हो रहा था। भारी कोशिशके बावजूद निराकार निर्वृत्तिक अवस्था प्राप्त नहीं हो रही थी। तोतापुरी ने सामने पड़े एक कांचका टुकड़ा निकाला और भ्रुकुटिमें धीरेसे मारा। पूछा—क्या दर्द है? हां, है। उसी दर्दमें ध्यान लगाओ। लगाया तो मन वहां लग गया और दर्द ही भूल गये। तीन दिन तक निर्विकल्पक समाधिमें बैठे रहे। यह किस शास्त्र में लिखा है कि कांचका टुकड़ा लगाकर समाधि लगवावो? कहीं नहीं लिखा। यही तो कुशलता है। हरेक विषयमें ऐसी नाना अद्भुत चर्चा मिलती है, जो शास्त्रमें नहीं है। अनुभवी अपनी युक्तिसे काम बना लेते हैं ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

अवर (अश्रेष्ठ) मनुष्यके प्रवचनसे इस आत्माका सम्यक् ज्ञान नहीं होता। क्योंकि अनेक प्रकारके चिन्तन एवं विकल्पका विषय बन जाता है। अनन्यभावयुक्त गुरुसे प्रोक्त इस आत्मामें गति नहीं रहती। यह अतर्क्य है। सूक्ष्मतर है ॥ ८ ॥

'आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' ऐसा पूर्वमन्त्रमें कहा। कुशल मनुष्य से अनुशासन पाकर ब्रह्मको जाननेवाला आश्चर्य से कोई होगा। किन्तु कैसी कुशलता वक्तामें हो? और ज्ञान हुआ उसका पता कैसे चलेगा? इत्यादि जिज्ञासाका उदय हुआ। उसके समाधानके लिये यह मन्त्र है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयः। अवर नरके उपदेशसे आत्मा सुविज्ञेय नहीं है। नर शब्दका अर्थ वेदनिरुक्तकार महर्षि यास्कने इस प्रकार किया है—नृत्यति कर्मणीति नरः, जो कर्मके लियें हमेशा नाचता रहता है वह नर है। कर्म चाहे लौकिक हो, चाहे शास्त्रीय। प्राचीनबर्हि कहते हैं नारदजीके प्रति—

"न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः"

प्राचीनबर्हि किसी झंझटबाजीकी बात नहीं कर रहे हैं, बुरे कर्मकी बात नहीं कर रहे हैं। पूर्व समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्रपर्यन्त बर्हिरास्तरण कर महान्-महान् यज्ञ करनेवाले यह कह रहे हैं कि इतने अधिक कर्ममें यह डूब गये हैं कि हमारी बुद्धि कर्ममय होनेसे ज्ञानको पकड़ नहीं पाती। जब यज्ञ जैसे पवित्र कर्म करने वालोंकी यह स्थिति है तो आजके राजा-नेता-मन्त्री जो झूठको सच और सचको झूठ सिद्ध करनेवाले हैं, इसीमें दिनरात एक किये हुए हैं वे तत्त्वज्ञान पा लें यह दिवास्वप्न ही हो सकता है। बड़े-बड़े धार्मिक वेदान्तभवनों का उद्घाटन इन्हींके करकमलोंके द्वारा होता है। वाक्पाटव रहता है। जहां खड़ा करो वहां अपनी वाक्पटुतासे जनताका आकर्षण कर ही लेते हैं।

उपदेष्टा नर नहीं, नारायण हो तब उपदेश लगता है। हृदयमें नारायणका प्रकाश होना ही नारायण बनना है। अतएव गुरुके लक्षणोंमें बताया—

"शान्ता महान्तो निवसन्ति धन्या वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमामहार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥"

शरीर, मन आदिसे शान्त हो,चांचल्यरहित हो तथा महान्त अर्थात् व्यापक परमात्माके चिन्तनसे जो स्वयं व्यापक बना हो ऐसे धन्य पुरुष भी संसारमें रहते हैं। वे लोकहित करते हैं अवश्य। किन्तु कैसे? वसन्तवत्। वसन्त ऋतु आयी कि वृक्षोंपर नये कोंपल आने लगते हैं। मलयमारुत् चलने लगता है। किसी अपने प्रयोजनके लिये नहीं, किन्तु स्वभावतः। स्वयं भवार्णवको पार कर चुके हो। गुरुचेला दोनों यदि कुएँ में पड़े हों तो कौन किसका उद्धार करे? वे पार करते हैं तो किराया लेकर नहीं। ठेके पर नहीं, अहेतुना।

अवरेण। एक तो नर है, कर्ममें नाचनेवाला। दूसरी ओर अवर भी हो तो क्या कहना? वर कहते हैं श्रेष्ठ को। अवर अश्रेष्ठको कहते हैं। अपनेसे महान् जो होगा उससे उपदेश लो। छोटा हो तो श्रद्धा न होगी। 'छोटा' का मतलब ऊमरसे नहीं, किन्तु विद्यासे अधिक तो होना ही चाहिये। आश्रमादिसे भी महान् होना चाहिये। आप भी गृही, उपदेष्टा भी गृही, दोनों लोभी हों तो उपदेश असर कैसे करेगा? उपदेश यदि मधुर है तो सुन लेंगे जरूर किंतु उसका असर कुछ नहीं होगा। अवरत्व बुद्धि होनेका परिणाम हुआ चुडालाके यथार्थ उपदेशको भी राजाने ग्रहण नहीं किया।

अवरका दूसरा अर्थ है—न विद्यते वरो यस्य। "वरस्तु मे वरणीयः स एव" में जो वर बताया वह वर जिसको प्राप्त नहीं है वह अवर है। व्रियमाण ही वर है। उत्कट अभिलाषा जिसकी हो, तन्मयताके साथ साधना करते हुए पाया हुआ हो वह वर है। उसको जिसने प्राप्त नहीं किया वह अवर।

अवरका तीसरा अर्थ है "यमेवैषे वृणुते" वाले वरसे रहित। यमेव परमात्मानम् एष साधको वृणुते। यमेवैष परमात्मा साधकं वृणुते ये दोनों अर्थ आचार्योंने दिखाया है। साधक परमात्माका है। ध्यान-जपादिसे तथा वेदान्तविचारादिसे करता है। परमात्मा भक्तोंका वरण साधना से परितुष्ट होकर करता है। दोनों कृपायें आवश्यक हैं। ईश्वरकृपा तथा आत्मकृपा। ऐसा वर जिसका न हो अवर कहलाता है।

वर शब्दका चौथा अर्थ है–वर-वधुवाला वर। वह वरकन्याके विवाहमें कन्याके द्वारा वक्तव्य एक मन्त्र है–

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनोदितो मुक्षीय मामुतः॥

तिस्रोऽम्बा यस्य स त्र्यम्बः। त्र्यम्ब एव त्र्यम्बकः। तीन मातायें जिसकी हो गयीं। जन्म देनेवाली, उपनयनकालीन सावित्री और संप्रति विवाह कालमें सासू। इस प्रकार वरकी तीन मातायें होती हैं। ऐसे वरके साथ हम यजामहे संगति करते हैं। 'यज देवपूजा संगतिकरण दानेषु'। सुगन्धिः– सुस्नेहं सुसम्बन्धं वा। स्नेह या सम्बन्ध गन्ध शब्दका अर्थ है।

"गन्धो गन्धक आमोदे स्नेहे सम्बन्धगर्वयोः"

पुष्टिवर्धनं-पुष्टिं पुत्रपौत्रादिना कुटुम्बपुष्टिं वर्धयति इति तथा तम्। जो कुटुम्बका पोषण करनेवाला है। उर्वारुक् ककड़ीको कहते हैं। ककड़ी जिस प्रकार लतासे सम्बन्ध तोड़कर मालिकके घरसे सम्बन्धित होता है वैसे पितृगृहसे (पीयरसे) मैं सम्बन्धविच्छेद करती हूँ। पतिगृह जानेके बाद वहाँसे भी विच्छेद करना है क्या? यहां तलाक नहीं है। मा अमुतः। पतिगृहसे अलग न होऊं।

यही दृष्टान्त रखकर शंकर पक्षमें और परमात्मा पक्षमें इस मन्त्रका अर्थ लगाया जाता है। त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य। शंकर त्रिनेत्र प्रसिद्ध ही हैं। ब्रह्मपक्षमें "प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि" इत्यादि सूत्रोक्त तीन प्रमाण समझना चाहिये। या तीन वेद। "त्रिवेदी दिव्यचक्षुषे" के अनुसार शंकरके तीन नेत्र त्रिवेदस्वरूप हैं। वेदप्रतिपाद्य होनेसे आंखोंका काम वेद ही करते हैं। ऐसे शंकरकी या ब्रह्मकी हम पूजा करते हैं। सुगन्धिम्। इस समय हमने सम्बन्ध रख छोड़ा है। अतः परमात्माके साथ सम्बन्ध होनेपर भी यह सुसम्बन्ध नहीं है। परमात्मा ही सब कुछ है, मातापिता आदि सभी परमात्मा हैं ऐसी भावना जब होगी तब सुसम्बन्ध होगा। पुष्टिवर्धनम्। पुष्टिरनुग्रहः ऐसी व्याख्या है। अनुग्रह वितान करनेवाले। बन्धनात् इतः इस संसारबन्धनसे मैं मुक्त हो जाऊं ब्रह्मसम्बन्धसे कभी वियुक्त न होंऊ। इसप्रकार व्रियमाण वर, पति वह वरपदार्थ है। जीवात्मा सभी वधू हैं और परमात्मा पति है। पत्नी को अर्धाङ्ग मानते हैं। जीवात्मा

परमात्माका अंश है। ममैवांशो जीवलोके। बिम्बप्रतिबिम्बवत् देखनेमें पूर्ण ही लगेगा।

"यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः"

इस प्रकार रासाध्यायमें गोपिकाओंके लिये कहा ही है तथा पतिरूपसे भगवानका वर्णन किया ही जाता है।

"श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियांपतिर्लोकपतिर्धरापतिः।"

इत्यादि वाक्य भागवतमें ही आये हैं। इस प्रकार पतिरूप-वररूप परमात्मा जिसके न हो वही अवर है।

ऐसा अवर नर कितना भी वाचाल क्यों न हो किन्तु उसके द्वारा उपदिष्ट होनेपर आत्मा सुविज्ञेय नहीं है। वर गुरु द्वारा उपदेश होनेपर ही ज्ञान होगा। ज्ञानके प्रति केवल उपदेश ही कारण नहीं है। उपदेश तथा औपदेशिक पुण्य दोनों कारण हैं। उपनिषत् श्रवणसे एक विलक्षण पुण्य होता है। वह सहकारी हो तभी उपदेशसे ज्ञान होगा। मन्त्र गुरुमुखसे सुनें या पुस्तकमें देखकर पढ़ें फिर जप करें तो क्या कोई फरक है? यदि है तो यह वर गुरु और अवर नरको लेकर भी फरक है ही।

बहुधा चिन्त्यमानः। इसका अनुकूल प्रतिकूल दोनों अर्थ है। प्रतिकूल अर्थ यह है कि कभी साकार, कभी निराकार, कभी सत्रूपसे, कभी असत् रूपसे इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अनेक प्रकार का चिन्तन प्रस्तुत होता है। जब अवर नर व्याख्या करता है तब स्वरूपनिर्णय करना बड़ा ही कठिन पड़ता है। सद्गुरुसे श्रवण करो तो यह दोष नहीं आयगा वस्तुतः निर्विकल्पक पारमार्थिक तत्त्व ही वास्तविक है। उपाधिवश सगुण, साकार आदि है इत्यादि रीति वे यथार्थ तत्त्व समझायेंगे। अनुकूल अर्थ इस प्रकार है कि यदि सद्गुरुसे उपदेश प्राप्त न हुआ तो बहुधा आप भले चिन्तन करो फिर भी तत्त्व समझमें नहीं आयेगा।

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति। प्रश्न हुआ कि अवर नर यदि बोलता हो तो तत्त्वज्ञान नहीं होगा। उस व्यक्तिमें पाप रहता है। किन्तु स्वयमेव यदि विचार करे, अन्यके अवलम्बनपर न जाये तो क्या हानि? योग-वासिष्ठादिमें ऐसी अनेक कथायें आती हैं जहां स्वयमेव महान् विचार कर ज्ञानविज्ञानसंपन्न होनेकी चर्चा आती है। शुकदेवजी स्वयं व्यासजीसे

बोल रहे थे कि आप जो वेदान्त सुना रहे हैं मैंने इसे तपमें ही देख लिया था। इस पर कहते हैं कि अन्यप्रोक्त न हो तो इस आत्मतत्त्वज्ञानमें गति नहीं हो सकती। तदर्थ श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठके पास जाना ही पड़ेगा।

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।'

श्रुतिका गुरुपरम्परया जिसने अध्ययन किया वह श्रोत्रिय है। ब्रह्ममें नितान्त स्थिति जिसकी हो वह ब्रह्मनिष्ठ है। उसके पास जाकर उपदेश लेना ही होगा। अन्येन प्रोक्तम्-अन्यप्रोक्तम् न अन्यप्रोक्तं अनन्यप्रोक्तं इस विग्रह के अनुसार यह व्याख्या हुई। न अन्यः अनन्यः। तेन प्रोक्तम्। यह दूसरा विग्रह है। अनन्य का अर्थ है न विद्यते अन्यो यस्मात् न विद्यतेऽन्यो यस्य। जिससे अन्य कोई नहीं, जिसके लिये अन्य कोई नहीं वह अनन्य है। अन्यभाव प्रसिद्ध है। हवेलीवाले अनन्यका अर्थ करते हैं हवेली छोड़कर अन्यत्र न जाना। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि भावको अनन्यभाव कहते हैं। इसीको 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' इत्यादिमें भी बताया है। ऐसे अनन्यभावापन्न सद्गुरुसे प्रोक्त होनेपर 'गतिरत्र नास्ति' गति-गमनक्रिया नहीं होती। अनन्यत्वेन प्रोक्त यह अर्थ भी कह सकते हैं। जब अनन्य है तो आना जाना कहां? गति प्राप्त्यनुकूलव्यापार को कहते हैं। अनन्य होनेसे नित्यप्राप्त है। वहां गतिकी आवश्यकता नहीं है। संभव भी नहीं है।

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते"

ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि अति दूर किसी देश में रहते हैं। तो उन्हें प्राप्त करनेके लिये गतिकी आवश्यकता है। बल्कि स्वगतिसे भी काम नहीं चलेगा। विमानगति भी चाहिये। इसीलिये भक्तोंको ले जानेके लिये वहां से विमान भेजते हैं। किन्तु ब्रह्म व्यापक है। उसके साथ अनन्य हो जानेसे स्वयं व्यापक हो गया तो गति कहां, कैसे हो? आकाश कहीं आता जाता नहीं। व्यापकमें क्रिया नहीं होती। अत एव संसारगति-गमनागमनरूप जन्ममरण परम्परा नहीं यह भी अर्थ है। 'अगति' ऐसा पदच्छेद भी किया है। उस पक्षमें गतिका अवगति और अगति का अनवगति-अबोध-अज्ञान अर्थ है। अनन्यभावापन्न आचार्य अनन्यत्वेन शिष्यको उपदेश करता है तो

उससे शिष्यके अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। भेदबुद्धि ही संसारबीज अज्ञान है। वह उपदेश से निवृत्त हो जाता है।

अणीयान्.....अणुप्रमाणात् । अणुपरिमाणसे भी अणुतर है। अणु उसको कहते हैं जिसका विभाजन न हो। तब अणुतर क्या होगा? अणुतम क्या होगा? अतः 'सूक्ष्मात् सुसूक्ष्मं' इस अर्थ में तात्पर्य है। अतएव अतर्क्य भी है। अवरप्रोक्त होने पर भी सुविज्ञेय नहीं। क्यों अणीयान् है अतिसूक्ष्म है। अतिसूक्ष्म तत्व को पूर्णतत्त्ववेत्ता ही बतला पायेगा। सदगुरुसे श्रवण करना चाहिये, स्वयं दिमाग मत लगावो। क्यों? अतर्क्य है।

'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति 'यहां क्रमिक पांच अर्थ बताये हैं। एक-स्वयं तर्क न कर बैठो। अन्य गुरुके पास जाओ, उसके बिना प्रगति नहीं होगी। दूसरा-अनन्यभावापन्न गुरुके उपदेशसे गतियां सत्-असत् इत्यादि विकल्परूप मानसगतियां समाप्त होंगी। ३. तब अनन्यतया प्रोक्त परमात्मामें अनवगतिका अभाव होकर सम्यक् बोध होगा। ४. तब अन्य कोई नहीं इस प्रकार जताये ब्रह्ममें अन्य संसारकी अवगति नहीं होगी। ५. तब अनन्यप्रोक्त ब्रह्ममें स्थित पुरुषकी गमनागमनात्मक संसारगति नहीं होगी। वह पुरुष मुक्त हो जायेगा।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

यह परमार्थज्ञान तर्कसे प्राप्य नहीं है और प्राप्त हुए को तर्कसे हटाना भी नहीं चाहिये। यह ज्ञान अवरसे या अपनेसे अन्य सद्गुरुसे कथित होनेपर ही साक्षात्कारयोग्य होता है जिसे सत्यधारणावाले। तुमने पाया है सचमुच तुम्हारे समान कोई दूसरा ऐसा पूछनेवाला नहीं होता। हमारे पास ऐसा ही प्रष्टा हो ॥ ९ ॥

"अन्ययप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति" ऐसा बताया। उसका एक अर्थ किया कि अपने से अन्य कोई बतानेवाला न हो तो इस सूक्ष्मतत्त्वमें गति नहीं हो सकती। अपने बुद्धिबल से या तर्कबलसे इसे जाननेका प्रयास करना व्यर्थ है। उसका कुछ और खुलासा करके इस मन्त्रमें कहने जा रहे हैं।

नैषा तर्केण मतिरापनेया। किसी अन्य गुरुके प्रवचनका आश्रयण न करने का अर्थ स्वयं तर्क कर पानेका प्रयत्न करना। किन्तु इस प्रकार यह

मति प्राप्त नहीं हो सकती। 'एषा मतिः'। कौनसी मति? जिसे यमराज प्रस्तुत करेंगे। उसे प्रत्यक्षरूपसे देखते हुए यमराज कह रहे हैं। अथवा सत्यके निश्चयके लिये जो मति नचिकेताको हुई यह तर्कप्राप्य नहीं। श्रद्धाके कराण ही यह दृढ़ मति हुई है। तर्क से तो प्राप्त मति भी चली जाती है। वेदान्त में निष्ठा होनेपर भी तर्क करने पर वेदान्तमति भी नष्ट हो जाती है। लोकमें भी तर्क से बुद्धि चंचल हो जाती है तो परमार्थमें कहना ही क्या? परमार्थमें तो श्रद्धा एवं शास्त्रश्रवण ही उपाय है। वह तर्कागम्य है। किन्तु उसीमें लोग अधिक तर्क करते हैं। पुष्पदन्ताचार्यने महिम्नःस्तोत्रमें कुछ कुतर्कोका नमूना दिया है।

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥

त्रिभुवनको परमेश्वरने बनाया तो किस प्रकार की क्रियासे? एक मकान बनाना है तो कितनी दौड़धूप करनी पड़ती है? इंजिंनीयरकी प्रवृत्ति, मजदूरोंकी प्रवृत्ति, सबकी प्रवृत्ति होती है। व्यापकमें कोई क्रिया नहीं हो सकती। क्रियासे पूर्वसंयोगनाश और उत्तरदेशसंयोग होता है। घरसे बाहर गये तो घरमें नहीं बाहर हैं। इस प्रकार जहाँ नहीं हैं वहां पहुंचना क्रिया है। परमेश्वर कहाँ नहीं हैं? आकाश को कहो थोड़ा सरक जाओ। कहां सरकेगा? जहां आकाश नहीं वहाँ सरकेगा और यहां से खाली करेगा तो सरकना संभव है। व्यापकमें यह बात नहीं हो सकती। तब ईश्वरमें क्रिया किस प्रकार? वस्त्रादि बनानेवालेका शरीर होता है। हाथ-पांव होता है। परमेश्वका ऐसा कौनसा शरीर है? फिर उपाय सामग्री उसके पास क्या है? भोजंन बनाना हो तो पहले सामग्री जुटानी पड़ती है। आटा, दाल, नमक, मिरची। एक भी छूट जाय तो बाजार में दौड़ना पड़ता है। परमात्माके पास ऐसी कौनसी सामग्री पड़ी है? उस सामग्रीको किसने किस समाग्री से बनायी और कहां बैठकर बनाया? बैठने का ठिकाना नहीं तो बनाना कैसे होगा? यदि ठिकाना है तो उस ठिकाने को बनानेके लिये कहांपर बैठा? फिर सबका उपादान क्या? उपायसामग्री, आधार, उपादान

और निर्माता ये चार आवश्यक हैं। साथ ही प्रवृत्ति और प्रवृत्ति हेतु शरीर भी आवश्यक है। तभी निर्माण संभव है। इस प्रकार परमेश्वर के लिये नास्तिक कुतर्क करते हैं। तो परमेश्वर तर्क का विषय नहीं, उसमें तर्क ही नहीं, कुतर्क करते हैं। किन्तु इतनेसे जवाब नहीं होता। जवाब नहीं आया तो पूछनेवालेको तुम कुतर्क करते हो कहकर चुप करनेसे काम कैसे चलेगा? उत्तर यह है कि किसी जगह कोई बात देखी तो वह नियम नहीं माना जायेगा। समुद्रमें बुद्बुद बना, जमीनमें घास उगी। उसे किस शरीरधारी ने बनाया। वहां हवा और पानी बनानेवाले हैं कहो, लेकिन एक नियम टूट गया कि शरीरधारी बनाना है। एक पक्षी ऐसा है कि वह कभी नीचे नहीं उतरता, आसमानमें उड़ता रहता है। अंडा भी आसमानमें देता है। अंडा इतना ऊपर जाकर देता है कि जमीनतक आनेसे काफी पहले फूट जाता है और बच्चा बाहर आ जाता है और उड़ने लगता है। अब कहो कि उसने बच्चा पैदा किया तो किमाधारः? आधार क्या है? कहो आसमान आधार है। आसमान तो शून्यदेशको कहते हैं, अन्यथा उसी आधार पर थोड़ा मकान बनाकर दिखाओ। अतः वह नियम भी टूटा। अब रह गया उपादान, उपाय और कर्ता। तीन तो चाहिये। इस नियमका भी भंग मकड़ीमें हो गया। कपड़ेके समान मकड़ी जाल बनाती है। वहां उपाय, उपादान और कर्ता एक हो जाते हैं। उसे अभिन्न निमित्तोपादान कहते हैं। परमेश्वर भी इसी प्रकार जगतका अभिन्ननिमित्तोपादान है। इच्छामात्रसे जगतको वह बनाता है। जैसे योगी स्वेच्छासे सृष्टि करते हैं। इसे आचार्यने इस प्रकार बताया कि—

"बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ् निर्विकल्पं पुन-
र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीवयः स्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥"

बीज में प्रथम अंकुर निर्विकल्पकरूपसे रहता है। वैसे परमात्मामें प्रथम जगत् भी है। जैसे मायावी और जैसे योगी स्वेच्छासे नानावस्तु उत्पन्न करते हैं वैसे स्वेच्छासे परमेश्वर स्वान्तःस्थ नाना जगत् को प्रकट करता है।

परमेश्वर सत्यसंकल्प हैं। क्योंकि व्यर्थ संकल्प नहीं करते, मिथ्या संकल्प नहीं करते। किन्तु हम अपनी संकल्पशक्ति को मनोराज्य एवं मनोरथोंसे खतम कर देते हैं। एकाग्रचित्त जितना अधिक हो उतनी शक्ति बढ़ती है। माता, पिता, गुरुके आशीर्वाद या शाप लगते हैं। क्यों? इनकी चित्तवृत्ति एकाग्र है। वैसे मातापिता मनुष्यसामान्य हैं फिर भी अपने पुत्रोंके प्रति विशेष प्रेम या मोहके कारण एकाग्रवृत्तिवाले होते हैं। तो उनका संकल्प सफल होता है। गुरुलोक तो एकाग्रचित्त सामान्यरूपसे होते ही हैं। अतः संतोंके आशीर्वाद आदि सफल होते हैं। संत जितने बड़े हो तदनुरूप आशीष आदि भी हैं। क्योंकि संतोंका बड़प्पन पैसेसे, मकानोंसे नहीं चित्तैकाग्रतासे होता है। तात्पर्य यही है कि सर्वत्र समनियम न होनेके कारण ईश्वरके बारेमें मनुष्य का दृष्टान्त देकर "किमीहः किं काय" इत्यादि पूछना कुतर्क ही है। "अनवसरदुःस्थः" तर्कका अवसर ही वहां नहीं है।

परमात्माके विषयमें जैसे वैसे जीवात्माके बारे भी कुतर्क करते हैं। मुझसे कईयोंने कई बार पूछा और पूछते रहते हैं-यदि आत्मा एक है तो एकने खाया तो सबकी भूख मिटनी चाहिये। हमने खाया, आपने खाया क्या फरक? एकको चोट लगी तो सबको दर्द होना चाहिये। इतना तो क्या, कुछ दर्शनकारोंने तो श्लोकमें ही ऐसी बात लिखी दी।

"जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥"

यह भी बोलो—एक जनमा तो सब जनमने लगेंगे। एक मरा तो सब मरेंगे। किन्तु यह सब कुतर्क है। क्या जन्ममरण आत्माका होता है? या शरीरका? भूखप्यास आत्माको लगती है कि पेटको? सुखदुःख आत्मामें है कि अन्तःकरणमें? तब आत्माकी एकता के विरोधमे ये सब तर्क किस प्रकार? आत्मा स्वयं ज्योति, प्रकाश है, चेतन है। जड़ोंको चेतनवत् करने वाला है। वह एक ही है। इसका विस्तार इसी उपनिषत् में आगे प्राप्त होगा। यहां अधिक वक्तव्य नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि तर्कसे मति नष्ट नहीं करना चाहिये। शून्यमें मत पहुंचो।

बौद्धोंने यही त्रुटि की। उन्होंने श्रुतिको नहीं माना। बौद्धोंमें बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान् हुए। न्याय मीमांसक आदिको उन्होंने एक बार पछाड़ ही दिया था। तब भगवान् शंकराचार्य आ गये। दोनों ने काफी दूरतक समान दौड़ लगायी। कुछ लोग यहां तक कहने लगे कि बौद्ध मतमें और वेदान्तमतमें क्या फरक हैं? बौद्ध जगत् को शून्य कहते हैं। वेदान्त मिथ्या कहता है। जैसे लोकल ट्रेन और मेल ट्रेन दादरसे छूटी तो कुछ दूरतक समान चली। किंतु माटुंगा पहुंचते लोकलकी गति मंद हो गयी। मेल ट्रेन घड़ामसे आगे निकल गयी। बौंौका शून्यवाद है, वेदान्तका पूर्णवाद है। आसमान पातालका अन्तर है। हमारा मन्त्रं है "पूर्णमदः पूर्णमिदं"। उस जगह थोड़ा शून्य पढ़कर देखो-"शून्यमदः शून्यमिदं"। नया जैसा लगता है? वेदान्तका कहना है। जगत् पूर्णब्रह्मरूप है। उससे अलग करोगे तो मिथ्या है। सुवर्णसे अलग कुण्डल हुआ तो वह क्या होगा? कुण्डलसे सुवर्ण निकला तो असत्। यही मिथ्यात्व है, न कि शून्यत्व। शुष्क तर्कसे शून्यतामें पहुंचोगे।

प्रोक्ता अन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। स्वयं तर्क कर या दूसरोंकि तर्कको अपनाकर आत्मगति प्राप्त नहीं की जा सकती तो इसे प्राप्त करनेका क्या उपाय है? यही कि अन्येन-"नरेण अवरेण" जो पहले बताया उससे अन्य वर सद्गुरुसे प्रोक्त होनेपर वह ज्ञानोत्पादनमें समर्थ होगा। पूर्वमें भी कहा-अन्यप्रोक्त न हो तो गति इसमें नहीं है। उसी अन्यप्रोक्तका यह विवरण है। नरका अर्थ बताया-नृत्यति कर्मसु-कर्मनिष्ठ। उससे अन्य है ब्रह्मनिष्ठ। अवरका अर्थ है जिसने ब्रह्मका वरण नहीं किया। ब्रह्मका वरण श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे होता है। प्रथम वरण श्रुति श्रवण द्वारा होता है। फलतः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ही अवरनरसे अन्य है। उससे प्रोक्तका अर्थ है श्रुति प्रवचनसे ज्ञापित। श्रुतियोंके द्वारा समझाये जानेपर ज्ञान होता है। श्रुति ही परम प्रसाण है। एक जगह हम गये। हमारे साथ में भारतीय विद्या भवनके पण्डित भी थे। (मद्रासके तत्कालीन गर्वनर के-के शाह के पुत्रकी विमान दुर्घटनामें मृत्यु होनेपर उनके घरवालोंको सांत्वना देनेके लिये किसी ने प्रेरणा की और हम गये थे।) हमने कहा विधिका विधान किसीको ज्ञात नहीं होता। हम सभी विधिके पराधीन हैं। हमें जो हुआ

उसका अनुमोदन करनेका ही हक है। मैं उसीमें राजी जिसमें तेरी रजा। सुदामाजीको धन न मिला तो बोले—इसलिये भगवान्‌ने धन हीं दिया कि कहीं मैं अभिमानी न बनूँ बड़ा अच्छा किया। फिर देखा घरमें बहुत धन आया। तो बोलने लगे कि जल में कमलके समान रहनेको सीखना चाहिये इसलिये धन दिया सत्कार्यके लिये धन दिया। किसीकी मृत्यु हुई तो भगवानने कहा तुम्हें नया वस्त्र पहनने देता हूं। "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय" इत्यादि। पण्डितजीने भी इसी प्रकार कहा। उनकी पुत्रवधू पूछने लगी कि आपलोग कहते हैं-गीतामें ऐसा कहा है, श्रुतिमें ऐसा कहा है। आप अपनी बात क्यों नहीं कहते? हमने कहा गीता और श्रुति यह अपनी ही बात है। अपनी बातको गीता के वचनके द्वारा और श्रुतिके वचनके द्वारा जाहिर किया। क्योंकि उसी वाणीसे सुननेका हमारा सनातन धर्म कहता है। उस वाणीसे अपनी अनुभूतिका मेल है तो वह वाणी ठीक है ऐसा हम नहीं मानते, किन्तु उससे हमारी अनुभूति ठीक है ऐसा हम समझते हैं। अनुभूतिसे विरुद्ध गीताकी या श्रुतिकी वाणी है तो गीता या श्रुति गलत नहीं, हमारी अनुभूति गलत है। अतः हम लोग श्रुति आदि वचनके द्वारा अपनी अनुभूतिको प्रकट करते हैं।

ज्ञान तो पुस्तक पढ़नेसे भी होगा। किन्तु सुज्ञान श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठके द्वारा श्रुतिवचनसे समझानेपर ही होगा। यह नव नव परिणाम भौतिक तत्त्व नहीं है। जिसके लिये नवीन उदाहरणोंकी जरूरत हो। यह अनादि अनन्त एक रसात्मक तत्त्व है। आधुनिक समस्त परिणामों का वह अधिष्ठान है। उसके लिये श्रुतिका अनुसरण ही शरण है और वह प्रवचन हम अब पूर्णरूपसे शुरु करेंगे इस आशयको सूचित करनेके लिये 'प्रेष्ठ' यह सम्बोधन है।

यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि। "छन्दसि कालानियमः"। वेद अनादि होनेसे उसमें कालनियम नहीं होता अथवा श्रुति अनादि होनेसे संप्रति प्राकट्य-मात्र हो रहा है तब नचिकेताने पूछा यमराजने उत्तर दिया ऐसी दृष्टि रखकर तृतीयपाद है। यह मति तर्कसे दुष्प्राप्य है जिसे तुमने पाया। अब व्यवहारिक रीतिसे उसीको भूतमें प्रयुक्त किया।

सत्यधृतिंका सत्य धारण करनेवाला-सत्यस्य धृतिर्धारणं यस्य-ऐसा एक अर्थ है। परमार्थ सत्यको ही नचिकेताने पकड़ा। क्षणभंगुर जागतिक पदार्थोंको नहीं। सत्या सात्त्विकी धृतिर्यस्य-सत्य-सात्त्विक धृति जिसकी है-ऐसा दूसरा अर्थ है।

"धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥"

जिस धृतिसे मन, प्राण एवं इन्द्रियोंकी क्रिया नियन्त्रित होती है ऐसी अव्यभिचारिणी धृति सात्त्विक है। यह दृढ़ धारणा बनायी कि मनसे ईश्वरस्मरण; प्राणोंसे ईश्वरकार्य; इन्द्रियोंसे ईश्वरदर्शन, स्पर्शन आदि ही करेंगे और योगके द्वारा वही करने लगे, बीचमें कोई अतिक्रमण नहीं तो वह सत्त्विक धृति है। राजसमें विषय बदलता है। सकामता रहती है। तामसमें तो विषाद आदि अधिक रहते हैं। नचिकेताकी धृति कामरहित है। भय, मोहादिवर्जित है। मन आदिको उस परमार्थतत्त्वकी प्राप्तिमें केन्द्रित कर दिया है। अतः यह सात्त्विक धृति है। धृतिको धर्ममें परिगणित किया है-"धृतिः क्षमा दमो स्तेयम्" इत्यादि। एक तथ्य को ग्रहण कर उसमें रहना भी आवश्यक ही है। आज विष्णुका ध्यान किया, कल शिवका ध्यान किया। दोनों धर्म हैं पर धृति नहीं रही।

त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा। यह भूतभविष्य दोनोंका संमिश्रण है। भावी में अपने वरपर दृढ़ रहकर ब्रह्मतत्त्वज्ञानको प्राप्त करना है। उसे पाया मानकर "यां त्वमापः" कहा। तदर्थ जो प्रश्न किया उसे भविष्यमें रखकर ऐसा प्रष्टा मेरे हो यह कह रहे हैं। अन्य भी ऐसा प्रष्टा मेरे पास आवे यह बात यहां नहीं है। किन्तु इस उपस्थित नचिकेताको ही भविष्यमें रखकर उत्तरको भूतमें देखते हुए यह कह रहे हैं। इस अर्थमें 'नो' यह नः-अस्मभ्यं इस प्रकार व्याख्येय है।

इसका दूसरा अर्थ है-तुम्हारे समान प्रष्टा अशासनीय नहीं है। आशी अर्थ में प्रत्यय है। समग्र विषयों के उपस्थित होनेपर भी उन सबको सर्वथा त्यागकर जिज्ञासित अर्थके ज्ञानके लिये प्रश्नमात्रमें दृढ़ रहनेवाला मनुष्य तो अति दुर्लभ है। उसमें विशेषता है कि नचिकेता कोई बूढ़ा है नहीं जिसके लिये—

"वयसि गते कः कामविकारः शुष्के नीरे कः कासारः।"

यह न्याय लग सके। साथ ही बालक स्वभावतः तत्वज्ञान की इच्छा रखनेवाले नहीं होते। अतएव अल्पबुद्धित्वकी सूचनाके लिये लोग बाल-बुद्धि शब्दका प्रयोग करते हैं। किन्तु बालककी बुद्धिमें यह यथार्थ तत्त्वज्ञान आरूढ़ हो जाय तो मुक्तिपर्यन्त ही होगा। क्योंकि सत्यधृति यह विशेषण अतिरिक्त है। अतएव उपनिषत् के अन्त में "मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा.....ब्रह्मप्राप्तः" इसप्रकार उपसंहार करते हैं। पुराणोंमें ध्रुव-प्रह्लाद आदि कतिपय यशस्वी बालकोंके नाम आये हैं। किन्तु नचिकेताकी कोटिमें वे नहीं आते। क्योंकि वे बाद में राजसिंहासनपर बैठते हैं। प्रेयको स्वीकार करते हैं। उसमें अलिप्त रहे यह बात अलग हो सकती है। अलिप्तता अल्पलिप्ततामें भी कहा जायेगा। ध्रुवने भ्राताको मारनेवाले एक गन्धर्वके बदले हजारों गन्धर्वोंको मौतके घाट उतारे तो उनके पितामह मनुको आकर समझाना पड़ा था। प्रह्लाद को दैत्याधिपति बनाया तो उसे उन्होंने स्वीकार किया था। न स्वीकारते तो उनका वंश कैसे चलता यह सवाल नहीं था। क्योंकि वे चार भाई थे। प्रह्लादका विरोचन हुआ। दैत्यवंशमें महान् पुरुषोंके होनेपर अपने आपको "उग्रजातेः" ऐसा विशेषण स्वयं प्रह्लादने ही दिया तो वंशमहिमासे भी समर्थन निर्वाहमात्र है। सनकादि ऋषि अवश्य महान् हुए। इतना है कि उनकी जिज्ञासा का वर्णन विशेषरूपसे नहीं मिलता। ब्रह्माके सामने एवं हंसके सामने प्रश्न उन्होंने किया है। किन्तु इस प्रकारका ऐसी परिस्थितिमें प्रश्न नचिकेताका ही है। अतः तुम्हारे समान कोई नहीं हुआ न कहकर तुम्हारे समान कोई प्रष्टा नहीं यह बताया।

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

मैं जानता हूं कि शेवधि (निधि) होनेसे प्रेय अनित्य है। अध्रुवसे ध्रुवकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव मैंने नाचिकेत अग्निका चयन किया। और अनित्य द्रव्योंसे नित्यको प्राप्त हुआ ॥ १० ॥

यमराजने 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्' इत्यादि जो कहा उससे यह लगता है कि उसका महत्त्व वे मानते हैं। बल्कि नाचिकेत अग्निविद्यासे अधिक या नाचिकेत अग्निविद्यासे अप्राप्य फल उससे प्राप्त होगा ऐसा समझते हैं। अन्यथा अग्निविद्याके प्रदानके बाद उक्त प्रेयका वरण करनेके लिये क्यों बोलते? दूसरी बात यह कि यमराजने अपने पास ये वाद्य और नृत्यगीत तभी न रखा जब उसका विशेष महत्त्व माना? अन्यथा अपने पास ही उसे क्यों रखते? नचिकेताने उसे ठुकरा दिया सो अलग बात है। हो सकता है नचिकेताके लिये महत्त्व न रखता हो या नचिकेताने स्वयं उसका महत्त्व न समझा हो। सर्वथापि उक्त प्रेयसे नित्य मोक्षकी संभावना तो है ही इस प्रकार किसीकी भी ओरसे प्रश्न उठ सकता है। अतः ऐसा सन्देह या पूर्वपक्ष न उठे इसके लिये यमराज स्वयं सफाई देते हैं।

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यम्। शेवधिका सीधा अर्थ है निधि। "निधिना शेवधिः" ऐसी कोशोक्ति है। शेव सुखका नाम है। शेतेऽनेन। सुख होता है तो मनुष्य चैनसे सोता है। दुःख में नींद नहीं आती। सुखका भंडार शेवधि है। शे मङ्गले मोहे वा, अवधिः समाप्तिमान् शेवधिः ऐसा विग्रह है। जो भी हो किन्तु वह अनित्य होगा। शेवधि माने खजाना। जहां अनेकका संग्रह हो। वह दो प्रकारका होता है। एक बाह्य शेवधि है, दूसरा आन्तरिक शवेधि है। धन, रत्न, सुवर्ण आदि का बाह्य शेवधि है। जैसे कुबेरके पास नव निधि है पद्म, महापद्म आदि। दूसरा आन्तरिक है जिसे कर्म एवं उपासनासे होनेवाले पुण्य समुदायका खजाना कह सकते हैं। पुण्यका ही खजाना कहा जायेगा, पापका नहीं। क्योंकि अच्छे अर्थमें शेवधि शब्द आता है। शेव सुखपर्याय तो है ही। चाहे बाह्य हो चाहे आन्तर, दोनों शेवधि अनित्य हैं। जो संचित एवं उपचित है वह कभी अपचित भी होगा ही। पहले के समयमें निधि जमीनमें गाड़कर रखते थे। लेकिन किसीके हाथ लगनेपर वह समाप्त होता था। हृदय भूमिमें गाड़कर रखा हुआ पुण्य भी वर्तमानमें न सही, कालान्तरमें या जन्मान्तरमें खोल दिया जाता है और खर्च किया जाता है। जहां सुख उत्पन्न होना शुरु हुआ वहां समझ लो निधि खोल दिया है और खलास होना शुरु हो गया है। अतः वैषयिक सुखको विवेकी अपना वैरी समझते हैं। वे उस निधिको पुण्यको

ज्ञानोत्पत्तिमें विनियोग करना चाहते हैं। बल्कि दुःखको वे अपना मित्र समझते हैं। आये सुखको भगानेकी बात नहीं और न आये दुःखको बुलानेकी भी बात नहीं। किन्तु ।स्थितगतिचिन्तनमात्र है। उससे सुखमें मोह नहीं होता, दुःखमें क्लेश नहीं होता। स्वर्गसुखका साधन कर्म शेवधि भी खुलती है तो खलास होते पता नहीं लगेगा। धन स्वर्ण आदि निधिकी तो बात ही क्या? यही प्रेय है।

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्। शेवधि अनित्य भले हो किन्तु उसका परिणाम फल नित्य हो तो क्या उसमें दोष? उसे अनित्य समझनेका उपयोग भी क्या? इसका उत्तर है कि अध्रुवसे ध्रुवकी प्राप्ति नहीं होगी। शाश्वत फल इनका नहीं हो सकता। शाश्वत क्या है? और किससे होगा? मोक्ष ही को तो शाश्वत कहते है। और वह अनित्य श्रवणादि साधनोंसे ही होगा तो "न ह्यध्रुवैः" इत्यादि न्याय कैसे संगत होगा? उत्तर है कि मोक्ष कोई उत्पन्न होनेवाला फल नहीं है। अतएव साधनोंसे वह उत्पन्न नहीं होता। मोक्षको नित्य माना है। आनन्दैकरस स्वरूपावस्थिति मोक्ष है। वह सदा सर्वदा हमारे अंदर है। केवल आवरणसे आवृत हो गया है। ज्ञानप्रकाश से आवरणकी निवृत्ति होती है तो मोक्षकी अभिव्यक्ति होती है। उत्पत्ति नहीं।

दो प्रकारका सुख होता है। एक विषयसुख कहलाता है।दूसरा मोक्षसुख। दोनों ही अन्तःस्थित हैं। विषयोंसे कोई सुख उत्पन्न नहीं होता और न वहांसे कोई सुख अंदर आता ही है। विषयों का प्रयोजन इतना ही है कि उससे अमुक प्रकारकी इन्द्रियवृत्ति उत्पन्न हो और अन्तःस्थ सुख अभिव्यक्त हो। मिठाईयां छप्पन प्रकारकी बनायी। किन्तु जीभ खराब है। बुखारसे, तावसे, जीभ खराब है तो क्या सुख होगा? एयरकंडिशनमें बैठा है, प्रियपुत्र गोदमें बैठा है, लेकिन सर्दी जुकाम ऐसा जोर पकड़ चुका है। शरीर टूट रहा है, तो क्या आनन्द आयेगा? दूसरी ओर योगशास्त्रमें बताया गया है—

"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी"

नासाग्र तालुमूलादि में धारणा, ध्यान, समाधि करनेसे दिव्य सुगन्ध, दिव्य-रूप, दिव्यरस आदिका अनुभव होने लगता है। एक ओर विषय पड़े हैं

किन्तु इन्द्रियवृत्ति न होनेसे आनन्द नहीं। दूसरी ओर विषय नहीं है, केवल इन्द्रियवृत्तिसे सुख हो रहा है तो इस अन्वयव्यतिरेकसे यह सिद्ध नहीं होता कि विषयोंमें सुख नहीं, इन्द्रियवृत्तिमें सुख है? अवश्य सिद्ध होगा। अब और आगे बढ़िये। सपने में विषय भी नहीं। इन्द्रियां बराबर होनेपर भी घाटेका समाचार सुननेसे मनकी अनवस्थितता होनेसे सब कुछ फीका हो जाता है। इस अन्वयव्यतिरेकसे यह निश्चित है कि विषय एवं इन्द्रिय दोनों अमुक प्रकारकी मनोवृत्ति उत्पन्न करनेतक ही सीमित है। आनन्द तो मनोवृत्तिमें है। किन्तु मनोवृत्तिसे ही आनन्द होता तो मन हमेशा है ही, हमेशा सुख होता। वस्तुतः अमुक प्रकारकी मनोवृत्तिसे आत्मानन्दका आवरण तनिक हट जाता है। उसका प्रतिबिम्ब मनोवृत्तिमें आता है तो आनन्दकी अनुभूति होती है। विषयोंके सहारेसे वह वृत्ति हुई तो लोग समझते हैं कि विषयोंसे ही आनन्द हुआ। इस आनन्दको विषयानन्द कहते हैं। दूसरा आनन्द मोक्षानन्द है। उसे समझनेके लिये अब दूरतक उड़नेकी जरूरत नहीं है। विषयाकारवृत्ति से अज्ञान ध्वस्त नहीं होता। थोड़ासा आवरण हटता है। उस समय आनन्दका प्रतिबिम्ब पड़ता है। किन्तु श्रवणमननिदिध्यासनसे आत्मसाक्षात्कारात्मक अखण्डाकार वृत्ति होती है तो उससे अज्ञान ध्वस्त हो जाता है। तब सर्वथा निरावरण निर्मल आनन्द प्रकाशित होता है। वह प्रतिबिम्ब नहीं, किन्तु मूलब्रह्म ही है; वही मोक्षानन्द है।

हजारों प्रकारकी विषयवृत्तियोंसे उस पूर्ण ब्रह्मानन्दका आंशिक प्रतिबिम्ब मात्र होता है तो मूल बह्मानन्द कैसा होगा इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। जिसमें सर्व आनन्द अन्तर्भूत हो वही ब्रह्मानन्द, वही मोक्षानन्द है। उसीकी मात्रायें सकल विषयानन्द हैं।

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'

उस मूल आनन्दके बारेमें सोचो तो यही कहना पड़ेगा कि—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥'

वहां तक वाणी पहुंच नहीं सकती। उसे बताना संभव नहीं। क्योंकि विषय ही अनन्त हैं और उनके आनन्द भी अनन्त हुए, अनन्तमें वाणी का परिच्छेद नहीं हो सकता तो मूल आनन्दकी बात ही क्या?

इन दो आनन्दोंमें विषयानन्द अनित्य है। मोक्षानन्द नित्य है। विषयानन्द अनित्य इसलिये है कि वह प्रतिबिम्बरूप है। उपाधिके उत्पत्ति एवं विनाशके अनुरूप उत्पत्ति विनाशवाला है। वस्तुतः उसकी भी स्वतः उत्पत्ति नहीं है। तथापि उपाधिकी उत्पत्ति आदिको लेकर 'उत्पन्न होता है' ऐसा कहा जा सकता है। अध्रुव पदार्थों से उसीकी उत्पत्ति वा प्राप्ति होती है। नित्य आनन्दकी न उत्पत्ति है और न प्राप्ति ही है।

ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निः। यमराज कहते हैं कि अध्रुव धन, दारा, आदिसे, ध्रुवकी प्राप्ति नहीं हो सकती यह देखकर मैंने नाचिकेत अग्निका चयन किया और उसमें विराड् भावना की। "य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतं" ऐसा पहले बताया जा चुका है। अन्य ज्योतिष्टोमादिमें लगे रहते तो वह भी आन्तरिक शेवधि मात्र होता और "न ह्यध्रुवैः" न्याय उसपर भी लागू होता। नाचिकेताग्निचयन उपासनासहित होनेसे देवलोक साधन होता ही है किन्तु उसके प्रकर्षके कारण देवलोकविशेषके अधिपतिकी पदवी याम्य पदवी प्राप्त हो गयी।

अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्। पूर्वार्धमें "न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्" कहा और उत्तरार्धमें "अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्" कह रहे हैं। यहां विरोधाभास दीखता है। किन्तु विरोधाभास नहीं है। पूर्वमें ध्रुवं फलं न प्राप्यते· यह बताया। अध्रुव पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाला फल सुख ध्रुव नहीं ही होगा। धन दारादि से जन्य सुख तथा ज्योतिष्टोमादि पुण्यसे जन्य स्वर्गादि सुख नित्य नहीं है। श्रुति स्वयं इस बातको कहती है—"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत. एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।" जैसे कृषि आदि कर्मसे सम्पादित धन-धान्यसे समृद्ध लोक क्षीण होता है वैसे यज्ञादि पुण्यसे संपादित स्वर्गादि सुख भी क्षीण होता है। तब "अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यं" यह कैसे? इसी विरोधाभासमें से गीतामें योग निकाला। "योगः कर्मसु कौशलम्।" यही तो कुशलता है। फल भले अनित्य हो किन्तु नित्यकी प्राप्ति हो सकती है। फल कामनाका त्याग करनेपर

हृदयं शुद्धि होनेसे ज्ञान प्राप्त होगा। वही नित्य है। नित्याभिव्यञ्जक होनेसे उसे नित्य बताया। यमराज अपना इतिहास अति संक्षेप में बोल गये। अध्रुव पदार्थोंसे ध्रुवकी प्राप्ति नहीं समझकर उस अनित्य फलभाग में मैंने अध्रुव पदार्थोंको नहीं लगाया। किन्तु अनित्य द्रव्योंसे नाचिकेत अग्निका चयन किया। विराट् की उपासना की। उसका परिणाम यह याम्य पदवी हुई। उस नाचिकेत अग्निविद्या देनेवाले गुरुने वेदान्ततत्त्वोपदेश भी किया यह अर्थात् अवगन्तव्य है। क्योंकि ब्रह्मलोक जानेवाले "वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थ" होते ही हैं। एक साक्षात्कारका कसर रहता है। तब उस लोकके अधिष्ठाता जो बनते हैं वे सुतरां "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थ" होते ही हैं। यत्किंचित्कामना तत्त्वसाक्षात्कारके प्रति प्रतिबन्धक होती है। उस कामनाकी पूर्ति याम्यादि पदकी प्राप्ति होते ही हो जाती है। इधर प्रतिबन्धकविगम होनेसे उसी पूर्व श्रुत वेदान्तसे ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है। किन्तु साक्षात्कार होनेसे पूर्व याम्यादि पदमें आ गये तो अब वह अधिकाररूप हो जानेसे मोक्षके लिये अधिकार समाप्तिकी अपेक्षा रह जाती है। जैसे ज्ञानीको प्रारब्धक्षयकी अपेक्षा है। इसलिये तत्त्वज्ञानीका सद्यः शरीरपात नहीं होता।

पूर्वपक्षवाले कहते हैं कि प्रारब्ध आदि भी अज्ञानका कार्य है। ज्ञानसे सकल अज्ञानका विनाश हो गया तो प्रारब्ध भी तो नहीं रहेगा। नहीं, यह गलत बात है। ब्रह्मरूप ज्ञान अज्ञान और उसके कार्य प्रपञ्चका बाधक नहीं बिल्क साधक हैं। क्योंकि उसके अभावमें अज्ञान आदि रहेंगे कहाँ? किन्तु वृत्तिपर आरूढ़ चैतन्य ही अज्ञानका नाशक है। वृत्तिमें उत्कर्ष अपकर्ष होना निश्चित है। वहां सामान्य वृत्ति होनेपर सांमान्य अज्ञान नष्ट भले हो विशेष अज्ञान रहेगा। एक चालीसपावरका लट्टू जलाया। अंधेरा खतम हो गया। वहीं पर सौ पावरका बल्ब लगाया तो क्या विशेषता होगी? अधिक प्रकाश होगा। किन्तु उससे लेना-देना क्या जब नाशनीय अंधकार नहीं है। किन्तु वृद्धोंको चालीस पावरके लट्टुमें अंधेरा रहता है। पुस्तक मुश्किलसे पढ़ पाते हैं। सौ पावर में स्पष्ट दीखता है। चालीस और सौ पावरके लट्टुओंको दो कोनोंमें लगा दो तो बीचमें खूबप्रकाश दीखेंगा और बाजुओंमें कम प्रकाश जिसपर थोड़ी-थोड़ी

कालिमा-अंधकार। अति स्थूलान्धकार का ही वह सूक्ष्मरूप है। वैसे प्रारब्धादिके प्रतिबन्धसे अखण्डाकार वृत्ति होनेपर भी स्थूल अज्ञान नष्ट होनेपर सूक्ष्म अज्ञान और तत्कार्य प्रारब्ध आदिके रहनेमें कोई बाधा नहीं है। अतएव ब्रह्मा, यम, वरुण आदि तत्त्वज्ञानी होते हुए स्वाधिकारानुरूप व्यवहार करते रहे। आज भी तत्त्वज्ञानी होनेपर भी प्रारब्धानुसार व्यवहार करें तो कोई आश्चर्य या असंभावित घटना नहीं है।

यमराज यहां एक विशिष्ट सूचना अन्तिम पादसे देते हैं कि आपके पास अनित्य क्षणिक फल विषयसुख देनेवाले धनादि द्रव्य हो तो प्रमादी मत बनो। उसका फल शाश्वत समझकर भूल-भुलैयेमें मत पड़ो। अध्रुवसे ध्रुव सुख होनेकी भ्रान्ति मत करो। उससे नित्यप्राप्तिका रास्ता खोजो। अर्थात् साक्षात् जो उसका फल है उस ओर दृष्टि करोगे तो कुछ हाथ लगेगा नहीं। उसका परम्परया नित्यार्थ विनियोग करो।

"आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया"

के भ्रममें पड़ोगे तो "अनेकचित्तविभ्रान्त" तुम "पतन्ति नरकेऽशुचौ" का उदाहरण बनोगे। जो भगवानने दिया उसे फेंकना नहीं है, उसका गलत उपयोग भी नहीं करना है। सदुपयोग करना है। उन द्रव्योंसे ऐसे कर्म और उपासना संपादन करो जो नित्य फलकी ओर ले चलें।

गीतामें एक विलक्षण बात आयी है। लोगोंको वह बात शीघ्र समझमें नहीं आती। "आढ्योऽभिजनवानस्मि" के बादमें—

"यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिता:"

यक्ष्येका अर्थ है यज्ञादि कर्म करूंगा। दास्यामि का अर्थ है दान करूँगा। मोदिष्ये का अर्थ है स्वयं भी मोद (मौज) करुंगा। इन तीनमें कौनसा अंश आसुर है? धन हो तो इहलोकमें आवश्यक भोग नहीं करेगें? क्या यह आसुरभाव है? माना कि वह यथाकथंचित् असुर कोटिमें डाला जाया किन्तु यक्ष्ये और दास्यामि ये दो तो आसुर कोटि नहीं ही हैं। समस्त सनातनधर्मी इन दो अंशोंको ग्रहण करते हैं तो क्या सभी आसुरवृत्ति वाले हैं? कुछ लोगों का कहना है कि साभिमान होनेसे वह असुर है। साभिमान तो होगा ही। संकल्पमें यह पढ़ना ही पड़ता है। अभिमान न हो तो कर्म ही नहीं होगा। ब्राह्मणत्व कर्तृत्वादि अभिमानवान् ही कर्म करेगा।

एतदनुसार 'आढ्योऽभिजनवान्' ये अंश भी बुरे नहीं हैं। इन सबका उत्तर यमराजके इस विरोधाभासी वचनसे होता है। अनित्य द्रव्योंके दो फल हैं। एक साक्षात् फल है, दूसरा परम्परया फल है। साक्षात् फल क्षणिक है। परम्परया फल नित्य है। क्षणिक फल विषयसुख तथा अभिमान सुख है।

'सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्'

इस जगह स्पष्टीकरण किया।

साक्षात्फल सत्कार आदि संमुख आ गया तो परम्परा फल निर्बल होगा। नित्यफलप्रयोजक सत्त्वशुद्धि तो होगी ही नहीं। प्रेयः फल, साक्षात् फल स्वर्ग आदि भी राजस हो जानेसे अतिशिथिल होगा। रजोगुणका परिणाम दुःख है तो 'यन्न दुःखेन संभिन्नं' ऐसा स्वर्गसुख कहां होगा? तब सत्कार आदि मुख्य प्रयोजनवाले यक्ष्ये, दास्यामि इत्यादि आसुर ही तो हुए। अतः इनका फल शाश्वत मत समझो अध्रुवसे ध्रुव सुख होनेकी भ्रान्ति मन करो।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

हे नचिकेता! तुमने इस हिरण्यगर्भपदरूपी स्वर्गको भी त्यागा जहां कामनाओंकी समाप्ति तथा पूर्णता होती है जो जगत्‌का आश्रय है। क्रतुका अनन्तफल है। अभयका पर किनारा है, स्तोम (स्तुत्य) है, अणिमादि ऐश्वर्यगुण युक्त है। विशाल गति है एवं अपनी सर्वोत्तम प्रतिष्ठा आधार है। प्रत्यक्षरूपसे इसे तुमने देखा फिर भी धैर्यसे इसे तुमने त्यागा ॥ ११ ॥

यमराज कह रहे हैं कि जो भी शेवधि है वह अनित्य है। अध्रुवसे ध्रुवकी प्राप्ति नहीं होती। इसके बाद मैंने अनित्य द्रव्यका आश्रयण किया। खैर, नित्य परमात्माके समीपगत होनेसे नित्य कहनेयोग्य तत्त्वज्ञानको उससे कम्रशः मैंने पाया। फिर भी अधिकारपर्यन्तकी प्रतीक्षा मुझे करनी ही पड़ेगी। तुमने तो ऐसे याम्य, वारुण, ऐन्द्रादि पदको भी त्याग दिया, यह तुममें विशेषता मैं देख रहा हूँ। वैराग्यमें तो तुम मुझसे आगे बढ़ गये

हो। अतएव यमराजने पूर्वमें कहा-'त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा'। ऐसा प्रश्नकर्ता मुझे प्राप्त हो यह मुझपर किसीका आशीर्वाद है। इस बातको इस मन्त्रमें बता रहे हैं।

कामस्याप्तिम्। नाचिकेत अग्निचयन तथा उस अग्नि में हैरण्यगर्भ भावनासे की जानेवाली उपासनाका फलवर्णन यह है। क्योंकि "स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति", 'अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां" इत्यादि समान- वर्णन पूर्वमें आया है। इनमें अग्निचयनविशेष बात यहां वक्तव्य नहीं है। वहाँ अन्यत्र वर्णित है। अतएव पूर्ववल्लीमें भी 'लोकादिमग्निं तमुवाच" इतना ही कहकर समाप्त किया। उपासनाके विषयमें कुछ विशेष निरूपण आवश्यक है। क्योंकि उपासना जिस किसी रूपमें हम सबके जीवनका अङ्ग बना हुआ है। वैष्णव विष्णु, राम, कृष्ण आदिकी उपासना करते हैं। शैव, शिव, गणेश, कार्तिक आदिकी उपासना करते हैं। शाक्त दुर्गा, तारा, लक्ष्मी, सरस्वती आदिकी उपासना करते हैं। कुलदेवी, कुलदेवता आदि तो प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार सभी आंस्तिक किसी उपासनासे सम्बद्ध हैं।

ये सभी उपासक परस्पर भिन्न दृष्टि प्रायः रखते हैं, जो किसी मताग्रही संप्रदायवादियोंके अंदर आते हैं। परिणाम यही हुआ कि सबकी उपासना अधूरी हो गयी। वैष्णव कहते हैं विष्णुकी उपासना करो वही सात्त्विक देव है। शिव संहारकर्ता तामस देव है। शैव कहते हैं प्रलयकालमें भले तमोगुणको आगे रखकर संहार करते हों किन्तु सृष्टिरक्षाके समयमें समाधि लगानेवाले परम सात्त्विक शिव हैं। अन्य नाना कार्योंमें निरत असुरादिके संहारकर्ता विष्णु बल्कि राजस तामस रूपवाला है। ब्रह्माको तो प्रायः सबने उपासनासे अलग ही कर दिया है। इस विचारको एक तरफ रखकर प्रथम यह विचार करें कि परमात्मा किसको कहते हैं? प्रायः सभी आस्तिक उपासकोंने ब्रह्मसूत्रको माना ही है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" यहां पर जिज्ञास्यत्वेन वर्णित ब्रह्म ही परमात्मा है इसमें भी किसीका विवाद नहीं। उस ब्रह्मका लक्षण है-'जन्माद्यस्य यतः।' प्रायः सबने इसकी व्याख्या यही की है कि—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व ।"

इस श्रुतिमें निर्दिष्ट जगज्जन्मस्थितिभङ्गकारण परम चैतन्य ही ब्रह्म है। यदि हम केवल सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा) को भगवान् समझते हैं तो यह भगवानका एक देश ही है। वैसे रक्षाकर्ता विष्णुको भगवान् समझते हैं तो यह भी भगवानका एकदेश ही है। वैसे संहारकर्ता शिवको भगवान् समझते हैं तो यह भी भगवानका एकदेश ही है। और इस प्रकार की उपासनासे महान् हानि होती है।

छान्दोग्यमें कथा आयी है कि राजा अश्वपतिके पास प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन उछालक और बुडिल ऐसे छः महान् साधक ऋषि पहुंचे। उन्होंने वैश्वानर परमात्माके बारेमें प्रश्न किया। अश्वपतिने कहा पहले आपलोग यह बात बताओ कि आप किस रूपको परमात्मा समझते हैं? प्राचीनशालने कहा-सुतेजा दिवको मैं वैश्वानर समझता हूं। राजाने कहा, बड़ी अच्छी बात, इससे तुमको बड़ा लाभ हुआ होगा। "अत्स्यन्नं पश्यति प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले भवति"। अन्न अदन, प्रियदर्शन आदि लाभ इस उपासनासे होते हैं। किन्तु-

"मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा
ते व्यपतिष्याद्यन्मां नागमिष्य इति'।"

यह तो वैश्वानरका मस्तक मात्र है। तुम्हारा मस्तक फट जाता यदि मेरे पास आये बिना इस उपसनाको चालू रखते।

इसके बाद सत्य-ज्ञसे पूछा तो वह बोला कि आदित्यको मैं वैश्वानर समझकर उपासना करता हूं। अश्वपतिने पूर्ववत् इसका भी लाभ बताकर कहा यह तो वैश्वानरका चक्षु है। अच्छा हो गया, तू मेरे पास आया। नहीं तो तुम्हारी आंख फूटती, तुम अन्धे बन जाते।

फिर इन्द्रद्युम्नको पूछा तो वह बोला मैं वैश्वानरको वायु समझता हूँ। अश्वपतिने पूर्ववत् इस उपासनाका लाभ बताकर कहा कि यह तो वैश्वानरका प्राणमात्र है। अच्छा हो गया तुम मेरे पास आये नहीं तो तुम्हारे प्राण निकल जाते तुम मर जाते।

फिर जनसे पूछा तो वह बोला मैं आकाशको वैश्वनर समझता हूं। अश्वपतिने वैसे ही प्रशंसा कर कहा यह तो वैश्वानरका संदेह (हृदय) मात्र है। अच्छा हुआ मेरे पास आया नहीं तो तुम्हारा हृदय फट जाता।

इसके बाद बुडिलसे पूछा तो वह बोला कि रयि (अन्न) को वैश्वानर समझता हूं। अश्वपतिने कहा बड़ा इसका फल है। किन्तु यह तो वैश्वानरका बस्तिमात्र है। तुम्हारी बस्ती फूट जाती यदि मेरे पास नहीं आये होते।

इसके बाद उद्दालकसे पूछा तो बोला मैं पृथिवीको ही वैश्वानर समझता हूँ। अश्वपति बोले बड़ा सुन्दर किन्तु यह तो वैश्वानरका पादमात्र है। अच्छा हो गया तुम मेरे पास आये नहीं तो तुम पंगु बन जाते।

इसके बाद अश्वपति ने इन समस्त अंगों सहित अङ्गी वैश्वानरका स्वरूप वर्णन कर पूर्णरूपसे उपासना करने का उपदेश दिया

आजकल जैसी उपासना होती है उसमें यह तुल्यन्याय प्रवर्तित होगा। ब्राह्म यदि ब्रह्माको परमेश्वर समझते हैं तो त्रिगुणमय पुरुषका वह केवल रजोगुण है। उसके उपासकका रजोगुण ध्वस्त होता और सारी प्रवृत्ति बन्द हो जाती। विष्णुको परमेश्वर समझकर उपासना करते हैं तो वह केवल सत्त्व होता और सत्त्व ही ध्वस्त हो जाता फलतः ज्ञान सुखादि रहित केवल दुःखी, मोही बन जाते। वैसे केवल शंकरको ही परमेश्वर समझकर उपासना करते तो तमोगुण फट जाता। निद्रा नहीं आती और पागल बन जाते। उपासना ही कमजोर है. अतः परिणाम शिथिल है यह अलग बात है। प्रत्यक्ष है कि भेदबुद्धि रखनेवाले राम, कृष्ण आदिके उपासक सत्त्वगुणको खोकर ईर्ष्या-द्वेषमें लगे हैं, भोग-परायण हो गये हैं। परिणाममें विषसदृश भोग पाते हैं। तथा शिवके उपासक बम-बम बोलकर भांग पीते हैं। नींद बराबर न होनेसे पागल जैसे बन रहे हैं।

अतः उपासना परमात्मांकी करो जो तीनों गुणोंको बराबर रखते हुए सृष्टि, स्थिति, संहार तीनों कार्य करता है। सभी पुराणोंमें परमात्माका वर्णन इन रूपोंमें ही किया है। केवल उपासना के योग्य नाम तथा रूपका ही परिवर्तन सर्वत्र है। विष्णुपुराणमें विष्णु नाम दे दिया और रूप 'सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलं' बताया। शिवपुराणमें नाम शिव दिया और रूप 'शान्तं पद्मासनस्थं कपूर्रगौरं' इत्यादि दिया। वस्तुतः एक ही परमात्माकी सब लोग नाम और रूपभेदसे उपासना करते हैं। जो रहस्यवेत्ता हैं वे शिवविष्णु वैषम्यमें नहीं पड़ते।

"यं शैवाः समुपासते शिव इति श्रीनाथ इत्यच्युताः
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथः प्रभुः ॥

नामरूप में ही संप्रदायविशेषोंका काम है। वह परम्परासिद्धिमात्रके लिये हैं। परमात्मा एक ही है और हो सकता है। शैव "नमः शिवाय" मन्त्र बोलते हैं। "ध्यायेन्नित्यं महेशं" इत्यादि रूपस्मरण करते हैं। वैष्णव "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" मन्त्र बोलते हैं। "शान्ताकारं भुजगशयनं" इत्यादि रूप ध्यान करते हैं। इतना ही फरक है। बाकी सभी फरक लोभी गुरुघंटालोंका गोखधंधा है कि भक्तोंको फंसाकर रखो, अपना सीधा करो।

जब उपास्य परमेश्वरमें भेद नहीं है, एक ही है वह, तब उन उपासनाओंसे प्राप्य लोक भी तो एक ही होगा। जैसे एक ही परमात्माके शिव-विष्णु आदि भिन्न-भिन्न नामरूप भक्तकी भावनाके अनुसार हैं वैसे भगवानका लोक भी एक होनेपर भी भावनाके अनुसार नामरूप भिन्न-भिन्न होंगे। भक्तकी भावनाके अनुसार रूपभेद हैं। यही तत्तत् पुराणोंमें वर्णित हुआ है। चाहे वैष्णव वैकुण्ठ गद्यसे उसे समझें, चाहे शैव कैलास गद्यसे समझें।

इस उपासनासे अपने-अपने अभीष्ट नामरूपसे ये सब ब्रह्मलोक पहुंचते हैं और सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य नामकी पदवियोंको प्राप्त होते हैं। सालोक्यमें तो ब्रह्मलोकमें पहुंचते हैं और वहां किसी भी रूपमें रहते हैं। जैसे कैलासका वर्णन आया—

"कैलासे। गिरिशिखरे कल्पद्रुमविपिने
गुञ्जति मधुकरपुञ्जे कुञ्जवने गहने
कोकिल कूजति खेलति हंसावलि ललिता
रचयति कलाकलापं नृत्यति मुदसहिता ॥"

इत्यादि। वहां कल्पद्रुम आदि स्थावर, प्राणी आदि कैसे आये? भ्रमर यहांसे उड़कर वहां पहुंच गये क्या? कोयल, हंस, मयूर आदि कैसे वहां पहुंचे? ये सब यहां के उपासक वहां पहुंचकर नानारूपोंमें रह गये हैं। यही सालोक्य है। सामीप्य में नन्दी, भृंगी, भृंगी आदि, वैकुण्ठमें जय-विजय

आदि हैं। सारूप्यमें वहांके मुख्य उपासक भगवानके समान विग्रहके होंगे। कैलासमें शिवके समान आकारके होंगे, पुरुष और स्त्रियां पार्वती के समान आकारके। इत्यादि समझा जाता है। सार्ष्टिमें ऐश्वर्य भी समान होगा। विष्णु भगवान् वरदान देते हैं तो गरुड़ आदि भी तो वरदान देते हैं। सायुज्य अन्तिम है। उसीको 'वैरजं पदं प्राप्नोति' बोलते हैं। शिव विष्णु आदिके साथ एकीभूत होकर रहते हैं। एक कल्पमें प्रथम उपासक विराड् बनेगा। बाकी बादमें आनेवाले तद्रूप होंगे ऐसा भी कुछ लोग विचार रखते हैं परन्तु परमात्माके साथ सर्वथा भेदनिरास यहां नहीं होता। वह तो नानारूप उपाधि बाध होनेपर ही संभव है। अधिकार पर्यन्त नामरूप समाप्ति नहीं होती। उस समयकी स्थिति इस मन्त्रमें है।

कामस्याप्तिम्। कोई भी कामना वहां अधूरी नहीं रहती। यह विराज पद ऐसा हैं जहाँ सर्व कामनाओंका समावेश है। 'जक्षत् क्रीडन्, रममाणः स्त्रीभिर्वा यानेर्वा' इत्यादि फल वहां मिलता है और यही परम मोक्ष है ऐसा विशिष्टद्वैतवादियोंका मत है। परंतु वेदान्त सकल आनन्दविशेषोंको उपलक्षित कर समुद्रोपम आनन्द ब्रह्ममें सर्वका समावेश बतलानेमें तात्पर्य मानते हैं। अन्यथा पुरुषोंके लिये स्त्री भी रममाण ठीक है। स्त्रियोंके लिये क्या होगा यह बताना होगा। अस्तु 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इच्छा हो गयी, संकल्प हुआ मां-बाप पासमें आ जाय तो तुरंत वहीं सब देखेंगे। यही कामस्याप्ति है। सर्वकामसमावेश ही वैराजपद हैं।

जगतः प्रतिष्ठाम्। समस्त जगत् का आश्रय यह वैराजपद है। यह उपासनाविषय गुणमात्र है। यहाँ स्वरूपवर्णन है। अथवा यों समझ सकते हैं कि उपासनाके बलसे वैराज पद प्राप्त होनेपर अपनेको अनुभव होगा कि समस्त जगत् का आधार मैं ही हूँ। उपासना कालमें इस गुणका चिन्तन भी आवश्यक है। शंकरका विराड् रूपसे शिवपुराणमें वर्णन है ही। श्रीमद्भागवतमें भी अमृतमन्थनके प्रसङ्गमें है। श्रीकृष्णने तो कई बार अपने को जगत् का आश्रय दिखाया। यशोदामाताको दो बार मुखमें जगत् दिखाया। मार्कण्डेयको उदरमें।

क्रतोरनन्त्यम्। संकल्पात्मक-उपासनात्मक क्रतुका फलभूत आनन्त्य यह वैराजपद है। यह भी स्वरूपवर्णन मात्र है। अथवा पुण्यसंकल्प ही क्रतु है। जब आनन्दमय पुण्यसंकल्प उठता है तब उसका विषय अनन्त दीखने लगता है। फलतः नाश, परिच्छेद आदि भयशोकरहितका। अनुभव होता है। इस प्रकार समस्त इच्छित अर्थकी प्राप्तिसे संतुष्टि, जगदाश्रयतासे गौरव एवं सत्संकल्पविषयके आनन्त्यसे निर्भयता बेफिक्री वैराजपदमें बताये।

अभयस्य पारम्। इन्हीं तीनके कारण अभयकी पराकाष्ठाका अनुभव वहां होता है। इच्छित वस्तु न मिले यह भय नहीं। मुझसे बड़ा या बराबर कोई हो यह भय नहीं। आनन्द समाप्त हो जाय यह भी नहीं। शत्रु आदिका भय तो दूरनिरस्त है। क्योंकि सबका आश्रय स्वयं जो हुआ।

स्तोम। इन सबके बावजूद यदि निन्द्यता आ गयी तो सब किरकिरा जायेगा। प्रश्न होगा कि जगदाश्रय हो तो निन्दा कौन करेगा? उत्तर है कि आश्रित भी कभी आश्रयकी न्यूनता होनेपर निन्दा कर सकता है। सेठमें खामी देखकर नौकर भी सेठकी निन्दा करने लगते हैं। हमारा सेठ क्रूर है, लोभी है इत्यादि कह बैठते हैं। फिर सबसे बड़ा निन्दाभय सामने तब आता है जब श्रुति इन पदोंको तुच्छ बोल पड़ती है। तो साधारण रूपसे श्रुति भी स्तुति ही करती है।

इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते
न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते
श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये ।

इत्यादि भूरि-भूरि स्तुति श्रुतियोंमें देख सकते हैं।

महत्। क्या एकबार कामाप्ति आदि जैसा देखा वैसा ही अनन्तकाल पड़ा रहेगा? फिर कहीं इस पदसे ऊब जाय तो? नहीं। यह अणिमादि ऐश्वर्यादि अनेक गुणोंसे संयुक्त है। हमेशा अनन्तरूपमें ही अपनेको देखनेकी जरूरत नहीं। जब चाहो अणुरूप हो, जब चाहो महद्रूप हो। जब चाहो अतिभारी, जब चाहो अति हल्का इत्यादि। ये सब ऐश्वर्य महीयमान अर्थात् पूज्यमान होनेसे महत् शब्दसे कहे जाते हैं।

उरुगायम्। "स्तोमं" से गतार्थ होनेसे उरुगायं का उरुगीयमान अर्थ उपयुक्त नहीं है। अतः भाष्यमें विस्तीर्ण गति अर्थ किया है। अन्यसभी पद

अल्पकालिक हैं। हैरण्यगर्भ पद सर्वापेक्षया अधिक काल स्थायी हैं अतः विस्तीर्ण है। गतिका अर्थ है प्राप्ति "मामेवानुत्तमां गतिं" जैसे कहते हैं वैसे इस पदको विस्तीर्ण गति बताया जा रहा है। अथवा उरुधा-बहुधा गीयमान है। यह स्तुत्य है और ब्रह्मलोक, शिवलोक, साकेतलोक, परमानन्द इत्यादि बहुधा गीयमान है। अर्थात् एतत्सदृश और कोई नहीं है। समानतामें और अधिकतामें ईर्ष्यादि दोष संभावित है। उनसे यह रहित है।

प्रतिष्ठाम्। जगत् की प्रतिष्ठा तो वैराजपद है। किन्तु वैराजपदकी प्रतिष्ठा कहां है? उसके खसकनेपर वैराजपद भी तो खसक सकता है। उसके पराधीन तो अवश्य होगा। इस पर कहते हैं कि यह स्वयमेव प्रतिष्ठा है। स्वप्रतिष्ठित है। इसके लिये प्रतिष्ठान्तरकी आवश्यकता नहीं है। शुद्ध ब्रह्म तो दर्शनविषय नहीं है। अतएव "दृष्ट्वा" इस अग्रिम विशेषणानुसार स्वप्रतिष्ठता है।

दृष्ट्वा। नचिकेताने इस प्रकारके वैराजपदको देखा था। कब देखा था? कहां देखा था? यह तो उपासनाके बाद मरणके बाद फलपाक समयमें देखनेकी वस्तु है। ठीक है। परंतु यमराजने स्वशक्त्या दिखाया। लेकिन दिखानेका प्रसंग पहले नहीं आया है। सृङ्कामें यही तो दिखाया। सृङ्काका अर्थ है रत्नमाला। वे रत्न क्या थे? कर्म एवं उपासनाके फल नाना लोक ही उसमें मणिरूपसे गूंथे थे। उसमें एक मणि इन्द्रलोक है। जहां "इमा रामाः सरथा सतूर्याः" नाच रही है। दूसरा दाना ब्रह्मलोक है। जहां ऐरं मद अमृत सरोवर आदि है। तीसरा विष्णुलोक है। जहां धनाधिष्ठातृ देवी लक्ष्मी विराजमान है। अनन्तश्री सम्पन्न है। चौथा दाना शिवलोक है। जहां "अनन्तनवरत्नविलसत् करकर्किकिणि झलञ्झल झलञ्झलरवं" शंकर भगवान् तांडव कर रहे हैं। पांचवां गोलोक है। जहां श्रीकृष्ण भगवान् गोपियोंके साथ नित्यरासमें लगे हैं। इस प्रकार इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि अनेक देवों के लोक दानोंके रूपमें सृङ्कामें यमराजने दिखाया।

धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। सुननेकी बात अलग है। देखनेके बादकी बात अलग है। स्वर्गलोक बड़ा सुखपूर्ण है। अप्सरा आदि युक्त है कहनेपर भी आप कहेंगे—हमको नहीं चाहिये। विनाशी है। परंतु यह केवल

सुनने मात्रकी बात है। क्योंकि उसके अस्तित्वमें, प्राप्तिमें अभी विश्वास ही नहीं बैठा है। एक भिखारीको बोलो हम तुमको करोड़पति बनाते हैं। वह कहेगा ना बाबा, करोड़पति न स्वच्छन्द चल सकते, फिर सकते, खा-पी सकते। हम ऐसे ही ठीक हैं। ऐसी-ऐसी बातें कब तक? जब तक पानेकी आशा नहीं। मिलनेपर कहो कि अब यह सब छोड़ दो। छोडना दूर, और जोड़ना तब पसंद करेंगे। पंजाबकी बात है। एक अच्छे संत हरिगिरि बाबा हुए। उनके गुरुजीका मठ बहुत सम्पन्न था। हरिगिरि विरक्त थे। गुरुजीने उनको महंत बनने कहा तो उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा मठ चलाने किसीको ला देता हूं। वे दुर्ग्याणा मंदिर आये तो वहां कई भिखारी बैठे थे। एक भिखारी अच्छा जवान लगा तो उससे पूछा—तुमको महंत बनना है? उसने कहा—ना बाबा। महंत लोग बड़े कमनसीब होते हैं। उन्होंने कहा—चलो तो सही साथमें। आखिर साथ चलना माना। वह सब मजाक समझ रहा था। उसको मठमें रखा और एक दो साल बाद महंत बना दिया। पहले-पहले वह हरिगिरिजीको तो भगवान् मानने लगा। समय बीता। समयका प्रताप विलक्षण है। उसके मनमें संशय होने लगा, कहीं इन्होंने मुझे महंत की गद्दीसे उतार दिया तो? क्योंकि भगत सभी हरि-गिरिजीके ही थे। अब यह स्वामी श्रीहरिगिरिजी को ही वहांसे निकालनेकी कोशिश करने लगा। यह लो प्रथम बाह्य वैराग्य और बादमें प्रकट आन्तर राग। यही स्वर्ग की भी दशा है। यहांसे ना कहोगे क्योंकि उस भिखारीके समान विश्वास ही नहीं होता। फिर कहीं स्वर्गमें पहुंचो तो इन्द्रको भी वहांसे निकाल बाहर करनेकी कोशिश करोगे। विषयोंका आकर्षण विलक्षण है।

नचिकेताने केवल सुना नहीं। सृङ्कामें प्रत्यक्ष देखा। किन्तु शतायु पुत्र-पौत्र आदि एवं हस्ति, हिरण्य आदिके साथ सृङ्काको भी ठुकराया। भूख लगी है। इन्द्रियां तरस रही हैं। गुलाबजामुन सामने आया है। डायाबिटीसकी बिमारी रोक रही है। लेकिन प्रत्यक्ष आनेपर रोकना संभव नहीं। डायाबिटिस रोकनेमें कुछ सहारा दे दे। पर वह भी न हो तो कहना क्या? अतिधैर्य हो तो ही रोका जा सकता है। वही धैर्य धृत्यासे यहां बताया जा रहा है। धीरः का विवेकी धीमान् अर्थ है। सबको अत्यस्राक्षीः—

परित्याग किया। ऐसा श्रोता संसार में दूसरा नहीं हुआ। स्वयं यमराज अपने लिये कहते हैं—"अनित्यैःप्राप्नवानस्मि नित्यम्"। तब यह उक्ति मुहंसे क्यों न निकलेगी "त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा।"

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

अति गहन, बुद्धि गुहामें स्थित, दुर्गाश्रित एवं दुर्दर्श अनादि इस देवको अध्यात्मयोगसे जानकर धीर पुरुष हर्ष एवं शोकसे रहित होता है ॥ १२ ॥

नचिकेताने ऐहिक प्रेयका तो त्याग किया ही था। स्वर्गीय "इमा रामा" इत्यादि और "ये ये कतमा दुर्लभा मर्त्यलोकें" इत्यादिको भी त्याग दिया था। देवलोककी जिज्ञासासे-अग्निविद्याकी जिज्ञासासे, वैरज या हैरण्य-गर्भपदकी अभिलाषा प्रतीत हुई थी। किन्तु सृङ्काको जिसमें समस्तं फल मणिवत् पिरोये हुए दीख रहे थे देखने के बाद "दृष्ट्वा धृत्याऽत्यस्राक्षीत्" धैर्यके साथ उसे भी त्याग दिया था। अतएव समस्त प्रेयका त्याग स्पष्ट हुआ। श्रेयसे भी कहीं वैराग्य न हो, इसके लिये श्रेयकी निर्दोषता बतलाते हुए उसकी दुर्गमताको फिर एकबार यमराज प्रस्तुत करते हैं।

तं दुर्दर्शम्। इस परमार्थतत्त्वका दर्शन पाना बड़ा कठिन है। क्यों है कठिन? अणु प्रमाणसे भी अणुतर होनेसे? परमाणु होनेसे? नहीं वह परमाणुरूप नहीं है। व्यापक है। तो क्या अदृश्य, अप्रकाश होनेसे? नहीं। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्"। जगत् ही तब भासेगा जब प्रथम वह भासता है। अस्ति, भाति, प्रियरूपसे सर्वत्र वह भासमान है। गृहमस्ति, पृथिवी अस्ति, जलमस्ति इत्यादि रीति सर्वत्र वह सत्ता आदि रूपसे रहा है। फिर भी नहीं दीख रहा है यही तो कठिनाई पड़ गयी। असली बात क्या है? असली बात यह है कि उसपर कई पर्दे आ गये जिनके कारण दीखने पर भी नहीं दीखता। फलपर्यवसायी दर्शन नहीं हो पाता।

गूढमनुप्रविष्टम्। परमेश्वर व्यापक है। "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" वह बाहर भीतर दोनों जगह है। किन्तु दोनों जगह अलग-अलग पर्दे हैं। बाह्यके पर्देको बतानेवाला विशेषण है गूढ़मनुप्रविष्टम्। बाहरके पांच आवरण हैं और भीतरके भी उतने ही हैं। ब्रह्म केवल सत्तामात्र है।

"रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः॥"

वह रूप पर्दों के कारण अव्यक्त है। स्वयं तो विष्णु अर्थात् व्यापक है। "तद्विष्णोः परमं पदं" ऐसा यहां भी वर्णन आयेगा। वह गुणादिरहित है। सत्तामात्र है। किन्तु सत्तामात्ररूपसे उसका दर्शन नहीं होता। 'गृहमस्ति', 'पृथिवी अस्ति' ऐसा दर्शन होता है। केवल अस्ति इतना दर्शन नहीं होता। और 'गृहमस्ति' में गृहने उस अस्तिको ऐसा घेर लिया है कि गृहं बोलो, गृहमस्ति बोलो, मानो कोई फरक ही नहीं है। यह लाल पुष्प है ऐसा प्रत्यक्ष हो रहा है। पुष्पको हम आंखसे देखते हैं। और 'है' किससे देख रहे हैं' ? का रूप क्या है? जो पुष्पका लाल रूप वही 'है' का भी रूप तो वायु है यहां भी वही 'है' भास रहा है। वहां भी लाल रूप होना चाहिये। नहीं तो 'है' खण्डित मानना होगा। इस प्रकार गृह पुष्प आदिसे सत्ता नगण्य हो गयी। जब कि पुष्पसे 'है' प्रकाशित नहीं होता, 'है' से पुष्प प्रकाशित होता है। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्"। उस 'है' को कोई प्रकाशित नहीं करता। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' किन्तु ये ही पृथिवी आदि पर्दे बने हुए हैं।

अध्यात्मयोगसे इस स्थूल आवरणको प्रथम हटाना है। कैसे हटाना है? वितर्क आदि समाधिसे।

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।"

घटमें सत्य वस्तु क्या है ? मृत्तिका। पटमें तन्तु। घट, पट आदि वाचारम्भणमात्र है। इसका निरन्तर अभ्यास होनेपर स्थूल वस्तु गायब हो जायेगी। किन्तु सूक्ष्मतत्त्व पर्देके रूपमें आयेगा। वह क्या है? तन्मात्रा। उसमें भी फिर वही बात है। "मृत्तिकेत्येव सत्यं" घट दृष्टिसे। किन्तु मृत्तिका दृष्टिसे देखनेपर चूर्ण सत्य होगा। मृत्तिका मिथ्या होगी। उसमें अणु सत्य होगा। चूर्णादि मिथ्या होगा। अणुमें तन्मात्रा सत्य होगी।

इस तन्मात्रापर फिर विचारसमाधि लगायी जाती है। तब उसमें मूल कारण महत्तत्त्व सत्य दिखायी देगा। तन्मात्रा मिथ्या भासित होगी। महत्तत्त्व क्या है? समष्टिबुद्धितत्त्व। इसीको ईक्षण कहते हैं। "तदैक्षत"

इसीको संकल्प काम आदि भी कहते हैं। यह ईश्वरीय संकल्प ही महत्तत्त्व है। उसीसे तन्मात्रा हुई।

"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृत।"

इस प्रकार श्रुतिमें बताया है। तेजमें स्थित होकर पुनः ईक्षण किया। तब जलादि हुए। मतलब सभी तन्मात्रा क्रमशः ईक्षणजन्य है। इसको योगियोंने आनन्द बताया। आनन्दमें ही तो कामना है। यह महत्तत्त्व भी पर्दा है।

इस महत्तत्त्व पर फिर आनन्दसमाधि लगायी जाती है। तब उसमें मूल कारणरूपसे अहंतत्त्व दिखाई पड़ेगा। अहंको अहंकार बोलते हैं। किन्तु गर्वरूपी अहंकार नहीं। किन्तु अहंप्रतीतिविषय समष्टि अहंतत्त्व है।

"एकोऽहं बहु स्यां"

इसप्रकार अहं स्फुरणा है। वर्णों में आदि 'अ' है। और अन्तिम 'ह' है। 'क्ष' तो संयुक्तवर्ण है। आदि और अन्तके ग्रहणसे इसप्रकार मध्यगत सभी वर्ण भी आ जाते हैं और तज्जन्य सभी शब्द भी। उससीसे ईक्षणद्वारा जगतका निर्माण हुआ। माण्डुक्यमें यह बात स्पष्ट बतायी है कि शब्दसे सृष्टि हुई।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं
यद् भूतं भवद् भविष्यदिति तत्सर्वमोंकार एव ॥

ॐ में अकार है। वही सर्ववर्णरूप है। 'अकारो वै सर्वा वाक्। इस अहंको योगी लोग अस्मिता कहते हैं। आगमशास्त्रकार प्रकाशविमर्शात्मक शिवशक्तिसंयोग कहते हैं। माण्डूक्य कारिका आदिमें सुषुप्तिके बाद प्रथम अहंका ही उन्मज्जन बताया है। उसके बाद ईक्षण, पुनः सृष्टि बतायी है। यह अस्मिता भी एक पर्दा है। 'अहमस्मि' ऐसे उसमें भी सत्ता क्रोडीकृत है।

इस अहंतत्त्वमें अस्मिता समाधि लगायी जाती है। तब यह अस्मिता भी वाचारम्भण मालूम होगा। उसके अंदर प्रकृति त्रिगुणात्मिका दीखेगी जिससे आत्मा शान्त, घोर एवं मूढरूपेण दीखेगा। उसे वेदान्तमें माया, शाक्त सिद्धान्त में शक्ति, सांख्ययोगमें प्रकृति एवं पुराणादिमें अव्यक्त, अव्याकृत आदि शब्दसे बोलते हैं।

"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका सा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूते ॥"

इसीको लेकर परमात्माको शान्त आदि बताया।

"नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे ।
निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥"

ऐसे गुणधर्मों को लेकर स्तुतिमें बताया। यह प्रकृति भी पर्दा है।

इसी प्रकृतितत्त्वपर समाधि लगानेपर प्रकृति भी वाचारम्भण मालूम होंगी। या माया स्वयं कल्पनात्मक होनेसें कल्पनारूपसे प्रतीत होगी। उसका बाध होनेपर जगत् में आत्माका दर्शन होता है। सत्तामात्र तब स्फुरित होगा। यह बाह्यआत्मदर्शनपद्धति हुई।

गुहाहितम्। यह अंदरकी आत्मस्थितिका वर्णन करता है। जैसे बाहर पांच पर्दे हैं वैसे भीतर भी पाँच पर्दे हैं। पाँच गुहाओंका वर्णन पंचदशीमें किया है। तैत्तिरीय उपनिषदमें उसका विशद वर्णन है।

देहादभ्यन्तरः प्राणादभ्यन्तरं मनः ।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ॥"

प्रथम आवरण अन्नमय कोश है। मैं बैठा हूँ। उठता हूं। स्थूल हूँ। कृश हूं इत्यादि सभी स्थूल शरीरको लेकर आत्मामें आवरण हो रहा है। कठोपनिषद् में योग पर क़ाफी जोर लगाया है। "अध्यात्मयोगाधिगमेन" यह पद यहीं पर पढ़ा ही गया है। "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह"। इत्यादि नाडीवर्णन आगे मिलेगा। प्रथम राजयोगप्रतिपादक है। द्वितीय कुण्डलिनीयोगप्रतिपादक है। उस योगाभ्याससे इस शरीरको जब भूल जाते हैं तब सूक्ष्मतत्त्वावलोकन होने लगता है। अन्नमयमें प्राणशक्ति-दर्शन होगा। पुनः प्राणावरोध आदिसे मनोदर्शन होगा। उसके बाद विज्ञानमय ही अहं है। उसे कर्ता बताया है उसके बाद आनन्दमय है। वही भोक्ता है। उसमें फिर ब्रह्म की स्थिति है। "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" ऐसा जो कहा गया है।

गह्वरेष्ठम्। स्थूलसूक्ष्मादिको मिथ्या समझकर बाधित किया जाय और अन्नमय, प्राणमय आदिका उपसंक्रमण किया जाय। इतना ही तो है। इसके लिये इतने समाधि आदिकी क्या आवश्यकता? इस पर कहते हैं कि यह कोई सरल काम नहीं है। यह आत्मा गह्वरेष्ठ है। गह्वरे विषमेऽनेकार्थसंकटे तिष्ठति। इस रास्ते में बड़े-बड़े संकट उपस्थित होते हैं। काम-क्रोध आदि

कांटे हैं। असंभावना, विपरीत भावना तो मगरमच्छके समान निगलने बैठे हैं। 'गह्वरस्तु गुहादम्भनिकुञ्जगहनेष्वपि' ऐसा कोश है। लता-कण्टक आदि से आकीर्ण है यह स्थान। दम्भ-बाहरका दिखावा बहुत है जहां लोग फंस जाते हैं। 'वाचारम्भणं विकारो' बोलने लगते हैं। इतनेमें सुन्दर कमनीय प्रिय कलेवर दिखाई पड़ा। मिथ्यात्वको भूल गये और मोहमें पड़े। कण्डु ऋषि, विश्वामित्र ऋषि आदि प्रम्लोचा, मेनका आदिको देखकर तप करना ही भूल जाते हैं। सौभरि तो अन्नमय वृद्ध होनेपर उसे मिथ्या देखने के बदले योगबलसे सुन्दर बनाकर युवा देखने लगे। अङ्गिराको देखकर कुरूप होनेसे सुदर्शन हंस पड़ा तो उनको क्रोध आया और सर्प बनने का शाप दिया। नंदरायको निगलते हुए उसका उद्धार कृष्णने किया। ये सभी बाधविरोधी हैं। आत्मदर्शनवालोंको भी व्यवहारकालमें ईषदावरण आ जाता है और मैं मोटा, मैं पतला, मैं भूखा, मैं सोचता हू, जानता हूँ, भोजनमें आनन्द आया इत्यादि प्रतीति होती है।

इस प्रकार 'गूढमनुप्रविष्ट' अर्थात् भाष्यानुसार 'प्राकृत विषय-विकारैः प्रच्छन्न' प्रकृतिसे लेकर स्थूल पर्यन्त विषयविकारोंसे आच्छादित होनेसे तथा अन्नमयादि गुहापरम्परासे आवृत होनेसे यह आत्मा गह्वरेष्ठ हो गया, गहन कण्टक आदिसे आकुल मार्गसे परे जाकर स्थित हुआ। अतः दुर्दर्श हो गया।

पुराणम्। इसका एक अर्थ पुरातनं अर्थात् अनादि है। दूसरा अर्थ है पुराणि आनयतीति पुराणम्। अनितेर्ण्यन्तस्यानयतीति। तीनों पुरोंको जिलाने- वाला है। जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति ये तीन पुर हैं। इन तीनोंका जीवन आत्मा है। और ये तीन पुर-त्रिपुर असुर है। असुषु रमन्ते। उनको जिलाते रहेंगे तो इनसे पार कैसे पा सकेंगे? त्रिपुरारि शिव है और त्रिपुर-जीवनदाता भी वही है।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा। आत्मदर्शन कैसे होगा? अध्यात्म-योगसे। 'विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानमध्यात्मयोगः' ऐसा भाष्य है। बाह्य शब्दादि विषयोंसे चित्तको, जहांसे वह निकला उसमें प्रतिसंहार करो, मनमें लाकर रखो, फिर आत्मामें लगावो। बाह्य विषयोंमें भी नामरूपसे हटाकर उसके अन्तःस्थित आत्मा-अस्ति, भाति, प्रियमें

स्थापित करो। जैसे पहले बताया–घटकी आत्मा मृत्तिका है। उसकी आत्मा अणु है। उसकी आत्मा तन्मात्रा, उनकी आत्मा ईक्षण, उसकी आत्मा अहंत्व, उसकी त्रैगुण्य और अन्तमें परमात्मा उस आत्मामें योग अध्यात्मयोग है। और अंदर प्रथम स्थूल शरीरको आत्मा समझा है। "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः" इस रीति आत्माकी आत्मा करते हुए आनन्दमयतक पहुंचते हैं। उसके परम आत्माके रूपमें "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस प्रकार पुच्छ ब्रह्मको जानते हैं। यही आत्मयोग है।

देवं मत्वा। दोनों तरफ परमात्माका प्रकाशन किससे होगा? "नैव वाचा न मनसा" यह आगे बताना है। न वाणीसे न मनसे उसका प्रकाश होगा। बस, बाह्यका त्याग-बाध करते-करते अंदरकी ओर अध्यात्मयोगसे बढ़ते जायेंगे तो अंतमें जो बचेगा वही देव ही निकलेगा। वह स्वयंप्रकाश होगा। देवका अर्थ है दीव्यति प्रकाशत इति देवः। सर्व बाध होनेपर चित्त अखण्डाकार होगा। वहां स्वप्रकाशरूपसे देव प्रकाशित होगा।

धीरो हर्षशोकौ जहाति। मननके बाद वह स्वयं धीर अर्थात् धीमान् होगा। या धीर होकर अध्यात्मयोगसे आत्मदर्शन करेगा ऐसा पूर्वकि साथ अन्वय है। उसका फल है–हर्ष और शोककी हानि। ब्रह्मज्ञानका फल धनप्राप्ति नहीं, स्वर्गप्राप्ति नहीं, निग्रहानुग्रह शक्तिप्राप्ति नहीं, आकाश-गमन, जलकण्टकोत्क्रान्ति आदि सिद्धि नहीं। यह बात अलग है कि ब्रह्मज्ञानीके पास अपने आप ही कुछ सिद्धियां उपस्थित होने लगती है, ब्रह्मज्ञानी का वचन सत्य होने लगता है किन्तु वास्तविक फल है हर्षशोकाभाव। अज्ञानियोंके लिये खास बात है हर्षशोकाक्रमण।

"हर्षस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥"

मूढके तो हर दिन हजारों हर्षकारण और सैकड़ों शोककारण होते हैं। बहुत सारा धन मिला तो बड़ा हर्ष हुआ। पुत्रजन्म हुआ तो हर्ष हुआ। नया सुन्दर मकान मिला तो हर्ष हुआ। यह तो बड़ी बातें हुईं। नया फर्निचर आ गया हर्ष हुआ। नया कपड़ा, नयी साड़ी पसन्दकी आयी तो हर्ष हुआ। खिला हुआ फुलका थालीमें आया तो हर्ष हुआ। अच्छा, यह

तो अच्छी वस्तुएं हुईं। किसीने आकर प्रशंसा की आप तो सचमुच देवता हैं। भोले भाले हैं। नेक हैं, अल्पभाषी हैं, बस मिला-जुला कुछ नहीं, लाटरी लगी नहीं फिर भी हर्ष हुआ। हर्षस्थान तो सहस्रों इस प्रकार है। फिर भी उस प्रशंसकको जब-जब देखते हैं तब-तब हर्ष होने लगता है। चलो, इसमें कुछ शब्द सुननेको मिला। किसीने सलाम किया तो भी हर्ष हुआ। हर्ष स्थान तो सहस्रों इस प्रकार हैं। इसके विपरीत. शोकस्थान भी सहस्रों हैं। धनसे व्यापारमें घाटा हुआ तो शोक। घाटेकी भी जरूरत नहीं। लाखकी आशा थी, पचास ही हजार मिला तो शोक। पचीस हजार की आशा में पचास हजार मिला तो वही हर्षस्थान भी बनता है। फ्लेट कभी छोड़ना पड़ता है तो मरणशोक होता है। कोई मर गया तो शोक। ज्यादा क्या, भोजनमें एक रोटी जली हुई मिली तो इतना शोक एक आदमीको होते हुए देखा दिनभर दौड़धूप कर कमाता हूं, एक अच्छी रोटी भी नसीब नहीं। इतना शोक हुआ और तुरंत क्रोध आ गया, रोटी उठाकर औरतके मुंहपर दे मारा। इस प्रकार क्षण-क्षण में हर्षस्थान और शोकस्थान उपस्थित होते हैं। उपस्थित तो जैसे मूढके पास होते हैं वैसे पण्डितके पास भी होते हैं। फरक इतना ही है कि मूढमें वे प्रवेश करते हैं, पण्डितमें नहीं। विवेकी समझता है कि प्रकृतिमें गुणदोष दोनों हैं। ये सब आते रहते हैं। मेरा इनसे कोई मतलब नहीं। धीरो हर्षशोकौ जहाति।

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैवा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरः ॥"

सारी दुनिया हमारी प्रशंसा करे यह संभव नहीं। सारी दुनिया निंदा करे यह होता नहीं। कुछ स्तुति करेंगे, कुछ निंदा करेंगे। इसे कोई रोक नहीं सकता। लक्ष्मीका आना जाना तो बना ही रहता है। मरना है तो वह आज हो चाहे सौ साल बादमें होना ही है। धीर पुरुष इन बातोंमें विचलित नहीं होते ॥

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा विवृतँ-सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

जो मनुष्य इस आत्मतत्त्वका श्रवण कर उसका परिपोषण करते हुए शरीरादिसे पृथक् कर देखता है वह इस सूक्ष्म एवं परमधर्मगम्य आत्मतत्त्वको पाता है और मोदनीय वस्तु पाकर मुदित होता है। मैं मानता हूं कि नचिकेताके लिये ब्रह्मसदनका कपाट खुल गया है ॥ १३ ॥

पूर्वमन्त्रमें आत्मतत्त्वको दुर्दर्श बताया, अदर्श नहीं। दुर्लभ और अलभ्यमें फरक है। दुर्लभ उसको कहते हैं जो कठिनाईसे मिले। अलभ्य उसे कहते हैं जो किसी प्रकार नहीं मिल सकता। वैसे ही दुर्दर्श और अदृश्यमें फरक है। दुर्दर्श इसलिये है कि वह गह्वरेष्ठ है। गह्वरेष्ठ इसलिये है कि वह गूढमनुप्रविष्ट और गुहाहित है। "देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः" यह पहले कहा जा चुका ही था। वहां सुज्ञेय नहीं बताया तो जाननेकी तीव्र इच्छा हुई। यहां "गूढमनुप्रविष्ट" आदिसे साधनकी कठिनाई बतायी तो साधनजिज्ञासा होना अनिवार्य था। अतएव जिज्ञासाके अनुरूप सामन्यसाधन का वर्णन करते हैं।

मर्त्यः। इस मन्त्रमें विशेषरूपसे मर्त्यशब्दका प्रयोग हुआ। मर्त्यका अर्थ है मृत्युग्रस्त। जन्मके साथ-साथ मृत्यु भी अपना काम करने लगती है। अजगरके समान काल ग्रास करता जाता है और अजगरका मुंह मुलायम शीतल होनेसे किसीको मालूम नहीं पड़ता। साथ ही धीरे-धीरे वह कवलित करता है। पैदा होते समय बालक सौ वर्ष की आयु लेकर आया है। तीनसौ पैंसठ दिनका साल होता है। सौ वर्षकी आयु है तो छत्तीसहजार पांचसौ दिनका मेहमान बनकर बालक संसारमें आया है। किन्तु दूसरे दिनतक छत्तीस हजार चारसौ निन्यानवे दिनकी आयु उसकी रहती है। तीसरे दिन निन्यानव्वेकी जगह अठानव्वे। यह मृत्यु ही तो उसकी आयु ग्रस रही है किन्तु किसी को इसकी प्रतीत होती है? लोग अपनी ही मृत्यु नहीं देख पाते तो बच्चोंकी मृत्युको सोच भी नहीं सकते हैं। बच्चेका जीवन शुरु हो गया कहते हैं। जीवन तो जनमते क्षणसे ही शुरु है। अब बोले मृत्यु शुरु हो गयी है। काल एक-एक करके जीवनके दिनोंको ग्रसता जा रहा है।

मघवन् मर्त्यं वा इदँ शरीरमात्तं मृत्युना
तदस्याऽमृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्

आत्तो वै सशरीरः प्रियाऽप्रियाभ्यां
न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिर-
स्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।

प्रजापति एवं इन्द्रविरोचनके प्रसंगमें प्रजापति इन्द्रको कहते हैं—हे इन्द्र, यह शरीर मर्त्य है, मृत्युने इसे पकड़ा है। वह इसे कवलित करता जा रहा है। शरीर ही मर्त्य है। आत्मा मर्त्य नहीं, वह अमृत एवं अशरीर है। शरीर उसका अधिवास स्थानमात्र है। मानो कि किरायेमें लिया हुआ स्थान है। किराये पर नहीं बल्कि लीव एन लायसन्सपर लिया स्थान है। केवल मर्यादित अवधि तक इसमें रह सकते हैं। उसके बाद यह जबर्दस्ती खाली कराया जाता है। अतः न तो यह तुम हो और न तुम्हारा यह है। जो इसमें अहंता ममता करता है-सशरीर बनता है वह प्रिय और अप्रियसे कभी छुटकारा नहीं पा सकता। 'हर्षशोकौ जहाति' यह पूर्वमन्त्रमें उक्त स्थिति इसे प्राप्त नहीं हो सकती। अशरीर हो तो ही प्रियाप्रियसे छुटकारा है। अशरीरका शरीर रहित होना—मरना अर्थ नहीं है। मरने पर एक शरीर भले छूट जाय किन्तु दूसरा शरीर तो नहीं मरता। स्थूल शरीरके छूटनेपर भी सूक्ष्म शरीरसे पिंड छूटनेवाला नहीं है। और सूक्ष्म शरीर स्थूलशरीरसे कम खतरनाक नहीं है। सपनेमें स्थूल शरीर नहीं रहता, अस्तित्व होनेपर भी काम नहीं करता। किन्तु इतनेसे कहां छुटकारा है। वहां सूक्ष्म शरीर है। उससे स्वाप्न शरीर निर्माण होता है। तो हर्षशोकमें जाग्रत से किसी प्रकार भी कम नहीं होता। वहां भी उतना ही हर्षशोक होता है मरने के बाद यातना शरीर मिलता है। वहां भी यातनायें मिलती रहती हैं। अतः शरीर का अर्थ मरना नहीं है। अशरीरका अर्थ है इन शरीरोंसे अहंममका परित्याग करना। स्थूल शरीरसे अहंमम छूट गया तो स्थूल शरीरीय हर्षशोकका अभाव स्वप्न एवं सुषुप्तिमें प्रत्यक्ष है। वैसे स्वाप्न शरीरीय अहंमम छुटनेपर स्वाप्न हर्षशोक भी छूट जाते हैं। इस मर्त्यभावको छोड़ने के लिये ही साधना करनी है। साथ ही इस मर्त्य शरीरमें रहते हुए यह कार्य करना है। मानवशरीरमें यह संभव है। यह भी यहां सूचित हो रहा है।

'दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।'

यह मर्त्यशरीर दुर्लभ है। सुलभ होनेपर भी क्षण भंगुर है। इसके रहते हुए ही सब काम पूरा करना है। अतः अविलम्ब ही साधना प्रारंभ करो यह भी यहां सूचित हो रहा हैं।

एतच्छ्रुत्वा। इस आत्मतत्त्वका प्रथम श्रवण करो। यहां भाष्यकारने जोड़ दिया-आचार्यप्रसादात्। आचार्य की प्रसन्नतासे अतएव "श्रुत्वा" कहा। पुस्तके पुस्तकमें पढ़कर नहीं कहा। पुस्तक पढ़कर जानने में और श्रवण करके जाननेमें काफी फरक रहता है। एंक ग्रन्थपाठकने मुझे कहा गीतामें निष्काम कर्मकी बात लिखी है। वह मेरे गले नहीं उतरती। क्या फलकामना न हो तो कोई कार्य करेगा? डरके मारे कभी कर भी ले किन्तु सम्यक् नहीं होगा। "सर्वं कामस्य चेष्टितम्"। ब्राह्मण पूजापाठ करे तो दक्षिणा मांगेगा कि नहीं ? राजकाज चलानेवाले क्या केवल जन-कल्याणके लिये वोट मांग रहे हैं? कि स्वकल्याणके लिये? वैश्य व्यापार करते हैं तो दूसरों को अन्न-वस्त्र मुफ्तमें बाँटनेके लिये? नौकरी करनेवाले सेवा करते हैं तो क्या पगार नहीं लेते? अच्छा पगार दे तो अच्छा काम करेंगे। अतः निष्काम होता नहीं, हो तो भी बेकार है। ऐसी गीताव्याख्याको ही मनमुखी व्याख्या कहते हैं। निष्काम शब्दमें काम शब्दका अर्थ क्या है यह गुरुमुखसे सुनो तो ये सब शंकायें नहीं होंगी। काम शब्द द्विरुक्त कामपदार्थ में प्रयुक्त है। "गतागतं कामकामा लभन्ते" "स शान्ति- माप्नोति न कामकामी" इत्यादिमें कामशब्द स्वयं द्विरुक्त है। उसका अर्थ है काम विषयविषयक कामना। एक जीवनविषयक कामना होती है। दूसरी तृष्णाविषयविषयक कामना होती है। इसमें द्वितीयको ही काम बोलते हैं। जीना है तो उसके लिये कुछ साधन चाहिये। भोगोंको भोगनेके लिये कुछ अतिरिक्त साधन चाहिये। इसीलिये अन्तःकरणशुद्धिके लिये कर्म करते हैं यह भी तो कामना हुई इत्यादि प्रश्न नहीं उठते। अन्तःकरणशुद्धि कोई भोग नहीं। गुरुमुखावलम्बन इस प्रकार प्रत्येक पदोंके लिये चाहिये। सत्य क्या है? मिथ्या क्या है? ब्रह्म क्या है? इत्यादि सभी बातें अतिगहन हैं। अतः श्रुतिसे श्रवण करो। सो भी गुरुमुखसे श्रवण करो।

संपरिगृह्य। श्रवण गुरुमुखसे करनेपर ग्रहण हो जाता है। ग्रहणका ज्ञान अर्थ प्रसिद्ध है। हमने कहा। आपने ग्रहण किया। किन्तु सामान्यज्ञानको

ग्रहण नहीं कहते। ग्रहण स्वीकारको भी कहते है। स्वीकारात्मक ग्रहण ही ग्रहण शब्दका अर्थ है। स्वीकारना-अपनाना। घोड़े को जाते हुए देखा तो घोड़ेका ज्ञान हुआ। ग्रहण नहीं। ऐसा श्रवण करो जिससे आत्मस्वीकाररूप ज्ञान हो। इसके बाद परिग्रहण होता है। परितो ग्रहण परिग्रहणम्। चारों ओरसे गृहीतकी रक्षा करनेवाला ग्रहण परिग्रहण है। श्रुतिअर्थ पर विचार करनेपर, मनन करनेपर, ऊहापोह करनेपर परिग्रहण होता है। परिका चारों ओर अर्थ है। जैसे परिक्रमा कहते हैं तो चारों ओर घूमना अर्थ है। लंबी दूरी पर चले जायें तो वह उसको परिक्रमा नहीं कहते। वैसे श्रुत अर्थको छोड़कर दूर विषयान्तरमें चले जायें तो वह परिग्रहण नहीं है। श्रुतार्थको दृढ़ करने के लिये परिग्रहण होना चाहिये। नौकरको, दरबानको, या बालकको जाते समयमें कहा—ख्याल रखना, देखते रहना। मालिक चला गया। एक चोर आया और सामान उठाकर ले गया। चोर उठा रहा है यह ध्यान भी रखा, देखता भी रहा तो क्या नौकरने अपनी जिम्मेदारी पूरी की? ट्रेनमें जाते समय साथ वाले को कहते हैं जरा सामान देखना। तो क्या वैसे ही देखते रहना है? शब्दमें वहां ऊहापोह किया जाता है। रक्षा करना वहां तात्पर्य है। यह स्थूल उदाहरण है। आत्माके परिग्रहणके लिये अनुमान, तर्कादिकी आवश्यकता होती है। "यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।" परंतु वह तर्क सुतर्क होना चाहिये। कुतर्क नहीं। इसके 'सं' उपसर्ग है। सम्यक् परितः गृहीत्वा ऐसा अर्थ संपरिगृह्य का है। अच्छा विचार हो, पूर्ण विचार हो इतना 'सं' का अर्थ है। यही सम्यक्त्व है। कोई गृहीतको हिला न सके, ऐसी दृढ़ता तभी संभव है। ज्ञानको दृढ़ करना परम आवश्यक है।

"अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन श्रुतं हतम् ।
सन्दिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः ॥"

ज्ञान यदि दृढ़ नहीं हुआ तो कालान्तरमें नष्ट हो जायेगा। वर्तमान कालमें संशय आदिके लिये अवसर आनेपर नष्ट होगा। ऐसे ही प्रमादसे श्रवण कर लिया तो वह श्रवण भी हत होगा। उसमें अनर्थ होनेकी भी संभावना है। ऐसे ही मन्त्रमें सन्देह किया तो मन्त्रशक्ति नष्ट हो जायेगी। इसी प्रकार जपकालमें एकाग्रता नहीं रही, व्यग्रता रही तो जप नष्ट होगा। पौधा

लगाया किंतु पानी नहीं डाला, वाड न लगाया, पांव की ठोकर लगी तो नष्ट हो जाता है। वैसे ही ज्ञान एवं श्रवणादि है।

प्रवृह्य। श्रवण एवं संपरिग्रहणके बाद प्रवर्हण तीसरा है। यमराज यहां शब्द बदलकर बोल रहे हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ऐसा सीधा शब्द था। यहां विशेष अर्थका सूचन करनेके लिये शब्दपरिवर्तन है। वृहधातुका उद्यमन अर्थ प्रसिद्ध है। प्र उपसर्ग होनेपर ऊपर की ओर पृथक् करना अर्थ होता है। इसीका प्रयोग आगे यमराज स्वयं करेंगे—'तां स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुंञ्जादिवेषिकां धैर्येण।' उस आत्माको अपने शरीरसे ठीक उसी प्रकार पृथक् करो जैसे मूंज घाससे उसकी सीक।

'एतंमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य
एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य
एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतत्सामगायन्नास्ते।'

इत्यादि तैत्तिरीय मन्त्रमें आया है। पहले अन्नमय आत्मामें पहुंचो और पहुंचकर आगे बढ़ो। प्रथम अन्नमयको आत्मा समझो। लोग कहेंगे इतना तो सभी करते हैं। जी नहीं। लोक बाह्य वस्तुओंको भी आत्मा कहते हैं, मानते हैं। एक आदमी भगत था। पंद्रह हजारकी घड़ी-विदेशी घड़ी खरीदी। ऊपर मालेमें गेलेरीमें खड़े होकर घड़ी हाथसे उतारी लेकिन छटक गयी। नीचे फरशपर पड़ी तो टूट गयी। वह रोने लगा। क्यों रोने लगा? खुद तो गिरा नहीं था। घड़ी गिरी तो घड़ी रोवे, हम क्यों रोवें? एक सज्जन बोलता था मेरी अठारह हजार रुपये की पेंट है। वह फट गयी। उसको बड़ा दुःख हुआ। क्यों हुआ? दुःख जो फट गयी उस पेंटको होना चाहिये। साड़ी जली तो क्यों रोती हो? वह साड़ी रोया करे। बात यह है कि घड़ी, साड़ी, पेंटके साथ आत्मभाव करनेसे स्वयं रोने लगे। आप कहेंगे घड़ी साड़ी आदि चेतन नहीं हैं इसलिये वे रो नहीं सकते। तो क्या उसके बदले आप रोवें? जैसे मारवाड़में कोई मरे तो किरायेके रोनेवालेको बुलाते हैं। अच्छा, चेतन पुत्र-मित्रादि बिमारी पड़े तो आप रोते हैं। सो क्यों? यहां तो रोनेवाला है। इसीको लेकर भाष्यकारने लिखा—

'पुत्रादिषु विकलेषु सकलेषु चाहमेव विकलः सकलः।'

पुत्रादि विकल्प हो क्लेशभागी हो तो अपनेको क्लेश भागी मानते हैं। महाराज यह तो मानवता है। किन्तु इतनी दूर मत पहुंचो। इसमें यदि मानवता देखते हैं तो अखबार पढ़कर रोज मातम मनाने बैठना। यह तो मोह है। मोह होता है। उसके लिये निषेध नहीं है। किन्तु आत्मचिन्तन जहां ऊँचे स्तरका चलता है वहां कुछ ऊपर उठकर विचार करना पड़ेगा। तो बाह्य परिसरसे निकलकर अन्नमयमें आत्मभावको संक्रमित करना यह भी भारी साधना हैं। विषयात्मभावत्याग साधना है। उसके बाद अन्नमयसे आगे बढ़ना है। प्रवर्हण करना है। प्राणमयको आत्मा समझना है। अन्नमयमें कष्ट या सुख आता है तो परवाह नहीं। किन्तु प्राणमय जरूर आत्मा है। जीवन रहे। जीवनमें आत्मभाव करना है। अन्नमयसे आत्मभाव निकालना है।

"जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति"

एक आदमी मेरे पास आया और हमदर्दी दिखाते हुए कहा महाराज आप बहुत पतले हो गये। मैं बहुत प्रसन्न हुआ। मैंने कहा मुझे लगता नहीं है पतला हुआ हूं। आपके मुंहमें घी शक्कर हो। डाक्टर लोग कहते हैं वजन घटाने को। खैर, इतनेसे पूरा नहीं पड़ेगा। वस्त्रादिके समान शरीरको समझने लगे तब बात है। केवल जीवनमात्रके अभिलाषी हो।

इसके बाद मनोमयात्मोपसंक्रमण है। प्राण भी जब निकलना है निकलेगा। हमारे हाथकी बात नहीं है। लेकिन मनस्थिर रहे। मनमें क्लेश न हो। मनमें ही राग-विषाद आदि होते हैं। बेचैनी होती है। घाटा सुनकर बेचैनी हुई। फायदा सुनकर खुशी हुई। यह सब तो मनोमयकोशकी बात है। इच्छा आदि मनमें होते हैं। "कामः संकल्पो विचिकित्सा।" मानसिक शान्ति सभी चाहते हैं। "शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युः" इत्यादि प्रार्थना नचिकेताने भी पिताके निमित्त यमराजसे किया था। इसका अर्थ यही निकलता है कि पुत्रमोह, शरीरमोह एवं प्राणमोहसे वे तब उठ चुके थे। पुत्रमोह तो यमसदन भेजनेसे समाप्त हो गया अत एव वित्तमोह, गोमोह तो गया ही। "अनुपश्य यथा पूर्वे" से शरीरमोह और प्राणमोह भी जा चुके थे।

मनोमयसे आगे बढ़नेपर-'एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य।' मनको संयममें कर लिया। मनमें बेचैनी समाप्त हो गयी है। फिर भी ज्ञान-विज्ञानकी इच्छा हो रही है। वेद-वेदान्त के अर्थज्ञान, स्मरण आदि में भारी अभिनिवेश है। विज्ञान की आवश्यकता भी रहती है। काशीमें बड़े पंडित थे। शास्त्री। उनको चलती फिरती लायब्रेरी बोलते थे। वे काशी में पंडितोंकी जो आदत थी-भांग पीनेकी-उसमें कभी नहीं पड़े। वे कहते थे-भांग पीने पर बुद्धि चली जाती है। नष्ट होती है। और फिर वापिस नहीं आयी तो क्या होगा? इसलिये बुद्धि पर आघात करनेवाला कोई कार्य वे नहीं करते थे। शरीरकी उन्हें परवाह नहीं थी। मरनेके लिये तो काशीमें रह ही रहे थे। मनको कोई बेचैनी नहीं। हमेशा प्रसन्न रहेते थे। किन्तु बुद्धिमें आत्मभाव था। यही विज्ञानमयात्मोपसंक्रमण है। इसके बाद भी कुछ आगे बढ़ना है।

इसके बाद आनंन्दमयपर पहुंचना है। विज्ञान दृढ़ हो जाता है तो उसके बाद बाह्यविज्ञानों पर भी आस्था नहीं रहती।

'ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ।'

ग्रन्थका अभ्यास किया। ग्रन्थका ज्ञान हुआ। मननिदिध्यासन किया तो आत्मसाक्षात्कार हुआ। वह साक्षात्कार अनावृतचित्त होनेसे अनात्मपदार्थ है नहीं। उसको फिर ग्रन्थज्ञानकी जरूरत नहीं रहती जो विज्ञानमयकोश परिणाम है। अतः योगी, सन्त आगे बढ़कर आनन्दमयमें पहुंचते हैं। ब्रह्मकार चित्तवृत्तिमें आत्मप्रेममें ब्रह्मानन्दका प्रतिबिम्ब निरन्तर पड़ रहा है। समाधि लगी हुई है। यहां आकर बहुतसे आचार्य इतिश्री करते है। श्रुतिमें भी यहीं तक कहा है—

"आनन्दमयोऽभ्यासात् ।"

इस सूत्रमें व्यासजीने सामान्यरूपसे ब्रह्मचिन्तनकी समाप्ति आनन्दमयमें कहा है। परंतु यह भी संसारावस्था है। माना कि यह संसारमें सर्वोत्तम है। किन्तु संसारातीत नहीं है। अगर समाधि टूटी, फिर लगी नहीं तो क्या करेंगे? द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती आदि सभी यहां आनन्दयमें आकर रुक जाते हैं। किन्तु 'एतमानन्दमयामात्मानमुपसंक्रम्य' इसप्रकार

श्रुतिमें ल्यबन्त प्रयोग है। इसके बादमें भी कुछ है ऐसा श्रुति सूचित कर रही है। ल्यप् का अर्थ है ध्वंसकालीनत्व। उपसंक्रमणके बाद। इसके बाद कुछ और होना है। किन्तु कुछ और बात आगे कह रही है श्रुति- 'इमांल्लोकान् कामान्नी कामरूपानुसंचरन् एतत्साम गायन्नास्ते' परंतु पूर्व-वल्लीमें कुछ और बात बतायी। वहां एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति की तरह आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति कहकर आगे बताया—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥'

यहां ल्यबन्त प्रयोग नहीं है। यहां का उपसंहार वहां करके आनन्दमयमें उक्त पुच्छ ब्रह्मको लेकर उस ब्रह्मके आनन्दका साक्षात्कार बताया। वहां वाणी मन नहीं पहुंचते अतः उसका वर्णन नहीं किया। उपसंक्रमणमें संक्रमणका अर्थ है घुसना। आत्मा तो घुसता नहीं अतः उपसंक्रमण कहा। सादृश्यार्थमें 'उप' है। उपमन्त्रीका अर्थ है मन्त्रीसदृश। उपराष्ट्रपति आदि का भी वही अर्थ है। आनन्दमयमें आत्मभाव समाधिके लिये आवश्यक है। वहां से भी प्रवृह्य पृथक् कर आनन्दब्रह्मका दर्शन करना है। यहीं 'स्वाच्छरीरात् प्रवृहेत्' का अर्थ है। उसका विशेष वर्णन तो स्वस्थानमें ही किया जायेगा। प्रकृतमें 'एतत्-श्रुत्वा' 'संपरिगृह्य' 'प्रवृह्य' इन तीनोंको समझनेके लिये इतना ही पर्याप्त है। यह प्रवहर्ण निदिध्यासनरूप है। कुछ विशेषताके साथ यहां प्रस्तुत किया गया।

धर्म्यम्। इस आत्मतत्त्वको यहां धर्म्य बताया। धर्मादनपेतं धर्म्यम्। इस आत्माको छोड़कर और सब कहीं कहीं अधर्ममें भी दीख सकता है किन्तु यह धर्मसे अनपगत है। धर्मको छोड़कर अन्यत्र दीखनेवाला नहीं। पूरा संसार धर्म, अधर्म उभयसे बना है। कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहां दोनों न हों। सुख-दुःख सर्वत्र हैं। आपको सुख मिलता है तो दुःख भी निश्चित होगा। एयरकंडिशनमें बड़ा सुख पाया। बिजली दस दिनके लिये बंद हो गयी तो ऐसी यातना मिली की भिखारियोंको भी वह यातना सहनी नहीं पड़ी। बीसवें माले पर रहनेवाले की स्थिति क्या दयनीय रही होगी? स्वर्गलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक आदिमें कहते हैं कोई दुःख नहीं है। किन्तु

वहांसे पतनका जो भय है उसमें क्या दुःख नहीं होता? धर्म्यं-धर्मादनपेत तो केवल आत्मतत्त्व है। क्यों?

"अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।"

सर्वोत्तम परम धर्म तो आत्मदर्शन है। ऐसा याज्ञवल्क्यका कहना है। उसीमें आत्मतत्त्व विषयतया रहेगा। समस्त धर्मों की परिसमाप्ति ज्ञानमें है। ज्ञानमें सर्वधर्मसमावेश है। इस बात को भगवानने भी बताया—

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।"

यहां परिसमाप्तका अर्थ विद्यारण्यजीमहाराजने समाविष्ट किया है। ज्ञान हो गया तो समझो सभी धर्म कर लिये। तभी तो वैसा फल भी कहा—

"तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे" ।

समग्र काम्य सुख ब्रह्मज्ञानीमें प्रविष्ट हो जाते हैं। फिर भी समुद्रके समान वह घटता बढ़ता नहीं। सर्वका अर्थ कभी संकुचित हो जाता है। मेरे पास सब चीज है बोल दिया। तो क्या राकेट, एरोप्लेन आदि सब हैं? वहां मनमें कुछ चीज रखकर वह सभी है इतनेमें तात्पर्य है। ऐसा अर्थ यहां न हो इसके लिये भगवानने "अखिले" अलग कहा। "सर्वं" "अखिले" दोनोंका एक ही अर्थ है। फिर भी दुबारा असंकोच के लिये कहना पड़ा। आत्मदर्शनमें सर्वसुख होनेसे सर्वधर्मसमावेश माना। किन्तु "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" के अनुसार अधर्म तो रह ही नहीं सकते। अतएव धर्मादनपेत होनेसे धर्म्य हुआ।

अणुमेतम्। अणुका यहां अतिसूक्ष्म अर्थ है। किसलिये श्रुत्वा, संपरिगृह्य, प्रवृह्य आदि साधन हैं? आत्मदर्शन तो नैयायिक मतमें हमेशा होता है। इसपर कहना है कि यह अति सूक्ष्म तत्त्व है। नैयायिक आदिको अनात्मामें आत्मभ्रम है। उन्होंने जड़तत्त्वको ही आत्मा समझ लिया है। बाहर जो तार है उसे ही बिजली समझ बैठे। बाहर तो खोल है। उसके अंदर लोहेका तार है। उसके अंदर बिजली है। सुगम नहीं है। करेंट लगनेपर मालूम पड़ा बिजली क्या है?

आप्य। उस आत्मतत्त्वकी प्राप्ति अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं है। वह प्राप्तकी प्राप्ति है। आत्मा होनेसे नित्यप्राप्त है। उसकी प्राप्ति तो उसका दर्शन ही है। द्वैतवादी अप्राप्त परमात्माकी प्राप्ति मानते हैं। परंतु वे द्वैतमें फंसकर

भूल कर बैठते हैं। भगवान् कहते हैं—"सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः" मैं सबके हृदयमें बैठा हूं। तब परमात्मा अप्राप्त किस प्रकार? आपके हृदयमें है फिर भी अप्राप्त यह भला किस प्रकार? उनको भी कहना पड़ेगा कि परमात्मदर्शन ही परमात्मप्राप्ति है। इसीलिये गीतामें कहा—

"एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च ।"

जाननेसे कृतकृत्यता है। कृतकृत्यका अर्थ है-कृतानि कृत्यानि कर्तव्यानि येन।

जाननेसे कर्तव्यकरण किस प्रकार? उत्तर वही प्राप्त प्राप्ति होनेसे।

स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा। आनन्दनीय प्राप्त हो गया। कभी बिछुड़ेगा नहीं। आत्मा कभी बिछुड़ता नहीं तो हमेशाके लिये आनन्द ही आनन्द है। "स मोदते"। वह नित्य निरन्तर पूर्ण आनन्देमें ही रहता है।

विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये। नचिकेतसं प्रति इस अर्थमें द्वितीयान्त-प्रयोग है। नचिकेताके लिये आज मोक्षप्रासादका दरवाजा खुल गया है। सद्म घरको कहते हैं। मनुष्य यात्राके लिये निकला है। संसरणं संसारः। संसार तो यात्रा ही है। यह मनुष्यादि शरीर केवल विश्रामगृह है। मुसाफिर-खाना है। या यह जो वर्तमान घर है यह भी मुसाफिरखाना है। यहां रहनेके लिये नहीं आये। जानेके लिये आते हैं। एक और बात है। जब घरसे बाहर निकलते हैं तो घर बंदकर, ताला लगाकर निकलते हैं। दीर्घयात्राके लिये निकलते हैं तो चाभी किसी को सौंप देते हैं। चाभी एक दूसरे को सौंपते जाते हैं। इसीको गुरुपरम्परा कहते हैं। "नारायणं पद्मभवं" आदि क्रमसे चाभी चलती आयी है। किन्तु बहुतसे लोग घर ही भूल गये हैं। कुछ लोग याद करते हैं किन्तु चाभी किसके पास है इसका ठिकाना नहीं है। कईयोंसे चाभी पूछते हैं। किन्तु बहुतसी चाभियां निकम्मी हैं। कुछ चाभियां दूसरे घरोंकी है। नचिकेताके लिये कहते हैं तुम अपने घर लौट रहे हो। चाभी मालूम हो गयी है। अब तो घर खुला ही समझ लो। अपने घर पहुंच ही जाओगे।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य, कार्य तथा कारणसे अन्य एवं भूत तथा भविष्यसे अन्य जिस तत्त्वको आप देखते हैं उसे बताईये ॥ १४ ॥

यमराजने नचिकेताकी बड़ी प्रशंसा की। श्रेय और प्रेयका निरूपण कर श्रेयोऽर्थीकी महत्ता कहकर "स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च" इत्यादिसे प्रेयत्याग और श्रेयोवरण करनेवाले नचिकेताको महान् कहा। सृङ्कात्यागको लेकर भी बड़ी प्रशंसा की। तर्क से अगम्य मतिकी प्राप्तिको "यां त्वमाप" और ब्रह्मलोक त्यागको "कामस्याप्तिं दृष्ट्वाऽत्यस्राक्षीत्" कहकर प्रशंसा की। "विवृत्तं सद्म नचिकेतसं मन्ये" इस प्रकार पूर्व मन्त्रमें भी प्रशंसा की। प्रशंसा सबको प्रिय लगती है। किन्तु नचिकेता इसपर बिल्कुल ख्याल किये बिना, आभार प्रदर्शित किये बिना सीधे अपने लक्ष्यविन्दुको ही संमुख रख रहे हैं। प्रशंसाका निराकरण भी नहीं किया। क्योंकि यह कोरी प्रंशसा न होकर यथार्थोक्ति थी। अतः उसके स्वीकार या त्यागपर निरपेक्ष होकर अपना प्रश्न प्रस्तुत करते हैं।

अन्यत्र धर्मात्। यहां अन्यत्रका अन्य इतना ही अर्थ है। स्वार्थमें प्रत्यय है। धर्मपदसे स्वरूपतः, कार्यतः एवं कारणतः तीनों प्रकारका धर्म विवक्षित है। अर्थात् वह धर्म नहीं, धर्मसाध्य नहीं, धर्मसाधन भी नहीं है। वह अनुष्ठेय धर्म भी नहीं, पदार्थ धर्म भी नहीं है। अनुष्ठेय धर्म होता तो एक दिन अर्थात् फलभोगके बाद नाशवान् होता। मुझे नाशवान् के बारेमें जिज्ञासा नहीं है। वह धर्मसाध्य भी नहीं है। क्योंकि धर्मसाध्यको तो सृङ्कामें ही आपने दिखाया था। क्योंकि कर्म एवं उपासनारूपी धर्मोंसे साध्य लोकोंको ही मणियोंके रूपमें हारमें आपने दिखाया था। "नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तः"। जिसके बारेमें मुझे जिज्ञासा है। वह धर्मसाध्य नहीं है यह नचिकेताका कहना है।

"रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नापि जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम् ॥"

श्रीमद्भागवतमें जड़भरतके उपदेशमें यह स्पष्ट है। जड़भरत कहते हैं-हे रहूगण यह तपसे प्राप्य नहीं है। जब कि तपकी महिमा श्रीमद्भगवतमें ही प्रथम बहुत गायी है। भगवान् नारायण ब्रह्माजीको कहते हैं–

"तपो मे हृदयं साक्षादात्माऽहं तपसोऽनघ ।
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ॥"

इत्यादि। "तपो मे हृदयं ब्रह्मविद्या क्रियाऽऽकृतिः" इत्यादि दक्ष प्रजापतिके प्रति भी भगवानका ही वचन है। तपसे मुख्यतया उपासना ली जाती है। तप भगवान् का हृदय है और तपकी आत्मा भगवान् है। क्योंकि उपास्यसे ही उपासना होती है। भगवान् स्वयमेव सृष्टिके रक्षण आदि तप के बल से ही करते हैं। तपसे यह सब संभव है। किन्तु यह आत्मतत्त्व तपःसाध्यसे अन्यत्र है। न चेज्यया। इज्या यज्ञयागादिकर्मों को कहते हैं। कर्ममीमांसक यज्ञको सर्वोत्तम मानते हैं। "यज्ञो वै विष्णुः" यज्ञ विष्णुरूप है। "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतः पृषदाज्यं" इत्यादि पुरुषसूक्तमें यज्ञमहिमाका वर्णन बहुत किया है। नाना साध्योंके लिये नाना यज्ञ तो हैं ही।

सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ

यहां सर्वफलके लिये दर्शपूर्णमासयागका विधान किया गया है। गीतामें भी—

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥"

इस प्रकार सर्वफलदेहिनी कामधेनु इसे बताया है। किन्तु आत्मयज्ञ इन यज्ञोंसे भी साध्य नहीं है। "निर्वपणात्" श्राद्धमें पितरोंको पिण्डजल निर्वपण करते हैं। प्रसन्न होकर पितर अभीष्टफल प्रदान करते हैं। पितर हमसे अत्यन्त निकट रहते हैं। पूर्वज ही तो पितर हैं। परंतु अन्य सब कुछ वे प्रदान करें किन्तु आत्मतत्त्व वे भी नहीं दे सकते। "गृहाद्वा"। गृह शब्दसे गृहमेधयज्ञ विवक्षित है। या पञ्चमहायज्ञ अभिप्रेत है। इन्हींको लेकर "धन्यो गृहस्थाश्रमः" बताया है। गृहस्थाश्रमसे सभी आश्रम हैं। किन्तु उससे भी आत्मतत्त्व साध्य नहीं है। "न च्छन्दसा"। छन्द वेदोंको कहते हैं। वेदाध्ययनका सर्वोर्ध्व पुण्य बताया है।

"न विप्रपादोदककर्दमानि न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि ।
स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि ॥"

विप्र अर्थात् वेदवेदान्तके अध्येता ब्राह्मण एवं संतसंन्यासी। उनकी चरण धूल जहां नहीं पड़ती, उन अधीतविद्य संतब्राह्मणोंके मुखसे निःसृत वेदशास्त्रकी ध्वनि जहां नहीं गूंजती तथा स्वाहाकार, स्वधाकार, द्रव्ययज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि जहां नहीं होते ऐसे घर श्मशानतुल्य होते हैं। किन्तु इन वेदपाठ आदिसे भी आत्मतत्त्व प्राप्य नहीं है। "नैव जलाग्निसूर्यैः"। जलतर्पणसे, अग्निहोमसे, सूर्योपस्थानसे भी वह आत्मतत्त्व साध्य नहीं है।

"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया"

इस प्रकार गीता में भी यही बात कही है। श्रीमद्भागवतमें वृषपर्वा आदि कईयोंका नाम लेकर अन्तमें कहा—

"ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः
अव्रताऽतप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः॥"

इस प्रकार सकल धर्मसाध्यताका निषेध किया है। भक्ति, महत्पादरजोऽभिषेक, सत्संग इत्यादि जो प्राप्तिसाधन उन-उन स्थानों में बताया उसका तात्पर्य "यत्तत् पश्यसि तद्वद" जो यहां बताया उसीसे है।

धर्मरूप नहीं, धर्मसाध्य नहीं, धर्मसाधन भी नहीं। सृङ्का वित्तमयी है। अर्थात् वित्त ही धर्मसाधन है। चाहे वह मानुषवित्त हो, चाहे दैववित्त हो। मानुषवित्तसाध्य यज्ञदानादि है। दैववित्तसाध्य तप या उपासना है। श्रद्धापूर्वक चित्तवृत्ति ही दैववित्त है। उसीसे उपासना होती है। आत्मतत्त्व साधनरूप तो नहीं ही है।

अन्यत्राधर्मात्। जैसे आत्मतत्त्व धर्मसाध्यादि नहीं वैसे अधर्मसाध्यादि भी नहीं। यद्यपि यह अप्राप्तनिषेध है। आत्मतत्त्व अधर्मसाध्य-भला कौन ऐसी शङ्का कर सकता है। तथापि यहां अधर्मपदका धर्माभाव अर्थ समझना चाहिये। अर्थात् धर्मत्यागका दूसरा पर्याय संन्यास है।

"नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।"

कर्मसंन्याससे नैष्कर्म्यरूपी मोक्षकी सिद्धि होती है। यहां स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्मसंन्याससे आत्मतत्त्वप्राप्ति रूप मोक्ष होता है।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।"

यहां पर भी सर्वधर्मपरित्यागका उपदेश है। इस प्रकारका धर्माभाव, उससे साध्य नैष्कर्म्य, उसका साधन वैराग्यादि भी यह आत्मतत्त्व नहीं है। परंतु

क्यों नहीं? यह प्रश्न अनुत्तरित है। इसका उत्तर शास्त्रकार ही कहते हैं। मोक्षधर्ममें कहा है—

'त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यावृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥'

धर्म-अधर्म दोनोंको छोड़ो। सत्यझूठ दोनोंको छोड़ो। उसके बाद जिससे इनका त्याग किया उसे भी त्यागो किससे त्याग किया? मनसे, कर्मेन्द्रियोंसे आदि कहो तो उनका त्याग करेंगे कैसे? क्या मनको उठाकर फेकेंगे? इन्द्रियोंको तोड़कर फेकेंगे? नहीं। 'येन अहंकारेण त्यजसि तत्त्यज'। अंहकारसे त्याग किया जाता है। मैं कर्मादि त्याग रहा हूं।

'यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे'

यहां भगवानने 'न योत्स्ये, के प्रति अंहकारको कारण माना है। अहंकारका जहां त्याग हुआ वहां 'निमित्तापाये नैमित्तिकापायः' इस नियमके अनुसार अर्थात् निमित्त नष्ट हुआ तो नैमित्तिक भी नहीं रहेगा। अतः धर्माभावसे साध्य नहीं है। कर्मत्यागमें वैराग्य कारण है। वैराग्यसे भी वह तत्त्व नहीं मिलता।

'वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद् रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥'

इस प्रकार सांख्यवेत्ता कहते हैं। कर्म राग होता है। कर्माभाव वैराग्यसे होगा। किन्तु वैराग्यसे आत्मतत्त्व नहीं मिलता। वैराग्यका वह फल है जो संसारमें सर्वातिशायी है। ईशावास्य भाष्यमें बताया है—कर्मोपासना का फल प्रकृतिलयान्त है। आगे कहते हैं—एतावती संसारगतिः। प्रकृतिलयके बारेमें व्यासभाष्यमें बताया है—'मोक्षसुखमिवानुभवन्तः।' मोक्षसुख नहीं, किन्तु तत्सदृश सुख वहां मिलता है। उनकी पुनरावृत्ति होती है और उत्पन्न होते ही पुनः ज्ञानवैराग्यांदिसम्पन्नता होती है।

'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्'।

इस पातञ्चलयोगसूत्रके भाष्यादिमें यह बात बतायी गयी है। जो भी हो उससे भी आत्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। धर्माभावसाध्य नहीं, धर्माभाव-रूप नहीं, धर्माभावसाधना अहंकारवैराग्य आदिस्वरूप तथा तत्साध्य प्रकृतिलयादिरूप भी नहीं। यही अन्यत्राधर्मात् का मतलब है। संभवतः

सूक्ष्मामें प्रकृतिलय भी एक मणि रही होगी। अथवा "श्वोभावाः" के अन्तर्गत ही प्रकृतिलय भी है। क्योंकि वह भी पुनरावृत्तियुक्त है।

अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। कृतका कार्यरूपी विकार अर्थ है और अकृतका कारणरूप प्रकृति अर्थ है। ये वृक्षलताआदि गृहघटादि, शरीरेन्द्रियादि भूतोंका विकार है और ये विनाशी भी हैं। "सस्यमिव पच्यते मर्त्यः" यह पहले ही दोनों के लिये कहा भी जा चुका है। ये भूत तन्मात्राओंकि विकार हैं। अतः ये भी विनाशी हैं। तन्मात्रा भी महत्तत्त्व अंहकार आदिका विकार है अतः ये सब भी अनित्य हैं। आत्मतत्त्व कृत नहीं हो सकता। क्योंकि वह विनाशी नहीं है। और विनाशीकी खोज मुझे करनी भी नहीं है। कारणको सांख्यवाले नित्य मानते हैं। कारण है प्रकृति। परंतु वे स्वयं इस बातको भी मानते हैं कि प्रकृति भी नित्य परिणामी है। एक समपरिणाम होता है दूसरा विषम परिणाम होता है। दूधसे दही बना, बीज से वृक्ष बना यह सब विषम परिणाम है। समुद्रमें जाकर देखो। निरन्तर लहरें उठती है। नाना परिणाम होते रहते हैं। लेकिन हजारों वर्षोंसे कोई फरक नहीं पड़ा। कभी पानीका दूध नहीं बना। कभी मधु नहीं बना। पुष्पादिमें पानीका परिणाम शहद होता है। गाय आदिमें जलका परिणाम दूध होता है। किन्तु समुद्रमें न कभी दूध बना और न कभी शहद बना। क्षीर-सागर, इक्षुरसोदक आदि पुराणोंमे लिखा जरूर है किन्तु प्रत्यक्ष देखने में नही आया। अतः यह समपरिणाम है। प्रकृतिका महत्तत्त्व आदि विषम परिणाम है। प्रकृति प्रकृतिरूपमें ही परिणाम होती रहती है। यह समपरिणाम है। "सत्त्वं सत्त्वरूपेण, रजो रजोरूपेण, तमस्तमोरूपेण परिणमते।" ऐसा बताया है। परिणाम जहां मान लिया वहां नित्य माननेकी कोई तुक नहीं रहती। इसीलिये उपनिषदोंमें प्रकृतिरूपी मायाको अनित्य ही माना है।

"मायां तु प्रकृतिं विद्यात् ।"

"भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।"

ये दोनों वचन श्वेताश्वतर उपनिषत् में है। प्रकृति माया ही है। अन्तमें विश्वमाया की निवृत्ति हो जाती है। अतः कृत तथा अकृत ये दोनों भी जिज्ञास्य नहीं हैं।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च। यह आत्मतत्त्व भूत और भविष्यसे भी अन्य है। भूतका अर्थ है जो बीत गया। जिसका नाश हो गया। वर्तमान-कालीननाशप्रतियोगी भूत है। वर्तमानकालने जिसके अस्तित्वको चुनौति दी है वह भूत है। वर्तमानकालने उसके अस्तित्वको काट दिया-छिन्न-किया-परिच्छिन्न किया। कालपरिच्छेद जिसका हो गया उसको भूत कहते हैं। भूतका जो उपयोग होना है वह हो गया अब उसका कोई उपयोग नहीं होगा। घर ढह गया तो अब उसका उपयोग क्या हो सकता है? घड़ा फूट गया तो अब वह किस कामका? अत एव भूतकी जिज्ञासा व्यर्थ ही है। यह आत्मतत्त्व भूत नहीं है और वह भव्य भी नहीं है। भव्य या भावी उसको कहते हैं जो अभी तक आया नहीं। वर्तमानकालीन प्रागभाव-प्रतियोगी भावी है। वस्तुके उत्तरभावी अभावको ध्वंस कहते हैं। वस्तुके पूर्ववर्ती अभावको प्रागभाव कहते हैं। वर्तमान कालने भावीकी सत्ताको रोक रखा कहो या अपने में काट दिया कहो। यह वर्तमान जब हटेगा तब भावी आयेगा। अतः कालपरिच्छिन्न वह भी है। और यद् जन्यं तद् विनाशि यह व्याप्ति होनेसे वह आनेपर भी स्थिर नहीं होगा। पुनः उसका अभाव होगा। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" जिसने जन्म लिया उसकी मृत्यु निश्चित है। इस प्रकार भूत तथा भावी दोनों ही कालपरिच्छिन्न होनेसे-"श्वो भावा मर्त्यस्य" इस उक्तिका विषय होनेसे दोनों ही जिज्ञास्य नहीं है। अतएव कहते हैं-भूत और भावीसे अन्य तत्त्वको बतावो।

यत्तत् पश्यसि। सुनी सुनायी बातको नहीं पूछ रहा हूं। क्योंकि सुननेके लिये मैंने बहुत कुछ सुन लिया है। "अस्तीत्येके नायमस्तीति चान्ये" ये दोनों सुनी-सुनायी बात ही तो है। गीतामें भगवानने भी इस बात पर जोर दिया है।

"उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः"

उपदेश करनेके लिये प्रथम ज्ञानी होना परम आवश्यक है। ज्ञानीका अर्थ है—शास्त्रजन्यपरोक्षज्ञानवन्तः। वेदशास्त्रसे प्रथम ज्ञेय वस्तुका पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। तभी वह उपदेश कर सकेगा। इसके बाद आवश्यक है मनन निदिध्यासन से तत्त्वदर्शन। तत्त्वदर्शीका उपदेश ही असरकारी होता है। दर्शन हो गया तो शास्त्रीय ज्ञानकी फिर क्या जरूरत? जरूरत है।

चन्द्रमा को आपने प्रत्यक्ष देख लिया। किन्तु इतने से आप उसका वर्णन नहीं कर सकते। वह कितना बड़ा है, उसकी किरणोंमें क्या गुण-दोष, कैसी उसकी स्थिति इत्यादि सब बात जाननेके लिये ज्योतिषशास्त्र पढ़ना पड़ेगा। ज्योतिषशास्त्र को पढ़ लिया। उसके व्यासादिविषयमें ज्ञान प्राप्त किया। किन्तु चन्द्रमाको देखा ही कभी नहीं तो वर्णन क्या करेंगे? तोता-रटन्त मात्र सुनायेंगे। अतः उसका प्रत्यक्ष दर्शन करना भी आवश्यक है। अनुभव तो अनुभव ही है. कैलासपर्वतके बारेमें हमने बहुत कुछ पहलेसे सुन रखा था। किन्तु उससे क्या हो? प्रत्यक्ष दर्शन किया तब अनुभव हुआ। प्रत्यक्ष दर्शनका पुण्य भी महान् है। जिससे शिष्यकी शंकायें दूर हो जाती है। अतः निचिकेता यहांपर "यत्तज्जानासि तद्वद" नहीं कहते। किन्तु यत्तत्पश्यसि कहते हैं। इससे यह भी सूचित करते हैं कि देखते हो तो ही बोलना। देखे बिना किया हुआ वर्णन विश्वसनीय नहीं होता। वेदोक्त होनेसे विश्वसनीय होनेपर भी "योगो हि योगस्योपाध्यायः" के अनुसार अग्रिम दर्शन ही वस्तुतः उपाध्याय है। उसके अभावमें रास्ता तो भटक ही सकता है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

सभी वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं। सभी तप जिसका प्रकाशन करते हैं। जिसकी चाह रखकर ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हैं उस पदको संक्षेपसे कहता हूं—वह है ॐ ॥ १५ ॥

"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इस जिज्ञासामें अस्ति और नास्तिका अर्थ सत् और असत् इतना ही नहीं है। इतने का उत्तर "देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः" इसमें ही हो गया था। अणुत्व (सूक्ष्मत्व) तथा धर्मत्व असत् में नहीं हो सकता। शशविषाण न सूक्ष्म है और न कोई धारणात्मक धर्म किन्तु उस तत्त्वको अस्तित्वपुरस्कारसे जानना है या अस्तित्वाभावपुरस्कारसे। अतएव "अणुरेष धर्मः" से असत्का स्पष्ट निषेध होनेपर भी "नान्यो वरस्तुल्यः

एतस्य कश्चित्' से पुनः उसे दुहराया। प्रश्नका तात्पर्यार्थ पूर्वमन्त्रमें स्पष्ट किया—अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात्। धर्मादि शब्दका धर्मवान् आदि भी अर्थ है। न उसे धर्मवाला कहा जा सकता है और न धर्माभाववाला। उसे शब्दके द्वारा प्रकाशित करनेके लिये कहा—'तद्वद'। वेदान्तमें उसे प्रकाशित करनेवाले वाक्यको महावाक्य कहते हैं। महावाक्यका अर्थ बहुतर पदवाला वाक्य नहीं। बल्कि वह एक शब्दवाला भी हो सकता है। तत्त्वमसि आदि महावाक्य है। एक महावाक्य प्रणव भी है। वह एक पदात्मक तथा अनेक पदात्मक है। अवयवोंको लेकर अनेक पद हैं। पूरेको लेकर एक ही पद है। उस महावाक्यका उपदेश सामान्यरूपसे यमराज यहां कह रहे हैं। साथ ही मन्द मध्यमाधिकारियोंके लिये उपासनाका भी वर्णन करते हैं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। ऋग्वेद, यजुर्वेदादि संहिताभाग, ब्राह्मणभाग, आरण्यकभाग, उपनिषद् भाग ये सब तो साक्षात् वेद ही हैं। आयुर्वेदादि उपवेद, वेदाङ्ग शिक्षाकल्पादि ये सभी जिस परमात्मपदका प्रतिपादन करते हैं वे भी वेद ही हैं। क्या वेदोंमें परमात्मा, परमात्मा ही लिखा है? और कुछ नहीं? सुना तो यही गया है कि वेदमें सर्वज्ञान है। वेद स्वयं सर्वज्ञ है। विद्यन्तेऽर्थाः अनेन इति वेदः। जिससे पदार्थज्ञान होता है वही वेद है। कौनसा पदार्थ ज्ञान? यह विशेषोक्ति नहीं है। वहां सर्वपदार्थज्ञान यह अर्थसिद्ध अर्थ है। जैसे ईश्वरः कहनेपर कस्येश्वरः? किसका ईश्वर यह नहीं कहा गया तो सर्वेश्वर अर्थ निकलता है। वैसे वेदमें सर्वार्थज्ञान है। केवल परमात्म ज्ञान ही क्यों? भौतिक पदार्थोंका वहां वर्णन है। आध्यात्मिक पदार्थोंका वहां वर्णन है। महान् आयुर्वेदविज्ञान वहींसे प्रादुर्भूत हुआ। अश्विनीकुमार जैसे आयुर्विज्ञ पहले हुए जिन्होंने प्रथम दधीचिका मस्तक काटकर सुरक्षित रखा और अश्वशिर धड़से जोड़ा। फिर इन्द्रने अश्वशिर काट लिया तो पहलेका मस्तक पुनः जोड़ा। कितना भारी आयुर्विज्ञान है। बूढ़े च्यवनऋषिको जवान बनाया। इसी प्रकार धनुर्वेद था। आजकलके एटम बम, हाइड्रोजन बम आदि क्या चीज हैं? आग्नेयास्त्रसे अग्निवर्षा होती है, वारुणास्त्रसे जलवर्षा। आग्नेयास्त्र फूटनेसे पहले वारुणास्त्र उसका शमन करता था। क्या आज शमनका उपाय खोज निकाला है? यद्यपि इन सबका तीरकमानके रूपमें पुस्तकोंमें वर्णन है।

कारण महाभारतमें ये विद्यायें नष्ट हो गयी थीं। किंवदन्तीके आधारपर पुराण इतिहासकारोंको लिखना पड़ा। दुष्यन्त आदिका लोकान्तरगमन शाकुन्तलमें वर्णित है। विमानोंकी तो बात ही क्या? ये सब विद्यायें वेदोंमें थीं। वेदोंका एक बड़ा भारी भाग लुप्त हो गया है तो अब उपाय क्या है? वेदोंमें गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र भी है। इसप्रकार वेद अनन्तविद्याओंका भण्डार है। यह कैसे कहा जा रहा है—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'?

दूसरे प्रकारसे भी पूर्वपक्ष है। जैमिनि ऋषि वेदोंमें कर्मका वर्णन मानते हैं। 'नोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।' 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' 'भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत् ।' इत्यादि सूत्रोंमें वेदोंका कर्म अर्थ बताया है। यज्ञयाग आदि नानाकर्मोंका वर्णन वेदोंमें है। हैरण्यगर्भोंका कहना है कि वेदोंमें उपासनाका वर्णन है। विद् धातुका अर्थही उपासना है। हिरण्यगर्भ ही संकर्षण है। अतः संकर्षण काण्ड नामसे वह प्रसिद्ध हुआ। आजकल उपलभ्यमान संकर्षण काण्ड अलग है। पहलेके समयमें उपासनाकाण्डरूपसे वेदोंका वर्णन मिलता है। उसमें यही वर्णन है, जैसे जैमिनि कहते हैं समग्र वेद कर्मपरक हैं वैसे समग्र वेद उपासनापरक हैं। किन्तु दोनोंसे भिन्न ज्ञानकाण्डवाले कहते हैं—समग्रं वेद ज्ञानपरक हैं। इनमेंसे अब किसकी बात मानी जाय?

इन सब प्रश्नोंका प्राथमिक उत्तर यह है कि मेरे हृदयकी बात जितना मैं जानता हूं उतना दूसरा जान सकता है? कोई योगी अंदर घुसकर देखे तो भी मैं जितना जानता हूं उतना योगी नहीं जान सकता। उसकी साधनामें कहीं न्यूनता हुई तो उलटा भी हो सकता है। जैसे यन्त्रकी गड़बड़ीसे गलत सूचनायें मिलती हैं। इसी प्रकार वेदके हृदयकी बातको पूर्णतया कौन जान सकता है? दूसरा नहीं, वेद स्वयं जान सकता है। वेद भी भगवान् है सर्वज्ञ है। वह वेद भगवान् स्वयं कह रहे हैं—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'। यमराजके माध्यमसे स्वयं वेद ही यह बोल रहे हैं। अतः वेदमें क्या लिखा है इसमें स्वयं वेद ही परम प्रमाण है।

प्रथम यह देखा जाय कि वेदोंमें क्या लिखा है? क्या उसका अर्थ है? ऋग्वेदमें प्रथम मन्त्र है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ।

इसका सीधा अर्थ है—पुरोहितरूप, ऋत्विक्रूप, होतारूप, रत्नप्रदाता, यज्ञके देव अग्निकी मैं स्तुति करता हूं। पुरोहितका पौरोहित्य तभी संभव है जब अग्नि हो। ऋत्विक्का आर्त्विज्य तभी संभव है जब अग्नि हो। होता का होतृत्व तब चरितार्थ होगा जब अग्नि हो। वही यज्ञका देव है। वही रत्नादिफलदाता है। इसमें कर्म अर्थ प्रतीत होता है। इसीमें "ईडे" पड़ा हुआ है। अतएव यह उपासनापरक भी प्रतीत होता है। उस अग्निमें पुरोहितकी भावना करो। ऋत्विक् की भावना करो। होताकी भावना करो। यज्ञका देव विष्णु है उसकी भावना करो। अब इसका वैज्ञानिक अर्थ देखिये। अग्निसे अंग्नितत्त्व, ऊष्मा, ऊर्जा विवक्षित है। वही पुरोहित-आगे आगे स्थित है। उसीसे सभी यान्त्रिक कार्य होते हैं। चाहे वह बिजलीरूपमें हो, चाहे तैल (पेट्रोल) रूपमें हो, चाहे वह अणुशक्तिरूपमें हो। इस शरीरमें जबतक ऊष्मा है। तबतक शरीर चलता है। शरीर ठंढा पड़ गया तो समाप्त। इन्द्रियोंको तैजस बताया है। इसीलिये उनमें क्रिया होती है। यह अग्नि यज्ञका देव है। सत्कर्ममात्रको यज्ञ कहते हैं। क्षत्रियोंके लिये युद्ध भी यज्ञ है। द्रव्ययज्ञ आदि अनेक यज्ञ होते हैं। ये सब ऊष्मा पर ही आधारित हैं। उस ऊष्म शक्तिको शरीरमें बढ़ानेसे आयुकी वृद्धि होती है। उसीसे भूख प्यास होती है। ऋत्विक् का अर्थ "ऋतुषु यजति"। हरेक ऋतुके लिये अलग-अलग यजन होता है। ऋतुफलानि भोज्यानि। अनृतु अन्न नहीं खाते। आयुर्वर्धन और आयुःक्षयमें यही रहस्य है। वही स्वयं होता है। ऊष्मासे ऊष्मा पैदा होती रहती है। अग्निके प्रकाशको लेकर ही तो रत्नोंमें प्रकाश है। रत्न बनानेवालोंमें वह सर्वश्रेष्ठ है। अतः रत्नधातमं, रत्नानि दधाति ये तत्रातिशायितस्तम्।

अब इसकी वेदान्तपरक व्याख्या देखिये। महर्षि यास्कने व्याख्या की है अग्रणीत्वादग्निः। अग्आगेको कहते हैं। निका अर्थ है नेता, ले जानेवाला, रहनेवाला आदि। इन काममें अग्रणी है का अर्थ है—आगे रहनेवाला। जगत्को हम देख रहे हैं। उसमें यह अग्रस्थित है। इस पुस्तकको या पुष्पको देखते हैं तो प्रथम हम क्या देखते हैं? चारों ओर अंधेरा होता तो

हम इसे नहीं देखते। बिजली जली या सूर्योदय हुआ तो देखते हैं। क्योंकि प्रकाश चारों ओरसे इसे घेर लेता है। तब प्रथम नजर प्रकाशपर ही पड़ेगा। प्रथम प्रकाशको ही देखेंगे। पश्चाद् वस्तुको। अग्रणी वहां प्रकाश है। किन्तु यह पुस्तक भी है, लाईट भी है। किन्तु सोये हों, आंख बंद हो तो दिखाई देगा? नहीं। 'पुस्तकं पश्यामि' यहां प्रथम अंदर ज्ञानप्रकाश हो रहा है। तब बाह्य वस्तुप्रकाश होता है। आत्मप्रकाशमें पुस्तक या पुस्तककी छाया आती है। तब पुस्तक दीखती है। आत्मप्रकाश ही प्रथम प्रकाशित होगा। इसीलिये श्रुति कहती है–

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'।

आत्मप्रकाश अग्रणी है। उसके प्रकाशनके पीछे अन्य वस्तु प्रकाशित होती है। बल्कि उसीके प्रकाशसे सभी वस्तु प्रकाशित होती है। प्रायः सभीमें तीन प्रकारका आवरण है। उसे सौरादिप्रकाश दूर करेगा और वह सौर–प्रकाशतादात्म्यसे प्रकाशित होगी। उसके ऊपर सूक्ष्मअन्धकार तम होता है। कोई उसे तमोगुण ही कह देते हैं। उसका निराकरण चाक्षुषादिवृत्ति होगा। तब चाक्षुषतादात्म्य होगा। उससे सूक्ष्मतम अज्ञानरूपी आवरण है। उसको मनोवृत्ति दूर करेगी। और मनःस्थित आत्मचैतन्यतादात्म्य होगा। यह अनावृतचित्ततादात्म्य ही ज्ञानविषयता है। इसप्रकार चित्ततादात्म्यसे प्रथम अनावृतचित् होना चाहिये यही अग्रणी अग्नि है। यह चिदंशको लेकर बताया। दूसरा यह संदशसे भी अग्रणी है। चरखेसे या मशीनोंसे कपड़ा बनाया। चरखा मशीन घरमें रखा और कपड़ा बाजारमें बेचनेको दिया इसीप्रकार तन्तुसे सूतसे कपड़ा बनाया, सूत घर लाये और कपड़ा बेचने बाजार ले गये ऐसा हो सकता है कि नहीं? सोनेसे चैन बनाया, उसमेंसे चैन बेचा, सोना अपने पासमें रखा, दूसरी चैन बनानेको काम आ जाएगा जैसे चरखा मशीन घरमें रखनेसे दूसरा कपड़ा बनानेके काममें आता है। वैसा सूतमें या सोनेमें नहीं होता। क्यों नहीं होता? तन्तुसत्ता हो तो ही वस्त्रसत्ता रहेगी। सुवर्णसत्ता हो तो ही कुण्डलसत्ता रहेगी। वहां सुवर्णसत्ता प्रथम है। उसके अधीन बादमें कुण्डलसत्ता है। वैसे ही परमात्मसत्ता अग्रणी है। उसके होनेपर ही जगत् सत्ता हो सकती है। परमात्मसत्तासे अनतिरिक्त सत्ता जगत्में है। जैसे शुक्तिसत्तासे अनतिरिक्त

सत्ता रजतमें है। अतः परमात्मा सत्तासे अग्रणी अग्नि है। आनन्दसे भी वह अग्रणी है। पत्थरपर सेंट चढ़ाइये, फूल चढ़ाईये, मखमल गद्दा ओढ़ाईये, उसपर मिठाई रखिये, क्या उसको आनन्द होगा? नहीं होगा। आपके शरीरमें ही आजकल ऑपरेशन आदिके लिये हाथको पांवको शून्य करते हैं। मतलब उस अवयवमें रही हुई आत्मचेतनाको आवृत करते हैं। फिर उसपर फूल, चंदन आदि कुछ भी चढ़ाओं कुछ नहीं होगा। प्रथम आत्मामें आनन्द प्रकट हो तब शरीर एवं विषयादिमें आनन्द होगा।

"अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।"

इस आत्माके आनन्दकी ही मात्रा अन्यत्र सर्वत्र है। आत्मानन्द अग्रणी है। अग्नि है। विषयादि आनन्द पश्चात् होता है। महाभारतमें कथा है– दुर्वासाके शापसे दुष्यन्त शकुन्तलाको भूल गया। संमुख वह खड़ी है लेकिन परदार समझनेसे उसके अंदर खुशी नहीं। तो बाहर आनन्द कहांसे आवे? शापावधि समाप्त हो गयी। भरतको शेरके दांत गिनते देखा। आनन्दा–पादक आवरण हटा, आत्मानन्द प्रकट हुआ तब बाह्यानन्द भी प्रकट हुआ। अतः आनंदांशमें अग्रणी आत्मा सिद्ध हुआ। अग्रणीत्वादग्निः परमात्मा। 'पुरोहितं' इत्यादिका भी इसके अनुरूप अर्थ है। यज्ञ जन्य होनेसे संसार यज्ञरूप ही है। उसके पुरोहितं–प्रथम स्थितम्। सत्तारूपसे प्रथम स्थित है और देवरूपसे, प्रकाशरूपसे, चिद्रूपसे प्रथम स्थित है। यज्ञकी क्रियामें कर्तृरूप में प्रथम स्थित है तथा रतिरूप रत्न आनन्दका आधान करनेवाला होनेसे प्रथमस्थित है। इसीप्रकार ऋग्वेदार्थ है।

यजुर्वेदमें "इषे त्वोर्जे त्वा" यहांसे प्रारम्भ हुआ है। इष्यत इति तस्मै इषे। इच्छाशक्ति इष् है। और ऊर्जबल प्राणनयोः। क्रिया शक्ति ऊर्ज है। इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्तिके लिये त्वा–तुम परमात्माके हम प्रपन्न हैं। परमात्मामें दो प्रकारकी मुख्य शक्तियां है। एक इच्छाशक्ति है। दूसरी क्रियाशक्ति है। यद्यपि शक्तियां तीन हैं–ज्ञान तथा इच्छा दोनों समाविष्ट हो जाती हैं।

"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत।"

"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।"

"स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत।"

इत्यादि श्रुतियोंमें ईक्षणात्मक कामना बताकर फिर सृष्टि क्रिया बतायी। पूर्ण इच्छाशक्ति एवं पूर्ण क्रियाशक्ति परमात्मामें ही है। अतएव इन दोनोंका इषे त्वा प्रार्थयामि, ऊर्जे त्वा प्रार्थयामि इत्यादि अर्थ माना जाता है। यहां भी ऋग्वेदोक्त रीतिसे अन्य अर्थ भी है। इषे त्वा पलाशशाखां छिनद्मि इत्यादि वहां अर्थ किया गया है। किन्तु मुख्यरूपसे परमात्माका प्रतिपादन है। क्योंकि "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इस श्रुतिके अनुसार परमात्मा अर्थ तो है ही।

यह तो ठीक है कि अग्नि आदि कुछ शब्द परमात्माके प्रतिपादक हैं। किन्तु वेदोंमें और भी तो अनेक शब्द आये हैं।

"व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे
मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे
श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे
मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्"

क्या ये सब परमात्माके नाम हैं? चावल, गेहूं, जौ, उड़द, तिल, मूंग आदि सब मुझे मिल जाय इसमें कौनसे परमात्माका वर्णन है? इसका उत्तर यह है कि यदि आपने कपड़ेको छुआ तो तन्तुको भी छुआ कि नहीं? छुआ। यदि कुण्डल प्राप्त किया तो सुवर्ण भी प्राप्त किया कि नहीं? प्राप्त किया। तब सारा जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न है तो जगत्के कहनेसे ब्रह्मका भी तो कथन होगा।

"सर्वदेवनमस्कारं केशवं प्रतिगच्छति।"
क्यों? केशवजन्य हैं सभी देव।

चाहे दौड़ो, चाहे बैठो, चाहे चलो, चाहे गिरो। आखिर कहां? पृथिवीमें ही।

"भूमौ निपतमानानां भूमिरेवावलम्बनम्
त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं मम।"

गोपीनाथं कहनेकी जगह अपराधसे गप्पीनाथ बोल दिया तो भी जायेगा परमेश्वरमें ही। तब सर्वे वेदाः क्यों? "सर्वे शब्दा यत्पदमामनन्ति" यह बात हो सकती है। लौकिक मनुष्योंमें भावना नहीं है। तात्पर्य नहीं है। तात्पर्यज्ञान भी शाब्दबोधमें हेतु है।

सर्वे वेदा यत्पदमामन्ति। समस्त वेदोंमें परमात्माका ही वर्णन है। अग्नि आदिके रूपमें परमात्मवर्णन ही किया गया है यह बताया। अब अन्य प्रकारसे भी वेदोंका परमात्मवर्णनपरत्व हम देखेंगे। वेदोंमें तीन काण्ड प्रसिद्ध हैं। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। अस्सी हजार मन्त्र कर्मकाण्डके वर्तमानमें प्राप्य हैं। सोलह हजार उपासनाकाण्डके तथा चार हजार ज्ञानकाण्डके हैं। ये तीन काण्ड तीन दोषके वारणके लिये हैं। तीन दोष हैं—मल, विक्षेप और आवरण। चौरासी लाख योनियोंमें चार लाख मनुष्य योनि बतायी हैं। बाकी अस्सी लाख पशु, पक्षी, कीट, मत्स्यादि हैं। उन योनियोंमें आत्मज्ञान कभी-भी संभावित नहीं है। उन योनियोंके प्रयोजक पाप अस्सीलाख प्रकारके होंगे ही। उन्हींसे बचनेके लिये अस्सीहजार कर्मकाण्डमन्त्र हैं। एक-एक मन्त्रमें सौ-सौ जन्मोंको या उतने जन्मोंके प्रयोजक पापोंको रोकनेकी शक्ति है। उनका अभिभूत होना ही मलनिवृत्ति है। चार लाख योनियां मनुष्ययोनियां है। उन्हींमें विक्षेप और आवरणकी निवृत्तिके लिये सोलह हजार और चार हजार मन्त्र हैं। ज्ञानाभ्यासकी अपेक्षा उपासना चौगुनी करनी चाहिये। इसलिये उपासनाके मन्त्र ज्ञानके मन्त्रोंकी अपेक्षा चौगुने हैं। दर्पणपर मैल जमा है तो उसमें अपना चेहरा दिखाई नहीं पड़ेगा। उसे पोंछकर प्रथम साफ करना चाहिये। समुद्रके किनारे जलमें किसीका प्रतिबिम्ब देखो तो दीखेगा जरूर। किन्तु कटाफटा दीखेगा। स्पष्ट कभी भी नहीं दीखेगा। वहां प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी। स्थिर दर्पण आदिमें ही प्रत्यभिज्ञा हो सकती है। अलमारी आदिपर पोंछा हुआ, स्थिर कांच है किन्तु ऊपरसे पड़दा लगा रखा है तो चेहरा दिखाई नहीं पड़ेगा। अतः पड़दा हटाना भी परम आवश्यक है। वैसे ही चित्तमें मल हो तो आत्मदर्शन नहीं ही होगा। विक्षेप हो तो कटाफटा सा भले दीखे किन्तु परमार्थ प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी। और आवरण हो तो आत्मदर्शन नहीं ही होगा। कर्मकाण्ड मलनिवृत्तिके द्वारा आत्मदर्शनमें हेतु है। उपासनाकाण्ड विक्षेपनिवृत्तिके द्वारा आत्मदर्शनमें हेतु है। ज्ञानकाण्ड आवरणनिवृत्तिद्वारा आत्मदर्शनमें कारण है। इसप्रकार 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' यह बात सिद्ध होती है।

इसपर पूर्वपक्ष यह होता है कि माना निष्काम कर्मोंसे मलनिवृत्ति होगी परन्तु वेदोंमें सकाम कर्मोंका भी तो वर्णन है। वे किसप्रकार परमात्मपदपरक हैं? उत्तर यह है कि धन, दार, पुत्रआदिकी अभिलाषा जनसाधारण है। महेनत करनेपर भी पुष्कल धन मिलता नहीं है। तो लोग क्या करते हैं? ब्लेकमार्केट करते हैं और धन कमाते हैं। वेदोंने कहा—

"यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् ।
श्रियः पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत् ॥"

घृतकी आहुति दो, श्रीसूक्त जाप करो तो श्रीप्राप्ति होगी। कालाबाजारीसे भी पैसा मिलता है। श्रीसूक्तहवनसे भी धन मिलता है। इनमें से कौनसा रास्ता श्रेष्ठ है? निश्चित है कि कृष्णकर्मसे हृदय मलिनसे मलिनतर होगा। शुक्ल कर्मसे तो कामना होनेके कारण अधिक शुचि भले न हो फिर भी कुछ पवित्रता तो होगी ही और विद्यमान पवित्रता बनी रहेगी। किसीको दाराकी इच्छा हो गयी तो परदारहरण करनेकी अपेक्षा—

पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीम्.

इत्यादि कहकर चण्डीपाठ करना अधिक अच्छा होगा कि नहीं? असत्कर्म से व्यावृत करनेके लिये सकामकर्मोंका उपदेश वेद करते हैं। असत्कर्मोंसे क्यों व्यावृत करना? हमें धनदारादिसे मतलब है चाहे किसी रास्तेसे प्राप्त किया जाये।

अन्तमें वही उत्तर-परमात्मबाधक है असत्कर्म और परमात्मसाधक है सत्कर्म।

परन्तु वेदोंमें आयुर्विज्ञानादिका भी वर्णन आया है। धनुर्वेद भी है। अथर्ववेदमें इन सबका विस्तृत वर्णन है। यह परमात्मपरक किस प्रकार? इससे पुण्यपापका कोई सवाल नहीं है। नहीं है अवश्य। किन्तु सबसें प्रथम आयुर्विज्ञानकी ही जरूरत होगी।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।'

'जन्तूनां नरजन्मदुर्लभं' क्यों बताया? यही मोक्षद्वार है। तब शरीरका महत्त्व प्रथम आ गया। किन्तु जिन्दगीभर रुग्ण रह गये तो उस शरीरका

क्या महत्त्व रहेगा? ऐसे शरीरसे कोई साधना नहीं हो सकती। शरीरमें कहीं भी थोड़ा भी दर्द हुआ तो उसीका चिन्तन चलता रहेगा। बल्कि रामकृष्णपरमहंसजीसे किसीने यही प्रश्न किया कि भगवानका स्मरण कैसा होना चाहिये तो उत्तरमें वे कहने लगे—पीठपर फोड़ा हो गया, पकने लगा, तो जैसे निरन्तर उसीका चिन्तन होता है रातमें जग-जगकर उसकां चिन्तन करते हैं, भूले नहीं वैसे। यद्यपि यह नित्यस्मरणका दृष्टान्तमात्र है तथापि यहां तात्पर्य यही है कि शरीरमें कहीं भी दर्द हो तो उसीका चिन्तन होता रहेगा तो ब्रह्मचिन्तन क्या हो? इसप्रकार आयुर्विज्ञान भी शरीरस्वास्थ्यद्वारा परमात्मज्ञानसहायक होनेसे परमात्म-परक है। धनुर्वेदमें युद्धविद्या है। वह भी आवश्यक है। चीन भारत युद्ध जब हुआ था तब पूरे भारतीय भयभीत हो गये थे। चीन बढ़ता ही आ रहा था। तेजपुर खाली करनेका आदेश हो गया था। इन भयके बीचमें क्या अभय होगा? देश चारों ओरसे सुरक्षित हो शरीर स्वस्थ हो और अर्थशास्त्र बराबर चल रहा तो तभी सत्संग, ब्रह्मचिन्तन आदि सभी संभव है। आर्थिक तंगीमें परमात्मचिन्तन नहीं, अर्थचिन्तन ही चलेगा। अतः अर्थशास्त्र भी उपयोगी है। इसप्रकार मल, विक्षेप और आवरणोंकी निवृत्तिके द्वारा सभी वेद परमात्मपदका प्रकाशक निश्चित होता है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। समस्त वेद किसप्रकार परमात्मपदका वर्णन करते हैं? एक तृतीय प्रकार भी है। चारों वेदोंमें महावाक्य आते हैं। "प्रज्ञानं ब्रह्म" यह ऋग्वेदका महावाक्य है। "अहं ब्रह्मास्मि" यह यजुर्वेदका महावाक्य है। "तत्त्वमसि" यह सामवेदका महावाक्य है। "अयमात्मा ब्रह्म" यह अथर्ववेदका महावाक्य है। सबका अर्थ समान है। किन्तु विचार करते समय "तत्त्वमसि" को ही सामने रखकर विचार करते हैं।

"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।"

इस प्रकार सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषदमें आया है। इसमें तत्पदका अर्थ क्या है? "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।" इसप्रकार जिसका उपक्रम किया वही सर्वनाम तत्पदका अर्थ है। प्रथम सत् परमात्मा था। उसने जगत्सृष्टिके लिये ईक्षण किया और तेज आदि जगत्‌को बनाया। ईक्षणसे सिद्ध है कि वह सर्वज्ञ है। बिल्डिंगका पूरा स्वरूपज्ञान हो तब बनानेका

नक्शा तैयार होता है। जगत्‌रूपी भवनके निर्माणके लिये ईक्षण जगद्विषयक ही होना चाहिये। अतएव सर्वज्ञता सिद्ध होती है। और सब जगत् बनाया तो सर्वशक्तिमत्ता भी निश्चित है। ईक्षण तो चेतन ही करेगा फ़लतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चैतन्य तत्पदका अर्थ हुआ। त्वंपदका अर्थ है-संबोधतावच्छेदकरूपावच्छिन्न। सम्बोध्य है यहां श्वेतकेतु। उद्दालक आरुणि श्वेतकेतुको उपदेश दे रहे हैं—"तत्त्वमसि श्वेतकेतो"। श्वेतकेतु कैसे हैं? अल्पज्ञ। क्योंकि उद्दालकने जब यह पूछा—"उत तमादेशमप्राक्ष्य येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति"। उस आदेशको तुमने गुरूसे पूछा और जाना? जिससे अश्रुत श्रुत हो, अमत मत हो, अविज्ञात विज्ञात हो? श्वेतकेतुने कहा—

"न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुः
यद्ध्यवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन् ।"

मेरे गुरुजी इस बातको नहीं जानते थे। यदि जानते होते तो मुझे अवश्य बताते। इससे अल्पज्ञता त्वं पदार्थमें स्पष्ट भासती है। अतएव अल्प-शक्तिमत्ता भी प्राप्त हैं। इसप्रकार तत्पदका अर्थ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा हुआ। त्वंपदका अर्थ अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् जीवात्मा हुआ। इन दोनोंकी एकता किस प्रकार हो? हाथी और चींटी एक है बोलनेके बराबर यह कथन होगा। अतएव तत्पदार्थ एवं त्वंपदार्थका प्रथम शोधन करना पड़ेगा। इसको वेदान्तमें भागत्याग कहते हैं। परमात्मामें भाग परमको हटा लो। जीवात्मामें भाग जीवको हटा लो। आत्मा-आत्मा एक है। यह श्रुतिका अर्थ है। इसके लिये उदाहरणके रूपमें घटाकाश और महाकाशको बताया जाता है। बाहर महाकाश दीखता है। घड़ेमें घटाकाश है। ये दोनों अलग-अलग हैं या एक ही हैं? उत्तर है दोनों एक है। क्योंकि आकाश एक ही है। किन्तु एक किस प्रकार? महाकाशमें एरोप्लेन राकेट आदि घूमते हैं तो क्या घटाकाशमें भी ये सब घूमते हैं? घटाकाशमें एरोप्लेन क्या चिड़िया भी नहीं उड़ सकती। ज्यादासे ज्यादा मच्छर उड़ सकते हैं। तब दोनोंकी एकता किस प्रकार? भाग उपाधिको छोड़नेपर एकता। आकाश आकाश एक है। उसमें महा और घट जोड़ोगे तो एक करना

मुश्किल होगा। यही श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने अपने अन्तिम उपदेशमें बताया।

"घटे भिन्ने यथाकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा ।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः"

घट फूट गया तो घटाकाश पूर्ववत् आकाश हो जायेगा। वैसे देह समाप्त होनेपर जीवात्मा शुद्ध आत्मा हो जाएगा। देहसे यहां स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों देह लेना चाहिये। क्योंकि उत्तर श्लोकोंमें उन दोनोंका भी वर्णन है।

"मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः ।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥"

इसमें "मन: सृजति" से मनको सूक्ष्म बताया और "तन्मनः सृजते माया" कहकर कारण शरीर माया अज्ञानको भी बताया। "आकाशः स्यात्" कहा। 'महाकाशः स्यात्' नहीं कहा। क्योंकि महाकाश बहिरूर्ध्वदिशावच्छिन्न आकाशको कहते हैं। अतः 'महा'को भी हटाना होगा। इसी प्रकार "तत्त्वमसि" में भी भागत्याग करना है।

यह भागत्यग क्या हैं? खाली ऊपर-ऊपरसे समझना मात्र या और कुछ? शाब्दबोधमें समझना ही समझना होता है। करना नहीं होता। जैसे उदाहरणके रूपमें शहद और मधु ये दोनों एक ही हैं कि दो? दोनों एक हैं। दोनों बोलते हैं फिर एक बोलते हैं यह तो विरुद्ध बात हुई। दो क्या हैं? दो शब्द हैं। क्या दो शब्द एक ही हैं? नहीं अर्थ एक ही है। दोनों अर्थ एक ही हैं तो वे दो अर्थ कौन-कौन हैं? असलमें दोशब्दविशिष्ट अर्थ है। उनमें शब्दको त्यागकर अर्थ एक बोलते हैं। अस्तु। वहां भागको त्यागनेका अर्थ केवल वैसा समझना है। शब्द उठाकर फेंका नहीं जाता। तत्त्वमसिमें बात कुछ और है। क्योंकि तत्त्वमसि हजार बार सुनो। भागत्याग लक्षणा कर लो। लेकिन कोई फरक पड़नेवाला नहीं है। यहां तो वस्तुतः त्यागना होगा। वह किस प्रकार? क्रम यह है कि प्रथम सत्कर्म करो। सत्कर्म करनेसे त्वंपादार्थान्तर्गत अन्तकरणः उपाधि हल्की होगी। तेल, धूल, आदिसे कपड़ा इतना भारी हो जाता है कि पहनकर चलना मुश्किल होगा। ओयल मिलमें काम करनेवालोंकी दशा देख लो। पहले गरमपानीमें कपड़े डालकर मैल (तेल आदि) को हल्का कर सोडासे धोना होगा।

उसके बाद बढ़िया साबून आदि लगाकर पतले मैल आदिको निकालना होगा। वैसे यहां सत्कर्मोंके द्वारा जीवात्मोपाधि अन्तःकरणका मैल हल्का करो। साबूनकी बात बादमें। कर्मका परिणाम सीधा कर्तापर ही मीमांसक मानते हैं। इसके बाद उपासनाका नंबर आता है। उपासनासे उपास्य देवकी प्रसन्नता प्रथम बात है। परमात्माकी प्रसन्नता क्या है? अयं दण्डनीयः, पातनीयः यह दण्डनीय है, गिरानेयोग्य है इत्यादि क्रोधात्मक मायावृत्तिका निराकरण। यही परमात्माकी उपाधिमें मैल है। क्या एकने उपासना की तो परमात्मामें अयं दण्डनीयः इत्यादि वृत्ति किसीके प्रति नहीं होगी? होगी।

"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।"

ऐसा पातञ्जलसूत्र है। वही न्याय यहीं भी है। उपासकके प्रति अयं दण्डनीय इत्यादि वृत्ति नष्ट होगी। अन्यके प्रति नहीं। हमको तो उतनेसे मतलब है। इसप्रकार निरन्तर उपासनासे ईश्वरकी उपाधि भी हल्की हो जायेगी। यही कर्म और उपासनासे त्वंपदार्थ और तत्पदार्थका शोधन है। इसके बाद ज्ञानकाण्ड वेदान्त आयेगा। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि। "एतदभयममृतम्" इत्यादि तत्त्वंपदार्थशोधक वाक्य हैं। इसके बाद जब तत्त्वमसि महावाक्य उच्चारण होगा तब शुद्ध चैतन्यविषयक अखण्डाकार-वृत्ति होगी। और वह अविद्या और तत्कार्यरूप सकल प्रपञ्चका बाध कर डालेगी। तब शुद्ध आत्माका परिशेष होगा। कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्डसे ध्वंसात्मक शोधन होगा। बहुतसे मैल जीवात्मामेंसे निकलेंगे और बहुतसी क्रोधादि वृत्ति परमात्मामेंसे। फिर अन्तमें बाधात्मक भागत्याग होगा तो निर्मल परमात्मतत्त्व अवशिष्ट रहेगा। इसप्रकार कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड एवं ज्ञानकाण्डकी परमात्मामें परिसमाप्ति होती है।

तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। सभी तपश्चर्यायें जिसके प्रकाशनके लिये की जाती हैं। वदन्तिका अर्थ कथन करना होता है। परन्तु तप कोई आदमी तो है नहीं कि वह कथन करे। अतः कथन वस्तुप्रकाशनके लिये होनेसे उतनाही यहां अर्थ समझना चाहिये कि जिसके प्रकाशनके लिये सभी तप हैं। तप किसको कहते हैं? पुराणोंमें लिखा है कि जंगलमें तप करते थे। ध्रुवने मधुवनमें तप किया। हिरण्यकशिपुने मन्दराचलपर तप किया।

शूर्पासुर कोई असुर था। उसने अग्नि जलाकर उसके मध्यमें एक एक कील गाड़कर उसपर अंगूठेके बल खड़े होकर सूर्यकी ओर देखते हुए हजार वर्ष तप किया। सूईपर अंगूठेके बल कैसे खड़ा रहा, सो भी हजार वर्षतक यह सब समझके परेकी चीज है। सत्ययुगत्रेतायुगमें ऐसा सामर्थ्य होनेसे किया होगा यही समाधान हो सकता है। हिरण्यकशिपु तपस्यामें बैठे सो चारों ओर दीमकने बांबी (बल्मीक) बनायी। ब्रह्माजी आये तो वह दीख ही नहीं रहा था। शरीर नष्ट प्राय था। हड्डियोंमें प्राण रह गये थे। यह भी अपने ढंगकी कथा है। इसका भी समाधान सत्ययुग-त्रेतायुग कहकर ही देना पड़ेगा। आज तो ऐसे सौ वर्ष क्या सौ दिनमें ही आदमी मर जायेगा। सत्ययुगमें हड्डियोंमें प्राण रहते थे। आजकल तप किसको कहते हैं? सुबह लोकल ट्रेनपर लटकते हुए बम्बई पहुंचे। दिनभर काम किया। शामको पुनः लटककर वापिस आये। संयोगवश कमाई अच्छी हुई। लखपति बन गया तो कह देते हैं कि उसने जीवनमें बड़ा तप किया तब यह फल मिला। गाड़ीपर लटकना तप है। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार तपके दो अर्थ होते हैं। 'तप संतापे' 'तप आलोचने' एक अर्थ है क्लेश सहन। दूसरा अर्थ है निरन्तरविचार। दोनोंको मिलानेपर अर्थ निकलेगा। क्लेशसहनपूर्वक परमात्मदर्शनके लिये उपासना।

तपमें मुख्य विघ्न काम है। दूसरा मध्यम विघ्न क्रोध है। सामान्य विघ्न लोभ है। सौभरिने बड़ा तप किया। बहुत शक्ति अर्जित की। किन्तु कामके कारण उनका तप क्षीण हो गया। वे कहते हैं—

"अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात् प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत् ॥"

मुझ तपस्वीका कैसा यह विनाश हुआ। मछलियोंके संगमें मैं कामी हो गया। पुराणोंमें तो बहुधा वर्णन है कि तपस्वियोंके तपमें विघ्न डालनेके लिये इन्द्र अप्सराओंको भेजते थे। जैसे विश्वामित्रके तपमें मेनका। दूसरा विघ्न क्रोध है। तपस्वियोंको क्रोध जल्दी आता है और कुछ श्राप आदि दे देते हैं। किन्तु इससे उनके तपमें काफी नुकसान होता है। जैसे क्रोधमें आकर विश्वामित्रने वसिष्ठजीके कई पुत्रोंको समाप्त किया।

लोभ तो मानवमात्रमें रहनेवाला दोष है। इन विघ्नोंको हटाते हेतु इष्टदेवचिन्तन करना तप है। यदि धनादिकी इच्छा हो तो भी इष्टदेवके वरप्रसादसे पानेका प्रयत्न ही तप है न कि गाड़ीपर लटकना आदि। ब्रह्मकी तपस्याकी, विष्णुकी तपस्याकी, शंकरकी तपस्या की इत्यादि प्रसिद्ध है। कहीं इन्द्रादिकी भी तपस्या की जाती है। तपका फल प्रथम इष्टदेवकी संमुख उपस्थिति या दर्शन है। "सर्वाणि तपपांसि:" से कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तप भी ग्राह्य हैं। वे प्रायश्चित्तरूपमें मलनाशक होंगे। विष्णु आदिका तप उपासनासे मल और विक्षेप उभयनाशक है। भगवद्गीतामें—

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवं"

इत्यादि तीन श्लोकोंमें कायिक, वाचिक एवं मानसिक तीन तपोंका वर्णन किया है। इनसबका फल भी मल विक्षेपनाशद्वारा परमेश्वरदर्शन है।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। बड़े-बड़े ऋषि ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते थे। श्रुतिमें बताया है—

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा ।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥"

परमात्माकी प्राप्तिमें इन सबको साधन बताया है। सत्य अर्थात् लौकिक एवं पारमार्थिक सत्यमें आस्था। तपकी व्याख्या आ गयी। सम्यग्ज्ञान शास्त्र और आचार्यप्रसादसे लभ्य ज्ञानको कहते हैं। तथा ब्रह्मचर्य। इनसे आत्मा प्राप्य है। मार्कण्डेय ऋषि बहुत बड़े ब्रह्मचारी हुए। उन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार नहीं किया। ब्रह्मचर्यके बलसे उन्होंने मृत्युको जीत लिया था।

"ब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमुपाघ्नन्"

ऐसा श्रौतवचन है। "विद्वांसो वै देवा:"। वेदश्रवणजन्य ज्ञानवाले देवों ने ब्रह्मचर्यके बलसे मृत्युको मार हटाया। प्रलयमें भी मार्कण्डेय ऋषि रहे थे। और वहां वटपत्रशायी बालमुकुन्दका दर्शन किया था।

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः"

ऐसा पतञ्जलि ऋषि कहते हैं। वीर्यका अर्थ है समार्थ्य। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" यहां बल पदका यही वीर्य अर्थ है। गृहस्थोंके लिये भी आंशिक ब्रह्मचर्यका विधान है। इसका भी फल परमात्मप्राप्ति ही है।

तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि। वह पद संक्षेपसे कहा हूं। यहां 'पद' से 'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं' में बतलाया हुआ मूलस्थान अर्थ है। ॐकार पदरूप होनेसे वह भी अर्थ है। ज्ञान एवं उपासना दोनोंके उपयोगी दोनों हैं।

ओमित्येतत्। प्रथम हमने बताया कि परमात्माका प्रतिपादक तत्त्वमसि आदि महावाक्य चार वेदोंमें आये। ॐकार पंचम महावाक्य है। ॐकारमें तीन मात्रायें अ+उ+म ये तीन हैं। व्याकरणशास्त्रका नियम है– 'नामार्थयोरभेदान्वयः' समान विभक्तिवाले या विभक्ति रहित दो पदोंके अर्थका परस्पर अभेदसे अन्वय होता है। अकारका अर्थ है विश्व और वैश्वानर माने समष्टि विराट् पुरुष। उकारका अर्थ है तैजस और हिरण्यगर्भ। स्वप्नावस्थामें व्यष्टि तैजस है। सहस्रयुगोंके बाद प्रलयमें समष्टि हिरण्यगर्भ रहता है। मकारका प्राज्ञ और ईश्वर अर्थ है। इन सबका अभेदेन अन्वय होता है। परन्तु सभी परस्पर विरुद्ध होनेसे यहां पर भी भागत्याग लक्षणा माननी होगी। तब चैतन्यका ऐक्यज्ञान होगा। अनात्मांशका त्याग होनेसे उनमें सत्त्व, असत्त्व, धर्मत्व, अधर्मत्व आदि कोई भी धर्म नहीं रहता है। अतएव 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि स्वरूपका उदाहरण हो जाता है। 'अस्तीत्येके नायमस्तीवि चैके' का भी उत्तर होता है। क्योंकि शब्दप्राय धर्मोंको छोड़कर अखण्डाकार बोध जो होता है वह अस्ति नास्ति आदि पदवाच्य नहीं है।

ॐकारके अंदर सभी वेद आ जाते हैं। अकारमें ऋग्वेद, उकारमें यजुर्वेद और मकारमें सामवेद है। अतः 'सर्वे वेदा यत्पदमामन्ति' वह ॐकारसे भी प्रतिपाद्य है। अउममें ब्रह्मा विष्णु महेश्वर आते हैं और 'तपांसि सर्वाणि' ॐकारमें आ जाते हैं। और ॐकारजपके लिये ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। ब्रह्मचारी ही केवल ॐकारका जप करता है। अन्य तो ॐकार घटित मन्त्र बोलते हैं। अतः 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' यह बात भी ॐकारमें घटित होती है। ॐ कार जप की इच्छा हो तो ब्रह्मचर्य पालना ही होगा। इस प्रकार वाच्यार्थको लेकर सर्ववेदार्थ आ जाते हैं। जिसका फल मलविक्षेपकी निवृत्ति है। अवयवार्थसे ये सारी बातें हैं। फिर वाक्यार्थ करने लगते हैं तो परस्पर विरुद्ध प्रतीत होंगे। अतः भागत्याग करेंगे। विश्वकी उपाधि स्थूल जाग्रत शरीर तथा विराट्की

उपाधि स्थूल प्रपंच इन दोनोंको छोड़ते हैं। इसके बाद प्राज्ञकी उपाधि एवं ईश्वरकी उपाधि माया छोड़ देते हैं। वैसे एकपदार्थद्वयमें अभेदान्वयका नियम नहीं है तथापि अकारार्थ और उकारार्थके अभेदके लिये विश्व-तैजस ऐक्यार्थ और विराट् हिरण्यगर्भ ऐक्यार्थ व्यष्टिसमष्टि उपाधिको छोड़ना पड़ता है तो अपनेआप ही विश्वविराटका भी अभेद अनायास सिद्ध होगा। इसप्रकार सर्वानुगतचैतन्यमात्रावशेष होनेसे ॐकारसे धर्मा-धर्म, कृताकृत आदिसे व्यतिरिक्त परमार्थतत्त्वका प्रकाशन हो ही जाता है। अतएव प्रश्नके अनुकूल यह उत्तर हुआ।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

यही अक्षर अपर ब्रह्म है। यही अक्षर पर ब्रह्म है। इसी अक्षरको ही जानकर जो व्यक्ति जो चाहता है उसको वह मिलता है॥ १६ ॥

ॐकारके लक्ष्यार्थको लेकर 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि प्रश्नका उत्तर यमराजने दिया। प्रश्न हुआ कि 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि महावाक्यके द्वारा यह रहस्य समझाया जा सकता था। अत्यन्त क्लिष्टार्थ ॐकारसे क्यों समझाया? इसका उत्तर यह है कि साधकके लिये भी यह उपासनाके लिये उपयोगी है। महावाक्योंमें उपासनापद्धति नहीं है। ॐकारमें जिसकी जैसी इच्छा है तदनुरूप साधना की जा सकती है। अतः ॐकारका वाच्यार्थ लक्ष्यादिनिरूपणके साथ उपासन्ना भी इस मन्त्रमें व्यक्त कर रहे हैं।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म। उत्तर पादमें परम् लिखा है अतः प्रथमपादमें अर्थात् अपर ब्रह्मका कथन निश्चित होता है। प्रश्नोपनिषदमें भी कहा है—

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः'

यही ॐकार पर एवं अपर ब्रह्म है। अपर ब्रह्मको ही कार्यब्रह्म कहते हैं। और परब्रह्म कारण ब्रह्मको भी कहते हैं। और कारणातीत ब्रह्मको भी कहते हैं। कहीं उसके लिये परात् पर ब्रह्म ऐसा भी प्रयोग किया है। पर अर्थात् कारणसे भी पर जो ब्रह्म ऐसा उसका अर्थ होता है। प्रायः

उपासनायें कार्यब्रह्मकी ही होती है। कार्यब्रह्मको हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। कारणब्रह्मका दूसरा नाम ईश्वर है और परात्पर ब्रह्मको तुरीयतत्त्व कहते हैं। हिरण्यगर्भ यह सामान्य शब्द है। उसीका विशेष ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, राम, कृष्ण आदि है। ये सभी साकार हैं, सशरीर हैं।

"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥"

वही प्रथम शरीरी है। उसीको पुरुष कहते हैं। भूतोंका वही आदि कर्ता है। उसे ब्रह्मा कहते हैं जो सबसे पहले हुआ। यह मनुस्मृतिका वचन है। उसीको फिर आगे नारायणपदनिर्वचनके द्वारा नारायण बताया। इसीका मूल श्रुतिमें हिरण्यगर्भ नाम लिखा है।

"हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।,
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥"

अपर ब्रह्मकी उपासना तीन प्रकारसे होती है। एक मात्रासे, द्विमात्रासे और त्रिमात्रासे। प्रथम यह समझना है कि अपरब्रह्मअर्थपक्षमें अकार, उकार, और मकारंका सात्त्विक,राजस, तामस तथा सृष्टिकर्ता, रक्षाकर्ता, संहारकर्ता और ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर ऐसा अर्थ होगा। इनमें एक एकको लेकर उपासना एकमात्रा ॐकार उपसना है।

"स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स
तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते ।
तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते
स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ॥"

उच्चारण ॐका ही करते हैं। उसमें मात्राओंकी कल्पना होती है। वैयाकरणमतमें सन्धि अक्षरोंमें मात्राओंकी कल्पना होती है। "सूर्योदयः" यहां अ, उ मिलाकर ओ हुआ यह प्रक्रिया है। वस्तुतः ओ एक अक्षर है। उसमें अ और उ की कल्पना मात्र है। "सुधीः" में ध्यायतिके य को ई हुआ और "सुध्यागमन" में ईकोय हो गया यह प्रक्रियामात्र है। वैसे ॐ एकः अखण्ड स्वर हुआ। उसमें अकार आदिकी कल्पना है। उसमें केवल 'अ' की कल्पना की तो वह ब्रह्माका वाचक हुआ। केवल 'उ' का आरोप किया

तो वह विष्णुका वाचक हुआ। 'म' का आरोप किया तो वह शंकरका वाचक हुआ। फिर उतनेका ध्यान किया या "ॐ वेधसे नमः' विष्णवे नमः" ॐ शिवाय नमः" ऐसे तीन मन्त्रोंमें किसीका ध्यान किया तो यह एक मात्राश्रय ॐकारका अभिध्यान हुआ। उससे उसको पुत्रजय्य मनुष्यलोक प्राप्त होगा। वहां वह तप, श्रद्धा और ब्रह्मचर्यसे संपन्न होकर सकल मानुष आनन्दसे पूर्ण महिमाका अनुभव करता है।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते
सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते
स सोमलोकम् सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ।"

द्विमात्र ॐकारमें भी उच्चारण ॐकाही होगा। किन्तु दो मात्राओंकी कल्पना होगी। 'अ-उ' का या 'उ-म' का या 'अ-म' की। इसमें अधिकतर 'उ-म' की ही कल्पना होती है। हरि और हर दोनोंका एक साथमें चिन्तन करते हैं। महिम्नः स्तोत्रमें प्रत्येक श्लोकका शिव-विष्णु उभयपरक व्याख्या श्रीमधुसूदनसरस्वतीने लिखा है।

"चन्द्रान्वयिनमीशानं देवं गिरिविलासिनम्।
विश्वनाथं जगन्नाथं वन्दे भक्तसुरद्रुमम् ॥
नागसंवेष्टिततनुं नृत्यन्तं नटतां वरम् ।
पशुपं भिक्षुकं क्वापि वन्दे सर्वार्थसिद्धिदम् ॥"

इसप्रकार दोनोंकी स्तुति एक साथ की गई है। लक्ष्मीपार्वतीसंवादात्मक एक पद्य है। उसमें दोनोंकी समान कथा बतायी है। "भिक्षुः क्वाद्य-बलेर्मखे" इत्यादि श्लोक प्रसिद्ध हैं। "ॐ हरिहराभ्यां नमः' यहां ॐकार द्विमात्र है। "ॐ लक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः' इत्यादिमें तो एकमात्र ही है। क्योंकि रक्षाशक्ति तथा रक्षक एक ही हैं। ऐसे उपासक सोमलोक अर्थात् स्वर्गलोक जायेंगे।

"यः पुनरेतत् त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण
परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः
स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्
परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ।"

उसी ॐ कारका उच्चारण करते हुए उसमें तीन मात्राओंकी कल्पना करें और सृष्टि, स्थिति, संहारकारी हिरण्यगर्भका ध्यान करें तो वह ब्रह्मलोकमें पहुंचेगा। इस अपरविद्याका फल परविद्या भी हो सकती है। परात् परका वहां दर्शन संभव है। परन्तु है वह अपरब्रह्मोपासना ही।

एवद्ध्येवाक्षरं परम्। यहांपर परंसे ईश्वर तथा ब्रह्म दोनों ही विवक्षित हैं। ईश्वर कौन है? कैसा है? वह मायावच्छिन्न चैतन्य है। त्रिगुणात्मिका माया है। उसका कोई आकार नहीं है। अतः ईश्वरका भी कोई आकार नहीं है। प्राज्ञके समान ईश्वर है। प्राज्ञ कैसा है? सुषुप्तिकालमें प्राज्ञ रहता है। उसका कोई आकार नहीं होता। जाग्रतमें मनुष्याकार हम हैं। सपनेमें कभी मनुष्याकार और कभी पक्षी आकारवाले आदि होते हैं। यद्यपि वह आकार कल्पित है। फिर भी कल्पित भी तो है ही। सुषुप्तिमें कल्पित आकार भी नहीं है। वह निराकार है। वैसे ईश्वर भी निराकार है। उस समय जगत् अव्याकृतरूपसे रहता है। प्रलयमें ईश्वर स्पष्ट है। अव्याकृत-रूपमें उस समय ईश्वर है।

"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्
तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत"

सूक्ष्ममें और अव्याकृतमें फरक है। अणु सूक्ष्म है। किन्तु सूक्ष्मदर्शी कांचसे उसे देख सकते हैं। कबूतरके अण्डेमें कबूतर रहता है। यदि अण्डेमें कबूतर न होता तो कभी उसमेंसे मोर पैदा होता, कभी कौआ पैदा होता। बीजमें वृक्ष माईक्रोस्क्रोपसे देखनेपर दीखेगा? नहीं दीखेगा, किन्तु है। इसको अव्याकृत बोलते हैं। वैसे परमेश्वरमें प्रथम यह जगत् अव्याकृतरूपसे रहता है।

"बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं पुनः"

ऐसा आचार्यने दक्षिणामूर्तिस्तोत्रमें बताया है। यह ईश्वर हिरण्यगर्भकी अपेक्षा पर है। यहां तीन मात्रासहित ॐकारका ध्यान होता है। अपरमें ब्रह्माविष्णु महेश्वर अकारादिका अर्थ बताया। यहांपर केवल रजोगुण सत्त्वगुण और तमोगुण अर्थ होगा। वे तीनों भी निराकार ही हैं। इस अव्याकृतकी उपासना त्रिमात्र ॐकारसे होती है। इसको ईशावास्यमें असंभूति आदि पदोंसे अभिहित किया है।

"अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्"

यहां असंभव पदका अव्याकृत अर्थ है। अव्याकृत पदसे कुछ लोग केवल प्रकृति अर्थ लेते हैं। उसका फल भी प्रकृतिलय बताया है। परन्तु "बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ् निर्विकल्पं" इत्यादि आचार्योक्तिके अनुसार ईश्वरमें ही जगत् अव्याकृतरूपसे रहता है। फलतः मायावच्छिन्न चैतन्य ही ॐकारपदार्थ पर ईश्वर है ऐसा सामान्यसिद्धान्त है। इसका ध्यान किसप्रकार होगा? जैसे सुषुप्ति अवस्थाका अनुभव होता है। आनन्दमयका व्यापकरूपसे सुषुप्तिमें अनुभव होता है। "सुखमहमस्वाप्सम्"। इतना अन्तर जरूर है कि सुषुप्तिमें जीवकी उपाधि मलिनसत्त्वप्रधान अविद्या है। ईश्वरकी उपाधि शुद्धसत्त्वप्रधान प्रकृति है।

"संभूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयँ-सह"।

ऐसा बताया है। अतः प्रथम हिरण्यगर्भ ध्यान करनेके बाद सकलाकारको छोड़कर निराकार आनन्दैकरस ईश्वरका ध्यान करना उचित होगा। इस प्रकार फिर यह भी अपरकोटिमें ही आयेगा। आपेक्षिक परत्वमात्र उसमें है।

"एतद्ध्येवाक्षरं परं" में मुख्यरूपसे परात्पर पुरुष ही विवक्षित है जो त्रिमात्रोंकारके अभिध्यान के फल के रूप में प्रश्नोपनिषद् में कहा है। इन तीनों को इसप्रकार विभक्त कर सकते हैं। (१) हिरण्यगर्भकी उपासना सगुणसाकाररूपमें एक, द्वि, त्रिमात्रासे ॐकारसे होती है। (२) ईश्वरकी उपासना सगुण निराकाररूपमें त्रिमात्र ॐकारसे होती है। (३) परब्रह्मकी उपासना निर्गुण निराकार अमात्र ॐकारसे होती है। ईश्वर मायावच्छिन्न होनेसे सगुण है। त्रिमात्रोंकार से उपास्य है। परब्रह्म शुद्धब्रह्म होनेसे उसमें गुण नहीं रहते। मायाके तीन गुण हैं। मायाके न होनेसे निर्गुण हो गया। अमात्र ॐकार का अर्थ है केवल ॐ जिसमें अकारादि मात्राओंकी कल्पना नहीं है।

"अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यःप्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः।"

इसप्रकार माण्डुक्यमें कहा है। इसकी उपासना ब्रह्मसूत्रमें बतायी है।

"आनन्दादयः प्रधानस्य।"

"अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्।"

इत्यादि।

पञ्चदशीमें ध्यानदीपमें इसका वर्णन है। इसमें मायोपाधिको हटाकर उपासना करनी पड़ती है। यह कठिन उपासना है। किन्तु ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें महान् उपकारी है। ईश्वरोपासनामें और ब्रह्मोपासनामें क्या फरक हैं? यही फरक है कि ईश्वरचिन्तनमें साकारका सहारा ले सकते हैं। समुद्रमें फेन, बुद्बुद आदि पैदा हो रहे हैं और विलीन हो रहे हैं। इसी प्रकार ईश्वरसे अनन्त जगत्, सूर्य, चन्द्र, तारा, आकाश, वायु आदि उत्पन्न हो रहे हैं विलीन हो रहे हैं। इस चिन्तनमें लीनावस्थाका चिन्तन ईश्वर-चिन्तन हो जायेगा। उसके लिये जगच्चिन्तन सहारा मिलेगा। लीन तो क्या, वस्तुतः है ही नहीं। अतः जगत्का सर्वथा विलोपकर मायाका भी विलोपकर जो चैतनामात्रका चिन्तन है वह ब्रह्मचिन्तन है। इसमें कोई सहारा न होनेसे कठिन है। इसमें भी सहारा ले सकते हैं। रज्जुमें सर्पके समान ब्रह्ममें जगत् कल्पित है। अस्ति भाति, प्रियरूपसे ब्रह्म सर्वव्यापक है। उसमें घटादि, पृथिवी आदि कल्पित हो रहे हैं। रज्जुसर्पवत् जगत्का बाध होनेपर केवल अस्तिभाति प्रियरूप सच्चिदानन्द अखण्डरूपसे प्रकाशमान् है इस प्रकार सहारा लिया जा सकता है। किन्तु वह केवल सहारा ही है। तत्त्वतः नहीं है। ईश्वरमें स्थूल जगत् समानसत्ताकरूपसे है अतः वह सार्थक सहारा है। ब्रह्ममें समानसत्ताक जगत् नहीं है अतः वह मिथ्या सहारा है यही अन्तर है।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा। इसी अक्षर ॐकारको ही जानकर-इसको जानकर ही। आगे है "यं यो यदिच्छति तस्य तत्"। जिसकी जो इच्छा है वह उसको मिल जाता है। यहां "ज्ञात्वा" का अर्थ भाष्यकारने उपास्य किया है। पर ब्रह्म तथा अपर ब्रह्म यही ॐकार है अतः इसीकी उपासना करनेसे इष्ट सिद्धि होगी "हि" और "एव" ये दो पद अवधारणकी दृढ़ताके लिये हैं। अलग रखनेपर इसीको-उपासना करके ही-ऐसे दो जगह अवधारण होगा। बहुतसे वैष्णव कहते हैं श्री कृष्णः शरणं मम में ॐकारकी जरूरत नहीं, जुड़ेगा ही नहीं। श्रीराम जय राम जय राम में भी ॐकार जुड़ता नहीं। हरे राम हरे राम में भी ॐकार नहीं जुड़ता। ये सब अत्युत्कृष्ट मन्त्र हैं। इत्यादि। उत्तर यह है कि इन सबको श्रुतिसे और यमराजसे भिड़ना लक्ष्य है तो भले रखे। श्रुति यहां सावधारण है। अतः ये

सब वेदविरुद्ध प्रलाप हैं। श्रीकृष्णः शरणं ममः यह भगवानका नाम है, अच्छा है। उसे बोल कर कीर्तन करो। श्री राम जय राम जय जय राम बोलकर भी कीर्तन करो। उत्तम है। इसी प्रकार अनेक तर्जोंमें हरे राम बोलो अच्छा है। परन्तु ये सब ॐकारके बिना पूर्ण मन्त्र नहीं है। ॐकार तो जोड़ना ही है। किन्तु वल्लभाचार्य आदिने देखा–

"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।"

इनके शिष्य स्त्री शूद्र आदिको वैदिक ॐकारका अधिकार नहीं है और ब्राह्मण आदि भी द्विजबन्धु बनेंगे अतः अधिकारी नहीं समझकर श्रीकृष्णः शरणं मम, हरे राम इत्यादि बिना ॐकारका जप बताया।

"यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।"

वैदिक मन्त्र जो भी हो उसके आदिमें ॐकार स्वर आयेगा ही। पौराणिकमन्त्रोंमें भी ॐकार जोड़ते हैं। तन्त्रशास्त्रमें मन्त्रके सिद्ध साध्य आदिका विचार है। और भी कई गुणदोष बताये हैं। यदि किसीप्रकार राशिके अनुसार इष्टमन्त्र न बैठता हो तो सर्व दोषोंके निवारणके लिये ॐकारका संपुट देनेके लिये बताया है। हां, केवल ॐकारका जप सर्वसाधारण नही है। उसके लिये तो "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति" यह लागू होगा। जो आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत रख सकता है वही केवल ॐकारका अधिकारी है। "सर्वे वेदा" इत्यादि पूर्वमन्त्र ॐकारार्थ परब्रह्मको लेकर भी है और प्रणवमन्त्रको लेकर भी है। यह हम प्रथम ही कह चुके। अतः ॐकारकी इच्छा रखनेवालोंको अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत रखना पड़ेगा। ॐकारघटित कोई देवमन्त्र अपनाना चाहिये।

यो यदिच्छति तस्य तत्। नारायणोपासना द्वारा धन, गृहादि, प्राप्त हो ऐसी इच्छा हो तो ॐकार बोलकर द्वितीय मात्राके द्वारा नारायणस्मरण करते हुए उपासना करो। वह कामना पूर्ण होगी। शंकरोपासनाद्वारा ज्ञान प्राप्त हो ऐसी इच्छा होनेपर मकारमात्राके आरोपपूर्वक ॐकारोपासना करे तो वह सिद्ध होगा। श्रीकृष्णस्मरणद्वारा भक्ति प्राप्त हो ऐसी इच्छा हो तो उकारमात्रायुक्त ॐकारके द्वारा श्रीकृष्णस्मरण करते हुए उपासना करे तो भक्ति प्राप्त होगी। और अधिक स्पष्टतर साधन बतानेके लिये

'तत्तद्देवनाम' उसी देवका नाम भी जोड़कर जप करो। ॐ नमो नारायणाय इत्यादि।

एतदालम्बनं श्रेष्ठम् एतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

यह (ॐकार) श्रेष्ठ आलम्बन है। यह अपर ब्रह्मका आलम्बन तो है ही, परब्रह्मका भी आलम्बन है। इस आलम्बनकी उपासनासे उपासक ब्रह्मलोकमें महिमाको प्राप्त होता है॥ १७ ॥

'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि धर्म-अधम आदिसे भिन्न परमार्थतत्त्वके बारेमें नचिकेताने यमराजसे प्रश्न किया। उसका उत्तर 'प्रज्ञानं ब्रह्म' आदि वाक्यसे न देकर ॐकारसे दिया। ॐकारभी वैसे महावाक्य ही है। क्योंकि पूर्व व्याख्यानमें यह कहा जा चुका है कि ॐकारमें अकारका विश्व एवं विराट्, उकारका तैजस और हिरण्यगर्भ तथा मकारका प्राज्ञ और ईश्वर अर्थ है। नाम और अर्थका अभेदान्वय होनेसे इन सबमें से भागत्याग करना होगा। जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति या स्थूल प्रपञ्च, सूक्ष्म प्रपञ्च एवं कारणप्रपञ्चरूपी उपाधि अंशका त्याग करते हैं तो शुद्ध चैतन्य अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार ॐकारसे अखण्डाकार वृत्ति होती है। परन्तु कुछ कठिन प्रक्रिया है। तत्त्वमसि आदि सरल प्रक्रिया।तब सरल मार्गसे उपदेश क्यों नहीं दिया? उत्तर यही कि यहां साध्य तथा साधन दोनों बताना अभीष्ट है। साध्य है अखण्डाकार वृत्ति। उसके लिये परापर ब्रह्मकी उपासना साधन है। 'एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा' इस प्रकार पूर्वमन्त्रमें कहा भी। किन्तु,प्रश्न थोड़ा अवश्य रह गया। अपरोपासना मूर्ति आदिमें संभव है। और परोपासना भी आदित्य, आकाश, मन आदिमें सरल है। 'मनो ब्रह्मत्युपासीत।' 'आकाशो ब्रह्म'। 'आदित्यो ब्रह्मत्युपासीत' इत्यादि वाक्य उपलब्ध हैं। इसके उत्तरमें यह मन्त्र कहा जा रहा है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठम् । 'यह ॐकाररूपी आलम्बन श्रेष्ठ है। प्रतीकोपासना शास्त्रोंमें वर्णित है। विष्णुकी प्रतिमामें विष्णुबुद्धि कर जो ध्यानादि करते हैं पूजा करते हैं यह प्रतीकोपासना है। बहुतसे लोग निराकारवादी होते हैं। उनका कहना है भगवानका कोई आकार नहीं है. अतः प्रतीकोपासना गलत है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है। उनसे कहा कि

पुराणोंमें साकार परमात्माका वर्णन आया है। तब उन लोगोंने कहा-पुराण स्वतः अप्रमाण है। क्या प्रमाण है? वेद प्रमाण है। वेदमें भी तो लिखा है–

"नमस्ते रुद्रमन्यव उतोत इषवे नमः
बाहुभ्यामुत ते नमः॥

हे रुद्र! आपके मन्युको प्रणाम, पिनाक आदि धनुषवाणको प्रणाम, आपके हाथको प्रणाम। तो हाथ, बाण आदि साकारके ही तो होंगे। निराकारका हाथ कहां, बाण कहां? इसपर उनका कहना है कि इन मन्त्रोंका अर्थ हम बदलेंगे। इषुसे तरकसबाणवाला बाण नहीं लेना चाहिये।

"नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः
येऽन्तरिक्षे येषां वात इवः
ये भुवि येषामन्नमिषवः।"

इन मन्त्रोंमें रुद्रोंके वर्ष, वात और अन्नको इषु बताया है। शतपथमें उत्तरायण दक्षिणायनको हाथ बताये हैं। संवत्सरात्मक रुद्रके ये हाथ हैं। इस प्रकार व्याख्या भले करें किन्तु यथाश्रुत साकार विग्रह आदि भी माननेमें क्या हानि? उत्तर यह है कि शिवलिङ्गपर चूहा चढ़ जाता है तो उसे भी वह हटा नहीं पाता है। तब उपासना किस प्रकार हो? ॐकारकी उपासना करो। कैसे? कागजपर त्रिमात्रावाला ओउम् लिखो और उसकी उपासना करो। किन्तु जिसपर ओउम लिखा जाता है उस पर भी तो चूहा चढ़ता है। कभी काट भी देता है। अस्तु।

वस्तुस्थिति यह है कि ये सब प्रतीकविद्यायें हैं। प्रतिमामें शिव, विष्णु आदि बुद्धि करते हैं। उस बुद्धिका आलम्बन प्रतिमा है। आलम्बन प्रायः सदृश ही लिया जाता है। साथ ही शास्त्रीय भी हो। पिताजी गुजर गये। फिर भी उनके फोटोको रोज प्रणाम करते हैं। कागजको नहीं। उसमें जो चित्र है उसकी आकृति पिताकी आकृतिके सदृश है। उसमें पितृभावना कर प्रणाम करते हैं। वैसे विष्णु आदिकी प्रतिमा है। "मनो ब्रह्मेत्युपासते"। इस प्रकार मनमें ब्रह्मभावना करनेका विधान है। मन और ब्रह्ममें क्या सादृश्य है? दोनों निराकार होनेपर भी सर्वाकार हैं। मनका क्या रूप है? क्या रंग है? क्या आकार प्रकार है? कुछ नहीं बता सकते। तब मन है इसमें क्या प्रमाण? एक प्रवक्ता कहने लगे मन भी एक हौआ है। ऐसी

बात नहीं। सामने वह पुस्तक है या फल है। उसे देखो। फिर आंख बंदकर अंदर पुस्तक या फल देखो। दीखता है या नहीं? दीखता है। तो क्या बाहरका यह फल भीतर गया? नहीं। भीतर क्या है? मनोमय फल या पुस्तक। तब मनसे बना हुआ फल देखा तो मन भी देख लिया। सोनेसे बना कुण्डल दीख पड़ा तो सोना भी तो दीख गया। बात यह है कि मनका अपना कोई आकारप्रकार नहीं। जो विषय उसमें आता है वही उसका आकार प्रकार है. जैसे पानी। पानीका क्या आकारप्रकार? लाल सीसीमें डालो तो पानी भी लाल और सीसीके आकारवाला। हरीसीसी हो तो पानी भी हरा। वैसे मन भी जो उपाधि वहां आवे उसीके आकार-प्रकार का होता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी है। ब्रह्मका क्या आकारप्रकार? जो उपाधि सामने आयेगी उसीके आकार प्रकारका होगा। जैसे मन नहीं दीखता वैसे ब्रह्म भी स्वतः नहीं दीखता। पुष्पादि उपाधि आनेपर पुष्पादिरूपसे मन प्रकट होगा। वैसे पुष्पादि उपाधि आनेपर पुष्पादिरूपसे ब्रह्म भी भासेगा। पुष्पमस्ति-पुष्प है। पृथिवी अस्ति भाति पृथिवी है दीखती है इत्यादि अस्ति भातिरूपसे ब्रह्मभासने लगता है। अतः मन ब्रह्मो-पासनाका प्रतीक माना गया है। आकाशो ब्रह्म। आकाशको ब्रह्मके प्रतीकके रूपमें रखकर ब्रह्मकी उपासना की जाती है। क्यों? आकाश भी व्यापक है। ब्रह्म भी व्यापक है। गीतमें कहा है–

"यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥"

आकाश जैसे अलिप्त होकर सर्वत्र स्थित है वैसे आत्मा भी है। आदित्य भी ब्रह्मोपासनामें प्रतीक है। "आदित्यो ब्रह्मेत्युपास्ते।" क्या सादृश्य है? आदित्य भी जगत् प्रकाशक है। ब्रह्म भी जगत् प्रकाशक है। गीतामें बताया–

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥"

इसी प्रकार ॐकार भी ब्रह्मोपासनाका प्रतीक है। ॐकारमें और ब्रह्ममें क्या सादृश्य है? अनेक सादृश्य हैं। एक तो शब्द नित्य है। व्यापक है।

अभिव्यञ्जक उच्चारण जहां है वहां अभिव्यक्त होता है। टेपमें शब्द भरा है। ब्रह्म भी नित्य है, व्यापक है। अखण्डाकार वृत्ति होनेपर अखण्डरूपसे अभिव्यक्त होता है। घटाद्याकार वृत्ति होनेपर घटाद्याकारसे अभिव्यक्त होता है।

इस प्रकार उपासनाके अनेक आलम्बन हुए। मन आलम्बन है। आदित्य आलम्बन है। ॐकार आलम्बन है। सगुणोपासनामें भी ये सारी बातें हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ आलम्बन कौन इस जिज्ञासामें उत्तर है कि ॐकार आलम्बन सर्वश्रेष्ठ है। क्यों सर्वश्रेष्ठ है? क्योंकि यह स्वयमेव महामन्त्ररूप है। 'प्रणवः सर्ववेदेषु'।

'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।'

तीनों वेद ॐकारसे प्रकट हुए हैं। वेदान्तोंमें यह महावाक्यरूप है। मीमांसाशास्त्रमें 'मन्त्रात्मानो देवताः' बताया। तो ये मन्त्र देवताओंके शरीर हैं। स्वरूप हैं।

'शब्दार्थैक्यं निरूचुर्निरुपधिमपरे शक्तिमर्थस्य शब्दे।'

ऐसा बताया है। 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' इस प्रकार शब्दार्थैक्य बताया है। क्योंकि ॐकारसे समस्त जगत् उत्पन्न हुआ। प्रथम परब्रह्म परमात्मासे ॐकार हुआ। वैयाकरणके अनुसार उसका स्फोट हुआ तो उससे समस्त अर्थ हुए। शब्दस्फोटसे विद्युतशक्ति पैदा होती है। क्रियात्मक शक्तिसे अर्थोत्पत्ति होती है। यह आधुनिकतम सिद्धान्त है। वेदान्तशास्त्रके अनुसार भी—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः'

बताया है। वहां आकाश शब्दका अर्थ तन्मात्रा है। उस शब्दतन्मात्रासे ही फिर वायु आदिकी सृष्टि होती है। वैयाकरणानुसार शब्दसे सारे अर्थ होते हैं। वेदान्तानुसार शब्दसे वायुतन्मात्रा आदि क्रमसे सृष्टि होती है इतना ही फरक है। बल्कि वह भी फरक नहीं है। प्रथम ॐकार हुआ। ओंकारघटक अकारसे सभी वाणी हुई। 'अकारो वै सर्वा वाक्' आकार ही सभी वाणी है। अ बोलते हुए मुंह आगे पीछे ठेढा करनेपर इ, उ आदि होते हैं और जिह्वा, तालु आदिके संयोगविशेषसे क, ख, ग आदि होते हैं। इसप्रकार अकारसे सभी वाणी हुई। तब वायु शब्द हुआ तो वायु अर्थ उत्पन्न हुआ।

फिर तेज शब्द हुआ तो तेज उत्पन्न हुआ। अर्थात् सृष्टिक्रम वही पड़ेगा। कुछ लोग शब्द और अर्थका ऐक्य मानते हैं। दूसरे तो शब्दमें अर्थकी शक्ति मानते हैं। जैसे तिलमें तैलशक्ति। तीसरे अर्थके साथ भेदा-भेद मानते हैं। चौथे शब्दमें सूक्ष्मरूपसे अर्थ रहते हैं ऐसा मानते हैं।

"भेदाभेदं तथाऽन्ये............सूक्ष्ममर्थं परे च ।"

(ऐसा उसका द्वितीय चरण है।) सर्वथा यह निश्चित है कि सभी शब्दोंमें अर्थ साक्षात् अभेदसे या भेदाभेदसे या सूक्ष्मरूपसे रहेंगे या उसकी शक्ति तो रहेगी। ॐकारमें समस्त जगत्की शक्ति रहती है। अतएव ॐकार सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है। प्रतिमामें प्रतिष्ठा करनेपर ःउपास्यशक्तिः या उपास्यसूक्ष्मरूप आता है। किन्तु ॐकारमें साक्षात् उपास्यशक्ति रहती है। उपास्यका सूक्ष्म रूप रहता है। अतः यह आलम्बन सर्वोत्तम है।

यह ॐकार क्या है जो आलम्बन है? कागजमें बढ़िया रंगीन ॐकार लिखकर चारो ओर इन्द्रधनुष रंग चढ़ाया हुआ या सूर्यकिरण प्रसारित किया हुआ ॐकार? नहीं। यह तो लकीर है। शब्द नहीं है। लकीर रेखा है, कल्पना है। बंगालीमें बिना हाथ ओंकार लिखते हैं। दक्षिणमें दूसरे प्रकारसे लिखते हैं। इंग्लिशमें OM लिखते हैं। इनमें कौनसा असली कौनसा नकली? संस्कृतके पक्षपाती ॐ इसप्रकार अकारके हाथको ठेढाकर ऊपर बिन्दी लिखकर जो बनाते हैं उसे असली मानते हैं। आर्यसमाजी ओ लिखकर फिर ३ (तीन) की संख्या लिखकर म् लिखते हैं उसे असली बोलते हैं। वैसे सभी लिपिवाले अपने अपने संकेतको सही मानते हैं। वस्तुतः इनमें एक भी ॐकार नहीं है। ॐकार तो शब्द है। आवाज है। ॐकार बोलो फिर उस ध्वनियुक्त शब्दका चिन्तन करो। मानस शब्द निकालो, उसे प्रतीक बनाकर परापर ब्रह्म चिन्तन करो।

ॐकारके उच्चारणकी ही बड़ी महिमा है। मानसिक संकल्पविकल्पोंको दूर करनेका एकमात्र उपाय दीर्घ प्रणवोच्चारण है। श्री विद्यारण्यजी महाराज कहते हैं—

"दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ।"

लंबा प्रणवोच्चारण करो। दीर्घका यहां द्विमात्रिक अर्थ नहीं। दो मात्रा ओंकारमें ऐसी ही होती है। किन्तु ज्यादा लंबा ॐकारोच्चारण करनेका

यह उपदेश है। प्रथम बाह्योच्चारण करो। बादमें मानसोच्चारण करो। मनोमय कोशकी व्याख्यामें भाष्यकारने—

"अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः
तस्य यजुरेव शिरः ऋग् दक्षिणः पक्षः
सामोत्तरः पक्षः आदेश आत्मा"

इस मन्त्रमें यजु आदिको मनोमय बताय है। तन्त्रानुसार परा, पश्यन्तीके बाद मध्यमा हृदयस्थ मानी गयी है। मानस जपकी महिमा भी अत्यधिक है। उस जप्य ॐकारको आलम्बन बनाओ।

एतदालम्बनं परम्। यद्यपि पर अपर दोनोंका आलम्बन ॐकार है। अतएव भाष्यमें 'परमपरं च' इस प्रकार उपलक्षणरूपसे व्याख्यान है। तथापि पर ब्रह्मके लिये सर्वोत्तम परम् सुगम होनेसे श्रुतिमें परं इतना कहा। अपरके लिये तो उत्तम है। किन्तु प्रतिमा आदि अधिक सुगम। परके लिये मन, आदित्य आदिमें निराकार परब्रह्मभावना थोड़ी ठेढ़ी खीर है।

एतदाम्बनं ज्ञात्वा। इस आलम्बनको जानकर-यहां जाननेका अर्थ उपासना करना है। एतदालम्बनक ब्रह्मकी उपासना कर। आलम्बनत्वेन आलम्बन भी उपासनाविषय है। मुख्य विषय तो ब्रह्म ही होगा। शेष पूर्वव्याख्यात है।

ब्रह्मलोके महीयते। यह उसका फल कथन है। इस आलम्बनकी उपासनासे उपासक ब्रह्मलोकमें महिमाको प्राप्त होता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

यह आत्मा जनमता-मरता नहीं। किसीसे हुआ नहीं और कुछ होनेवाला भी नहीं। यह अजन्म, अविनाशी, शाश्वत एवं पुराण है। शरीरके मरनेपर मरता नहीं ॥ १८ ॥

"श्वो भावा मर्त्यस्य" इत्यादि प्रकरणसे साधनसंपत्ति कही। "एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं" यह 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां' के समान गुरूपसदन हैं। "अन्यत्र धर्मात्" इत्यादि प्रश्नका परिष्कृत रूप है। उसका उत्तर ॐकारोपदेशसे किया। ॐकारोपदेश उपासनाके लिये तथा तत्त्वज्ञानके

लिये हैं। उसमेंसे उपासनाको प्रथम स्पष्ट किया—एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतदालम्बनं परं इन मन्त्रोंसे। उसके बाद ॐकारका महावाक्यार्थ बोध कराना है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'में कुछ आवश्यक तत्पदार्थ तथा त्वंपदार्थका शोधन बताया। जैसे संपूर्ण वेद क्वचित् साक्षात् और क्वचित् परम्परया परमार्थप्रतिपादक है। ज्ञानकाण्ड साक्षात् प्रतिपादक है। कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्ड परम्परया हैं। कर्मोंसे त्वंपदार्थशोधन और उपासनाओंसे तत्पदार्थशोधन होता है। यह ध्वंसात्मक शोधन है। जीवोपाधिसे मल निवृत्त होनेसे उपाधि हल्की हो जाती है। उपासनासे उपास्यकी प्रसन्नता होनेसे 'अयं दण्डनीयः' इत्यादि मायानिष्ठ, क्रोधवृत्ति नष्ट होती है तो तत्पदार्थशोधन होता है। उसका अधिक विश्लेषण यहांपर नहीं है क्योंकि यहां ज्ञानकाण्डका ही वर्णन करना है। अतएव पूर्ववल्लीमें अग्निचयन कर्म तथा अग्निमें विराटकी उपासना इन दोनोंका स्पर्शमात्र करके छोड़ दिया। मुख्यरूपसे ज्ञानकाण्डका कार्य त्वंपदार्थशोधन तथा तत्पदार्थशोधन करना है। तदर्थ यहांसे मन्त्र प्रारंभ हो रहे हैं। प्रथम त्वं पदार्थ शोधन दो मन्त्रोंमें करेंगे। फिर तत्पदार्थशोधन दो मन्त्रोंमें करेंगे।

न जायते म्रियते वा विपश्चित्। इस मन्त्रमें "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इस अन्तिमपदसे जीवात्मा त्वंपदार्थकी प्रस्तुति निश्चित होती है। क्योंकि ईश्वरके शरीरके मारे जानेका कोई सवाल ही नहीं है। अतः उसका निषेध व्यर्थ है। फलतः जीवात्माको लेकर ही यह कहा जा रहा है। यह जनमता मरता नहीं यह प्रत्यक्षविरुद्ध है। "हन्यमाने शरीरे" इससे पूर्वापरविरोध भी है। आत्मा जनमता मरता नहीं कहें तो चाहे विद्वानकी आत्मा हो, अविद्वानकी आत्मा हो क्या फरक? अतः यहां विपश्चित्का विद्वान् अर्थ नहीं है। किन्तु विपश्चित्का ही अर्थ साक्षी आत्मा समझना चाहिये। यह पृषोदरादि गणका शब्द है। इसके अनेक विग्रह अर्थ दिखाये हैं। विप्रकृष्टमपि निश्चिनोति चिन्तयति चेतति वा। ऐसा एक अर्थ है। जो इस शरीरकी अपेक्षा अति दूरमें स्थित है उसको भी जो प्रकाशित करता है। दूसरा अर्थ है—विशेषेण विविधं वा पश्यतीति विपश्। चेततीति चित्। अन्यान् सर्वान् विपश्यति स्वयं च स्वं चेततीति विपश्चित्। जो दूसरेको देखता है, स्वयंको भी प्रकाशित करता है वह विपश्चित् है। तीसरा अर्थ है पश बन्धने विविधं बध्यत् इति विपश्। तच्चिनोति स्वस्मिन्निति विपश्चित्।

नानाविध धर्म, गुण आदि बन्धोंसे युक्त द्वैत प्रपञ्च विपश् है। उसको जो अपनमें चयन करे वह विपश्चित् है।

ज्ञान व्यापक है, बृहत् है। यह पुस्तक मेरी जानकारीमें है कहनेका मतलब है जानकारी अधिकरण है, पुस्तक आधेय है। अधिकरण आधेयकी अपेक्षा महान् होता है। विशाल होता है। बरतनमें दूध है तो बरतन दूधकी अपेक्षा विशाल होगा, बृहत् होगा। दूध अधिक होगा तो बरतनमें नहीं समायेगा। बाहर पड़ेगा। आपकी जानकारीमें यह मकान है कि नहीं? है। तब जानकारी बड़ी कि मकान? मकानकी अपेक्षा जानकारी बड़ी है। आप कहते हैं मेरी जानकारीमें सूर्य है, चन्द्रमा है, तारे हैं, आकाश है, वायु है, तेज है, जल है, पृथिवी है। तब इन सबसे बड़ी, इनकी अपेक्षासे व्यापक जानकारी हुई। इसप्रकार आकाश आदि पञ्चभूत एवं भौतिक सभी जानकारी में आ गये, सबका आचयन ज्ञानकारीने किया। आप कहेंगे कि बहुत सारी ऐसी वस्तुयें भी हैं जिनको मैं नहीं जानता हूं। मेरी जानकारीमें नहीं हैं। क्या अनन्तकोटिको ब्रह्माण्डको हम जानते हैं? आकाशका कहीं अन्त नहीं है। उसमें अनन्त विश्व है। ठीक है। आप नहीं जानते। वह अज्ञानान्धकारमें पड़ा है। किन्तु इनका अज्ञान मुझमें-यह जानकारी आपको है या नहीं? है। अर्थात् आपकी जानकारीमें अज्ञान है और उस अज्ञानान्धकारमें अनन्त विश्व है यह अर्थ हुआ। जानकारीमें अज्ञान, अज्ञानमें जगत्। यह इस प्रकार हुआ जैसे मकानमें कोठा और कोठेमें अनाज। तब अनाज मकानमें सुतरां सिद्ध हुआ। आपकी जानकारीमें अज्ञान, अज्ञानमें जगत् तो जानकारीमें सुतरां जगत् हुआ। अर्थात् जानकारी व्यापक और जगत् व्याप्य है। इस बातको पञ्चपादिकामें पद्मपादाचार्यने इस प्रकार बताया है कि—

'सर्वं वस्तु ज्ञातत्वेनाज्ञातत्वेन च साक्षिविषयः'।

अर्थात् कुछ वस्तुको आप ज्ञातरूपसे जानते हैं और कुछको अज्ञातरूपसे जानते हैं। यह ज्ञान सर्वव्यापक है। इसको साक्षीज्ञान कहते हैं।

साक्षाद् द्रष्टा साक्षी। ऐसा पाणिनीयसूत्र है। साक्षी वह है जो निष्पक्ष हो, चेतन हो, साक्षात् देखनेवाला हो। दो व्यक्तियोंका आपसे झगड़ा हुआ। मारपीटमें एककी टांग टूटी। केस चला। पूछा इसने मारा इसमें साक्षी

कौन? यह मेरी घरवाली साक्षी है। वह भी साक्षी नहीं है। क्योंकि वह एकपक्षपाती है। चेतन हो, साक्षात् द्रष्टा हो, निष्पक्ष हो तब वह साक्षी है। साक्षी चैतन्य कैसा है? वह चेतन है। समस्त जगत्को साक्षात् प्रकाशित करता है। और निष्पक्ष है। वह सुखको भी प्रकाशित करेगा, दर्दको भी। चोरको भी प्रकाशित करेगा, भलेको भी। दुर्गन्धको भी प्रकाशित करेगा। सुगन्धको भी। गट्टरको भी प्रकाशित करेगा, गंगा को भी। ऐसा जो साक्षी है उसको लेकर कहा जा रहा है—'न जायते म्रियते वा विपश्चित्।' वह कभी जनमता या मरता नहीं है। क्यों नहीं? इसलिये कि वह अन्यान् विपश्यति स्वं तु स्वयं चेतति। वह अनात्माको प्रकाशित करेगा और आत्माको प्रकाशित करेगा। अपनेको दूसरा प्रकाशित नहीं करेगा। तब स्वजन्म स्वमरणको स्वयं देखे तो हो सकता है। अपना जन्म देखनेके लिये जन्मसे पहले देखनेके लिये तैयार होकर खड़ा रहना पड़ेगा। स्वयं पहले खड़ा रहा तो जन्मा कौन? इसीप्रकार मरणको वह देखेगा जो मरणके बाद भी रहेगा। प्रथमस्थित मातापिता पुत्रजन्म देखते हैं। पश्चात्स्थित पुत्र मातापिताका मरण देखते हैं। स्वयं स्वसे पहले नहीं, स्वके बाद भी नहीं। अच्छा, मातापिता जन्म देख लेंगे। पुत्र मातापिताका मरण देखेगा? नहीं। मातापिता शरीरका जन्म देख सकते हैं। साक्षी का नहीं। पुत्र भी मातापिताके शरीरका मरण देख सकता है। साक्षीका नहीं। अतः प्रमाण न होनेसे जन्ममरणसिद्धि नहीं होगी। 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः' प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणसे होती है।

जन्म और मरण आदि तथा अन्तिम विकार हैं। इन दोनोंके प्रतिषेधसे मध्यम चार विकारोंका भी निराकरण हो जाता है।

जायते। अस्ति। वर्धते। विपरिणमते। अपक्षीयते। विनश्यति।

ये छह भावविकार हैं। पौधा प्रथम पैदा हुआ। तब अस्तित्वमें आया। उसके बाद बढ़ने लगा। फिर विपरिणाम पकना शुरु हुआ। फिर अपक्षय शुरु हुआ। अन्तमें नाश हुआ। न्यायमतमें असत्का सद्भाव जन्म है। सत्का कालसम्बन्ध अस्तित्व है। अवयवोपचय वृद्धि है। ऊपर गया पत्थर नीचेकी ओर आनेके लिये पतनोन्मुख होता है। वह विपरिणाम है। फिर अपचय होता जाना क्षय है। सत्का असद्भाव विनाश है। पौधेकी बात ही

नहीं। यह शरीर भी ऐसा ही है। पहले जन्मा, तब अस्तित्वमें आया। बालक बढ़ने लगा। बीस पचीसतक बढ़ा। फिर पकना शुरु होगा। चालीस पचास वर्षमें बाल सफेद होने लगा। तब तक भी नवजवान कहे जाते हैं। उसके बाद शक्ति-क्षय-शरीरक्षय होने लगा। अन्तमें रामनाम सत् रहा। शरीर असत् हुआ। यह दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकरूपसे नचिकेताने प्रथम कहा— "सस्यमिव पच्यते मर्त्यः।" परंतु आत्मामें ये छह भावविकार नहीं हैं। यही आदि और अन्तविकारके निषेधका तात्पर्य है।

"नायमस्तीति चैके" इस क्षणिकविज्ञानवादपक्षकी बू "नायमस्तीति चैके" इस वाक्यमें आ रही थी। उनके मतानुसार दीपज्वाला निरन्तर पैदा होती है बदलती रहती है वैसे आत्मा भी विज्ञानधारासन्ततिमात्र है। बदलती रहती है। उसका निराकरण आवश्यक है तो वह भी यहां आ गया है। क्योंकि इसमें भी प्रमाण चाहिये। विज्ञानकी उत्पत्ति स्वयं वह देखेगा, या पूर्व विज्ञान या. उत्तर विज्ञान? सभी पक्ष असंभव हैं। उत्पत्तिका दर्शन तब होगा जब पूर्वमें अभाव और उत्तर क्षणमें अस्तित्व देखें। अन्यथा जो दीख रहा है वह अनादिभव है या एतत्कालमात्रभव-इसी कालमात्रमें उत्पन्न है इसका निर्णय कौन करेगा? नाश भी ऐसी ही बात है। किन्तु दो क्षणतक रहनेवाला कोई नहीं है। वे कहते हैं हम अनुमान करेंगे दीपकका दृष्टान्त देकर। आत्मा क्षणिकः प्रकाशत्वात्, वस्तुत्वात् दीपकवत्। परन्तु दीपककी भी क्षणिकताको देखा किसने? द्विक्षणस्थायी आत्मा तो है नहीं जो अभाव तथा प्रतियोगी दोनोंको देखे। शब्दप्रमाण तो इसमें है ही नहीं। क्योंकि बुद्धकी आत्मा भी क्षणिक होनेसे उन्होंने भी देखा नहीं। अपौरुषेय श्रुति तो "नित्यं विज्ञानमानन्दं" इसप्रकार नित्यत्ववर्णन करती है। अतएव चिरकालस्थायी आत्मा माननेवाले आस्तिक भी आत्मका जन्ममरण सिद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि आंस्तिक श्रुतिविरुद्ध अर्थ कह ही नहीं सकता। फिर मारनेवाले यमराज स्वयं बोल रहे हैं कि मैंने आजतक शरीर, इन्द्रियादिको मारा। किसी आत्माको नहीं मारा। आत्मा किसी यन्त्रादिका विषय नहीं है कि आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रकी सहायतासे यह सिद्ध कर सके।

प्रश्न हुआ ज्ञान उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ ऐसा सबको अनुभव होता है। तब ज्ञानरूपी साक्षीकी उत्पत्ति और नाश क्यों सिद्ध नहीं हो? उत्तर यह है ज्ञान नष्ट हुआ ऐसा आपको अनुभव हो रहा है यह अनुभव ज्ञान है कि नहीं? है। तब वही रह गया, ज्ञान नष्ट कहां हुआ? यह कहिये कि सामान्य अनुभव तो हमेशा रहता है। घटज्ञान नष्ट हुआ, पटज्ञान उत्पन्न हुआ यह विशेष बता रहे हैं। तब वहां उपाधि आ गयी। घटज्ञानका अर्थ है घट एवं तदाकारवृत्तिसे विशिष्ट चैतन्य। उसमें वृत्ति उत्पन्न होती है। नष्ट होती है। किन्तु चैतन्यरूपी साक्षी उत्पन्न या नष्ट नहीं होता इतनी बात यहां बता रहे हैं।

नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। "न जायते" ऐसा सामान्य निषेध हो गया फिर "नायं कुतश्चित्" यह निषेध किसलिये? किसीसे उत्पन्न नहीं है बोलना व्यर्थ है। कपड़ा नहीं है कह दिया तो फिर लाल कपड़ा नहीं है यह अलग बोलना अनावश्यक है। "न बभूव कश्चित्।" कोई उत्पन्न नहीं हुआ यह कहना भी व्यर्थ है। और फिर क्यों नहीं उत्पन्न हुआ? आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ। शरीर तो उत्पन्न हुआ। अतः इस वाक्यको विशेषरूपसे समझना होगा। बड़े-बड़े व्याख्याता रंगरामानुज आदिको भी यहां भ्रान्ति हो गयी है। अतः उदाहरणसे समझना होगा। दही बना तो किससे बना? दूधसे बना। क्या दही असत्‌से सद्‌भाव है? नहीं। दूध था ही। उसका गुणधर्म परिवर्तित हुआ तो दही हुआ। नैयायिक वहां भी असत्‌का सद्भाव भले कहें किन्तु केवल परिणाम होता है यह सबका अनुभव है। सांख्य सर्वत्र परिणामवादी है। नैयायिक सर्वत्र असत्‌से सद्भाववादी हैं। किन्तु अनुभवमें यथायोग्य दोनों आते हैं। जैसे दूधसे गुणधर्म परिवर्तन होकर दही बना वैसे आत्मा किसीके गुणधर्मके परिवर्तनका परिणाम नहीं है। "न बभूव कश्चित्" में छन्दसि कालानियमः के अनुसार भविष्यप्रयोग है। वर्तमान दही दूधसे बना। बादमें मथनेपर तक्र (छांछ) बनेगा। वहां भी गुणधर्मपरिवर्तन है। दूधका गुणधर्म अलग है। दहीका गुणधर्म अलग है और छांछका गुणधर्म अलग है। इसप्रकार आत्मा भी छांछके समान और कोई चीज बनेगी क्या? उत्तर है—"न बभूव कश्चित्"—न भविष्यति कश्चिदन्यः। यह आगे कुछ भी अन्य बननेवाला नहीं है। यह तीनों

कालोंमें एकरस है। वर्तमानमें जो रस वही भूतमें और वही भविष्यमें स्थिर है।

अजो नित्यः....शरीरे। पूर्वाधमें थोड़ासा फरककर उत्तरार्ध ज्योंका त्यों गीतामें आ गया है।

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"

मन्त्रमें विपश्चित् शब्द आया है। उसका यदि विद्वान् अर्थ है तो शरीर दृष्टिसे विद्वान् अविद्वान् सभी मरेंगे और आत्मदृष्टिसे विद्वान् अविद्वान् कोई भी मरेगा नहीं। अतः गीतामें सन्देहवारणके लिये विपश्चित् शब्दको हटाकर "अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः" से शरीराधिष्ठान आत्माका अनुवर्तन कर इसे आत्मविषयक बताया। साक्षीरूप आत्मा जनमता मरता नहीं ऐसा सीधा अर्थ किया। "नायं भूत्वा न भूयो भविता" इसका अर्थ है दूधसे दही होकर फिर तक्ररूप जैसे होता है वैसे यह भूत्वा भी नहीं। भविता भी नहीं। यह अर्थ "नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्"-का है। इसप्रकार मन्त्रगत संशयको गीतामें पूर्वार्धसे दूर किया। उत्तरार्धमें सन्देह न होनेसे उसे ज्योंका त्यों रखा। अतः हमारी गीताश्लोकव्याख्यासे गतार्थ होनेसे यहां उसका पुनरावर्तन नहीं करते। फिर भी प्रकरणशुद्ध्यर्थ थोड़ा भावार्थ मात्र बताते हैं। "न जायते" ऐसा क्यों? इसलिये कि वह अज है। "न म्रियते" इसलिये वह नित्य है। या नित्य होनेसे मरणधर्मा नहीं है। "नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्"। क्यों? शाश्वत, अनादि, अनन्त, एकरस स्वभाव है। धर्मितः-धर्मिरूपसे भी धर्मतः-धर्मरूपसे । भी विनाशी नहीं है। अर्थात् वह स्वयं नष्ट नहीं होता। और उसमें विद्यमान कोई धर्म भी नष्ट नहीं होता। "पुराणः" का भाष्यकारने अर्थ बताया है—पुरापि नव एव। पहले भी नया ऐसा अर्थ नहीं। पहले-पहले सभी नये होते ही हैं। बादमें ही पुराणे पड़ते हैं। पुरापि=पुरा होनेपर भी वह नव ही है। जीर्ण नहीं हुआ ऐसा समझना चाहिये। इसलिये मन्त्रमें उसे सद्योजात बताया है।

"सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः ।"

आज अभी पैदा हुआ है वह परमात्मा। नित्यनूतन है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि पहले नहीं था। पुरापि। पहले होता हुआ भी नव है। अतः भूत्यभवन आदि नहीं है।

न हन्यते हन्यमाने शरीरे। शरीर भले हत हो पर आत्मा हत नहीं होता। यहां त्वंपदार्थशोधनको स्पष्ट करनेके लिये चतुर्थपादका उपयोग करना चाहिये।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायँ—हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

यदि मारनेवाला यह समझता है कि मारूंगा और मरनेवाला समझता है कि मैं मारा जा रहा हूं तो ये दोनों ही अज्ञानी हैं। यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

त्वंपदार्थशोधनका प्रसंग है। पूर्वमन्त्रमें जन्मादिविक्रियारहित आत्मा है यह बताया। और ये सब विक्रिया किसमें ऐसी शंका बनी न रहे इसलिये "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" से शरीरमें ही जन्मादिविकार सूचित किया। स्थूल शरीरसे पृथक् आत्मा है यह "न जायते म्रियते" आदिसे बताया। अब सूक्ष्म शरीरसे भी पृथक्कर त्वंपदार्थशोधन करने जा रहे हैं। यमराजके संमुख मृत्यु, हनन आदि प्रथम उपस्थित होनेसे उसी क्रियाको लेकर वर्णन है। अथवा "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद्" इस प्रकार प्रश्नमें धर्माधर्मकी बात आयी अतः उपस्थित होनेसे धर्माधर्मात्मक क्रियाको लेकर प्रस्तुति हो रही है। हनन धर्म अधर्म उभयरूप है। एक फूंकार मारता हुआ जहरीला सांप आ रहा है या मदोन्मत्त हाथी आदमियोंको कुचलता हुआ आ रहा है। ऐसोंको मारना पुण्य है या पाप? कुछ लोग पुण्य बतायेंगे और कुछ लोग पाप। वस्तुतः उभयात्मक है। सौ आदमी मारे जाते। उनका बचाव हुआ अतः पुण्य है। सांप या हाथीको मारा अतः पाप है। सौको बचानेके पुण्यसे एकको मारनेके पापको घटाकर निन्यानवे पुण्य माना जा सकता है या नहीं? नहीं। यह व्यापारका चोपड़ा नहीं है। पुण्यका फल सुख भी मिलेगा। पापका फल दुःख भी मिलेगा। इसलिये संसार सुखदुःखात्मक है। ऐसा न होता तो जो अधिक है उससे दूसरेको घटाकर या तो सुख ही सुख शेष रहता या फिर पापमात्रा अधिक हो तो

दुःख ही दुःख मिलता। इसलिये एक दूसरेको नष्ट नहीं करता। दोनों ही भोगसे ही नाश्य हैं। अतः हनन धर्मअधर्म उभयरूप हुआ। वह धर्माधर्मरूपी प्रश्न दिमागमें होने से "हन्ता चेत्" इत्यादि उठाया है। तीसरी बात यह भी है कि पूर्वमन्त्रमें "न जायते म्रियते वा आत्मा" कहा। मरता कौन है? शरीर। उसको लेकर कहना था—न म्रियते म्रियमाणे शरीरे। "उसकी जगह" न हन्यते हन्यमाने शरीरे" कह दिया। तब हननक्रिया उपस्थित हुई तो उसीको लेकर "हन्ता चेन्मन्यते" इत्यादि प्रकृत मन्त्र प्रस्तुत किया।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम् । "हन्तुं" का अर्थ "मारनेको" ऐसा होगा। यदि तुमुन् प्रत्यय हो। कुछ लोग सेतु, केतु, आदिके समान हन्तु शब्दको मानते हैं। उनके मतमें 'हन्ता चेन्मन्यते स्वं हन्तारं' ऐसा अर्थ निकलेगा। "य एनं वेत्ति हन्तारं" इसप्रकार गीताके साथ एकार्थता तब हो जायगी। हन्तुंका हनिष्यामीति ऐसा अर्थ होनेपर भी भाविहननकर्तृत्व ही अर्थ निकलेगा। अतः कोई खास फरक नहीं है। (भाष्यमें 'हनिष्याम्येनं' ऐसा लिखा है। एनमात्मानं स्वं हनिष्यामि-भाविहननकर्तास्मि इत्येवं मन्यते एनमात्मानं ऐसा अर्थ लगाना चाहिये।)

वास्तवमें हन्ता कौन है? शरीर या आत्मा? यदि शरीर मारता हो तो उसका फल शरीरको मिलना चाहिये। परन्तु इस जन्मके पापका फल जब दूसरे जन्ममें मिलनेवाला है तब हन्ता शरीर नहीं रहा दूसरा शरीर हो गया। फलतः कर्ता अलग हो गया और भोक्ता अलग। अतः हन्ता शरीर नहीं। आत्मा है ऐसा नैयायिकोंका मत है। वेदान्तका कहना है कि हननक्रिया आदि आत्मामें है तो विक्रिया भी उसमें आ जायेगी। दूधमें दही डाला तो अंदर-अंदर क्रिया चली तो बादमें विक्रिया हो गयी, दही बन गया। परंतु पहले मन्त्रमें कह चुके हैं "नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।" दूसरी बात विक्रिया मानेंगे तो एकदिन नाश भी हो जायेगा। तब "न म्रियते" के साथ विरोध होगा। तब किसको हन्ता माना जाय? शरीरको मानना संभव नहीं। इन्द्रियोंको मानें तो? नहीं। क्योंकि इन्द्रियां सभी अलग-अलग हैं? गाली दिया वागिन्द्रियने, मार खायी गाल (त्वगिन्द्रिय) ने यह कैसा? दांत और जीभ दोनोंका परस्पर एकबार विवाद हो गया।

दांतने कहा जीभको हम बत्तीस हैं, बीचमें अकेली तुम। टुकड़े-टुकड़े हो जाओगी। जीभने कहा—खबरदार। एक गाली एक पहलवानको मैं निकालूंगी तो बत्तीसों गिरा दिये जाओगे। तब दांत और जीभका समझौता हुआ। अन्य कर्ता और फल अन्यत्र यह कैसा? कुछ लोगोंने कहा मन कर्ता है। परन्तु मन कोई प्रत्यक्ष तत्त्व नहीं है। वह करणके रूपमें सिद्ध है। जो करण है वह कर्ता नहीं होता। चक्षु आदि बाह्य करण हैं। मन अन्तःकरण है। साथ ही मन जड़ भी है। इसलिये भी कर्ता नहीं होता। तब कर्ता कौन? कर्ता है विज्ञान।

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च ।
विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ॥"

विज्ञान क्या है? अध्यवसायात्मिका बुद्धि। समस्त देवता उसे ज्येष्ठ ब्रह्मरूपमें उपासना करते हैं। क्यों? उसमें ब्रह्मचैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह ब्रह्मवत् चेतन हो गया। या यों कहो कि विज्ञानरूपी बुद्धि और आत्माको कर्ता समझते हैं।

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥"

इसप्रकार गीतामें वर्णन आया है। प्रकृतिके गुण यहां विज्ञान ही समझना चाहिये। उससे सभी कर्म होते हैं। किन्तु चेतनके सहकारसे। अतएव विज्ञान और चेतनके तादात्म्याध्याससे अहंकार हुआ। विज्ञानको अहं समझने लगे और चेतनको विज्ञान समझने लगे। दोनोंका तादात्म्याध्यास ही अहंकारविमूढ़ता है। उसे मैं कर्ता ऐसा मानने लगा। अर्थात् विज्ञान-निष्ठ कर्तृत्वका अहमर्थ आत्मामें अध्यास हुआ। अन्योन्य तादात्म्यापन्न विज्ञान तथा चेतन ही जीवात्मा कहलाता है। वही कर्ता है।

"कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्"

वह विज्ञानचेतनैकलोलीभावरूप जीव कर्ता है। उसीको लेकर 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्गकी कामना रखनेवालोंको यज्ञ करना चाहिये इत्यादि शास्त्रोंका अर्थवत्त्व है—सार्थकता है। वही दूसरे जन्ममें जाकर भोक्ता बनता है। असली हन्ता विज्ञान यदि-एनमात्मानं हन्तारं मन्यते स्वतादात्म्यवशात्

तदा स न विजानाति-यदि स्वतादात्म्यवश इस आत्माको हन्ता मानता है तो-वह अज्ञानी है ऐसी योजना है।

हतश्चेन्मन्यते हतम्। जो हत अपनेको मारा गया मानता है। कौन हत होता है? यह एक नया प्रश्न है। कहें कि वही विज्ञान-जीवात्मा। नहीं। वह मारा गया तो दूसरे जन्ममें फलभोक्ता कौन होगा जिसके लिये ही तो कर्ता कौन यह ढूंढ रहे थे। शरीर हत होता है कहें लेकिन वह जड़ क्या मानेगा मैं मर गया। और मरणके बाद भी शरीर काफी देरतक पड़ा रहता है। आत्मा तो नष्ट होता नहीं। प्राण हत होता है कहो तो भी बात एक ही है। जड़प्राणमें मानना किस प्रकार? और प्राणभी क्या नष्ट होगा? नष्ट जो हो गया उसमें माननारूपी ज्ञानक्रिया किस प्रकार? उत्तर यह है कि माननेवालेमें ही हतत्व कहना होगा। सो हतत्व नाशको नहीं कहते। नाश हुआ तो उसमें मानना नहीं होगा। हतका अर्थ है मारित या मृत। जो मारा गया, जो मृत हो गया। मरणका अर्थ है प्राणवियोग। पहले विज्ञानमें प्राणसंयोग था। तब उसे जीवित कहते थे। मृत हो गया तो प्राणसंयोगवियोग हो गया। हतमें 'त' प्रत्ययका कर्म अर्थ है। कर्मका अर्थ है कर्तृनिष्ठक्रियाजन्यफलाश्रय। हननक्रिया प्रतियोद्धामें असिबाणादिक्षेपण है। उससे फल प्राणवियोग हुआ। उसका आश्रय वही विज्ञान हुआ। यह एक प्रकारसे भोक्ता कहा जा सकता है। फलाश्रयको भोक्ता कहते हैं। प्राण-वियोगाश्रय हुआ तो प्राणवियोगजन्य दुःखाश्रय भी वही होगा। अतः वह भोक्ता है। तो हत हुआ वही विज्ञान। किन्तु उसको भी "अहंकारविमूढ़ात्मा भोक्ताऽहमिति मन्यते" यह कहा जा सकता है। प्राणवियोग तथा तज्जन्य दुःखका आश्रय विज्ञान था। किन्तु तादात्म्यासके कारण उसे आत्मामें समझने लगे। पूर्वजन्मवेत्ता कहता है 'पूर्वजन्मनि देवदत्तोऽहं मृत्वा संप्रति यज्ञदत्तः सन्नजनिषि।' पूर्वजन्ममें मैं देवदत्त मरा और अब यज्ञदत्तरूपसे पैदा हुआ। इसप्रकार हन्ता विज्ञानमयके तादात्म्यसे आत्माको हन्ता मान लिया और उसी विज्ञानमयने हत होकर तादात्म्यापन्न आत्माको हत बनाया। इस प्रकार आत्मामें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व दोनों आ गये।

उभौ तौ न विजानीतः। इन दोनोंमें कारण है—न विजानीतः। न विजानीतका इतना ही अर्थ न समझना कि वे दोनों नहीं जानते।

अर्थात्–ज्ञानाभाव अर्थ नहीं है। नकारपूर्वक ज्ञान बोलनेपर उसका अर्थ ज्ञानाभाव नहीं किन्तु अज्ञान होता है। अज्ञानमें और ज्ञानाभावमें क्या फरक हैं? अज्ञान भावपदार्थ है। ज्ञानाभाव अभावरूप है। अज्ञान अभावरूप क्यों नहीं? इसलिये कि उसे आवरणकारी मानते हैं। गीतामें कहा है–

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'

अज्ञानने ज्ञानको ढँक दिया है। क्या अभावसे कोई चीज ढँकी जा सकती है? शरीरको कपड़ेसे ढकते हैं कि कपड़ेके अभावसे? निश्चित हैं कि अभाव कोई आवरण या ढक्कन नहीं होता। इसलिये अज्ञानको माया, तम आदि कहते हैं। दूसरी बात-लोग कहते हैं कि मैं ऐसा सोया कि कुछ ज्ञान नहीं रहा। सुप्तोऽहं न किंचिदवेदिषम्। कुछ ज्ञान न रहा इतना पता लगा कि नहीं? इतना ज्ञान रहा कि नहीं? बेखबर सोया तो बेखबरीकी खबर आपको मिली कि नहीं? तब बेखर क्यों? कहना पड़ेगा सामान्यज्ञान था उससे अज्ञान जाना गया।

अपनेको कर्ताभोक्ता माननेवाला अज्ञानी है यह अर्थ हुआ। इसका अर्थ है कर्तृत्व भोक्तृत्व दोनों अज्ञानजन्य हैं। कर्तृत्वमें कारणात्मक संसार आया। भोक्तृत्वमें फलात्मक संसार आ गया। इसप्रकार हेतुफलात्मक समस्त संसार अज्ञानजन्य होनेसे मिथ्या है यह श्रुतिका तात्पर्य है।

"यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोदयः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारो न प्रवर्तते ॥"

जबतक अपनेमें अज्ञानसे हेतुफलावेश है–कर्तृत्वभोक्तृत्वाध्यास है, तबतक हेतु फलात्मक संसारका उदय होगा। जब समझमें आया–उभौ तौ न विजानीतः–दोनों अज्ञानकार्य हैं तब हेतुफलावेशका क्षय होने लगा कर्तृत्वभोक्तृत्वाध्यास क्षीण होने लगा। तब संसार भी निवृत्त हो जाता है।

नायं हन्ति न हन्यते। 'हन्ता चेन्मन्यते' 'हतश्चेन्मन्यते' इन दोनोंमेंसे हन्ता और हत को लेकर अयं हन्ता न हन्ति–यह हन्ता मारता नहीं है, अयं हतो न हन्यते–यह हत मारा नहीं जाता ऐसा अर्थ करते हैं तो विरुद्धार्थसा प्रतीत होगा। हन्ता विज्ञान है तो वह हन्त्येव–मारता ही है। न हन्ति–नहीं मारता यह कैसा? इसीप्रकार यदि हत विज्ञान है तो वह

'हन्यते एव'-मारा ही जाता है। 'न हन्यते' कैसे कहते हैं? यदि आत्माको लेकर कहते हैं 'नायं हन्ति' तब हन्ता विशेषण नहीं जुड़ेगा। और 'न हन्यते' आत्मा ऐसा कहते हैं तो हतः विशेषण नहीं जुड़ सकता। इस पर चित्सुखाचार्यके अनुयायी कहते हैं–भाव और अभाव एक साथमें हो तो उसे मिथ्या कहते हैं। रज्जुमें सर्प दीखा। असत् दीख नहीं सकता है। अतः सर्पका वहां प्रातिभासिक भाव है। और वहीं अभाव भी है। अतः रज्जुमें सर्प दीखा। असत् दीख नहीं सकता है। अतः सर्पका वहां प्रातिभासिक भाव है। और वहीं अभाव भी है। अतः रज्जुमें सर्प मिथ्या है। इसी प्रक़ार विज्ञान हन्ता है। वहां हन्तृत्व है। और 'न हन्ति' हन्तृत्वाभाव भी है। अतः हन्तृत्व और हन्तृत्वाभाव भी है।

चाहे वाचस्पतिमत हो चाहे सर्वज्ञात्ममुनिमत हो, दोनोंही मतोंमें वस्तुतः आत्मामें कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है। आत्मा तो पूर्वमन्त्रोक्त विपश्चित् साक्षी है। उस साक्षिभावका अभ्यास-निदिध्यासन करना चाहिये। दर्द होता हो तो समझो यह शरीरादिमें हो रहा है, मैं केवल उसे देख रहा हूं। मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं। सुख हो रहा है तो भी समझना मैं उसका भी द्रष्टा हूं। उसका मुझमें कोई लेप नहीं है। जैसे सूर्य कचड़ेको भासित करता है वैसे फूल रत्न आदिको भी भासित करता है। न तो कचड़ेसे उसका कोई सम्बन्ध है और न फूलसे ही। कचड़ेमें कांच पड़ा है। उसपर टकराकर प्रकाश आपके पास आया तो उस प्रकाशमें कचड़ेका कोई प्रभाव नहीं होगा। वैसे राजाके प्रासादमें टकराकर आनेवाली सूर्यकी रोशनीमें राजाके प्रासादका भी कोई प्रभाव नहीं होगा। वैसे ही आत्मा भी सुख-दुःखादिको प्रकाशित करनेपर उनके प्रभावसे प्रभावित नहीं होता। ऐसी भावनारूपी निदिध्यासन करना चाहिये॥

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान् महिमानमात्मानः ॥२०॥

अणुसे भी अणुतर एवं महान्‌से महत्तर आत्मा प्राणिमात्र की हृदयगुहामें स्थित है (उसे और) उस आत्माको कामादिदोषरहित पुरुष इन्द्रियादि धातुओंके प्रसादसे देखता है और शोकरहिति हो जाता है ॥२०॥

'न जायते म्रियते वा' यह मन्त्र स्थूलशरीरविषयक भी है। 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं' यह भी त्वंपदार्थशोधक है क्योंकि परमात्माके लिये 'उभौ तौ न विजानीतः' यह अंश लागू नहीं हो सकता। साथ ही सूक्ष्मशरीर-निराकरणपूर्वक त्वंपदार्थशोधन है क्योंकि हन्तारूपी कर्ता सूक्ष्मशरीर है। तथा प्राणवियोगरूपी मृति भी सूक्ष्मशरीरमें है। 'नायं हन्ति'से उसीका निषेध है। इसप्रकार त्वंपदार्थशोधन हुआ। उसके बाद अब तत्पदार्थशोधन करने जा रहे हैं। ॐकारमें तत्पदार्थ पृथक् उक्त नहीं है। अकारका विश्वविराट् दोनों अर्थ हैं। उकारका तैजस हिरण्यगर्भ दोनों एवं मकारका प्राज्ञ ईश्वर दोनों। उसमें अनेकपदोंसे उपगृहीतोंका अभेदान्वय होता है तो अकारार्थ विश्वका तैजस और हिरण्यगर्भ दोनोंके साथ अभेद और तैजस का विश्व और विराट् दोनों के साथ अभेद इस प्रकार भी उपाधियोंका त्याग है। अतएव भाष्यकारने तत्पदार्थशोधन आदि विविक्तरूपसे नहीं कहा। फिर भी शब्दानुसार तत्पदार्थशोधन आदिका आभास मिलता ही है।

अणोरणीयान् महतो महीयान्। वैशेषिकोंने चार परिमाण बताये हैं। अणु, महद्, दीर्घ और ह्रस्व, दीर्घ ह्रस्वको यहां छोड़ दिया है। अणु और महान् इन दोनोंका ग्रहण है। उसमें अणीयान् महीयान् यह अधिक जोड़ दिया। किन्तु अणीयान् द्व्यणुक हो गया। अणिष्ठ परमाणु होगा। इसी प्रकार महीयान् आकाशादि होगा। किन्तु परमाणुतकको अणु ही कहते हैं। उस अणुसे भी अणीयान् कहना होगा। तभी असंकुचित अणीयस्त्व होगा। किन्तु परमाणुसे अणीयान् अप्रसिद्ध हैं। वैसे आकाशादि परम महत् भी महान् ही है। उससे बढ़कर महीयान् कौन? यह भी अप्रसिद्ध है। तब यहां क्या अर्थ होगा? परमाणु भी अणु है। आत्मा भी अणु है। इन दोमें आत्मा अणीय है। अणीयस्त्व अप्रसिद्ध, अणुत्व भी अणीयस्त्वनिरूपक अप्रसिद्ध हुआ और महीयस्त्वनिरूपक महत्त्व भी अप्रसिद्ध हो गया। कल्पित महत्त्व और महीयस्त्व मानना होगा और कल्पित अणुत्व और अणीयस्त्व। अर्थात् आत्मा में परिमाण कल्पित है। भाष्यकार लिखते हैं—

अणीयान् श्यामाकादेः महीयान् पृथिव्यादेः ।

श्रुति इस प्रकार है—

"एष म आत्माऽन्तर्हृदये अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा
सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा
एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाद् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥"

हृदयके अन्दर स्थित यह आत्मा धानसे छोटा है, जौसे छोटा है, सरसोंसे छोटा है, सांवाके चावलसे भी छोटा है। हृदयके अन्तःस्थित आत्मा पृथिवीसे बड़ा है अन्तरिक्षसे बड़ा है, आकाशसे बड़ा है, समस्त लोकोंसे बड़ा है। छोटा अंदर रहता है। बड़ा बाहर रहता है। अणुके अन्दर अणीयान् आत्मा है। महत्के बाहर महीयान् होगा। अणुका अन्तर्भाग नहीं। महान्का बहिर्भाग नहीं। तब अन्तःस्थितका उपादानरूप आत्मा अर्थ होगा। जैसे घड़ेमें मिट्टी, जैसे कपड़ेमें तन्तु वैसे अणुमें उपादान आत्मा रहेगा। इसप्रकार व्रीहि यवादिका भी वह उपादानस्वरूप है। आकाश आदिसे बड़ा, बाहरस्थित का अर्थ है उससे अधिक सत्तावाला। मरुमरीचिकामें जल दीखा तो उस जलसे बाहर, अस्पृष्ट होकर मरुतेज है। अन्यविध बहिर्देश असंभव है। फलतः अर्थ यही होगा-सर्वोपादन, सब सत्तासे अधिक सत्तावान् आत्मा है। इसी बातको मन्त्रमें कहा है–

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥"

"एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः"। यह पूर्वार्ध है। इस परमात्माका पाद ही समस्त भूत है। भवन्तीति भूतानि। समस्तकार्यप्रपञ्च परमात्माका पाद ही है। पादाभिन्न है। जैसे मृत्तिकासे अभिन्न घटा तथा त्रिपात् भूतोंसे अस्पृष्ट है। अर्थात् अधिकसत्तायुक्त है। "मृत्तिकेत्येव सत्यं" श्रुतिके अनुसार उपादानरूपसे स्थित ही उपादेयकी अपेक्षा सत्य है और त्रिपात् तो अधिकसत्ताके रूपमें सत्य है। संक्षेपमें कहना हो तो आत्मा परमार्थसत्य है। और एकदेशकल्पना कर उसमें जगत् कल्पित है। यही "अणोरणीयान् महतो महीयान्" का और "पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इन दोनोंका तात्पर्यार्थ है।

भाष्यकारने इतनी व्याख्याके अनन्तर और आगे रहस्य बताया कि अणु श्यामाक आदिसे अणीयान् परमाणु तन्मात्रा आदि है। महान् पृथिवी आदि समस्त लोकोंसे भी महान् जो हिरण्यगर्भ आदि है जिसको महत्तत्त्व

आदि कहते हैं–महत्तत्त्व अर्थात् सबसे महान् तत्त्व, एवं ब्रह्मा माने सर्वबृहत् पुरुष-ये सभी इस आत्मासे ही आत्मवान् बने। जैसे घटादि मृत्तिका से आत्मवान् है। यह आत्मा जिसमें नहीं वह असत् है। जैसे गगनकुसुम। आत्मा न होनेसे वह असत् है। सत्‌रूपी आत्मा है। अस्ति जिसे कहते हैं। जिसमें श्यामाक आदि उपाधि जुड़ गई-कल्पित हुई। तब आकाश है कहने लगे। जैसे मृत्तिकामें घटाकार कल्पित हुआ तो घट कहने लगे, शराव (कसोरा) उपाधि कल्पित हुई उसे कसोरा कहने लगे। अणीयान्‌में अणीयान् अस्ति है। महीयान्‌में महीयान् अस्ति है। पिपीलिका अस्ति, गजोऽस्ति दोनोंमें अस्ति एक होनेपर भी पिपीलिका (चींटी) में अल्पदेशकालपरिच्छिन्न रूपसे अस्ति है और हाथीमें दीर्घकालदेशावच्छिन्न अस्ति है। इसप्रकार परिमाणशून्य अखण्ड भी सत् उपाधिवशात् अणु-महत्परिमाण एवं सखण्ड हो गया। वस्तुतः एक ही है।

आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। "अस्य जन्तोः" का अर्थ है ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंकि। गुहाका हृदयगुहा अर्थ है। समस्त प्राणियोंके हृदयगुहामें यह आत्मा निहित है। परन्तु अभी बताया। "अणो- रणीयान् आदि जो भी हैं वे सब आत्मारूपी सत्‌से अस्तित्ववान् हैं तो हृदयगुहामें निहित कहनेका क्या मतलब होगा? यह तो अर्थहीन-सा लग रहा है। जन्तु ही क्यों जन्तु अजन्तु सबमें वह है। हृदय अहृदय सर्वत्र वह है। बात सही है। सर्वत्र वह है। किन्तु थोड़ा फर्क है। हृदयगुहामें उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि हृदयगुहामें वह निरावरण है। उपाधि-परिवेष्टित नहीं है।

'मैं हूं' बोलते हैं। और 'देवदत्त है' कहते हैं। इस 'हूं' में और 'है' में कोई फरक है या नहीं? यदि कोई फ्रक नहीं है तो 'मैं है' ऐसा कहा जा सकता है कि नहीं? तामील तेलुगू वालेकी बात नहीं कह रहा हूं। वे लोग 'हम जाता है' ऐसा कह सकते हैं। एक तेलुगूवाला मेरेसे पूछने लगा 'आप अच्छा हूं? हमने उत्तर दिया 'हां, हां हम अच्छा हैं। परन्तु यह तो भाषाप्रयोगकी अनभिज्ञता है। अतः यह कहें कि 'हू' और 'है' दोनों अलग हैं। किन्तु यह भी नहीं बनता। आपने कहा यह देवदत्त है। तब मैंने पूछा क्या तुम देवदत्त हो? देवदत्तने कहा हां मैं देवदत्त हूं। यहां यह देवदत्त है

और मैं देवदत्त हूं इस है के अंर्थमें और हूं के अर्थमें कोई अन्तर है? कोई अन्तर नहीं दीखता। तब मैं देवदत्त है ऐसा बोलनेमें क्या हर्जा? उत्तर यह है कि मैं अपनेको बोलता हूं तो प्रत्यक्‌रूपसे देखकर बोलता हूं। और दूसरेको तो पराक्‌रूपसे। प्रत्यक्‌ और पराक्‌में क्या अन्तर है? एक अव्यवहित है। निरावरण है। दूसरा द्विव्यवहित है। उपाधिसे आवृत है। मैं आत्माका, शरीर, अन्तःकरण उपाधि है किन्तु उपाधिके अंदर ही मैं भी तो बैठा हूं। मेरे लिये कहां व्यवधान है? मेरे लिये आवरण कहां है? अन्तःपुरवासी आवरणमें है। दूसरा दीख नहीं सकता। किन्तु अन्तःपुरके अंदर जितने हैं वे एकदूसरेको देखेंगे ही। उनके लिये वह आवरण नहीं है। बाहरवालोंके लिये वह आवरण है। इस निरावरणता के कारण हूं प्रयोग है। किन्तु दूसरेके लिये प्रयोग करना हो तो है बोलना पड़ेगा। क्योंकि वहां दो आवरण हैं। एक अपनी उपाधि और दूसरी दूसरेकी उपाधि। एक अन्तःपुरवासी दूसरे अन्तःपुरवासीको देखना चाहे तो व्यवधान है। एक घूंघटवाली दूसरी घूंघटवालीको देखे तो दो उपाधि, दो आवरण बीचमें हैं। कपड़ा बीचमें होनेसे थोड़ी-थोड़ी दीखेंगी। यहीं 'है' का मतलब है। उपाधि पतली साड़ीके समान है। इन्हीं उपाधियोंसे ही आत्मामें नानात्व भी है।

"अस्तीत्यस्मीत्येवमात्मन् प्रपञ्चं प्रत्यञ्चं च त्वामुपाधिप्रभिन्नम्।
एकं सन्तं चक्षतेऽनेकधा चाखण्डं मध्ये कल्पितार्थव्यपाये॥"

आत्मामें अस्मि होता है। प्रपञ्चमें अस्ति होता है। दोनों सत्ताबोधक हैं। अर्थ एक है फिर भी उपाधियोंसे नाना हो गया है। इन उपाधियोंसे एक होनेपर भी नाना दीखता है। उपाधिबाध होनेपर दोनों एक ही हैं, अखण्ड हैं।

तमक्रतुः पश्यति। यदि हृदयमें निरावरण है तो उसे सब लोग क्यों नहीं देख लेते हैं? नैयायिक कहते हैं—'अहं सुखी' इत्यादि रूपसे देखते ही तो हैं। नहीं। यह सोपाधिक दर्शन है। और जीवात्माका ही दर्शन है। यहां परमात्माका वर्णन है। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' का मूल है। शुद्ध आत्माका दर्शन क्यों नहीं होता यह प्रश्न है। उत्तर यह है कि यद्यपि वस्तु उपाधिरूपसे यहां नहीं है किन्तु भाव उपाधि है। क्रतु ही उपाधि है। क्रतु

संकल्पको कहते हैं। तत्प्रयुक्त कामनाको कहते हैं और तत्प्रयुक्त कर्मको भी कहते हैं। विषयोंका जहां संकल्प हुआ वहां मन आत्माकी ओर न होकर इन्द्रियोंकी ओर झांकने लगता है। तब विषयका ऐन्द्रियक दर्शन होनेपर या मानसिक दर्शन होनेपर विषयकामना हो जाती है। तब विषयप्राप्तिके लिये नानाविध कर्म करने लगते हैं। उस समय मन परागवृत्ति होता है। इन्द्रियोंमें भी मनकी प्रेरणासे सामान्य संकल्प एवं कामना होती है। तब विषयोंकी ओर उनकी गति होती है। तो पीछे-पीछे मन भी जाता है।

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ"

इन्द्रियोंमें भी रागद्वेष भगवत् संमत है। और–

"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां"

इस गीतावचनके अनुसार इन्द्रियोंके पीछे मन भागने लगता है। तब आत्मविषयक प्रज्ञा एक तो होती नहीं और हुई भी हो तो उसका हरण हो जाता है। फिर विषयके लिये कर्म होता है। यूं कहो मनमें संकल्प हुआ और कामना हुई। वह प्रथम ज्ञानेन्द्रियोंपर उतर आयी। विषयदर्शन होनेपर या विषयदर्शनके लिये फिर वह कर्मेन्द्रियोंपर उतर आयी। तब कर्म होने लगा। फिर विषयप्राप्तिकी ओर बढ़े तो कहना क्या, न बढ़े तो भी आत्माकी ओर गति तो नहीं रहती। यही तो–

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः"

का भी मतलब है। अतः अक्रतु ही आत्माभिमुख होकर आत्मदर्शन पाता है।

धातुप्रसादात्। अक्रतु अर्थात् मन एवं इन्द्रियोंमें संकल्प, काम कर्मसे रहित हो जाता है तो मन आदि करण प्रसन्न होते हैं। धातुका अर्थ है शरीरधारण करनेवाले मन आदि। मन आदि उपरत हो जाय तो मनुष्य नींदमें पड़ जाता है। अतः धारक होनेसे मन आदि धातु है। उनकी प्रसन्नता है सत्त्वगुणकी वृद्धि। कामादिका अभाव उसमें हेतु है।

"तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥"

भक्ति आदि जब होते हैं तब रजोगुण और तमोगुणके भाव एवं कामलोभादिसे अनाक्रान्त चित्त सत्त्वगुणमें स्थित होकर प्रसन्न होता है। तब वह आत्माभिमुख होता है तो आत्मदर्शन करने लगता है। तमक्रतुः पश्यति। यही–

"एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते ॥"

इस भागवतश्लोकमें बताया। विषयकामनासे विपरीत है भगवत्कामना। वेदान्तमें जिसको आत्मकाम कहते हैं। भगवत्कामना ही भगवद्भक्ति है। उसका चित्त परमात्माके अभिमुख हो गया तो उसे परतत्त्वका विज्ञान अर्थात् साक्षात्कार होता है।

महिमानमात्मनः। आत्मा इस समय द्विव्यवधानके कारण संकुचितसा हो गया है। उपाधि परिच्छिन्न हो गया है। आत्माभिमुख होनेपर उपाधि स्वयमेव शिथिल होती है। यही भागवतमें अनन्तर कहा–

"भिद्यते हृदयग्रन्थिः"

हृदयकी ग्रन्थि टूटती है तो हृदयका शिथिल होना निश्चित है। इधर हृदय शिथिल हुआ तो परकीय उपाधिभी बाधित होने लगेगी।

"अखण्डं मध्ये कल्पितार्थव्यपाये"

मध्यमें कल्पित उपाधिका अपाय हुआ तो स्वपरसाधारण आत्मा होनेसे अखण्ड हो गया। यह अखण्डता ही तो आत्माकी महिमा है।

वीतशोकः। इस आत्ममहिमाके दर्शनका फल है–तरति शोकमात्मवित्। शोकका तरण।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

बैठा हुआ ही दूर पहुंच रहा है। लेटा हुआ ही सब जगह जा रहा है। उस सहर्ष, अहर्ष देवको मुझसे अन्य कौन जान सकता है? ॥ २१ ॥

ॐकारके लक्ष्यार्थ परमतत्त्वका अनुभव करानेके लिये प्रथम त्वंपदार्थशोधन "न जायते म्रियते वा" "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं" इन दो मन्त्रोंसे किया। उसके बाद तत्पदार्थशोधन "अणोरणीयान्" इत्यादि मन्त्रोंसे कर रहे हैं। "अणोरणीयान्" इस मन्त्रमें उपादानकारण और अधिक-

सत्तावान्के रूपमें बताया। अर्थात् समस्त जगत्के विवर्तोपादनके रूपमें तत्पदार्थको उपस्थित किया। "अणोरणीयान्" से उपादानता और "महतो महीयान्" से अधिक सत्ता बतायी। उसका ही फलितार्थ विवर्तोपादनता है। यह तटस्थरूपसे उपस्थित किया। अब सच्चिदानन्दरूपसे तत्पदार्थको उपस्थित करने जा रहे हैं।

आसीनो दूरं व्रजति। इसका वाच्यार्थ सामान्यतः यह है कि कैलास-पर्वतपर शंकर भगवान् आसीन हैं, बैठे हैं। "पद्मासीनं समन्तात्स्तुत-ममरगणै:"।

जब भक्त पुकारते हैं—जैसे उपमन्यु हैं, जैसे सागरमन्थनकालमें हालाहल निकला तो देवासुरगण, तब शंकर दूर चले जाते हैं। उपमन्युको वर देते हैं, सागरोद्भुत हालाहल पीते हैं—तो क्या उतने समय कैलास खाली रहता है? नहीं। वहां तो "नित्यं संनिहितो हरः" हमेशा रहते हैं वाली बात है। जब कैलासमें बैठे ही हैं तब सागरके पास कैसे पहुंचे? बस, यही परमात्मामें विशेषता है। देवता एक ही समय बैठने और पहुंचनेकी तो क्या बात। हजारों रूप धारण कर भिन्न-भिन्न स्थानों पर पहुंचते हैं। एक ही समय हजारों जगह यज्ञ हो रहे हैं तो हजारों जगह देवता भी उपस्थित होते हैं। क्या आंशिक रूपसे? नहीं। पूर्णरूपसे। भगवान्के प्रत्येक अंग पूर्ण भगवान् हैं। अतएव पूर्ण शंकररूप तो क्या एक एक अंगुलि आदि भी पूर्ण भगवान् ही है। नानारूप धारण करनेपर प्रत्येक रूपकी अंगुलि आदि भी पूर्ण भगवान् है।

शयानो याति सर्वतः। शयन करनेवाला भगवान् कौन? क्षीरसागरशायी विष्णु। वह विष्णु शयन करते हैं किन्तु सब जगह पहुंचते हैं। गजेन्द्रने पुकारा तो वहां पहुंच गये।

"तं तद्वदार्तमुपलभ्य जगन्निवासः स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानश्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः॥"

गजेन्द्रकी आर्त पुकार सुनकर छन्दोमय गरुडपर सवार होकर चक्रायुध भगवान् वहीं पहुंच गये। द्रौपदीने पुकारा तो कौरवोंकी सभामें पहुंच गये। जंगलमें पहुंचे और जूठा शाक भी खा गये।

"द्रौपदीशाकमासाद्य त्रिलोकी येन तर्पिता।"

पूर्ववत् यहां भी प्रश्नोत्तर है। क्या गजेन्द्रके या द्रौपदीके पास पहुंचे तो वैकुण्ठ खाली हो गया था? नहीं। वैकुण्ठमें भी रहे। यह तो एक प्रकारका

वाक्यार्थ है। दोनों जगह लक्ष्यार्थ व्यापक चैतन्य है। अब दूसरे प्रकारसे भी देखें।

प्रथम पादमें तथा द्वितीय पादमें "आसीन्" और "शयानः" दो पद हैं। "शयानः" का अर्थ है सो जाना। "शीङ् स्वप्ने" इतना पूरा अर्थ हो तो स्वप्न देखना भी अर्थ हो सकता है। उस सोनेका प्रतियोगी जागरण आसीनः का अर्थ होगा। बैठनेवाला जागा ही रहता है।

"दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः॥"

जागरणकालमें वह बहिष्प्रज्ञ होता है। बाहर प्रज्ञा जाती है। "जागरित-स्थानो बहिष्प्रज्ञः" ऐसा बताया है। वह दक्षिण अक्षिमें आसीन है। विशेषरूपसे दक्षिण अक्षिमें अभिव्यक्ति होता है। इसलिये "दक्षिणाक्षि-मुखे विश्वः" बताया। वही विश्व दूरं याति। दूरस्थित पर्वत, सागर आदि, सूर्य, चन्द्र आदि सब जगह पहुंच जाता है। तभी तो वे सब प्रकाशित होते हैं। कैसे? पर्वत, सागर, सूर्यादि आकारकी चित्तवृत्ति प्रथम होती है। तब उससे अभिव्यक्त चैतन्य वस्तुको प्रकाशित करता है। सांख्योंने प्रश्न किया कि चित्तवृत्ति ही ज्ञान है। चैतन्यकी वहां क्या आवश्यकता? "सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्"। सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानसे वस्तु प्रकाशित होती है। उत्तर है—चित्तवृत्ति जड़ है। वह वस्तुको प्रकाशित नहीं कर सकती। जड़ किस प्रकार? संमुख पुष्प या पुस्तक है। उसपर आंख गयी तो पुष्पादि आकारकी चित्तवृत्ति हुई। फिर आंख मुंदी तो अंदर पुष्प दीखने लगा। बाहरका पुष्प अंदर गया नहीं। गयी चित्तवृत्ति। अंदर उस चित्तवृत्तिको आप देखते हैं कि नहीं? हां देखते हैं। वह देखनेवाला कौन? वही चैतन्य। वह चैतन्य यदि न होता तो चित्तवृत्तिरूपी फूल अंदर प्रकाशित करनेवाला चेतन है। जड़ चित्तवृत्ति स्वयं प्रकाशित नहीं होती। अतः मानना पड़ेगा कि चित्तवृत्तिको भी प्रकाशित करनेवाला नहीं होता। अतः मानना पड़ेगा कि चित्तवृत्तिको भी प्रकाशित करनेवाला चेतन है। जड़ चित्तवृत्ति स्वयं प्रकाशित नहीं होती। अस्तु। इसपर दूसरा प्रश्न होगा कि तब चित्तवृत्तिकी क्या जरूरत? चेतन स्वयं पुष्पादिको प्रकाशित कर ले। उत्तर है—यदि चेतन प्रकाशित करता है तो चेतन

हमेशा है तो हमेशा ही पुष्प, पुस्तक आदि प्रकाशित होते। परन्तु हमेशा प्रकाशित नहीं होते। अतः कादाचित्क चिंत्तवृत्ति ही नियामिका है। किन्तु प्रश्नका उत्तर नहीं हुआ। चित्तवृत्ति जड़ है वह आखिर करेगी क्या. जिससे ज्ञानमें कादाचित्क हो? उत्तर यह है कि चित्तवृत्तिसे ज्ञानपर जो पड़दा है—चैतन्यपर जो आवरण है वह दूर हो जाता है। तो अनावृत उस चैतन्यसे वस्तुप्रकाशन होगा। क्रम इसप्रकार है कि प्रथम इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होगा। उससे चित्तवृत्ति होगी। चित्तवृत्तिसे विषयचैतन्य, घटादिगतचैतन्य अनावृत होकर प्रकाशित होगा। उसीसे विषय भासित होगा। इसीलिये वेदान्तका यही सिद्धान्त है कि हम किसी भी वस्तुकों देखते हैं तो प्रथम परमेश्वरको ही देखते हैं। बादमें वस्तुको देखते हैं। वृत्तिसे प्रथम चैतन्यावरण निवृत्त होकर चैतन्य प्रकाशित होगा तब उससे घटादि भासित होगा।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।'

वेदान्तके अनुसार परमात्माको देखने हमें कैलास, वैकुण्ठादि नहीं जाना है। यहीं सर्वप्रथम परमेश्वरका ही दर्शन होता है। तब वस्तु दीखती है। यह भावना दृढ़ हो जाय तो भी बहुत बड़ी बात है। हर जगह हम परमेश्वरको ही प्रथम देखते हैं। सामने क्या देखते हैं। पूछनेपर सामान्य-जन यही कहेगा कि पुस्तक देख रहे हैं। पुष्प देख रहे हैं। किन्तु अगर अंधेरा होता तो पुस्तकादि दीखते? नहीं। प्रकाशसे परिवेष्टित होनेपर देखते हैं। तब वेष्टन ही तो प्रथम दीखेगा। वैसे ज्ञानचैतन्य (अनावृत चैतन्य) परिवेष्टितवस्तु दीखती है। प्रथम ज्ञान चैतन्य ही दीखता है। जानामि यह ज्ञान प्रथम उपस्थित होगा तब घटादि प्रकाशित होगा।

'जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जगत्'

ऐसा आचार्यका कहना है।

एक प्रश्न यह है कि जब हम सूर्यादिको देखते हैं तो माना प्रथम चैतन्य प्रकाशित होगा और वह चैतन्य स्ववेष्टित सूर्यादिको या घटादिको प्रकाशित करेगा तो क्या दक्षिणाक्षिमुखस्थित यह चैतन्य घटादिपर और सूर्यादिपर उड़कर जाता है? जैसे सूर्यप्रकाश सूर्यसे निकलकर घट पर आता है? नहीं। चैतन्य आता जाता नहीं है। वह निर्गुण निष्क्रिय है।

पहलेसे ही सूर्यादिमें यह चैतन्य था। किन्तु आवृत था। चित्तवृत्तिने आवरण हटाया तो चैतन्य अनावृत होकर प्रकाशित करने लगा। अतएव तत्पदार्थ चैतन्य व्यापक है।

शयानो याति सर्वतः। जाग्रदवस्थामें ज्ञात, अज्ञात दोनों वस्तु रहती है। हां, दूर-दूर तक चैतन्य जायेगा। सूर्य-तारातक जायेगा। परन्तु स्वप्नमें अज्ञात वस्तु नहीं होती। केवल ज्ञात वस्तु ही होती है। अज्ञात सुखादौ मानाभावात् ऐसा सुखादिके बारेमें नैयायिकादिका मानना है। वैसे अज्ञात स्वप्न वस्तु नहीं होती। अतः बताया-"शयानो याति सर्वतः"। प्रश्न हुआ कि स्वप्न तैजस भले समस्त स्वाप्नपदार्थमें पहुंच जाये किन्तु जाग्रत्पदार्थमें तो नहीं पहुंचते। तब—"याति सर्वतः" यह किस प्रकार संगत हो। उत्तर है कि श्रुति कहती है कि—

"स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय
स्वयं निहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति
अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति"

जब यह सोता है तब सर्वावान् (सर्वमात्रावान्) परिपूर्ण इस लोककी मात्रा लेकर स्वयं जाग्रतको समाप्तकर और स्वाप्नपदार्थका निर्माणकर उसे अपने भाससे अपनी ज्योतिसे प्रकाशित कर सोता है। यहां यह पुरुष स्वयंज्योति होता है। जाग्रत् प्रपञ्चको उसने खत्म ही कर दिया तब अज्ञात जाग्रत्प्रपञ्च रहा कहां? "स्वयं निर्माय"—जिसका निर्माण किया उसको तो प्रकाशित करता ही है। जाग्रत् प्रपञ्चको नष्ट कैसे किया? अप्रसुप्त आदमी तो देखता है। वह अपनी सृष्टिको देखता है वह उसकी कल्पना है। तन्मात्रापर्यन्त सृष्टि परमेश्वरकी है। उसके बाद प्रत्यक्ष नामरूपकी सृष्टि जीवात्माकी है।

"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"

इसप्रकार छान्दोग्यमें स्पष्ट बताया है। "तत्तजोऽसृजंत" इत्यादिमें तेज आदि की मात्राकी सृष्टि परमेश्वरसे बतायी और नामरूपव्याकरण जीवात्मासे बताया। किसीकी आंखका कांच बड़ा है तो वह बड़ा देखेगा। पतला हो तो छोटा देखेगा। दूसरोंकी आंख लगाकर किसीने देखा नहीं कि वह कैसे देखता है यह समझें। अलग-अलग चश्मेसे अलग-अलग शक्ल

दीखती है। रही तन्मात्रा आदिकी बात। वह तो मानस गज रथादिरूपमें परिणत तन्मात्रदर्शनसे गतार्थ है। विराट्को शंकरके रूपमें वर्णन किया है और नारायणको हिरण्यगर्भरूपसे। अतः "आसीनः शयानः" इन दोनोंका उक्तार्थसे मेल भी होगा।

"शयानः" का सुषुप्त भी अर्थ होगा! वहां तो स्वाप्न अर्थोंको भी "निहत्य" मारकर यह सोयेगा। वहां दो ही पदार्थ रहेंगे। एक आत्मसुख, दूसरा अज्ञान। "सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषं" इसप्रकार उभयपरामर्श होनेसे इन दोनोंको सुषुप्तिस्थ प्रकाशित करेगा ही।

"सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति"।

इसप्रकार सर्वविलय एवं स्वानन्दका आविष्कार श्रुतिमें बताया है।

सुषुप्ति और समाधिमें इतना ही अन्तर है कि सुषुप्तिमें तमोभिभूत सुखका प्रकाश होता है। समाधिमें अनावृत सुखानुभव होता है।

"यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्यामृतमये ।

यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवं"

इत्यादि अनुभवियोंका वचन है। यहां समाहितको तृतीयरूपमें इसलिये नहीं कहा कि वहां सर्वं कहनेके लिये कुछ है नहीं। अज्ञान भी नहीं। प्रतिबिम्ब सुख भी नहीं। अतः यहां उसको नहीं कहा। वह अद्वैतावस्था है। सामान्यतया "आसीनो दूरं याति, शयानो याति सर्वतः" से व्यापकसत्ताका निरूपण हुआ।

कस्तं मदामदं। वह समद तथा अमद दोनों है। आनन्द होनेसे समद हुआ। मदी हर्षे। किन्तु लौकिकोंके समान प्रतिबिम्बानन्द न होनेसे अमद हुआ। प्रथम समद न कहकर केवल मद इसलिये कहा कि वह आनन्दवान् नहीं आनन्दरूप ही है। अमद शब्दका परिच्छेदक अंहकार-रहित अर्थ भी कर सकते हैं। शाब्दिका विरोधाभास तो उससे भी हो सकता है।

देवं से स्वयं प्रकाशरूपता बतायी। इसप्रकार पूर्वार्धसे व्यापक सद्रूपता एवं "मदामदं" से निरतिशय आनन्दरूपता एवं "देवं" से स्वयंप्रकाशता कहकर तत्पदार्थशोधन स्पष्ट किया।

विरोधाभासका आश्रयण दुर्विज्ञेयता बतानेके लिये है। यद्यपि हम प्रत्यक्षतः ब्रह्मानुभव करते हैं किन्तु सखण्डरूपसे। अखण्डरूपका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। व्यापक अस्ति, भाति, प्रियका अनुभव नहीं होता। सखण्ड भान होता है—घटो अस्ति, घटो भाति, घटः प्रियः। अखण्ड तत्त्व दुर्विज्ञेय है। तदर्थ श्रवणादि आवश्यक है। इसी बातको अन्तिम पादमें बताया।

कस्तं.........मदन्यो ज्ञातुमर्हति। इसकी व्याख्या अनेक प्रकारसे हो सकती है। एक अर्थ इसप्रकार है कि—मत्पदार्थ प्रवक्ता मृत्यु है। मृत्युसे अन्य कौन उसे जानेगा? येयं प्रेते विचिकित्सा। मृत्युके बाद क्या है? इसको मृत्यु जैसा देखेगा वैसा दूसरा कौन देखेगा? पहले अपनी और समस्त संसारकी मृत्यु देखो, बाधरूप मृत्यु देखो। उसे न देखनेपर मनुष्य प्रियाऽप्रियरूप संसारको देखेगा। आनन्दरूप ब्रह्मको नहीं देखेगा। जगद्बाधात्मक मृत्यु स्पष्ट दीखे तब प्रियाप्रियसंसारस्पर्श न होनेसे ब्रह्मदर्शन होगा।

"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।
अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥"

यह श्रुतिवचन है। यहां सशरीरका अर्थ है अबाधितशरीरतादात्म्यदर्शी और अशरीरका अर्थ है शरीरादि बाधोत्तर आत्मस्वरूपदर्शी। अत एव राजा जनकको विदेह कहते थे। वे हर क्षण मृत्युको देखते थे। जगत्बाध करते थे। अन्यके लिये यह दुर्विज्ञेय है।

दूसरा अर्थ है जिसमें मत् और अन्य ये दोनों भिन्नान्वयी हैं। मत्-मादृशात् गुरोः ज्ञातुं त्वादृशदन्यः कोऽर्हति। गुरुके बिनां इसका ज्ञान नहीं ही होगा। सो भी "न नरेणावरेण प्रोक्तः सुविज्ञेयः" ऐसा पहले बताया जा चुका है। अतः यमराज जैसे अनन्य गुरु चाहिये। फिर नचिकेता जैसा शिष्य चाहिये। अतएव पहले कहा—"त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा"। इसप्रकार मुझ गुरुमें तुंम नचिकेता जैसा कोई न हो तो कौन जान सकेगा। ऐसा अर्थ होगा।

तीसरा अर्थ इसप्रकार है कि मत्-माने परमात्मस्वरूप यमराजसे। "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवित" के अनुसार ब्रह्मवेत्ता यमराज ब्रह्मरूप ही है। उस ब्रह्मसे अन्य होकर रहनेवाला अज्ञानी उस आत्माको कैसे जानेगा?

"अन्योऽसावन्योऽहमिति यो वेद स पशुरेव।"

जिसने समझा देव अन्य है, मैं अन्य हूं वह पशु है। पाशबद्ध है। अज्ञानी है। यमराज तो ब्रह्मवेत्ता होनेसे उससे अन्य समझना ठीक नहीं। गुरु होनेसे भी भिन्न समझना ठीक नहीं।

"ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवद् व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः॥"

इस प्रकार आचार्यों ने ईश्वर, गुरु एवं आत्मामें एकत्व बुद्धि करनेको बताया है। केवल शरीरभेद है। आत्मभेद नहीं। श्रीमद्भागवतमें भी बताया—

"तन्मायायाऽतो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा"

गुरुही देव, वही आत्मा इस प्रकार तीनोंकी एकता है।

किन्तु ज्ञान पहले हो जाय तब ऐक्य भावना होगी। ऐक्यभावना हो तब-ज्ञातुमर्हति नान्यथा—ज्ञान होगा अन्यथा नहीं यह अन्योन्याश्रय दोष होगा। नहीं। प्रथम शास्त्रवचन आदिसे ऐक्य सुनकर उसपर श्रद्धाविश्वास करते हुए श्रवण आदि बार-बार करे तब तं-ज्ञातुमर्हति-तं द्रष्टुमर्हति नान्यथा-ज्ञान होगा, साक्षात्कार होगा ऐसी व्याख्या करनी चाहिये॥

**अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ २२॥**

शरीरोंमें अशरीररूप तथा अनवस्थितों (अनित्यों) में अवस्थितरूप महान् विभु आत्माको मननद्वारा समझकर धीर पुरुष शोक नहीं करता॥ २२॥

"न जायते" इत्यादि दो मन्त्रोंसे त्वंपदार्थशोधन एवं "अणोरणीयान्" इत्यादि दो मन्त्रोंसे तत्पदार्थशोधन करनेके बाद अब असिपदार्थ ऐक्यका बोधन इस मन्त्रसे किया जा रहा है। त्वंपदार्थ का ज्ञान अधिक कठिन नहीं है अतः विरोधाभासका अधिक प्रदर्शन नहीं किया। किन्तु तत्पदार्थ एवं अखण्डचैतन्य दुर्बोध होनेसे विरोधाभासोंसे उसे समझाते हैं। जैसे परमात्माको सगुण-निगुर्ण दोनों कहते हैं तो विरोधाभास होता है। जैसे कोई भिखारीको अमीर कहो तो विरोधाभास होता है। निगुर्ण हो तो सगुण किस प्रकार? सगुण हो तो निर्गुण किस प्रकार? द्वैतवादी कहते हैं—

परमात्मा सगुण ही है। निर्गुण इसलिये कहते हैं कि उसमें हेयगुण नहीं है। किन्तु इस उत्तरमें भी विरोध आ जाता है। हेय हो तो गुण क्यों गुण हो तो हेय क्यों? रूप, रस, गन्ध आदि गुण तो वैशेषिक परिभाषा है। पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग श्रुतिमें नहीं माना जाता। अतएव प्राकृतगुण-रहित इत्यादि लाक्षणिक अर्थ भी अग्राह्य है। वस्तुतः सभी गुण उस परमात्मामें ही विद्यमान हैं। यद्यपि दोष भी परमात्मामें ही कल्पित हैं तथापि उपासनाके लिये उपयोगी न होनेसे सगुणब्रह्मोपासनाके घटक नहीं हैं। इन सभी गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी सभी गुण परमात्मामें कल्पित होनेसे परमार्थतः वह निर्गुण ही है। दोषोंका भी वहां अभाव 'निर्दोषं हि परं ब्रह्म' इत्यादिसे बताया गया ही है। सारांश यह हुआ कि सगुणोऽप्यगुणः इत्यादि विरोधाभास प्रयोगका अभिप्राय है गुण परमात्मामें कल्पित हैं। इसीलिये 'अगुण हि सगुण हि नहि कछु भेदा' इत्यादि उक्तिकी यथार्थता है। त्वंपदार्थवर्णनमें भी हन्ता नायं हन्ति, हतो न हन्यते इत्यादि विरोधाभास है। उसका रहस्य हम बता चुके। वैसे तत्पदार्थमें भी अणीयान् महीयान् इत्यादि है। वैसे ही अब असि पदार्थ वर्णन भी विरोधाभासके साथ करते हैं क्योंकि यह तो सर्वाधिक दुर्विज्ञेय है।

अशरीरं शरीरेषु। शरीरोंमें अशरीर यह विलक्षण बात है। शरीरमें जो रहता है वही तो सशरीर है। 'देहे देहिनमव्ययं' 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणं' इत्यादिमें देही, शरीरी आदिसे सशरीर बताया। यहां अशरीर बता रहे हैं सो भी शरीरपातके बादकी बात नहीं है। 'शरीरेषु' इस विशेषणसे शरीरसत्त्वकालमें ही अशरीर बताया जा रहा है। इसका एक तात्पर्य यह है कि शरीरमें रहता है, शरीर आत्मसापेक्ष है। किन्तु आत्मा शरीरसापेक्ष नहीं है। आत्माको शरीरकी जरूरत नहीं। शरीरको आत्माकी जरूरत है। मृत्युके बाद शरीरके बिना भी आत्मा रहता है और प्रलयकालमें कोई भी शरीर नहीं रहता फिर भी आत्मा रहता है। मोक्षकालमें तो कहना ही क्या है? अतएव शरीरकी अपेक्षा आत्माको नहीं है। इसके विपरीत शरीरको आत्माकी अपेक्षा बराबर बनी रहती है।

'यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत'

ऐसा बताया है। वहां यद्यपि प्राणको लेकर कहा है तथापि प्राणवायु सर्वत्र होनेसे "जीव प्राणधारणे" के अनुसार प्राणविशिष्ट आत्मा समझना चाहिये। जीवोत्क्रमण प्रसिद्ध है। जीवात्मा चला जाता है तो यह शरीर पापिष्ठतर होता है। पापी यह शरीर है ही। पापीयान् क्या, पापिष्ठ भी है।

"इदं शरीरं कृमिजालसंकुलं ह्यतीव दुर्गन्धमशौचमध्रुवम् ।
कलेवरं मूत्रपुरीषभाजनं रमन्ति मूढा न रमन्ति पण्डिताः ॥"

इत्यादि बीभत्सवर्णन शरीरके लिये प्रसिद्ध है। पापीका पापपरिणाम-दुःखबहुलं ऐसा अर्थ समझना चाहिये। कदाचित् बिमार हो जाय तो पापीयान् होगा। उस समय महद्दुःख, दुर्गन्धादि से युक्त होता है। फिर पक्षाघात आदिसे शरीर असमर्थ हो जाय तो पापिष्ठ हो जाता है। आत्मोत्क्रमणके बाद पापीं, पापीयान् और पापिष्ठ कहनेसे संतोष नहीं हुआ तो एक तर और जोड़कर कहा "पापिष्ठतर"। थोड़े ही समयमें गलकर समाप्त होगा। अतः शरीरको आत्माकी अपेक्षा नहीं है इतना ही नहीं, शरीरसे भारी हानि भी है। क्योंकि जबतक शरीर है, तबतक प्रियाऽप्रियका निराकरण नहीं होता।

"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति"

सशरीर हो गया तो प्रिय एवं अप्रिय भी निश्चित है।

एक प्रश्न यह होता है कि आत्माके उत्क्रमणकी बात जो बतायी, वह आत्मा व्यापक है। कहां उत्क्रमण करेगा? छोड़कर कैसे जायेगा? आत्मा व्यापक होनेसे सर्वत्र सर्वदा रहेगा। मरनेके बाद भी तो शरीरमें व्यापक आत्मा विद्यमान है। इसका समाधान यही है कि शरीरको आत्माका सामान्यसम्बन्धमात्र अपेक्षित नहीं है। विशेष सम्बन्धकी अपेक्षा है। साक्षात् सम्बन्ध नहीं। परम्परासम्बन्ध अपेक्षित है। कैलासमानसरोवरकी यात्रामें जब हम गये थे तब एक आदमीके पास सिर्फ सत्तु था। अधिकतर लोग पहले सत्तु लेकर चलते थे। क्योंकि रोटी बनाने आदिकी वहां झंझट होती है। लकड़ी नहीं मिलती। तिब्बत तो शून्य-शून्य है। भारतके बारडरतक हरा-भरा है। तिब्बतमें तो रेत कंकड़ ही है।। छोटे-छोटे एक प्रकारके पौधे होते हैं जैसे यहां बगीचोंमें होते हैं। कहते हैं उसे कच्चा ही तोड़कर जलाओ तो थोड़ा-थोड़ा जलता है। हमलोग उसे जलाकर

जैसे-तैसे रोटी आदि बनाते थे। वहां ।ठंढी। ही ठंढी है। एक कंबल ओढ़ो तो ठंढी, चार कंबल ओढ़ो तो भी ठंढी। उस आदमीको सत्तु खानेसे पेट दर्द शुरु हो गया। ठंढीमें अंदर ही जाम होने लगा। जामको गलानेका उपाय अग्नि है। लेकिन अग्नि खायी नहीं जा सकती। उससे मुंह जलेगा। पेट ठीक होना दूरकी बात। किसीने कहा इसको गरम पानी गरम भात आदि खिलाओ। वैसा ही किया नीचे आग जलायी। ऊपर बरतन गरम हुआ। उसमें पानी गरम हुआ। उसमें चावल गरम हुआ। उसपर थोड़ा घी डाला तो वह भी गरम हुआ। वह खिलाया तो पेटमें अग्नि पहुंची। जो जाम हुआ था वह पिघल गया तो पेटदर्द दूर हुआ। पिघालनेवाली अग्नि है। किन्तु साक्षात् नहीं। चारपांच परंपराके बाद। यह तो एक घटित दृष्टान्त है। उसको दार्ष्टान्तिकमें समझो। आत्मासे शरीरमें उष्मा आती है। किन्तु सीधे नहीं। प्रथम आत्मतादात्म्यसे अहंकारमें चेतना आयेगी। उसके संयोगसे बुद्धिमें चेतना आयेगी। उसके संयोगसे मनमें चेतना आयेगी। उसके संयोगसे इन्द्रियोमें चेतना आयेगी। इस परम्परासे आत्मसंयोगकी अपेक्षा शरीरकों है। सीधे संयोगसे कुछ नहीं होगा। वह तादात्म्याध्यासरूपी संयोग अपेक्षित है। इस प्रकार आत्मा निरपेक्ष होनेसे "अशरीर" कहा। और शरीरमें रहता है यह इसलिये कहना पड़ा कि शरीर आत्मसापेक्ष है। अन्यथा सर्वत्र रहता है तो 'शरीरेषु' बोलनेकी आवश्यकता न होती। दूसरा अर्थ भाष्योक्त है। शरीरमें स्थित होनेपर भी स्वरूपतः अशरीर है ऐसा वहां बताया है।

अनवस्थेष्ववस्थितम्। अनवस्थेषु शरीरेषु अशरीरं सदवस्थितं।

इसप्रकार दोनोंका एकीकरण यहां नहीं है। क्योंकि "अवस्थित" क्रिया-पद न मानकर भाष्यकारने नित्यं अर्थ किया। अनित्येषु नित्यं-अनित्योंमें नित्य ऐसा द्वितीय वाक्यार्थ है। यह भी विरोधाभास है। अनवस्थितोंमें अवस्थित कैसे आया? यहां भी गूढ रूपसे विचार करना है। घड़ा अनवस्थित है। वह बनता बिगड़ता है। उसमें अवस्थित है मिट्टी। उसी मिट्टीको पीसकर फिर घड़ा बना सकते हैं। जैसे फटे कागजोंको पीसकर फिर कागज बनाते हैं। परन्तु कालान्तरमें मिट्टी भी अनवस्थित है। मिट्टी भी धूल होकर उड़ेगी। अर्थात् मिट्टी अनवस्थित है। उसके अंदर जो कण हैं

वे अवस्थित हैं। नैयायिक कहते हैं कि वे कण भी अनवस्थित हैं। परमाणु उनमें अवस्थित हैं। परमाणुओंके मिलनेसे कण हुए। कणसे मिट्टी, उससे घड़ा हुआ। यहीं तक न्यायवैशेषिकवालोंकी गति हुई। वेदान्ती आगे बढ़ जाते हैं। वे कहते हैं कि परमाणु भी अनित्य हैं तोड़े जा सकते हैं। उनमें पृथिवीतन्मात्रा अवस्थित है। आगे वे कहते हैं कि वह पृथिवीतन्मात्रा भी अनवस्थित है। उसमें जलतन्मात्रा अवस्थित है। जलतन्मात्रा भी अनवस्थित है। उसमें तेज तन्मात्रा अवस्थित है। तेजतन्मात्रामें वायुतन्मात्रा अवस्थित है और उसमें भी आकाशतन्मात्रा अवस्थित है। आगे कहते हैं कि आकाशतन्मात्रा भी अनवस्थित है। अवस्थित तो केवल सत् है। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" एक मात्र सत् अवस्थित है, और सब अनवस्थित है। उस सत्को सीधे समझना कठिन है। खाली अस्ति-अस्ति कौन देखता रहेगा, कहता रहेगा? कार्योंके आनेपर ही अनवस्थितोंके आनेपर ही अस्तिकी प्रतीति होती है। सत् से आकाश हुआ तो दो हो गये। सत् और आकाश। वायु होनेपर तीन हो गये सत्-आकाश-वायु। तेज होनेपर चार, जल होनेपर पांच, पृथिवी होनेपर छः। एक सत् और शब्दतन्मात्रा आदि पांच। उसके बाद परमाणु आया तो सात। धूलकण आ गये तो आठ। मिट्टी आयी तो नौ। घट बन गया तो दस। दसमें नौ अवस्थित है, सत्य है।

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"

यह श्रुतिवचन है। मृत्तिकामें आठ सत्य है। अवस्थित है। धूलमें सात। परमाणुमें छः। पृथिवी तन्मात्रामें पांच। जलतन्मात्रामें चार। तेज तन्मात्रामे तीन। वायुतन्मात्रामें दो सत्य हैं। अस्ति और शब्दतन्मात्रा। और शब्द-तन्मात्रामें एक सत्य है। कौन? सत्। "सदेव सोम्य" उपक्रम कर कहा—

"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"

क्योंकि वाचारम्भण विकार है। सर्वं सावधारणं यह नियम है। तत्सत्यं=तदेव सत्यं वही सत्य है ऐसा अर्थ है। "मृत्तिकेत्येव सत्यं" में एवकार जुड़ा ही हुआ है।

"अशरीरं शरीरेषु" शोधित त्वं पदार्थ और "अनवस्थेष्ववस्थितं" से शोधित तत्पदार्थ समानविभक्त्यन्त प्रस्तुत किया तो दोनोंका अभेद स्वतः

आ ही जाता है। यही "असि" पदका अर्थ है। वही अखण्ड अर्थ है। वह अनवस्थित नहीं है तब आगे सत् नहीं रहा तो असत् होगा। शून्य होगा। उसे यदि मानेंगे तो उसीकी अनुवृत्ति होने लगेगी। सत्से पैदा होनेसे घटोऽस्ति बोलते हैं। असत् से पैदा हो तो घटको देखकर घटो नास्ति बोलना पड़ेगा। अतः वह सत् अखण्ड है। यही बात अब उत्तर विशेषणोंमें देखेंगे।

महान्तम्। इसका व्यापक अर्थ है। परमात्मा कहीं दूर जा बैठा हो और जीवात्मा यहां हो तो दोनोंकी एकता बनेगी नहीं और एकता बन भी गयी तो भी परिच्छिन्न होनेसे, अल्प होनेसे मर्त्य होगा। "यदल्पं तन्मर्त्यं"। अतएव भयरहित नहीं होगा। अतएव महान्तं विशेषण है।

विभुम्। पानीमें नमक डाला। वह पूरे पानीमें व्याप्त हो गया। इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है क्या? नैयायिक सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगीरूप व्यापकत्व आकाशादि एवं आत्माका मानते हैं। अतः कहते हैं "विभुम्"। विविधरूपेण भवतीति विभुः। द्वैतप्रपञ्चरूपसे वही नानरूपधारी होता है। "एकं सद् विप्रा बहुधा भवन्ति।" वह एक ही परमात्मा नानारूप हो गया। जैसे उपाधिभेदसे इन्द्र,मित्र आदि हैं वैसे उपाधिभेदसे ही पृथिवीजलादि भी हैं।

आत्मानम्। यह असिपदार्थके स्पष्टीकरणके लिये है। इसलिये ...ाष्यकारने लिखा है—आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम्। आत्मशब्दः ...ात्मविषय एव मुख्यः। आत्मा शब्द प्रत्यगात्मविषय है। अतः यहां ...त्माको बताकर पुनः "आत्मा" ऐसा विशेषण जीवपदैक्यबोधनार्थ है। आत्मा सो परमात्मा।

मत्वा। कैसे मनन करना और कैसे जानना—"अयमहमस्मीति" ऐसा भाष्य है। जो परमात्मा वर्णित हुआ वही मैं हूं। इस प्रकार आत्मत्वेन परमात्मा और परमात्मत्वेन आत्माको जानना है। मैं इस शरीरमें ही सीमित नहीं हूं। मैं विभू हूं। शरीरादि अविद्याकामकर्मसे मुझमें जुड़े जैसे दीखते हैं। वही परमात्मा जगद्व्यापी अस्तित्वरूप है। सकल जगत्प्रकाशक देव है। वही परम आनन्दरूप है। इत्यादि मनन करते हुए शरीरादिसे अपनेको पृथक्कर देखना है। ऐसा दर्शन ही अशरीरत्वदर्शन है। शरीर

तादात्म्याध्यासके छूटनेपर आत्माको अशरीर जो अनुभव करता है उसको प्रियाप्रियस्पर्श नहीं होता।

अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"

फलतः प्रियको लेकर राग नहीं। अप्रियको लेकर द्वेष नहीं। इस रागद्वेष राहित्यका परिणाम ही अग्रिमविशेषणमें दिखाया है।

धीरो न शोचति। ऐसा व्यक्ति धीर अर्थात् धीमान् ज्ञानी होता है। वह शोक नहीं करता। क्या मतलब? रोता नहीं? दूसरे सब रोते रहते हैं। ऐसी बात नहीं है। यहां शोक शब्दका संसार अर्थ है। आत्मत्वेन संसारसागरको पार करता है। "तरति शोकमात्मवित्" ऐसी छान्दोग्यश्रुति है॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ-स्वाम् ॥२३॥

यह आत्मा केवल प्रवचन या मेधासे प्राप्य नहीं है। और न बहुश्रुततामांत्रसे। यह साधक जिस एकका ही वरण करता है उसीको वह प्राप्य है। उस साधकके सामने यह आत्मा अपने स्वरूपको प्रकट करता है ॥ २३ ॥

पूर्वके पांच मन्त्रोंमें महावाक्यार्थका वर्णन किया। "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" से स्थूलोपाधिसे पृथक् सिद्ध किया। "नायं हन्ति न हन्यते" से सूक्ष्मोपाधिसे पृथक् किया। हन्तृत्व, हतत्व दोनों विज्ञानमयकोशादिमें स्थित हैं। इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म उपाधिसे शून्य, शुद्ध चैतन्य त्वंपदार्थ बताया। तत्पदार्थविवेचनमें "अणोरणीयान्" इत्यादिसे सूक्ष्मत्व तथा व्यापकत्व बताया। "आसीनो दूरं व्रजति" इत्यादिसे अलौकिकत्व बताया। अर्थात् प्रातिभासिक या व्यावहारिक सत्ता नहीं यह बताया। इसके बाद "अशरीरं शरीरेषु" से त्वंपदार्थ और "अनवस्थेष्ववस्थितं" से तत्पदार्थ कहकर दोनोंकी एकता बतायी। यही असि पदार्थ है। इसप्रकार ॐकार महावाक्यार्थ दिखाया। अब उसकी प्राप्तिका उपाय इस मन्त्रमें कहते हैं।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः। "आत्मलाभान्न परं विद्यते" ऐसा आपस्तम्ब-सूत्र है। सबसे बड़ा लाभ आत्मलाभ है। किस आत्माका लाभ परम लाभ है? कौनसा आत्मा अप्राप्त है? जीवात्मा तो स्वयं है। स्वयं प्राप्त है। उसके लाभालाभकी चर्चा नहीं हो सकती। इसपर द्वैतवादियोंका कहना है कि

परमात्मा अप्राप्त है। परमात्माका लाभ ही बड़ा लाभ है। परंतु यह भी बात जमती नहीं है। क्या परमात्मा हमारे हृदयमें नहीं है? वह कैसे अप्राप्य है? "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः" ऐसी भगवदुक्ति ही है। दूसरे द्वैतवादी कहते हैं-वैकुण्ठवासी नारायण परमात्मा है। वह अप्राप्य है। उसमें दो अनुपपत्ति है। इतनी दूर वैकुण्ठमें रहनेवाला आत्मा किस प्रकार? दूसरी बात साधनविशेषसे उस परमात्माका संयोग होगा तो कभी वियोग भी हो सकता है। अतः उसका लाभ परमलाभ नहीं हो सकता। तीसरी बात यह भी है-कि वैकुण्ठवासी भी आबद्ध नहीं है। उसे भी व्यापक ही मानना पड़ेगा। अन्यथा "यदल्पं तन्मर्त्यं" इस श्रुतिवचनके अनुसार वह भी नष्ट होगा। वैकुण्ठ भी आखिर बना हुआ है। हरिने वैकुण्ठ बनाया। पञ्चम रैवत मन्वन्तरमें शुभ्रकी पत्नी विकुण्ठा हुई। उससे वैकुण्ठ नामके भगवान् उत्पन्न हुए। उनकी पत्नी रमा हुई। रमा की प्रार्थनासे वैकुण्ठभगवानने वैकुण्ठ बनाया।

"पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः।
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम् ॥
वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया ॥"

जो उत्पन्न हुआ वह नष्ट भी होगा। वैकुण्ठके उत्पन्न होनेसे वैकुण्ठ भगवान् वहां रहे और वैकुण्ठके नाशके बाद कहां रहेंगे? अतः वैकुण्ठादिलोकमें भगवानकी विशेष अभिव्यक्ति रहती है इतना ही ग्रन्थका तात्पर्य समझना चाहिये।

प्रथम प्राप्तव्य आत्माका स्वरूप समझें। आत्मा शब्दकी व्युत्पत्ति बतायी है—

"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते ॥"

आप्नोति व्याप्नोति सर्वं जगदित्यात्मा। समस्त जगत् में जो प्राप्त है, व्याप्त है वह आत्मा है। जीवात्मा प्राप्त है। किन्तु व्यापक रूपसे प्राप्त नहीं है। इस देहके अंदर वह जकड़ा हुआ है। "अहमिहास्मि सदने जानानः" यहीं साढ़े तीन फूटमें हूँ, ऐसी प्रतीति होती है। कहेंगे कि इतना

तो मैं हूं ही। साढ़े तीन फूटसे अधिक कहां हूं? देखिये सपनेमें। लगेगा कि स्वप्नमें दिखायी पड़नेवाले शरीरके अंदर मैं हूँ। किन्तु वस्तुतः स्वप्न जगतमें अंदर बाहर व्याप्त होकर आत्मा स्थित है। वैसे जाग्रतमें देहके अंदर प्रतीत होता है। वस्तुतः अंदर बाहर व्याप्त है। उस व्यापकरूपसे आत्मा प्राप्त नहीं है। यदादत्ते। आदत्ते उपादत्ते। उपादानरूपमें आत्मा है किन्तु उस रूपसे प्राप्त नहीं है। "मय्येव सर्वं परिकल्पितं च"। सब मुझमें ही कल्पित है-यह प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि प्रथम व्यापकत्वज्ञान नहीं है। व्यापकत्वज्ञान हो तब उपादानत्वबुद्धि हो सकती है। आ+अत्तित्यात्मा। आ-समन्तात्। समग्र विषयोंका भोग अर्थात् साक्षात्कार करता है। साक्षात्कारमें विषयज्ञान कवलीकृत होगा है। विषयोंको हम अपनेसे बाहर समझते हैं किन्तु हैं ज्ञानप्रकाशके अंदर। उस रूपसे आत्मा प्राप्त नहीं है। यच्चास्य सन्ततो भावः। आ+अततीत्यात्मा । अत सातत्यगमने। समन्तात् तत् ही सन्तत है। अनादि अनन्तकालपर्यन्त तत् है। अतः उसरूपसे आत्मा प्राप्त नहीं है। सभी अपनेको जनमनेवाला मरनेवाला ही समझते हैं। यच्चाप्नोति व्याप्नोतिसे देशपरिच्छेदशून्यत्व, यदादत्ते उपादनं भवति सर्वस्य-से वस्तु-परिच्छेदशून्यत्व और यच्चास्य सन्ततो भावः से काल-परिच्छेदशून्यत्व बताया जा रहा है। उस-उस रूपसे आत्मा अप्राप्त है।

उस आत्माकी प्राप्ति का उपाय क्या हैं? यद्यपि आत्मा नित्य प्राप्त है। तथापि अध्यास के कारण तत्तत्तदात्म्यापन्न होकर भासित होता है। व्यापकत्वादिरूपसे प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव उस-उस रूपसे आत्मा अप्राप्य है। इस पर कईयोंने कई प्रकारसे व्याख्या की। किसीने कहा-कर्मसे प्राप्त है आत्मा, किसीने कहा उपासनासे प्राप्त है। किन्तु इन दोनों का निषेध पहले किया जा चुका है। "दूरमेते विपरीते विषूची"। "अविद्याया-मन्तरे वर्तमानाः" इत्यादि। कर्तृभोक्तृभावके साथ जो भी किया जाय वह सभी अविद्या है। उपाय अब एकमात्र रहा। वह है विद्या। "विद्याभीप्सीनं नचिकेतसं मन्ये" यह पहले कहा जा चुका है। परंतु उस विद्याके भी साधन भिन्न-भिन्न हैं। उन साधनोंमें किसी को भ्रम न हो इसके लिये यह मन्त्र है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः। आत्माकी अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति नहीं है। प्राप्तकी ही प्राप्ति है। वह प्राप्ति यद्यपि ज्ञानात्मक ही है। तथापि सामान्य ज्ञान ही प्राप्ति नहीं है।

'तद्यथा हिरण्यनिधिमक्षेत्रज्ञा न विन्देयुरुपर्युपरि संचरन्तः'

अपनी वाड़ीके अंदर जमीनमें सुवर्णनिधि है। फिर भी गरीब बने हुए हैं। सामान्यज्ञान है, ज्योतिषीने बताया है कि आपकी जमीनमें निधि है। फिर भी जबतक साक्षात्कार नहीं होगा तब तक गरीब ही गरीब रहेंगे। उसीप्रकार हृदयभूमिमें आत्मा है। सामान्यज्ञान भी है। किन्तु व्यापकत्वादि-रूपसे साक्षात्कार नहीं हो रहा है। अतः गरीब हो गये हैं। परंतु यह साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रवचनसे नहीं होगा। क्यों प्रवचनसे नहीं होगा? यमराज भी तो प्रवचन ही कर रहे हैं। अवश्य प्रवचन कर रहे हैं। परंतु प्रवचनसे ही साक्षात्कार नहीं होगा। प्रवचन उपयोगी अवश्य है। किन्तु उतनेसे कृतार्थता नहीं है। आत्मलाभ उतनेसे नहीं होगा। बहुतसे लोग कुछ प्रवचन कर लेते हैं। वही हर जगह बोलते हैं। उससे आत्मलाभ नहीं होगा।

न मेधया। अच्छी बात, प्रवचनसे प्रवक्ता या श्रोता दोनोंको आत्म-लाभ नहीं होगा। मेधासे तो होगा। गहन विषय होनेसे तीक्ष्ण बुद्धि चाहिये। 'मतौ धीयतेऽनया' ऐसी व्युत्पत्ति महर्षि यास्कने की है। मेधा क्या करती है? बुद्धिमें विषयको डाल देती है। आधान करती है। बात सही है। किन्तु बुद्धिके अंदर आनेवाली चीज हो तब। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' के साथ आगे पढ़ा है—'अप्राप्य मनसा सह'। अनन्त वस्तु बुद्धिके अंदर नहीं आ सकती है। वह बाहर छटकती रहेगी। आकाशकी अनन्तरूपताको बुद्धि पकड़ नहीं सकती। इसीलिये श्रुतिमें कहा—

'यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्'।'

मेधाको लगाओगे तो ब्रह्मका कोई दभ्ररूप परिच्छिन्नरूप ही हाथ लगेगा। अपरिच्छिन्न रूप नहीं। मेधा चाहिये अवश्य। किन्तु मेधासे ही सबकुछ नहीं है।

न बहुना श्रुतेन। बहुश्रुत होना आवश्यक है। दत्तात्रेय महाराज कहते हैं कि मैंने चौबीस गुरु किये। चौबीस गुरु तो चौबीस उदाहरणमात्र है न

कि चौबीस गुरुओंसे मन्त्रदीक्षा ली। पृथिवी, जल, तेज आदि सबको उदाहरण रखकर सबसे गुण ग्रहण किया। यही बहुश्रुतता है। श्वेतकेतुने अपने पितासे बहुधा श्रवण किया। प्रथम सुना-'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' पहले सत् ही था। 'तत्तेजोऽसृजत। तदपोऽसृजत। ता अन्नमसृजन्त'। इत्यादि। फिर अन्तमें कहा-'ऐतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि।' सदुत्पन्न होनेसे सारा जगत् सत्तादात्म्यापन्न है। वही सत् सत्य है। वही आत्मा है, वही तू है। श्वेतकेतुने कहा—'भूय एव मे भगवान् विज्ञापयत्विति।' फिरसे आप समझाईये। उद्दालकजीने दूसरे दृष्टान्तसे कहा—

'यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति
नानात्ययानां वृक्षाणाँ रसान् समवहरम्
एकताँ रसं गमयन्ति। एवमेव खल्विमाः
सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥'

जैसे नानावृक्षों का मधु एक जगह एकत्रित होनेके बाद किस वृक्षका कौनसा मधु है यह विवेक नहीं होता। वैसे सुषुप्तिमें सत्संपन्न होनेपर भेदप्रत्यय नहीं होता। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'। आनन्दैकरससे ये पृथक्-पृथक् हुए हैं। आनन्दात्मामें एकीभूत होते हैं। इस प्रकार नौ उदाहरण पृथक् पृथक् देकर उद्दालकजीने समझाया। इन उदाहरणों को दत्तात्रेयजीकी दृष्टिसे गुरु कह सकते हैं। इन सबसे बहुश्रुतता आ जाती है। उदाहरण चाहिये अवश्य। किन्तु उदाहरणों से ही साक्षात्कार नहीं होता।

यह बात गुरुशिष्य दोनोंके प्रति है। शास्त्रोंमें 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं' बताया है। ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्रह्मप्राप्त दोनोंका एक ही मतलब है। कोई सुन्दर प्रवचन करता हो तो इतने मात्रसे न समझना कि यह ब्रह्मप्राप्त है। ब्रह्मनिष्ठ है। क्योंकि प्रवचन तो 'पोयंट' खास मुद्दे यादकर महीना प्रंदह दिन बहुत अच्छा किया जा सकता है। प्रभावशाली भांषा रहेगी। कहीं-कहीं प्रवचन करना सिखाया भी जाता है। वे तो शास्त्रवेत्तासे भी अधिक अच्छा, लच्छेदार भाषामें बोलेंगे। दूसरा बड़ा मेधावी है। इतने से भी ब्रह्म प्राप्त हो गया मत समझो। काशी आदि स्थानोंमें बड़े-बड़े मेधावी पंडित हैं। द्वैतवादी भी मेधावी मिलेंगे। जो अपनी बातको अनेक युक्ति युक्त्याभासोंसे प्रस्तुत करेंगे। जैसे रोटी, पत्थर दोनों

मिथ्या हैं तो पत्थर क्यों नहीं खाते इत्यादि। कच्छ अंजारमें एक मेधावी वकील मजाकमें बोलने लगा कि "ईशावास्यमिदं सर्वं" इस प्रकार श्रवणमनन करनेसे शांति मिलती है ऐसा शास्त्र, वेद आदि कहते हैं। वह ठीक है परंतु प्रातःकाल अगर टट्टी साफ हो जाय तो जो शान्ति मिलती है वह तो अवर्णनीय है। सुनकर मैं तो सन्न हो गया। गंभीरताके साथ जवाब देना पड़ा। मैंने कहा जैसे स्थूल शरीरका मल निकलनेसे ही महान् शान्ति आपको मिलती है वैसे सूक्ष्मशरीर एवं आत्मापर जो मल लगा है उसके निवृत्त होनेसे वाङ्मनसातीत कैसी शान्ति होगी इसकी कल्पना करो। तात्पर्य यह कि मेधाको देखकर उसे ब्रह्मनिष्ठ मत समझो। तीसरा बहुश्रुत है। इतनेसे भी उसे ब्रह्मप्राप्त मत समझो। कोई ऐसे हैं कि भारतीय समस्त दर्शन एवं पश्चिमीय समस्त दशनके अभिज्ञ हैं। वेदों को, अठारह पुराणोंको, उपपुराणोंको एवं दर्शनादिको पढ़ चुके हैं। इतनेसे भी उसे ब्रह्मनिष्ठ मत समझो। हां, श्रोत्रिय कह सकते हैं। ब्रह्मनिष्ठ नहीं। इसी प्रकार शिष्य भी प्रवचन सुनकर अपनेको कृतार्थ न समझें। मैं बहुत बुद्धिमान, मेधावी हूं इतनेसे कृतार्थता प्राप्त करनेकी उम्मीद मत रखो। मैं बहुश्रुत हूं अतः कृतकृत्य हूं ऐसा भी मत समझो।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। इन सबसे ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती तो किससे ब्रह्मप्राप्ति होगी? यह साधक जिस एकमात्र आत्माका वरण करता है उसको प्राप्त होता है। यह 'यत्' पद तत्पदाकाङ्क्षी नहीं है। जैसे "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयः" कहकर "यं सर्वशैलाः समुपासते" यहां यत्पद पूर्वपरामर्शी है। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः यमेव वृणुते तेन लभ्यः" इस अन्वयमें अर्थ होगा-यह आत्मा प्रवचनादि से लभ्य नहीं, जिसको ही वरण कोई करेगा वही उसे पा सकेगा। एवकारसे इतरव्यावृत्ति है। निरन्तर आत्माका ही जो वरण करता है वही आत्माको पानेमें समर्थ होता है। इसीको ब्रह्माभ्यास बताया है।

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥"

तच्चिन्तनं-ब्रह्मका, चिन्तनं-जब कभी चिन्तन होता है, किसी व्यक्तिका चिन्तन हो तो अधिष्ठानरूपसे या भगवदनुकम्पनीयरूपसे परमात्मस्मरण

करता है। तत्कथनं। उत्तरकाशीमें एक सन्त थे। हम मिलने गये तो आगत-स्वागतका कोई सवाल नहीं। बस औपनिषदवचनोंसे डेढ़ घंटेतक ब्रह्मका प्रतिपादन किया फिर मौन हो गये। अन्य कोई वार्ता नहीं। अनेक महात्मा ऐसे भी हैं जो परस्पर और कोई चर्चा नहीं, ब्रह्मचर्चा ही करते हैं अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च। उसीमें दिल लगा रहता है। वही परमश्रेष्ठ है। उसीमें तत्परता है। यही यहां एवकारका अर्थ है। कह सकते हैं ऐसा फिर कोई सन्त ही हो सकता है जिसको कोई दूसरा कार्य नहीं है। बात सही है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ यह विशेषण भी तो संतको ही लगता है। जनक अश्वपति आदि विरले ही अन्य होते हैं।

वृणुते का स्वीकरोति अर्थ होता है। अस्वं स्वं करोति स्वीकरोति। पहले स्वस्वरूपसे जो नहीं भासता था उसे स्व बनाना वह स्वीकार है। संपादन अर्थमें अकारकी जगह ई होता है। जैसे वर्गीकरण, नगरीकरण आदि। वैसे स्वसंपादन स्वीकरण है। परमात्माको जो स्वसंपादन करे, परमात्माको ही जो स्व बनावे वही "यमेव वृणुते" का अर्थ है। परमात्मा के साथ ही जिसका तादात्म्य हो। इस समय शरीरके साथ तादात्म्य है। परमात्माके साथ नहीं के बराबर। श्रवणादिसे परमात्माके साथ भी होने लगता है। अन्तमें परमात्माके साथ ही होता है।

"न नरेणावरेण" की व्याख्यामें हम विशेष कह चुके हैं। जिस प्रकार कन्या वरका वरण करती है-"इतो मुक्षीय माऽमुतः"। इसी प्रकार "मृत्योर्मुक्षीय मा मृतात्"। पति-त्र्यम्बक है। माता, पिता और गुरु इन तीनसे वह शिक्षित होता है। यथा "मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् भवति" इस प्रकार जैवलिके बारेमें श्रुतिमें बताया है। शंकर या परमात्मा भी त्र्यम्बक है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। क्रम विपरीत है। प्रथम आगमसे ज्ञान प्राप्त होगा। फिर अनुमान अर्थात् मननसे। फिर प्रत्यक्षकरण निदिध्यासनसे। सुगन्धिम्। पतिपक्षमें सुस्नेहं अर्थ होगा और परमात्मपक्षमें सुसम्बन्ध। परमात्माके साथ तादात्म्य ही होता है। भेदमें भी नित्यसंयोग है। "द्वा सुपर्णा" इत्यादि नित्य सम्बन्ध बताया है। शेष व्याख्या हम पूर्व कर चुके हैं। अतः उसकी पुनरावृत्ति व्यर्थ है।

इसका क्रम-भंग करके व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है-न बहुना श्रुतेन। बहुत श्रवण करते रहो इतनेसे आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। न प्रवचनेन। प्रवचन स्वयंके लिये मननात्मक होता है। एक विद्यार्थी जब पढ़ता था तब अपने घरमें चिट्ठी लिखता था कि मैं पढ़ाता हूं। घरवालोंने समझा यह कामदेवादिके समान जातिस्मर होगा। बारह पंद्रह साल बाद जब वह अध्यापक बना तब लिखने लगा मैं पढ़ता हूं। क्योंकि सम्यक् मनन किये बिना अध्यापन और प्रवचन संभव नहीं है। न मेधया। "मतौ धीयते इति मेधा" ऐसी यास्कनिरुक्ति है। यह पूर्ण मननरूप और निदिध्यासनका प्रारंभ रूप है। इतने मात्रसे आत्मप्राप्ति नहीं होगी। किन्तु "यमेवैष वृणुते" अन्य सब छोड़कर इतरवृत्तिनिरासपूर्वक ब्रह्माकारवृत्ति प्रवाहीकरणात्मक पूर्ण निदिध्यासनसे ही यह आत्मा लभ्य हो सकता है।

तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्। उस साधकके सामने यह आत्मा अपने तनु अर्थात् स्वरूपको प्रकट करता है। अखण्डाकारवृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्यसे आवरणनिवृत्तिरूप विवरण होता है। मणिपर आरूढ़ सूर्यकिरण रूई आदिको जलाती है, स्वतः तो वह पोषक है। साधक है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

जो दुश्चरित्र नहीं छोड़ता, अशान्त है, समाधिरहति है तथा चंचल मनवाला है ऐसे लोग प्रज्ञानसे इस आत्माको नहीं पा सकते ॥ २४ ॥

ॐकारसे अखण्डार्थ बोध होता है। ॐकारमें तीन मात्रायें तत्पदार्थ एवं त्वंपदार्थ दोनोंके बोधक हैं। विराट, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर तत्पदार्थ है। विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ त्वं पदार्थ है। दोनोंका शोधित रूप "न जायते म्रियते वा" इत्यादि और "अणोरणीयान्" इत्यादि चार मन्त्रोंसे प्रस्तुत किया। "न हन्यते हन्यमाने शरीर" से स्थूल शरीरसे संपर्करहित बताया। "नायं हन्ति न हन्यते" में कर्तृत्वकर्मत्व निराकरण कर सूक्ष्मशरीर-संपर्करहित बताया। संपर्करहित इसलिये कहते हैं कि शरीर हन्यमान होनेपर आत्मा हन्यमान भले न हो-शरीरविशिष्ट आत्मा हन्यमान माने जा सकते हैं। इसी प्रकार विज्ञानमयविशिष्टमें कर्तृत्व माना जा सकता है। इन दोनों मन्त्रोंमें प्रथम में "विपश्चित" शब्द और दूसरेमें "उभौ तौ न

विजानीत" शब्द आया है। यह कारणशरीरका अनुवाद एवं निरास है। इसप्रकार त्वंपदार्थशोधन संपन्न हुआ। "अणोरणीयान्" इत्यादि स्वरूपबोधक नहीं है। क्योंकि सर्व अणुओं से अणुतर अप्रसिद्ध है और सर्व महानसे महत्तर अप्रसिद्ध है। अतः अणुसे सूक्ष्म, उसका उपादान महानसे महत्तर अधिकसत्ताक लेकर इस सकल जगतके विवर्तोपादानके रूपमें तत्पदार्थको रखा और "आसीनो दूरं व्रजति" इत्यादिसे सच्चिदानन्दरूप बताया। अपरिच्छिन्न सत्ता सत् है। सर्वप्रकाशक चित् है। अखण्डसुख आनन्द है। प्रथम तटस्थलक्षण द्वितीय स्वरूप लक्षण है। तत्पदार्थमें स्थूल सूक्ष्मादि तादात्म्यशङ्का नहीं है। किन्तु उसकी अधिक सत्ता एवं सच्चिदानन्दरूपतामें ही संशयविपर्यास आदि हैं। हमारे समान व्यावहारिक सत्ता समझते हैं और अव्यापक, परिच्छिन्न, जन्यसुखवान् मानते हैं। उससे व्यावृत कर तत्पदार्थशोधन किया। "अशरीरं शरीरेषु" से शोधित त्वं पदार्थ एवं "अनवस्थेष्ववस्थितं" से शोधित तत्पदार्थकी एकता समानविभक्तिसे बतायी। इसके बाद किस उपायसे उसकी प्राप्ति है यह "नायमात्मा" से कहकर अर्थात् निदिध्यासनरूप वरणसे या तत्सहकृत प्रवचन आदिसे प्राप्य कह कर उसके लिये अत्यावश्यक अङ्गोंको प्रस्तुत मन्त्रमें सूचित करते हैं।

नाविरतो दुश्चरितात्। सच्चरितेन युक्तः सच्चरित्रसे युक्त ऐसा नहीं कहा। क्योंकि सर्वकर्मसंन्यासी प्राप्त करता है। समाधिमग्नके लिये सच्चरितका सवाल नहीं उठता। इतना अवश्य है कि दुश्चरितसे उपरत होना चाहिये। 'दुश्चरिताद् अविरतः प्रज्ञानेन एनं न आप्नुयात्' ऐसा अन्वय है। दुश्चरित्र प्रज्ञानसे आत्माको प्राप्त नहीं होगा। परंतु प्रश्न यह है कि दुश्चरित्र को प्रज्ञान ही प्रथम कहां होता है? प्रज्ञान तो श्रवण, मनन आदिसे होता है। श्रवण-मननके लिये अधिकारी होना चाहिये। अधिकारी वह है जो साधनचतुष्टय सम्पन्न हो और साधनचतुष्टय उसको प्राप्त होता है जो धर्मानुष्ठानकारी उपासक है।

"स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥"

यह बात कई बार आ चुकी है। स्ववर्णाश्रमके धर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला दुश्चरित्र कैसे होगा? दुश्चरित्र न हो तो दुश्चरित्र प्रज्ञानसे आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता इसका अर्थ ही क्या है?

इस जबर्दस्त प्रश्नका उत्तर देनेके पहले एक प्रश्न और उठाता है। द्वैतवादी कहते हैं कि वेदाध्ययनका अधिकारी अद्वैतवादियोंने जिसे बताया है वह सही नहीं है। वेदान्तका अधिकारी कौन? जो अभी बताया साधन चतुष्टयसम्पन्न। साधन चतुष्टयमें प्रथम साधन क्या है? विवेक। विवेक किसको कहते हैं? नित्यानित्यवस्तु विवेकको कहते हैं। उसका अर्थ क्या है? वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—नित्यं सत्यम् अनित्यम् असत्यम्। सत्यासत्यवस्तुविवेक। यही आचार्योंने भी बताया है। विवेकचूड़ामणिमें कहा है—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्ये-त्येवंरूपो विनिश्चयः।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः ॥"

ब्रह्म ही सत्य है। अन्य सारा जगत् मिथ्या है यह ज्ञान ही नित्यानित्यवस्तुविवेक है। ब्रह्म ही सत्य है। जगत् मिथ्या है यह कहां बताया है? वेदान्तमें। तब वेदान्तश्रवणके बाद नित्यानित्यवस्तु विवेक होगा। किन्तु नित्यानित्यवस्तुविवेकादि चार साधन होनेपर वेदान्तश्रवणका अधिकारी बनेगा। यह अन्योन्याश्रय हुआ। इसलिये रामानुजाचार्य आदिका कहना है कि कर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा है। साधनचतुष्टयके अनन्तर नहीं। इसीका उत्तर यहां प्रज्ञान शब्द है। इसको थोड़ा स्पष्टरूपसे हम देखेंगे।

वेदश्रवण या वेदाध्ययनके विषयमें दो विधियां आती हैं। एक है "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" "तस्मात्स्वाध्यायमधीयीत" "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत" इत्यादि। बालक आठ दस वर्षका हो जाय तो उपनयनसंस्काररूपूर्वक वेदाध्ययन करना चाहिये, कराना चाहिये। वेदका कौनसा भाग पढ़ना चाहिये यह वहां बताया नहीं है। अतः सर्ववेदाध्ययन उससे प्राप्त है। वेदान्त भी वेद है। वेदका जो अन्तिम भाग है उसीको वेदान्त कहते हैं। वेदका अन्तिम भाग भी तो वेद है। गीताका अन्तिम श्लोक "सर्वधर्मान् परित्यज्य" इत्यादि गीता नहीं है क्या? अवश्य है। वैसे यजुर्वेदका अन्तिम अध्याय "ईशावास्यमिदं सर्वं" क्या वह वेद नहीं है?

अवश्य है। तब वेदाध्ययनविधिसे वेदान्ताध्ययन भी विधिके अन्तर्गत आ गया। किन्तु आठ वर्षके बालकको कौनसा विवेकवैराग्य होता है। विवेकवैराग्यकी प्रतीक्षा करेंगे तो आठ दस वर्षमें वेद पढ़नेकी विधि प्रायः व्यर्थ हो जायेगी। उस वेदाध्ययनके बीचमें "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं" इत्यादि वाक्य भी तो आयेंगे। और व्याकरण आदि अध्ययन होनेसे और अध्ययनका अर्थज्ञान फल होनेसे सामान्यरूपसे नित्यानित्य-सत्यासत्यविवेक-ज्ञान भी होगा। अर्थात् प्रज्ञान अवश्य प्राप्त होगा। उसके बाद दूसरी अध्ययन विधि विशेषरूपसे आती है। वह है–

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"

इस वेदान्तश्रवणके लिये साधनचतुष्टय आवश्यक है। वहीं पर बताया–

"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥"

यहां अधिकारि वर्णन है। यहां निष्कर्ष यह निकला कि प्रथम वेदाध्ययनविधिसे जो ज्ञान हुआ वह विवेक है। प्रज्ञान है। द्वितीय वेदान्ताध्ययनविधिसे उत्पन्न ज्ञान विवक्षित है। ब्रह्मरूपी श्रेष्ठ विषय होनेसे प्रकृष्ट ज्ञान माना गया।

इस प्रज्ञानके लिये दुश्चरितसे उपरति आदिकी जरूरत नहीं है। उसके लिये बुद्धि-प्रतिभा आदिकी ही आवश्यकता है। हिरण्यकशिपु भी तत्त्वज्ञान बोलता था। जब विष्णुने वराहावतार लेकर हिरण्याक्षको मारा तब माता दिति बैठकर रोने लगी थी। आखिर वह मां थी। लड़का कैसा भी हो मां तो मां ही है। आप-हमको हिरण्याक्ष घोर राक्षस लगता है पर दितिके लिये वह बच्चा था।

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"।

यह उक्ति प्रसिद्ध है। उस समय हिरण्यकशिपु मां को समझाने गया। वह बोलने लगा-तुम दुःखी मत हो। मेरा भाई वीरगतिको प्राप्त हुआ है। युद्धमें मरनेवाला ब्रह्मलोकमें पहुंच जाता है।

"द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः ॥"

सूर्यमण्डलभदेन कर ब्रह्मलोक जानेवाले दो ही होते हैं। एक योगयुक्त संन्यासी। दूसरा युद्ध करते-करते जो शत्रुके संमुख मारा जाता है। हिरण्यकशिपु आगे कहता है—मां, शरीर विनाशी है। कभी-भी नष्ट होगा। आत्मा अविनाशी है। यह शरीर कर्मपरतन्त्र है। अपने कर्मके अनुसार जन्ममरणादि हैं।

"पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो विनश्यति ॥"

इसप्रकार यमराजके वचनका उद्धरण भी हिरण्यकशिपु देता है। उसका अर्थ है—रास्तमें जो छूट गया ऐसा बालक भी भाग्यसे जीवित: रह जाता है। और घरमें चारोंओरसे देखभाल होनेपर भी हतभाग्य हो तो मर जाता है। जंगलमें अनाथ होकर जो पड़ा है वह भी भाग्यसे रक्षित होकर जीवित होते देखा गया है। और घरमें तो लोग मरते ही हैं। इतना सब तत्त्वज्ञान माताको देनेके बाद फिर वह अमर बननेके लिये कठोर तप करता है। वह विष्णुसे बदला लेनेको सोच रहा था। बादमें उसने क्या-क्या वरदान पाया वह प्रसिद्ध ही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रज्ञानके लिये चरित्रशुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। और ऐसा भी नहीं है कि हिरण्यकशिपुके उपदेशका कोई असर नहीं पड़ा। नारदजी आगे कहते हैं—

"इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा ।
पुत्रशोकं क्षणात्त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत् ॥"

दैत्यपति हिरण्यकशिपुका वचन सुनकर दिति एवं उनकी पुत्रवधू दोनों ने क्षणमें ही पुत्रशोक छोड़कर तत्त्वमें ही मनको स्थिर किया। अतः उपदेशयोग्य प्रज्ञान दैत्योंको भी होता है। किन्तु विज्ञान नहीं होता।

दुश्चरित क्या है? विहित अकरण और प्रतिषिद्धका आचरण। यज्ञ, दान, तप आदि विहित कर्म हैं। उसे न करना भी एक प्रकारका दुश्चरित है। क्योंकि कुमारिल भट्टका कहना है कि विहित कर्म नहीं करोगे तो कुछ न कुछ करोगे। और वह पातकरूप होगा। प्रतिषिद्ध हिंसा आदि करना भी दुश्चरित है। यद्यपि विहित न करना प्रतिषिद्ध करना यह शरीर, वाणी और मन तीनोंसे भी संभव है। तथापि श्रीआनन्दगिरिजी ने व्याख्यामें कायिक पाप ही लिया है।

नाशान्तः। आगे "अशान्तमानसः" यह विशेषण है। अतः यहांपर अशान्तसे इन्द्रियोंका चाञ्चल्य जिसमें न हो वही अभिप्रेत है। इन्द्रियां अति चञ्चल हैं।

"जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति माऽवितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वंगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥"

एक ओर जीभ खींच रही, यहं खाऊं वह खाऊं, मिठाई खाऊं, चाट खाऊं और तृप्ति नहीं होती। दूसरी ओर शिश्न खींच रहा है यह स्त्री मिल जाये, वह स्त्री मिल जाये। वह भी तृप्त नहीं। त्वगिन्द्रिय तीसरी ओर खींच रही है। गरमीमें ठंढी चाहिये, ठंढीमें गरमी चाहिये। पुत्रालिंगन, दारालिंगन आदि चाहिये। कान और कहीं ले जा रहा है। वहां संगीत सुनो। यहां वीणावादन सुनो। घ्राणेन्द्रियका रास्ता अलग ही है। वह कहती है, गुलाबका इत्तर चाहिये, रातरानीका इत्तर चाहिये, जाती चम्पक पुष्पवेणी चाहिये। चपल दृष्टिका तो कहना ही क्या? नाटक देखो, टी. वी. देखो, कामिनीकांचन देखो, देशविदेश देखो। दूसरी ओर कर्मेन्द्रियां भी ऐसी ही हैं। बोले बिना रहा नहीं जाता। घूमने फिरनेकी आदत है। इत्यादि। इसप्रकार इन्द्रियोंकी चञ्चलता है। केवल मनको किसी प्रकार रोकनेसे काम नहीं चलता। इन्द्रियोंमें रागद्वेष पृथक् होते हैं। मनसे इन्द्रियोंको रोक रखा। परन्तु जहां विषय सामने आया कि इन्द्रियां टूट पड़ती है। अजामिलने मनसे प्रथम रोकनेका प्रयास किया। किन्तु वह सफल नहीं हुआ। वृषलीको छोड़कर जा नहीं सका। प्रयागराजकी बात है। एक संगीतका शौकीन था। उसने एक बड़े संगीत कलाकारको पांच हजार रूपये फीस देकर पुत्रीके विवाहमें उससमय बुलाया था जब रूपयेकी भारी कीमत थी। किन्तु कलाकार भंगेड़ी था। भांग पीकर सो गया। सेठ इतना नाराज हुआ कि निश्चय कर लिया कि इस धोखेबाज का मुंह कभी नहीं देखूंगा। सुबह चार बजे भांग़का नशा उतरा। उसको अपनी गलती मालूम हुई। स्नानादि कर सिर्फ एक तंबूरा हाथमें लेकर सेठके घरके सामने उसने गीत प्रारंभ किया। सेठ नहा रहा था। भीगे कपड़ेमें ही

आकर उसके सामने बैठ गया। दोनों समाधिमें मग्न हो गये। एक घंटेके बाद दोनोंने परस्पर माफी मांगी। इन्द्रियचांचल्य भले-बुरे दोनोंके लिये होता है। बुरा तो छोड़ना ही है। भलेको भी छोड़ना होगा यदि आत्मप्राप्तिकी अभिलाषा हो।

नासमाहितः। असमाहितको भी आत्माकी प्राप्ति नहीं होगी। भले उसे प्रज्ञान प्राप्त हुआ। समाधानवानको समाहित कहते हैं। समाधानका चित्तैकाग्रता अर्थ है। चित्तविक्षेप युक्त ही असमाहित है। साधारण बातको समझनेके लिये भी चित्तैकाग्रताकी आवश्यकता है। दत्तात्रेय महाराजने चौबीस गुरुओंमें एक गुरु इषुकारको बनाया था। वह बाणकी नोक बना रहा था जिसमें थोड़ा खरर न हो। उसी समय वहां बेंड बाजेके साथ सेना निकल गयी। कुछ देर बाद राजा आया। इषुकारसे पूछा, अरे, सेना कितनी दूर पहुंच गयी होगी? इषुकारने कहा यहांसे कोई सेना नहीं गयी। राजने कहा-झूठ बोलता है। सिर धड़से अलग कर दूंगा। इषुकार थर-थर कांपने लगा। इतनेमें दत्तात्रेय महाराज राजाके संमुख आये। अवधूतको देखकर राजाने प्रणाम किया। दत्तात्रेयजीने कहा-यह मेरा गुरु है इसका वध मत करो। राजाने कहा-आपके गुरु! कैसे गुरु? दत्तात्रेयजी महाराजने कहा-ब्रह्मश्रवणके लिये कैसी एकाग्रता होनी चाहिये यह मैं इससे सीखा। बाणकी नोक बनानमें इसकी ऐसी तन्मयता थी कि सेना निकल गयी और इसको पता नहीं चला। यही समाधि है। यहां निर्विकल्पक समाधि विवक्षित नहीं है। किन्तु ब्रह्मज्ञानके लिये श्रवणके लिये उपयोगी चित्तैकाग्रता विवक्षित है।

"एकाग्रं विमलमचञ्चलं च चित्तं सुस्निग्धं प्रविशति मानसं महेशे ।
किं सूत्रं प्रविशति विस्फुरत्करोढं द्वित्राग्रं तनुसुषिरे कदापि सूच्याः ॥"

चित्त विमल हो। सुस्निग्ध हो। एकाग्र हो और चाञ्चलरहित हो तभी भगवानमें प्रविष्ट होता है। धागा यदि कांपते हुए हाथमें लेनेसे कांप रहा हो, दो तीन नोक हो तो सूईके बारीक छेदमें क्या प्रवेश करेगा? एकाग्रताका अर्थ है एक ही अर्थमें लगना। अचञ्चलका अर्थ है विक्षेपरहित होना। आगे इस विषयमें स्वयं श्रुति कहेगी—"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या"। इसीलिये गीतामें अन्तमें भगवानने कहा—

"कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा"।

युद्धका प्रसङ्ग होनेसे व्यग्र होना, अनेकाग्र होना संभव था अतः खास भगवानको यह पूछना पड़ा तुमने एकाग्रतासे सुना तो है न? भगवानने इस भरोसेपर रणमध्यमें गीता सुनायी थी कि अर्जुन हर कार्यमें समाहित होता था। द्रोणाचार्यके द्वारा परीक्षा की जानेपर शकुन्त-पक्षीके नेत्रमात्रका अवलोकन एक अर्जुनको ही होता रहा है।

नाशान्तमानसो वापि। पहले अशान्त विशेषण आया। वह इन्द्रिय चापल्यकी निवृत्तिके लिये है। फिर असमाहित पद आया। वह व्यग्रताकी निवृत्तिके लिये, एकाग्रताके सम्पादनके लिये है। परन्तु इतने मात्रसे शान्तमानस नहीं माना जा सकता। इषुकार राजसंमानका इच्छुक था ही। भोगादिकी इच्छा भी उसके मनमें थी। उससे आगे पीछे उसका चित्त उथल-पुथल होता ही रहा है। शतरंज खेलते समय खेलाड़ियोंका चित्त इतना अधिक एकाग्र होता है कि घंटके घंटे बीतने पर भी उनको पता नहीं चलता। श्रुति स्वयं दृष्टान्त देती है 'यथा स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं' तो क्या कामासक्तिसे समाहित चित्त भी अधिकारी होगा? दुर्वासा ऋषि आये तो शंकुतलाको पता ही नहीं लगा कि ऋषि आये हैं उनकी पूजा करना चाहिये। वह दुष्यन्तमें निमग्नचित्तवाली थी। परन्तु इतनेसे ही शान्तमानस नहीं माना जाएगा। काम-क्रोधादिवेग जिसमें न हो बल्कि कामादिसंस्कार भी क्षीण हो गया हो वही शान्तमानस है। भाष्यकार कहते हैं 'समाधनफलादप्युपशान्तमानसः'। समाधनफल ब्रह्मलोक, स्वर्गलोकादि अदृष्टद्वारा और विषयसुख साक्षात् होता है। उससे भी उपरत होना चाहिये। नाना चिन्तामें भोजन भी करो तो भोजनका रस मिलेगा नहीं। अतः भोजनान्द भी समाधानफल माना जा सकता है।

यहां 'नाविरतो दुश्चरितात्' से कर्मेन्द्रियोपरति विवक्षित है। दुश्चरितका अर्थ है दुःखात्मक विचरण। 'ना शान्तः'से इन्द्रियचाञ्चल्य-निराकरणरूप दम विवक्षित है। 'नासमाहितः' से समाधान विवक्षित है। 'नाशान्तमानसः' से शम विवक्षित है। श्रुतिमें बताया है—

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो
भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।'

अन्य श्रुतिमें 'समाहितः'के स्थानमें 'श्रद्धावित्तः' पढ़ा है। अतः परस्परोपसंहारसे श्रद्धा और समाधान दोनों ग्राह्य हैं। यहां भी 'नासमाहितः'से नाश्रद्दधानः भी विवक्षणीय है। और समाहितः से ही तितिक्षा भी उपलक्षणीय है। इसप्रकार इस मन्त्रमें शमादि षट्सम्पत्ति विवक्षित है। फरक इतना ही है कि यहां निषेधमुखसे बताया और शान्तो दान्त इत्यादि श्रुतिमें विधिमुखसे बताया।

प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् । । 'नाविरत' इत्यादिमें शमादि साधन सम्पत्ति बतायी। किन्तु विवेक आदि अन्य तीन साधनोंको नहीं बताया। उसके लिये यहां कहा जा रहा है—प्रज्ञानसे आत्माकी प्राप्ति होती है किन्तु दुश्चरितसे अविरत हो तो नहीं। प्रज्ञान उपरति आदि पर्यन्त होना चाहिये। वह वैराग्यसापेक्ष है इसलिये मध्यमें वैराग्य भी आ ही जाता है। परमात्मप्राप्तिकी इच्छा रखनेवालेके लिये यह उपदेश है कि प्रज्ञानसे उपरति आदिवाला ही परमात्मप्राप्ति कर सकता है। परमात्मप्राप्तिकी इच्छा ही तो मुमुक्षुत्व है। इस प्रकार सभी साधन यहां इंगित हो जाते हैं। किन्तु मुख्यता शमादिको इस मन्त्रमें और बृहदारण्यकादि मन्त्रमें भी दी है। वही प्रज्ञान फिर विज्ञानपर्यन्त होगा तो मोक्षसाधन बनेगा यह 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इस वचनसे सिद्ध है।

यहां कुछ उदारतापूर्ण शब्द है। वैसे तो 'शान्तो दान्तः उपरतो' यहां सामान्यरूपसे उपरतः कहनेसे सर्वकर्म-संन्यास सूचित होता है। किन्तु संन्यास एक विवादास्पद तत्त्व है। कोई कहता है ब्राह्मणको ही संन्यासका अधिकार है। कोई कहता है त्रैवर्णिकको है। किन्तु, ज्ञानतो सबको हो सकता है अतः यहां सर्वकर्मसंन्यासके बदले दुश्चरितकर्मत्यागमात्र कहा। वैराग्यादिका यदि गृह, दारादिका त्याग अर्थ है तो जनकादिको तत्त्वज्ञान कैसे होता? यदि आन्तर वैराग्यमात्र विवक्षित है तो वह शमादिमें गतार्थ है। अतः पृथक् नहीं कहा।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

ब्राह्मण क्षत्रिय जैसे तो जिसके लिये भात बराबर हैं। मृत्यु जिसके लिये दाल-सागके समान है, जिस स्वयंमें वह स्थित है उसे कौन जानता है? ॥ २५ ॥

'नाविरतो दुश्चरिताद्' इत्यादिसे दुश्चरितोपरति आदि ब्रह्म-साक्षात्कारके प्रति साधन हैं यह बताया। इन साधनोंके अभावमें ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होगा यह भी कहा। प्रश्न यह है कि यदि वह प्रमाण गम्य हैं तो प्रमाणके उपस्थित होनेपर प्रमाविषय होना चाहिये। उसमें दुश्चरित आद कैसे रुकावट डालेंगे? सामने गाय आयी, वह प्रत्यक्षगम्य है। तो क्या दुश्चरित्र उसे आंखोंसे नहीं देख पायेगा? यदि प्रमाणगम्य नहीं है जैसे धर्म अधर्म आदि वे सच्चरित्र होनेपर भी दिखाई नहीं पड़ेंगे। वस्तुविज्ञान प्रमाणतन्त्र है। सच्चरित्रादिसे प्रयोज्य नहीं है। इसका जवाब यह है कि यह कोई नियम नहीं है कि प्रत्यक्ष योग्य वस्तु प्रमाणके आनेपर प्रत्यक्ष होती है। संगीतशास्त्रका जानकार जो होगा वह संगीत सुनते ही कहेगा भैरव मालकोस सुन रहा हूं। किन्तु साधारण लोगोंको तो आआईई ही सुनाई देगा। शंखकी श्वेतिमा प्रत्यक्षयोग्य होनेपर भी पित्तदोषसे नहीं दिखाई देती। एक जगह मैंने देखा दिनमें बारह बजे लोग इकट्ठे होकर ऊपर देख रहे थे। मैंने पूछा क्या देख रहो हो? उमेंसे एक-दोने कहा तारा दीख रहा है। मैंने भी आसमानमें आंख दौड़ाई पर नहीं दिखाई दिया। फिर किसीने पेड़की शाखाको निशानी बताकर जहां वह खड़ा था वहां मुझे खड़ा किया। कुछ देर तक नहीं देख सका। बादमें मैंने भी देखा सूक्ष्मनिरीक्षणसे। ब्रह्मभी इसीप्रकार उपाधिवशात् दुर्ज्ञेय बना हुआ है। भाव या अभाव उपाधि तो लगीही हुई है जिससे अखण्ड-ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हो पाता। इस बातको इस वल्लीके अन्तिम मन्त्रसे बताया जा रहा है।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। यह सुनते समय ऐसा लगेगा कि मानो यह कोई भयंकर राक्षस है जिसका काम ब्राह्मण और क्षत्रियोंको भातके रूपमें खाना है। जैसे एक राक्षस प्रतिदिन एक बैलगाड़ी भर भात और बैल और उसे ले जानेवाला आदमी, सबको खाता था जिसे भीमसेनने कुन्तीमाताके द्वारा ब्राह्मणपुत्रके रक्षणके लिये भेजा था

कहते हैं द्वैत मिथ्या है तो कहिये कि यह द्वैत मिथ्या है कहना मिथ्या है कि नहीं? यदि मिथ्या है तो द्वैत सत्य हुआ। यदि मिथ्या नहीं है तो एक द्वैत मिथ्या है कहना सत्य हुआ और दूसरा ब्रह्म सत्य हुआ। तब दो सत्य हुए। दो द्वैत सत्य हुए तो द्वैत कैसे मिथ्या हुआ? इसका उत्तर भी यहां हो गया—चराचरका अदनसे नाश हुआ। और नाशका नाश हुआ तो चराचर जी गया कि नहीं? मृत्यु नहीं हुआका अर्थ ही है जी रहा है। श्रुति कहती है चराचरको भी समाप्त किया और समाप्तिको भी समाप्त किया। यदि समाप्ति समाप्त हुई तो चराचर उठ जाएगा। नहीं। क्यों? इसका उत्तर सुनिये—

कव इत्था वेद। इस प्रकार जाननेवाला कौन है? कोई भी दुश्चरित्रादि या द्वैतवादी नहीं हो सकता। यही तो गहन रहस्य है। नाशका नाश होनेपर, समाप्ति समाप्त होनेपर प्रतियोगी नहीं उठता। दृष्टान्त हम पहले ही कह चुके। रस्सीमें कल्पित सर्पका नाश हुआ और नाशका भी नाश हुआ तो भी सर्प उठा नहीं। वैसे जगत्का अभाव मिथ्यात्व है। उसका भी अभाव हुआ तो वापिस जगत् सत्य नहीं होता। यह बात प्रत्यक्षरूपमें तब समझमें आयेगी जब अधिष्ठान साक्षात्कार होगा। तदर्थ 'नाविरतो दुश्चरितात्' इत्यादि साधन आवश्यक हैं।

यत्र सः। एक बात यह हुई कि सर्प और सर्पनाशका नाश मुंह जबानी हो सकता है। अथवा यों समझिये कि मरुमरीचिकामें जल जबतक दीखता है तबतक जलाभाव और जलाभावका अभाव समझमें नहीं आयेंगा। जैसे आकाशमें जबतक नीलिमा दीखती है तबतक नीलिमाका अभाव और नीलिमाके अभावका अभाव एकसाथ कैसे समझमें आयेगा? अब दूसरी बात बता रहे हैं—'यत्र सः।' वह परमात्मा कहां पर है? विष्णु भगवान् वैकुण्ठमें हैं। शंकरजी कैलासमें हैं। वैसे यह ब्रह्म कहां पर है? आधारको तो वह खा गया—अदन कर गया। चराचरमें वैकुण्ठ भी आ जाता है।

'स तस्मिन्नेवाकाशे'

इस श्रुतिमें आकाशमें इन्द्रने ब्रह्मको देखा ऐसा लिखा है। किन्तु चराचरमें आकाश भी आता है।

"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च"

"अक्षरमम्बरान्तधृतेः"

इत्यादि श्रुतियोंमें यह बात स्पष्ट है। इसका उत्तर है "यत्र सः"। "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च"–"यस्य" का जो अर्थ है वही "यत्र" में भी है। "सः" भी जिज्ञास्यवर्णन होनेसे उसका भी वही अर्थ है। अर्थात् वह उसीमें है। यही श्रुति कहती है–

"स कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति"

वह परमात्मा भूमा अपनी ही महिमामें, अपने व्यापक स्वरूपमें प्रतिष्ठित है। अपने-आपमें अपने-आप कैसे रहेंगे? हम अपने ही कंधेपर कैसे बैठेंगे? इसमें तो आत्माश्रय दोष होगा। इसका भी यही उत्तर है–"क्व इत्था वेद"। अन्य श्रुति कहती है–"यदि वा न महिम्नीति।" आधार आधेयभाव नहीं है। वह स्वयं प्रतिष्ठित है।

॥ द्वितीयवल्ली प्रवचन समाप्त ॥

और भीमसेनने उसे मारा था। वस्तुतः यहां ब्रह्मपदसे ज्ञानशक्ति एवं क्षत्रपदसे क्रियाशक्ति विवक्षित है। अतएव 'ब्राह्मणक्षत्रियौ यस्य उभे भवत ओदनः' ऐसा नहीं कहा। 'ब्रह्म स्यात्तपसि ज्ञाने' इत्यादि कोशवचनमें ब्रह्मशब्दका ज्ञानादि अर्थ है। तथा क्षत्र शब्दकी व्युत्पत्ति है क्षतात् त्रायते। क्षतसे रक्षण करनेवाला।

परमात्माकी दो शक्तियां है। एक ज्ञानशक्ति है, दूसरी क्रियाशक्ति है। सत्त्वगुणप्रधाना प्रकृति ही माया है। जीवात्मामें उसे ही अविद्या कहते हैं। फरक इतना ही है—

"सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्या च ते मते"

तमसे अविद्ध शुद्ध सत्त्व जहां है वह माया है और तमसे विद्ध मलिन सत्त्व जहां है वह अविद्या है। यह माया सकल वासनाओंके समुदाय-रूपिणी है।

"अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः।
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः॥"

वासना ज्ञानका पूर्वरूप है। वही विकसित होनेपर ज्ञानरूप होती है। सभी वासनायें ज्ञानमें संस्थित हैं। वे अन्दर विकसित हो ज्ञानरूप होकर बाहर की ओर स्पन्दित होती हैं। तो उसी समय रजोगुणमें तदनुरूप परिस्पन्द होता है। दक्षिणामूर्ति वार्तिकमें श्री सुरेश्वराचार्य कहते हैं—

"क्रिया नाम परिस्पन्दपरिणामस्वरूपिणी।।
स्पन्दमाने बहिर्ज्ञाने तदङ्कुरवदुद्भवेत्॥"

क्रिया परिस्पन्दरूपी ज्ञानका परिणाम है। अर्थात् ज्ञान जब बाहरकी ओर परिस्पन्द होता है—सत्त्वगुणस्थ वासना विकसित होकर रजोगुणकी ओर स्पन्दित होती है तब रजोगुणसे परिस्पन्द होता है। परितः स्पन्द ही परिस्पन्द है। अण्डाकार या गोलाकार स्पन्द परिस्पन्द है। रजोगुणके परिस्पन्दके अनुरूप तमोगुण भी परिणत होता है। या यों कहो कि परिस्पन्दका आधार तमोगुण होता है। क्रिया किसी आधारमें होती है।

समष्टि परिस्पन्दसे क्रमशः महत्तत्त्व, अहंतत्त्व एवं तन्मात्रा एवं एकादश इन्द्रिय हुए। उसके बाद जीवात्माके बुद्धि परिस्पन्दसे उनमें नामरूप सृष्टि हुई।

"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।"

इसप्रकार नामरूपकी सृष्टि जीवात्मा होकर परमात्माने की ऐसा बताया है। अर्थात् समष्टिरूप परमेश्वरकी दृष्टिसे शक्तिके नानागतिरूप संस्थान प्रथम हुए। उसमें फिर यह गृह, यह मनुष्य, यह शब्दस्पर्शादि इत्यादि दृष्टि जीवकी हुई। इसप्रकार प्रथम ज्ञान हुआ। उससे बहिःस्पन्दनजनित परिस्पन्दनरूप क्रिया हुई। उस नानाविध क्रियाओंमें फिर घटादि ज्ञान हुआ। उसमें आगमशास्त्रवाले कहते हैं कि परमेश्वरकी प्रथम दृष्टि शक्तिस्पन्दसे हुई। क्योंकि दृष्टिके बननेके लिये स्पन्दन चाहिये। किन्तु इसमें फिर अनवस्थादोष होगा। उस स्पन्दनका कारण कौन यह प्रश्न होगा। अतः बालकी खाल निकालना व्यर्थ है। क्योंकि उस बालपर खाल है कि नहीं यह प्रश्न होगा। अतः प्रथम ईश्वरीय दृष्टि उससे परिस्पन्द, उसमें फिर वस्तुसृष्टि। जैसे त्रिदल पंखा चलता है तो उस गतिसे थालीका आकार उसमें आता है। इस प्रकार ज्ञान एवं क्रिया ही पूरा संसार है। वही ब्रह्म और क्षत्र है। सूत्रकारने कहा–

"अत्ता चराचरग्रहणात्"।

"ब्रह्म च क्षत्त्रं च" से चराचर सर्व वस्तुका ग्रहण है। यहां चरका मनुष्य पशु आदि, अचरका पर्वतवृक्षादि ग्रहण है ऐसी व्याख्या संभव है किन्तु चरसे क्रियाशक्ति और अचरसे ज्ञानशक्ति ऐसा अर्थ करना सुगम है। इन दोनोंको ओदन बनाया-कवलित किया। कालकवलनका अर्थ है नाश। आ-समन्तात्, उ-निश्चयेन, अदनः-अद्यमानः ओदनः। प्रलयकालमें परमात्मा समस्त जगत्को अपनी कुक्षिमें डाल देता है।

प्रलय चार प्रकारका होता है। नित्य प्रलय, नैमित्तक प्रलय, आत्यन्तिक प्रलय और प्राकृत प्रलय। प्रतिदिन सोते हैं, सुषुप्तिमें पहुंचते हैं तो नित्यप्रलय होता है।

"सुषुप्तिकाले सकले विलीने"

ऐसा श्रुतिवचन है। सुषुप्तिकालमें कोई वस्तु नहीं दीखती है। वहां दृष्टि समाप्त हो गयी तो सृष्टि भी समाप्त होती है। संशय होगा कि सोनेवाले हमको सृष्टि नहीं दीखती तो सृष्टि खतम हो गयी? मोर दौड़-दौड़कर थक जाय तो अपना मस्तक छिपाता है। वह स्वयं नहीं देखता है तो

समझता है दुनिया समाप्त हो गयी। बात यह है कि प्रत्येक जीवकी अपनी-अपनी सृष्टि अलग है। तन्मात्रा पर्यन्त ईश्वरसृष्टि एक है। अब उस गतिविशेषरूप तन्मात्रापरिणाममें आप बड़ी दृष्टिवाले बड़ा घड़ा देखो, छोटी दृष्टिवाला छोटा घड़ा देखो, तिमिररोगी चार घड़ा देखें, सृष्टि सबकी अलग-अलग ही होगी। अपनी सृष्टिको लेकर मनुष्य सुषुप्त होता है। प्रश्न करते हैं सबकी सृष्टि अलग-अलग है तो प्रत्यभिज्ञा किस प्रकार? जो घड़ा आपने देखा उसे मैंने भी देखा कहते हैं। उत्तर है-चार आदमी जा रहे थे। चारोंको मन्दान्धकारमें रस्सीमें सर्पभ्रम हुआ। घरमें आकर एक कहता है—मैंने सर्प देखा। दूसरा कहता है—आपने जिस संर्पको देखा उसको मैंने भी देखा। तो क्या वहां एक ही सर्प था कि सबकी अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार पृथक्-पृथक् सर्प था? निश्चत है कि वहां अपनी अपनी कल्पना का सांप अलग-अलग ही था। एक होता तो एकको रज्जु समझमें आनेपर भी सर्प दीखता। क्योंकि दूसरेको दीखता है। कोई उसे सर्प, दूसरा माला, तीसरा जलधारा देखता है। ऐसी भिन्न-भिन्न प्रतीतियां भी न होतीं। इसीप्रकार जाग्रदवस्थामें जो प्रपञ्च दीखता है वह भी अव्याकृतमें स्वबुद्धिकल्पित नाना प्रपञ्च ही है। प्रश्न होगा यदि ऐसा हो तो जैसे रस्सीको किसीने सर्प, किसीने माला देखा वैसे कोई घट, कोई हाथी क्यों नहीं देखता? उत्तर है अव्याकृतकी क्रियाशक्ति एक समान है। जैसे आकाश रूपरहित है, रूपकी भ्रान्ति है तो कोई नीला, कोई लाल, कोई पीला क्यों नहीं देखता? आकाश अधिष्ठान एवं भ्रान्तिकारण सबके लिये समान है। वैसे गतिक्रिया बराबर होनेसे घट- स्थलमें किसीको हाथी नहीं दीखता। जैसे अधिष्ठान और दोष समान होनेसे सूर्यको सभी थालीके बराबर गोल चिपटा देखते हैं न कि कोई पर्वत जितना बड़ा और कोई नक्षत्र जितना छोटा। वैसे ही जगतमें भी है। तात्पर्य यह कि जैसे रस्सीसे विमुख होते ही सर्प नष्ट हो जाता है वैसे सोते ही अपना कल्पित प्रपञ्च भी नष्ट होता है। अतः यह नित्यप्रलय है। सुषुप्तिमें नित्यप्रलय होता है।

नैमित्तिक प्रलय कहते हैं—ब्रह्माजीकी सुषुप्तिको। ब्रह्मा समष्टि विराट् या हिरण्यगर्भ को कहते हैं। उस समय सहस्रयुगपर्यन्त ब्रह्मा एवं समग्र

जीव सो जाते हैं तब समग्र स्थूल प्रपञ्चका विलय होता है। सूक्ष्म प्रपञ्च तो रहेगा। क्योंकि उसका स्रष्टा मायोपहित चेतन ईश्वर है। "तदैक्षत" यह प्रथम ईक्षण विराट् या हिरण्यगर्भने नहीं किया था। किन्तु ब्रह्मने ही मायासे किया था।

ब्रह्माजीका अधिकार समाप्त होता है उस समय ईश्वर स्वयं ईक्षण बंद करता है तो तन्मात्रपर्यन्त जगत्का भी विलय होता है। उस समय केवल प्रकृति रहती है। उसीमें सभी विलीन हो जाते हैं अतः इसको प्राकृत प्रलय बताया है। उस समय ईक्षण, तत्प्रयुक्त गतिक्रिया और उसमें नाना जगत्विभ्रम ये सभी नष्ट होते हैं। इसप्रकार ज्ञानशक्तिप्रयुक्त तथा क्रियाशक्तिप्रयुक्त समस्त संसारका विलय होता है। ब्रह्मक्षत्रोपलक्षित चराचरनाश होता है।

मृत्युर्यस्योपसेचनम्। और आगे बढ़कर कहने लगे मृत्यु तो दालचटनीके बराबर है। उक्त तीनों प्रलयोंमें चराचर जगत्का ध्वंस होता है। यही मृत्यु है। उस मृत्युको भी फिर समाप्त कर लिया जाता है। वह किस प्रकार? देखो। रस्सीमें सर्प दीखा। वह भ्रमरूप सर्प है। वहांसे मुंह मोड़ लिया तो भ्रम नहीं रहा अतएव सर्प भी समाप्त हो गया। दूसरा है, रस्सीमें सर्प देखा। उसने सूक्ष्मनिरीक्षणसे देखा। बत्ती जलाकर, टोर्च जलाकर देखा तो मालूम पड़ा कि यह सर्प नहीं है। रस्सी है। मुंह मोड़नेपर जो सर्पनाश हुआ और रस्सी पहचाननेपर जो सर्पनाश हुआ दोनोंमें कुछ फर्क है कि नहीं? फर्क थोड़ा लगता है। प्रथम तो रस्सीके न देखनेसे हुआ। दूसरेमें रस्सीको सामने देखते हुए सर्प न रहा। परन्तु यह तो प्रक्रियामात्रमें फर्क हुआ। स्वरूपतः क्या फरक? या यूँ समझो कि मन्दान्धकारमें रस्सीमें सर्प देखा। डर गया। हाथमें बंदूक थी। गोली छोड़ी और घर आ गया। उसने समझ लिया सर्प नष्ट हो गया। फरक यही है कि दूसरे दिन सूर्योदय हुआ और गोली लगी हुई रस्सीको भी देखा तो कहता है कि न यहां सर्प है और न सर्पमरण ही हुआ है। अर्थात् प्रथम तो नाशात्मक अभाव है। सूर्योदय के बाद होनेवाला बाधात्मक अभाव है। वहां प्रतियोगी और उसका नाश दोनोंका अभाव होता है। यही "मृत्युर्यस्योपसेचनं" का मतलब है। यही वस्तुतः आत्यन्तिक प्रलय भी है। द्वैतवादी कहते हैं—आप

कहते हैं द्वैत मिथ्या है तो कहिये कि यह द्वैत मिथ्या है कहना मिथ्या है कि नहीं? यदि मिथ्या है तो द्वैत सत्य हुआ। यदि मिथ्या नहीं है तो एक द्वैत मिथ्या है कहना सत्य हुआ और दूसरा ब्रह्म सत्य हुआ। तब दो सत्य हुए। दो द्वैत सत्य हुए तो द्वैत कैसे मिथ्या हुआ? इसका उत्तर भी यहां हो गया–चराचरका अदनसे नाश हुआ। और नाशका नाश हुआ तो चराचर जी गया कि नहीं? मृत्यु नहीं हुआका अर्थ ही है जी रहा है। श्रुति कहती है चराचरको भी समाप्त किया और समाप्तिको भी समाप्त किया। यदि समाप्ति समाप्त हुई तो चराचर उठ जाएगा। नहीं। क्यों? इसका उत्तर सुनिये–

कव इत्था वेद। इस प्रकार जाननेवाला कौन है? कोई भी दुश्चरित्रादि या द्वैतवादी नहीं हो सकता। यही तो गहन रहस्य है। नाशका नाश होनेपर, समाप्ति समाप्त होनेपर प्रतियोगी नहीं उठता। दृष्टान्त हम पहले ही कह चुके। रस्सीमें कल्पित सर्पका नाश हुआ और नाशका भी नाश हुआ तो भी सर्प उठा नहीं। वैसे जगत्का अभाव मिथ्यात्व है। उसका भी अभाव हुआ तो वापिस जगत् सत्य नहीं होता। यह बात प्रत्यक्षरूपमें तब समझमें आयेगी जब अधिष्ठान साक्षात्कार होगा। तदर्थ 'नाविरतो दुश्चरितात्' इत्यादि साधन आवश्यक हैं।

यत्र सः। एक बात यह हुई कि सर्प और सर्पनाशका नाश मुंह जबानी हो सकता है। अथवा यों समझिये कि मरुमरीचिकामें जल जबतक दीखता है तबतक जलाभाव और जलाभावका अभाव समझमें नहीं आयेगा। जैसे आकाशमें जबतक नीलिमा दीखती है तबतक नीलिमाका अभाव और नीलिमाके अभावका अभाव एकसाथ कैसे समझमें आयेगा? अब दूसरी बात बता रहे हैं–'यत्र सः।' वह परमात्मा कहां पर है? विष्णु भगवान् वैकुण्ठमें हैं। शंकरजी कैलासमें हैं। वैसे यह ब्रह्म कहां पर है? आधारको तो वह खा गया–अदन कर गया। चराचरमें वैकुण्ठ भी आ जाता है।

'स तस्मिन्नेवाकाशे'

इस श्रुतिमें आकाशमें इन्द्रने ब्रह्मको देखा ऐसा लिखा है। किन्तु चराचरमें आकाश भी आता है।

"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च"

"अक्षरमम्बरान्तधृतेः"

इत्यादि श्रुतियोंमें यह बात स्पष्ट है। इसका उत्तर है 'यत्र सः'। 'यस्य ब्रह्म च क्षत्त्रं च'—'यस्य' का जो अर्थ है वही 'यत्र' में भी है। 'सः' भी जिज्ञास्यवर्णन होनेसे उसका भी वही अर्थ है। अर्थात् वह उसीमें है। यही श्रुति कहती है—

"स कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति"

वह परमात्मा भूमा अपनी ही महिमामें, अपने व्यापक स्वरूपमें प्रतिष्ठित है। अपने-आपमें अपने-आप कैसे रहेंगे? हम अपने ही कंधेपर कैसे बैठेंगे? इसमें तो आत्माश्रय दोष होगा। इसका भी यही उत्तर है—'क्व इत्था वेद'। अन्य श्रुति कहती है—'यदि वा न महिम्नीति।' आधार आधेयभाव नहीं है। वह स्वयं प्रतिष्ठित है।

॥ द्वितीयवल्ली प्रवचन समाप्त ॥





ग्रन्थकार के मुख्य प्रकाशन

जागदीशी सामान्यलक्षणातत्त्वप्रदीपः (न्याय)	४५-००
वैराग्यमन्दाकिनी	अप्राप्य
गोपीगीतम् अर्थद्वय (हिन्दी व्याख्या)	"
दश शान्तयः सानुवादाः	"
दक्षिणामूर्तिस्तोत्रं सवार्त्तिकं सानुवादं	"
ईशावास्यरहस्यविवरणम्	४-००
शंकरदिग्विजयः (संक्षिप्तः) सानुवादः	४०-००
नारदीयभक्तिसूत्राणि सवार्त्तिकानि सानुवादानि (तीन भाग)	६०-००
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः सौरभसहितः	२०-००
भागवतसारस्तोत्रं सोपक्रमं सव्याख्यम्	१८-००
श्रीभीष्मस्तुति प्रवचन	
महिम्नःस्तोत्रं हरिहरपक्षानुवाद टिप्पणी सहित	"
शिवमहिम्नःस्तोत्रं स्पन्दवार्त्तिकं सानुवादं	५०-००
गीता प्रवचन सांख्यसन्दर्भ पूर्वार्ध	५०-००
गीता प्रवचन सांख्यसन्दर्भ उत्तरार्ध (स्थितप्रज्ञदर्शन)	४०-००
सुभगोदयम् अमृतझरिका, अन्वयार्थबोधिनी (तन्त्र)	४०-००
ईशापास्योपनिषत्, शांकरभाष्यं वर्त्तिकसहितम्	४०-००
दिव्यरसतरङ्गिणी सानुवाद सटीक	३०-००
वेदान्तसिद्धान्तपीयूषबिन्दुः	२०-००
वेदान्तसारः, वेदान्तमन्दारमाला च	२०-००
न्यायसिद्धान्त रत्नमाला	३०-००
द्वादशदर्शनसंग्रहः अजिल्द १००-सजिल्द	१२५-००
श्रीगायत्री महामन्त्र सभाष्यवार्त्तिकम् अ. ६०, स.	८०-००
अद्वैतविजयवैजयन्ती (शास्त्रार्थ)	३०-००
कठोपनिषत् प्रवचन सन्दर्भ (तीन भाग)	अ. ३००-००
	स. ४००-००

मुद्रक— रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी